॥ॐ॥
॥श्री परमात्मने नमः ॥
॥श्री गणेशाय नमः॥

॥अध्यात्म रामायण॥

जय हिंदुत्व
ॐ
Shri Hindu Dharm Vedic Education Foundation

॥अध्यात्म रामायण॥

श्री प्रभु के चरणकमलों में समर्पित:

श्री मनीष त्यागी
संस्थापक एवं अध्यक्ष
श्री हिंदू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन

॥ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

विषय सूची

माहात्म्यम् 12

बालकाण्डम् 27

॥प्रथमः सर्गः॥ 27

॥ राम हृदयम्॥ 27

॥ द्वितीयः सर्गः॥ 44

भारपीडिता पृथिवी का ब्रह्मादि देवताओं के पास जाना और भगवान् का उनकी प्रार्थना से प्रकट होकर उन्हें धैर्य धारण कराना ।....... 44

॥ तृतीयः सर्गः ॥ 53

भगवान् का जन्म ओर बाललीला 53

॥ चतुर्थः सर्गः॥ 70

विश्वामित्र जी का आगमन, राम और लक्ष्मण का उनके साथ जाना और ताड़का वध करना 70

॥ पञ्चमः सर्गः॥.. 79

मारीच और सुबाहु का दमन तथा अहल्योद्धार 79

॥ षष्ठः सर्गः॥ 96

धनुर्भङ्ग और विवाह 96

॥ सप्तमः सर्गः ॥ 116

परशुरामजी से भेंट 116

अयोध्याकाण्डम्.. 131
॥ प्रथमः सर्गः ॥ 131
भगवान राम के पास नारदजी का आना 131
॥ द्वितीयः सर्गः दूसरा सर्ग ॥ 142
राज्याभिषेक की तैयारी तथा वशिष्ठजी एवं रामचन्द्रजी का संवाद 142
॥ तृतीयः सर्गः ॥ 161
राजा दशरथ का कैकेयी को वर देना 161
॥ चतुर्थः सर्गः ॥.. 181
भगवान् रामका माता से विदा होना तथा सीता और लक्ष्मण के साथ वन गमन की तैयारी करना 181
॥ पञ्चमः सर्गः ॥.. 203
भगवान् का वनगमन 203
॥ षष्ठः सर्गः ॥... 221
गंगा जी के पार जाना तथा भरद्वाज और वाल्मीकिजी से भेंट 221
॥ सप्तमः सर्गः ॥ 243
सुमन्त्र का लौटकर आना, राजा दशरथ का स्वर्गवास तथा भरतजी का नौनिहाल से आना और श्रीवसिष्ठजी के आदेश से पिता का अन्त्येष्टि-संस्कार करना।... 243
॥ अष्टमः सर्गः ॥ 271

भरतजी का वन के लिये प्रस्थान, मार्ग में गुह और भरद्वाजजी से भेंट तथा चित्रकूट का दर्शन 271

॥ नवमः सर्गः ॥ 288

भगवान् राम और भरत का मिलन, भरतजी का अयोध्यापुरी को लौटना और श्रीरामचन्द्रजी का अत्रिमुनि के आश्रम पर जाना। .. 288

अरण्यकाण्डम् 311

॥ प्रथमः सर्गः ॥ 311

विराध-वध 311

॥ द्वितीयः सर्गः ॥ 323

शरभङ्ग तथा सुतीक्ष्ण आदि मुनीश्वरों से भेंट 323

॥ तृतीयः सर्गः ॥ 335

मुनिवर अगस्त्यजी से भेंट 335

॥ चतुर्थः सर्गः ॥ 348

पञ्चवटी में निवास और लक्ष्मणजी को उपदेश 348

॥ पञ्चमः सर्गः ॥ 361

शूपर्णखा को दण्ड, खर आदि राक्षसों का वध और शूपर्णखा का रावण के पास जाना 361

॥ षष्ठः सर्गः ॥ 376

रावण का मारीच के पास जाना 376

॥ सप्तमः सर्गः ॥ 387

मारीचवध और सीताहरण 387

॥ अष्टमः सर्गः ॥ 403

सीताजी के वियोग में भगवान राम का विलाप और जटायु से भेंट 403

॥ नवमः सर्गः ॥ 417

कबन्ध का उद्धार 417

॥ दशमः सर्गः ॥ 431

शबरी से भेंट.. 431

किष्किन्धाकाण्डम्.. 442

॥ प्रथमः सर्गः ॥ 442

सुग्रीव से मित्रता 442

॥ द्वितीय सर्गः ॥ 465

वाली का वध और भगवान् श्रीराम के साथ उसका सम्भाषण.... 465

॥ तृतीय सर्गः ॥ 482

तारा का विलाप, श्रीरामचन्द्रजी का तारा को समझाना तथा सुग्रीव को राजपद प्राप्त करना.. 482

॥चतुर्थ सर्गः ॥ 496

भगवान् राम का लक्ष्मण जी से क्रिया योग का वर्णन । 496

॥पञ्चम सर्गः ॥.. 509

भगवान राम का शोक और लक्ष्मणजी का किष्किन्धापुरी में जाना 509

॥ षष्ठ सर्गः ॥.. 524

सीताजी की खोज, वानरों का गुफा में प्रवेश और स्वयंप्रभा का चरित्र ।.......... 524

॥ सप्तम सर्गः ॥ 544

वानरों का प्रायोपवेशन और सम्पाती से भेंट.......... 544

॥ अष्टम सर्गः ॥ 558

सम्पाति की आत्मकथा.......... 558

॥नवम सर्गः ॥ 572

समुद्रोल्लंघन की मन्त्रणा.......... 572

सुन्दरकाण्डम्.......... 580

॥ प्रथमः सर्गः ॥.......... 580

हनुमानजी का समुद्रोल्लंघन तथा लङ्का में प्रवेश.......... 580

॥ द्वितीयः सर्गः ॥ 594

हनुमानजी का अशोक वाटिका में जाना तथा सीताजी को रावण का भय दिखलाना.......... 594

॥ तृतीयः सर्गः ॥ 608

जानकीजी से भेंट, वाटिका विध्वस और ब्रह्मपाश से हनुमानजी का बयान.......... 608

॥ चतुर्थः सर्गः ॥.......... 632

हनुमान और रावण का संवाद तथा लंका दहन 632

॥ पञ्चमः सर्गः ॥.......... 646

हनुमान जी का सीता जी से विदा लेना और श्री राम चन्द्र जी को सीता जी का सन्देश 646

युद्धकाण्डम् 662

॥ प्रथमः सर्गः ॥ 662

॥द्वितीयः सर्गः ॥ 676

रावण के द्वारा विभीषण का तिरस्कार 676

॥तृतीयः सर्गः ॥ 688

विभीषण की शरणागति, समुद्र का त्रास और सेतु-बन्ध का प्रारम्भ 688

॥ चतुर्थः सर्गः ॥ 709

समुद्र तरण, लङ्का नगरी का निरीक्षण और रावण-शुक संवाद .. 709

॥ पञ्चमः सर्गः ॥ 722

शुक का पूर्वचरित्र, माल्यवान का रावण को समझाना तथा वानर-रावण-संग्राम 722

॥षष्ठः सर्गः ॥ 742

लक्ष्मण की मूर्छा, राम-रावण संग्राम, हनुमानजी का औषधि लेने के लिये प्रस्थान और रावण-कालनेमि 742

का संवाद 742

॥सप्तमः सर्गः ॥ 757

कालनेमि का कपट करना, हनुमानजी द्वारा कालनेमि का वध, लक्ष्मणजी का सचेत होना तथा रावण द्वारा कुम्भकर्ण को जगाना 757

॥अष्टमः सर्गः ॥ 774

कुम्भकर्भ का वध 774

॥नवमः सर्गः ॥ 790

मेघनाद का वध 790

॥दशमः सर्गः ॥ 806

दशम सर्ग 806

रावण का यज्ञ विध्वंस तथा रावण द्वारा मन्दोदरी को समझाना.. 806

॥एकादशः सर्गः ॥ 821

राम-रावण संग्राम और रावण-वध 821

॥द्वादशः सर्गः ॥ 842

विभीषण को लङ्का का राज्याभिषेक और सीताजी की अग्नि परीक्षा 842

॥त्रयोदशः सर्गः ॥ 861

देवताओं द्वारा भगवान् श्रीराम की स्तुति करना, सीताजी सहित अग्निदेव का प्रकट होना तथा अयोध्या के लिये प्रस्थान । 861

॥चतुर्दशः सर्गः ॥ 879

अयोध्या-यात्रा, श्रीभरद्वाज मुनि का आतिथ्य सत्कार तथा भरत मिलाप 879

॥पञ्चदशः सर्गः ॥ 903

श्रीरामचन्द्रजी का राज्याभिषेक 903

॥षोडशः सर्गः ॥ 922

वानरों की विदा करना तथा अन्य प्रशंसा 922

उत्तरकाण्डम् 935

॥ प्रथमः सर्गः ॥ 935

भगवान् श्रीराम के समीप अगस्त्यादि मुनीश्वरों का आना और रावणादि राक्षसों का पूर्वचरित्र सुनाना 935

॥ द्वितीय सर्गः ॥ 952

राक्षसों का राज्यस्थापन-विवरण 952

॥ तृतीय सर्गः ॥ 970

वाली और सुग्रीव का पूर्वजन्म का वृत्तान्त और रावण तथा सनत्कुमार संवाद 970

॥ चतुर्थ सर्गः ॥ 985

श्रीरामचन्द्रजी के राज्य का वर्णन और श्रीसीताजी का वनवास .. 985

॥ पञ्चम सर्गः ॥ 1001

श्रीरामगीता 1001

॥ षष्ठः सर्गः ॥ 1021

लवण-वध, भगवान् श्रीराम के यज्ञ में लव-कुश के साथ महर्षि वाल्मीकि का आगमन एव कुश को परमार्थ का उपदेश करना 1021

॥ सप्तम सर्गः ॥ 1034

भगवान् श्रीराम के यज्ञ में लव और कुश का गान, श्रीसीताजी का पृथिवी में प्रवेश तथा श्रीरामचन्द्र जी का माता को उपदेश 1034

॥ अष्टम सर्गः ॥ 1054

काल का आगमन, श्रीलक्ष्मणजी का परित्याग एवं उनका स्वर्गारोहण.. 1054

॥ नवम सर्गः ॥ 1071

महाप्रयाण 1071

॥श्रीगणेशाय नमः॥
॥ ॐ परब्रह्मणे नमः॥

अध्यात्म रामायण

माहात्म्यम्

रामं विश्वमयं वन्दे रामं वन्दे रघूद्वहम् ।
रामं विप्रवरं वन्दे रामं श्यामाग्रजं भजे ॥
यस्य वागंशुतश्च्युतं रम्यं रामायणामृतम् ।
शैलजासेवितं वन्दे तं शिवं सोमरूपिणम् ॥
सच्चिदानन्दसन्दोहं भक्तिभूतिविभूषणम् ।
पूर्णानन्दमहं वन्दे सद्गुरुं शङ्करं स्वयम् ॥
अज्ञानध्वान्तसंहर्त्री ज्ञानलोकविलासिनी ।
चन्द्रचूडवचश्चन्द्रचन्द्रिकेयं विराजते ॥

अप्रमेयत्रयातीतनिर्मलज्ञानमूर्तये ।
मनोगिरां विदूराय दक्षिणामूर्तये नमः ॥ १॥

अप्रमेय, त्रिगुणातीत, निर्मल ज्ञान स्वरूप, मन और वाणी के अविषय दक्षिणामूर्ति भगवान (सदाशिव) को नमस्कार है ॥ १॥

सूत उवाच ।
कदाचिन्नारदो योगी परानुग्रहवाञ्छया ।
पर्यटन् सकलान् लोकान् सत्यलोकमुपागमत् ॥ २॥

सूतजी बोले-किसी समय नारद जी परानुग्रह की इच्छा से सम्पूर्ण लोकों में विचरण करते हुए सत्यलोक में पहुँचे ॥२॥

तत्र दृष्ट्वा मूर्तिमद्भिश्छन्दोभिः परिवहष्टितम्।
बालार्कप्रभया सम्यग्भासयन्तं सभागृहम् ॥ ३॥

मार्कण्डेयादिमुनिभिः स्तूयमानं मुहुर्मुहुः ।
सर्वार्थगोचरज्ञानं सरस्वत्या समन्वितम् ॥ ४॥

चतुर्मुखं जगन्नाथं भक्ताभीष्टफलप्रदम् ।
प्रणम्य दण्डवद्भक्त्या तुष्टाव मुनिपुङ्गवः ॥ ५॥

वहाँ मूर्तिमान् वहदों के द्वारा परिवहष्टित बालसूर्य की प्रभा के समान कान्ति से सभागृह को प्रकाशित करते हुए, मार्कण्डेय आदि मुनियों द्वारा बार बार स्तुति किये जाते हुए, सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञाता, सरस्वती से युक्त, भक्तों को अभिलषित फल देने वाले जगत् को उत्पन्न करने वाले ब्रह्माजी को देखकर भक्तिपूर्वक दण्डवत् प्रणाम कर नारद जी ने स्तुति की ॥३-५॥

सन्तुष्टस्तं मुनिं प्राह स्वयम्भूर्वैष्णवोत्तमम् ।
किं प्रष्टुकामस्त्वमसि तद्वदिष्यामि ते मुने ॥ ६॥

ब्रह्माजी प्रसन्न होकर वैष्णवों में श्रेष्ठ नारदजी से बोले-"मुने! तुम क्या प्रश्न करना चाहते हो ? मैं तुम्हारे समस्त प्रश्नों का उत्तर दूंगा ॥ ६॥

इत्याकर्ण्य वचस्तस्य मुनिर्ब्रह्माणमब्रवीत् ।

त्वत्तः श्रुतं मया सर्वं पूर्वमेव शुभाशुभम् ॥ ७॥

इदानीमेकमेवास्ति श्रोतव्यं सुरसत्तम ।
तद्रहस्यमपि ब्रूहि यदि तेऽनुग्रहो मयि ॥ ८॥

इस प्रकार ब्रह्माजी का वचन सुनकर नारद जी ब्रह्माजी से बोले-हे देवों में श्रेष्ठ ! मैं आपके द्वारा पहले ही शुभाशुभ कर्मों को सुन चुका हूँ। इस समय मुझे एक ही बात सुननी है। यदि आपकी मुझ पर कृपा है तो इसका रहस्य मुझे बतलाइये ॥ ७-८॥

प्राप्ते कलियुगे घोरे नराः पुण्यविवर्जिताः ।
दुराचाररताः सर्वे सत्यवार्तापराङ्मुखाः ॥ ९॥

अब घोर कलियुग आने पर मनुष्य पुण्य से रहित, दुराचार में प्रवृत्त और सत्यभाषण से विमुख अर्थात् मिथ्यावादी होंगे॥९॥

परापवादनिरताः परद्रव्याभिलाषिणः ।
परस्त्रीसक्तमनसः परहिंसापरायणाः ॥ १०॥

दूसरों की निन्दा करने में मग्न, दूसरों के धन के अपहरण करने की अभिलाषा रखने वाले तथा परस्त्री में मन रखने वाले और दूसरों पर हिंसा करने में तत्पर होंगे।॥ १०॥

देहात्मदृष्ट्यो मूढा नास्तिका पशुबुद्धयः ।
मातापितृकृतद्वेषाः स्त्रीदेवाः कामकिङ्कराः ॥ ११॥

शरीर में ही आत्महष्टि रखने वाले, मूढ़, नास्तिक, पशुबुद्धि अर्थात् आहार-विहार में ही तत्पर, माता-पिता से द्वेष करने वाले, स्त्री भक्त और कामदेव के सेवक होंगे॥ ११॥

विप्रा लोभग्रहग्रस्ता वहदविक्रयजीविनः ।
धनार्जनार्थमभ्यस्तविद्या मदविमोहिताः ॥ १२॥

त्यक्तस्वजातिकर्माणः प्रायशः परवञ्चकाः।
क्षत्रियाश्च तथा वैश्याः स्वधर्मत्यागशीलिनः ॥ १३॥

ब्राह्मण लोभ रूपी ग्रह से ग्रसित होकर शास्त्रों को बेचकर जीविका चलाने वाले, धन के लिये विद्याभ्यास करने वाले, मद से विमोहित तथा अपने जाति-कर्म को छोड़ने वाले और दूसरों को ठगने वाले होंगे। क्षत्रिय और वैश्य भी अपने जाति-धर्म को छोड़ने वाले होंगे ॥ १२-१३ ॥

तद्वच्छूद्राश्च यह केचिद्ब्राह्मणाचारतत्पराः।
स्त्रियश्च प्रायशो भ्रष्टा भर्त्रवज्ञाननिर्भयाः ॥ १४॥

इसी प्रकार शूद्र भी ब्राह्मणों के आचार में तत्पर होंगे और स्त्रियाँ प्रायः भ्रष्टाचारिणी और पति का अपमान करने में निर्भय रहेंगी ॥१४॥

श्वशुरद्रोहकारिण्यो भविष्यन्ति न संशयः।
एतेषां नष्टबुद्धीनां परलोकः कथं भवहत् ॥ १५॥

निःसन्देह अपने सास-श्वसुर से द्रोह करने वाली होंगी। इन दुर्बुद्धियों का परलोक किस प्रकार होगा ॥१५॥

इति चिन्ताकुलं चित्तं जायते मम सन्ततम् ।
लघूपायेन येनैषां परलोकगतिर्भवहत्।
तमुपायमुपाख्याहि सर्वं वहत्ति यतो भवान् ॥ १६॥

इत्यृषेर्वाक्यमाकर्ण्य प्रत्युवाचाम्बुजासनः ।
साधु पृष्टं त्वया साधो वक्ष्ये तच्छृणु सादरम् ॥ १७॥

इस प्रकार की चिन्ता से मेरा मन निरन्तर व्याकुल रहता है। ऐसे स्वल्प उपाय को आप कहिए जिसे करने से इन पाप प्राणियों की परलोक गति हो, क्योंकि आप सर्वज्ञ हैं। इस प्रकार नारद ऋषि की वाणी सुनकर कमलासन ब्रह्माजी बोले ॥१६-१७॥

पुरा त्रिपुरहन्तारं पार्वती भक्तवत्सला।
श्रीरामतत्त्वं जिज्ञासुः पप्रच्छ विनयान्विता ॥ १८॥

प्रियायै गिरिशस्तस्यै गूढं व्याख्यातवान् स्वयम्।
पुराणोत्तममध्यात्मरामायणमिति स्मृतम् ॥ १९॥

हे साधो! तुमने अति उत्तम बहुत प्रश्न पूछा है, अतः सादर पूर्वक सुनो। पूर्वकाल में भक्तवत्सला पार्वती ने श्रीरामतत्त्व अर्थात श्री राम का यथार्थ स्वरुप जानने की इच्छा से त्रिपुरारि श्रीशिवजी से विनयपूर्वक पूछा। अपनी प्रिया के ऐसा पूछने पर गिरिश श्रीशंकर जी ने स्वयं गूढ रामतत्त्व का व्याख्यान किया ॥१८-१९॥

तत्पार्वती जगद्धात्री पूजयित्वा दिवानिशम्।
आलोचयन्ती स्वानन्दमग्ना तिष्ठति साम्प्रतम् ॥ २०॥

प्रचरिष्यति तल्लोके प्राण्यदृष्टवशाद्यदा ।
तस्याध्ययनमात्रेण जना यास्यन्ति सद्गतिम् ॥ २१॥

श्रीशंकरजी द्वारा वर्णित गूढ 'रामतत्व' पुराणों में उत्तम अध्यात्मरामायण नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस अध्यात्मरामायण का जगद्धात्री पार्वती जी पूजन कर अहर्निश मनन करती हुई आत्मानन्द में आज भी मग्न है। प्राणियों के अदृष्ट भाग्य वश जब संसार में अध्यात्मरामायण का प्रचार होगा ॥ २०-२१॥

तावद्विजृम्भते पापं ब्रह्महत्यापुरःसरम्।
यावज्जगति नाध्यात्मरामायणमुदेष्यति ॥ २२॥

तावत्कलिमहोत्साहो निःशङ्कं सम्प्रवर्तते।
यावज्जगति नाध्यात्मरामायणमुदेष्यति ॥ २३॥

तावद्यमभटाः शूराः सञ्चरिष्यन्ति निर्भयाः।
यावज्जगति नाध्यात्मरामायणमुदेष्यति ॥ २४॥

उसके अध्ययन मात्र से प्राणी सद्गति प्राप्त करेंगे। तब तक ही ब्रह्म हत्या आदि में संलिप्त पापी गर्जना करते हैं, जब तक संसार में अध्यात्मरामायण का प्रादुर्भाव नहीं होता। तब तक ही कलियुग महान् उत्साह के साथ निशंक प्रवृत्त होता रहेगा जब तक संसार में अध्यात्मरामायण का प्रादुर्भाव नहीं होता, तथा तब तक ही यम के दूत निर्भय होकर विचरण करेंगे जब तक संसार में अध्यात्मरामायण का प्रादुर्भाव नहीं होता ॥ २२-२४॥

तावत्सर्वाणि शास्त्राणि विवदन्ते परस्परम् ॥ २५॥

तब तक ही संसार में शास्त्रों में परस्पर विवाद रहेगा, जब तक संसार में अध्यात्मरामायण का प्रादुर्भाव नहीं होता ॥ २५॥

तावत्स्वरूपं रामस्य दुर्बोधं महतामपि ।
यावज्जगति नाध्यात्मरामायणमुदेष्यति ॥ २६॥

तब तक ही श्रीरामजी का स्वरूप महान् व्यक्तियों को भी दुर्ज्ञेय है, जब तक संसार में अध्यात्मरामायण का प्रादुर्भाव नहीं होता ॥२६॥

अध्यात्मरामायणसङ्कीर्तनश्रवणादिजम् ।
फलं वक्तुं न शक्नोमि कात्स्र्न्येन मुनिसत्तम ॥ २७॥

हे मुनि श्रेष्ठ! अध्यात्मरामायण के संकीर्तन और श्रवण के फल का तो मैं भी पूर्ण रूप से वर्णन नहीं कर सकता ॥ २७ ॥

तथापि तस्य माहात्म्यं वक्ष्ये किञ्चित्तवानघ।
शृणु चित्तं समाधाय शिवहनोक्तं पुरा मम ॥ २८॥

परन्तु श्रवण, कीर्तन का माहात्म्य संक्षेप में कहता हूँ, सावधान होकर सुनो। इसे प्राचीनकाल में शिवजी ने मुझसे कहा था ॥२८॥

अध्यात्मरामायणतः श्लोकं श्लोकार्धमेव वा।
यः पठेत् भक्तिसंयुक्तः स पापान्मुच्यते क्षणात् ॥ २९॥

जो कोई अध्यात्मरामायण का एक श्लोक अथवा श्लोकार्ध भी यदि भक्तिपूर्वक पढ़ता है, तो वह शीघ्र ही पापों से मुक्त हो जाता है ॥२९॥

यस्तु प्रत्यहमध्यात्मरामायणमनन्यधीः।
यथाशक्ति वदेद्भक्त्या स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ३०॥

जो भक्तिपूर्वक अनन्यभाव से यथा शक्ति अध्यात्मरामायण का पाठ करता है वह जीवनमुक्त कहा जाता है ॥३०॥

यो भक्त्यार्चयतेऽध्यात्मरामायणमतन्द्रितः।
दिने दिनेऽश्वमेधस्य फलं तस्य भवहन्मुने ॥ ३१॥

हे मुनि! जो सावधानी से अध्यात्मरामायण का भक्ति पूर्वक पूजन करता है, उसे प्रतिदिन अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त होता है ॥३१॥

यद्दृच्छयापि योऽध्यात्मरामायणमनादरात्।
अन्यतः शृणुयान्मर्त्यः सोऽपि मुच्येत पातकात् ॥ ३२॥

जो कोई अनादर पूर्वक भी किसी से अध्यात्मरामायण का श्रवण करता है, वह भी पातकों से मुक्त हो जाता है ॥३२॥

नमस्करोति योऽध्यात्मरामायणमदूरतः।
सर्वदेवार्चनफलं स प्राप्नोति न संशयः ॥ ३३॥

जो व्यक्ति समीप से अध्यात्मरामायण को नमस्कार करता है वह निःसन्देह सम्पूर्ण देवताओं के पूजन का फल प्राप्त करता है॥३३॥

लिखित्वा पुस्तकेऽध्यात्मरामायणमशेषतः।
यो दद्याद्रामभक्तेभ्यस्तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ ३४॥

जो व्यक्ति सम्पूर्ण अध्यात्मरामायण को लिखकर राम-भक्त को देता है उसका फल सुनो ॥३४॥

अधीतेषु च वेदेषु शास्त्रेषु व्याकृतेषु च ।
यत्फलं दुर्लभं लोके तत्फलं तस्य सम्भवेत् ॥ ३५॥

संसार में वेद, शास्त्र, व्याकरणादि के अध्ययन करने पर जो फल दुर्लभ है वह फल अध्यात्मरामायण को लिखकर रामभक्त को देने वाले को होता है ॥३५॥

एकादशीदिनेऽध्यात्मरामायणमुपोषितः ।
यो रामभक्तः सदसि व्याकरोति नरोत्तमः ॥ ३६॥

हे वैष्णवाप्रणो ! एकादशी तिथि के दिन उपवास रहकर जो रामभक्त सभा में अध्यात्मरामायण का व्याख्यान करता है उसका फल सुनो ॥३६॥

तस्य पुण्यफलं वक्ष्ये शृणु वैष्णवसत्तम ।
प्रत्यक्षरं तु गायत्रीपुरश्चर्याफलं भवेत् ॥ ३७॥

उपवासव्रतं कृत्वा श्रीरामनवमीदिने ।
रात्रौ जागरितोऽध्यात्मरामायणमनन्यधीः।
यः पठेच्छृणुयाद्वापि तस्य पुण्यं वदाम्यहम् ॥ ३८॥

एक-एक अक्षर पढ़ने में गायत्री पुरश्चरण का फल प्राप्त होता है। जो व्यक्ति श्रीरामनवमी के दिन उपवास व्रत करके रात्रि में जागरण कर

अनन्य बुद्धि से अध्यात्मरामायण का पाठ करता अथवा श्रवण करता है उस फल को कहता हूँ ॥ ३७-३८ ॥

कुरुक्षेत्रादिनिखिलपुण्यतीर्थेष्वनेकशः।
आत्मतुल्यं धनं सूर्यग्रहणे सर्वतोमुखे ॥ ३९॥

विप्रेभ्यो व्यासतुल्येभ्यो दत्वा यत्फलमश्नुते।
तत्फलं सम्भवहत्तस्य सत्यं सत्यं न संशयः ॥ ४०॥

कुरुक्षेत्रादि सम्पूर्ण पुण्य तीर्थों में सर्वग्रस्त सूर्यग्रहण के समय अनेकों बार व्यासजी के समान ब्राह्मणों को अपने बराबर धन का दान करने से जो फल होता है, वही फल उस व्यक्ति को भी होता है, इसमें सन्देह नहीं है यह सर्वथा सत्य है ॥३९-४०॥

यो गायते मुदाऽध्यात्मरामायणमहर्निशम्।
आज्ञां तस्य प्रतीक्षन्ते देवा इन्द्रपुरोगमाः ॥ ४१॥

जो व्यक्ति प्रसन्नता पूर्वक अहर्निश अध्यात्मरामायण का गान करता है उसकी आज्ञा के लिये इन्द्रादि देवगण प्रतीक्षा करते हैं ॥४१॥

पठन् प्रत्यहमध्यात्मरामायणमनुव्रतः।
यद्यत्करोति तत्कर्म ततः कोटिगुणं भवहत् ॥ ४२॥

तत्परतापूर्वक प्रतिदिन अध्यात्मरामायण का पाठ करता हुआ पुरुष जो-जो कार्य करता है उसके कर्मों का फल कोटि गुणा हो जाते हैं ॥ ४२ ॥

तत्र श्रीरामहृदयं यः पठेत् सुसमाहितः ।
स ब्रह्मघ्नोऽपि पूतात्मा त्रिभिरेव दिनैर्भवहत् ॥ ४३॥

जो श्रीरामहृदय का पाठ करता है, वह ब्रह्महत्यारा भी हो तो तीन दिनों में पवित्र पूतात्मा हो जाता है॥४३॥

श्रीरामहृदयं यस्तु हनूमत्प्रतिमान्तिके।
त्रिः पठेत् प्रत्यहं मौनी स सर्वेप्सितभाग्भवहत् ॥ ४४॥

जो पुरुष हनुमानजी की प्रतिमा के समीप मौन होकर तीन बार श्रीरामहृदय का पाठ करता है वह सम्पूर्ण अभिलषित फल प्राप्त करता है ॥४४॥

पठन् श्रीरामहृदयं तुलस्यश्वत्थयोर्यदि।
प्रत्यक्षरं प्रकुर्वीत ब्रह्महत्यानिवर्तनम् ॥ ४५॥

जो पुरुष श्री तुलसी और पीपल के वृक्ष के समीप श्रीरामहृदय का पाठ करता है, वह प्रत्यक्षर पर ब्रह्महत्या तुल्य पापों को दूर करता है ॥ ४५ ॥

श्रीरामगीतामाहात्म्यं कृत्स्नं जानाति शङ्करः।
तदर्धं गिरिजा वहत्ति तदर्धं वहद्म्यहं मुने ॥ ४६॥

हे मुने ! श्रीरामगीता के सम्पूर्ण माहात्म्य को श्री शंकर जी जानते हैं, उसका आधा पार्वती जी और उसका आधा मैं जानता हूँ ॥४६॥

तत्ते किञ्चित्प्रवक्ष्यामि कृत्स्नं वक्तुं न शक्यते ।
यज्ज्ञात्वा तत्क्षणाल्लोकश्चित्तशुद्धिमवाप्नुयात् ॥ ४७॥

सम्पूर्ण तो कहा भी नहीं जा सकता, इसलिये मैं किञ्चित् वर्णन करूँगा, जिसको जानने मात्र से शीघ्र ही चित्त विशुद्ध हो जाता है ॥४७॥

श्रीरामगीता यत्पापं न नाशयति नारद।
तन्न नश्यति तीर्थादौ लोके क्वापि कदाचन।
तन्न पश्याम्यहं लोके मार्गमाणोऽपि सर्वदा ॥ ४८॥

हे नारद ! जिस पाप को श्रीरामगीता नष्ट नहीं कर सकती, वह पाप तीर्थादि में यात्रा करने पर संसार में कभी भी नष्ट नहीं हो सकते और हम खोज करने पर भी अभी तक उस पाप को नहीं देख पाते जो रामगीता से नष्ट न हो पाए अर्थात यह राम गीता सम्पूर्ण पापों का समूल नाश करने वाली है ॥४८॥

रामेणोपनिषत्सिन्धुमुन्मथ्योत्पादितं मुदा।
लक्ष्मणायार्पितां गीतासुधां पीत्वाऽमरो भवहत् ॥ ४९॥

श्रीरामचन्द्रजी ने उपनिषद् रूपी समुद्र का मन्थन कर श्रीरामगीता रूपी अमृत को निकालकर लक्ष्मण जी को दिया। इस रामगीता रूपी अमृत का पान कर व्यक्ति अमर हो जाता है ॥४९॥

जमदग्निसुतः पुर्वं कार्तवीर्यवधेच्छया।
धनुर्विद्यामभ्यसितुं महेशस्यान्तिके वसन् ॥ ५०॥

अधीयमानां पार्वत्या रामगीतां प्रयत्नतः ।
श्रूत्वा गृहीत्वाऽऽशु पठन्नारायणकलामगात् ॥ ५१॥

प्राचीनकाल में जमदग्नि सुत श्री परशुराम जी कार्तवीर्य सहस्रार्जुन के वध की इच्छा से धनुर्विद्या का अभ्यास करने के निमित्त श्री महेश जी के समीप रहते हुऐ प्रयत्न पूर्वक श्री पार्वती जी द्वारा रामगीता को सुनकर ग्रहण करने से नारायण के अंश को प्राप्त किया ॥५०-५१॥

ब्रह्महत्यादिपापानां निष्कृतिं यदि वाञ्छति।
रामगीतां मासमात्रं पठित्वा मुच्यते नरः ॥ ५२॥

यदि पुरुष ब्रह्महत्यादि पापों से अपना उद्धार करना चाहता है, तो रामगीता का एक मास तक पाठ करने पर पापों से रहित हो जाता है ॥५२॥

दुष्प्;रतिग्रहदुर्भोज्यदुरालापादिसम्भवम्।
पापं यत्तत्कीर्तनेन रामगीता विनाशयेत् ॥ ५३॥

दुष्परिग्रह अर्थात कुत्सित दान लेना, निषिद्ध भोजन और दुरालाप अर्थात कुत्सित बातचीत से उत्पन्न पाप रामगीता का पाठ करने से समाप्त हो जाते हैं ॥ ५३॥

शालग्रामशिलाग्रे च तुलस्यश्वत्थसन्निधौ।
यतीनां पुरतस्तद्वत् रामगीतां पठेत्तु यः ॥ ५४॥

शालिग्राम के आगे, तुलसी और पीपल के समीप और सन्यासियों के समीप जो रामगीता का पाठ करता है ॥ ५४॥

स तत्फलमवाप्नोति यद्वाचोऽपि न गोचरम् ॥ ५५॥
रामगीतां पठन् भक्त्या यः श्राद्धे भोजयेद्द्विजान्।

वह उस फल को प्राप्त करता है जिसे वाणी द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता। जो व्यक्ति रामगीता का भक्ति पूर्वक पाठ करता हुआ श्राद्ध के दिन ब्राह्मणों को भोजन कराता है ॥५५॥

तस्य ते पितरः सर्वे यान्ति विष्णोः परं पदम् ।
एकादश्यां निराहारो नियतो द्वादशीदिने॥ ५६॥

स्थित्वागस्त्यतरोर्मूले रामगीतां पठेत्तु यः।
स एव राघवः साक्षात् सर्वदेवैश्च पूज्यते ॥ ५७॥

उसके पितर विष्णु भगवान् के परमपद को प्राप्त करते हैं। एकादशी के दिन निराहार रहकर द्वादशी के दिन अगस्त्य वृक्ष के मूल के समीप बैठकर रामगीता का जो व्यक्ति पाठ करता है, वह साक्षात् श्रीराघव का रूप होकर देवताओं द्वारा पूजित होता है ॥५६-५७ ॥

विना दानां विना ध्यानं विना तीर्थावगाहनम् ।
रामगीतां नरोऽधीत्य तदनन्तफलं लभेत् ॥ ५८॥

रामगीता का पाठ करने वाला मनुष्य बिना किसी दान, बिना किसी ध्यान अथवा बिना किसी तीर्थ में स्नान किये ही अनन्त दान ध्यानादि का फल प्राप्त करता है ॥५८॥

बहुना किमिहोक्तेन शृणु नारद तत्त्वतः।
श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासागमशतानि च।
अर्हन्ति नाल्पमध्यात्मरामायणकलामपि ॥ ५९॥

हे नारद ! अधिक कहने से क्या ? तत्त्व को सुनो। श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास सैकड़ों शास्त्र यह सब अध्यात्मरामायण की अल्प कला की भी बराबरी नहीं कर सकते ॥५९ ॥

अध्यात्मरामचरितस्य मुनीश्वराय
माहात्म्यमेतदुदितं कमलासनेन ।
यः श्रद्धया पठति वा शृणुयात् स मर्त्यः
प्राप्नोति विष्णुपदवीं सुरपूज्यमानः ॥ ६०॥

ब्रह्माजी द्वारा महर्षि नारदजी के निमित्त प्रतिपादित श्रीअध्यात्मरामायण का जो व्यक्ति श्रद्धा पूर्वक पाठ करता है अथवा श्रवण करता है, वह देवताओं से पूजित होकर विष्णुलोक को प्राप्त करता है।

इति श्रीब्रह्माण्डपुराणे उत्तरखण्डे अध्यात्मरामायणमाहात्म्यं सम्पूर्णम् ॥ ॥१॥

इस प्रकार श्री ब्रह्माण्ड पुराण उत्तर खंड के अंतर्गत वर्णित श्री आध्यात्म का महातम्य पूरा हुआ।

जय जय राम, सीता राम

॥श्रीगणेशाय नमः॥
॥ ॐ परब्रह्मणे नमः॥

॥ अध्यात्मरामायण ॥

बालकाण्डम्

॥प्रथमः सर्गः॥

॥ राम हृदयम्॥

यः पृथिवीभरवारणाय दिविजैः सम्प्रार्थितश्चिन्मयः
सञ्जातः पृथिवीतले रविकुले मायामनुष्योऽव्ययः ।
निश्चक्रं हतराक्षसः पुनरगाद् ब्रह्मत्वमाद्यं स्थिरां
कीर्तिं पापहरां विधाय जगतां तं जानकीशं भजे ॥ १॥

जो चैतन्यस्वरूप अविनाशी प्रभु पृथ्वी का भार दूर करने के लिये देवताओं द्वारा प्रार्थना करने पर पृथ्वी तल पर सूर्यवंश में मायापुरुष रूप में अवितरित हुए और राक्षस-समूह का संहार कर सांसारिक प्राणियों के पापों को हरण करने वाली अपनी अविचल कीर्ति संसार में स्थापित कर पुनः आद्य ब्रह्मस्वरूप में लीन हो गये, उन श्रीजानकीपति श्री राम का मैं भजन करता हूँ ॥१॥

विश्वोद्भवस्थितिलयादिषु हेतुमेकं
मायाश्रयं विगतमायमचिन्त्यमूर्तिम् ।
आनन्दसान्द्रममलं निजबोधरूपं

सीतापतिं विदिततत्त्वमहं नमामि ॥ २॥

विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय आदि के कारण माया के आश्रित होकर भी मायायीत, अचिन्त्यमूर्ति, आनन्दघन, उपाधिकृत दोषों से रहित, स्वयं प्रकाश स्वरूप, तत्त्वविद्, श्रीसीतापति रामचन्द्र जी को मैं नमस्कार करता हूँ॥२॥

पठन्ति यह नित्यमनन्यचेतसः
शृण्वन्ति चाध्यात्मिकसञ्ज्ञितं शुभम् ।
रामायणं सर्वपुराणसंमतं
निर्धूतपापा हरिमेव यान्ति ते ॥ ३॥

जो व्यक्ति सर्वपुराण सम्मत अध्यात्म रामायण का एकाग्रचित होकर पाठ करते हैं, अथवा श्रवण करते हैं, वह पापरहित होकर हरि को ही प्राप्त करते हैं ॥३॥

अध्यात्मरामायणमेव नित्यं पठेद्यदीच्छेद्भवबन्धमुक्तिम् ।
गवां सहस्रायुतकोटिदानात् फलं लभेद्यः शृणुयात्स नित्यम् ॥४॥

भवबन्धन से मुक्ति की ईच्छा हो तो अध्यात्मरामायण का नित्य पाठ करना चाहिए। जो व्यक्ति इसका नित्य श्रवण करता है, वह लाखों करोड़ों गोदान का फल प्राप्त करता है॥४॥

पुरारिगिरिसम्भूता श्रीरामार्णवसङ्गता ।
अध्यात्मरामगङ्गेयं पुनाति भुवनत्रयम् ॥ ५॥

श्रीशंकर रूप पर्वत से निःसृत रामरूप-समुद्र में मिलने वाली यह अध्यात्मरामायण रूपिणी गंगा त्रिलोकी को पवित्र करती है ॥५॥

कैलासाग्रे कदाचिद्रविशतविमले मन्दिरे रत्नपीठे
संविष्टं ध्याननिष्ठं त्रिनयनमभयं सेवितं सिद्धसन्घैः ।
देवी वामाङ्कसंस्था गिरिवरतनया पार्वती भक्तिनम्रा
प्राहेदं देवमीशं सकलमलहरं वाक्यमानन्दकन्दम् ॥ ६॥

एक समय कैलाशपर्वत के शिखर पर सैकड़ों सूर्यों के समान प्रकाशित शुभ्रमन्दिर में रत्नसिंहासन पर बैठे हुए ध्यानावस्थित सिद्ध-समूहों से सेवित, नित्य निर्भय, सम्पूर्णपापों को हरण करने वाले आनन्दकन्द, देवताओं के स्वामी भगवान् त्रिनयन के वामभाग में स्थित श्रीगिरिराजकुमारी पार्वती भक्तिपूर्वक यह वाक्य बोली ॥ ६ ॥

पार्वत्युवाचः

नमोऽस्तु ते देव जगन्निवास सर्वात्मदृक् त्वं परमेश्वरोऽसि ।
पृच्छामि तत्त्वं पुरुषोत्तमस्य सनातनं त्वं च सनातनोऽसि ॥ ७॥

श्रीपार्वती जी बोलीं-हे देव! हे जगन्निवास ! हे सबके अन्तः करणों के साक्षी ! आप सनातन एवं परमेश्वर हैं। मैं आपसे पुरुषोत्तम भगवान के सनातन तत्त्व को पूछना चाहती हूँ॥७॥

गोप्यं यदत्यन्तमनन्यवाच्यं वदन्ति भक्तेषु महानुभावाः ।
तदप्यहोऽहं तव देव भक्ता प्रियोऽसि मे त्वं वद यत्तु पृष्टम् ॥८॥

महात्मा पुरुष जो अत्यन्त गोपनीय किसी दूसरे से नहीं कहने योग्य विषय को भक्तों को बता देते हैं। हे देव ! मैं आपकी भक्त हूँ, आप मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। अतः मैं जो पूछती हूँ, कृपया उसका वर्णन कीजिये ॥८॥

ज्ञानं सविज्ञानमथानुभक्तिवैराग्ययुक्तं च मितं विभास्वत् ।
जानाम्यहं योषिदपि त्वदुक्तं यथा तथा ब्रूहि तरन्ति येन ॥ ९॥

जिस ज्ञान के द्वारा पुरुष संसार सागर से पार हो जाते हैं, उस भक्ति और वैराग्य से युक्त प्रकाशमय आत्मज्ञान का वर्णन आप विज्ञान सहित स्वल्प शब्दों में इस प्रकार कीजिये, जिससे स्त्री होने पर भी मै आपके कथन को समझ सकूँ ॥९॥

पृच्छामि चान्यच्च परं रहस्यं तदेव चाग्रे वद वारिजाक्ष ।
श्रीरामचन्द्रेऽखिललोकसारे भक्तिर्दृढा नौर्भवति प्रसिद्धा ॥ १०॥

हे कमलनयन ! मैं एक परमगुह्य रहस्य पूछती हूँ, कृपया पहले उसका ही वर्णन कीजिये। यह तो प्रसिद्ध है कि अखिल लोकसार, श्रीरामचन्द्र में विशुद्ध भक्ति संसार-सागर को पार करने के लिये सुदृढ़ नौका है ॥ १०॥

भक्तिः प्रसिद्धा भवमोक्षणाय नान्यत्ततः साधनमस्ति किञ्चित् ।
तथापि हृत्संशयबन्धनं मे विभेत्तुमर्हस्यमलोक्तिभिस्त्वम् ॥ ११॥

संसार से मुक्ति के लिये भक्ति ही प्रसिद्ध साधन है। इसके अतिरिक्त कोई साधन नहीं है। तथापि आप अपने विशुद्ध वचनों से मेरे हृदय के संशय-ग्रन्थि का छेदन कीजिये ॥११॥

वदन्ति रामं परमेकमाद्यं निरस्तमायागुणसम्प्रवाहम् ।
भजन्ति चाहर्निशमप्रमत्ताः परं पदं यान्ति तथैव सिद्धाः ॥ १२॥

प्रमाद रहित सिद्ध गण श्रीरामचन्द्र जी को परम अद्वितीय, सबका आदि कारण, माया के गुण-प्रवाह से पृथक् वर्णन करते हैं, तथा वह अहर्निश उनका भजन करते हैं और परमपद को प्राप्त करते हैं ॥ १२॥

वदन्ति केचित्परमोऽपि रामः स्वाविद्यया संवृतमात्मसञ्ज्ञम् ।
जानाति नात्मानमतः परेण सम्बोधितो वहद परात्मतत्त्वम् ॥१३॥

परन्तु कुछ अन्य कहते हैं कि राम परमब्रह्म होने पर भी अपनी माया से आवृत्त होने के कारण अपने आत्मस्वरूप को नहीं जानते थे। अतः उन्होंने वसिष्ठादि के उपदेश करने पर आत्मतत्त्व को जाना ॥ १३ ॥

यदि स्म जानाति कुतो विलापः सीताकृतेऽनेन कृतः परेण ।
जानाति नैवं यदि केन सेव्यः समो हि सर्वैरपि जीवजातैः ॥ १४॥

यदि वह आत्मतत्त्व को जानते थे, तो उन्होंने सीता जी के लिये इतना विलाप क्यों लिया? और यदि वह आत्मतत्त्व को नहीं जानते थे तो वह ब्रह्मस्वरुप न होकर अन्य जीवों के समान ही थे। तब उनका भजन क्यों करना चाहिये ॥१४॥

अत्रोत्तरं किं विदितं भवद्भिः तद्ब्रूत मे संशयभेदि वाक्यम् ॥१५॥

इसका उत्तर यदि आप जानते हों तो मेरे संशय को नष्ट करने के लिये कृपया इसका वर्णन कीजिए ॥१५॥

श्रीमहादेव उवाच

धन्यासि भक्तासि परात्मनस्त्वं यज्ज्ञातुमिच्छा तव रामतत्त्वम् ।
पुरा न केनाप्यभिचोदितोऽहं वक्तुं रहस्यं परमं निगूढम् ॥ १६॥

श्रीमहादेवजी बोले-हे पार्वती ! तुम धन्य हो, तुम परमात्मा की भक्त हो, जो तुम्हे रामतत्त्व को जानने की इच्छा है। तुमसे पहले परम गूढतत्व का वर्णन करने के लिये मुझसे किसी अन्य ने प्रार्थना नहीं की ॥१६ ॥

त्वयाद्य भक्त्या परिनोदितोऽहंवक्ष्ये नमस्कृत्य रघूत्तमं ते ।
रामः परात्मा प्रकृतेरनादिरानन्द एकः पुरुषोत्तमो हि ॥ १७॥

आज तुम भक्तिपूर्वक पूछ रही हो, तो मैं श्री रघुकूलशिरोमणि को नमस्कार कर तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर देता हूँ। श्रीरामचन्द्रजी प्रकृति से परे, परमात्मा, अनादि, आनन्दस्वरूप अद्वितीय और पुरुषोत्तम हैं ॥ १७ ॥

स्वमायया कृत्स्नमिदं हि सृष्ट्वा नभोवदन्तर्बहिरास्थितो यः ।
सर्वान्तरस्थोऽपि निगूढ आत्मा स्वमायया सृष्टमिदं विचष्टे ॥ १८॥

जो अपनी माया से अखिल विश्व को बनाकर इसके भीतर और बाहर सर्वत्र आकाश के समान व्याप्त हैं। तथा आत्मास्वरूप होकर सबके

अन्तःकरण में स्थित होकर अपनी माया से इस विश्व का संचालन कर रहे हैं ॥१८॥

जगन्ति नित्यं परितो भ्रमन्ति यत्सन्निधौ चुम्बकलोहवद्धि ।
एतन्न जानन्ति विमूढचित्ताः स्वाविद्यया संवृतमानसा यह ॥ १९॥

जिस प्रकार चुम्बक के समीप होने पर जडवस्तु लोहा भी गतिशील हो जाता है उसी प्रकार जिनकी सनिधि मात्र से यह ब्रह्माण्ड नित्य-भ्रमण कर रहा है, उन परमात्मा श्रीराम को अविद्या से आवृत्त विमूढ-चित्त वाले नहीं जान सकते ॥ १९ ॥

स्वाज्ञानमप्यात्मनि शुद्धबुद्धे स्वारोपयन्तीह निरस्तमाये ।
संसारमेवानुसरन्ति ते वै पुत्रादिसक्ताः पुरुकर्मयुक्ताः ॥ २०॥

जो पुरुष माया को दूर करने वाले शुद्ध-बुद्ध स्वरूप परमात्मा में अपने अज्ञान को आरोपित करते हैं, अर्थात् अपने अज्ञान से उन्हें भी अपने समान अज्ञानी मानते हैं, वह पुरुष स्त्री-पुत्रादि में आसक्त होकर यज्ञ-यज्ञादि कर्म करते हुये संसार चक्र में ही घूमते रहते हैं ॥२०॥

यथाऽप्रकाशो न तु विद्यते रवौ ज्योतिःस्वभावह परमेश्वरे तथा ।
विशुद्धविज्ञानघने रघूत्तमेऽविद्या कथं स्यात्परतः परात्मनि ॥२१॥

जिस प्रकार अज्ञानी पुरुष अपने गले में धारण किये सुवर्णाभूषण को अज्ञान के कारण नहीं जानते उसी प्रकार वह अपने हृदय में विद्यमान परमात्मा श्रीराम को भी नहीं जानते और इसी कारण उनमें अज्ञानादि का आरोप करते हैं। वस्तुतः जिस प्रकार सूर्य में कभी अन्धकार नहीं

रह सकता, उसी प्रकार माया से परे विशुद्ध आनन्दघन, ज्योतिःस्वरूप परमेश्वर परमात्मा श्रीराम में भी अविद्या कैसे रह सकती है ॥२१॥

यथा हि चाक्ष्णा भ्रमता गृहादिकं विनष्टदृष्टेर्भ्रमतीव दृश्यते ।
तथैव देहेन्द्रियकर्तुरात्मनःकृते परेऽध्यस्य जनो विमुह्यति ॥ २२॥

जिस प्रकार मनुष्य को दृष्टि-दोष होने से नेत्र द्वारा गृहादि घूमता हुआ दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार अपने देह और इन्द्रिय रूप कर्ता के किये हुये कर्मों का आत्मा में आरोपण कर मोहित होते हैं ॥२२॥

नाहो न रात्रिः सवितुर्यथा भवहत्
प्रकाशरूपाव्यभिचारतः क्वचित् ।
ज्ञानं तथाज्ञानमिदं द्वयं हरौ
रामे कथं स्थास्यति शुद्धचिद्घने ॥ २३॥

प्रकाशरूपता से कभी भी भिन्न नहीं नहीं होने के कारण से सूर्य में रात-दिन का भेद नहीं होता, उसी प्रकार शुद्ध-चिद्घन् श्रीरामचन्द्र में ज्ञान और अज्ञान दोनों कैसे स्थित रह सकते हैं ॥२३॥

तस्मात्परानन्दमये रघूत्तमे विज्ञानरूपे हि न विद्यते तमः ।
अज्ञानसाक्षिण्यरविन्दलोचने मायाश्रयत्वान्न हि मोहकारणम् ॥२४॥

इसलिये परमानन्दस्वरूप, विज्ञानघन, अज्ञानसाक्षी, कमललोचन भगवान श्रीराम में अज्ञान का लेश भी नहीं है, क्योंकि वह माया के आश्रय हैं, इसलिये माया उन्हें मोहित नहीं कर सकती ॥२४॥

अत्र ते कथयिष्यामि रहस्यमपि दुर्लभम् ।
सीताराममरुत्सूनुसंवादं मोक्षसाधनम् ॥ २५॥

हे पार्वती! मैं तुमसे अत्यन्त गोपनीय सुदुर्लभ गूढ़ रहस्य सीता, राम और हनुमान जी का मोक्ष का साधन रूप संवाद को सुनाता हूँ ॥२५॥

पुरा रामायणे रामे रावणं देवकण्टकम् ।
हत्वा रणे रणश्लाघी सपुत्रबलवाहनम् ॥ २६॥

सीतया सह सुग्रीवलक्ष्मणाभ्यां समन्वितः ।
अयोध्यामगमद्रामो हनूमत्प्रमुखैर्वृतः ॥ २७॥

पूर्वकाल में रामावतार के समय युद्धप्रिय श्रीरामजी देवताओं के कण्टक स्वरूप रावण को सन्तान, सेना और वाहनों के सहित युद्ध में मारकर सीता, सुग्रीव और लक्ष्मण के सहित हनुमान आदि प्रमुख वानरों से घिरे हुए अयोध्या आये ॥ २६-२७ ॥

अभिषिक्तः परिवृतो वसिष्ठाद्यैर्महात्मभिः ।
सिंहासने समासीनः कोटिसूर्यसमप्रभः ॥ २८॥

अयोध्या आकर राज्यभिषेक होने के पश्च्यात वशिष्ठादि महात्माओं से परिवृत्त, कोटि सूर्य की प्रभा से युक्त होकर सिंहासन पर विराजमान हुए ॥ २८ ॥

दृष्ट्वा तदा हनूमन्तं प्राञ्जलिं पुरतः स्थितम् ।
कृतकार्यं निराकाङ्क्षं ज्ञानापेक्षं महामतिम् ॥ २९॥

रामः सीतामुवाचेदं ब्रूहि तत्त्वं हनूमते ।
निष्कल्मषोऽयं ज्ञानस्य पात्रं नो नित्यभक्तिमान् ॥ ३०॥

उस समय महामति हनुमान जी जो सूम्पूर्ण कार्य कर चुके हैं तथा बदले में कुछ लेने की इच्छा नहीं है, ज्ञान की अभिलाषा से अपने सम्मुख हाथ जोड़कर खड़ा देखकर श्रीरामचन्द्र जी सीताजी से बोले- हे सीते! यह हनुमान हम दोनों का भक्त है। अतः यह निष्पाप एवं ज्ञान देने के लिये सुयोग्य पात्र है। अतः तुम इसे मेरे तत्त्व का उपदेश करो ॥ २९-३० ॥

तथेति जानकी प्राह तत्त्वं रामस्य निश्चितम् ।
हनूमते प्रपन्नाय सीता लोकविमोहिनी ॥ ३१॥

तब विश्व विमोहिनी जनकनन्दिनी सीता श्रीरामचन्द्र जी से तथास्तु कहकर शरणागत हनुमान को भगवान राम का निश्चित तत्व कहने लगी ॥ ३१॥

सीतोवाच

रामं विद्धि परं ब्रह्म सच्चिदानन्दमद्वयम् ।
सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं सत्तामात्रमगोचरम् ॥ ३२॥

आनन्दं निर्मलं शान्तं निर्विकारं निरञ्जनम् ।
सर्वव्यापिनमात्मानं स्वप्रकाशमकल्मषम् ॥ ३३॥

श्रीराम को तुम साक्षात् अद्वितीय सच्चिदानन्द स्वरूप परं-ब्रह्म समझो। यह निःसन्देह समस्त उपाधि रहित, सत्तामात्र, मन-वाणी

द्वारा कहने- समझने में असमर्थ, निर्मल, शान्त, निर्विकार, निरन्जन, सर्वव्यापक, स्वयंप्रकाश, कल्मष रहित परमात्मा ही हैं ॥ ३२-३३ ॥

मां विद्धि मूलप्रकृतिं सर्गस्थित्यन्तकारिणीम् ।
तस्य सन्निधिमात्रेण सृजामीदमतन्द्रिता ॥ ३४॥

मुझे संसार की उत्पत्ति, स्थिति और अन्त करने वाली मूल-प्रकृति जानो। मैं ही आलस्य रहित होकर इनकी सन्निधि मात्र से विश्व का सृजन करती हूँ ॥ ३४ ॥

तत्सान्निध्यान्मया सृष्टं तस्मिन्नारोप्यतेऽबुधैः ।
अयोध्यानगरे जन्म रघुवंशेऽतिनिर्मले ॥ ३५॥

तथापि इनकी सन्निधि मात्र से मेरे द्वारा रचित जगत को अज्ञानी लोग इनमें आरोपित करते हैं। इसलिये इनका अयोध्या में अति निर्मल रघुकुल में जन्म लेना ॥ ३५॥

विश्वामित्रसहायत्वं मखसंरक्षणं ततः ।
अहल्याशापशमनं चापभङ्गो महेशितुः ॥ ३६॥

विश्वामित्र की सहायता तथा यज्ञ की रक्षा करना, अहल्या को शाप से मुक्त करना, श्रीशंकर जी का धनुष तोड़ना ॥३६॥

मत्पाणिग्रहणं पश्चाद्भार्गवस्य मदक्षयः ।
अयोध्यानगरे वासो मया द्वादशवार्षिकः ॥ ३७॥

इसके बाद मेरा पाणिग्रहण करना, श्रीपरशुरामजी का गर्व-क्षय करना, मेरे साथ बारह वर्षों तक अयोध्या में निवास करना ॥३७॥

दण्डकारण्यगमनं विराधवध एव च ।
मायामारीचमरणं मायासीताहृतिस्तथा ॥ ३८॥

दण्डकारण्य जाना, विराध का वध करना, माया रूपी मारीच का मरण तथा मायारूपी सीता का हरण होना ॥ ३८ ॥

जटायुषो मोक्षलाभः कबन्धस्य तथैव च ।
शबर्याः पूजनं पश्चात्सुग्रीवहण समागमः ॥ ३९॥

जटायु और कबन्ध का मुक्त होना, शवरी से पूजित होना और सुग्रीव से मित्रता करना ॥ ३९॥

वालिनश्च वधः पश्चात्सीतान्वेषणमेव च ।
सेतुबन्धश्च जलधौ लङ्कायाश्च निरोधनम् ॥ ४०॥

बालि का बध होना तथा सीता की खोज करना, समुद्र में सेतुबन्ध और लंका को घेरना ॥४०॥

रावणस्य वधो युद्धे सपुत्रस्य दुरात्मनः ।
विभीषणे राज्यदानं पुष्पकेण मया सह ॥ ४१॥

अयोध्यागमनं पश्चाद्राज्ये रामाभिषेचनम् ।
एवमादीनि कर्माणि मयैवाचरितान्यपि
आरोपयन्ति रामेऽस्मिन्निर्विकारेऽखिलात्मनि ॥ ४२॥

तथा दुराचारी रावण को पुत्रों सहित युद्ध में मारना एवं विभीषण को लंका का राज्य देना तथा पुष्पकविमान पर मेरे साथ लंका से अयोध्या लौट आना, और फिर श्री रामजी का राज्यपद पर अभिषिक्त होना इत्यादि सभी कर्म मेरे द्वारा ही किये गए हैं तथापि अज्ञानी व्यक्ति इन कर्मों को इन निर्विकार सर्वात्मा राम में आरोपित करते हैं ॥४१-४२ ॥

रामो न गच्छति न तिष्ठति नानुशोचत्याकाङ्क्षते
त्यजति नो न करोति किञ्चित् ।
आनन्दमूर्तिरचलः परिणामहीनो
मायागुणाननुगतो हि तथा विभाति ॥ ४३॥

वस्तुतः श्रीरामचन्द्र जी न चलते हैं, न स्थित होते हैं, न शोक करते हैं, न किसी वस्तु की आकांक्षा करते हैं, न किसी वस्तु का त्याग करते हैं और न कोई अन्य कर्म को ही करते हैं। यह आनन्दस्वरूप, अविचल और परिणामहीन हैं, माया के गुणों से व्याप्त होने के कारण ही यह तत्सदृश प्रतीत होते है ॥ ४३ ॥

ततो रामः स्वयं प्राह हनूमन्तमुपस्थितम् ।
शृणु तत्त्वं प्रवक्ष्यामि ह्यात्मानात्मपरात्मनाम् ॥ ४४॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने अपने सम्मुख उपस्थित पवनसुत हनुमान जी से स्वयं कहा-"मैं तुम्हें आत्मा, अनात्मा और परमात्मा के तत्त्व को बतलाता हूँ, सुनो ॥४४॥

आकाशस्य यथा भेदस्त्रिविधो दृश्यते महान् ।

जलाशये महाकाशस्तदवच्छिन्न एव हि ।
प्रतिबिम्बाख्यमपरं दृश्यते त्रिविधं नभः ॥ ४५॥

जिस प्रकार एक ही आकाश तीन प्रकार का प्रतीत होता है, यथा- सर्वत्र व्यापक महाकाश, दूसरा जलाशयावच्छिन्न आकाश तथा तृतीय जलगत प्रतिबिम्बाकाश ॥ ४५ ॥

बुद्ध्यवच्छिन्नचैतन्यमेकं पूर्णमथापरम् ।
आभासस्त्वपरं बिम्बभूतमेवं त्रिधा चितिः ॥ ४६॥

इसी प्रकार चेतना के भी तीन भेद है। एक तो बुद्धथवच्छिन्न चेतन- समस्त बुद्धियों की समष्टि रूप माया में प्रतिबिम्बित होकर सकल विश्व में व्याप्त ईश्वर, दूसरा आभास चैतन्य विविध बुद्धियों में प्रतिबिम्बित जीव और तृतीय बिम्बचैतन्य- शुद्ध चैतन्य ब्रह्म ॥४६॥

साभासबुद्धेः कर्तृत्वमविच्छिन्नेऽविकारिणि ।
साक्षिण्यारोप्यते भ्रान्त्या जीवत्वं च तथा बुधैः ॥ ४७॥

इनमें आभास चेतन के सहित बुद्धि में कर्तत्व भोक्तृत्व है, अर्थात् चिदाभास के सहित बुद्धि सब कार्य करती है। किन्तु अज्ञानी व्यक्ति भ्रान्ति होने से निरवच्छिन्न, निर्विकार साक्षी आत्मा में कर्तृत्व और जीवत्व का आरोप करते हैं, अर्थात् उसे ही कर्त्ता और भोक्ता मान लेते हैं ॥४७॥

आभासस्तु मृषा बुद्धिरविद्याकार्यमुच्यते ।
अविच्छिन्नं तु तद्ब्रह्म विच्छेदस्तु विकल्पतः ॥ ४८॥

सभी आभास मिथ्या होने के कारण आभास चैतन्य मिथ्या है, और बुद्धि अविद्या का कर्म है। परब्रह्म परमात्मा विच्छेद रहित हैं। अतः परमात्मा का विच्छेद भी विकल्प से ही माना जाता है ॥४८॥

अविच्छिन्नस्य पूर्णेन एकत्वं प्रतिपाद्यते ।
तत्त्वमस्यादिवाक्यैश्च साभासस्याहमस्तथा ॥ ४९॥

समास अहंरूप अवच्छिन्न चेतन जीव की तत्त्वमसि आदि महावाक्यों द्वारा पूर्ण चेतन – पर ब्रह्म के साथ एकता वर्णित है ॥४९॥

ऐक्यज्ञानं यदोत्पन्नं महावाक्येन चात्मनोः ।
तदाऽविद्या स्वकार्यैश्च नश्यत्येव न संशयः ॥ ५०॥

महावाक्यों के द्वारा जीवात्मा और परमात्मा की एकता का ज्ञान जब उत्पन्न हो जाता है, तब अपने कार्यों के सहित अविद्या नष्ट हो जाती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥५०॥

एतद्विज्ञाय मद्भक्तो मद्भावायोपपद्यते ।
मद्भक्तिविमुखानां हि शास्त्रगर्तेषु मुह्यताम् ।
न ज्ञानं न च मोक्षः स्यात्तेषां जन्मशतैरपि ॥ ५१॥

इस तत्व को समझकर कर मेरा भक्त मेरे स्वरूप को प्राप्त होने का अधिकारी हो जाता है, जो मेरी भक्ति से विमुख होकर शास्त्र रूप गर्त में भटकते रहते हैं, उन्हें सैकड़ों जन्मों तक ज्ञान और मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है ॥५१॥

इदं रहस्यं हृदयं ममात्मनो मयैव साक्षात्कथितं तवानघ ।

मद्भक्तिहीनाय शठाय न त्वया दातव्यमैन्द्रादपि राज्यतोऽधिकम् ॥
५२॥

हे अनघ हनुमान ! यह परमरहस्य मेरा हृदय है और साक्षात् मैंने ही तुम्हें सुनाया है। इसे कभी भी भक्ति से हीन शठ मनुष्य को मत देना क्योंकि यह इन्द्र के राज्य से अधिक सुख देने वाला है ॥५२॥

श्रीमहादेव उवाच

एतत्तेऽभिहितं देवि श्रीरामहृदयं मया ।
अतिगुह्यतमं हृद्यं पवित्रं पापशोधनम् ॥ ५३॥

श्रीमहादेवजी बोले हे देवि! मैंने तुम्हें अत्यन्त गोपनीय, हृदयहारी, पवित्र और पाप का नाश करने वाला "श्रीरामहृदय" को तुमसे कहा है ॥५३॥

साक्षाद्रामेण कथितं सर्ववहदान्तसङ्ग्रहम् ।
यः पठेत्सततं भक्त्या स मुक्तो नात्र संशयः ॥ ५४॥

सम्पूर्ण वेदांत, शास्त्रों का सार तत्त्व साक्षात् श्री राम के द्वारा यह 'रामहृदय' कहा गया है। जो व्यक्ति इसका निरन्तर पाठ करता है, वह निःसन्देह मुक्त हो जाता है ॥५४॥

ब्रह्महत्यादि पापानि बहुजन्मार्जितान्यपि ।
नश्यन्त्येव न सन्देहो रामस्य वचनं यथा ॥ ५५॥

अनेक जन्मों के संचित ब्रह्महत्यादि समस्त पाप इसके पठनमात्र से 'निःसन्देह नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि श्रीरामजी का ऐसा ही वचन है ॥ ५५ ॥

योऽतिभ्रष्टोऽतिपापी परधनपरदारेषु नित्योद्यतो वा
स्तेयी ब्रह्मघ्नमातापितृवधनिरतो योगिवृन्दापकारी
यः सम्पूज्याभिरामं पठति च हृदयं रामचन्द्रस्य भक्त्या
योगीन्द्रैरप्यलभ्यं पदमिह लभते सर्वदेवैः स पूज्यम् ॥ ५६॥

जो व्यक्ति अत्यन्त-भ्रष्ट, अत्यन्त पापी, दुसरों का धन हरण करने वाला और दूसरों के स्त्री में नित्य आसक्त रहने वाला हो, अथवा चोर, ब्रह्महत्यारा, माता-पिता के वध करने में बुद्धि रखने वाला और योगिजनों का अहित करने वाला हो वह भी यदि श्रीरामचन्द्र जी का पूजन कर इस रामहृदय का भक्ति पूर्वक पाठ करता है, तो वह समस्त देवताओं से पूजित होकर योगिजनों को भी दुर्लभ परमपद को प्राप्त करता है ॥ ५६ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे बालकाण्डे
श्रीरामहृदयं नाम प्रथमः सर्गः ॥ १॥

॥ द्वितीयः सर्गः ॥

भारपीडिता पृथिवी का ब्रह्मादि देवताओं के पास जाना और भगवान् का उनकी प्रार्थना से प्रकट होकर उन्हें धैर्य धारण कराना ।

पार्वत्युवाच

धन्यास्म्यनुगृहीतास्मि कृतार्थास्मि जगत्प्रभो ।
विच्छिन्नो मेऽतिसन्देहग्रन्थिर्भवदनुग्रहात् ॥१॥

पार्वतीजी बोलीं-हे जगत्प्रभो! मैं आपकी कृपा से अनुगृहीत होकर धन्य एवं कृत-कृत्य हो गयी तथा मेरी सन्देह की ग्रन्थि विच्छिन्न हो गई ॥१॥

त्वन्मुखाद्गलितं रामतत्त्वामृतरसायनम् ।
पिबन्त्या मे मनो देव न तृप्यति भवापहम् ॥२॥

हे देव ! आपके मुख से निःसृत् भवभयहारी रामतत्त्वरूपी अमृत का पान करते हुए मेरा मन तृप्त नहीं होता ॥ २॥

श्रीरामस्य कथा त्वत्तः श्रुता सङ्क्षेपतो मया ।
इदानीं श्रोतुमिच्छामि विस्तरेण स्फुटाक्षरम् ॥ ३॥

मैं आपके मुख से श्रीरामचन्द्रजी की कथा संक्षेप से सुनी। अब मैं स्पष्ट शब्दों में उसे विस्तृत रूप से सुनना चाहती हूँ ॥३॥

श्रीमहादेव उवाच

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि गुह्याद्गुह्यतरं महत् ।
अध्यात्मरामचरितं रामेणोक्तं पुरा मम ॥ ४ ।

महादेवजी बोले-हे देवी! सुनो, मैं तुम्हें अत्यन्त गोपनीय महान् अध्यात्मरामायण को सुनाता हूँ, जिसे पूर्व समय में श्रीरामचन्द्र जी ने मुझसे कहा था ॥४॥

तदद्य कथयिष्यामि शृणु तापत्रयापहम् ।
यच्छ्रुत्वा मुच्यते जन्तुरज्ञानोत्थमहाभयात् ।
प्राप्नोति परमामृद्धिम् दीर्घायुः पुत्रसन्ततिम् ॥ ५॥

अब मैं तुम्हें तापत्रयहारी अध्यात्मरामायण सुनाता हूँ, जिसके श्रवणमात्र से जीव अज्ञान से उत्पन्न महाभय से छूटकर परम ऐश्वर्य, दीर्घायु और पुत्र पौत्रादि को प्राप्त करता है ॥५॥

भूमिभरिण मग्ना दशवदनमुखाशेषरक्षोगणानां
धृत्वा गोरूपमादौ दिविजमुनिजनैः साकमब्जासनस्य ।
गत्वा लोकं रुदन्ती व्यसनमुपगतं ब्रह्मणे प्राह सर्वं
ब्रह्मा ध्यात्वा मुहूर्तं सकलमपि हृदावहदशेषात्मकत्वात् ॥ ६॥

एक समय रावण आदि विविध राक्षसों के भार से दुःखित होकर पृथिवी गौ का रूप धारण कर देवता और मुनियों के साथ ब्रह्माजी के पास ब्रह्मलोक में गयी। ब्रह्माजी के पास जाकर रुदन करती हुई पृथ्वी ने अपनी सारी व्यथा ब्रह्मा जी को सुनायी। मुहूर्त मात्र ध्यान करने के पश्च्यात ब्रह्माजी ने अपने हृदय में दुख की निवृत्ति करने का सम्पूर्ण उपाय जान लिया क्योंकि वह अन्तर्यामी हैं।॥६॥

तस्मात्क्षीरसमुद्रतीरमगमद् ब्रह्माथ देवैर्वृतो
देव्या चाखिललोकहृत्स्थमजरं सर्वज्ञमीशं हरिम् ।
अस्तौषीच्छ्रुतिसिद्धनिर्मलपदैः स्तोत्रैः पुराणोद्भवैः
भक्त्या गद्गदया गिरातिविमलैरानन्दबाष्पैर्वृतः ॥ ७॥

तत्पश्चात् देवगण सहित पृथ्वी को साथ लेकर ब्रह्माजी क्षीरसमुद्र के तट पर गए और वहाँ अत्यन्त निर्मल आनन्दाश्रुओं से युक्त होकर अखिल लोकान्तर्यामी, अजर, सर्वज्ञ, भगवान हरि की अत्यन्त निर्मल गद्गद् वाणी के द्वारा श्रुति-प्रसिद्ध विमल पदों और पुराणोक्त स्तोत्रों द्वारा स्तुति की ॥७॥

ततः स्फुरत्सहस्रांशुसहस्रसदृशप्रभः ।
आविरासीद्धरिः प्राच्यां दिशां व्यपनयन्स्तमः ॥ ८॥

तत्पश्चात् सहस्त्रों देदीप्यमान सूर्य के समान प्रभाशाली भगवान् श्री हरि समस्त दिशाओं के अन्धकार दूर करते हुये पूर्व दिशा में प्रकट हुए ॥८॥

कथञ्चिद्दृष्टवान् ब्रह्मा दुर्दर्शमकृतात्मनाम् ।
इन्द्रनीलप्रतीकाशं स्मितास्यं पद्मलोचनम् ॥ ९॥

पापी व्यक्तियों के लिये दुर्दर्शनीय, इन्द्रनील मणि के समान कान्तियुक्त, इषत् हास्य युक्त, कमललोचन भगवान् हरि को ब्रह्माजी भी उनके अमित तेज के कारण कठिनता से ही देख पाये ॥९॥

किरीटहारकेयूरकुण्डलैः कटकादिभिः ।

विभ्राजमानं श्रीवत्सकौस्तुभप्रभयान्वितम् ॥ १०॥

वह किरीट, हार, केयूर, कुण्डल और कटक आदि आभूषणों से सुशोभित, श्रीवत्स और कौस्तुभमणि की प्रभा से युक्त थे।॥१०॥

स्तुवद्भिः सनकाद्यैश्च पार्षदैः परिवहष्टितम् ।
शङ्खचक्रगदापद्मवनमालाविराजितम् ॥ ११॥

सनकादि पार्षद गण उनकी स्तुति करते हुये इन्हें चारो तरफ से घेरे हुए खड़े थे और शंख, चक्र, गदा, पद्म तथा वनमाला के साथ श्री हरि सुशोभित हो रहे थे ॥ ११ ॥

स्वर्णयज्ञोपवीतेन स्वर्णवर्णाम्बरेण च ।
श्रिया भूम्या च सहितं गरुडोपरि संस्थितम् ॥ १२॥

हर्षगद्गदया वाचा स्तोतुं समुपचक्रमे ॥ १३॥

उन्हें स्वर्ण यज्ञोपवीत और पीताम्बर से सुशोभित तथा लक्ष्मी और भूमि के सहित गरुड पर स्थित देखकर ब्रह्माजी सहर्ष गद्गद्वाणी से स्तुति करने लगे ॥ १२-१३॥

ब्रह्मोवाच

नतोऽस्मि ते पदं देव प्राणबुद्धीन्द्रियात्मभिः ।
यच्चिन्त्यते कर्मपाशाद्धृदि नित्यं मुमुक्षुभिः ॥ १४॥

ब्रह्माजी बोले-हे देव ! कर्म बन्धन से मुक्त होने के लिये मुमुक्षु लोग अपने प्राण, बुद्धि, इन्द्रिय और मन से जिनका नित्य चिन्तन करते हैं, आपके उन चरणकमल की मैं वन्दना करता हूँ॥ १४ ॥

मायया गुणमय्या त्वं सृजस्यवसि लुम्पसि ।
जगत्तेन न ते लेप आनन्दानुभवात्मनः ॥ १५॥

हे भगवन्! आप अपनी त्रिगुणात्मिका माया के द्वारा जगत् की उत्पत्ति, पालन एवं संहार करते हैं, किन्तु सामानन्द स्वरूप आप इससे लिप्त नहीं होते ॥ १५॥

तथा शुद्धिर्न दुष्टानां दानाध्ययनकर्मभिः ।
शुद्धात्मता ते यशसि सदा भक्तिमतां यथा ॥ १६॥

हे भगवन् ! आपके विमलयश में भक्ति रखने वाले भक्तों का अन्तःकरण जैसा शुद्ध होता है, उस प्रकार दान, अध्ययन जादि कर्मों में लिप्त रहने वाले दुष्ट प्राणियों का नहीं हो सकता ॥१६॥

अतस्तवाङ्घ्रिर्मे दृष्टश्चित्तदोषापनुत्तये ।
सद्योऽन्तर्हृदये नित्यं मुनिभिः सात्वतैर्वृतः ॥ १७॥

मुनि जन जिनका अपने हृदय में निरन्तर ध्यान करते हैं, उन चरण कमलों का, अपने अन्तःकरण के दोषों के नाश करने के लिये, आज मैंने दर्शन किया है ॥१७॥

ब्रह्माद्यैः स्वार्थसिद्ध्यर्थमस्माभिः पूर्वसेवितः ।
अपरोक्षानुभूत्यर्थं ज्ञानिभिर्हृदि भावितः ॥ १८॥

इन चरणों का पूर्वकाल में हम ब्रह्मा आदि देवगणों ने अपने कार्य की सिद्धि के लिये सेवन किया है और ज्ञानी-मुनिजनों ने अपरोक्षानुभूति के लिये अपने हृदय में ध्यान किया है ॥ १८॥

तवाङ्घ्रिपूजानिर्माल्यतुलसीमालया विभो ।
स्पर्धते वक्षसि पदं लब्ध्वापि श्रीः सपत्निवत् ॥ १९॥

हे विभो ! श्रीलक्ष्मीजी भी आपके वक्षःस्थल में स्थान प्राप्त कर भी आपकी चरणपूजा के समय चढ़ी हुई तुलसी की माला से सपत्नी जैसी ईर्ष्या करती है ॥ १९॥

अतस्त्वत्पादभक्तेषु तव भक्तिः श्रियोऽधिका ।
भक्तिमेवाभिवाञ्छन्ति त्वद्भक्ताः सारवहदिनः ॥ २०॥

आपके चरण कमलों में भक्ति रखने वाले भक्तों में श्रीलक्ष्मीजी से भी अधिक आपका प्रेम है। अतः आपके सारग्राही भक्तगण केवल आपकी भक्ति की ही इच्छा रखते है ॥२०॥

अतस्त्वत्पादकमले भक्तिरेव सदास्तु मे ।
संसाराऽऽमयतप्तानां भेषजं भक्तिरेव ते ॥ २१॥

इसलिये आपके चरण कमलों में मेरी सदा भक्ति रहे; क्योंकि संसार-रोग से ग्रसित रोगियों के लिये एकमात्र औषधि आपकी भक्ति ही है ॥२१॥

इति ब्रुवन्तं ब्रह्माणं बभाषे भगवान् हरिः ।

किं करोमीति तं वहधाः प्रत्युवाचातिहर्षितः ॥ २२॥

इस प्रकार स्तुति करते हुये ब्रह्माजी से भगवान् बोले कि हे ब्राह्मण ! बताइए मैं आपका क्या प्रिय कार्य करूँ ? इसपर अत्यन्त प्रसन्न चित्त ब्रह्माजी भगवान् से बोले ॥ २२ ॥

भगवन् रावणो नाम पौलस्त्यतनयो महान् ।
राक्षसानामधिपतिर्मद्दत्तवरदर्पितः ॥ २३॥

हे भगवन् ! पुलस्त्य का पौत्र तथा विश्वश्रवा का पुत्र राक्षसों का राजा रावण मेरे दिये हुये वरदान से अत्यंत अभिमानी हो गया है ॥२३॥

त्रिलोकीं लोकपालांश्च बाधते विश्वबाधकः ।
मानुषेण मृतिस्तस्य मया कल्याण कल्पिता ॥ २४॥

अतस्त्वं मानुषो भूत्वा जहि देवरिपुं प्रभो ॥ २५॥

सम्पूर्ण विश्व का बाधक बनकर, त्रिलोकी और लोकपालों को सता रहा है। हे कल्याणरूप ! मैने उसकी मृत्यु मनुष्य के हाथों लिखी है। इसलिये आप मनुष्य रूप धारण करके देवताओं के शत्रु का विनाश कीजिये ॥ २४-२५॥

श्रीभगवानुवाच
कश्यपस्य वरो दत्तस्तपसा तोषितेन मे ।
याचितः पुत्रभावाय तथेत्यङ्गीकृतं मया ।
स इदानीं दशरथो भूत्वा तिष्ठति भूतले ॥ २६॥

श्रीभगवान् बोले-कश्यप की तपस्या से प्रसन्न होकर मैंने उन्हें वरदान दिया था। तब कश्यप ऋषि ने कहा था की यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो पुत्ररूप में मेरे घर जन्म लीजिए और मैंने उन्हें 'ऐसा ही होगा' कह कर स्वीकार किया था। कश्यप ऋषि इस समय पृथ्वी पर राजा दशरथ के रूप में विद्यमान हैं ॥२५-२६॥

तस्याहं पुत्रतामेत्य कौसल्यायां शुभे दिने ।
चतुर्धाऽऽत्मानमेवाहं सृजामीतरयोः पृथक् ॥ २७॥

उनके यहाँ पुत्र रूप से पृथक् पृथक चार अंशों में प्रकट होकर मैं कौसल्या से और अन्य दो माताओं से मनुष्य रूप में जन्म लूँगा ॥ २७॥

योगमायापि सीतेति जनकस्य गृहे तदा ।
उत्पत्स्यते तया सार्धं सर्वं सम्पादयाम्यहम् ।
इत्युक्त्वान्तर्दधे विष्णुर्ब्रह्मा देवानथाब्रवीत् ॥ २८॥

उस समय मेरी योगमाया सीता राजा जनक के यहाँ उत्पन्न होगी, उसके साथ मैं तुम्हारा सम्पूर्ण अभीष्ट कार्य सिद्ध करूँगा। ऐसा कहकर विष्णु भगवान अन्तर्ध्यान हो गये, तब ब्रह्माजी ने देवताओं से कहा ॥२८॥

ब्रह्मोवाच
विष्णुर्मानुषरूपेण भविष्यति रघोः कुले ॥ २९॥

यूयं सृजध्वं सर्वेऽपि वानरेष्वंशसम्भवान् ।
विष्णोः सहायं कुरुत यावत्स्थास्यति भूतले ॥ ३०॥

भगवान् विष्णु रघुकूल में मनुष्य रूम से अवतार लेंगे। आप लोग भी अपने-अपने अंशों से वानर योनि में उत्पन्न हो जाओ, तथा जब तक विषम भगवान् पृथ्वी पर रहें तब तक उनकी सहायता करो ॥ २९-३०॥

इति देवान् समादिश्य समाश्वास्य च मेदिनीम् ।
ययौ ब्रह्मा स्वभवनं विज्वरः सुखमास्थितः ॥ ३१॥

इस प्रकार देवताओं को आदेश तथा भूमि को शान्त्वना देकर ब्रह्माजी अपने लोक को चले गये और चिन्ता रहित होकर सुखपूर्वक रहने लगे ॥ ३१ ॥

देवाश्च सर्वे हरिरूपधारिणः स्थिताः सहायार्थमितस्ततो हरेः ।
महाबलाः पर्वतवृक्षयोधिनः तीक्षमाणा भगवन्तमीश्वरम् ॥ ३२॥

तदनन्तर समस्त देवगण पर्वत और वृक्षों के द्वारा युद्ध करने वाले महाबलवान वानरों का रूप धारणकर भगवान् की सहायता के लिये उनकी प्रतीक्षा करते हुए पृथ्वी पर यत्र-तत्र विचरण करने लगे ॥३२॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे
बालकाण्डे द्वितीयः सर्गः ॥ २॥

॥ तृतीयः सर्गः ॥

भगवान् का जन्म ओर बाललीला

श्रीमहादेव उवाच
अथ राजा दशरथः श्रीमान् सत्यपरायणः ।
अयोध्याधिपतिर्वीरः सर्वलोकेषु विश्रुतः ॥ १॥

सोऽनपत्यत्वदुःखेन पीडितो गुरुमेकदा ।
वसिष्ठं स्वकुलाचार्यमभिवाद्येदमब्रवीत् ॥ २॥

श्रीमहादेवजी बोले- एक समय सर्वलोक प्रसिद्ध सत्यपरायण श्रीमान अयोध्याधिपति वीरवर महाराज दशरथ सन्तान न होने से दुखी अपने कुल के आचार्य गुरुवर वसिष्ठ जी की वन्दना करके इस प्रकार बोले ॥ १-२॥

स्वामिन् पुत्राः कथं मे स्युः सर्वलक्षणलक्षिताः ।
पुत्रहीनस्य मे राज्यं सर्वं दुःखाय कल्पते ॥ ३॥

हे स्वामी ! सर्वलक्षण सम्पन्न पुत्र मुझे किस प्रकार प्राप्त हो सकते हैं? बिना पुत्र के यह सम्पूर्ण राज्य मुझे दुःखदायी ही प्रतीत होता है ॥ ३॥

ततोऽब्रवीद्वसिष्ठस्तं भविष्यन्ति सुतास्तव ।
चत्वारः सत्त्वसम्पन्ना लोकपाला इवापराः ॥ ४॥

शान्ताभर्तारमानीय ऋष्यशृङ्गं तपोधनम् ।

अस्माभिः सहितः पुत्रकामेष्टिं शीघ्रमाचर ॥ ५॥

तब राजा दशरथ से वशिष्ठ जी बोलेः लोकपालों के सहश सर्वशक्तिसम्पन्न आपके यहाँ चार पुत्र उत्पन्न होंगे। आपको शान्ता के पति तपोधन ऋष्यशृङ्ग को बुलाकर हम लोगों के सहित पुत्रेष्टि यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिए ॥४-५॥

तथेति मुनिमानीय मन्त्रिभिः सहितः शुचिः ।
यज्ञकर्म समारेभे मुनिभिर्वीतकल्मषैः ॥ ६॥

वशिष्ठ जी के कथनानुसार राजा दशरथ ऋष्यशृङ्ग ऋषि को बुलाकर मंत्रियों संहित पवित्र होकर निष्पाप मुनिजनों की सहायता से पुत्रेष्टि यज्ञ प्रारम्भ किया ॥६॥

श्रद्धया हूयमानेऽग्नौ तप्तजाम्बूनदप्रभः ।
पायसं स्वर्णपात्रस्थं गृहीत्वोवाच हव्यवाट् ॥ ७॥

यज्ञानुष्ठान के समय भक्तिपूर्वक अग्नि में-हवन करने पर लाल काञ्चन की प्रभा वाले हव्यवाहन- भगवान अग्नि एक स्वर्णपात्र में पायस लेकर प्रकट हुए और बोले ॥७॥

गृहाण पायसं दिव्यं पुत्रीयं देवनिर्मितम् ।
लप्स्यसे परमात्मानं पुत्रत्वेन न संशयः ॥ ८॥

हे राजन् ! देव निर्मित यह दिव्य-पायस लो। इसके द्वारा निःसन्देह साक्षात् परमात्मा को पुत्र रूप में प्राप्त करोगे ॥८॥

इत्युक्त्वा पायसं दत्त्वा राज्ञे सोऽन्तर्दधेऽनलः ।
ववन्दे मुनिशार्दूलौ राजा लब्धमनोरथः ॥ ९॥

वसिष्ठऋष्यशृङ्गाभ्यामनुज्ञातो ददौ हविः ।
कौसल्यायै सकैकेय्यै अर्धमर्धं प्रयत्नतः ॥ १०॥

इस प्रकार कहकर राजा को पायस देकर अग्निदेव अन्तर्ध्यान हो गये। तत्पश्चात् राजा ने सफल मनोरथ होकर मुनिश्रेष्ठ वशिष्ठ और ऋष्यशृङ्ग की चरण वन्दना की और उनकी आज्ञा से सावधानी पूर्वक कौसल्या और कैकेयी को आधा-आधा पायस दे दिया ॥९१०॥

ततः सुमित्रा सम्प्राप्ता जगृध्नुः पौत्रिकं चरुम् ।
कौसल्या तु स्वभागार्धं ददौ तस्यै मुदान्विता ॥ ११॥

पुत्र प्रदायक चरुं को लेने की इच्छा से सुमित्रा जी उस स्थल पर आयीं। इसपर प्रसन्नतापूर्वक कौसल्या जी अपने भाग में से आधा पायस सुमित्रा को दे दिया ॥११॥

कैकेयी च स्वभागार्धं ददौ प्रीतिसमन्विता ।
उपभुज्य चरुं सर्वाः स्त्रियो गर्भसमन्विताः ॥ १२॥

कैकेयी ने भी प्रीतिपूर्वक अपने भाग का आधा पायस सुमित्रा को दे दिया। उस दिव्य पायस को खाकर सभी स्त्रियाँ गर्भवती हुई ॥१२॥

देवता इव रेजुस्ताः स्वभासा राजमन्दिरे ।
दशमे मासि कौसल्या सुषुवह पुत्रमद्भुतम् ॥ १३॥

वह तीनों रानियाँ राजभवन में अपनी तेज से देवताओं के समान सुशोभित हुई। गर्भ से दशम महीने में कौसल्या ने अद्भुत पुत्र को उत्पन्न किया ॥ १३ ॥

मधुमासे सिते पक्षे नवम्यां कर्कटे शुभे ।
पुनर्वस्वृक्षसहिते उच्चस्थे ग्रहपञ्चके ॥ १४॥

मेषं पूषणि सम्प्राप्ते पुष्पवृष्टिसमाकुले ।
आविरासीज्जगन्नाथः परमात्मा सनातनः ॥ १५॥

मधुमास -चैत्र, शुक्लपक्ष, नवमी तिथि, कर्क लग्न में, पुनर्वसु नक्षत्र में जिस समय पाँच ग्रह उच्च राशि पर स्थित थे, सूर्य मेष राशि पर विद्यमान थे, उस समय परमात्मा सनातन जगन्नाथ का आविर्भाव हुआ। उस समय आकाश दिव्य पुष्पों की वर्षा से पूर्ण हो गया ॥ १४-१५ ॥

नीलोत्पलदलश्यामः पीतवासाश्चतुर्भुजः ।
जलजारुणनेत्रान्तः स्फुरत्कुण्डलमण्डितः ॥ १६॥

जो नील कमलदल के समान श्यामवर्ण, पीताम्बर धारण किए हुए, चार भुजाओं से युक्त, अरुण कमल के समान सुशोभित नेत्र और कानों में कान्तिमान कुण्डल से सुशोभित हैं ॥ १६ ॥

सहस्रार्कप्रतीकाशः किरीटी कुञ्चितालकः ।
शङ्खचक्रगदापद्मवनमालाविराजितः ॥ १७॥

जिनका सहस्त्रों हजारों सूर्यों के समान प्रकाशमान, कुण्डल धारण किये हुए, जो कुञ्चित (घुघराली) अलकों से युक्त, शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म एवं वनमाला धारण किए हुए थे ॥ १७ ॥

अनुग्रहाख्यहृत्स्थेन्दुसूचकस्मितचन्द्रिकः ।
करुणारससम्पूर्णविशालोत्पललोचनः ।
श्रीवत्सहारकेयूरनूपुरादिविभूषणः ॥ १८॥

हृदयस्थ अनुग्रह रूपी चन्द्रमा की सूचना देने वाली जिनके मुखमण्डल पर मधुमुस्कान रूपी चन्द्रिका छिटक रही थी, जिनके करुणरस से परिपूर्ण नयन कमलदल के समान विशाल हैं तथा जो श्रीवत्स, हार, केयूर, नूपुर आदि अलंकारों से सुशोभित हैं ॥१८॥

दृष्ट्वा तं परमात्मानं कौसल्या विस्मयाकुला ।
हर्षाश्रुपूर्णनयना नत्वा प्राञ्जलिरब्रवीत् ॥ १९॥

कौसल्या ने पुत्र-रूप से प्रकट हुए उन परमात्मा को देखकर विस्मय से व्याकुल होकर, नेत्रों में आनन्दाश्रुपूर्ण, हाथ जोड़कर नमस्कार कर कहा ॥ १९॥

कौसल्योवाच
देवदेव नमस्तेऽस्तु शङ्खचक्रगदाधर ।
परमात्माच्युतोऽनन्तः पूर्णस्त्वं पुरुषोत्तमः ॥ २०॥

श्री कौसल्या जी बोलीं- हे देवाधिदेव! आपको नमस्कार है; हे शंख चक्र गदाधर ! आप अच्युत, अनन्त और परमात्मा हैं, तथा सर्वत्र पूर्ण पुरुषोत्तम हैं ॥ २० ॥

वदन्त्यगोचरं वाचां बुद्ध्यादीनामतीन्द्रियम् ।
त्वां वहदवादिनः सत्तामात्रं ज्ञानैकविग्रहम् ॥ २१॥

वेदवादी ब्राह्मण आपको वाणी-बुद्धि और मन से अज्ञेय, अतीन्द्रिय, सत्तामात्र और एकमात्र ज्ञानस्वरूप बतलाते हैं ॥२१॥

त्वमेव मायया विश्वं सृजस्यवसि हन्सि च ।
सत्त्वादिगुणसंयुक्तस्तुर्य एवामलः सदा ॥ २२॥

आप ही सत्व-रज-तम आदि तीनों गुणों से युक्त होकर अपनी माया से इस विश्वप्रपञ्च का सृजन, पालन एवं संहार करते हैं, तथापि वास्तव में सर्वदा निर्मल तुरीय पद में विद्यमान रहते हैं ॥२२ ॥

करोषीव न कर्ता त्वं गच्छसीव न गच्छसि ।
शृणोषि न शृणोषीव पश्यसीव न पश्यसि ॥ २३॥

आप कर्म न करते हुए भी कर्ता प्रतीत होते हैं, आप स्थिर होते हुए भी, जाते हुए तथा श्रोता न होते हुए भी श्रोता और द्रष्टा न होते हुए भी द्रष्टा प्रतीत होते हैं ॥ २३ ॥

अप्राणो ह्यमनाः शुद्ध इत्यादि श्रुतिरब्रवीत् ।
समः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्नपि न लक्ष्यसे ॥ २४॥

अज्ञानध्वान्तचित्तानां व्यक्त एव सुमेधसाम् ।
जठरे तव दृश्यन्ते ब्रह्माण्डाः परमाणवः ॥ २५॥

त्वं ममोदरसम्भूत इति लोकान् विडम्बसे ।
भक्तेषु पारवश्यं ते दृष्टं मेऽद्य रघूत्तम ॥ २६॥

वेद कहते हैं कि आप सम्पूर्ण जीवों में समान भाव से स्थित हैं तथापि अज्ञानरूपी अन्धकार से ढके हुए बुद्धि वाले व्यक्तियों को दिखाई नहीं देते, सुबुद्धि पुरुषों को आपका साक्षात्कार होता है। हे भगवन् ! आपके जठर में अनेकों ब्रह्माण्ड परमाणु तुल्य दिखायी पड़ रहे हैं, तथापि आप मेरे पेट से उत्पन्न हुए इस प्रकार लोगों में प्रकट कर रहे हैं, आप भक्तों के आधीन हैं यह आपकी भक्तवत्सलता मैंने आज देख ली ॥ २४-२६ ॥

संसारसागरे मग्ना पतिपुत्रधनादिषु ।
भ्रमामि मायया तेऽद्य पादमूलमुपागता ॥ २७॥

मैं आपकी माया से मोहित होकर पति, पुत्र, धन आदि के लोभ में संसार सागर में मग्न थी, आज सौभाग्यवश आपके चरण कमलों के समीप आयी हूँ ॥ २७ ॥

देव त्वद्रूपमेतन्मे सदा तिष्ठतु मानसे ।
आवृणोतु न मां माया तव विश्वविमोहिनी ॥ २८॥

हे देव ! आपका यह रूप हमेशा मेरे हृदय में विराजमान रहे और आपकी विश्वमोहिनी माया मुझे कभी व्याप्त नहीं हो ॥२८॥

उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम् ।
दर्शयस्व महानन्दबालभावं सुकोमलम् ।
ललितालिङ्गनालापैस्तरिष्याम्युत्कटं तमः ॥ २९॥

हे विश्वात्मन् ! आप अपने अलौकिक रूप का उपसंहार कर परमानन्द दायक सुकोमल बालरूप दिखाइये, जिसके ललित आलिंगन और सम्भाषण आदि से मैं उत्कट अज्ञानान्धकार को पार कर जाऊँगी ॥२९॥

श्रीभगवानुवाच
यद्यदिष्टं तवास्त्यम्ब तत्तद्भवतु नान्यथा ॥ ३०॥

अहं तु ब्रह्मणा पूर्वं भूमेर्भारापनुत्तये ।
प्रार्थितो रावणं हन्तुं मानुषत्वमुपागतः ॥ ३१॥

श्रीभगवान् बोले-हे अम्ब ! आपकी जैसी इच्छा हो वैसा ही हो, इसके विपरीत कुछ भी नहीं होगा। पूर्व समय में भूमि का भार हरण करने के लिए ब्रह्मा ने मुझ से प्रार्थना की थी, अतः रावणादि राक्षसों को मारने के लिए मैं मनुष्य रूप से अवतरित हुआ हूँ ॥३०-३१॥

त्वया दशरथेनाहं तपसाराधितः पुरा ।
मत्पुत्रत्वाभिकाङ्क्षिण्या तथा कृतमनिन्दिते ॥ ३२॥

हे अनिन्दिते ! पूर्वकाल में आप दशरथ जी सहित मेरी तपस्या कर मुझे पुत्र रूप में प्राप्त करने की इच्छा की थी। अतः इस समय प्रकट होकर मैंने आपके उस वरदान को पूर्ण किया है ॥३२॥

रूपमेतत्त्वया दृष्टं प्राक्तनं तपसः फलम् ।
मद्दर्शनं विमोक्षाय कल्पते ह्यन्यदुर्लभम् ॥ ३३॥

आपने पूर्वजन की तपस्या के प्रभाव से यह मेरा दिव्य रूप देखा है। मेरा दर्शन मोक्ष पद प्रदान करने वाला है, पापियों का इसका दर्शन परम दुर्लभ है ॥ ३३ ॥

संवादमावयोर्यस्तु पठेद्वा शृणुयादपि ।
स याति मम सारूप्यं मरणे मत्स्मृतिं लभेत् ॥ ३४॥

जो व्यक्ति इस आख्यान को पढ़ेगा अथवा श्रवण करेगा, वह मेरे सारूप्य मुक्ति प्राप्त करेगा तथा मरण के समय उसे मेरी स्मृति होगी ॥ ३४ ॥

इत्युक्त्वा मातरं रामो बालो भूत्वा रुरोद ह ।
बालत्वेऽपीन्द्रनीलाभो विशालाक्षोऽतिसुन्दरः ॥ ३५॥

इस प्रकार माता से कहकर बाल रूप धारण कर रुदन करने लगे। उनका बालरूप भी इन्द्र नीलमणि के समान श्यामवर्ण और विशाल नेत्रों के समान अत्यन्त सुन्दर था ॥३५॥

बालारुणप्रतीकाशो लालिताखिललोकपः ।
अथ राजा दशरथः श्रुत्वा पुत्रोद्भवोत्सवम् ।
आनन्दार्णवमग्नोऽसावाययौ गुरुणा सह ॥ ३६॥

उनकी कान्ति बाल सूर्य के समान थी, भगवान् के अवतरित होने पर इन्द्रादि सम्पूर्ण लोकपाल आनन्दित हुए। तत्पश्चात् राजा दशरथ जी ने पुत्रोत्पत्ति के उत्सव का समाचार सुनकर आनन्द सागर में मग्न होकर अपने गुरु वसिष्ठ के साथ आये ॥ ३६॥

रामं राजीवपत्राक्षं दृष्ट्वा हर्षाश्रुसम्प्लुतः ।
गुरुणा जातकर्माणि कर्तव्यानि चकार सः ॥ ३७॥

राजा दशरथ कमलनयन श्रीराम को देखकर आनन्द अश्रुओं से युक्त हो गये और गुरुजी के द्वारा श्री राम के जात-कर्म आदि संस्कार किए गए ॥३७॥

कैकेयी चाथ भरतमसूत कमलेक्षणा ।
सुमित्रायां यमौ जातौ पूर्णेन्दुसदृशाननौ ॥ ३८॥

तदनन्तर कैकेयी से कमल के समान नेत्र वाले भरत का जन्म हुआ और सुमित्रा से पूर्ण चन्द्रमा के समान मुख वाले युगल पुत्र उत्पन्न हुए ॥ ३८ ॥

तदा ग्रामसहस्राणि ब्राह्मणेभ्यो मुदा ददौ ।
सुवर्णानि च रत्नानि वासांसि सुरभीः शुभाः ॥ ३९॥

उस समय महाराज दशरथ ने उल्लास में सहस्रों ग्राम; सुवर्ण; रत्न, वस्त्र, शुभ लक्षण से युक्ता गौ आदि दान ब्राह्मणों को दिया ॥३९॥

यस्मिन् रमन्ते मुनयो विद्यया ज्ञानविप्लवह ।
तं गुरुः प्राह रामेति रमणाद्राम इत्यपि ॥ ४०॥

विज्ञान के द्वारा अज्ञान का नाश होने पर जिसमें मुनि जन रमण करते हैं, अथवा अपनी सुन्दरता से जो अपने भक्तजनों के चित्तों को आनन्दित करते हैं, गुरु वशिष्ठ जी ने उनका नाम 'राम' रखा ॥ ४० ॥

भरणाद्भरतो नाम लक्ष्मणं लक्षणान्वितम् ।
शत्रुघ्नं शत्रुहन्तारमेवं गुरुरभाषत ॥ ४१॥

गुरु वशिष्ठ जी ने संसार का भरण पोषण करने से द्वितीय बालक का नाम भरत तथा सर्वलक्षणं सम्पन्न होने से तृतीय पुत्र का नाम लक्ष्मण तथा शत्रुओं के हनन करने चतुर्थ पुत्र का नाम शत्रुघ्न रखा ॥ ४१॥

लक्ष्मणो रामचन्द्रेण शत्रुघ्नो भरतेन च ।
द्वन्द्वीभूय चरन्तौ तौ पायसांशानुसारतः ॥ ४२॥

पायस के अंश के अनुसार लक्ष्मण और राम एक साथ तथा भरत और शत्रुध्न एक साथ रहने लगे॥ ४२ ॥

रामस्तु लक्ष्मणेनाथ विचरन् बाललीलया ।
रमयामास पितरौ चेष्टितैर्मुग्धभाषितैः ॥ ४३॥

लक्ष्मण जी के साथ विचरण करते हुए श्री रामचन्द्र जी अपनी बाललीला, चेष्टा तथा भोली-भाली बातों से माता-पिता को आनन्दित करने लगे ॥ ४३ ॥

भाले स्वर्णमयाश्वत्थपर्णमुक्ताफलप्रभम् ।
कण्ठे रत्नमणिव्रातमध्यद्वीपिनखाञ्चितम् ॥ ४४॥

श्री रामचन्द्र यह ललाट पर मोतियों से सुसज्जित सुवर्णमय अश्वत्थपत्र पीपल का पत्ता तथा गले में व्याघ्रनख से सुसज्जित रत्न तथा मणियों की माला से सुशोभित है ॥४४ ॥

कर्णयोः स्वर्णसम्पन्नरत्नार्जुनसटालुकम् ।
शिञ्जानमणिमञ्जीरकटिसूत्राङ्गदैर्वृतम् ॥ ४५॥

दोनों कानों में अर्जुनवृक्षों के कच्चे फलों के समान रत्न जटित सुवर्ण के आभूषण धारण किए हुए हैं और रमणीय शब्द करने बाल मणिमय नूपुर और मेखला तथा बाजूबन्द धारण किए हुए हैं ॥४५॥

स्मितवक्त्राल्पदशनमिन्द्रनीलमणिप्रभम् ।
अङ्गणे रिङ्गमाणं तं तर्णकाननु सर्वतः ।
दृष्ट्वा दशरथो राजा कौसल्या मुमुदे तदा ॥ ४६॥

भोक्ष्यमाणो दशरथो राममेहीति चासकृत् ।
आह्वयत्यतिहर्षेण प्रेम्णा नायाति लीलया ॥ ४७॥

आनयेति च कौसल्यामाह सा सस्मिता सुतम् ।
धावत्यपि न शक्नोति स्प्रष्टुं योगिमनोगतिम् ॥ ४८॥

प्रहसन् स्वयमायाति कर्दमाङ्कितपाणिना ।
किञ्चिद्गृहीत्वा कवलं पुनरेव पलायते ॥ ४९॥

कौसल्या जननी तस्य मासि मासि प्रकुर्वती ।
वायनानि विचित्राणि समलङ्कृत्य राघवम् ॥ ५०॥

अपूपान् मोदकान् कृत्वा कर्णशष्कुलिकास्तथा ।
कर्णपूरान्श्च विविधान् वर्षवृद्धौ च वायनम् ॥ ५१॥

इन्द्रनील मणि तुल्य कांति काले अल्प दाँतों से युक्त मधुर मुस्कान युक्त मुख वाले आँगन में बछड़े के पीछे-पीछे घुटनों के बल बाल गति से श्रीरामचन्द्र को चलते हुए देख कर महाराजा दशरथ और रानी कौसल्या अति आनन्दित होते थे। भोजन करते समय राजा दशरथ अति हर्ष और प्रेमपूर्वक हे राम! यहाँ आओ ऐसा कहकर बारम्बार बुलाते थे। खेल में लीन रहने के कारण श्रीरामचन्द्र जी के न आने पर कौसल्या द्वारा पकड़ कर लाने को कहते थे। परन्तु जो योगिजनों के चित्त के आश्रयी भूत हैं, ऐसे पुत्र को कौसल्या जी हँसकर दौड़ती हुई नहीं पकड़ पाती, किन्तु हाथ में कीचड़ लगाये हुए स्वयं ही आ जाते और एकाध ग्रास खाकर फिर भाग जाते थे। माता कौसल्या श्रीराम को उत्तम प्रकार से वस्त्रालंकारों से सुसज्जित कर प्रतिमास अनेक प्रकार के मिष्ठान्न बनाकर उत्सव मनाती थी। वर्षगाँठ के दिन पूआ, लड्डू, जलेबी और कचौड़ी आदि विविध व्यंजन बनाकर उत्सव मनाती थीं॥ ४६-५१॥

गृहकृत्यं तया त्यक्तं तस्य चापल्यकारणात् ।
एकदा रघुनाथोऽसौ गतो मातरमन्तिके ॥ ५२॥

श्रीराम जी की बालक्रीडा की चपलता के कारण माता कौसल्या सम्पूर्ण गृह-कार्य का भी स्मरण नहीं रहता था। एक समय श्रीरघुनाथ जी माता के समीप गये ॥ ५२ ॥

भोजनं देहि मे मातर्न श्रुतं कार्यसक्तया ।
ततः क्रोधेन भाण्डानि लगुडेनाहनत्तदा ॥ ५३॥

और माता के पास जाकर बोले कि हे माता ! मुझे भोजन दो। किन्तु गृह कार्य में व्यस्त रहने के कारण माता ने श्री राम की बात नहीं

सुनी। इस पर क्रोधित उन्होंने होकर डंडे से छींको को फोड़ डाला ॥ ५३ ॥

शिक्यस्थं पातयामास गव्यं च नवनीतकम् ।
लक्ष्मणाय ददौ रामो भरताय यथाक्रमम् ॥ ५४॥

शत्रुघ्नाय ददौ पश्चाद्दधि दुग्धं तथैव च ।
सूदेन कथिते मात्रे हास्यं कृत्वा प्रधावति ॥ ५५॥

तथा उन पर रखे हुए दूध और माखन गिरा कर लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न को दे दिये। रसोइयादार के कहने पर माता कौसल्या हँसती हुई पकड़ने के लिए दौड़ी ॥ ५४-५५ ॥

आगतां तां विलोक्याथ ततः सर्वैः पलायितम् ।
कौसल्या धावमानापि प्रस्खलन्ती पदे पदे ॥ ५६॥

माता को आती हुई देख कर सभी लड़के भाग गये। उनके पीछे माता कौसल्या दौड़ती हुई पग-पग पर गिर जाती थी ॥ ५६ ॥

रघुनाथं करे धृत्वा किञ्चिन्नोवाच भामिनी ।
बालभावं समाश्रित्य मन्दं मन्दं रुरोद ह ॥ ५७॥

श्रीराम जी का हाथ पकड़ कर माता कौसल्या कुछ भी नहीं बोली। उस समय बालक की तरह भगवान् धीरे-धीरे रुदन करने लगे ॥५७॥

ते सर्वे लालिता मात्रा गाढमालिङ्ग्य यत्नतः ।

एवमानन्दसन्दोहजगदानन्दकारकः ॥ ५८॥

मायाबालवपुर्धृत्वा रमयामास दम्पती ।
अथ कालेन ते सर्वे कौमारं प्रतिपेदिरे ॥ ५९॥

उन सभी को माता ने बड़े प्रेम से हृदय से लगाकर आलिंगन कर प्यार किया। इस प्रकार जगत् को आनन्द देने वाले आनन्दकन्द-भगवान् श्रीराम मायामय बालक का रूप धारण कर दम्पती को आनन्दित करने लगे। कुछ समय व्यतीत होने पर सभी भाई कौमारावस्था में प्रविष्ट हुए ॥ ५८-५९ ॥

उपनीता वसिष्ठेन सर्वविद्याविशारदाः ।
धनुर्वेदे च निरताः सर्वशास्त्रार्थवहदिनः ॥ ६०॥

गरु वशिष्ठ जी ने चारो भाइयों का यज्ञोपवीत संस्कार किया और लीला से मनुष्य रूप धारण करने वाले सम्पूर्ण लोकों के स्वामी चारो भाई सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता और धनुर्वेद में निपुण हो गये ॥६०॥

बभूवुर्जगतां नाथा लीलया नररूपिणः ।
लक्ष्मणस्तु सदा राममनुगच्छति सादरम् ॥ ६१॥

श्री लक्ष्मण जी आदर-पूर्वक सेव्य-सेवक भाव से सदा श्रीरामचन्द्र जी का अनुगमन करते थे ॥ ६१ ॥

सेव्यसेवकभावहन शत्रुघ्नो भरतं तथा ।
रामश्चापधरो नित्यं तूणीबाणान्वितः प्रभुः ॥ ६२॥

अश्वारूढो वनं याति मृगयायै सलक्ष्मणः ।
हत्वा दुष्टमृगान् सर्वान् पित्रे सर्वं न्यवहदयत् ॥ ६३॥

इसी प्रकार शत्रुघ्न सेव्य-सेवक भाव से भरत जी की सेवा करते थे। श्रीरामचन्द्र जी प्रतिदिन लक्ष्मण जी के साथ धनुष, वाण और तरकस धारण कर घोड़े पर सवार होकर शिकार खेलने के लिए जंगल में जाते और मृगादि पशुओं का हनन कर उनको अपने पिता से निवेदन करते थे ॥ ६२-६३ ॥

प्रातरुत्थाय सुस्नातः पितरावभिवाद्य च ।
पौरकार्याणि सर्वाणि करोति विनयान्वितः ॥ ६४॥

प्रातःकाल उठकर शौचादि क्रिया से निवृत्त होकर माता-पिता का अभिवादन कर विनम्रता पूर्वक नगर-निवासियों का कार्य करते थे ॥६४॥

बन्धुभिः सहितो नित्यं भुक्त्वा मुनिभिरन्वहम् ।
धर्मशास्त्ररहस्यानि शृणोति व्याकरोति च ॥ ६५॥

पुनः बन्धुओं सहित मुनिजनों के द्वारा धर्मशास्त्र का रहस्य सुनते तथा उसकी व्याख्या भी करते थे ॥६५॥

एवं परात्मा मनुजावतारो मनुष्यलोकाननुसृत्य सर्वम् ।
चक्रेऽविकारी परिणामहीनो विचार्यमाणे न करोति किञ्चित् ॥६६॥

इस प्रकार अविकार, अविनाशी, परिणामहीन परमात्मा मनुष्य का रूप धारण कर मनुष्य के समान शास्त्रानुसार आचरण करते थे।

परन्तु वास्तविक विचार किया जाय तो वह कुछ कार्य नहीं करते थे ॥ ६६ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे
बालकाण्डे तृतीयः सर्गः ॥ ३॥

॥ चतुर्थः सर्गः॥

विश्वामित्र जी का आगमन, राम और लक्ष्मण का उनके साथ जाना और ताड़का वध करना

श्रीमहादेव उवाच
कदाचित्कौशिकोऽभ्यागादयोध्यां ज्वलनप्रभः ।
द्रष्टुं रामं परात्मानं जातं ज्ञात्वा स्वमायया ॥ १॥

श्री महादेव जी बोले-एक समय अग्नि के समान देदीप्यमान विश्वामित्र मुनि यह जानकर की परम पिता परमात्मा अपनी माया से रामावतार धारण किया है उनके दर्शन के लिए अयोध्यापुरी पधारे ॥१॥

दृष्ट्वा दशरथो राजा प्रत्युत्थायाचिरेण तु ।
वसिष्ठेन समागम्य पूजयित्वा यथाविधि ॥ २॥

विश्वामित्र मुनि को देखकर महाराजा दशरथ शीघ्र ही उठ खड़े हुए तथा वसिष्ठमुनि के साथ आकर यथाविधि उनको अर्द्ध, पाद्य दे कर उनकी पूजा अर्चना की ॥२॥

अभिवाद्य मुनिं राजा प्राञ्जलिर्भक्तिनम्रधीः ।
कृतार्थोऽस्मि मुनीन्द्राहं त्वदागमनकारणात् ॥ ३॥

मुनि का अभिवादन कर राजा ने मुनि से कहा-हे मुनीन्द्र! आपके आगमन से मैं कृतार्थ हूँ॥३॥

त्वद्विधा यद्गृहम् यान्ति तत्रैवायान्ति सम्पदः ।

यदर्थमागतोऽसि त्वं ब्रूहि सत्यं करोमि तत् ॥ ४॥

आप जैसे महानुभावों का जिस घर में पादार्पण होता है, वहां पर समस्त सम्पत्तियाँ स्वत: आ जाती हैं। आप जिस कारण से आये हों उसे मुझसे कहिए, मैं उसका अवश्य पालन करूँगा ॥४॥

विश्वामित्रोऽपि तं प्रीतः प्रत्युवाच महीपतिम् ।
अहं पर्वणि सम्प्राप्ते दृष्ट्वा यष्टुं सुरान् पितृन् ॥ ५॥

यदारभे तदा दैत्या विघ्नं कुर्वन्ति नित्यशः ।
मारीचश्च सुबाहुश्चापरे चानुचरास्तयोः ॥ ६॥

महामति विश्वामित्र जी उन पर प्रसन्न होकर बोले-पर्वकाल उपस्थित होने पर देव और पितरों के लिये जब मैं यज्ञ प्रारम्भ करता हूँ तो मारीच, सुबाहु और अन्य उनके अनुचर दैत्यगण उसमें विध्न उपस्थित करते हैं ॥५-६ ॥

अतस्तयोर्वधार्थाय ज्येष्ठं रामं प्रयच्छ मे ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा तव श्रेयो भविष्यति ॥ ७॥

अतः उन दोनों को मारने के लिये आप अपने ज्येष्ठ श्रीराम और उनके भ्राता लक्ष्मण को मुझे दे दें, इसमें आपका भी कल्याण होगा ॥७॥

वसिष्ठेन सहामन्त्र्य दीयतां यदि रोचते ।
पप्रच्छ गुरुमेकान्ते राजा चिन्तापरायणः ॥ ८॥

यदि आपकी ईच्छा हो तो वशिष्ठ जी से आप उचित विचार-विमर्श कर सकते हैं। तदनन्तर चिन्ता से व्याकुल राजा दशरथ ने एकान्त में अपने कुलगुरु से प्रश्न किया ॥८॥

किं करोमि गुरो रामं त्यक्तुं नोत्सहते मनः ।
बहुवर्षसहस्रान्ते कष्टेनोत्पादिताः सुताः ॥ ९॥

चत्वारोऽमरतुल्यास्ते तेषां रामोऽतिवल्लभः ।
रामस्त्वितो गच्छति चेन्न जीवामि कथञ्चन ॥ १०॥

हे गुरुप्रवर ! हजारों वर्ष व्यतीत होने पर अत्यन्त कष्ट से मुझे यह देवताओं के समान चार पुत्र हुए हैं। इनमें भी राम मुझे अत्यन्त प्रिय है, मैं क्या करूँ? मेरा मन राम को किसी भी प्रकार छोड़ने के लिये तैयार नहीं है। राम के चले जाने पर मैं किसी प्रकार भी जीवित नहीं रह सकूँगा ॥ ९-१०॥

प्रत्याख्यातो यदि मुनिः शापं दास्यत्यसंशयः ।
कथं श्रेयो भवहन्मह्यमसत्यं चापि न स्पृशेत् ॥ ११॥

और यदि मैं मुनि को उनकी इच्छा के विपरीत जबाब दूंगा तो निश्चय ही मुनि शाप देगें। अतः किस प्रकार मेरा कल्याण हो और मैं असत्य से भी बच सकूँ, यह मुझे बतलाइये ॥११॥

वसिष्ठ उवाच
शृणु राजन् देवगुह्यं गोपनीयं प्रयत्नतः ।
रामो न मानुषो जातः परमात्मा सनातनः ॥ १२॥

वशिष्ठजी बोले-हे राजन् देवताओं से भी गुप्त रखने योग्य बात सुनिये। राम मनुष्य नहीं हैं, साक्षात् पुराण पुरुष परमात्मा ही अपनी माया से इस रूप में प्रकट हुए हैं ॥ १२ ॥

भूमेर्भारावताराय ब्रह्मणा प्रार्थितः पुरा ।
स एव जातो भवने कौसल्यायां तवानघ ॥ १३॥

हे अनघ ! प्राचीन समय में भूमि का भार हरण करने के लिये ब्रह्मा जी ने भगवान से प्रार्थना की थी, उसे पूरा करने के लिये परमात्मा कौसल्या के गर्भ से आपके घर प्रादुर्भूत हुये हैं ॥ १३ ॥

त्वं तु प्रजापतिः पूर्वं कश्यपो ब्रह्मणः सुतः ।
कौसल्या चादितिर्देवमाता पूर्वं यशस्विनी ॥ १४॥

भवन्तौ तप उग्रं वै तेपाथे बहुवत्सरम् ।
अग्राम्यविषयौ विष्णुपूजाध्यानैकतत्परौ ।
तदा प्रसन्नो भगवान् वरदो भक्तवत्सलः ॥ १५॥

वृणीष्व वरमित्युक्ते त्वं मे पुत्रो भवामल ।
इति त्वया याचितोऽसौ भगवान् भूतभावनः ॥ १६॥

तथेत्युक्त्वाद्य पुत्रस्ते जातो रामः स एव हि ।
शेषस्तु लक्ष्मणो राजन् राममेवान्वपद्यत ॥ १७॥

पूर्वजन्म में आप ब्रह्मा जी के पुत्र प्रजापति कश्यप थे, और यशस्विनी कौसल्या देवताओं की माता अदिति थी। उस समय आप दोनों ने सम्पूर्ण ग्राह्य भोगों का त्याग कर अनेकों वर्षों तक एक मात्र भगवान्

विष्णु की पूजा तथा ध्यान में तत्पर रहकर कठिन तपस्या की। भगवान् ने आपकी कठिन तपस्या से प्रसन्न होकर आप दोनों से वर माँगने के लिये कहा। तदनन्तर आपने वर माँगा कि हे निरजन! आप मुझे पुत्र रूप में प्राप्त हों। तब भूतभावन भगवान् ने “ऐसा ही हो" कह कर आपका वरदान दिया कि आप मुझको पुत्र रूप में प्राप्त करेंगे। अतः वह ही श्री विष्णु भगवान् इस समय श्रीराम के रूप में आपके यहाँ पुत्ररूप में उत्पन्न हुए हैं और उनकी सेवा के लिये शेषजी लक्ष्मण के रूप में प्रकट होकर उनके अनुयायी हुए हैं ॥ १४-१७ ॥

जातौ भरतशत्रुघ्नौ शङ्खचक्रे गदाभृतः ।
योगमायापि सीतेति जाता जनकनन्दिनी ॥ १८॥

गदाधर भगवान् के ही शंख और चक्र ने में भरत और शत्रुघ्न के रूप में अवतार लिया हैं और उनकी योगमाया श्री जनक जी की पुत्री ही सीताजी के रूप में प्रकट हुई है ॥ १८ ॥

विश्वामित्रोऽपि रामाय तां योजयितुमागतः ।
एतद्गुह्यतमं राजन्न वक्तव्यं कदाचन ॥ १९॥

श्री विश्वामित्र जी राम और योगमाया से संयोग कराने हेतु आए हैं। हे राजन् ! यह अत्यंत गोपनीय रहस्य किसी भी समय किसी के समक्ष नहीं कहना चाहिए ॥१९॥

अतः प्रीतेन मनसा पूजयित्वाथ कौशिकम् ।
प्रेषयस्व रमानाथं राघवं सहलक्ष्मणम् ॥ २०॥

इसलिये आप प्रसन्न चित्त से श्री विश्वामित्र जी का पूजन करके लक्ष्मीपति श्रीरघुनाथ जी को लक्ष्मण सहित इनके साथ भेज दीजिए ॥२०॥

वसिष्ठेनैवमुक्तस्तु राजा दशरथस्तदा ।
कृतकृत्यमिवात्मानं मेने प्रमुदितान्तरः ॥ २१॥

इस प्रकार वसिष्ठ ऋषि के समझाने पर राजा दशरथ प्रसन्नचित्त हुए तथा उन्होंने अपने आप को कृतकृत्य समझा ॥२॥

आहूय रामरामेति लक्ष्मणेति च सादरम् ।
आलिङ्ग्य मूर्ध्न्यवघ्राय कौशिकाय समर्पयत् ॥ २२॥

इसके पश्च्यात राजा दशरथ ने श्री राम और लक्ष्मण को बुलवाया तथा उनका आलिङ्गन कर तथा सिर को सूंघकर श्रीविश्वामित्र जी को सौंप दिये ॥ २२॥

ततोऽतिहृष्टो भगवान् विश्वामित्रः प्रतापवान् ।
आशीर्भिरभिनन्द्याथ आगतौ रामलक्ष्मणौ ।
गृहीत्वा चापतूणीरबाणखड्गधरौ ययौ ॥ २३॥

किञ्चिद्देशमतिक्रम्य राममाहूय भक्तितः ।
ददौ बलां चातिबलां विद्ये द्वे देवनिर्मिते ॥ २४॥

ययोर्ग्रहणमात्रेण क्षुत्क्षामादि न जायते ॥ २५॥

अनन्तर अत्यन्त प्रसन्नचित्त प्रतापवान् भगवान् विश्वामित्र जी के आशिर्वचनों से श्री राम और लक्ष्मण का अभिनन्दन किया और धनुष, तरकश, बाण एवं खड्ग आदि से सुसज्जित श्री राम और लक्ष्मण को लेकर चल दिये। कुछ दूर जाकर विश्वामित्र जी ने भक्ति-पूर्वक श्री राम को बुलाकर देवनिर्मित बला और अतिबला नामक दो विद्याएँ प्रदान की, जिसके ग्रहण करने से क्षुधा और दुर्बलता आदि बाधा नहीं होती ॥ २३-२५ ॥

तत उत्तीर्य गङ्गां ते ताटकावनमागमन् ।
विश्वामित्रस्तदा प्राह रामं सत्यपराक्रमम् ॥ २६॥

अत्रास्ति ताटका नाम राक्षसी कामरूपिणी ।
बाधते लोकमखिलं जहि तामविचारयन् ॥ २७॥

इसके बाद गंगाजी को पार कर ताटकावन आकर विश्वामित्र जी ने सत्यपराक्रमी राम से कहा -हे राम! इस स्थान पर अपने इच्छा के अनुरूप रूप धारण करने वाली ताटका नाम की राक्षसी रहती है, जो यहाँ रहने वालों को अत्यन्त कष्ट देती है, तुम बिना कुछ सोच-विचार किये उसका वध करो ॥ २६-२७ ॥

तथेति धनुरादाय सगुणं रघुनन्दनः ।
टङ्कारमकरोत्तेन शब्देनापूरयद्वनम् ॥ २८॥

"जैसी आप की आज्ञा" ऐसा कहकर श्री रघुनाथ जी ने धनुष पर प्रत्यश्वा चढ़ाकर टंकार किया, जिसके शब्द से वह सम्पूर्ण वन शब्दायमान हो गया ॥ २८ ॥

तच्छ्रुत्वासहमाना सा ताटका घोररूपिणी ।
क्रोधसंमूर्च्छिता राममभिदुद्राव मेघवत् ॥ २९॥

उस शब्द को सुनकर घोररूपिणी ताटका उसे सहन नहीं कर पाई तथा क्रोध से पागल होकर मेघ की गति के समान राम की ओर दौड़ी ॥ २९॥

तामेकेन शरेणाशु ताडयामास वक्षसि ।
पपात विपिने घोरा वमन्ती रुधिरं बहु ॥ ३०॥

उसके वक्षस्थल में एक बाण राम ने मारा। जिससे घोरराक्षसी मुख से रुधिर वमन करते हुए वन में गिर पड़ी ॥३०॥

ततोऽतिसुन्दरी यक्षी सर्वाभरणभूषिता ।
शापात्पिशाचतां प्राप्ता मुक्ता रामप्रसादतः ॥ ३१॥

नत्वा रामं परिक्रम्य गता रामाज्ञया दिवम् ॥ ३२॥

इसके बाद वह शापवश पिशाच हुई तथा श्रीराम की कृपा से शाप से मुक्त होकर सर्वालंकार से विभूषित होकर परम यक्षिणी हो गई और श्रीरामचन्द्र जी की परिक्रमा कर स्वर्गलोक को चली गयी ॥३१-३२॥

ततोऽतिहृष्टः परिरभ्य रामं
मूर्धन्यवघ्राय विचिन्त्य किञ्चित् ।
सर्वास्त्रजालं सरहस्यमन्त्रं
प्रीत्याभिरामाय ददौ मुनीन्द्रः ॥ ३३॥

तदनन्तर मुनिवर विश्वामित्र परमानन्दित होकर रामजी का आलिंगन किया और उनके सिर को सूंघकर कुछ सोच समझकर रहस्य सहित मन्त्र और समस्त अस्त्र-शस्त्र प्रतिपूर्वक अभिराम राम को दे दिये ॥ ३३ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे
बालकाण्डे चतुर्थः सर्गः ॥ ४॥

॥ पञ्चमः सर्गः ॥

मारीच और सुबाहु का दमन तथा अहल्योद्धार

श्रीमहादेव उवाच
तत्र कामाश्रमे रम्ये कानने मुनिसङ्कुले ।
उषित्वा रजनीमेकां प्रभाते प्रस्थिताः शनैः ॥ १॥

श्रीमहादेवजी बोले-हे पार्वती ! इसके बाद विश्वामित्र जी के साथ वह दोनों भाई एक रात मुनिजन संकलित परमरम्य उस कामाश्रम वन में रहकर विश्राम किया तथा प्रातःकाल होने पर धीरे-धीरे प्रस्थान किया ॥१॥

सिद्धाश्रमं गताः सर्वे सिद्धचारणसेवितम् ।
विश्वामित्रेण सन्दिष्टा मुनयस्तन्निवासिनः ॥ २॥

पूजां च महतीं चक्रू रामलक्ष्मणयोर्द्रुतम् ।
श्रीरामः कौशिकं प्राह मुने दीक्षां प्रविश्यताम् ॥ ३॥

और सिद्धों और चारणों से सुसेवित सिद्धाश्रम पर आये। विश्वामित्र जी की आज्ञा से वहाँ के निवासी मुनिजनों ने शीघ्रता पूर्वक राम और लक्ष्मण का अतिसत्कार किया। तत्पश्चात् श्री रामचन्द्रजी ने विश्वामित्रजी से कहा-हे मुने ! अब आप यज्ञ प्रारम्भ करें ॥ २-३॥

दर्शयस्व महाभाग कुतस्तौ राक्षसाधमौ ।
तथेत्युक्त्वा मुनिर्यष्टुमारेभे मुनिभिः सह ॥ ४॥

हे महाभाग! मुझे दिखाएँ कि वह दोनों राक्षसाधम कहा हैं। मुनिवर ने बहुत अच्छा ऐसा कह कर मुनिगण के साथ यज्ञ करना प्रारम्भ किया ॥४॥

मध्याह्ने ददृशाते तौ राक्षसौ कामरूपिणौ ।
मारीचश्च सुबाहुश्च वर्षन्तौ रुधिरास्थिनी ॥ ५॥

मध्याह्न के समय कामरूप धारण करने वाले मारीच और सुबाहु रुधिर और अस्थि की वर्षा करते हुए दिखायी दिए ॥५॥

रामोऽपि धनुरादाय द्वौ बाणौ सन्दधे सुधीः ।
आकर्णान्तं समाकृष्य विससर्ज तयोः पृथक् ॥ ६॥

बुद्धिमान् श्रीरामचन्द्र ने भी धनुष लेकर उसपर दो बाण चढ़ाये और कर्ण पर्यन्त खींचकर पृथक्-पृथक् दोनों राक्षसों की ओर छोड़ दिये ॥ ६॥

तयोरेकस्तु मारीचं भ्रामयञ्छतयोजनम् ।
पातयामास जलधौ तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ७॥

उनमें से एक बाण मारीच को लेकर घुमाता हुआ सौ योजन दूर समुद्र में गिरा दिया, यह एक आश्चर्य जनक घटना हुई ॥७॥

द्वितीयोऽग्निमयो बाणः सुबाहुमजयत्क्षणात् ।
अपरे लक्ष्मणेनाशु हतास्तदनुयायिनः ॥ ८॥

अग्नितुल्य दूसरा बाण ने क्षणभर में सुबाहु को भस्म कर दिया और उनके अनुयायियों को शीघ्र ही लक्ष्मण जी ने मार गिराया ॥८॥

पुष्पौघैराकिरन् देवा राघवं सहलक्ष्मणम् ।
देवदुन्दुभयो नेदुस्तुष्टुवुः सिद्धचारणाः ॥ ९॥

उस समय देवगणों ने श्रीराम और लक्ष्मणजी पर फूलों की वर्षा की और देवों ने दुन्दुभि बजाइ तथा सिद्धचारण गण उनकी स्तुति गाने लगे ॥ ९ ॥

विश्वामित्रस्तु सम्पूज्य पूजार्हं रघुनन्दनम् ।
अङ्के निवहश्य चालिङ्ग्य भक्त्या बाष्पाकुलेक्षणः ॥ १०॥

श्री विश्वामित्र जी ने पूजनीय रघुनन्दन का पूजन कर, गोद में बैठाकर भक्तिपूर्वक प्रेमाश्रु से पूर्ण हो आलिंगन किया ॥१०॥

भोजयित्वा सह भ्रात्रा रामं पक्वफलादिभिः ।
पुराणवाक्यैर्मधुरैर्निनाय दिवसत्रयम् ॥ ११॥

और भाई लक्ष्मण के साथ श्री राम को सुपक्व फल आदि खिलाकर पुराण और इतिहास की सुमधुर कथाएँ सुनाते हुये तीन दिन तक निवास किया ॥११॥

चतुर्थेऽहनि सम्प्राप्ते कौशिको राममब्रवीत् ।
राम राम महायज्ञं द्रष्टुं गच्छामहे वयम् ॥ १२॥

विदेहराजनगरे जनकस्य महात्मनः ।

तत्र माहेश्वरं चापमस्ति न्यस्तं पिनाकिना ॥ १३॥

चतुर्थ दिन आने पर श्री विश्वामित्र जी श्रीराम से बोले हे राम! महात्मा जनक जी का महायज्ञ देखने के लिये जनकपुर में चलना चाहिए। वहाँ धरोहर के रूप में श्री महादेवजी का बड़ाभारी धनुष रखा हुआ है ॥ ११-१३॥

द्रक्ष्यसि त्वं महासत्त्वं पूज्यसे जनकेन च ।
इत्युक्त्वा मुनिभिस्ताभ्यां ययौ गङ्गासमीपगम् ॥ १४॥

गौतमस्याश्रमं पुण्यं यत्राहल्याऽऽस्थिता तपः ।
दिव्यपुष्पफलोपेतपादपैः परिवहष्टितम् ॥ १५॥

हम वह सुदृढ़ धनुष देखेंगे तथा महाराज जनक का पूजन करेंगे। विश्वामित्र जी इस प्रकार कहकर राम और लक्ष्मण को साथ लेकर गंगाजी के समीप श्री गौतमऋषि के पुण्य आश्रम पर गये। वह आश्रम दिव्य और पवित्र फलों वाले वृक्षों से सुसज्जित था और अहल्या वहाँ मूर्तमान होकर जप कर रही थीं ॥ १४-१५॥

मृगपक्षिगणैर्हीनं नानाजन्तुविवर्जितम् ।
दृष्ट्वोवाच मुनिं श्रीमान् रामो राजीवलोचनः ॥ १६॥

मृगादि पक्षियों और वन्यजन्तुओं से रहित इस आश्रम को देखकर राजीवलोचन श्रीमान् रामजी मुनिश्रेष्ठ कौशिक से बोले ॥ १६ ॥

कस्यैतदाश्रमपदं भाति भास्वच्छुभं महत् ।
पत्रपुष्पफलैर्युक्तं जन्तुभिः परिवर्जितम् ॥ १७॥

पत्र, पुष्प फल आदि से सुसम्पन्न, जीव जन्तुओं से रहित, यह अत्यन्त सुन्दर, रमणीय और पवित्र आश्रम किसका है ॥ १७ ॥

आह्लादयति मे चेतो भगवन् ब्रूहि तत्त्वतः ॥ १८॥

विश्वामित्र उवाच
शृणु राम पुरा वृत्तं गौतमो लोकविश्रुतः ।
सर्वधर्मभृतां श्रेष्ठस्तपसाराधयन् हरिम् ॥ १९॥

इसे देखकर मेरा मन आह्लादित हो रहा है, इस तत्त्व को आप मुझसे कहिये। विश्वामित्र जी बोले-हे राम ! इसका प्राक्तन वृत्तान्त सुनो। पूर्वसमय में लोकविश्रुत धार्मिक-श्रेष्ठ मुनिवर गौतमजी तपस्या से श्रीहरि की आराधना करते हुये इस आश्रम में निवास करते थे ॥१८-१९॥

तस्मै ब्रह्मा ददौ कन्यामहल्यां लोकसुन्दरीम् ।
ब्रह्मचर्येण सन्तुष्टः शुश्रूषणपरायणाम् ॥ २०॥

उनके ब्रह्मचर्य से प्रसन्न होकर श्री ब्रह्माजी उनकी सेवा के लिये लोकसुन्दरी, सेवा परायण, अहल्या नाम की कन्या उनको समर्पित की ॥ २० ॥

तया सार्धमिहावात्सीद्गौतमस्तपतां वरः ।
शक्रस्तु तां धर्षयितुमन्तरं प्रेप्सुरन्वहम् ॥ २१॥

तदनन्तर तपस्वियों में श्रेष्ठ गौतम जी उस अहल्या के साथ यहाँ निवास करने लगे, इन्द्र अहल्या के रूप एवं सुन्दरता पर मोहित होकर नित्य प्रति उसके साथ रमण करने का समय देखने लगे ॥ २१॥

कदाचिन्मुनिवहषेण गौतमे निर्गते गृहात् ।
धर्षयित्वाथ निरगात्त्वरितं मुनिरप्यगात् ॥ २२॥

एकदिन मुनिवर गौतम के घर से बाहर चले जाने पर इन्द्र गौतम ऋषि का रूप धारण कर अहल्या के साथ रमण कर शीघ्र ही वहाँ से चले गये, परन्तु उसी समय गौतम मुनि भी वहाँ लौट आये ॥२२॥

दृष्ट्वा यान्तं स्वरूपेण मुनिः परमकोपनः ।
पप्रच्छ कस्त्वं दुष्टात्मन् मम रूपधरोऽधमः ॥ २३॥

इन्द्र को जाते देखकर गौतम मुनि ने अत्यन्त क्रोधपूर्वक पूछा-रे दुष्टात्मन् ! रे अधम् । मेरे रूप को धारण करने वाला तू कौन है? ॥२३॥

सत्यं ब्रूहि न चेद्भस्म करिष्यामि न संशयः ।
सोऽब्रवीद्देवराजोऽहं पाहि मां कामकिङ्करम् ॥ २४॥

सत्य सत्य बोलो, नहीं तो मैं निःसन्देह तुम्हें भस्म कर दूंगा। इस वाणी को सुनकर इन्द्र बोला मेरी रक्षा करें, मैं काम किंकर देवराज इन्द्र हूँ ॥२४॥

कृतं जुगुप्सितं कर्म मया कुत्सितचेतसा ।
गौतमः क्रोधताम्राक्षः शशाप दिविजाधिपम् ॥ २५॥

मुझ पापात्मा ने अतिनिन्दित कर्म किया है। यह सुनकर गौतम ने क्रोध से आँखे लालकर देवराज इन्द्र को शाप दिया ॥ २५॥

योनिलम्पट दुष्टात्मन् सहस्रभगवान् भव ।
शप्त्वा तं देवराजानं प्रविश्य स्वाश्रमं द्रुतम् ॥ २६॥

रे दुष्टात्मन्! तू योनि लम्पट है, अतः तुम हजारों भगवाला हो जाएगा। इस प्रकार देवराज को शाप देकर गौतम ऋषि ने शीघ्र ही अपने आश्रम में प्रवेश किया ॥२६॥

दृष्ट्वाहल्यां वहपमानां प्राञ्जलिं गौतमोऽब्रवीत् ।
दुष्टे त्वं तिष्ठ दुर्वृत्ते शिलायामाश्रमे मम ॥ २७॥

मुनि ने अपने आश्रम में प्रवेश करने पर भय से काँपती हुई हाथ जोड़कर खडी हुई अहल्या को देखा। उसे देखकर गौतम जी बोले- हे दुष्टे! हे दुर्वृत्ते! तू मेरे आश्रम में शिलारूप में निवास कर ॥२७॥

निराहारा दिवारात्रं तपः परममास्थिता ।
आतपानिलवर्षादिसहिष्णुः परमेश्वरम् ॥ २८॥

ध्यायन्ती राममेकाग्रमनसा हृदि संस्थितम् ।
नानाजन्तुविहीनोऽयमाश्रमो मे भविष्यति ॥ २९॥

यहाँ तू निराहार रहकर धूप, वायु और वर्षा अदि को सहन करती हुई दिन-रात तपस्या कर और एकाग्रचित्त होकर हृदय में विद्यमान परमेश्वर श्रीराम का ध्यान कर। यह आश्रम सभी जीव-जन्तुओं से रहित हो जायेगा ॥ २८-२९॥

एवं वर्षसहस्रेषु ह्यनेकेषु गतेषु च ।
रामो दाशरथिः श्रीमानागमिष्यति सानुजः ॥ ३०॥

इस प्रकार कई हजार वर्ष व्यतीत होने पर दशरथ जी के पुत्र श्रीरामजी अपने अनुज के साथ यहाँ पधारेंगे ॥३०॥

यदा त्वदाश्रयशिलां पादाभ्यामाक्रमिष्यति ।
तदैव धूतपापा त्वं रामं सम्पूज्य भक्तितः ॥ ३१॥

परिक्रम्य नमस्कृत्य स्तुत्वा शापाद्विमोक्ष्यसे ।
पूर्ववन्मम शुश्रूषां करिष्यसि यथासुखम् ॥ ३२॥

जब अपने दोनों चरण कमलों से तेरी आश्रयशिला का स्पर्श करेंगे, उस समय तू पापरहित हो जायेगी, और भक्तिपूर्वक श्री रामचन्द्र जी का पूजन कर उनकी परिक्रमा और नमस्कार पूर्वक स्तुति करके तुम शाप से मुक्त हो जाओगी तथा पूर्ववत् तुम सुखपूर्वक मेरी सेवा कर सकोगी ॥ ३१-३२ ॥

इत्युक्त्वा गौतमः प्रागाद्धिमवन्तं नगोत्तमम् ।
तदाद्यहल्या भूतानामदृश्या स्वाश्रमे शुभे ॥ ३३॥

तव पादरजःस्पर्शं काङ्क्षते पवनाशना ।
आस्तेऽद्यापि रघुश्रेष्ठ तपो दुष्करमास्थिता ॥ ३४॥

यह कहकर गौतम मुनि पर्वतों में श्रेष्ठ हिमालय पर चले गये। हे रघुश्रेष्ठ! उस समय से अहल्या प्राणियों से अलक्षित रहकर वायु का

भक्षण करती हुई कठोर तपस्या में स्थित होकर आपके चरणारविन्द के स्पर्श की ईच्छा से अपने आश्रम में रहती है ॥ ३३-३४ ॥

पावयस्व मुनेर्भार्यामहल्यां ब्रह्मणः सुताम् ।
इत्युक्त्वा राघवं हस्ते गृहीत्वा मुनिपुङ्गवः ॥ ३५॥

दर्शयामास चाहल्यामुग्रेण तपसा स्थिताम् ।
रामः शिलां पदा स्पृष्ट्वा तां चापश्यत्तपोधनाम् ॥ ३६॥

हे राम ! तुम ब्रह्माजी को पुत्री गौतम-पत्नी अहल्या का उद्धार करो। मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रजी ऐसा कह कर श्रीरघुनाथ जी का हाथ पकड़कर उन्हें कठिन तपस्या में स्थित अहल्या को दिखाये। तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी अपने चरण से शिला का स्पर्श कर तपस्विनी अहल्या का दर्शन किया ॥ ३५-३६ ॥

ननाम राघवोऽहल्यां रामोऽहमिति चाब्रवीत् ।
ततो दृष्ट्वा रघुश्रेष्ठं पीतकौशेयवाससम् ॥ ३७॥

अहल्या को देखकर भगवान् राम ने "मैं राम हूँ" यह कहकर नमस्कार किया ॥ तब अहल्या पीताम्बर धारण किये हुये श्रीराम का दर्शन किया ॥३७॥

चतुर्भुजं शङ्खचक्रगदापङ्कजधारिणम् ।
धनुर्बाणधरं रामं लक्ष्मणेन समन्वितम् ॥ ३८॥

वह चारो भुजाओं में शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हुये तथा धनुर्बाण धारण किये हुये लक्ष्मण जी के साथ थे ॥३८॥

स्मितवक्त्रं पद्मनेत्रं श्रीवत्साङ्कितवक्षसम् ।
नीलमाणिक्यसङ्काशं द्योतयन्तं दिशो दश ॥ ३९॥

उनका मुख मण्डल मंद मुस्कान से युक्त, कमल के समान नेत्र और हृदय श्रीवत्स अंक से सुशोभित था और वह अपने नीलमणि तुल्य कान्ति से दसों दिशाओं को प्रकाशित कर रहे थे ॥३९॥।

दृष्ट्वा रामं रमानाथं हर्षविस्फारितेक्षणा ।
गौतमस्य वचः स्मृत्वा ज्ञात्वा नारायणं वरम् ॥ ४०॥

सम्पूज्य विधिवद्राममर्घ्यादिभिरनिन्दिता ।
हर्षाश्रुजलनेत्रान्ता दण्डवत्प्रणिपत्य सा ॥ ४१॥

रमानाथ श्रीरामचन्द्र को देखकर अहल्या के नेत्र हर्ष से प्रफुल्लित हो गये और उनको मुनिवर के वाक्यों का स्मरण हो गया। तब भगवान श्रीरामचन्द्र को साक्षात् नारायण जानकर अनिन्दिता अहल्या ने अर्द्ध, पाद्य, अर्चन आदि द्वारा उनका विधिवत् पूजन कर आनन्दाश्रुपूर्ण नेत्र होकर साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया ॥४०-४१॥

उत्थाय च पुनर्दृष्ट्वा रामं राजीवलोचनम् ।
पुलकाङ्कितसर्वाङ्गा गिरा गद्गदयैलत ॥ ४२॥

और खड़ी होकर राजीवलोचन श्रीरामचन्द्र को देखकर सर्वांग रूप से पुलकित होकर गद्गद वाणी से उनकी स्तुति करने लगी ॥४२॥

अहल्योवाच

अहो कृतार्थास्मि जगन्निवास ते पादाब्जसंलग्नरजःकणादहम् ।
स्पृशामि यत्पद्मजशङ्करादिभिर्विमृग्यते रन्धितमानसैः सदा ॥४३॥

अहल्या बोली-हे जगन्निवास ! आपके चरण कमलों में लगे रजःकण के स्पर्श से मैं कृतार्थ हो गयी। अहो ! जिनके पादारविन्दों का ब्रह्मा, शंकरादि देव सदा एकाग्रचित्त से चिन्तन करते हैं, उन्हीं का आज मैं स्पर्श कर रही हूँ ॥४३॥

अहो विचित्रं तव राम चेष्टितं
मनुष्यभावहन विमोहितं जगत् ।
चलस्यजस्रं चरणादिवर्जितः
सम्पूर्ण आनन्दमयोऽतिमायिकः ॥ ४४॥

हे राम ! आपकी चेष्टाएँ विचित्र हैं, आपके मनुष्य भाव से सम्पूर्ण जगत् विमोहित हो रहा है। आप सम्पूर्ण आनन्दमय और मायावी हैं, क्योंकि चरणादि से रहित होकर भी आप निरन्तर चलते हैं ॥४४॥

यत्पादपङ्कजपरागपवित्रगात्रा
भागीरथी भवविरिञ्चिमुखान् पुनाति ।
साक्षात्स एव मम दृग्विषयो यदास्ते
किं वर्ण्यते मम पुराकृतभागधेयम् ॥ ४५॥

जिनके चरणारविन्द के पराग से पवित्र हुई भागीरथी शिव, ब्रह्मा आदि प्रमुख देवताओं को भी पवित्र करती हैं, साक्षात् वह ही मेरे नेत्रों के विषय हो रहे हैं, मैं अपने पूर्व समय में किये हुए पुण्यकर्मों को किस प्रकार वर्णन करूँ? ॥४५॥

मर्त्यावतारे मनुजाकृतिं हरिं रामाभिधेयं रमणीयदेहिनम् ।
धनुर्धरं पद्मविशाललोचनं भजामि नित्यं न परान् भजिष्ये ॥ ४६॥

परम रमणीय मानव रूप में मर्त्यलोक में अवतार लिया है, मैं उन धनुर्धारी कमल के समान विशाल नेत्र वाले भगवान् राम का सदा भजन करती हूँ और किसी का भी भजन नहीं करना चाहती ॥ ४६॥

यत्पादपङ्कजरजः श्रुतिभिर्विमृग्यं यन्नाभिपङ्कजभवः कमलासनश्च।
यन्नामसाररसिको भगवान् पुरारिस्तं रामचन्द्रमनिशं हृदि भावयामि
॥ ४७॥

जिनके पादारविन्द रज का श्रुतियाँ अन्वेषण करती हैं, जिनके नाभि से समुद्भूत कमल से कमलासन ब्रह्मा जी प्रकट हुए हैं तथा जिनके नाम रूपी अमृत के भगवान शंकर जी रसिक हैं, उन श्रीराम चन्द्रजी का मैं अहर्निश अपने हृदय में ध्यान करती हूँ ॥४७॥

यस्यावतारचरितानि विरिञ्चिलोके
गायन्ति नारदमुखा भवपद्मजाद्याः ।
आनन्दजाश्रुपरिषिक्तकुचाग्रसीमा
वागीश्वरी च तमहं शरणं प्रपद्ये ॥ ४८॥

जिनके अवतार-चरित्रों का ब्रह्मलोक में नारदादि देवर्षिगण, शंकर जी एवं ब्रह्मादि देवेश्वरगण गान करते हैं, तथा आनन्दाश्रुओं से भीगे हुए कुच मण्डल वाली सरस्वती जी भी ब्रह्मलोक में निरन्तर गान करती हैं, उन परमात्मा की मैं शरण लेती हूँ॥४८॥

सोऽयं परात्मा पुरुषः पुराण
एकः स्वयञ्ज्योतिरनन्त आद्यः ।
मायातनुं लोकविमोहनीयां
धत्ते परानुग्रह एष रामः ॥ ४९॥

पुराणपुरुष परमात्मा राम ने परानुग्रह के लिए एक स्वयंज्योतिः, अनन्त और सबका आदिकारण होने पर भी संसार को विमोहित करने वाला मायामय स्वरूप धारण किया हैं ॥४९॥

अयं हि विश्वोद्भवसंयमानामेकः स्वमायागुणबिम्बितो यः ।
विरिञ्चिविष्ण्वीश्वरनामभेदान् धत्ते स्वतन्त्रः परिपूर्ण आत्मा ॥५०॥

यह अकेले ही विश्व के उद्भव, पालन एवं संहार के लिए अपनी माया के गुणों का आश्रय ग्रहण कर ब्रह्मा, विष्णु एवं महादेव आदि विविध रूप धारण करते हैं, स्वतन्त्र और परिपूर्ण आत्मा आप ही हैं ॥५०॥

नमोऽस्तु ते राम तवाङ्घ्रिपङ्कजं
श्रिया धृतं वक्षसि लालितं प्रियात् ।
आक्रान्तमेकेन जगत्त्रयं पुरा
ध्येयं मुनीन्द्रैरभिमानवर्जितैः ॥ ५१॥

हे राम! आपके चरण कमलों को नमस्कार है, जिन्हें श्रीलक्ष्मीजी अपने वक्षास्थल पर रख कर अति प्रेम से लाड़-प्यार करती हैं। जिन्होंने पूर्व समय में एक ही पग में तीनों लोकों को नाप लिया थी, तथा अभिमान रहित मुनिगण जिनका सतत ध्यान किया करते हैं, उन चरण कमलों की मैं वन्दना करती हूँ ॥५१॥

जगतामादिभूतस्त्वं जगत्त्वं जगदाश्रयः ।
सर्वभूतेष्वसंयुक्त एको भाति भवान् परः ॥ ५२॥

हे प्रभो! आप ही जगत् के आदि कारण, जगत् रूप और जगत् के आश्रय हैं, तथापि सम्पूर्ण प्राणियों से पृथक् और अद्वितीय परब्रह्म रूप से प्रकाशमान हैं ॥ ५२ ॥

ओङ्कारवाच्यस्त्वं राम वाचामविषयः पुमान् ।
वाच्यवाचकभेदेन भवानेव जगन्मयः ॥ ५३॥

हे राम ! आप ओंकार के वाच्य तथा वाणी के अगोचर परमपुरुष हैं। हे प्रभो ! वाच्य-वाचक (शब्द-अर्थ) भेद से आप ही सम्पूर्ण जगद्रूप हैं ॥ ५३ ॥

कार्यकारणकर्तृत्वफलसाधनभेदतः ।
एको विभासि राम त्वं मायया बहुरूपया ॥ ५४॥

हे राम ! आप बहु-रूपमयी माया से कार्य, कारण, कर्तृत्व, फल और साधन के भेद से अनेक रूप में विभासित हो रहे हैं ॥५४॥

त्वन्मायामोहितधियस्त्वां न जानन्ति तत्त्वतः ।
मानुषं त्वाभिमन्यन्ते मायिनं परमेश्वरम् ॥ ५५॥

आपके माया से मोहित-बुद्धि वाले लोग आपके वास्तविक रूप को नहीं जान सकते। आप मायापति परमेश्वर को मूढजन मनुष्य समझते हैं ॥५५॥

आकाशवत्त्वं सर्वत्र बहिरन्तर्गतोऽमलः ।
असङ्गो ह्यचलो नित्यः शुद्धो बुद्धः सदव्ययः ॥ ५६॥

आप आकाश के समान बाहर-भीतर सर्वत्र विद्यमान, निर्मल, असंग, अचल, नित्य, शुद्ध बुद्ध, सत्य-स्वरूप और अनन्य हैं ॥५६॥

योषिन्मूढाहमज्ञा ते तत्त्वं जाने कथं विभो ।
तस्मात्ते शतशो राम नमस्कुर्यामनन्यधीः ॥ ५७॥

हे विभो ! मैं मूढ़ और अज्ञानी स्त्री आपके तत्त्व को किस प्रकार समझ सकती हूँ? अतः हे राम! मै अनन्य भाव से सैकड़ों बार आपको नमस्कार करती हूँ ॥ ५७ ॥

देव मे यत्र कुत्रापि स्थिताया अपि सर्वदा ।
त्वत्पादकमले सक्ता भक्तिरेव सदास्तु मे ॥ ५८॥

हे देव ! मैं जहाँ कहीं भी रहूँ वहीं सर्वदा आपके चरणारविन्द में आसक्तिपूर्ण मेरी भक्ति बनी रहे ॥ ५८ ॥

नमस्ते पुरुषाध्यक्ष नमस्ते भक्तवत्सल ।
नमस्तेऽस्तु हृषीकेश नारायण नमोऽस्तुते ॥ ५९॥

हे पुरुषोत्तम ! आपको नमस्कार है, हे भक्तवत्सल ! आपको नमस्कार है; हे ऋषिकेश ! आपको नमस्कार है; हे नारायण! आपको बारम्बार नमस्कार है ॥५९॥

भवभयहरमेकं भानुकोटिप्रकाशं
करधृतशरचापं कालमेघावभासम् ।
कनकरुचिरवस्त्रं रत्नवत्कुण्डलाढ्यं
कमलविशदनेत्रं सानुजं राममीडे ॥ ६०॥

जो एकमात्र संसार के भय को दूर करने वाले हैं, जो सैकड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमान हैं, जो कर-कमलों में धनुष-बाण धारण किये हुए हैं, जो मेघ के समान श्यामकान्ति वाले हैं, जो सुवर्ण के समान पीतवस्त्र पहने हुए हैं, जो रत्न से जटित कुण्डलों को धारण किये हुए हैं, जिनके नेत्र कमलदल के समान विशाल अति सुन्दर हैं, भाई लक्ष्मण जी सहित उन श्रीरघुनाथजी की मैं स्तुति करती हूँ ॥ ६० ॥

स्तुत्वैवं पुरुषं साक्षाद्राघवं पुरतः स्थितम् ।
परिक्रम्य प्रणम्याशु साऽनुज्ञाता ययौ पतिम् ॥ ६१॥

इस प्रकार सामने स्थित साक्षात् परम पुरुष श्रीराघवजी की स्तुति, परिक्रमा और वन्दना कर वह उनकी आज्ञा पाकर शीघ्र ही अपने पति के पास चली गयी ॥ ६१॥

अहल्यया कृतं स्तोत्रं यः पठेद्भक्तिसंयुतः ।
स मुच्यतेऽखिलैः पापैः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ६२॥

जो प्राणी अहल्या के द्वारा रचित इस स्तोत्र का भक्ति-पूर्वक पाठ करता है वह सम्पूर्ण पापों से मुक्त होकर परब्रह्म-पद को प्राप्त करता है ॥ ६२॥

पुत्राद्यर्थे पठेद्भक्त्या रामं हृदि निधाय च ।
संवत्सरेण लभते वन्ध्या अपि सुपुत्रकम् ॥ ६३॥

सर्वान् कामानवाप्नोति रामचन्द्रप्रसादतः ॥ ६४॥

बन्ध्या स्त्री पुत्र की इच्छा रखकर श्रीरामजी को हृदय में ध्यान कर भक्ति-पूर्वक इसका पाठ करे तो एक वर्ष में उसे श्रेष्ठ पुत्र की प्राप्ति होती है तथा श्रीरामचन्द्र की कृपा से उसके सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं ॥ ६३-६४ ॥

ब्रह्मघ्नो गुरुतल्पगोऽपि पुरुषः स्तेयी सुरापोऽपि वा
मातृभ्रातृविहिंसकोऽपि सततं भोगैकबद्धातुरः ।
नित्यं स्तोत्रमिदं जपन् रघुपतिं भक्त्या हृदिस्थं स्मरन्
ध्यायन्मुक्तिमुपैति किं पुनरसौ स्वाचारयुक्तो नरः ॥ ६५॥

ब्रह्म हत्यारा, गुरु पत्नी के साथ गमन करने वाला, चोर, मदिरापान करने वाला, माता, पिता तथा भाई की हिंसा करने वाला तथा सतत् भोग में आसक्त रहने वाला पुरुष भी यदि अपने हृदय में विद्यमान श्रीरघुनाथजी का भक्तिपूर्वक नित्य स्मरण करता है तथा उनका ध्यान करते हुए इस स्तोत्र का पाठ करता है तो वह मुक्ति को प्राप्त करता है, तो अपने धर्म में परायण पुरुषों की तो बात ही क्या है ? अर्थात् इनकी मुक्ति तो अवश्य ही होगी ॥ ६५॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे बालकाण्डे
अहल्योद्धरणं नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५॥

॥ षष्ठः सर्गः ॥

धनुर्भङ्ग और विवाह

विश्वामित्रोऽथ तं प्राह राघवं सहलक्ष्मणम् ।
गच्छामो वत्स मिथिलां जनकेनाभिपालिताम् ॥ १॥

इसके पश्च्यात विश्वामित्र जी लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी से कहा: हे वत्स! अब हम लोग राजा जनक द्वारा पालित मिथिलापुरी को चलेंगे॥१॥

दृष्ट्वा क्रतुवरं पश्चादयोध्यां गन्तुमर्हसि ।
इत्युक्त्वा प्रययौ गङ्गामुत्तर्तुं सहराघवः ।
तस्मिन् काले नाविकेन निषिद्धो रघुनन्दनः ॥ २॥

वहाँ यज्ञोत्सव देखने के बाद तुम दोनों अयोध्या जा सकते हो, ऐसा कह कर दोनों भाइयों के साथ विश्वामित्र जी गंगा जी पार करने के लिए गंगा तट पर आये। उस समय मल्लाह ने श्रीरघुनाथजी को नाव पर चढ़ने से रोक दिया ॥२॥

नाविक उवाच
क्षालयामि तव पादपङ्कजं नाथ दारुदृषदोः किमन्तरम् ।
मानुषीकरणचूर्णमस्ति ते पादयोरिति कथा प्रथीयसी ॥ ३॥

नाविक बोला-हे नाथ ! यह बात प्रसिद्ध है कि आपके चरणों में मनुष्य बनाने वाला कोई चूर्ण है। आपने पत्थर की शिला से स्त्री बना दी है, और शिला और लकड़ी में अन्तर ही क्या है ? इसलिए मै आपके चरणकमलों को धोऊँगा ॥३॥

पादाम्बुजं ते विमलं हि कृत्वा पश्चात्परं तीरमहं नयामि ।
नो चेत्तरी सद्युवती मलेन स्याच्चेद्विभो विद्धि कुटुम्बहानिः ॥४॥

आपके चरणारविन्द को निर्मल कर मैं आपको श्री गंगाजी के उस पार ले चलूँगा। नहीं तो हे विभो! आपके चरण-रज से मेरी नौका सुन्दर युवती बन गयी तो मेरे परिवार के भरण-पोषण की आजीविका ही समाप्त हो जायेगी ॥ ४॥

इत्युक्त्वा क्षालितौ पादौ परं तीरं ततो गताः ।
कौशिको रघुनाथेन सहितो मिथिलां ययौ ॥ ५॥

यह कहकर श्री राम के चरण का प्रक्षालन कर नाविक उन सभी को गंगाजी के पार ले गया। इसके बाद विश्वामित्र जी ने श्रीरघुनाथ जी के साथ मिथिलापुरी के लिये प्रस्थान किया ॥५॥

विदेहस्य पुरं प्रातरृषिवाटं समाविशत् ।
प्राप्तं कौशिकमाकर्ण्य जनकोऽतिमुदान्वितः ॥ ६॥

पूजाद्रव्याणि सङ्गृह्य सोपाध्यायः समाययौ ।
दण्डवत्प्रणिपत्याथ पूजयामास कौशिकम् ॥ ७॥

प्रातःकाल होते ही विदेहपुर- जनकपुर में पहुँच कर विश्वामित्र जी ऋषियों के निवास स्थान में ठहर गए। श्री विश्वामित्र जी का आगमन सुनकर अत्यन्त प्रसन्नचित्त जनक जी पूजन सामग्री लेकर अपने पुरोहित के साथ विश्वामित्र जी के पास आये और साष्टांग-दण्डवत् कर उन्होंने श्री विश्वामित्र जी की पूजा अर्चना की ॥ ६-७ ॥

पप्रच्छ राघवौ दृष्ट्वा सर्वलक्षणसंयुतौ ।
द्योतयन्तौ दिशः सर्वाश्चन्द्रसूर्याविवापरौ ॥ ८॥

और सूर्य और चन्द्रमा के समान अपने तेज से दिशाओं को देदीप्यमान करते हुए उन सर्वलक्षण सम्पन्न राजकुमारों को देखकर पूछा ॥८॥

कस्यैतौ नरशार्दूलौ पुत्रौ देवसुतोपमौ ।
मनःप्रीतिकरौ मेऽद्य नरनारायणाविव ॥ ९॥

देवपुत्रों के समान ये दोनों नरशार्दूल किसके पुत्र हैं, यह आज मेरे हृदय में नर और नारायण के समान प्रीति उत्पन्न कर रहे हैं ॥९॥

प्रत्युवाच मुनिः प्रीतो हर्षयन् जनकं तदा ।
पुत्रौ दशरथस्यैतौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ १०॥

उस समय मुनिवर विश्वामित्र जी ने महाराज जनक को आनन्दित करते हुए प्रसन्नतापूर्वक बोले-'ये दोनोंभाई राम और लक्ष्मण राजा दशरथ जी के पुत्र हैं ॥१०॥

मखसंरक्षणार्थाय मयानीतौ पितुः पुरात् ।

आगच्छन् राघवो मार्गे ताटकां विश्वघातिनीम् ॥ ११॥

शरेणैकेन हतवान्नोदितो मेऽतिविक्रमः ।
ततो ममाश्रमं गत्वा मम यज्ञविहिंसकान् ॥ १२॥

सुबाहुप्रमुखान् हत्वा मारीचं सागरेऽक्षिपत् ।
ततो गङ्गातटे पुण्ये गौतमस्याश्रमं शुभम् ॥ १३॥

गत्वा तत्र शिलारूपा गौतमस्य वधूः स्थिता ।
पादपङ्कजसंस्पर्शात्कृता मानुषरूपिणी ॥ १४॥

मैं अपने यज्ञ की रक्षा करने के लिये इन्हें अयोध्या से लाया था। मार्ग में आते समय मेरी प्रेरणा से अति पराक्रमी रघुनाथ जी ने एक ही बाण से विश्वघातिनी ताटका का बध किया। और मेरे आश्रम में पहुंच कर मेरा यज्ञ विध्वंस करने वाले सुबाहु आदि राक्षसों को मार डाला तथा मारीच को समुद्र में फेंक दिया। इसके बाद गंगा तट पर महर्षि गौतम जी के पुनीत आश्रम में आये, वहाँ शिलारूप से स्थित गौतम की वधू को देखकर अपने चरणारविन्द के स्पर्श से पुनः मनुष्य बना दिया ॥११-१४ ॥

दृष्ट्वाहल्यां नमस्कृत्य तया सम्यक्प्रपूजितः ।
इदानीं द्रष्टुकामस्ते गृहे माहेश्वरं धनुः ॥ १५॥

अहल्या को देखकर रामजी ने नमस्कार किया, और अहल्या से विधिवत् पूजित होकर इस समय आपके यहाँ शंकर जी के धनुष को देखने की इच्छा से यहाँ आये हैं ॥ १५ ॥

पूजितं राजभिः सर्वैर्दृष्टमित्यनुशुश्रुवह ।
अतो दर्शय राजेन्द्र शैवं चापमनुत्तमम् ।
दृष्ट्वायोध्यां जिगमिषुः पितरं द्रष्टुमिच्छति ॥ १६॥

हमने सुना है उस धनुष की पूजा होती है और अनेक राजा लोग उसे देख कर गये हैं। इसलिये हे राजेन्द्र। आप शीघ्र ही शंकरजी के धनुष का दर्शन इनको करवा दीजिये, यह उसे देखकर अतिशीघ्र अपने माता-पिता से मिलने अयोध्या जाना चाहते हैं ॥१६॥

इत्युक्तो मुनिना राजा पूजार्हाविति पूजया ।
पूजयामास धर्मज्ञो विधिदृष्टेन कर्मणा ।
ततः सम्प्रेषयामास मन्त्रिणं बुद्धिमत्तरम् ॥ १७॥

मुनिवर विश्वामित्र जी के इस प्रकार कहने पर धर्मज्ञ राजा-जनक ने पूजनीय समझ कर राम और लक्ष्मण की विधिवत् पूजा की ॥१७॥

जनक उवाच
शीघ्रमानय विश्वेशचापं रामाय दर्शय ॥ १८॥

ततो गते मन्त्रिवरे राजा कौशिकमब्रवीत् ।
यदि रामो धनुर्धृत्वा कोट्यामारोपयेद्गुणम् ॥ १९॥

तदा मयात्मजा सीता दीयते राघवाय हि ।
तथेति कौशिकोऽप्याह रामं संवीक्ष्य सस्मितम् ॥ २०॥

और बुद्धिमान् मन्त्री को श्री विश्वेश्वर का धनुष लाकर श्रीरामचन्द्र को दिखने के लिए कहा, मन्त्री के चले जाने पर राजाजनक श्रीविश्वामित्र

जी से बोले-यदि रामचन्द्रजी धनुष को लेकर उस पर प्रत्यंचा चढ़ा देंगे तो मैं निश्चय ही अपनी पुत्री सीता का विवाह श्रीरामचन्द्र से कर दूंगा। विश्वामित्र जी ने रामजी की ओर देखते हुए मुस्कराकर कहा "जैसी आपकी इच्छा" ॥१९-२०॥

शीघ्रं दर्शय चापाग्र्यं रामायामिततेजसे ।
एवं ब्रुवति मौनीशे आगताश्चापवाहकाः ॥ २१॥

चापं गृहीत्वा बलिनः पञ्चसाहस्रसङ्ख्यकाः ।
घण्टाशतसमायुक्तं मणिवज्रादिभूषितम् ॥ २२॥

हे राजन् । आप शीघ्र ही उस धनुष को अमित तेजस्वी श्रीरामचन्द्र को दिखाइये। इस प्रकार मुनीश्वर विश्वामित्र जी के कहते ही बलवान् पाँच हजार धनुषवाहक उस धनुष को लेकर वहाँ आ पहुंचे, वह धनुष सैकड़ों घंटियों, हीरे और मणि आदि रत्नों से विभूषित था ॥ २१-२२ ॥

दर्शयामास रामाय मन्त्री मन्त्रयतां वरः ।
दृष्ट्वा रामः प्रहृष्टात्मा बद्ध्वा परिकरं दृढम् ॥ २३॥

गृहीत्वा वामहस्तेन लीलया तोलयन् धनुः ।
आरोपयामास गुणं पश्यत्स्वखिलराजसु ॥ २४॥

तदनन्तर मन्त्रियों में श्रेष्ठ मन्त्री ने राम को वह शिव जी का धनुष दिखाया। प्रसन्न हृदय श्रीरामचन्द्र ने धनुष को क्षण भर में दृढ़ता से कमरकस कर खेल-खेल में ही उसको उठाकर हाथ में ले लिया और

समस्त राजाओं के देखते-देखते ही उस पर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी ॥ २३-२४ ॥

ईषदाकर्षयामास पाणिना दक्षिणेन सः ।
बभञ्जाखिलहृत्सारो दिशः शब्देन पूरयन् ॥ २५॥

और सम्पूर्ण प्राणियों के सर्वस्व भगवान् राम ने अपने दाहिने हाथ से उस घनुष को थोड़ा खींचा और दिशाओं को शब्दायमान करते हुए तोड़ डाला ॥२५॥

दिशश्च विदिशश्चैव स्वर्गं मर्त्यं रसातलम् ।
तदद्भुतमभूत्तत्र देवानां दिवि पश्यताम् ॥ २६॥

जिससे दिशा, विदिशा, स्वर्गलोक, मर्त्यलोक और रसातल आदि समस्त पाताल शब्दायमान हो गये। स्वर्गलोक में देवताओं के देखते-देखते ही यह एक बड़ा आश्चर्य हो गया ॥ २६॥

आच्छादयन्तः कुसुमैर्देवाः स्तुतिभिरीडिरे ।
देवदुन्दुभयो नेदुर्ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥ २७॥

देवगणों ने पुष्पों की वर्षा से भगवान् को आच्छादित कर दिया और दुन्दुभि आदि वाद्यों को बजाकर उनकी स्तुति की, तथा अप्सराएँ नृत्य करने लगी ॥ २७ ॥

द्विधा भग्नं धनुर्दृष्ट्वा राजालिङ्ग्य रघूद्वहम् ।
विस्मयं लेभिरे सीतामातरोऽन्तःपुराजिरे ॥ २८॥

धनुष को दो टुकडो में देखकर महाराज जनक जी ने श्री रघुनाथ जी का आलिंगन किया और अन्तःपुर में स्थित सीताजी की माताएँ अतिविस्मित हो गई ॥ २८॥

सीता स्वर्णमयीं मालां गृहीत्वा दक्षिणे करे ।
स्मितवक्त्रा स्वर्णवर्णा सर्वाभरणभूषिता ॥ २९॥

तदनन्तर सम्पूर्ण आभूषणों से विभूषित, सुवर्ण के समान वर्णवाली श्री सीताजी अपने दाहिने हाथ में स्वर्णमयी माला लेकर मन्द-मन्द मुस्कराती हुई वहाँ आयीं ॥ २९ ॥

मुक्ताहारैः कर्णपत्रैः क्वणच्चरणनूपुरा ।
दुकूलपरिसंवीता वस्त्रान्तर्व्यञ्जितस्तनी ॥ ३०॥

वह मुक्ताहार, कर्णफूल झंकार करते हुए नूपुर आदि आभूषणों से सुशोभित उत्तमवस्त्र धारण किये हुए थीं, जिसमें पीन-पयोधर लक्षित हो रहे थे ॥ ३० ॥

रामस्योपरि निक्षिप्य स्मयमाना मुदं ययौ ।
ततो मुमुदिरे सर्वे राजदाराः स्वलङ्कृतम् ॥ ३१॥

गवाक्षजालरन्ध्रेभ्यो दृष्ट्वा लोकविमोहनम् ।
ततोऽब्रवीन्मुनिं राजा सर्वशास्त्रविशारदः ॥ ३२॥

नम्रतापूर्वक मुस्कराते हुये श्रीसीताजी जयमाला श्रीरामचन्द्रजी के गले में पहनाकर अत्यंत प्रसन्न हुई। उस समय सर्वालङ्कार विभूषित श्रीरामचन्द्र जी के भुवन मोहन रूप को खिड़की से देखकर समस्त

रानियाँ अति आनन्दित हुई। और सर्वशास्त्रज्ञ महाराज जनक ने मुनिवर विश्वामित्र से कहा ॥ ३१-३२ ॥

भो कौशिक मुनिश्रेष्ठ पत्रं प्रेषय सत्वरम् ।
राजा दशरथः शीघ्रमागच्छतु सपुत्रकः ॥ ३३।

विवाहार्थं कुमाराणां सदारः सहमन्त्रिभिः ।
तथेति प्रेषयामास दूतान्स्त्वरितविक्रमान् ॥ ३४॥

मुनिवर कौशिक जी! आप शीघ्र ही राजा दशरथ के पास पत्र प्रेषित कीजिये, कुमारों के विवाह के लिये शीघ्र ही पुत्र दारा और मन्त्रियों के साथ यहाँ पधारें। "जैसी आपकी इच्छा" यह कहकर विश्वामित्र जी ने शीघ्रगामी दूतों को राजादशरथ के पास भेजा ॥३३-३४॥

ते गत्वा राजशार्दूलं रामश्रेयो न्यवहदयन् ।
श्रुत्वा रामकृतं राजा हर्षेण महताप्लुतः ॥ ३५॥

दूतगण जाकर राजशार्दूल राजादशरथ से रामचन्द्र का कुशल-क्षेम कहा। दूतों के द्वारा श्रीरामचन्द्र जी के अद्भुत कृत्य को सुनकर महाराज परमानन्द में मग्न हो गये ॥३५॥

मिथिलागमनार्थाय त्वरयामास मन्त्रिभिः ।
गच्छन्तु मिथिलां सर्वे गजाश्वरथपत्तयः ॥ ३६॥

पुनः मिथिलापुरी जाने के लिये शीघ्रता करते हुए मन्त्रियों से कहा- आपलोग हाथी, घोड़े, रथ, पदातियों सहित मिथिलापुरी चलिये ॥३६॥

रथमानय मे शीघ्रं गच्छाम्यद्यैव मा चिरम् ।
वसिष्ठस्त्वग्रतो यातु सदारः सहितोऽग्निभिः ॥ ३७॥

राममातृः समादाय मुनिर्मे भगवान् गुरुः ।
एवं प्रस्थाप्य सकलं राजर्षिर्विपुलं रथम् ॥ ३८॥

महत्या सेनया सार्धमारुह्य त्वरितो ययौ ।
आगतं राघवं श्रुत्वा राजा हर्षसमाकुलः ॥ ३९॥

प्रत्युज्जगाम जनकः शतानन्दपुरोधसा ।
यथोक्तपूजया पूज्यं पूजयामास सत्कृतम् ॥ ४०॥

अविलम्ब मेरा भी रथ लाओ, विलम्ब मत करो मैं भी आज ही चलूँगा। अग्नियों और अरुन्धती के सहित मेरे गुरुप्रवर मुनिश्रेष्ठ भगवान् वशिष्ठजी राम की माताओं को लेकर आगे चलें।

इस प्रकार सबके प्रस्थान करने के अनन्तर विशाल रथ पर चढ़कर राजर्षि दशरथ जी अपने दल-बल के साथ शीघ्रतापूर्वक मिथिलापुरी को प्रस्थान किया। रघुवंश शिरोमणि दशरथ जी को आये हुए सुनकर महाराज जनक ने हर्षपूर्वक अपने पुरोहित शतानन्दजी को लेकर उनकी उन्हें आगवानी करने गये और उन पूजनीय राजा दशरथजी का यथोचित विधि से सत्कार पूर्वक पूजन किया ॥ ३७-४० ॥

रामस्तु लक्ष्मणेनाशु ववन्दे चरणौ पितुः ।
ततो हृष्टो दशरथो रामं वचनमब्रवीत् ॥ ४१॥

इसके पश्च्यात शीघ्र ही लक्ष्मण सहित राम ने पिता के चरणों की वन्दना की। तब राजा दशरथ प्रसन्नता पूर्वक राम से बोले ॥४१॥

दिष्ट्या पश्यामि ते राम मुखं फुल्लाम्बुजोपमम् ।
मुनेरनुग्रहात्सर्वं सम्पन्नं मम शोभनम् ॥ ४२॥
इत्युक्त्वाघ्राय मूर्धानमालिङ्ग्य च पुनः पुनः ।
हर्षेण महताविष्टो ब्रह्मानन्दं गतो यथा ॥ ४३॥

राम ! बड़े भाग्य से मैं प्रफुल्लित कमल के समान तुम्हारा मुख देख रहा हूँ; यह कहकर उन्होंने श्री राम का आलिंगन कर मस्तक सूंघा तथा अत्यन्त हर्षपूर्वक ब्रह्मानन्द की भाँति आनन्ममग्न हो गये ॥ ४३-४४॥

ततो जनकराजेन मन्दिरे सन्निवहशितः ।
शोभने सर्वभोगाढ्ये सदारः ससुतः सुखी ॥ ४४॥

तदनन्तर राजाजनक ने उन्हें रानियों और राजकुमारों सहित सम्पूर्ण भोग सामग्रियों से परिपूर्ण परम सुन्दर महल में सुखपूर्वक ठहराया ॥ ४४ ॥

ततः शुभे दिने लग्ने सुमुहूर्ते रघूत्तमम् ।
आनयामास धर्मज्ञो रामं सभ्रातृकं तदा ॥ ४५॥

और शुभदिन, शुभमुहूर्त और शुभलग्न में धर्मज्ञ जनकजी ने भाइयों सहित श्रीरामचन्द्र को बुलाया ॥४५॥

रत्नस्तम्भसुविस्तारे सुविताने सुतोरणे ।

मण्डपे सर्वशोभाढ्ये मुक्तापुष्पफलान्विते ॥ ४६॥

वहदविद्भिः सुसम्बाधे ब्राह्मणैः स्वर्णभूषितैः ।
सुवासिनीभिः परितो निष्ककण्ठीभिरावृते ॥ ४७॥

भेरीदुन्दुभिनिर्घोषैर्गीतनृत्यैः समाकुले ।
दिव्यरत्नाञ्चिते स्वर्णपीठे रामं न्यवहशयत् ॥ ४८॥

सर्वशोभा सम्पन्न रत्न से जड़े हुए स्तम्भ, सुन्दर वितान, सुन्दर बंधनवार, मोती तथा फूल एवं फलों से सुसज्जित विशाल मण्डप में जिसमें वैदिक ब्राह्मणों की भीड़ जमा थी और सुन्दर वस्त्राभूषण धारण किये हुए सुहागिन नारियाँ विराजमान थीं उसमें श्रीरामचन्द्र जी को रत्नजटित दिव्य सवर्ण सिंहासन पर बैठाया। उस समय भेरी, दुन्दुभि आदि वाद्यों और नृत्य-गीतों से अत्यधिक कोलाहल था ॥ ४६-४८॥

वसिष्ठं कौशिकं चैव शतानन्दः पुरोहितः ।
यथाक्रमं पूजयित्वा रामस्योभयपार्श्वयोः ॥ ४९॥

तदनन्तर पुरोहित शतानन्दजी, श्रीवशिष्ठजी और विश्वामित्र जी का यथाक्रम पूजन कर श्रीरामचन्द्र के दोनों तरफ बैठाया गया ॥४९॥

स्थापयित्वा स तत्राग्निं ज्वालयित्वा यथाविधि ।
सीतामानीय शोभाढ्यां नानारत्नविभूषिताम् ॥ ५०॥

सभार्यो जनकः प्रायाद्रामं राजीवलोचनम् ।
पादौ प्रक्षाल्य विधिवत्तदपो मूर्ध्न्यधारयत् ॥ ५१॥

वहाँ पर अग्नि को स्थापित करने के लिए विधि पूर्वक उसे प्रज्वलित करने के पश्च्यात अनेक रत्नों से विभूषित सीता को साथ लेकर महारानी सहित महाराज जनक जी कमलनयन श्रीरामचन्द्र के पास आये। 'श्रीरामचन्द्र का विधिवत् चरणों को धोकर तथा चरणोदक को उसी प्रकार अपने सर पर धारण किया जैसे शिव ब्रह्मा तथा मुनिजन सदा अपने मस्तक पर धारण करते हैं। ॥५०-५१ ॥

या धृता मूर्ध्नि शर्वेण ब्रह्मणा मुनिभिः सदा ।
ततः सीतां करे धृत्वा साक्षतोदकपूर्वकम् ॥ ५२॥

रामाय प्रददौ प्रीत्या पाणिग्रहविधानतः ।
सीता कमलपत्राक्षी स्वर्णमुक्तादिभूषिता ॥ ५३॥

दीयते मे सुता तुभ्यं प्रीतो भव रघूत्तम ।
इति प्रीतेन मनसा सीतां रामकरेऽर्पयन् ॥ ५४॥

मुमोद जनको लक्ष्मीं क्षीराब्धिरिव विष्णवह ।
उर्मिलां चौरसीं कन्यां लक्ष्मणाय ददौ मुदा ॥ ५५॥

और अपने हाथ में जल, अक्षत और सीताजी का हाथ लेकर पाणिग्रहण संस्कार की विधि से प्रीति पूर्वक श्रीरामचन्द्रजी के कर-कमलों में दे दिया और बोले रघुश्रेष्ठ ! मैं सुवर्ण और मुक्ता आदि से विभूषित कमललोचना अपनी पुत्री सीता को आपको समर्पण करता हूँ, आप प्रसन्न होइये। जिस प्रकार क्षीरसागर श्री लक्ष्मी को विष्णुभगवान को समर्पित कर आनन्दित हुआ था, उसी प्रकार राजाजनक सीताजी को प्रसन्नतापूर्वक श्रीरामचन्द्र को समर्पित कर

आनन्दित हुए। और उन्होंने अपनी औरसी पुत्री उर्मिला का विवाह श्रीलक्ष्मणजी से कर दिया ॥ ५२-५५ ॥

तथैव श्रुतिकीर्तिं च माण्डवीं भ्रातृकन्यके ।
भरताय ददावहकां शत्रुघ्नायापरां ददौ ॥ ५६॥

तदनन्तर अपने भाई की कन्या माण्डवी ओर श्रुतिकीर्ति का विवाह क्रमशः भरत और शत्रुघ्न से कर दिया ॥ ५६ ॥

चत्वारो दारसम्पन्ना भ्रातरः शुभलक्षणाः ।
विरेजुः प्रजया सर्वे लोकपाला इवापरे ॥ ५७॥

इस प्रकार सुलक्षण-सम्पन्न चारो भाई दूसरे लोकपालों की भॉंति अपनी पत्नियों के सहित प्रकाश से सुशोभित हुए ॥ ५७ ॥

ततोऽब्रवीद्वसिष्ठाय विश्वामित्राय मैथिलः ।
जनकः स्वसुतोदन्तं नारदेनाभिभाषितम् ॥ ५८॥

इसके बाद मिथिलापति राजा जनक श्रीवसिष्ठ और विश्वामित्रजी से अपनी पुत्री सीता के विषय में श्रीनारदजी का कहा हुआ वृत्तान्त सुनाया ॥ ५८ ॥

यज्ञभूमिविशुद्ध्यर्थं कर्षतो लाङ्गलेन मे ।
सीतामुखात्समुत्पन्ना कन्यका शुभलक्षणा ॥ ५९॥

राजा जनक बोले-एक समय यज्ञभूमि की शुद्धि के लिए मै हल जोत रहा था, उस समय हल के सीत अर्थात अग्रभाग से शुभलक्षणा कन्या उत्पन्न हुई ॥ ५९॥

तामद्राक्षमहं प्रीत्या पुत्रिकाभावभाविताम् ।
अर्पिता प्रियभार्यायै शरच्चन्द्रनिभानना ॥ ६०॥

उस समय मैने इसे देखा और इसमें पुत्री जैसी प्रीति हुई, इसलिए मैं इस शरद् चन्द्रमुखी को अपनी पत्नी को सौंप दिया ॥ ६० ॥

एकदा नारदोऽभ्यागाद्विविक्ते मयि संस्थिते ।
रणयन्महतीम् वीणां गायन्नारायणं विभुम् ॥ ६१॥

मैं एक समय एकान्त में बैठा था। उस समय महर्षिनारदजी अपनी महती वीणा को बजाते हुए सर्वव्यापक श्रीहरि का गुणगान करते हुए आए ॥ ६१ ॥

पूजितः सुखमासीनो मामुवाच सुखान्वितः ।
शृणुष्व वचनं गुह्यं तवाभ्युदयकारणम् ॥ ६२॥

और मेरी पूजा सत्कार के अनन्तर सुखपूर्वक बैठकर प्रसन्नचित होकर मुझसे बोले-हे राजन् ! एक गुप्त बात सुनो, यह आपका अभ्युदय करनेवाला है ॥ ६२ ॥

परमात्मा हृषीकेशो भक्तानुग्रहकाम्यया ।
देवकार्यार्थसिद्ध्यर्थं रावणस्य वधाय च ॥ ६३॥

जातो राम इति ख्यातो मायामानुषवहषधृक् ।
आस्ते दाशरथिर्भूत्वा चतुर्धा परमेश्वरः ॥ ६४॥

परमात्मा हृषिकेश भक्तों पर अनुग्रह की कामना, देवताओं के कार्य की सिद्धि और रावण का वध करने के लिए माया-मनुष्य के रूप में अवतरित होकर "राम" से विख्यात हुए हैं। वह परमेश्वर चार अंशों से दशरथ के पुत्र होकर स्थित हैं ॥ ६३-६४॥

योगमायाऽपि सीतेति जाता वै तव वहश्मनि ।
अतस्त्वं राघवायैव देहि सीतां प्रयत्नतः ॥ ६५॥

नान्येभ्यः पूर्वभार्यैषा रामस्य परमात्मनः ।
इत्युक्त्वा प्रययौ देवगतिं देवमुनिस्तदा ॥ ६६॥

योगमाया तुम्हारे घर सीता के रूप में उत्पन्न हुई है। अतः प्रयत्नपूर्वक सीता का विवाह श्रीरघुनाथजी से करना अन्य किसी से नहीं, क्योंकि यह पूर्वकाल से ही परमात्मा की भार्या हैं। ऐसा कह कर महर्षिनारदमुनि आकाशमार्ग से चले गये ॥ ६५-६६ ॥

तदारभ्य मया सीता विष्णोर्लक्ष्मीर्विभाव्यते ।
कथं मया राघवाय दीयते जानकी शुभा ॥ ६७॥

इति चिन्तासमाविष्टः कार्यमेकमचिन्तयम् ।
मत्पितामहगेहे तु न्यासभूतमिदं धनुः ॥ ६८॥

ईश्वरेण पुरा क्षिप्तं पुरदाहादनन्तरम् ।
धनुरेतत्पणं कार्यमिति चिन्त्य कृतं तथा ॥ ६९॥

सीतापाणिग्रहार्थाय सर्वेषां माननाशनम् ।
त्वत्प्रसादान्मुनिश्रेष्ठ रामो राजीवलोचनः ॥ ७०॥

आगतोऽत्र धनुर्द्रष्टुं फलितो मे मनोरथः ।
अद्य मे सफलं जन्म राम त्वां सह सीतया ॥ ७१॥

एकासनस्थं पश्यामि भ्राजमानं रविं यथा ॥ ७२॥

उसी समय से मैं सीता को विष्णु भगवान की भार्या लक्ष्मी समझता हूँ। किस प्रकार शुभलक्षणा जानकी को श्रीराघव को दूँ, यह विचार करते-करते मैंने एक युक्ति सोची। भगवान् शंकर ने त्रिपुरासुर को भस्म करने के पश्च्यात इस धनुष को मेरे पितामह के पास धरोहर के रूप में रखा था। उसी समय से यह धनुष धरोहर के रूप में विद्यमान है। "सबके गर्वनाशक इस धनुष को सीता के पाणिग्रहण के लिए प्रण के रूप में रखना चाहिए", यह सोचकर मैंने वैसा ही किया। हे मुनिश्रेष्ठ ! आपकी कृपा से यहाँ राजीवलोचन रामजी धनुष देखने के लिए आये; इससे मेरा मनोरथ सिद्ध हुआ। हे राम ! आज मेरा जन्म सफल हो गया जो मैं सूर्य के समान देदीप्यमान तथा सीता के साथ एक आसन पर विराजमान आपको देख रहा हूँ। हे प्रभो! आपके चरणोदक अपने शिर पर धारणकर ब्रह्मा जी सृष्टि-प्रवर्तक हैं ॥ ६७-७२ ॥

त्वत्पादाम्बुधरो ब्रह्मा सृष्टिचक्रप्रवर्तकः ।
बलिस्त्वत्पादसलिलं धृत्वाभूद्दिविजाधिपः ॥ ७३॥

त्वत्पादपांसुसंस्पर्शादहल्या भर्तृशापतः ।

सद्य एव विनिर्मुक्ता कोऽन्यस्त्वत्तोऽधिरक्षिता ॥ ७४॥

आपके चरणोदक को धारण कर बलि ने इन्द्र का पद प्राप्त किया और आपकी चरण-धूलि के स्पर्श से अहल्या अपने पति के शाप से मुक्त हो गयी। आपसे बड़ा मेरा रक्षक और कौन है ॥७३-७४॥

यत्पादपङ्कजपरागसुरागयोगिवृन्दैर्जितम्भवभयं जितकालचक्रैः ।
यन्नामकीर्तनपरा जितदुःखशोका देवास्तमेव शरणं सततं प्रपद्ये ॥ ७५॥

आपके चरण कमल के पराग के रसिक योगिजन कालचक्र को जीतने वाले भवभय को भी जीत लिया हैं और आपके नाम कीर्तन में लगे रहकर देवगण दुःख और शोक को जीत लेते हैं, मैं आपका निरन्तर शरणागत हूँ ॥ ७५॥

इति स्तुत्वा नृपः प्रादाद्राघवाय महात्मने ।
दीनाराणां कोटिशतं रथानामयुतं तदा ॥ ७६॥

अश्वानां नियुतं प्रादाद्गजानां षट्शतं तथा ।
पत्तीनां लक्षमेकं तु दासीनां त्रिशतं ददौ ॥ ७७॥

महाराजा जनक जी महात्मा रघुनाथ जी की इस प्रकार स्तुति कर उपहार स्वरुप सौ करोड़ सुवर्णमुद्राए, दस हजार रथ, दस लाख घोड़े, छः सौ हाथी, एक लाख पदाति सेना और तीन सौ दासियाँ दी ॥७६-७७॥

दिव्याम्बराणि हारांश्च मुक्तारत्नमयोज्ज्वलान् ।

सीतायै जनकः प्रादात्प्रीत्या दुहितृवत्सलः ॥ ७८॥

वसिष्ठादीन् सुसम्पूज्य भरतं लक्ष्मणं तथा ।
पूजयित्वा यथान्यायं तथा दशरथं नृपम् ॥ ७९॥

प्रस्थापयामास नृपो राजानं रघुसत्तमम् ।
सीतामालिङ्ग्य रुदतीं मातरः साश्रुलोचनाः ॥ ८०॥

तदनन्तर सीताजी को भी पुत्रीवत्सल जनकजी प्रेमपूर्वक अनेक दिव्यवस्त्र तथा मोती भेंट स्वरुप प्रदान की, तत्पश्चात् उन्होंने वसिष्ठजी आदि की पूजा की और भरत, लक्ष्मण, शत्रुध्न और राजा दशरथ जी को धन-दानादि से यथोचित-सत्कार कर रघुश्रेष्ठ महाराज दशरथजी को विदा किया। इस समय माताएँ रोती हुई सीताजी को गले लगाकर नेत्रों में आनन्द अश्रु भरकर बोलीं ॥७८-८०॥

श्वश्रूशुश्रूषणपरा नित्यं राममनुव्रता ।
पातिव्रत्यमुपालम्ब्य तिष्ठ वत्से यथा सुखम् ॥ ८१॥

वत्से ! तुम सास की सेवा करती हुई सदा श्रीरामचन्द्रजी की अनुगामिनी रह पातिव्रत्य धर्म का अवलम्बन कर सुखपूर्वक रहना ॥ ८१॥

प्रयाणकाले रघुनन्दनस्य भेरीमृदङ्गानकतूर्यघोषः ।
स्वर्वासिभेरीघनतूर्यशब्दैः संमूर्च्छितो भूतभयङ्करोऽभूत् ॥ ८२॥

तत्पश्चात् रघुकुलतिलक श्रीरघुनाथजी के प्रस्थान करते समय भेरी, मृदङ्ग, आनक तूर्य आदि बाजों का घोष, और आकाश में देवताओं

के वजाये हुए भेरी, झाँझ, और तूर्य आदि का शब्द मिलकर प्राणियों को भय उत्पन्न करनेवाला हुआ ॥ ८२ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे
बालकाण्डे षष्ठः सर्गः ॥ ६॥

॥ सप्तमः सर्गः ॥

परशुरामजी से भेंट

अथ गच्छति श्रीरामे मैथिलाद्योजनत्रयम् ।
निमित्तान्यतिघोराणि ददर्श नृपसत्तमः ॥१॥

सूतजी बोले-श्रीरामचन्द्रजी के मिथिलापुरी से तीन योजन चलने पर नृपश्रेष्ठ राजा दशरथ को अतिघोर अपशकुन दिखाई दिए ॥१॥

नत्वा वसिष्ठं पप्रच्छ किमिदं मुनिपुङ्गव ।
निमित्तानीह दृश्यन्ते विषमाणि समन्ततः ॥२॥

उन्होंने वसिष्ठजी से पूछा-मुनिपुन्गाव! मुझे सर्वत्र भयंकर अपशकुन दिखायी दे रहे हैं, इसका क्या कारण है ? ॥२॥

वसिष्ठस्तमथ प्राह भयमागामि सूच्यते ।
पुनरप्यभयं तेऽद्य शीघ्रमेव भविष्यति ॥३॥

वसिष्ठजी बोले-इन अपशकुनों के द्वारा आगामी भय की सूचना इंगित हो रही है। साथ ही आपको शीघ्र ही अभय प्राप्त होगा यह भी सूचित हो रहा है ॥३॥

मृगाः प्रदक्षिणं यान्ति पश्य त्वां शुभसूचकाः ।
इत्येवं वदतस्तस्य ववौ घोरतरोऽनिलः ॥ ४॥

मृगगण आपके दायें तरफ जा रहे हैं, जो शुभसूचक हैं। इसप्रकार वशिष्ठजी के कहते ही अतिप्रचण्ड वायु चलने लगी ॥४॥

मुष्णन्श्चक्षूंषि सर्वेषां पांसुवृष्टिभिरर्दयन् ।
ततो व्रजन् ददर्शाग्रे तेजोराशिमुपस्थितम् ॥ ५॥

धूल की वर्षा के कारण सबके नेत्र बन्द हो गये। और उन्होंने चलते-चलते एक तेजपुञ्ज को अपने सम्मुख उपस्थित देखा ॥५॥

कोटिसूर्यप्रतीकाशं विद्युत्पुञ्जसमप्रभम् ।
तेजोराशिं ददर्शाथ जामदग्न्यं प्रतापवान् ॥ ६॥

नीलमेघनिभं प्रांशुं जटामण्डलमण्डितम् ।
धनुः परशुपाणिं च साक्षात्कालमिवान्तकम् ॥ ७॥

उन्होंने कोटिसूर्य के समान तेजस्वी, विद्युत् पुंज के समान प्रभासम्पन्न, महाप्रतापी, तेजोराशि, नीलमेघ की द्युतिवाले, उन्नतकाय, जटा-जूट धारण किये हुए, हाथ में धनुष और परशु लिये, प्राणियों का नाश करने वाले साक्षात् काल के समान परशुरामजी को आते देखा ॥ ६-७ ॥

कार्तवीर्यान्तकं रामं दृप्तक्षत्रियमर्दनम् ।
प्राप्तं दशरथस्याग्रे कालमृत्युमिवापरम् ॥ ८॥

राजा दशरथ ने कार्तवीर्य का वध करने वाले और गर्वीले क्षत्रियों के मान को मर्दन करने वाले, अपार यमराज के समान परशुरामजी को अपने सामने खड़े देखा ॥८॥

तं दृष्ट्वा भयसन्त्रस्तो राजा दशरथस्तदा ।
अर्घ्यादिपूजां विस्मृत्य त्राहि त्राहीति चाब्रवीत् ॥ ९॥

उन्हें देखते ही भय से भयभीत होकर राजा दशरथ आदि उनकी अर्द्ध पूजा करना भूलकर त्राहि-त्राहि कहकर पुकारने लगे॥९॥

दण्डवत्प्रणिपत्याह पुत्रप्राणं प्रयच्छ मे ।
इति ब्रुवन्तं राजानमनादृत्य रघूत्तमम् ॥ १०॥

उवाच निष्ठुरं वाक्यं क्रोधात्प्रचलितेन्द्रियः ।
त्वं राम इति नाम्ना मे चरसि क्षत्रियाधम ॥ ११॥

रजा दशरथ ने उन्हें दण्डवत् प्रणाम करके कहा "मेरे पुत्र के प्राणों का दान दीजिये"। वह प्रार्थना करते हुये राजा पर ध्यान न देकर क्रोध से व्याकुल होकर कठोर वाणी से रघुत्तम श्रीरामचन्द्र जी से बोले- "अरे क्षत्रियाधम! मेरे समान "राम" नाम से विख्यात होकर तू पृथिवी में विचरण करता है ॥१०-११॥

द्वन्द्वयुद्धं प्रयच्छाशु यदि त्वं क्षत्रियोऽसि वै ।
पुराणं जर्जरं चापं भङ्क्त्वा त्वं कत्थसे मुधा ॥ १२॥

यदि तू वास्तव में क्षत्रिय है तो मेरे साथ द्वन्द्व युद्ध कर, पुराने धनुष को तोड़कर तू व्यर्थ ही अपनी प्रशंसा कर रहा है ॥ १२ ॥

अस्मिन्स्तु वैष्णवह चापे आरोपयसि चेद्गुणम् ।
तदा युद्धं त्वया सार्धं करोमि रघुवंशज ॥ १३॥

अरे रघुकुलोत्पन्न! यदि तू इस वैष्णव धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ा देगा तो मैं तेरे साथ युद्ध करूँगा ॥१३॥

नो चेत्सर्वान् हनिष्यामि क्षत्रियान्तकरो ह्यहम् ।
इति ब्रुवति वै तस्मिन्श्चचाल वसुधा भृशम् ॥ १४॥

यदि तूने ऐसा नहीं किया तो मैं सबको मार दूंगा; क्षत्रियों का नाश करना तो मेरा काम ही है। परशुरामजी के इस प्रकार कहने पर पृथ्वी बारम्बार काँपने लगी ॥१४॥

अन्धकारो बभूवाथ सर्वेषामपि चक्षुषाम् ।
रामो दाशरथिर्वीरो वीक्ष्य तं भार्गवं रुषा ॥ १५॥

धनुराच्छिद्य तद्धस्तादारोप्य गुणमञ्जसा ।
तूणीराद्बाणमादाय सन्धायाकृष्य वीर्यवान् ॥ १६॥

उवाच भार्गवं रामं शृणु ब्रह्मन् वचो मम ।
लक्ष्यं दर्शय बाणस्य ह्यमोघो मम सायकः ॥ १७॥

सबके सामने अँधेरा छा गया। तदनन्तर दशरथनन्दन वीरवर राम ने परशुराम जी की ओर क्रोधपूर्वक देखते हुए उनके हाथ से धनुष ले लिया और उस पर बिना प्रयास ही प्रत्यंचा चढ़ाकर अपने तरकस से बाण निकालकर उस पर रखा और उसे खींचकर परशुराम जी से

बोले- "ब्रह्मन् ! कृपया बाण का लक्ष्य दिखाइये, क्योंकि मेरा बाण अमोघ है ॥ १५-१७ ॥

लोकान् पादयुगं वापि वद शीघ्रं ममाज्ञया ।
अयं लोकः परो वाथ त्वया गन्तुं न शक्यते ॥ १८॥

पुण्य के द्वारा प्राप्त लोक अथवा अपना चरण दोनों में से एक शीघ्र ही मेरी आज्ञा से दिखाइये। इसके बाद तुम इस लोक अथवा परलोक में कहीं नहीं जा सकोगे।॥ १८ ॥

एवं त्वं हि प्रकर्तव्यं वद शीघ्रं ममाज्ञया ।
एवं वदति श्रीरामे भार्गवो विकृताननः ॥ १९॥

मेरी आज्ञा से शीघ्र ही बताइये कि मैं तुम्हारे साथ क्या करूँ। इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी के कहने पर परशुरामजी का मुख मलिन हो गया॥ १९ ॥

संस्मरन् पूर्ववृत्तान्तमिदं वचनमब्रवीत् ।
राम राम महाबाहो जाने त्वां परमेश्वरम् ॥ २०॥

पुनः वे अपने पूर्ववृत्तान्त को स्मरण कर बोले-हे राम ! हे राम ! हे महाबाहो! आप परमेश्वर हैं, मैं आपको जान गया ॥२० ॥

पुराणपुरुषं विष्णुं जगत्सर्गलयोद्भवम् ।
बाल्येऽहं तपसा विष्णुमाराधयितुमञ्जसा ॥ २१॥

चक्रतीर्थं शुभं गत्वा तपसा विष्णुमन्वहम् ।

अतोषयं महात्मानं नारायणमनन्यधीः ॥ २२॥

आप साक्षात् संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के आदि कारण पुराणपुरुष भगवान् विष्णु हैं। मै बाल्यकाल में तपस्या के द्वारा भगवान् विष्णु की आराधना करने के लिये सहसा चक्रतीर्थ में गया। वहाँ प्रतिदिन अनन्यभाव से तपस्या करते हुए मैंने परमात्मा नारायण भगवान् विष्णु को प्रसन्न किया ॥ २१-२२ ॥

ततः प्रसन्नो देवहशः शङ्खचक्रगदाधरः ।
उवाच मां रघुश्रेष्ठ प्रसन्नमुखपङ्कजः ॥ २३॥

हे रघुश्रेष्ठ! उस समय शंख, चक्र एवं गदा धारण करने वाले देवेश्वर विष्णु ने मुझसे कहा ॥ २३ ॥

श्रीभगवानुवाच
उत्तिष्ठ तपसो ब्रह्मन् फलितं ते तपो महत् ।
मच्चिदंशेन युक्तस्त्वं जहि हैहयपुङ्गवम् ॥ २४॥

कार्तवीर्यं पितृहणं यदर्थं तपसः श्रमः ।
ततस्त्रिःसप्तकृत्वस्त्वं हत्वा क्षत्रियमण्डलम् ॥ २५॥

कृत्स्नां भूमिं कश्यपाय दत्त्वा शान्तिमुपावह ।
त्रेतामुखे दाशरथिर्भूत्वा रामोऽहमव्ययः ॥ २६॥

श्री भगवान् बोले-हे ब्रह्मन्! आपकी तपस्या पूरी हुई, तपस्या छोड़कर उठो। तुम मेरे चिदंश से युक्त होकर, उस पितृघाती हैहयपुङ्गव कार्तवीर्य का वध करो, जिसके लिये तपस्या करने का तुमने कष्ट

किया है। पुनः इक्कीस बार समस्त क्षत्रियों को मार कर सम्पूर्ण पृथिवी कश्यपजी को देकर शान्ति प्राप्त करो। मैं अविनाशी त्रेतायुग में दशरथजी के पुत्र राम नाम से मनुष्य रूप में जन्म लूँगा ॥ २४-२६ ॥

उत्पत्स्ये परया शक्त्या तदा द्रक्ष्यसि मां ततः ।
मत्तेजः पुनरादास्ये त्वयि दत्तं मया पुरा ॥ २७॥

उस समय तुम मुझे मेरी परम शक्ति सीता जी के साथ देखोगे। इस समय मैं तुम्हे दिया हुआ अपना तेज पुनः वापस ले लूंगा ॥२७॥

तदा तपश्चरन्ल्लोके तिष्ठ त्वं ब्रह्मणो दिनम् ।
इत्युक्त्वान्तर्दधे देवस्तथा सर्वं कृतं मया ॥ २८॥

तदनन्तर तपस्या करते हुए कल्पान्तपर्यन्त तुम पृथ्वी पर रहोगे। इस प्रकार कहकर विष्णुभगवान् अन्तर्ध्यान हो गये और मै उनके कथनानुसार आचरण करने लगा ॥२८॥

स एव विष्णुस्त्वं राम जातोऽसि ब्रह्मणार्थितः ।
मयि स्थितं तु त्वत्तेजस्त्वयैव पुनराहृतम् ॥ २९॥

हे राम! आप वही विष्णु हैं। आप ब्रह्मा की प्रार्थना से प्रादुर्भूत हुए हैं। आपने मुझ में स्थित अपना तेज पुनः वापस ले किया है॥२९॥

अद्य मे सफलं जन्म प्रतीतोऽसि मम प्रभो ।
ब्रह्मादिभिरलभ्यस्त्वं प्रकृतेः पारगो मतः ॥ ३०॥

हे प्रभो ! आज मैं आपको पहचान गया, मेरा जन्म सफल हो गया, क्योंकि आप ब्रह्मा आदि से अलभ्य और प्रकृति से भी परे माने गये हैं ॥ ३० ॥

त्वयि जन्मादिषड्भावा न सन्त्यज्ञानसम्भवाः ।
निर्विकारोऽसि पूर्णस्त्वं गमनादिविवर्जितः ॥३१॥

आप में अज्ञानजन्य जन्मादि छः विकार नहीं हैं, आप गमनादि से रहित निर्विकार और पूर्ण हैं ॥ ३१ ॥

यथा जले फेनजालं धूमो वह्नौ तथा त्वयि ।
त्वदाधारा त्वद्विषया माया कार्यं सृजत्यहो ॥३२॥

अहो! जिस प्रकार जल में फेनसमूह और अग्नि में धुआँ है, उसी प्रकार आपके आश्रित रहने वाली तथा आपको विषय करने वाली माया विचित्रकार्यों का सृजन करती है ॥ ३२ ॥

यावन्मायावृता लोकास्तावत्त्वां न विजानते ।
अविचारितसिद्धैषाऽविद्या विद्याविरोधिनी ॥३३॥

मनुष्य जब तक माया से आवृत्त रहते हैं, तब तक आपको नहीं जानते। विद्या-विरोधिनी इस माया का जब तक वास्तविक चिन्तन नहीं होता वह केवल तभी तक रहती है ॥३३॥

अविद्याकृतदेहादिसङ्घाते प्रतिबिम्बिता ।
चिच्छक्तिर्जीवलोकेऽस्मिन् जीव इत्यभिधीयते ॥ ३४॥

अविद्या के द्वारा देहादि संघातों में प्रतिबिम्बित होने वाली चित् शक्ति इस जीव-लोक में "जीव" कहलाती है ॥३४॥

यावद्देहमनःप्राणबुद्ध्यादिष्वभिमानवान् ।
तावत्कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःखादिभाग्भवहत् ॥३५॥

यह जीव देह, मन, प्राण और बुद्धि में जब तक अहंभाव रखता है, तभी तक कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख, दुःख आदि का भोग करने वाला होता है ॥३५॥

आत्मनःसंसृतिर्नास्ति बुद्धेर्ज्ञानं न जात्विति ।
अविवहकाद्द्वयं युङ्क्त्वा संसारीति प्रवर्तते ॥३६॥

वस्तुतः आत्मा में जन्ममरणादि विकार किसी भी अवस्था में नहीं है और वुद्धि में ज्ञान शक्ति नहीं है। अविवेक के द्वारा इन दोनों को मिलाकर मै “संसारी' हूँ यह मानकर जीव कर्मों में प्रवृत्त हो जाता है ॥३६॥

जडस्य चित्समायोगाच्चित्त्वं भूयाच्चितेस्तथा ।
जडसङ्गाज्जडत्वं हि जलाग्न्योर्मेलनं यथा ॥ ३७॥

जल और अग्नि के संयोग से जल में उष्णता तथा अग्नि में शीतलता उत्पन्न होती है, उसी प्रकार जड़ अर्थात बुद्धि का चेतन अर्थात आत्मा के साथ संयोग होने से बुद्धि में चेतनता तथा चेतन आत्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि जडता उत्पन्न हो जाती है ॥ ३७॥

यावत्त्वत्पादभक्तानां सङ्गसौख्यं न विन्दति ।

तावत्संसारदुःखौघान्न निवर्तेन्नरः सदा ॥ ३८॥

हे राम जब तक प्राणी आपके चरणारविन्दों के भक्तों का संग सुख प्राप्त नहीं करता तबतक संसार के दुःखों से निवृत्त नहीं होता ॥ ३८॥

तत्सङ्गलब्धया भक्त्या यदा त्वां समुपासते ।
तदा माया शनैर्याति तानवं प्रतिपद्यते ॥ ३९॥

जब जीव भक्तों के संग से प्राप्त भक्ति के द्वारा आपकी उपासना करता है, तब आपकी माया धीरे-धीरे समाप्त हो जाती है ॥३९॥

ततस्त्वज्ज्ञानसम्पन्नः सद्गुरुस्तेन लभ्यते ।
वाक्यज्ञानं गुरोर्लब्ध्वा त्वत्प्रसादाद्विमुच्यते ॥ ४०॥

फिर साधक को आपके ज्ञान से सम्पन्न सद्गुरु प्राप्त होते हैं, तथा उनके द्वारा महावाक्य का ज्ञान प्राप्तकर आपकी कृपा से वह मुक्त हो जाता है ॥४०॥

तस्मात्त्वद्भक्तिहीनानां कल्पकोटिशतैरपि ।
न मुक्तिशङ्का विज्ञानशङ्का नैव सुखं तथा ॥ ४१॥

अत एव आपकी भक्ति से रहित पुरुषों को सौ करोड़ कल्पों में भी मुक्ति अथवा आत्मज्ञान होने की संभावना नहीं है। अतएव उन्हें वास्तविक सुख भी प्राप्त होने की सम्भावना नहीं है ॥ ४१॥

अतस्त्वत्पादयुगले भक्तिर्मे जन्मजन्मनि ।
स्यात्त्वद्भक्तिमतां सङ्गोऽविद्या याभ्यां विनश्यति ॥ ४२॥

इस लिये मै यह चाहता हूँ कि आपके चरणयुगल में जन्मजन्मान्तर तक मेरी भक्ति हो और मुझे आपके भक्तों की संगति प्राप्त हो, क्योंकि इन दोनों साधनों के द्वारा ही अविद्या का नाश होता है ॥४२॥

लोके त्वद्भक्तिनिरतास्त्वद्धर्मामृतवर्षिणः ।
पुनन्ति लोकमखिलं किं पुनः स्वकुलोद्भवान् ॥ ४३॥

संसार में आपकी भक्ति में लीन और भगवद्धर्मरूप अमृत की वर्षा करने वाले भक्तगण सम्पूर्ण लोकों को पवित्र करते हैं, अपने कुल में उत्पन्न पुरुषों को पवित्र करने में सन्देह ही क्या है ॥४३॥

नमोऽस्तु जगतां नाथ नमस्ते भक्तिभावन ।
नमः कारुणिकानन्त रामचन्द्र नमोऽस्तु ते ॥ ४४॥

हे जगन्नाथ ! आपको नमस्कार है। हे करुणामय ! हे अनन्त ! आपको नमस्कार है। हे रामचन्द्र ! आपको बारंबार नमस्कार है ॥ ४४॥

देव यद्यत्कृतं पुण्यं मया लोकजिगीषया ।
तत्सर्वं तव बाणाय भूयाद्राम नमोऽस्तु ते ॥ ४५॥

हे देव ! पुण्यलोक प्राप्ति के लिये किये गये मेरे पुण्यकर्म आपके इस बाण के लक्ष्य हों। हे राम ! आपको नमस्कार है ॥४५॥

ततः प्रसन्नो भगवान् श्रीरामः करुणामयः ।
प्रसन्नोऽस्मि तव ब्रह्मन् यत्ते मनसि वर्तते ॥ ४६॥

दास्ये तदखिलं कामं मा कुरुष्वात्र संशयम् ।
ततः प्रीतेन मनसा भार्गवो राममब्रवीत् ॥ ४७॥

तत्पश्चात् करुणामय भगवान श्रीरामचन्द्र प्रसन्न होकर बोले-हे ब्रह्मन् ! मैं प्रसन्न हूँ, इस समय जो भी आपके मन में इच्छा है; उन सभी को मै पूर्ण करूँगा इसमें सन्देह न करें। तब प्रसन्न होकर परशुरामजी श्रीरामचन्द्र से बोले ॥४६-४७॥

यदि मेऽनुग्रहो राम तवास्ति मधुसूदन ।
त्वद्भक्तसङ्गस्त्वत्पादे दृढा भक्तिः सदास्तु मे ॥ ४८॥

हे मधुसूदन राम ! यदि मेरे ऊपर आपका अनुग्रह है तो आपके भक्तों की संगति और आपके चरणारविन्द में मेरी सुदृढ भक्ति सदा बनी रहे ॥४८॥

स्तोत्रमेतत्पठेद्यस्तु भक्तिहीनोऽपि सर्वदा ।
त्वद्भक्तिस्तस्य विज्ञानं भूयादन्ते स्मृतिस्तव ॥ ४९॥

जो व्यक्ति भक्तिभाव से रहित होने पर भी इस स्तोत्र का पाठ करेगा तो उसे सर्वथा आपकी भक्ति और ज्ञान प्राप्त होगा तथा अन्त में आपकी स्मृति बनी रहेगी ॥४९॥

तथेति राघवहणोक्तः परिक्रम्य प्रणम्य तम् ।
पूजितस्तदनुज्ञातो महेन्द्राचलमन्वगात् ॥ ५०॥

श्री रघुनाथजी के "बहुत अच्छा" ऐसा कहने पर पशुराम जी ने उनकी परिक्रमा कर उन्हें प्रणाम किया और उनसे पूजित होकर उनकी आज्ञा से महेन्द्रपर्वत पर चले गए ॥५०॥

राजा दशरथो हृष्टो रामं मृतमिवागतम् ।
आलिङ्ग्यालिङ्ग्य हर्षेण नेत्राभ्यां जलमुत्सृजत् ॥ ५१॥

राम को मृत्यु के मुख से लौटा समझकर राजादशरथ जी ने अत्यन्त हर्षपूर्वक बार-बार श्रीरामचन्द्र का आलिंगन किया और नेत्रों से आनन्द अश्रुओं की वर्षा करने लगे॥ ५१॥

ततः प्रीतेन मनसा स्वस्थचित्तः पुरं ययौ ।
रामलक्ष्मणशत्रुघ्नभरता देवसंमिताः ॥ ५२॥

तत्पश्चात् वह समस्त सादर समाज प्रसन्न चित अपनी अयोध्यापुरी में आया। अयोध्या में राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न अपनी-अपनी भार्या के साथ देवताओं के समान अपने-अपने महलों में रमण करने लगे ॥ ५२॥

स्वां स्वां भार्यामुपादाय रेमिरे स्वस्वमन्दिरे ।
मातापितृभ्यां संहृष्टो रामः सीतासमन्वितः ।
रेमे वैकुण्ठभवने श्रिया सह यथा हरिः ॥ ५३॥

सीता के साथ रामचन्द्रजी अपने माता-पिता को आनन्द बढ़ाते हुए वैकुण्ठ में भगवान् विष्णु और लक्ष्मी की भाँति रमण करने लगे॥ ५३ ॥

युधाजिन्नाम कैकेयीभ्राता भरतमातुलः ।
भरतं नेतुमागच्छत्स्वराज्यं प्रीतिसंयुतः ॥ ५४॥

कैकेयी का भाई भरतजी के मामा युधाजित भरतजी को प्रीतिपूर्वक अपने यहाँ ले जाने के लिये आये ॥५४॥

प्रेषयामास भरतं राजा स्नेहसमन्वितः ।
शत्रुघ्नं चापि सम्पूज्य युधाजितमरिन्दमः ॥ ५५॥

शत्रदमन महाराज दशरथ युधाजित का सत्कार कर स्नेहवश भरत और शत्रुघ्न को उनके साथ भेज दिये ॥ ५५ ॥

कौसल्या शुशुभे देवी रामेण सह सीतया ।
देवमातेव पौलोम्या शच्या शक्रेण शोभना ॥ ५६॥

तत्पश्चात् देवी कौसल्या राम और सीता के सहित पुलोम पुत्री शची और इन्द्र के सहित देवमाता अदिति की भाँति सुशोभित हुई॥५६॥

साकेते लोकनाथप्रथितगुणगणो लोकसङ्गीतकीर्तिः
श्रीरामः सीतयास्तेऽखिलजननिकरानन्दसन्दोहमूर्तिः ।
नित्यश्रीर्निर्विकारो निरवधिविभवो नित्यमायानिरासो
मायाकार्यानुसारी मनुज इव सदा भाति देवोऽखिलेशः ॥ ५७॥

जिनके गुणगण ब्रह्मा आदि सम्पूर्ण लोकपालों में प्रसिद्ध हैं, जिनकी कीर्ति सम्पूर्ण लोकों में गायी जाती है, जो सम्पूर्ण प्राणियों के आनन्द समूह की मूर्ति हैं, जो नित्य शोभाधाम, निर्विकार अनन्त-वैभव सम्पन्न और मायातीत होकर माया के कार्यों का अनुसरण करते हुए सदा

मनुष्य के समान प्रतीत होते हैं, वह अखिलेश्वर देव-श्रीराम सीताजी के साथ अयोध्या पुरी में सुशोभित होकर रहने लगे ॥ ५७॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे
बालकाण्डे सप्तमः सर्गः ॥ ७॥

समाप्तोऽयं बालकाण्डः

बालकाण्ड समाप्त

॥श्रीगणेशाय नमः॥
॥ ॐ परब्रह्मणे नमः॥

॥ अध्यात्मरामायण ॥

अयोध्याकाण्डम्

॥ प्रथमः सर्गः ॥

भगवान राम के पास नारदजी का आना

एकदा सुखमासीनं रामं स्वान्तःपुराजिरे ।
सर्वाभरणसम्पन्नं रत्नसिंहासने स्थितम् ॥ १॥

श्रीमहादेवजी बोले-हे पार्वति। एक समय सभी अलङ्कारों से सुसज्जित श्रीरामचन्द्रजी अन्तः पुर के आँगन में एक रत्नसिंहासन पर सुखपूर्वक बैठे थे ॥ १॥

नीलोत्पलदलश्यामं कौस्तुभामुक्तकन्धरम् ।
सीतया रत्नदण्डेन चामरेणाथ वीजितम् ॥ २॥

नीले कमल के समान श्यामवर्ण कौस्तुभ मणि से सुसज्जित श्रीरघुनाथजी पर श्रीसीताजी रत्नदण्डयुक्त चंवर झल रही थीं॥२॥

विनोदयन्तं ताम्बूलचर्वणादिभिरादरात् ।

नारदोऽवतरद्द्रष्टुमम्बराद्यत्र राघवः ॥ ३॥

वह आदरपूर्वक अर्पित किए गए ताम्बूलचर्वणादि से आनन्दित हो रहे थे, उसी समय श्रीराघवजी को देखने के लिये आकाशमार्ग से देवर्षि नारदजी उतरे ॥३॥

शुद्धस्फटिकसङ्काशः शरच्चन्द्र इवामलः ।
अतर्कितमुपायातो नारदो दिव्यदर्शनः ॥ ४॥

तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय रामः प्रीत्या कृताञ्जलिः ।
ननाम शिरसा भूमौ सीतया सह भक्तिमान् ॥ ५॥

शुद्धस्फटिकमणि के समान स्वच्छ तथा शरदऋतु के चन्द्रमा के समान निर्मल दिव्यमूर्ति श्री नारदजी को अचानक आते हुए देखकर भगवान राम ने सहसा उठकर श्रीसीता जी के सहित प्रेम और भक्तिपूर्वक हाथ जोड़ पृथ्वी पर सिर रखकर उन्हें प्रणाम किया ॥४-५॥

उवाच नारदं रामः प्रीत्या परमया युतः ।
संसारिणां मुनिश्रेष्ठ दुर्लभं तव दर्शनम् ।
अस्माकं विषयासक्तचेतसां नितरां मुने ॥ ६॥

अवाप्तं मे पूर्वजन्मकृतपुण्यमहोदयैः ।
संसारिणापि हि मुने लभ्यते सत्समागमः ॥ ७॥

और परम प्रीतिपूर्वक श्रीनारदजी से श्रीरामचन्द्रजी बोले-हे मुनिश्रेष्ठ! हम जैसे विषयासक्त सांसारिक पुरुषों को आपका दर्शन दुर्लभ है।

हे मुने! आज अपने पूर्वजन्मकृत पुण्यपुञ्ज के उदय होने के कारण ही मुझे आपका दर्शन हुआ है, क्योंकि पुण्योदय होने पर सांसारिक पुरुषों को भी सत्संग की प्राप्ति होती है ॥ ६-७ ॥

अतस्त्वद्दर्शनादेव कृतार्थोऽस्मि मुनीश्वर ।
किं कार्यं ते मया कार्यं ब्रूहि तत्करवाणि भोः ॥ ८॥

अतः हे मुनीश्वर ! आपके दर्शन से मैं कृतार्थ हूँ। आपका क्या कार्य है मुझे बतलाइये, जिसे मैं पूर्ण करूँ॥ ८॥

अथ तं नारदोऽप्याह राघवं भक्तवत्सलम् ।
किं मोहयसि मां राम वाक्यैर्लोकानुसारिभिः ॥ ९॥

इसके बाद नारदजी ने भक्तवत्सल भगवान् राम से कहा-हे राम ! आप सामान्य मनुष्यों जैसे इन वाक्यों से मुझे क्यों मोहित कर रहे हैं ॥ ९॥

संसार्यहमिति प्रोक्तं सत्यमेतत्त्वया विभो ।
जगतामादिभूता या सा माया गृहिणी तव ॥ १०॥

हे विभो ! "मैं संसारी हूँ" यह आपकी उक्ति यथार्थ ही है, क्योंकि सम्पूर्ण संसार की आदिकारण माया आपकी गृहिणी है ॥ १०॥

त्वत्सन्निकर्षाज्जायन्ते तस्यां ब्रह्मादयः प्रजाः ।
त्वदाश्रया सदा भाति माया या त्रिगुणात्मिका ॥ ११॥

सूतेऽजस्रं शुक्लकृष्णलोहिताः सर्वदा प्रजाः ।

लोकत्रयमहागेहे गृहस्थस्त्वमुदाहृतः ॥ १२॥

हे प्रभो! आपकी सन्निधि मात्र से माया के द्वारा ब्रह्मा आदि सभी प्रजायें उत्पन्न होती हैं, वह सत्त्व-रज तम-रूपात्मिका त्रिगुणात्मिका माया आपके आश्रित होकर भासित होती है, तथा अपने गुण के अनुरूप शुक्ल, लोहित और कृष्ण वर्ण की प्रजा उत्पन्न करती है। इस त्रिलोकी महागृह के आप गृहस्थ कहे जाते हैं ॥११-१२॥

त्वं विष्णुर्जानकी लक्ष्मीः शिवस्त्वं जानकी शिवा ।
ब्रह्मा त्वं जानकी वाणी सूर्यस्त्वं जानकी प्रभा ॥ १३॥

हे राम ! आप भगवान् विष्णु हैं, तथा जानकीजी लक्ष्मीजी हैं, आप शिव हैं और जानकीजी पार्वती हैं, आप ब्रह्मा हैं और जानकीजी सरस्वती हैं, आप सूर्यदेव हैं तथा जानकीजी प्रभा हैं ॥१३॥

भवान् शशाङ्कः सीता तु रोहिणी शुभलक्षणा ।
शक्रस्त्वमेव पौलोमी सीता स्वाहानलो भवान् ॥ १४॥

आप चन्द्रमा हैं तथा शुभलक्षणसम्पन्ना सीताजी रोहिणी हैं, आप इन्द्र हैं और सीताजी पुलोम-कन्या शची हैं, आप अग्नि हैं और सीताजी स्वाहा हैं ॥ १४ ॥

यमस्त्वं कालरूपश्च सीता संयमिनी प्रभो ।
निरृतिस्त्वं जगन्नाथ तामसी जानकी शुभा ॥ १५॥

राम त्वमेव वरुणो भार्गवी जानकी शुभा ।
वायुस्त्वं राम सीता तु सदागतिरितीरिता ॥ १६॥

हे प्रभो! आप सबके कालरूप यम हैं और सीताजी संयमिनी हैं। हे जगन्नाथ ! आप निति हैं तथा जानकी जी भृगुकन्या वारुणी हैं, आप वायु हैं और सीताजी सदागति हैं ॥१६॥

कुबेरस्त्वं राम सीता सर्वसम्पत्प्रकीर्तिता ।
रुद्राणी जानकी प्रोक्ता रुद्रस्त्वं लोकनाशकृत् ॥ १७॥

हे राम ! आप कुबेर हैं और सीताजी उनकी सर्वसम्पत्ति हैं, आप लोक को संहार करनेवाले रुद्र हैं तथा सीताजी रुद्राणी कही गई हैं ॥ १७ ॥

लोके स्त्रीवाचकं यावत्तत्सर्वं जानकी शुभा ।
पुन्नामवाचकं यावत्तत्सर्वं त्वं हि राघव ॥ १८॥

तस्माल्लोकत्रये देव युवाभ्यां नास्ति किञ्चन ॥ १९॥

हे राघव ! निश्चय ही संसार में पुरुषवाचक पदार्थ आप हैं और सब स्त्रीवाचक पदार्थ श्रीजानकी जी हैं। अतः हे देव ! त्रिलोकी में आप दोनों से भिन्न कुछ भी नहीं है ॥ १८-१९ ॥

त्वदाभासोदिताज्ञानमव्याकृतमितीर्यते ।
तस्मान्महान्स्ततः सूत्रं लिङ्गं सर्वात्मकं ततः ॥ २०॥

आपके आभास से उत्पन्न अज्ञान अव्याकृत कहा जाता है, उससे महान् एवं महत्तत्त्व से सूत्रात्मा तथा सूत्रात्मा से लिंग शरीर उत्पन्न होता है ॥ २०॥

अहङ्कारश्च बुद्धिश्च पञ्चप्राणेन्द्रियाणि च ।
लिङ्गमित्युच्यते प्राज्ञैर्जन्ममृत्युसुखादिमत् ॥ २१॥

प्राज्ञजन अहंकार, बुद्धि, पञ्चप्राण और दस इन्द्रियाँ इन सबको मिलाकर जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख आदि के कर्त्ता और भोक्ता को लिंग शरीर कहते हैं ॥ २१ ॥

स एव जीवसञ्ज्ञश्च लोके भाति जगन्मयः ।
अवाच्यानाद्यविद्यैव कारणोपाधिरुच्यते ॥ २२॥

वह लिंग शरीराभिमानी चेतनाभास ही संसार में तन्मय हुआ जीव नाम से विख्यात है। अनिर्वचनीया, अनादि अविद्या इस जीवकी कारण उपाधि संज्ञिका हैं ॥ २२ ॥

स्थूलं सूक्ष्मं कारणाख्यमुपाधित्रितयं चितेः ।
एतैर्विशिष्टो जीवः स्याद्वियुक्तः परमेश्वरः ॥ २३॥

शुद्ध चेतन की तीन उपाधियाँ हैं; स्थूल, सूक्ष्म और कारण। इन उपाधियों से युक्त रहने पर चिदंश जीव कहा जाता है और इससे रहित होने पर वह परमेश्वर कहा जाता है ॥ २३ ॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्या संसृतिर्या प्रवर्तते ।
तस्या विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रस्त्वं रघूत्तम ॥ २४॥

हे रघुश्रेष्ठ ! जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति यह तीन प्रकार की सृष्टि से आप विलक्षण हैं और इसके चेतन मात्र साक्षी हैं ॥ २४ ॥

त्वत्त एव जगज्जातं त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
त्वय्येव लीयते कृत्स्नं तस्मात्त्वं सर्वकारणम् ॥ २५॥

यह सम्पूर्ण विश्व आपसे उत्पन्न हुआ है और आप में ही इसकी स्थिति है तथा आप में ही लीन होता है । अतः आप सबके कारण हैं ॥ २५॥

रज्जावहिमिवात्मानं जीवं ज्ञात्वा भयं भवहत् ।
परात्माहमिति ज्ञात्वा भयदुःखैर्विमुच्यते ॥ २६॥

रज्जु में सर्प के आभास के समान अपने को जीव समझने से मनुष्य को भय होता है। मैं ही परमात्मा हूँ यह जब उसे बोध होता है तब वह सम्पूर्ण भय और दुःखों से रहित हो जाता है।॥ २६ ॥

चिन्मात्रज्योतिषा सर्वाः सर्वदेहेषु बुद्धयः ।
त्वया यस्मात्प्रकाश्यन्ते सर्वस्यात्मा ततो भवान् ॥ २७॥

चिन्मात्र ज्योतिः स्वरूप आप ही सबके शरीरों में स्थित होकर उनके बुद्धियों को प्रकाशित करते हैं, इसलिये आप सबके आत्मा हैं ॥ २७ ॥

अज्ञानान्न्यस्यते सर्वं त्वयि रज्जौ भुजङ्गवत् ॥ २८॥

रस्सी में सर्प के भ्रम के समान अज्ञान से ही आपके सम्पूर्ण जगत् की कल्पना होती है। आपका ज्ञान होने पर सम्पूर्ण जगत् आप में लीन हो जाता है। अत: मनुष्य को सदा ज्ञान का अभ्यास करना चाहिये ॥ २८॥

त्वत्पादभक्तियुक्तानां विज्ञानं भवति क्रमात् ।
तस्मात्त्वद्भक्तियुक्ता यह मुक्तिभाजस्त एव हि ॥ २९॥

आपके चरणारविन्द में भक्ति करने वाले को क्रमशः ज्ञान प्राप्त होता है। अतः जो आपकी भक्ति करते हैं वे ही वास्तव में मुक्ति के पात्र हैं ॥२९॥

अहं त्वद्भक्तभक्तानां तद्भक्तानां च किङ्करः ।
अतो मामनुगृह्णीष्व मोहयस्व न मां प्रभो ॥ ३०॥

हे प्रभो! मैं आपके भक्तों के जो भक्त हैं उनके भक्त का दास हूँ। अतः आप मुझे मोहित न करके मुझ पर अनुग्रह कीजिये ॥३०॥

त्वन्नाभिकमलोत्पन्नो ब्रह्मा मे जनकः प्रभो ।
अतस्तवाहं पौत्रोऽस्मि भक्तं मां पाहि राघव ॥ ३१॥

हे प्रभो! आपके नाभि से उत्पन्न कमल से उत्पन्न ब्रह्माजी मेरे पिता हैं, अतः मैं आपका पौत्र हूँ। हे राघव! आप मुझ भक्त की रक्षा कीजिये ॥३१॥

इत्युक्त्वा बहुशो नत्वा स्वानन्दाश्रुपरिप्लुतः ।
उवाच वचनं राम ब्रह्मणा नोदितोऽस्म्यहम् ॥ ३२॥

रावणस्य वधार्थाय जातोऽसि रघुसत्तम ।
इदानीं राज्यरक्षार्थं पिता त्वामभिषेक्ष्यति ॥ ३३॥

इस प्रकार बारम्बार प्रणाम कर आनन्दाश्रु से परिपूर्ण नेत्रों वाले नारद जी बोले-हे रघुश्रेष्ठ ! मुझे ब्रह्माजी ने आपके पास भेजा हैं। रावण का वध करने के लिये ही आपका अवतार हुआ है, किन्तु राज्य की रक्षा के लिये आपके पिताजी आपको अभिषिक्त करने वाले हैं। ३२-३३ ॥

यदि राज्याभिसंसक्तो रावणं न हनिष्यसि ।
प्रतिज्ञा ते कृता राम भूभारहरणाय वै ॥ ३४॥

हे राम ! राज्य में आसक्त होकर यदि रावण को नहीं मारेंगे तो भूभार हरण के लिये आपकी प्रतिज्ञा का क्या होगा? ॥ ३४ ॥

तत्सत्यं कुरु राजेन्द्र सत्यसन्धस्त्वमेव हि ।
श्रुत्वैतद्गदितं रामो नारदं प्राह सस्मितम् ॥ ३५॥

अतः हे राजेन्द्र ! उस प्रतिज्ञा को आप सत्य कीजिये, क्योंकि आप सत्य प्रतिज्ञ हैं। नारद जी की बात सुनकर श्रीरामचन्द्र जी मुस्कुराकर बोले ॥ ३५ ॥

शृणु नारद मे किञ्चिद्विद्यतेऽविदितं क्वचित् ।
प्रतिज्ञातं च यत्पूर्वं करिष्ये तन्न संशयः ॥ ३६॥

नारदजी ! सुनिये, मुझसे अज्ञात भी कोई बात है ? मैने पहले जो प्रतिज्ञा की है, मैं उसे पूर्ण करूँगा ॥ ३६॥

किन्तु कालानुरोधेन तत्तत्प्रारब्धसङ्क्षयात् ।
हरिष्ये सर्वभूभारं क्रमेणासुरमण्डलम् ॥ ३७॥

किन्तु कालक्रम के अनुसार जिनका प्रारब्ध क्षीण होता जायेगा, उन-उन राक्षसों का वध करके मैं क्रमशः पृथ्वी का भारहरण करूँगा ॥ ३७ ॥

रावणस्य विनाशार्थं श्वो गन्ता दण्डकाननम् ।
चतुर्दश समास्तत्र ह्युषित्वा मुनिवहषधृक् ॥ ३८॥

रावण का वध करने के लिये में कल दण्डकारण्य जाऊँगा। वहाँ चौदहवर्ष मुनि का वेष धारण कर रहूँगा ॥ ३८ ॥

सीतामिषेण तं दुष्टं सकुलं नाशयाम्यहम् ।
एवं रामे प्रतिज्ञाते नारदः प्रमुमोद ह ॥ ३९॥

सीता हरण के बहाने उस दुष्ट को मैं सपरिवार नष्ट कर दूंगा। श्रीरामचन्द्रजी की यह प्रतिज्ञा सुनकर नारदजी अति प्रसन्न हुए ॥३९॥

प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा दण्डवत्प्रणिपत्य तम् ।
अनुज्ञातश्च रामेण ययौ देवगतिं मुनिः ॥ ४०॥

और नारदजी ने श्रीरामचन्द्र जी की तीन प्रदक्षिणा कर उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया तथा उनकी आज्ञा लेकर आकाश मार्ग से देवलोक को चले गये ॥४० ॥

संवादं पठति शृणोति संस्मरेद्वा
यो नित्यं मुनिवररामयोः सभक्त्या ।
सम्प्राप्नोत्यमरसुदुर्लभं विमोक्षं

कैवल्यं विरतिपुरःसरं क्रमेण ॥ ४१॥

जो व्यक्ति नारदजी और श्रीरामचन्द्रजी के इस संवाद को नित्य प्रति भक्ति पूर्वक पढ़ता है, श्रवण अथवा स्मरण करता है, वह वैराग्यपूर्वक क्रमशः देव दुर्लभ कैवल्य मोक्ष-पद प्राप्त करता है। ॥४१॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे
अयोध्याकाण्डे प्रथमः सर्गः ॥ १॥

॥ द्वितीयः सर्गः दूसरा सर्ग ॥

राज्याभिषेक की तैयारी तथा वशिष्ठजी एवं रामचन्द्रजी का संवाद

अथ राजा दशरथः कदाचिद्रहसि स्थितः ।
वसिष्ठं स्वकुलाचार्यमाहूयेदमभाषत ॥ १॥

श्रीमहादेव जी बोले-एक समय एकान्त में बैठे हुए राजा दशरथ ने अपने कुल के आचार्य श्री वशिष्ठजी को बुलाकर कहा ॥ १ ॥

भगवन् राममखिलाः प्रशंसन्ति मुहुर्मुहुः ।
पौराश्च निगमा वृद्धा मन्त्रिणश्च विशेषतः ॥ २॥

भगवान् सभी पुरवासी, निगमागम के ज्ञाता विज्ञजन, बड़े बूढ़े और मन्त्रीगण विशेषतः राम की बार-बार प्रशंसा करते हैं ॥२॥

ततः सर्वगुणोपेतं रामं राजीवलोचनम् ।
ज्येष्ठं राज्येऽभिषेक्ष्यामि वृद्धोऽहं मुनिपुङ्गव ॥ ३॥

अतः हे मुनिपुङ्गव ! सर्वगुणसम्पन्न ज्येष्ठपुत्र कमल लोचन राम को युवराज पद पर अभिषिक्त करना चाहता हूं, क्योंकि मैं वृद्ध हो गया हूँ ॥३॥

भरतो मातुलं द्रष्टुं गतः शत्रुघ्नसंयुतः ।
अभिषेक्ष्ये श्व एवाशु भवान्स्तच्चानुमोदताम् ॥ ४॥

भरत शत्रुघ्न के साथ अपने मातुल (मामा) से भेंट करने के लिये गया है, तथापि कल शीघ्र ही मैं राम का राज्याभिषेक करना चाहता हूँ। आप इसका अनुमोदन कीजिये ॥४॥

सम्भाराः सम्भ्रियन्तां च गच्छ मन्त्रय राघवम् ।
उच्छ्रीयन्तां पताकाश्च नानावर्णाः समन्ततः ॥ ५॥

हे मुनिश्रेष्ठ! अभिषेक की सामग्री एकत्रित कराइये तथा रघुनाथजी के पास जाकर उचित सम्मति लीजिये। इस समय सभी तऔर रंग-बिरंगी पताकाएँ लगानी चाहिये ॥५॥

तोरणानि विचित्राणि स्वर्णमुक्तामयानि वै ।
आहूय मन्त्रिणं राजा सुमन्त्रं मन्त्रिसत्तमम् ॥६॥

आज्ञापयति यद्यत्त्वां मुनिस्तत्तत्समानय ।
यौवराज्येऽभिषेक्ष्यामि श्वोभूते रघुनन्दनम् ॥ ७॥

चित्र-विचित्र सुवर्ण और मोतियों के तोरण की सजावट होनी चाहिये। राजा ने मन्त्रिश्रेष्ठ सुमन्त्र को बुलाकर आज्ञा दी कि मैं कल रघुनाथजी को युवराज पद पर अभिषिक्त करूँगा, अतः वसिष्ठजी जो आज्ञा दें उसे एकत्रित करो॥ ६-७ ॥

तथेति हर्षात्स मुनिं किं करोमीत्यभाषत ।
तमुवाच महातेजा वसिष्ठो ज्ञानिनां वरः ॥ ८॥

"जैसी आपकी इच्छा" यह राजादशरथ से कहकर सुमन्त्र ने वशिष्ठजी से पूछा की बताइए मेरे लिए क्या आज्ञा है? तत्पश्चात् ज्ञानियों में श्रेष्ठ महातेजस्वी वशिष्ठजी सुमन्त्र से बोले ॥ ८॥

श्वः प्रभाते मध्यकक्षे कन्यकाः स्वर्णभूषिताः ।
तिष्ठन्तु षोडश गजाः स्वर्णरत्नादि भूषिताः ॥ ९॥

चतुर्दन्तः समायातु ऐरावतकुलोद्भवः ।
नानातीर्थोदकैः पूर्णाः स्वर्णकुम्भाः सहस्रशः ॥ १०॥

कल प्रातःकाल मध्यद्वा रपर स्वर्णाभरणभूषित सोलह कन्यायें रहनी चाहिये, ऐरावत कुलोत्पन्न चार दातों वाला हाथी स्वर्णरत्नादि से विभूषित होकर चाहिये, और अनेक तीर्थों के जलों से परिपूरित हजारों सुवर्ण-कलश आने चाहिये। ॥९-१०॥

स्थाप्यन्तां नववैयाघ्रचर्माणि त्रीणि चानय ।
श्वेतच्छत्रं रत्नदण्डं मुक्तामणिविराजितम् ॥ ११॥

तीन नवीन व्याघ्रचर्म लाकर रखिये और मुक्तामणि-सुशोभित रत्नदण्डयुक्त एक श्वेत छत्र लाइये ॥ ११ ॥

दिव्यमाल्यानि वस्त्राणि दिव्यान्याभरणानि च ।
मुनयः सत्कृतास्तत्र तिष्ठन्तु कुशपाणयः ॥ १२॥

अनेकों दिव्य मालाएँ, वस्त्र और दिव्य आभूषण रखिये, तथा अभिषेक स्थल पर सम्मानित मुनिजन हाथ में कुशा लेकर उपस्थित रहें ॥ १२॥

नर्तक्यो वारमुख्याश्च गायका वहणुकास्तथा ।
नानावादित्रकुशला वादयन्तु नृपाङ्गणे ॥ १३॥

नर्तकियाँ, मुख्य-मुख्य वाराङ्गनाएँ, गायक, वेणुवादक तथा वाद्यों में कुशल वादक महाराज दशरथ के ऑगन में आकर गाना-बजाना करें ॥ १३॥

हस्त्यश्वरथपादाता बहिस्तिष्ठन्तु सायुधाः ।
नगरे यानि तिष्ठन्ति देवतायतनानि च ॥ १४॥

तेषु प्रवर्ततां पूजा नानाबलिभिरावृता ।
राजानः शीघ्रमायान्तु नानोपायनपाणयः ॥ १५॥

अभिषेक स्थान से बाहर हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिक से सुज्जित चतुरङ्गिणी सेना आयुध के साथ खड़ी रहे। नगर के सभी देवालयों में विविध बलि सामग्री से देवताओं की पूजा की जाए, तथा राजागण शीघ्र अनेकों प्रकार की भेंट सामग्री लेकर आएं ॥१४-१५॥

इत्यादिश्य मुनिः श्रीमान् सुमन्त्रं नृपमन्त्रिणम् ।
स्वयं जगाम भवनं राघवस्यातिशोभनम् ॥ १६॥

इस प्रकार राज मन्त्री सुमन्त्र को आज्ञा देकर श्रीमान् वशिष्ठजी स्वयं रघुनाथ जी के अति सुन्दर महल में गये ॥१६॥

रथमारुह्य भगवान् वसिष्ठो मुनिसत्तमः ।

त्रीणि कक्षाण्यतिक्रम्य रथात्क्षितिमवातरत् ॥ १७॥

मुनिपुङ्गव भगवान् वशिष्ठजी रथ पर चढ़कर महल के तीन कक्षाओं को पार कर रथ से भूमि पर उतरे ॥ १७ ॥

अन्तः प्रविश्य भवनं स्वाचार्यत्वादवारितः ।
गुरुमागतमाज्ञाय रामस्तूर्णः कृताञ्जलिः ॥ १८॥

प्रत्युद्गम्य नमस्कृत्य दण्डवद्भक्तिसंयुतः ।
स्वर्णपात्रेण पानीयमानिनायाशु जानकी ॥ १९॥

और उन्होंने श्री राम के आचार्य होने के कारण बिना किसी रुकावट के ही अन्तःपुर में प्रवेश किया। उस समय गुरुजी को आया देखकर श्री रामचन्द्र जी तुरन्त हाथजोड़ कर उनका स्वागत किया और भक्तिपूर्वक दण्डवत् प्रणाम किये। उस समय सीताजी सुवर्ण के पात्र में शीघ्र जल लेकर आयीं ॥१८-१९॥

रत्नासने समावहश्य पादौ प्रक्षाल्य भक्तितः ।
तदपः शिरसा धृत्वा सीताया सह राघवः ॥ २०॥

धन्योऽस्मीत्यब्रवीद्रामस्तव पादाम्बुधारणात् ।
श्रीरामेणैवमुक्तस्तु प्रहसन् मुनिरब्रवीत् ॥ २१॥

रघुनाथजी गुरुवर को रत्नसिंहासन पर बैठाकर उनके चरणों को धोया और सीताजी के सहित अपने सिर पर चरणोदक रखकर बोले- हे मुने ! मैं आपके चरणोदक को धारणकर धन्य हो गया। श्रीरामचन्द्र के इस प्रकार कहने पर मुनिवर वशिष्ठजी हँसकर बोले ॥ २०-२१॥

त्वत्पादसलिलं धृत्वा धन्योऽभूद्गिरिजापतिः ।
ब्रह्मापि मत्पिता ते हि पादतीर्थहताशुभः ॥ २२॥

हे राम! आपके चरणोदक को सिर पर धारण कर गिरिजापति कृत्-कृत्य हो गये तथा मेरे पिता ब्रह्माजी आप के पादतीर्थ से पाप रहित हो गये हैं ॥ २२ ॥

इदानीं भाषसे यत्त्वं लोकानामुपदेशकृत् ।
जानामि त्वां परात्मानं लक्ष्म्या सञ्ज्ञातमीश्वरम् ॥ २३॥

इस समय संसार के उपदेश के लिये आप इस तरह कह रहे हैं कि गुरुजन के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये। आप लक्ष्मी के सहित प्रकट हुये साक्षात् ईश्वर हैं, यह मैं जानता हूँ ॥२३॥

देवकार्यार्थसिद्ध्यर्थं भक्तानां भक्तिसिद्धये ।
रावणस्य वधार्थाय जातं जानामि राघव ॥ २४॥

हे राघव ! देवताओं की कार्य सिद्धि, भक्तों के मनोकामना पूर्ण करने तथा रावण का वध करने लिये आप अवतरित हुए हैं, यह मैं जानता हूँ ॥ २४ ॥

तथापि देवकार्यार्थं गुह्यं नोद्घाटयाम्यहम् ।
तथा त्वं मायया सर्वं करोषि रघुनन्दन ॥ २५॥

तथैवानुविधास्येऽहं शिष्यस्त्वं गुरुरप्यहम् ।
गुरुर्गुरूणां त्वं देव पितृणां त्वं पितामहः ॥ २६॥

तथापि देवताओं के कार्य की सिद्धि के लिये मैं इस रहस्य का उद्घाटन नहीं करता हूँ। हे रघुनन्दन ! जिस प्रकार अपनी माया से सम्पूर्ण कार्य करेंगे, उसी प्रकार मैं गुरु हूँ और आप शिष्य हैं इस सम्बन्ध के अनुसार मैं व्यवहार करूँगा। परन्तु हे देव ! आप गुरुओं के गुरु और पितरों के भी पितामह हैं ॥ २५-२६ ॥

अन्तर्यामी जगद्यात्रावाहकस्त्वमगोचरः ।
शुद्धसत्त्वमयं देहं धृत्वा स्वाधीनसम्भवम् ॥ २७॥

आप अन्तर्यामी जगद् व्यवहार के प्रवत्तक अगोचर, शुद्ध सत्वमय स्वेच्छा से शरीर धारण करने वाले हैं ॥ २७॥

मनुष्य इव लोकेऽस्मिन् भासि त्वं योगमायया ।
पौरोहित्यमहं जाने विगर्ह्यं दूष्यजीवनम् ॥ २८॥

इक्ष्वाकूणां कुले रामः परमात्मा जनिष्यते ।
इति ज्ञातं मया पूर्वं ब्रह्मणा कथितं पुरा ॥ २९॥

आप अपनी योगमाया के साथ मनुष्य के समान संसार में प्रतीत हो रहे हैं। पौरोहित्यकर्म अति निन्दित और दूषित जीविका है, यह मैं जानता हूँ। परन्तु पूर्व समय में ब्रह्माजी के कहने पर मुझे ज्ञात हुआ कि इक्ष्वाकुवंश में परमात्मा राम अवतार लेंगे ॥२८-२९॥

ततोऽहमाशया राम तव सम्बन्धकाङ्क्षया ।
अकार्षं गर्हितमपि तवाचार्यत्वसिद्धये ॥ ३०॥

तब से हे राम! आपसे सम्बन्ध की आकांक्षा से आपके आचार्य होने की इच्छा से इस निन्दनीय कर्म को भी मैंने स्वीकार किया ॥ ३०॥

ततो मनोरथो मेऽद्य फलितो रघुनन्दन ।
त्वदधीना महामाया सर्वलोकैकमोहिनी ॥ ३१॥

मां यथा मोहयेन्नैव तथा कुरु रघूद्वह ।
गुरुनिष्कृतिकामस्त्वं यदि देह्येतदेव मे ॥ ३२॥

हे रघुनन्दन! आज मेरा मनोरथ सफल हुआ। अब आप यदि गुरु-ऋण से मुक्त होना चाहते हो तो आपके आश्रित रहने वाली सर्वलोक विमोहिनी महामाया मुझे मोहित नहीं करे यह आप कीजिये ॥ ३१-३२ ॥

प्रसङ्गात्सर्वमप्युक्तं न वाच्यं कुत्रचिन्मया ।
राज्ञा दशरथेनाहं प्रेषितोऽस्मि रघूद्वह ॥ ३३॥

त्वामामन्त्रयितुं राज्ये श्वोऽभिषेक्ष्यति राघव ।
अद्य त्वं सीतया सार्धमुपवासं यथाविधि ॥ ३४॥

कृत्वा शुचिर्भूमिशायी भव राम जितेन्द्रियः ।
गच्छामि राजसान्निध्यं त्वं तु प्रातर्गमिष्यसि ॥ ३५॥

हे रघुश्रेष्ठ ! प्रसंग वश मैंने सभी बातें आपसे कही है, अन्यत्र कहीं भी मैं नहीं कहूँगा। हे राघव ! कल आपका राज्याभिषेक होगा। अतः आवश्यक निर्देश के लिये राजा दशरथ ने मुझे आपके पास भेजा है। आज सीता के साथ आप विधिपूर्वक उपवास, शुद्ध तथा जितेन्द्रिय

होकर पृथ्वी पर शयन करें, मैं राजा के पास जाता हूँ। आप कल प्रातः काल राजा के पास पधारें॥ ३३-३५ ॥

इत्युक्त्वा रथमारुह्य ययौ राजगुरुर्द्रुतम् ।
रामोऽपि लक्ष्मणं दृष्ट्वा प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥ ३६॥

ऐसा कहकर राजगुरु वसिष्ठजी रथ पर सवार होकर शीघ्र ही चले गये। तब रामचन्द्रजी लक्ष्मण को देखकर हँसते हुये बोले ॥३६॥

सौमित्रे यौवराज्ये मे श्वोऽभिषेको भविष्यति ।
निमित्तमात्रमेवाहं कर्ता भोक्ता त्वमेव हि ॥ ३७॥

हे सौमित्र ! युवराज के पद पर कल मेरा अभिषेक होगा। मैं तो केवल निमित्त मात्र हूँ, कर्ता-भोक्ता तो तुम्ही हो ॥ ३७॥

मम त्वं हि बहिःप्राणो नात्र कार्या विचारणा ।
ततो वसिष्ठेन यथा भाषितं तत्तथाकरोत् ॥ ३८॥

तुम मेरे बाह्य प्राण हो, इसमें विशेष विचार नहीं करना चाहिए। इसके पश्च्यात वशिष्ठजी के आदेशानुसार रघुनाथजी रीति पूर्वक समस्त कार्य किए ॥३८॥

वसिष्ठोऽपि नृपं गत्वा कृतं सर्वं न्यवहदयत् ।
वसिष्ठस्य पुरो राज्ञा ह्युक्तं रामाभिषेचनम् ॥ ३९॥

यदा तदैव नगरे श्रुत्वा कश्चित्पुमान् जगौ ।
कौसल्यायै राममात्रे सुमित्रायै तथैव च ॥ ४०॥

वशिष्ठजी ने राजा दशरथ के पास आकर सब कुछ कह दिया। राजा दशरथ से राम के राज्याभिषेक की चर्चा करते हुये किसी पुरुष सुनकर सम्पूर्ण नगर में यह बात प्रचारित कर दी और राम माता कौसल्या तथा सुमित्रा से भी यह बात कह दी ॥ ३९-४० ॥

श्रुत्वा ते हर्षसम्पूर्णे ददतुर्हारमुत्तमम् ।
तस्मै ततः प्रीतमनाः कौसल्या पुत्रवत्सला ॥ ४१॥

लक्ष्मीं पर्यचरद्देवीं रामस्यार्थप्रसिद्धये ।
सत्यवादी दशरथः करोत्येव प्रतिश्रुतम् ॥ ४२॥

उन दोनों ने यह समाचार सुनकर हर्षपूर्वक उसे उत्तमहार दे दिया। और पुत्रवत्सला कौसल्या ने रामचन्द्र की इष्ट सिद्धि के लिये लक्ष्मी देवी की पूजा की। राजा दशरथ सत्यवादी हैं वे अपनी प्रतिज्ञा पालन करते हैं यह प्रसिद्ध है ॥ ४१-४२ ॥

कैकेयीवशगः किन्तु कामुकः किं करिष्यति ।
इति व्याकुलचित्ता सा दुर्गां देवीमपूजयत् ॥ ४३॥

परन्तु वह कामुक और कैकेयी के वशीभूत हैं ऐसी स्थिति में वह इस प्रतिज्ञा को कैसे पूर्ण करेंगे? इस प्रकार की चिन्ता से व्याकुल होकर वह दुर्गा देवी का पूजन करने लगीं ॥ ४३ ॥

एतस्मिन्नन्तरे देवा देवीं वाणीमचोदयन् ।
गच्छ देवि भुवो लोकमयोध्यायां प्रयत्नतः ॥ ४४॥

रामाभिषेकविघ्नार्थं यतस्व ब्रह्मवाक्यतः ।
मन्थरां प्रविशस्वादौ कैकेयीं च ततः परम् ॥ ४५॥

इसी समय देवगणों ने सरस्वती देवी से निवेदन किया कि हे देवी! तुम प्रयत्न पूर्वक भूलोक में अयोध्यापुरी में जाओ और वहाँ ब्रह्माजी की आज्ञा से रामचन्द्रजी के राज्याभिषेक में विघ्न उपस्थित करने के लिये प्रयत्न करो। तुम पहले मन्थरा में प्रवेश करना तथा उसके बाद कैकेयी में प्रवेश करना ॥४४ -४५॥

ततो विघ्ने समुत्पन्ने पुनरेहि दिवं शुभे ।
तथेत्युक्त्वा तथा चक्रे प्रविवहशाथ मन्थराम् ॥ ४६॥

हे शुभे! विघ्न उपस्थित हो जाने पर पुनः स्वर्ग में चली आना। इसके बाद सरस्वती ने "जैसी आपकी इच्छा " कहकर वैसा ही किया और सर्वप्रथम मन्थरा में प्रवेश किया ॥ ४६॥

सापि कुब्जा त्रिवक्रा तु प्रासादाग्रमथारुहत् ।
नगरं परितो दृष्ट्वा सर्वतः समलङ्कृतम् ॥ ४७॥

उस तीन स्थानों से टेढ़ी कुब्जा मन्थरा ने प्रासाद की अट्टालिकाओं पर चढ़कर सर्वतः सुसज्जित सम्पूर्ण नगर को देखा ॥ ४७ ॥

नानातोरणसम्बाधं पताकाभिरलङ्कृतम् ।
सर्वोत्सवसमायुक्तं विस्मिता पुनरागमत् ॥ ४८॥

धात्रीं पप्रच्छ मातः किं नगरं समलङ्कृतम् ।
नानोत्सवसमायुक्ता कौसल्या चातिहर्षिता ॥ ४९॥

ददाति विप्रमुख्येभ्यो वस्त्राणि विविधानि च ।
तामुवाच तदा धात्री रामचन्द्राभिषेचनम् ॥ ५०॥

श्वो भविष्यति तेनाद्य सर्वतोऽलङ्कृतं पुरम् ।
तच्छ्रुत्वा त्वरितं गत्वा कैकेयीं वाक्यमब्रवीत् ॥ ५१॥

उसमें अनेक प्रकार के तोरण लगे हुये हैं, रंग-बिरंगी पताकाएँ सुशोभित हो रही हैं तथा सर्वत्र उत्सव हो रहे हैं। यह देख विस्मित होकर वह नीचे आयी और धात्री से पूछा -हे मातः! नगर क्यों अलंकृत है और कौसल्या अति हर्षित होकर श्रेष्ठ ब्राह्मणों को विविध वस्त्र दान दे रही हैं तथा उत्सव मना रही हैं। यह सुनकर धात्री ने मन्थरा से कहा कि कल श्रीरामचन्द्र का राज्याभिषेक होगा। अतः आज नगर को सब ओर से सजाया गया है। यह सुनकर वह शीघ्र ही कैकेयी के पास जाकर बोली ॥ ४८-५१॥

पर्यङ्कस्थां विशालाक्षीमेकान्ते पर्यवस्थिताम् ।
किं शेषे दुर्भगे मूढे महद्भयमुपस्थितम् ॥ ५२॥

उस समय विशालाक्षी कैकेयी एकान्त में पलंग पर बैठी थी, उससे मन्थरा बोली- अरि दुर्भगे मूढ़े ! तुम कैसे सो रही हो ? तुम्हारे लिए तो बड़ा भारी संकट उपस्थित है ॥५२॥

न जानीषेऽतिसौन्दर्यमानिनी मत्तगामिनी ॥ ५३॥

रामस्यानुग्रहाद्राज्ञः श्वोऽभिषेको भविष्यति ।
तच्छ्रुत्वा सहसोत्थाय कैकेयी प्रियवादिनी ॥ ५४॥

तस्यै दिव्यं ददौ स्वर्णनूपुरं रत्नभूषितम् ।
हर्षस्थाने किमिति मे कथ्यते भयमागतम् ॥ ५५॥

हे अति सौन्दर्यमानिनी, हे मतगामिनी! क्या तुम नहीं जानती हो? राजा की कृपा से कल राम का अभिषेक होगा। यह सुनकर प्रिववादिनी कैकेयी सहसा उठकर उसे दिव्य रत्नजटित सुवर्ण नूपुर देकर बोली-यह तो हर्ष की बात है, इसमें भय उपस्थित होने का क्या कारण है ? ॥ ५३-५५ ॥

भरतादधिको रामः प्रियकृन्मे प्रियंवदः ।
कौसल्यां मां समं पश्यन् सदा शुश्रूषते हि माम् ॥ ५६॥

भरत की अपेक्षा राम मेरा अधिक प्रिय करने वाला तथा प्रियवादी है, वह कौसल्या तथा मुझे समभाव से देखता हुआ सदा ही मेरी सेवा करता है ॥५६॥

रामाद्भयं किमापन्नं तव मूढे वदस्व मे ।
तच्छ्रुत्वा विषसादाथ कुब्जाऽकारणवैरिणी ॥ ५७॥

शृणु मद्वचनं देवि यथार्थं ते महद्भयम् ।
त्वां तोषयन् सदा राजा प्रियवाक्यानि भाषते ॥ ५८॥

अरी मूढे! राम से क्या भय उपस्थित है यह बताओ? यह सुनकर अकारण वर करने वाली कुब्जा मन्थरा विषाद करने लगी, और बोली-हे देवि ! मेरी बात सुनो, निश्चय ही तुम्हारे लिए भयंकर भय

उपस्थित है। तुम्हें सन्तुष्ट रखने के लिए राजा सदा तुमसे प्रिय बोलते है ॥ ५७-५८ ॥

कामुकोऽतथ्यवादी च त्वां वाचा परितोषयन् ।
कार्यं करोति तस्या वै राममातुः सुपुष्कलम् ॥ ५९॥

वह कामुक और मिथ्यावादी हैं, तुम्हें केवल वाणी से सन्तुष्ट कर राम की माता की इच्छा से सम्पूर्ण कार्य करते हैं ॥ ५९॥

मनस्येतन्निधायैव प्रेषयामास ते सुतम् ।
भरतं मातुलकुले प्रेषयामास सानुजम् ॥ ६०॥

अपने मन में निश्चय कर उन्होंने अनुज सहित तुम्हारे पुत्र भरत को नौनिहाल भेज दिया है ॥ ६० ॥

सुमित्रायाः समीचीनं भविष्यति न संशयः ।
लक्ष्मणो राममन्वेति राज्यं सोऽनुभविष्यति ॥ ६१॥

सुमित्रा के लिये सब कुछ ठीक होगा इसमें सन्देद नहीं है, क्योंकि लक्ष्मण राम के अनुगामी हैं। अतः वे राज्य का भोग करेंगे ॥६१॥

भरतो राघवस्याग्रे किङ्करो वा भविष्यति ।
विवास्यते वा नगरात्प्राणैर्वा हाप्यतेऽचिरात् ॥ ६२॥

परन्तु भरत राम के सामने केवल दास होंगे अथवा नगर से निकाल दिए जायेंगे, अथवा शीघ्र ही उनका प्राणाघात किया जायगा॥ ६२ ॥

त्वं तु दासीव कौसल्यां नित्यं परिचरिष्यसि ।
ततोऽपि मरणं श्रेयो यत्सपत्न्याः पराभवः ॥ ६३॥

तुम दासी के समान नित्य कौसल्या की सेवा करोगी। सौत से अपमानित होकर जीने से तो मरना श्रेष्ठ है ॥ ६३ ॥

अतः शीघ्रं यतस्वाद्य भरतस्याभिषेचने ।
रामस्य वनवासार्थं वर्षाणि नव पञ्च च ॥ ६४॥

अतः शीघ्र ही भरत का राज्याभिषेक और कैसे राम को चौदह वर्ष का वनवास प्राप्त हो, इसका प्रयत्न करो ॥ ६४ ॥

ततो रूढोऽभये पुत्रस्तव राज्ञि भविष्यति ।
उपायं ते प्रवक्ष्यामि पूर्वमेव सुनिश्चितम् ॥ ६५॥

हे रानी ! ऐसा होने पर तुम्हारे पुत्र भरत भयरहित युवराज पद पर अभिषिक्त होंगे। इसके लिये मैं उपाय बतलाती हूँ, जिसे मैंने पहले ही सोच रखा है ॥६५॥

पुरा देवासुरे युद्धे राजा दशरथः स्वयम् ।
इन्द्रेण याचितो धन्वी सहायार्थं महारथः ॥ ६६॥

पूर्व समय में देवासुर संग्राम में धनुर्धर महारथी राजा दशरथ से स्वयं इन्द्र ने अपनी सहायता के लिये याचना की थी ॥ ६६ ॥

जगाम सेनया सार्धं त्वया सह शुभानने ।
युद्धं प्रकुर्वतस्तस्य राक्षसैः सह धन्विनः ॥ ६७॥

तदाक्षकीलो न्यपतच्छिन्नस्तस्य न वहद सः ।
त्वं तु हस्तं समावहश्य कीलरन्ध्रेऽतिधैर्यतः ॥ ६८॥

हे शुभानने ! उस समय सेना के साथ तुम्हें भी साथ लेकर वह उस युद्ध में गए थे। राक्षसों के साथ युद्ध करते समय धनुर्धारी राजा दशरथ के रथ की कील उनके जाने बिना ही टूट कर गिर गयी। उस समय तुमने अत्यन्त धैर्यपूर्वक अपना हाथ उस कील के छिद्र में लगा दिया ॥ ६७-६८ ॥

स्थितवत्यसितापाङ्गि पतिप्राणपरीप्सया ।
ततो हत्वासुरान् सर्वान् ददर्श त्वामरिन्दमः ॥ ६९॥

हे कृष्णाक्षि ! पति के प्राणों की रक्षा के लिये तुम इसी स्थिति में रही। समस्त राक्षसों के मारने के बाद शत्रदमन महाराज दशरथ तुम्हें देखा ॥ ६९ ॥

आश्चर्यं परमं लेभे त्वामालिङ्ग्य मुदान्वितः ।
वृणीष्व यत्ते मनसि वाञ्छितं वरदोऽस्म्यहम् ॥ ७०॥

उन्हें यह देखकर परम आश्चर्य हुआ और वह तुम्हें प्रसन्नता पूर्वक आलिङ्गन करते हुए बोले-मैं तुन्हें वर देना चाहता हूँ, तुम्हारे मन में जो हो उसे माँग लो ॥७०॥

वरद्वयं वृणीष्व त्वमेवं राजावदत्स्वयम् ।
त्वयोक्तो वरदो राजन् यदि दत्तं वरद्वयम् ॥ ७१॥

तुम दो वरदान माँगो, स्वयं राजा ने यह तुमसे कहा था। राजा के यह कहने पर तुमने कहा कि हे राजन् । यदि आप वर देना चाहते हैं ॥ ७१॥

त्वय्येव तिष्ठतु चिरं न्यासभूतं ममानघ ।
यदा मेऽवसरो भूयात्तदा देहि वरद्वयम् ॥ ७२॥

तो हे अनघ ! ये वरदान धरोहर के रूप में आपके पास रहें। जिस समय मेरा अवसर होगा, उस समय दोनों वर मुझे दीजियेगा ॥७२॥

तथेत्युक्त्वा स्वयं राजा मन्दिरं व्रज सुव्रते ।
त्वत्तः श्रुतं मया पूर्वमिदानीं स्मृतिमागतम् ॥ ७३॥

"जैसी तुम्हारी इच्छा" यह कहकर राजा तुमसे बोले-हे सुव्रते ! घर चलो। तुमसे ही मैंने यह सारा वृतांत सुना था, इस समय मुझे इसकी स्मृति हो गयी है ॥ ७३ ॥

अतः शीघ्रं प्रविश्याद्य क्रोधागारं रुषान्विता ।
विमुच्य सर्वाभरणं सर्वतो विनिकीर्य च ॥ ७४॥

भूमावहव शयाना त्वं तूष्णीमातिष्ठ भामिनि ।
यावत्सत्यं प्रतिज्ञाय राजाभीष्टं करोति ते ॥ ७५॥

श्रुत्वा त्रिवक्रयोक्तं तत्तदा केकयनन्दिनी ।
तथ्यमेवाखिलं मेने दुःसङ्गाहितविभ्रमा ॥ ७६॥

अतः हे भामिनि ! आप शीघ्र ही रोषपूर्वक कोपभवन में प्रवेश कीजिये। अपने सम्पूर्ण आभूषणों को यत्र-तत्र बिखेर दें तथा जब तक सत्य प्रतिज्ञा पूर्वक राजा आपके अभीष्ट कार्य करने के लिये तैयार न हों तब तक चुपचाप पृथ्वी पर पड़ी रहें। त्रिवक्रा मन्थरा की बातें सुनकर दुसंग से भ्रष्ट बुद्धि होने के कारण दुष्टा कैकेयी ने उसका कथन ठीक मान लिया और उससे बोली-तुममें इस तरह की बुद्धि कहाँ से आयी ? ॥ ७४-७६ ॥

तामाह कैकेयी दुष्टा कुतस्ते बुद्धिरीदृशी ।
एवं त्वां बुद्धिसम्पन्नां न जाने वक्रसुन्दरि ॥ ७७॥

भरतो यदि राजा मे भविष्यति सुतः प्रियः ।
ग्रामान् शतं प्रदास्यामि मम त्वं प्राणवल्लभा ॥ ७८॥

अरी वक्र सुन्दरी ! तुम इतनी बुद्धिमती हो यह मैं नहीं जानती थी। मेरा प्रिय पुत्र भरत यदि राजा होगा तो तुम्हें सौ गाँव दूंगी, तुम मुझे प्राणों के समान प्यारी हो। यह कह कर कैकेयी ने रोषपूर्वक सहसा कोप भवन में प्रवेश किया ॥ ७५-७८॥

इत्युक्त्वा कोपभवनं प्रविश्य सहसा रुषा ।
विमुच्य सर्वाभरणं परिकीर्य समन्ततः ॥ ७९॥

भूमौ शयाना मलिना मलिनाम्बरधारिणी ।
प्रोवाच शृणु मे कुब्जे यावद्रामो वनं व्रजेत् ॥ ८०॥

प्राणान्स्त्यक्ष्येऽथ वा वक्रे शयिष्ये तावदेव हि ।
निश्चयं कुरु कल्याणि कल्याणं ते भविष्यति ॥ ८१॥

इत्युक्त्वा प्रययौ कुब्जा गृहं साऽपि तथाकरोत् ॥८२॥

धीरोऽत्यन्तदयान्वितोऽपि सगुणाचारान्वितो वाथवा
नीतिज्ञो विधिवाददेशिकपरो विद्याविवहकोऽथवा ।
दुष्टानामतिपापभावितधियां सङ्गं सदा चेद्व्रजेत्
तद्बुद्ध्या परिभावितो व्रजति तत्साम्यं क्रमेण स्फुटम् ॥८३॥

अपने सम्पूर्ण आभूषण उतार कर यत्र-तत्र बिखेर दिये और मलिन वस्त्र पहन लिए। अत्यन्त धैर्यवान्, दयालु, सद्गुणी, सदाचारी, नीतिज्ञ, कर्तव्य परायण, गुरु-भक्त अथवा विद्या-विवेक सम्पन्न ही क्यों न हो यदि वह निरन्तर दुष्टों का संग करेगा तो क्रमशः उनकी बुद्धि से प्रभावित होकर उनके समान आचरण वाला हो जायगा यह सत्य ही है ॥७९-८३॥

अतः सङ्गः परित्याज्यो दुष्टानां सर्वदैव हि ।
दुःसङ्गी च्यवते स्वार्थाद्यथेयं राजकन्यका ॥ ८४॥

अतः हमेशा दुष्टों का सङ्ग छोड़ना चाहिये, क्योंकि दुष्टों के संग से इस राजकन्यका कैकेयी के समान स्वार्थ से च्युत हो जाता है ॥ ८४ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे
अयोध्याकाण्डे द्वितीयः सर्गः ॥ २॥

॥ तृतीयः सर्गः ॥

राजा दशरथ का कैकेयी को वर देना

ततो दशरथो राजा रामाभ्युदयकारणात् ।
आदिश्य मन्त्रिप्रकृतीः सानन्दो गृहमाविशत् ॥ १॥

श्री महादेव जी बोले-इसके बाद महाराज दशरथ रामजी के अभ्युदय के लिए मन्त्रीगण और प्रजाओं को आवश्यक कार्य करने हेतु आज्ञा देकर आनन्दपूर्वक अपने रनिवास में प्रवेश किया ॥१॥

तत्रादृष्ट्वा प्रियां राजा किमेतदिति विह्वलः ।
या पुरा मन्दिरं तस्याः प्रविष्टे मयि शोभना ॥ २॥

हसन्ती मामुपायाति सा किं नैवाद्य दृश्यते ।
इत्यात्मन्येव सञ्चिन्त्य मनसातिविदूयता ॥ ३॥

पप्रच्छ दासीनिकरं कुतो वः स्वामिनी शुभा ।
नायाति मां यथापूर्वं मत्प्रिया प्रियदर्शना ॥ ४॥

वहाँ अपनी प्रिया कैकेयी को न देखकर अत्यन्त विह्वल होकर आश्चर्यपूर्वक मन ही मन कहने लगे कि पहले अपने महल में आते ही सदा हँसती हुई मेरे सामने आती थी परन्तु आज तो दिखाई ही नहीं दे रही है, क्या कारण है ? उन्होंने अपने मन में अत्यन्त दुःख मानकर यह सोचते-सोचते दासियों से पूछा-आज तुम्हारी शुभलक्षणा

स्वामिनी कहाँ है ? वह प्रियदर्शना मेरी प्रिया पूर्ववत् मेरे सामने क्यों नहीं आती ॥ २-४ ॥

ता ऊचुः क्रोधभवनं प्रविष्टा नैव विद्महे ।
कारणं तत्र देव त्वं गच्छ निश्चेतुमर्हसि ॥ ५॥

दासियाँ बोलीं-देव ! हमलोग कारण नहीं जानती, किन्तु वह कोपभवन में गयी हैं; आप स्वयं वहाँ जाकर कारण जान लीजिये ॥५॥

इत्युक्तो भयसन्त्रस्तो राजा तस्याः समीपगः ।
उपविश्य शनैर्देहं स्पृशन्वै पाणिनाब्रवीत् ॥ ६॥

दासियों के इस प्रकार कहने पर भयभीत होकर राजा रानी कैकेयी के पास गये और वहाँ पास बैठकर उसके शरीर को धीरे-धीरे हाथ से स्पर्श करते हुए बोले ॥ ६॥

किं शेषे वसुधापृष्ठे पर्यङ्कादीन् विहाय च ।
मां त्वं खेदयसे भीरु यतो मां नावभाषसे ॥ ७॥

अरी भीरु ! पलंग आदि को छोड़ कर तुम इस प्रकार पृथ्वी पर क्यों पड़ी हो ? मुझसे तुम बोलती नहीं, हमें अति खेद हो रहा है ॥ ७ ॥

अलङ्कारं परित्यज्य भूमौ मलिनवाससा ।
किमर्थं ब्रूहि सकलं विधास्ये तव वाञ्छितम् ॥ ८॥

तुम सभी आभूषणों को छोड़कर मलिन वस्त्र धारण कर पृथ्वी पर क्यों पड़ी हो? तुम्हारी क्या इच्छा है ? मुझसे कहो मैं सब कुछ पूर्ण करूँगा ॥ ८॥

को वा तवाहितं कर्ता नारी वा पुरुषोऽपि वा ।
स मे दण्ड्यश्च वध्यश्च भविष्यति न संशयः ॥ ९॥

तुम्हारा अहित करने वाला स्त्री अथवा पुरुष कौन है ? वह निःसन्देह मेरे दण्ड का पात्र होगा और उसका वध भी हो सकता है ॥ ९॥

ब्रूहि देवि यथा प्रीतिस्तदवश्यं ममाग्रतः ।
तदिदानीं साधयिष्ये सुदुर्लभमपि क्षणात् ॥ १०॥

हे देवि ! जिस प्रकार तुम्हारी प्रसन्नता हो वह मुझसे अवश्य कहो। वह अत्यन्त दुर्लभ होने पर भी मैं उसे क्षणभर में पूर्ण कर दूंगा ॥ १०॥

जानासि त्वं मम स्वान्तं प्रियं मां स्ववशे स्थितम् ।
तथापि मां खेदयसे वृथा तव परिश्रमः ॥ ११॥

तुम मेरे अन्तःकरण को जानती हो कि मैं तुम्हारा प्रिय और तुम्हारे वशीभूत हूँ। तथापि तुम मुझे खिन्न करती हो? तुम्हारा परिश्रम व्यर्थ है ॥ ११ ॥

ब्रूहि किं धनिनं कुर्यां दरिद्रं ते प्रियङ्करम् ।
धनिनं क्षणमात्रेण निर्धनं च तवाहितम् ॥ १२॥

तुम्हारा प्रिय करने वाले किस दरिद्र को धनी तथा तुम्हारा अप्रिय करने वाले किस धनिक को क्षण भर में निर्धन बना दूं, यह मुझे बताओ ॥ १२॥

ब्रूहि कं वा वधिष्यामि वधार्हो वा विमोक्ष्यते ।
किमत्र बहुनोक्तेन प्राणान् दास्यामि ते प्रिये ॥ १३॥

बताओ, किसका वध कर दूं अथवा किस मारने योग्य को छोड़ दूं। प्रिये ! अधिक क्या कहूँ , मै तुम्हें अपना प्राण भी दे सकता हूँ ॥ १३ ॥

मम प्राणात्प्रियतरो रामो राजीवलोचनः ।
तस्योपरि शपे ब्रूहि त्वद्धितं तत्करोम्यहम् ॥ १४॥

राजीव लोचन राम मेरे प्राणों से अधिक प्रिय हैं। मैं उनका शपथ लेकर कहता हूँ कि तुम्हारा जो प्रिय हो मैं वही करूँगा ॥ १४ ॥

इति ब्रुवाणं राजानं शपन्तं राघवोपरि ।
शनैर्विमृज्य नेत्रे सा राजानं प्रत्यभाषत ॥ १५॥

राजा दशरथ के श्रीरामचन्द्र का शपथ लेकर कहने पर कैकेयी धीरे धीरे आँखों के आँसू पोछकर राजा से बोली ॥ १५॥

यदि सत्यप्रतिज्ञोऽसि शपथं कुरुषे यदि ।
याच्ञां मे सफलां कर्तुं शीघ्रमेव त्वमर्हसि ॥ १६॥

राजन् ! यदि आप सत्य प्रतिज्ञ हैं और यदि आप शपथ लेकर कहते हैं तो आप शीघ्र जो मैं मांगूं, उसे पूर्ण कर सकते हैं ॥१६॥

पूर्वं देवासुरे युद्धे मया त्वं परिरक्षितः ।
तदा वरद्वयं दत्तं त्वया मे तुष्टचेतसा ॥ १७॥

पूर्व समय में देवासुर संग्राम में मैने आपकी रक्षा की थी, उस समय प्रसन्न होकर आपने मुझे दो वरदान दिए थे ॥ १७ ॥

तद्द्वयं न्यासभूतं मे स्थापितं त्वयि सुव्रत ।
तत्रैकेन वरेणाशु भरतं मे प्रियं सुतम् ॥ १८॥

एभिः सम्भृतसम्भारैर्यौवराज्येऽभिषेचय ।
अपरेण वरेणाशु रामो गच्छतु दण्डकान् ॥ १९॥

हे सुव्रत ! मेरे वह दोनों वरदान आपके पास धरोहर हैं। उनमें से एक वर के द्वारा शीघ्र ही मेरे प्रिय पुत्र भरत को इस एकत्रित सामग्री से युवराज पद पर अभिषिक्त कीजिये और दूसरे वर से शीघ्र ही राम को दण्डकारण्य में भेज दीजिये ॥ १८-१९ ॥

मुनिवहषधरः श्रीमान् जटावल्कलभूषणः ।
चतुर्दश समास्तत्र कन्दमूलफलाशनः ॥ २०॥

वहाँ श्रीमान् राम जटा-वल्कलादि धारण कर कंद-मूल-फल खाकर मुनिवेष धारण कर चौदह वर्ष तक रहें ॥ २०॥

पुनरायातु तस्यान्ते वने वा तिष्ठतु स्वयम् ।

प्रभाते गच्छतु वनं रामो राजीवलोचनः ॥ २१॥

तदनन्तर अपनी ईच्छानुसार अयोध्या आएं अथवा वन में ही रहें किन्तु कमलनयन राम कल प्रातः अवश्य वन में चले जाय ॥२१॥

यदि किञ्चिद्विलम्बेत प्राणान्स्त्यक्ष्ये तवाग्रतः ।
भव सत्यप्रतिज्ञस्त्वमेतदेव मम प्रियम् ॥ २२॥

यदि इसमें कुछ देरी होगी तो आपके सामने ही अपने प्राणों को मैं छोड़ दूंगी। आप अपनी प्रतिज्ञा सत्य कीजिये, मेरा प्रिय कार्य केवल यही है ॥२२॥

श्रुत्वैतद्दारुणं वाक्यं कैकेय्या रोमहर्षणम् ।
निपपात महीपालो वज्राहत इवाचलः ॥ २३॥

कैकेयी का यह भयंकर रोमाञ्चकारी कठोर वचन सुनकर महाराज दशरथ वज्राहत पर्वत के समान गिर पड़े ॥ २३ ॥

शनैरुन्मील्य नयने विमृज्य परया भिया ।
दुःस्वप्नो वा मया दृष्टो ह्यथवा चित्तविभ्रमः ॥ २४॥

तदनन्तर धीरे-धीरे नेत्र खोलकर अति भयपूर्वक आँसू पोंछे और मन-ही-मन कहने लगे-'क्या मैंने यह कोई दुःस्वप्न देखा है अथवा मेरे चित्त को भ्रम हो गया है ? ॥२४॥

इत्यालोक्य पुरः पत्नीं व्याघ्रीमिव पुरः स्थिताम् ।
किमिदं भाषसे भद्रे मम प्राणहरं वचः ॥ २५॥

इसी समय अपने सामने सिहिनी के समान बैठी हुई रानी कैकेयी को देखकर कहने लगे-"हे भद्रे ! मेरे प्राणों को हरनेवाले तुम यह क्या वचन बोल रही हो ? ॥२५॥

रामः कमपराधं ते कृतवान् कमलेक्षणः ।
ममाग्रे राघवगुणान् वर्णयस्यनिशं शुभान् ॥ २६॥

कमलनयन राम ने तुम्हारा क्या अपराध किया है ? तुम तो अहर्निश मेरे सामने राम के शुभ गुण गाया करती थी ॥ २६ ॥

कौसल्यां मां समं पश्यन् शुश्रूषा कुरुते सदा ।
इति ब्रुवन्ती त्वं पूर्वमिदानीं भाषसेऽन्यथा ॥ २७॥

तुम तो पहले कहा करती थी कि 'राम मुझे और कौसल्या को समान जान कर सदा ही मेरी सेवा किया करते हैं।' फिर इस समय तुम यह विपरीत बातें कैसे कह रही हो ? ॥ २७ ॥

राज्यं गृहाण पुत्राय रामस्तिष्ठतु मन्दिरे ।
अनुगृह्णीष्व मां वामे रामान्नास्ति भयं तव ॥ २८॥

तुम अपने पुत्र के लिये राज्य ले लो, किन्तु राम को घर ही रहने दो। हे वामे ! तुम मुझ पर कृपा करो, राम से तुम्हें कोई भय नहीं है॥२८॥

इत्युक्त्वाश्रुपरीताक्षः पादयोर्निपपात ह ।
कैकेयी प्रत्युवाचेदं सापि रक्तान्तलोचना ॥ २९॥

ऐसा कह कर महाराज दशरथ नेत्रों में जल भर कर कैकेयी के चरणों में गिर पड़े। तब कैकेयी आँखें लाल कर बोली- ॥२९॥

राजेन्द्र किं त्वं भ्रान्तोऽसि उक्तं तद्भाषसेऽन्यथा ।
मिथ्या करोषि चेत्स्वीयं भाषितं नरको भवहत् ॥ ३०॥

'राजेन्द्र ! क्या तुम्हारी बुद्धि में भ्रम हो गया है, जो अपने कथन के विपरीत बोल रहे हो; याद रखो, यदि तुमने अपनी प्रतिज्ञा भंग कर दी तो तुम्हें नरक भोगना पड़ेगा॥३०॥

वनं न गच्छेद्यदि रामचन्द्रः प्रभातकालेऽजिनचीरयुक्तः ।
उद्बन्धनं वा विषभक्षणं वा कृत्वा मरिष्ये पुरतस्तवाहम् ॥ ३१॥

सुनो, यदि कल प्रातःकाल ही मृगचर्म और वल्कल-वस्त्र धारण कर राम वन को न गये तो मैं तुम्हारे सामने ही फाँसी लगा कर या विष खाकर मर जाऊँगी ॥ ३१॥

सत्यप्रतिज्ञोऽहमितीह लोके विडम्बसे सर्वसभान्तरेषु ।
रामोपरि त्वं शपथं च कृत्वा मिथ्याप्रतिज्ञो नरकं प्रयाहि ॥ ३२॥

तुम संसार की सभी सभाओं में “मैं सत्यप्रतिज्ञ हूँ”, यह कहकर लोगों को धोखा देते हो, अब तुम राम की शपथ करके की हुई प्रतिज्ञा को भी तोड़ रहे हो, अतः तुम्हें नरक में जाना ही पड़ेगा" ॥३२॥

इत्युक्तः प्रियया दीनो मग्नो दुःखार्णवह नृपः ।
मूर्च्छितः पतितो भूमौ विसञ्ज्ञो मृतको यथा ॥ ३३॥

अपनी प्रिया के ऐसे कठोर वचन सुन कर महाराज दशरथ दुःख-समुद्र में डूबकर बड़े व्याकुल हो गये, और मृतक के समान मूर्छित और संज्ञाशून्य होकर पृथ्वी पर गिर पड़े ॥ ३३॥

एवं रात्रिर्गता तस्य दुःखात्संवत्सरोपमा ।
अरुणोदयकाले तु वन्दिनो गायका जगुः ॥ ३४॥

इस प्रकार अत्यन्त दुःख के कारण उनकी वह रात्रि एक वर्ष के समान बीती। इधर अरुणोदय होते ही गायक और वन्दीजन स्तुतिगान करने लगे॥३४॥

निवारयित्वा तान् सर्वान् कैकेयी रोषमास्थिता ।
ततः प्रभातसमये मध्यकक्षमुपस्थिताः ॥ ३५॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या ऋषयः कन्यकास्तथा ।
छत्रं च चामरं दिव्यं गजो वाजी तथैव च ॥ ३६॥

परन्तु कैकेयी उन सबको रोक कर क्रोध से बैठी हुई थी। तदनन्तर प्रातःकाल होने पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और ऋषिगण, कन्याएँ, दिव्य छत्र और चँवर तथा हाथी और घोड़े आदि सभी अभिषेकोपयोगी वस्तुएँ मध्य द्वार पर उपस्थित की गयीं ॥ ३५-३६॥

अन्याश्च वारमुख्या याः पौरजानपदास्तथा ।
वसिष्ठेन यथाज्ञप्तं तत्सर्वं तत्र संस्थितम् ॥ ३७॥

इनके अतिरिक्त वसिष्ठजी के आज्ञानुसार मुख्य-मुख्य वाराङ्गनायें तथा पुरवासी और जनपदवासी भी वहाँ उपस्थित हो गए ॥ ३७॥

स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च रात्रौ निद्रां न लेभिरे ।
कदा द्रक्ष्यामहे रामं पीतकौशेयवाससम् ॥ ३८॥

उस रात स्त्री, बालक और वृद्ध किसी को भी नींद नहीं आयी। सभी को यह आकांक्षा लगी रही कि हम रेशमी पीताम्बर पहने भगवान् राम को कब देखेंगे ॥ ३८॥

सर्वाभरणसम्पन्नं किरीटकटकोज्ज्वलम् ।
कौस्तुभाभरणं श्यामं कन्दर्पशतसुन्दरम् ॥ ३९॥

अभिषिक्तं समायातं गजारूढं स्मिताननम् ।
श्वेतच्छत्रधरं तत्र लक्ष्मणं लक्षणान्वितम् ॥ ४०॥

रामं कदा वा द्रक्ष्यामः प्रभातं वा कदा भवहत् ।
इत्युत्सुकधियः सर्वे बभूवुः पुरवासिनः ॥ ४१॥

जो समस्त आभूषणों से सुसज्जित, उज्ज्वल किरीट और कटक पहने हुए हैं तथा कौस्तुभमणि से विभूषित और सैकड़ों कामदेवों के समान सुन्दर श्यामवर्ण हैं। इस प्रकार सर्व-सुलक्षण-सम्पन्न श्रीलक्ष्मणजी जिनके ऊपर श्वेत छत्र लगाया हुआ है, ऐसे श्रीराम को राज्याभिषेक के अनन्तर मन्द मुसकान के सहित हाथी पर चढ़ कर आते हुए हम कब देखेंगे ? वह मंगल प्रभात कब होगा ? इस प्रकार सभी पुरवासियों का चित्त अति उत्कण्ठित हो रहा था ॥३९-४१ ॥

नेदानीमुत्थितो राजा किमर्थं चेति चिन्तयन् ।
सुमन्त्रः शनकैः प्रायाद्यत्र राजाऽवतिष्ठते ॥ ४२॥

इसी समय मन्त्रिवर सुमन्त्र यह सोच कर कि 'महाराज अभी तक कैसे नहीं उठे' धीरे से जहाँ राजा दशरथ थे, वहाँ गये ॥४२॥

वर्धयन् जयशब्देन प्रणमन् शिरसा नृपम् ।
अतिखिन्नं नृपं दृष्ट्वा कैकेयीं समपृच्छत ॥ ४३॥

वहाँ पहुंच कर उन्होंने जय-जयकार कर राजा को सिर झुका कर प्रणाम किया और उन्हें अत्यन्त खिन्न देख कर कैकेयी से पूछा- ॥४३॥

देवि कैकेयि वर्धस्व किं राजा दृश्यतेऽन्यथा ।
तमाह कैकेयी राजा रात्रौ निद्रां न लब्धवान् ॥ ४४॥

“देवि कैकेयी! आपका अभ्युदय हो, कहिये, आज महाराज अनमने कैसे दिखायी देते हैं ?" इस पर कैकेयी ने कहा-"आज महाराज को रात्रि में बिलकुल नींद नहीं आयी ॥४४॥

राम रामेति रामेति राममेवानुचिन्तयन् ।
प्रजागरेण वै राजा ह्यस्वस्थ इव लक्ष्यते ।
राममानय शीघ्रं त्वं राजा द्रष्टुमिहेच्छति ॥ ४५॥

रात्रि भर राम का चिन्तन करते हुए 'राम राम राम' ही रटते रहे हैं। इस प्रकार जागते रहने के कारण ही राजा कुछ अस्वस्थ से दिखायी देते हैं। महाराज राम को यहाँ देखना चाहते हैं, इसलिए तुम शीघ्र ही उन्हें बुलाओ॥ ४५॥

अश्रुत्वा राजवचनं कथं गच्छामि भामिनि ।
तच्छ्रुत्वा मन्त्रिणो वाक्यं राजा मन्त्रिणमब्रवीत् ॥ ४६॥

सुमन्त्र बोले-भामिनि ! महाराज की आज्ञा पाये बिना मैं कैसे जा सकता हूँ ? मन्त्री का यह वचन सुनकर महाराज बोले-॥ ४६॥

सुमन्त्र रामं द्रक्ष्यामि शीघ्रमानय सुन्दरम् ।
इत्युक्तस्त्वरितं गत्वा सुमन्त्रो राममन्दिरम् ॥ ४७॥

"सुमन्त्र ! मैं मनोहर मूर्ति राम को देखूँगा। तुम उन्हें शीघ्र ही ले आओ।" राजा के ऐसा कहते ही सुमन्त्र शीघ्र ही राम के महल में गये ॥ ४७ ॥

अवारितः प्रविष्टोऽयं त्वरितं राममब्रवीत् ।
शीघ्रमागच्छ भद्रं ते राम राजीवलोचन ॥ ४८॥

पितुर्गेहं मया सार्धं राजा त्वां द्रष्टुमिच्छति ।
इत्युक्तो रथमारुह्य सम्भ्रमात्त्वरितो ययौ ॥ ४९॥

वहाँ बिना रोक टोक के तुरन्त भीतर जाकर राम से बोले- “कमलनयन राम ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम शीघ्र ही मेरे साथ पिताजी के घर चलो, महाराज तुम्हारा दर्शन चाहते हैं।" यह सुनते ही राम चकित होकर शीघ्र ही रथ पर चढ़कर चल दिये ॥ ४८-४९॥

रामः सारथिना सार्धं लक्ष्मणेन समन्वितः ।
मध्यकक्षे वसिष्ठादीन् पश्यन्नेव त्वरान्वितः ॥ ५०॥

पितुः समीपं सङ्गम्य ननाम चरणौ पितुः ।
राममालिङ्गितुं राजा समुत्थाय ससम्भ्रमः ॥ ५१॥

बाहू प्रसार्य रामेति दुःखान्मध्ये पपात ह ।
हा हेति रामस्तं शीघ्रमालिङ्ग्याङ्के न्यवहशयत् ॥ ५२॥

सारथी और लक्ष्मण के सहित भगवान राम ने मध्य द्वार पर विराजमान वसिष्ठादि गुरुजनों का केवल दर्शन मात्र से ही सत्कार कर जल्दी से पिताजी के पास पहुंच कर उनके चरणों में प्रणाम किया। उस समय राम को गले लगाने के लिए ज्यों ही उठ कर महाराज दशरथ आवेग के साथ हाथ बढ़ाये कि वे बीच ही में दुःखपूर्वक 'हा राम ! हा राम !' कहते हुए गिर पड़े। तब रामचन्द्रजी ने हाहाकार करते हुए अति शीघ्रता से उन्हें गले लगाकर अपनी गोद में बैठा लिया ॥ ५०-५२ ॥

राजानं मूर्च्छितं दृष्ट्वा चुक्रुशुः सर्वयोषितः ।
किमर्थं रोदनमिति वसिष्ठोऽपि समाविशत् ॥ ५३॥

महाराज को मूर्छित देख कर रनिवास की समस्त महिलायें रोने लगीं। तब यह सोच कर कि "यह रुदन क्यों हो रहा है ?" वहाँ वसिष्ठ जी भी चले आये ॥ ५३॥

रामः पप्रच्छ किमिदं राज्ञो दुःखस्य कारणम् ।
एवं पृच्छति रामे सा कैकेयी राममब्रवीत् ॥ ५४॥

भगवान् राम ने कैकेयी से पूछा-"महाराज के इस दुःख का क्या कारण है ?" उनके इस प्रकार पूछने पर कैकेयी बोली-॥ ५४॥

त्वमेव कारणं ह्यत्र राज्ञो दुःखोपशान्तये ।
किञ्चित्कार्यं त्वया राम कर्तव्यं नृपतेर्हितम् ॥ ५५॥

हे राम ! महाराज के इस दुःख के कारण तुम ही हो, तुम्हें उनके दुःख को शान्त करने के लिए उनका कुछ प्रिय कार्य करना होगा ॥ ५५ ॥

कुरु सत्यप्रतिज्ञस्त्वं राजानं सत्यवादिनम् ।
राज्ञा वरद्वयं दत्तं मम सन्तुष्टचेतसा ॥ ५६॥

तुम सत्य प्रतिज्ञ हो, महाराज को सत्यवादी बनाओ! उन्होंने प्रसन्न होकर मुझे दो वर दिये हैं ॥ ५६ ॥

त्वदधीनं तु तत्सर्वं वक्तुं त्वां लज्जते नृपः ।
सत्यपाशेन सम्बद्धं पितरं त्रातुमर्हसि ॥ ५७॥

किन्तु उनकी सफलता तुम्हारे हो अधीन है। महाराज को तो तुमसे कहने में संकोच मालूम होता है; किन्तु तुम्हें सत्यपाश में बँधे हुए अपने पिताजी की अवश्य रक्षा करनी चाहिए ॥ ५७ ॥

पुत्रशब्देन चैतद्धि नरकात्त्रायते पिता ।
रामस्तयोदितं श्रुत्वा शूलेनाभिहतो यथा ॥ ५८॥

व्यथितः कैकेयीं प्राह किं मामेवं प्रभाषसे ।
पित्रर्थे जीवितं दास्ये पिबेयं विषमुल्बणम् ॥ ५९॥

क्योंकि 'पुत्र' शब्द का अर्थ ही यह है कि जो पिता की नरक से रक्षा करता है। कैकेयी की बातें सुन कर श्रीराम शूल से विद्ध हुए के समान व्यथित होकर बोले-"मातः ! आज मुझसे ऐसी बातें क्यों करती हो ? पिताजी के लिए तो मैं जीवन भी दे सकता हूँ, भयंकर विष का पान कर कता हूँ॥५८-५९॥

सीतां त्यक्ष्येऽथ कौसल्यां राज्यं चापि त्यजाम्यहम् ।
अनाज्ञप्तोऽपि कुरुते पितुः कार्यं स उत्तमः ॥ ६०॥

तथा सीता, कौसल्या और राज्य को भी छोड़ सकता हूँ। जो पुत्र पिता की आज्ञा के विना ही उनका अभीष्ट कार्य करता है, वह उत्तम पुत्र है॥ ६० ॥

उक्तः करोति यः पुत्रः स मध्यम उदाहृतः ।
उक्तोऽपि कुरुते नैव स पुत्रो मल उच्यते ॥ ६१॥

जो पुत्र पिता के कहने पर कार्य करता है वह मध्यम और जो पुत्र कहने पर भी नहीं करता है वह तो मल के समान है ॥ ६१॥

अतः करोमि तत्सर्वं यन्मामाह पिता मम ।
सत्यं सत्यं करोम्येव रामो द्विर्नाभिभाषते ॥ ६२॥

अतः पिताजी ने मेरे लिए जो कुछ आज्ञा दी है उसे मैं अवश्य पूर्ण करूँगा, यह सर्वथा सत्य है; राम दो बात कभी नहीं कहता" ॥२॥

इति रामप्रतिज्ञां सा श्रुत्वा वक्तुं प्रचक्रमे ।
राम त्वदभिषेकार्थं सम्भाराः सम्भृताश्च यह ॥ ६३॥

तैरेव भरतोऽवश्यमभिषेच्यः प्रियो मम ।
अपरेण वरेणाशु चीरवासा जटाधरः ॥ ६४॥

वनं प्रयाहि शीघ्रं त्वमद्यैव पितुराज्ञया ।
चतुर्दश समास्तत्र वस मुन्यन्नभोजनः ॥ ६५॥

राम की यह प्रतिज्ञा सुनकर कैकेयी बोली-हे राम ! तुम्हारे अभिषेक के लिये जो सामग्री एकत्रित की गयी है, उसके द्वारा मेरे प्रिय पुत्र भरत का अभिषेक हो; यह मेरा प्रथम वर है तथा अपनी पिता की आज्ञा से आज शीघ्र ही तुम वल्कल-वस्त्र और जटा धारण कर वन को जाओ यह मेरा द्वितीय वर है। वहाँ तुम मुनिजनोचित भोजन करते हुए चौदह वर्ष तक निवास करो ॥ ६३-६५॥

एतदेव पितुस्तेऽद्य कार्यं त्वं कर्तुमर्हसि ।
राजा तु लज्जते वक्तुं त्वामेवं रघुनन्दन ॥ ६६॥

तुम्हारे पिता का केवल यही कार्य है, जिसे तुम्हें पूर्ण करना चाहिये। इन सभी बातों को राजा तुमसे कहने में संकोच करते हैं ॥६६॥

श्रीराम उवाच
भरतस्यैव राज्यं स्यादहं गच्छामि दण्डकान् ।
किन्तु राजा न वक्तीह मां न जानेऽत्र कारणम् ॥ ६७॥

श्रीरामचन्द्रजी बोले- मातः!इस राज्य का उपभोग भरत आनन्दपूर्वक करें मैं अभी दण्डकारण्य जाता हूँ। परन्तु महाराज मुझसे क्यों नहीं कहते, इसका कारण ज्ञात नहीं होता ॥ ६७ ॥

श्रुत्वैतद्रामवचनं दृष्ट्वा रामं पुरः स्थितम् ।
प्राह राजा दशरथो दुःखितो दुःखितं वचः ॥ ६८॥

दुःखातुर महाराज दशरथ राम का यह वचन सुनकर उन्हें अपने सामने बैठे देख दुःखपूर्ण वचन बोले ॥ ६८ ॥

स्त्रीजितं भ्रान्तहृदयमुन्मार्गपरिवर्तिनम् ।
निगृह्य मां गृहाणेदं राज्यं पापं न तद्भवहत् ॥ ६९॥

हे राम ! स्त्री के वशिभूत, भ्रमित बुद्धिवाला, कुमार्गगामी मुझ पापात्मा को बाँधकर यह राज्य ले लो; इसमें तुम्हें कोई पाप नहीं लगेगा ॥६९॥

एवं चेदनृतं नैव मां स्पृशेद्रघुनन्दन ।
इत्युक्त्वा दुःखसन्तप्तो विललाप नृपस्तदा ॥ ७०॥

हे राम! ऐसा होने पर मुझे असत्य भी नहीं छू सकेगा। यह कहकर राजा दशरथ दुःखी होकर विलाप करने लगे ॥ ७० ॥

हा राम हा जगन्नाथ हा मम प्राणवल्लभ ।
मां विसृज्य कथं घोरं विपिनं गन्तुमर्हसि ॥ ७१॥

हे राम ! हा जगन्नाथ ! हा प्राणवल्लभ ! मुझे छोड़कर तुम घोरजंगल में जाना उचित कैसे समझ रहे हो ॥६१॥

इति रामं समालिङ्ग्य मुक्तकण्ठो रुरोद ह ।

विमृज्य नयने रामः पितुः सजलपाणिना ॥ ७२॥

यह कर राम को गले लगाकर मुक्त कण्ठ से रुदन करने लगे। तदनन्तर राम ने हाथ में जल लेकर पिता के अश्रूजल को पोंछा छे ॥७२॥

आश्वासयामास नृपं शनैः स नयकोविदः ।
किमत्र दुःखेन विभो राज्यं शासतु मेऽनुजः ॥ ७३॥

नीतिकुशल श्रीरामचन्द्र ने धीरे-धीरे राजा को धर्य धारण कराया। वे बोले-प्रभो! मेरे लघुभ्राता शासन करें इसमें दुःख क्या है? ॥७३॥

अहं प्रतिज्ञां निस्तीर्य पुनर्यास्यामि ते पुरम् ।
राज्यात्कोटिगुणं सौख्यं मम राजन् वने सतः ॥ ७४॥

मैं प्रतिज्ञा का पालन कर आपके समीप अयोध्या वापस लौट आऊँगा। हे राजन् ! जंगल में रहने पर मुझे राज्य से भी कोटि गुणा अधिक सुख प्राप्त होगा ॥ ७४ ॥

त्वत्सत्यपालनं देव कार्यं चापि भविष्यति ।
कैकेय्याश्च प्रियो राजन् वनवासो महागुणः ॥ ७५॥

इसमें आपके सत्य की रक्षा, देवताओं के कार्य की सिद्धि और कैकेयी का भी प्रिय होगा। अतः हे राजन् ! वन में निवास करने में सभी प्रकार से महान् गुण है ॥ ७५ ॥

इदानीं गन्तुमिच्छामि व्येतु मातुश्च हृज्ज्वरः ।

सम्भारश्चोपह्रीयन्तामभिषेकार्थमाहृताः ॥ ७६॥

माता कैकेयी की अन्तःकरण की व्यथा शान्त हो, मैं शीघ्र ही जाना चाहता हूँ। अभिषेक के लिये सम्पूर्ण सामग्री अलग रख दी जाय ॥७६॥

मातरं समनुश्वास्य अनुनीय च जानकीम् ।
आगत्य पादौ वन्दित्वा तव यास्ये सुखं वनम् ॥ ७७॥

माता कौसल्या को सान्त्वना देकर और जानकी जी को आश्वस्त करके मैं आकर आपके चरणों की वन्दना कर आनन्द पूर्वक वन में जाऊँगा ॥ ७७ ॥

इत्युक्त्वा तु परिक्रम्य मातरं द्रष्टुमाययौ ।
कौसल्यापि हरेः पूजां कुरुते रामकारणात् ॥ ७८॥

यह कह कर श्री राम ने पिता की परिक्रमा की तथा माता से मिलने के लिये आये। इस समय माता कौसल्या राम के मङ्गल के लिये श्री विष्णुभगवान की पूजा कर रहीं थीं ॥ ७८ ॥

होमं च कारयामास ब्राह्मणेभ्यो ददौ धनम् ।
ध्यायते विष्णुमेकाग्रमनसा मौनमास्थिता ॥ ७९॥

उन्होंने हवन तथा अन्य कार्य करवा कर ब्राह्मणों को अत्यधिक धन दान किया था और उस समय वह मौन धारण कर एकाग्रचित्त हो श्रीविष्णुभरावान् का ध्यान कर रहीं थीं ॥ ७९॥

अन्तःस्थमेकं घनचित्प्रकाशं निरस्तसर्वातिशयस्वरूपम् ।
विष्णुं सदानन्दमयं हृदब्जे सा भावयन्ती न ददर्श रामम् ॥ ८०॥

अपने हृदय में अन्तर्यामी, चिघनस्वरूप, तेजोमय, निरतिशयस्वरूप, सदानन्दमय भगवान् विष्णु का ध्यान करती रहने के कारण वह श्रीरामचन्द्रजी को नहीं देख सकीं ॥ ८० ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे
अयोध्याकाण्डे तृतीयः सर्गः ॥ ३॥

॥ चतुर्थः सर्गः ॥

भगवान् रामका माता से विदा होना तथा सीता और लक्ष्मण के साथ वन गमन की तैयारी करना

ततः सुमित्रा दृष्ट्वैनं रामं राज्ञीं ससम्भ्रमा ।
कौसल्यां बोधयामास रामोऽयं समुपस्थितः ॥ १॥

श्रीमहादेवजी बोले-हे पार्वती ! उस समय महारानी सुमित्रा ने राम को देखकर सावधानी पूर्वक महारानी कौसल्या को सचेत् कर बताया कि यह राम आप के सामने उपस्थित हैं ॥१॥

श्रुत्वैव रामनामैषा बहिर्दृष्टिप्रवाहिता ।
रामं दृष्ट्वा विशालाक्षमालिङ्ग्याङ्के न्यवहशयत् ॥ २॥

मूर्ध्न्यवघ्राय पस्पर्श गात्रं नीलोत्पलच्छवि ।
भुङ्क्ष्व पुत्रेति च प्राह मिष्टमन्नं क्षुधार्दितः ॥ ३॥

राम का नाम सुनकर कौसल्या की बहिर्दृष्टि हुई और उन्होंने विशाल लोचन श्रीराम को देखकर उनका आलिंगन किया तथा गोद बैठाकर उनका सिर सूंघने के पश्च्यात उनके नीलकमल तुल्य श्यामल गाल हाथ फेर कर बोलीं-बेटा ! भूख लगी होगी, कुछ मिष्ठान्न खा लो ॥२-३॥

रामः प्राह न मे मातर्भोजनावसरः कुतः ।
दण्डकागमने शीघ्रं मम कालोऽद्य निश्चितः ॥ ४॥

श्रीरामजी ने कहा माता मुझे भोजन करने का समय कहाँ है; क्योंकि मेरा आज शीघ्र ही दण्कारण्य जाने का समय निश्चित हुआ है ॥४॥

कैकेयीवरदानेन सत्यसन्धः पिता मम ।
भरताय ददौ राज्यं ममाप्यारण्यमुत्तमम् ॥ ५॥

कैकेयी को वरदान देकर सत्यसन्ध मेरे पिता ने भरत को राज्य और मुझे अत्युत्तम दण्कारण्य दिया है ॥५॥

चतुर्दश समास्तत्र ह्युषित्वा मुनिवहषधृक् ।
आगमिष्ये पुनः शीघ्रं न चिन्तां कर्तुमर्हसि ॥ ६॥

वहाँ मुनि का वेष धारण कर मैं चौदह वर्ष निवास कर शीघ्र ही लौटकर आऊँगा, आपको किसी भी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिए ॥ ६॥

तच्छ्रुत्वा सहसोद्विग्ना मूर्च्छिता पुनरुत्थिता ।
आह रामं सुदुःखार्ता दुःखसागरसम्प्लुता ॥ ७॥

अचानक यह सुनकर माता कौसल्या दुःख से मूर्छित हो गयीं और मूर्छा समाप्त होने पर दुःख सागर में ड्बती-उतरती, दुःख से व्याकुल होकर, राम से बोलीं ॥७॥

यदि राम वनं सत्यं यासि चेन्नय मामपि ।
त्वद्विहीना क्षणार्धं वा जीवितं धारये कथम् ॥ ८॥

हे राम! यदि सचमुच तुम वन जाते हो तो अपने साथ मुझे भी ले चलो, तुम्हारे बिना मैं आधा क्षण भी कैसे जीवित रह सकती हूँ॥८॥

यथा गौर्बालकं वत्सं त्यक्त्वा तिष्ठेन्न कुत्रचित् ।
तथैव त्वां न शक्नोमि त्यक्तुं प्राणात्प्रियं सुतम् ॥ ९॥

जिस प्रकार अपने छोटे बछड़े को छोड़कर गौ अन्यत्र नहीं रह सकती, उसी प्रकार अपने प्राणप्रिय पुत्र तुमको छोड़कर मैं भी नहीं रह सकती ॥ ९॥

भरताय प्रसन्नश्चेद्राज्यं राजा प्रयच्छतु ।
किमर्थं वनवासाय त्वामाज्ञापयति प्रियम् ॥ १०॥

राजा यदि भरत पर प्रसन्न हैं तो उन्हें राज्य दें किन्तु तुझे प्रिय पुत्र को वनवास की आज्ञा क्यों देते हैं ॥ १०॥

कैकेय्या वरदो राजा सर्वस्वं वा प्रयच्छतु ।
त्वया किमपराद्धं हि कैकेय्या वा नृपस्य वा ॥ ११॥

कैकेयी को वरदान देकर महाराज भले ही अपना सर्वस्व अर्पण कर दें, किन्तु तुमने महाराज अथवा कैकेयी का क्या अहित किया है? अर्थात् तुम्हारा क्या अपराध है जो तुम्हे वनवास की आज्ञा दी गयी है ॥११॥

पिता गुरुर्यथा राम तवाहमधिका ततः ।
पित्राऽऽज्ञप्तो वनं गन्तुं वारयेयमहं सुतम् ॥ १२॥

हे राम ! जिस प्रकार पिता तुम्हारे गुरु हैं, उसी प्रकार उनसे अधिक मैं तुम्हारी गुरु हूँ। पिता ने यदि तुम्हे वनगमन की आज्ञा दी है, तो मैं तुम्हें वन न जाने की आज्ञा देती हूँ ॥ १२॥

यदि गच्छसि मद्वाक्यमुल्लङ्घ्य नृपवाक्यतः ।
तदा प्राणान् परित्यज्य गच्छामि यमसादनम् ॥ १३॥

यदि तुम मेरी आज्ञा की अवहेलना करके और महाराज की आज्ञा मानकर वन में चले जाओगे, तो मैं अपने प्राणों का परित्याग कर यमपुर को चली जाऊँगी ॥ १३ ॥

लक्ष्मणोऽपि ततः श्रुत्वा कौसल्यावचनं रुषा ।
उवाच राघवं वीक्ष्य दहन्निव जगत्त्रयम् ॥ १४॥

तदनन्तर कौशल्या की बात सुनकर रामजी की ओर देखकर
लक्ष्मण रोषपूर्वक जैसे त्रिलोकी को दग्ध करते हुए बोले ॥१४॥

उन्मत्तं भ्रान्तमनसं कैकेयीवशवर्तिनम् ।
बद्ध्वा निहन्मि भरतं तद्बन्धून्मातुलानपि ॥ १५॥

मैं उन्मत्त, भ्रान्तचित्त और कैकेयी के वशवर्ती राजा दशरथ को बाँधकर और भरत को उनके सहायक बन्धु एवं मामा सहित मार डालूंगा ॥१५॥

अद्य पश्यन्तु मे शौर्यं लोकान् प्रदहतः पुरा ।
राम त्वमभिषेकाय कुरु यत्नमरिन्दम ॥ १६॥

धनुष्पाणिरहं तत्र निहन्यां विघ्नकारिणः ।
इति ब्रुवन्तं सौमित्रिमालिङ्ग्य रघुनन्दनः ॥ १७॥

आज सम्पूर्ण लोकों को दग्ध करने वाले, कालानल के समान मेरे पौरुष को आप सब लोग देख लें। हे अरिन्दम राम! आप अभिषेक के लिए तैयारी कीजिये। इस कार्य में विघ्न डालने वालों को मैं हाथ में धनुष बाण लेकर मार डालूंगा। इस प्रकार लक्ष्मण जी के कहने पर श्रीरघुनाथजी उन्हें आलिंगन कर बोले ॥१६-१७॥

शूरोऽसि रघुशार्दूल ममात्यन्तहिते रतः ।
जानामि सर्वं ते सत्यं किन्तु तत्समयो न हि ॥ १८॥

हे रघुशार्दूल! तुम शूरवीर और मेरे परम हितकारी हो। तुम जो भी कहते हो वह सब मैं सत्य मानता हूँ, किन्तु यह समय वैसा नहीं है ॥ १८॥

यदिदं दृश्यते सर्वं राज्यं देहादिकं च यत् ।
यदि सत्यं भवहत्तत्र आयासः सफलश्च ते ॥ १९॥

यह जो राज्य और देश दिखाई पड़ते हैं, वह सभी सत्य होते तो तुम्हारा परिश्रम सफल होता ॥ १९ ॥

भोगा मेघवितानस्थविद्युल्लेखेव चञ्चलाः ।
आयुरप्यग्निसन्तप्तलोहस्थजलबिन्दुवत् ॥ २०॥

परन्तु यह भोग मेघ रूपी वितान में चमकती हुई विद्युत् के समान चञ्चल हैं, तथा आयु भी अग्नि में सन्तप्त लोहे पर पड़ी हुई जल-कण के समान क्षणिक है ॥२०॥

यथा व्यालगलस्थोऽपि भेको दंशानपेक्षते ।
तथा कालाहिना ग्रस्तो लोको भोगानशाश्वतान् ॥ २१॥

जिस प्रकार सर्प के मुख में, आहार रूप से पड़ा हुआ मेढक, मच्छरों को खाने के लिए देखता रहता है उसी प्रकार काल रूप सर्प से ग्रस्त हुआ प्राणी भी नाशवान भोगों को चाहता रहता है ॥२१॥

करोति दुःखेन हि कर्मतन्त्रं
शरीरभोगार्थमहर्निशं नरः ।
देहस्तु भिन्नः पुरुषात्समीक्ष्यते
को वात्र भोगः पुरुषेण भुज्यते ॥ २२॥

यह कैसा आश्चर्य है कि शरीर के भोगों के लिए प्राणी अहर्निश अत्यन्त कष्टों का सहन कर अनेक प्रकार की क्रियायें करता है। परन्तु यदि यह समझ ले कि शरीर आत्मा से भिन्न है तो पुनः पुरुष किस प्रकार भोगों को भोग सकता है ? ॥ २२॥

पितृमातृसुतभ्रातृदारबन्ध्वादिसङ्गमः ।
प्रपायामिव जन्तूनां नद्यां काष्ठौघवच्चलः ॥ २३॥

पिता, माता, पुत्र, भाई, स्त्री और बन्धु-बान्धवों का संयोग तो पनघट पर एकत्रित हुए जीवों अथवा नदी प्रवाह से एकत्रित हुई लकड़ियों की भाँति चञ्चल है ॥२३॥

छायेव लक्ष्मीश्चपला प्रतीता
तारुण्यमम्बूर्मिवदध्रुवं च ।
स्वप्नोपमं स्त्रीसुखमायुरल्पं
तथापि जन्तोरभिमान एषः ॥ २४॥

छाया के समान लक्ष्मी चञ्चला और यह यौवन जल-तरंग के समान अनित्य है, स्त्री सुख स्वप्न के समान मिथ्या और आयु अत्यल्प है। परन्तु फिर भी प्राणियों को इन भोगों में कितना अभिमान है ॥ २४ ॥

संसृतिः स्वप्नसदृशी सदा रोगादिसङ्कुला ।
गन्धर्वनगरप्रख्या मूढस्तामनुवर्तते ॥ २५॥

यह संसार सदा रोगादि की संसृति तथा स्वप्न और गन्धर्व नगर के समान मिथ्या है, परन्तु मूढजन इसको सत्य समझ कर इसका अनुवर्तन करते हैं ॥ २५ ॥

आयुष्यं क्षीयते यस्मादादित्यस्य गतागतैः ।
दृष्ट्वान्येषां जरामृत्यू कथञ्चिन्नैव बुध्यते ॥ २६॥

नित्य प्रति सूर्य के उदयास्त से आयु क्षीण हो रही है, तथा नित्य दूसरों की वृद्धावस्था और मृत्यु देखने पर भी मूढजनों को किसी प्रकार की चेतना नहीं होती ॥२६ ॥

स एव दिवसः सैव रात्रिरित्येव मूढधीः ।
भोगाननुपतत्येव कालवहगं न पश्यति ॥ २७॥

नित्य उसी प्रकार दिन और रात्रि होते हैं, परन्तु मूढ बुद्धी प्राणी भोगों के पीछे दौड़ते रहते हैं। काल की गति को कोई नहीं देखता ॥२७॥

प्रतिक्षणं क्षरत्येतदायुरामघटाम्बुवत् ।
सपत्ना इव रोगौघाः शरीरं प्रहरन्त्यहो ॥ २८॥

कच्चे घड़े में जल भरने के समान प्रतिक्षण आयु क्षीण हो रही है तथा रोगसमूह शत्रुओं के समान शरीर को कष्ट कर रहे हैं ॥२८॥

जरा व्याघ्रीव पुरतस्तर्जयन्त्यवतिष्ठते ।
मृत्युः सहैव यात्येष समयं सम्प्रतीक्षते ॥ २९॥

वृद्धावस्था व्याघ्री के समान तर्जना करती हुई सामने खड़ी है और मृत्यु भी उसके साथ ही चलती हुई समय की प्रतीक्षा कर रही है ॥ २९ ॥

देहेऽहम्भावमापन्नो राजाहं लोकविश्रुतः ।
इत्यस्मिन्मनुते जन्तुः कृमिविड्भस्मसञ्ज्ञिते ॥ ३०॥

परन्तु शरीर में ‘अहं’ भाव करने वाला जीव इस कृमि, विष्ठा और भस्मरूप शरीर को यह लोक प्रसिद्ध राजा हूँ यह मानता है ॥३०॥

त्वगस्थिमान्सविण्मूत्ररेतोरक्तादिसंयुतः ।
विकारी परिणामी च देह आत्मा कथं वद ॥ ३१॥

यमास्थाय भवाँल्लोकं दग्धुमिच्छति लक्ष्मण ।

देहाभिमानिनः सर्वे दोषाः प्रादुर्भवन्ति हि ॥ ३२॥

हे लक्ष्मण ! तुम सोच समझ कर बताओ कि जिसके द्वारा तुम संसार को भस्म करना चाहते हो, वह त्वचा, अस्थि, मांस, शुक्र, विष्ठा, मूत्र तथा रुधिर आदि से निर्मित विकारी और परिणामी यह देह आत्मा किस प्रकार हो सकता है ? हे भाई ! इस देह में अभिमान रखने वाले पुरुष में ही सम्पूर्ण दोष प्रकट होते हैं ॥३१-३२॥

देहोऽहमिति या बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्तिता ।
नाहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते ॥ ३३॥

मैं देह हूँ, इस तरह की बुद्धि का नाम अविद्या है; तथा मैं देह नहीं चेतन आत्मा हूँ इसको ही विद्या कहते हैं ॥३३॥

अविद्या संसृतेर्हेतुर्विद्या तस्या निवर्तिका ।
तस्माद्यत्नः सदा कार्यो विद्याभ्यासे मुमुक्षुभिः ।
कामक्रोधादयस्तत्र शत्रवः शत्रुसूदन ॥ ३४॥

इस जन्म मरण रूपी संसार में अविद्या ही कारण है और विद्या उसको निवृत्त करने वाली है। अत: मोक्षार्थियों को हमेशा विद्या उपार्जित करने का प्रयास करना चाहिये। हे शत्रसूदन ! काम, क्रोध आदि इस साधन में विघ्न उत्पन्न करने वाले शत्रु हैं ॥३४॥

तत्रापि क्रोध एवालं मोक्षविघ्नाय सर्वदा ।
येनाविष्टः पुमान् हन्ति पितृभ्रातृसुहृत्सखीन् ॥ ३५॥

काम-क्रोधादि विकारों में से मोक्ष प्राप्ति में बाधा उत्पन्न करने के लिये तो केवल क्रोध ही पर्याप्त है, जिसका आवेश होने से प्राणी पिता, माता, सुहृद, बन्धु-बान्धव आदि का भी वध कर देता है ॥३५॥

क्रोधमूलो मनस्तापः क्रोधः संसारबन्धनम् ।
धर्मक्षयकरः क्रोधस्तस्मात्क्रोधं परित्यज ॥ ३६॥

मन के सन्ताप का मूल कारण क्रोध ही है। क्रोध ही संसार का बन्धन तथा धर्म का नाश करने वाला है। अत एव तुम क्रोध का त्याग करो ॥३६ ॥

क्रोध एष महान् शत्रुस्तृष्णा वैतरणी नदी ।
सन्तोषो नन्दनवनं शान्तिरेव हि कामधुक् ॥ ३७॥

यह क्रोध महान् शत्रु है, तृष्णा वैतरणी नदी, सन्तोष नन्दनवन तथा शान्ति ही कामधेनु है ॥३७॥

तस्माच्छान्तिं भजस्वाद्य शत्रुरेवं भवहन्न ते ।
देहेन्द्रियमनःप्राणबुद्ध्यादिभ्यो विलक्षणः ॥ ३८॥

आत्मा शुद्धः स्वयञ्ज्योतिरविकारी निराकृतिः ।
यावद्देहेन्द्रियप्राणैर्भिन्नत्वं नात्मनो विदुः ॥ ३९॥

तावत्संसारदुःखौघैः पीड्यन्ते मृत्युसंयुताः ।
तस्मात्त्वं सर्वदा भिन्नमात्मानं हृदि भावय ॥ ४०॥

बुद्ध्यादिभ्यो बहिः सर्वमनुवर्तस्व मा खिदः ।

भुञ्जन् प्रारब्धमखिलं सुखं वा दुःखमेव वा ॥ ४१॥

अत: तुम शान्ति धारण करो, इससे क्रोध रूपी शत्रु का कोई प्रभाव तुम पर नहीं होगा। यह आत्मा देह, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धि आदि से पृथक् तथा शुद्ध, स्वयं प्रकाश अविकारी और निराकार है। जब तक प्राणी देह, इन्द्रिय और प्राण आदि से आत्मा को पृथक् नहीं जानते तब तक वह मृत्यु के जाल में बंधकर सांसारिक दुःखों से पीड़ित होते रहते हैं। अत: तुम सर्वदा अपने हृदय में बुद्धि आदि से आत्मा को भिन्न अनुभव करो, इस सम्पूर्ण बाह्य जगत् के व्यवहार का अनुवर्तन करो और सुख तथा दुःख प्रारब्ध के अनुसार भोगते हुए मन में दुःख मत समझो ॥ ३८-४१ ॥

प्रवाहपतितं कार्यं कुर्वन्नपि न लिप्यसे ।
बाह्ये सर्वत्र कर्तृत्वमावहन्नपि राघव ॥ ४२॥

हे रघुपुत्र! बाहर से कर्तृत्व प्रकट करते हुए प्रारब्धवश उपस्थित कार्य को करते रहने से तुम बन्धन में नहीं बंधोगे ॥ ४२ ॥

अन्तःशुद्धस्वभावस्त्वं लिप्यसे न च कर्मभिः ।
एतन्मयोदितं कृत्स्नं हृदि भावय सर्वदा ॥ ४३॥

अन्तःकरण में रागद्वेष रहित और शुद्ध स्वभाव रहने के कारण तुम कर्मों से लिप्त नहीं होगे। इन बातों पर तुम सर्वदा अपने हृदय में विचार करो॥४३॥

संसारदुःखैरखिलैर्बाध्यसे न कदाचन ।
त्वमप्यम्ब ममाऽऽदिष्टं हृदि भावय नित्यदा ॥ ४४॥

समागमं प्रतीक्षस्व न दुःखैः पीड्यसे चिरम् ।
न सदैकत्र संवासः कर्ममार्गानुवर्तिनाम् ॥ ४५॥

यह करने पर तुम सम्पूर्ण सांसारिक दुःखों से कभी बाधित नहीं होगे। हे मात ! तुम भी इस कथन पर नित्य विचार करना और मेरे पुनः मिलने की प्रतीक्षा करती रहना। ऐसा करने से तुम्हे अधिक समय दुःख नहीं होगा। कर्म के बन्धन में फंसे हुए जीवों का सदा एक ही साथ रहना-सहना नहीं हुआ करता ॥ ४४-४५॥

यथा प्रवाहपतितप्लवानां सरितां तथा ।
चतुर्दशसमा सङ्ख्या क्षणार्द्धमिव जायते ॥ ४६॥

अनुमन्यस्व मामम्ब दुःखं सन्त्यज्य दूरतः ।
एवं चेत्सुखसंवासो भविष्यति वने मम ॥ ४७॥

नदी के प्रवाह में पड़ी हुई बहती नौका सदा साथ-साथ नहीं चलती। हे मातः ! यह चतुर्दश वर्ष की अवधि आधे क्षण के समान व्यतीत हो जायेगी। अब आप दुःख दूर करके हमें वन जाने की अनुमति दीजिये। आपके ऐसा करने से मैं वन में सुखपूर्वक रह सकूँगा ॥ ४६-४७ ॥

इत्युक्त्वा दण्डवन्मातुः पादयोरपतच्चिरम् ।
उत्थाप्याङ्के समावहश्य आशीर्भिरभ्यनन्दयत् ॥ ४८॥

यह कह कर श्रीरामचन्द्र जी बहुत देर तक दण्ड के समान माता के चरणों में पड़े रहे। तत्पश्चात् माता ने उन्हें उठाकर गोद में बैठा लिया और आशीर्वाद देकर उनकी प्रशंसा की ॥४८॥

सर्वे देवाः सगन्धर्वा ब्रह्मविष्णुशिवादयः ।
रक्षन्तु त्वां सदा यान्तं तिष्ठन्तं निद्रया युतम् ॥ ४९॥

वे बोली तुम्हारे चलते, बैठते अथवा सोते समय गन्धर्वों सहित ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि सम्पूर्ण देवगण तुम्हारी सर्वदा रक्षा करें ॥४९॥

इति प्रस्थापयामास समालिङ्ग्य पुनः पुनः ।
लक्ष्मणोऽपि तदा रामं नत्वा हर्षाश्रुगद्गदः ॥ ५०॥

आह राम ममान्तःस्थः संशयोऽयं त्वया हृतः ।
यास्यामि पृष्ठतो राम सेवां कर्तुं तदादिश ॥ ५१॥

इस प्रकार बारम्बार हृदय से लगाकर माता ने श्रीराम को विदा किया। तदनन्तर लक्ष्मण जी श्रीरामजी से आँखों में आनन्द के आंसू भर कर गद्गद् वाणी से बोले-हे राम ! आपने मेरा आन्तरिक सन्देह दूर कर दिया। अब मैं आपकी सेवा करने के लिये आपके पीछे-पीछे चलूंगा। यह करने की आप मुझे आज्ञा दीजिये ॥ ५०-५१॥

अनुगृह्णीष्व मां राम नोचेत्प्राणान्स्त्यजाम्यहम् ।
तथेति राघवोऽप्याह लक्ष्मणं याहि मा चिरम् ॥ ५२॥

हे प्रभो! आप मुझ पर कृपा कीजिये, नहीं तो मैं प्राण छोड़ दूंगा। तत्पश्चात् श्रीरघुनाथजी ने लक्ष्मणजी से कहा बहुत अच्छा, चलो देर न करो ॥५२॥

प्रतस्थे तां समाधातुं गतः सीतापतिर्विभुः।
आगतं पतिमालोक्य सीता सुस्मितभाषिणी ॥ ५३॥

स्वर्णपात्रस्थसलिलैः पादौ प्रक्षाल्य भक्तितः ।
पप्रच्छ पतिमालोक्य देव किं सेनया विना ॥ ५४॥

आगतोऽसि गतः कुत्र श्वेतच्छत्रं च ते कुतः ।
वादित्राणि न वाद्यन्ते किरीटादिविवर्जितः ॥ ५५॥

और सीतापति भगवान् राम सीताजी को समझाने के लिये अपने महल में गये। तब मधुर मुस्कानपूर्वक बोलने वाली श्रीसीताजी ने पतिदेव को आते देखकर एक सुवर्ण पात्र में जल लेकर भक्तिपूर्वक उनके चरणों को धोया और अपने स्वामी की ओर देखते हुए पूछी- देव ! इस समय बिना सेना के आप कैसे आये हैं? आप प्रातःकाल कहाँ गये थे? आपका श्वेत छत्र कहाँ है? बाजों का बजना क्यों बन्द हो गया है? आप किरीटादि राजोचित आभूषणों से क्यों रहित हैं ? ॥ ५३-५५॥

सामन्तराजसहितः सम्भ्रमान्नागतोऽसि किम् ।
इति स्म सीतया पृष्टो रामः सस्मितमब्रवीत् ॥ ५६॥

आप मन्त्री और राजाओं के साथ अत्यनत शोभा पूर्वक क्यों नहीं आये ? सीताजी के यह प्रश्न पूछने पर श्रीरामचन्द्र जी मुसकराकर बोले ॥५६॥

राज्ञा मे दण्डकारण्ये राज्यं दत्तं शुभेऽखिलम् ।
अतस्तत्पालनार्थाय शीघ्रं यास्यामि भामिनि ॥ ५७॥

हे शुभे! पिताजी ने मुझे दण्डकारण्य का सम्पूर्ण राज्य दे दिया है, अतः हे भामिनि ! मैं शीघ्र ही उनकी आज्ञा का पालन करने के लिये वहाँ जाऊँगा ॥५७॥

अद्यैव यास्यामि वनं त्वं तु श्वश्रूसमीपगा ।
शुश्रूषां कुरु मे मातुर्न मिथ्यावादिनो वयम् ॥ ५८॥

मैं आज ही वन जाऊँगा। तुम अपनी सास के पास जाकर उनकी सेवा शुश्रूषा में रहो। मैं असत्य नहीं बोलता ॥ ५८ ॥

इति ब्रुवन्तं श्रीरामं सीता भीताब्रवीद्वचः ।
किमर्थं वनराज्यं ते पित्रा दत्तं महात्मना ॥ ५९॥

रामचन्द्रजी के इस प्रकार कहने पर सीता जी भयभीत होकर बोलीं- आपके महात्मा पिताजी ने आपको वन का राज्य क्यों दिया है १॥ ५९॥

तामाह रामः कैकेय्यै राजा प्रीतो वरं ददौ ।
भरताय ददौ राज्यं वनवासं ममानघे ॥ ६०॥

तब रामचन्द्रजी उनसे बोले-हे अनघ ! महाराज ने प्रसन्नता पूर्वक कैकेयी को वर देकर भरत को अयोध्या का राज और मुझे वनवास दिया है ॥ ६०॥

चतुर्दश समास्तत्र वासो मे किल याचितः ।
तया देव्या ददौ राजा सत्यवादी दयापरः ॥ ६१॥

देवी कैकेयी ने मेरे लिये चौदह वर्ष तक वन में वास माँगा था, उसे सत्यवादी दयालु महाराज ने देना स्वीकार कर लिया है ॥ ६१ ॥

अतः शीघ्रं गमिष्यामि मा विघ्नं कुरु भामिनि ।
श्रुत्वा तद्रामवचनं जानकी प्रीतिसंयुता ॥ ६२॥

अहमग्रे गमिष्यामि वनं पश्चात्त्वमेष्यसि ।
इत्याह मां विना गन्तुं तव राघव नोचितम् ॥ ६३॥

अत: हे भामिनि ! मैं शीघ्र ही वहाँ जाऊँगा। तुम इसमें किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित मत करो। रामचन्द्रजी के यह कहने पर सीताजी प्रसन्नतापूर्वक बोलीं-मै पहले वन जाऊँगी, उसके बाद आप आयें। हे राघव ! मुझे छोड़कर आपको वन में जाना उचित नहीं है ॥ ६२-६३ ॥

तामाह राघवः प्रीतः स्वप्रियां प्रियवादिनीम् ।
कथं वनं त्वां नेष्येऽहं बहुव्याघ्रमृगाकुलम् ॥ ६४॥

तदनन्तर श्री रघुनाथ जी प्रसन्नता पूर्वक अपनी प्रिया प्रियवादिनी जानकी से बोले-मैं तुम्हें अनेकों व्याघ्रादि वन्य पशुओं से पूर्ण जंगल में कैसे साथ लेकर चलूँगा? ॥ ६४ ॥

राक्षसा घोररूपाश्च सन्ति मानुषभोजिनः ।
सिंहव्याघ्रवराहाश्च सञ्चरन्ति समन्ततः ॥ ६५॥

वहाँ पर मनुष्यों को खाने वाले भयंकर राक्षस रहते हैं और सब तरफ सिंह, व्याघ्र तथा शूकर आदि हिंसक जन्तु घूमते रहते हैं ॥ ६५ ॥

कट्वम्लफलमूलानि भोजनार्थं सुमध्यमे ।
अपूपान्नव्यञ्जनानि विद्यन्ते न कदाचन ॥ ६६॥

हे सुन्दर कटिवाली सीते! वहाँ भोजन के लिये कटु एवं कषाय स्वाद वाले फल-मूलादि मिलते हैं, किसी प्रकार के अपूप- पुए एवं व्यञ्जन वहाँ कभी नहीं मिलते ॥ ६६ ॥

काले काले फलं वापि विद्यते कुत्र सुन्दरि ।
मार्गो न दृश्यते क्वापि शर्कराकण्टकान्वितः ॥ ६७॥

हे सुन्दरि! वह फल भी कभी-कभी नहीं मिलते। कहीं-कहीं धूल और काँटों से आच्छादित रहने के कारण मार्ग भी दिखायी नहीं देता ॥६७ ॥

गुहागह्वरसम्बाधं झिल्लीदंशादिभिर्युतम् ।
एवं बहुविधं दोषं वनं दण्डकसञ्ज्ञितम् ॥ ६८॥

इस प्रकार दण्डकारण्य अनेक दोषों से भरा पड़ा है। उसमें अनेक गुफाएँ और गडढे हैं और वह झिल्ली तथा दंश आदि से परिपूर्ण है ॥ ६८ ॥

पादचारेण गन्तव्यं शीतवातातपादिमत् ।
राक्षसादीन् वने दृष्ट्वा जीवितं हास्यसेऽचिरात् ॥ ६९॥

इस प्रकार के वन में शीत, वायु और धूप आदि के समय भी पैदल चलना पड़ता है। तुम वन में भयंकर राक्षसादिकों को देखकर अपना प्राण त्याग दोगी, यह मुझे संदेह है ॥ ६९ ॥

तस्माद्भद्रे गृहे तिष्ठ शीघ्रं द्रक्ष्यसि मां पुनः ।
रामस्य वचनं श्रुत्वा सीता दुःखसमन्विता ॥ ७०॥

प्रत्युवाच स्फुरद्वक्त्रा किञ्चित्कोपसमन्विता ।
कथं मामिच्छसे त्यक्तुं धर्मपत्नीं पतिव्रताम् ॥ ७१॥

अत: हे भद्रे ! तुम घर पर ही रहो, मुझे शीघ्र ही तुम पुनः देख सकोगी। राम की यह वाणी सुनकर क्रोध से कम्पित अधर वाली, दुःख से व्याकुल होकर, क्रोध से भरी हुई सीता बोली-आप मुझ पतिव्रता धर्मपत्नी को घर छोड़ कर जाना क्यों चाहते हैं ? ॥७०-७१॥

त्वदनन्यामदोषां मां धर्मज्ञोऽसि दयापरः ।
त्वत्समीपे स्थितां राम को वा मां धर्षयेद्वने ॥ ७२॥

आप धर्म को जानने वाले और दयालु हैं, पुनः अपनी अनन्या भक्ता, दोषहीन पत्नी को क्यों छोड़ना चाहते हैं ? हे राम ! वन में भी आपके समीप रहने पर मेरा कोई कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता ॥७२॥

फलमूलादिकं यद्यत्तव भुक्तावशेषितम् ।
तदेवामृततुल्यं मे तेन तुष्टा रमाम्यहम् ॥ ७३॥

आपके भोजन से अवशिष्ट जो भी फल मूलादि होंगे वे मेरे लिये अमृत के समान होंगे। उनसे सन्तुष्ट होकर मैं आनन्दपूर्वक रहूँगी ॥ ७३ ॥

त्वया सह चरन्त्या मे कुशाः काशाश्च कण्टकाः ।
पुष्पास्तरणतुल्या मे भविष्यन्ति न संशयः ॥ ७४॥

आपके साथ रहते हुए कुश कण्टकादि भी मेरे लिये फूलों के बिस्तर के समान होंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ ७४ ॥

अहं त्वां क्लेशये नैव भवहयं कार्यसाधिनी ।
बाल्ये मां वीक्ष्य कश्चिन्मां ज्योतिःशास्त्रविशारदः ॥ ७५॥

प्राह ते विपिने वासः पत्या सह भविष्यति ।
सत्यवादी द्विजो भूयाद्गमिष्यामि त्वया सह ॥ ७६॥

मैं आपको कोई कष्ट नहीं दूंगी, किन्तु आपके कर्म में सहायिका होऊँगी। बाल्यकाल में एक ज्योतिष शास्त्र के वेत्ता महात्मा ने मुझे बताया था कि तुम अपने पति के साथ वन में रहोगी। उनकी बात सत्य हो, मैं आपके साथ वन में अवश्य चलूंगी ॥ ७५-७६॥

अन्यत्किञ्चित्प्रवक्ष्यामि श्रुत्वा मां नय काननम् ।
रामायणानि बहुशः श्रुतानि बहुभिर्द्विजैः ॥ ७७॥

और भी मैं कुछ कहती हूँ, जिसे सुनकर मुझे आप जंगल में ले चलें। आप ने अनेकों ब्राह्मणों द्वारा अनेक रामायणों को सुना होगा ॥ ७७॥

सीतां विना वनं रामो गतः किं कुत्रचिद्वद ।
अतस्त्वया गमिष्यामि सर्वथा त्वत्सहायिनी ॥ ७८॥

क्या सीता के बिना भी कभी राम जंगल में गये हैं ? आप बताइये। अतः मैं आपकी सर्वथा सहायिनी बनकर अवश्य आपके साथ वन में चलूँगी ॥ ७८ ॥

यदि गच्छसि मां त्यक्त्वा प्राणान्स्त्यक्ष्यामि तेऽग्रतः ।
इति तं निश्चयं ज्ञात्वा सीताया रघुनन्दनः ॥ ७९॥

अब्रवीद्देवि गच्छ त्वं वनं शीघ्रं मया सह ।
अरुन्धत्यै प्रयच्छाशु हारानाभरणानि च ॥ ८०॥

आप यदि मुझे छोड़कर चले जायेंगे तो मैं तत्क्षण आपके सामने अपने प्राणों को छोड़ दूंगी। इस प्रकार सीताजी का दृढ़निश्चय देखकर श्रीरामचन्द्रजी बोले-देवि! तुम शीघ्र ही मेरे साथ वन में चलो; यह हार आदि आभूषण वसिष्ठजी की पत्नी अरुन्धती को दे दो॥ ७९-८० ॥

ब्राह्मणेभ्यो धनं सर्वं दत्त्वा गच्छामहे वनम् ।
इत्युक्त्वा लक्ष्मणेनाशु द्विजानाहूय भक्तितः ॥ ८१॥

ददौ गवां वृन्दशतं धनानि वस्त्राणि दिव्यानि विभूषणानि ।
कुटुम्बवद्भ्यः श्रुतशीलवद्भ्यो मुदा द्विजेभ्यो रघुवंशकेतुः ॥ ८२॥

हम अपना सर्वस्व ब्राह्मणों को दान देकर वन को चलेंगे। यह कहकर भगवान् राम ने लक्ष्मण जी द्वारा भक्तिपूर्वक ब्राह्मणों को बुलाया और रघुकुलकेतु भगवान् राम ने प्रसन्नतापूर्वक सैकड़ों गौओं के समूह, विपुल धन, दिव्य वस्त्र और आभूषण कुटुम्बियों, विद्वान् एवं शीलसम्पन्न ब्राह्मणों को दे दिया ॥ ८१-८२ ॥

अरुन्धत्यै ददौ सीता मुख्यान्याभरणानि च ।
रामो मातुः सेवकेभ्यो ददौ धनमनेकधा ॥ ८३॥

सीताजी ने अपने प्रमुख आभूषण अरुन्धती को दे दिया, और श्री राम ने अपनी माँ के सेवकों को भी बहुत धन दिया ॥८३॥

स्वकान्तःपुरवासिभ्यः सेवकेभ्यस्तथैव च ।
पौरजानपदेभ्यश्च ब्राह्मणेभ्यः सहस्रशः ॥ ८४॥

लक्ष्मणोऽपि सुमित्रां तु कौसल्यायै समर्पयत् ।
धनुष्पाणिः समागत्य रामस्याग्रे व्यवस्थितः ॥ ८५॥

रामः सीता लक्ष्मणश्च जग्मुः सर्वे नृपालयम् ॥ ८६॥
श्रीरामः सह सीतया नृपपथे गच्छन् शनैः सानुजः ।

श्रीलक्ष्मणजी ने अपनी माता सुमित्रा को कौसल्याजी को सपर्पित कर दिया और स्वयं हाथ में धनुष धारण करके श्री राम के सामने आकर

उपस्थित हो गये। तत्पश्चात् राम सीता और लक्ष्मण महाराज दशरथ के पास गए ॥ ८५-८६ ॥

पौरान् जानपदान् कुतूहलदृशः सानन्दमुद्वीक्षयन् ।
श्यामः कामसहस्रसुन्दरवपुः कान्त्या दिशो भासयन् ।
पादन्यासपवित्रिताऽखिलजगत् प्रापालयं तत्पितुः ॥ ८७॥

करोड़ो कामदेव के समान सुन्दर श्यामल रूप भगवान् राम, सीता और अनुज लक्ष्मण के साथ अपनी द्युति से दसों दिशाओं को प्रकाशित करते हुए राजमार्ग पर धीरे-धीरे चल दिये, उस समय अन्तःपुरवासी और नगर वासियों के देखते हुए तथा अपने चरण रज से सम्पूर्ण संसार को पवित्र करते हुए वह अपने पिता के महल पर पहुँच गये ॥ ८७ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे
अयोध्याकाण्डे चतुर्थः सर्गः ॥ ४॥

॥ पञ्चमः सर्गः ॥

भगवान् का वनगमन

आयान्तं नागरा दृष्ट्वा मार्गे रामं सजानकीम् ।
लक्ष्मणेन समं वीक्ष्य ऊचुः सर्वे परस्परम् ॥ १॥

कैकेय्या वरदानादि श्रुत्वा दुःखसमावृताः ।
बत राजा दशरथः सत्यसन्धं प्रियं सुतम् ॥ २॥

स्त्रीहेतोरत्यजत्कामी तस्य सत्यवता कुतः ।
कैकेयी वा कथं दुष्टा रामं सत्यं प्रियङ्करम् ॥ ३॥

विवासयामास कथं क्रूरकर्माऽतिमूढधीः ।
हे जना नात्र वस्तव्यं गच्छामोऽद्यैव काननम् ॥ ४॥

यत्र रामः सभार्यश्च सानुजो गन्तुमिच्छति ।
पश्यन्तु जानकीं सर्वे पादचारेण गच्छतीम् ॥ ५॥

श्रीमहादेवजी बोले-श्री जानकी और लक्ष्मण के साथ श्रीरामचन्द्रजी को मार्ग में आते देख तथा कैकेयी के वरदान की बातें सुनकर सभी नगरवासी दुःख से व्याकुल होकर आपस में कहने लगे हाय ! राजा दशरथ ने अपने सत्यपरायण प्रियपुत्र को काम के वशीभूत होकर केवल स्त्री के कारण छोड़ दिया। अत: राजा की सत्यपरायणता कैसे रही? तथा दुष्टा कैकेयी ने भी सत्यवादी और प्रिय करने वाले राम को वनवास क्यों दिया? यह कैकेयी दुष्ट कर्म करने वाली और

हतबुद्धि कैसे हो गयी ? बन्धुओं हमें अब यहाँ नहीं रहना चाहिये। हम लोग भी आज ही वन में चलेंगे, जहाँ पर अनुज एवं स्त्री के साथ श्रीरामजी जाना चाहते हैं। यह तो देखो कि जानकीजी आज पैदल ही चल रहीं हैं ॥१-५॥

पुम्भिः कदाचिद्दृष्ट्वा वा जानकी लोकसुन्दरी ।
सापि पादेन गच्छन्ती जनसङ्घेष्वनावृता ॥ ६॥

हाय! त्रिलोक सुन्दरी जानकी जिनको शायद ही पहले कभी किसी अन्य पुरुष ने देखा हो, वह आज बिना किसी आवरण के जनसमूह में पैदल ही चल रहीं हैं ॥६॥

रामोऽपि पादचारेण गजाश्वादिविवर्जितः ।
गच्छति द्रक्ष्यथ विभुं सर्वलोकैकसुन्दरम् ॥ ७॥

बन्धुओं! सर्वलोक सुन्दर भगवान् राम के तरफ भी देखो, यह भी बिना हाथी-घोडे आदि के आज पैदल ही जा रहे हैं ॥ ७॥

राक्षसी कैकेयीनाम्नी जाता सर्वविनाशिनी ।
रामस्यापि भवहद्दुःखं सीतायाः पादयानतः ॥ ८॥

इस कैकेयी नाम की राक्षसी ने सबका नाश करने के लिये ही जन्म लिया है। हे भाई! इन सीताजी के पैदल चलने से रामजी भी दुःखी होंगे॥८॥

बलवान् विधिरेवात्र पुम्प्रयत्नो हि दुर्बलः ।
इति दुःखाकुले वृन्दे साधूनां मुनिपुङ्गवः ॥ ९॥

अब्रवीद्वामदेवोऽथ साधूनां सङ्गमध्यगः ।
मानुशोचथ रामं वा सीतां वा वच्मि तत्त्वतः ॥ १०॥

परन्तु क्या किया जा सकता है? इनमें देव ही बलवान हैं, पुरुष का सर्वप्रयत्न दुर्बल है। इस प्रकार साधुओं को दुःखी देखकर मुनि पुंगव वामदेव जी उनलोगों के बीच में जाकर बोले-आप लोग राम और सीता के लिये किसी प्रकार की चिन्ता न करें, मैं आप लोगों को वास्तविक तत्त्व बतलाता हूँ। ॥९-१०॥

एष रमः परो विष्णुरादिनारायणः स्मृतः ।
एषा सा जानकी लक्ष्मीर्योगमायेति विश्रुता ॥ ११॥

श्री राम आदि नारायण भगवान् श्रीविष्णु हैं और जानकी जी योगमाया नाम से विख्यात श्रीलक्ष्मीजी हैं ॥ ११॥

असौ शेषस्तमन्वेति लक्ष्मणाख्यश्च साम्प्रतम् ।
एष मायागुणैर्युक्तस्तत्तदाकारवानिव ॥ १२॥

जो लक्ष्मण नाम धारण कर इनका अनुगमन करते हैं वह श्रीशेषजी हैं। ये पुरुषोत्तम भगवान् माया के गुणों से युक्त होकर विभिन्न आकार में प्रतीत होते हैं ॥ १२ ॥

एष एव रजोयुक्तो ब्रह्माभूद्विश्वभावनः ।
सत्त्वाविष्टस्तथा विष्णुस्त्रिजगत्प्रतिपालकः ॥ १३॥

यही रजोगुण से युक्त होकर ही विश्व की सृष्टि करने वाले ब्रह्मा हैं और सत्त्वगुण युक्त होकर यह ही त्रिलोक की रक्षा करने वाले भगवान् विष्णु हैं ॥ १३ ॥

एष रुद्रस्तामसोऽन्ते जगत्प्रलयकारणम् ।
एष मत्स्यः पुरा भूत्वा भक्तं वैवस्वतं मनुम् ॥ १४॥

नाव्यारोप्य लयस्यान्ते पालयामास राघवः ।
समुद्रमथने पूर्वं मन्दरे सुतलं गते ॥ १५॥

अधारयत्स्वपृष्ठेऽद्रिं कूर्मरूपी रघूत्तमः ।
मही रसातलं याता प्रलये सूकरोऽभवत् ॥ १६॥

तथा कल्प के अन्त में यही तमोगुण विशिष्ट जगत् का प्रलय करने वाले रुद्र होते हैं। पूर्वसमय में इन्ही श्री रघुनाथजी ने मत्स्य का रूप धारणकर अपने भक्त वैवस्वत मनु को नौका में बैठाकर प्रलयकाल के समय उनकी रक्षा की थी । समुद्र मन्थन के समय जब मन्दराचल पाताल लोक में जाने लगा तब इन्ही श्री रघुनाथजी ने कूर्म का रूप धारणकर उसे अपनी पीठ पर धारण किया था था। प्रलय के समय जब पृथ्वी रसातल को चली गयी थी तब इन्ही ने शूकर का रूप धारण कर ॥ १४-१६ ॥

तोलयामास दंष्ट्राग्रे तां क्षोणीं रघुनन्दनः ।
नारसिंहं वपुः कृत्वा प्रह्लादवरदः पुरा ॥ १७॥

त्रैलोक्यकण्टकं रक्षः पाटयामास तन्नखैः ।
पुत्रराज्यं हृतं दृष्ट्वा ह्यदित्या याचितः पुरा ॥ १८॥

वामनत्वमुपागम्य याच्ञया चाहरत्पुनः ।
दुष्टक्षत्रियभूभारनिवृत्त्यै भार्गवोऽभवत् ॥ १९॥

पृथ्वी को अपनी दाढ़ों पर उठा लिया था। इसी प्रकार एक समय प्रह्लाद को वर देने के लिये इन्होने नृसिंह रूप धारण किया था और तीनों लोकों के कण्टकस्वरूप दैत्यराज हिरण्यकशिपु को अपने नखों से फाड़ दिया था। एक समय अपने पुत्र इन्द्र का राज्य से च्युत होते देखकर अदिति ने जब इनसे प्रार्थना की तब इन्होने ही वामन रूप धारण कर याचना कर उसे पुनः इन्द्र को लौटा दिया था। इन्होने ही पृथ्वी के भारभूत क्षत्रियों को नष्ट करने के लिये भृगुपुत्र परशुरामजी का रूप धारण किया था ॥१७-१९॥

स एव जगतां नाथ इदानीं रामतां गतः ।
रावणादीनि रक्षांसि कोटिशो निहनिष्यति ॥ २०॥

वही जगत्प्रभु इस समय श्रीरामरूप से प्रकट हुए हैं, अब इस रूप में यह रावण आदि करोड़ों राक्षसों का वध करेंगे ॥ २०॥

मानुषेणैव मरणं तस्य दृष्टं दुरात्मनः ।
राज्ञा दशरथेनापि तपसाराधितो हरिः ॥ २१॥

पुत्रत्वाकाङ्क्षया विष्णोस्तदा पुत्रोऽभवद्धरिः ।
स एव विष्णुः श्रीरामो रावणादिवधाय हि ॥ २२॥

गन्ताद्यैव वनं रामो लक्ष्मणेन सहायवान् ।
एषा सीता हरेर्माया सृष्टिस्थित्यन्तकारिणी ॥ २३॥

उस दुरात्मा की मृत्यु मनुष्य के हाथ निश्चित है। महाराज दशरथ ने पूर्वजन्म में तपस्या के द्वारा भगवान् विष्णु से वरदान प्राप्त किया था कि भगवान् उनके यहाँ पुत्ररूप से अवतार लें। अत: इस समय श्री राम के रूप में भगवान् ही इनके पुत्र हुए हैं। वह श्रीविष्णु भगवान् ही श्रीरामचन्द्रजी हैं। इस समय यह रावण के वध के लिये लक्ष्मण सहित वन में जायेंगे। श्रीसीताजी जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करने वाली साक्षात् भगवान् की माया हैं ॥ २१-२३ ॥

राजा वा कैकेयी वापि नात्र कारणमण्वपि ।
पूर्वेद्युर्नारदः प्राह भूभारहरणाय च ॥ २४॥

इनके वन जाने में महाराज अथवा कैकेयी अणु मात्र भी कारण नहीं हैं। कल ही नारदजी ने इनसे पृथ्वी का भार हरण करने के लिये प्रार्थना की थी ॥ २४ ॥

रामोऽप्याह स्वयं साक्षाच्छ्वो गमिष्याम्यहं वनम् ।
अतो रामं समुद्दिश्य चिन्तां त्यजत बालिशाः ॥ २५॥

उस समय स्वयं श्रीराम ने उनसे कहा था कि कल मैं वन में जाऊँगा। अत: भोले बन्धुओं ! आप सभी को राम की चिन्ता नहीं करनी चाहिए ॥२५॥

रामरामेति यह नित्यं जपन्ति मनुजा भुवि ।
तेषां मृत्युभयादीनि न भवन्ति कदाचन ॥ २६॥

संसार में जो व्यक्ति अहर्निश राम-राम का जप करते हैं, उनको किसी भी समय मृत्यु आदि का भय नहीं होता ॥ २६॥

का पुनस्तस्य रामस्य दुःखशङ्का महात्मनः ।
रामनाम्नैव मुक्तिः स्यात्कलौ नान्येन केनचित् ॥ २७॥

अत: उन महामना राम के लिये दुःख की आशंका भी कैसे सम्भव है ? कलियुग में तो केवल रामनाम से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है, अन्य किसी उपाय से नहीं ॥२७ ॥

मायामानुषरूपेण विडम्बयति लोककृत् ।
भक्तानां भजनार्थाय रावणस्य वधाय च ॥ २८॥

राज्ञश्चाभीष्टसिद्ध्यर्थं मानुषं वपुराश्रितः ।
इत्युक्त्वा विररामाथ वामदेवो माहामुनिः ॥ २९॥

ये जगत्स्रष्टा भगवान् भक्तों को गुण कीर्तन-भजन के लिये तथा रावण को मारने के लिये और इससमय केवल राजा दशरथ की मनोकामना सिद्धि के लिये भगवान् ने मानव शरीर धारण किया है। ऐसा कहकर महामुनि वामदेवजी चुप हो गये ॥ २८-२९ ॥

श्रुत्वा तेऽपि द्विजाः सर्वे रामं ज्ञात्वा हरिं विभुम् ।
जहुर्हृत्संशयग्रन्थिं राममेवान्वचिन्तयन् ॥ ३०॥

यह सुनकर वहाँ एकत्रित हुए द्विजगणों ने भी भगवान् राम को सर्वव्यापक श्रीविष्णु भगवान् समझा और वह सभी अपने हृदय का सन्देह छोड़कर श्रीरामचन्द्रजी का ही स्मरण करने लगे ॥३०॥

य इदं चिन्तयेन्नित्यं रहस्यं रामसीतयोः ।
तस्य रामे दृढा भक्तिर्भवहद्विज्ञानपूर्विका ॥ ३१॥

जो पुरुष नित्यप्रति राम और सीता के इस रहस्य का मनन करेगा, उसकी भगवान् राम में विज्ञान के सहित दृढ़ भक्ति होगी ॥३१॥

रहस्यं गोपनीयं वो यूयं वै राघवप्रियाः ।
इत्युक्त्वा प्रययौ विप्रस्तेऽपि रामं परं विदुः ॥ ३२॥

आप सब लोग राम के परम प्रिय हैं, अतएव इस रहस्य को सदा गुप्त रक्खें, ऐसा कहकर विप्रवर वामदेवजी वहाँ से चले गये और पुरजनों ने भी जाना कि राम परमात्मा हैं ॥ ३२॥

ततो रामः समाविश्य पितृगेहमवारितः ।
सानुजः सीतया गत्वा कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ ३३॥

तदनन्तर श्री राम ने बिना किसी रोक-टोक के पिता के महल में प्रवेश किया और लक्ष्मण तथा सीता के सहित वहाँ पहुँचकर कैकेयी से बोले ॥ ३३ ॥

आगताः स्मो वयं मातस्त्रयस्ते सम्मतं वनम् ।
गन्तुं कृतधियः शीघ्रमाज्ञापयतु नः पिता ॥ ३४॥

माताजी ! आपके कथनानुसार हम तीनों वन जाने के लिये तैयार होकर आ गये हैं, अब शीघ्र ही पिताजी हमें आज्ञा दे ॥ ३४ ॥

इत्युक्ता सहसोत्थाय चीराणि प्रददौ स्वयम् ।
रामाय लक्ष्मणायाथ सीतायै च पृथक् पृथक् ॥ ३५॥

श्री राम के ऐसा कहने पर कैकेयी ने सहसा उठकर स्वयं ही राम, लक्ष्मण और सीता को अलग-अलग वल्कल-वस्त्र दिये ॥ ३५ ॥

रामस्तु वस्त्राण्युत्सृज्य वन्यचीराणि पर्यधात् ।
लक्ष्मणोऽपि तथा चक्रे सीता तन्न विजानती ॥ ३६॥

तब रामचन्द्रजी ने अपने राजोचित वस्त्रों को उतारकर वनवासियों जैसे वस्त्र धारण किये, लक्ष्मणजी ने भी ऐसा ही किया, किंतु सीताजी उन्हें धारण करना नहीं जानती थीं ॥ ३६॥

हस्ते गृहीत्वा रामस्य लज्जया मुखमैक्षत ।
रामो गृहीत्वा तच्चीरमंशुके पर्यवहष्टयत् ॥ ३७॥

अतः उन वस्त्रों को हाथ में लेकर वे लज्जापूर्वक रामजी की ओर देखने लगीं। तब रामचन्द्रजी ने उस चीर को लेकर सीताजी के वस्रों पर ही लपेट दिया ॥ ३७ ॥

तद् दृष्ट्वा रुरुदुः सर्वे राजदाराः समन्ततः ।
वसिष्ठस्तु तदाकर्ण्य रुदितं भर्त्सयन् रुषा ॥ ३८॥

कैकेयीं प्राह दुर्वृत्ते राम एव त्वया वृतः ।
वनवासाय दुष्टे त्वं सीतायै किं प्रयच्छसि ॥ ३९॥

यह देखकर रनिवास की सभी स्त्रियाँ रोने लगीं। तब वसिष्ठजी ने उनके रोने का शब्द सुनकर क्रोधित हो कैकेयी को डाँटते हुए कहा -"अरी दुःशीले ! तुने तो केवल रामके वन जाने का ही वर माँगा है ? फिर तू सीता को भी वनवास के वस्त्र क्यों देती हो ? ॥३८-३९॥

यदि रामं समन्वेति सीता भक्त्या पतिव्रता ।
दिव्याम्बरधरा नित्यं सर्वाभरणभूषिता ॥ ४०॥

यदि पतिव्रता सीता भक्तिवश राम के साथ जाना चाहती है, तो वह समस्त आभूषणों से विभूषित और दिव्य वस्त्र धारण किये हुए ही जाय ॥ ४०॥

रमयत्वनिशं रामं वनदुःखनिवारिणी ।
राजा दशरथोऽप्याह सुमन्त्रं रथमानय ॥ ४१॥

और नित्यप्रति राम के वनवास-दुःख को दूर करती हुई उनको आनन्दित करे !" तब महाराज दशरथ ने सुमन्त्र से कहा-"सुमन्त्र! तुम रथ लेकर आओ ॥४१॥

रथमारुह्य गच्छन्तु वनं वनचरप्रियाः ।
इत्युक्त्वा राममालोक्य सीतां चैव सलक्ष्मणम् ॥ ४२॥

दुःखान्निपतितो भूमौ रुरोदाश्रुपरिप्लुतः ।
आरुरोह रथं सीता शीघ्रं रामस्य पश्यतः ॥ ४३॥

वनवासियों के प्रिय राम आदि रथपर चढ़कर ही वन को जायेंगे। ऐसा कह ये सीता और लक्ष्मण के सहित राम को देखकर दुःख से पृथिवी

पर गिर पड़े और आँखों में आँसू भरकर रोने लगे। तब रामजी के देखते-देखते शीघ्र ही सीताजी रथ पर चढ़ीं ॥ ४२-४३॥

रामः प्रदक्षिणं कृत्वा पितरं रथमारुहत् ।
लक्ष्मणः खड्गयुगलं धनुस्तूणीयुगं तथा ॥ ४४॥

गृहीत्वा रथमारुह्य नोदयामास सारथिम् ।
तिष्ठ तिष्ठ सुमन्त्रेति राजा दशरथोऽब्रवीत् ॥ ४५॥

फिर रामचन्द्र जी पिता की परिक्रमा कर रथारूढ़ हुए और उनके पीछे दो खडग तथा दो धनुष और तरकस लेकर लक्ष्मणजी सवार हुए और सारथि से रथ हाँकने के लिये बोले। तब राजा दशरथ कहने लगे-'सुमन्त्र! ठहरो, ठहरो' ॥ ४४-४५ ।

गच्छ गच्छेति रामेण नोदितोऽचोदयद्रथम् ।
रामे दूरं गते राजा मूर्च्छितः प्रापतद्भुवि ॥ ४६॥

किंतु रामचन्द्रजी ने 'चलो, चलो कहकर शीघ्रता करने के लिये कहा। इसलिये सुमन्त्र ने रथ हाँक दिया। राम के कुछ दूर निकल जानेपर महाराज मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े ॥ ४६॥

पौरास्तु बालवृद्धाश्च वृद्धा ब्राह्मणसत्तमाः ।
तिष्ठ तिष्ठेति रामेति क्रोशन्तो रथमन्वयुः ॥ ४७॥

तदनन्तर समस्त पुरवासी, बालक-वृद्ध और वयवृद्ध मुनिगण 'हे राम! रूको, मत जाओ' इस प्रकार चिल्लाते हुए रथ के पीछे पीछे चले ॥ ४७ ॥

राजा रुदित्वा सुचिरं मां नयन्तु गृहं प्रति ।
कौसल्याया राममातुरित्याह परिचारकान् ॥ ४८॥

राजा दशरथ बहुत देर तक रोते रहे, फिर उन्होंने अपने सेवकों से कहा-"मुझे राम की माता कौसल्या के घर ले चलो॥ ४८॥

किञ्चित्कालं भवहत्तत्र जीवनं दुःखितस्य मे ।
अत ऊर्ध्वं न जीवामि चिरं रामं विना कृतः ॥ ४९॥

मुझ दुखिया का वहाँ रहकर कुछ काल जीना हो सकता है; कितु राम से रहित होकर अब मैं अधिक काल जीवित नहीं रह सकूँगा" ॥४९॥

ततो गृहं प्रविश्यैव कौसल्यायाः पपात ह ।
मूर्च्छितश्च चिराद्बुद्ध्वा तूष्णीमेवावतस्थिवान् ॥ ५०॥

तब कौसल्या के घर पहुँचते ही राजा अचेत होकर पृथ्वी पर गिर पड़े; फिर बहुत देर बाद होश आने पर वह चुपचाप बैठे रहे ॥५०॥

रामस्तु तमसातीरं गत्वा तत्रावसत्सुखी ।
जलं प्राश्य निराहारो वृक्षमूलेऽस्वपद्विभुः ॥ ५१॥

सीतया सह धर्मात्मा धनुष्पाणिस्तु लक्ष्मणः ।
पालयामास धर्मज्ञः सुमन्त्रेण समन्वितः ॥ ५२॥

इधर श्रीरामचन्द्रजी तमसा नदी के तट पर पहुंचकर वहाँ सुखपूर्वक रहे और रात्रि के समय बिना कुछ आहार ग्रहण किए केवल जल पीकर सीताजी के सहित वृक्ष के नीचे सो गये। तथा सुमन्त्र के सहित धर्मात्मा लक्ष्मणजी धनुष लेकर उनकी रक्षा करने लगे ॥ ५१-५२ ॥

पौराः सर्वे समागत्य स्थितास्तस्याविदूरतः ।
शक्ता रामं पुरं नेतुं नो चेद्गच्छामहे वनम् ॥ ५३॥

उनके पास ही सभी पुरवासी आकर ठहर गये। उन्होंने निश्चय किया कि हम या तो राम को अयोध्या लौटा ले चलेंगे, नहीं तो हम भी इनके साथ वन को ही चले जायेंगे ॥ ५३ ॥

इति निश्चयमाज्ञाय तेषां रामोऽतिविस्मितः ।
नाहं गच्छामि नगरमेते वै क्लेशभागिनः ॥ ५४॥

भविष्यन्तीति निश्चित्य सुमन्त्रमिदमब्रवीत् ।
इदानीमेव गच्छामः सुमन्त्र रथमानय ॥ ५५॥

रामचन्द्रजी को उनके इस निश्चय का पता चलने पर अति विस्मय हुआ और उन्होंने यह सोचकर कि मैं तो अयोध्या को लौटूंगा नहीं, ये व्यर्थ जंगल में क्लेश सहेंगे, सुमन्त्र को बुलाकर कहा-"सुमन्त्र ! तुम रथ ले आओ हम अभी चलेंगे" ॥ ५४-५५ ॥

इत्याज्ञप्तः सुमन्त्रोऽपि रथं वाहैरयोजयत् ।
आरुह्य रामः सीता च लक्ष्मणोऽपि ययुर्द्रुतम् ॥ ५६॥

राम की ऐसी आज्ञा होने पर सुमन्त्र ने रथ में घोड़े जोत दिये। तब राम, लक्ष्मण और सीता उस पर चढ़कर शीघ्रता से चल दिए ॥५६ ॥

अयोध्याभिमुखं गत्वा किञ्चिद्दूरं ततो ययुः ।
तेऽपि राममदृष्ट्वैव प्रातरुत्थाय दुःखिताः ॥ ५७॥

उन्होंने अपना रथ कुछ दूर अयोध्या की ओर ले जाकर फिर वन की ओर बढ़ाया। प्रातःकाल होने पर पुरवासियों ने उठकर जब राम को नहीं देखा, तो वह अत्यन्त दुःखी हो गए ॥ ५७ ॥

रथनेमिगतं मार्गं पश्यन्तस्ते पुरं ययुः ।
हृदि रामं ससीतं ते ध्यायन्तस्तस्थुरन्वहम् ॥ ५८॥

और रथ के पहियों के निशान को देखते हुए वह सभी अयोध्यापुरी में लौट आये तथा प्रतिदिन हहय में राम और सीता का ध्यान करते हुए वहाँ रहने लगे॥ ५८ ॥

सुमन्त्रोऽपि रथं शीघ्रं नोदयामास सादरम् ।
स्फीतान् जनपदान् पश्यन् रामः सीतासमन्वितः ॥ ५९॥

गङ्गातीरं समागच्छच्छृङ्गवेरराविदूरतः ।
गङ्गां दृष्ट्वा नमस्कृत्य स्नात्वा सानन्दमानसः ॥ ६०॥

इधर सुमन्त्र ने भी शीघ्र ही आदर पूर्वक अपना रथ बढ़ाया। तब सीता के सहित श्रीरामचन्द्रजी विस्तृत देशों को देखते हुए शृङ्गवेरपुर के

पास गङ्गाजी के तट पर पहुंचे। गङ्गाजी को देखकर उन्होंने प्रसन्न चित्त से नमस्कार करके स्नान किया ॥ ५९-६०॥

शिंशपावृक्षमूले स निषसाद रघूत्तमः ।
ततो गुहो जनैः श्रुत्वा रामागममहोत्सवम् ॥ ६१॥

और फिर रघुश्रेष्ठ रामजी शिंशपा के वृक्ष की छाया में बैठे। इसी समय निषाद राज गुहने लोगों के मुख से रामजी के आने का मंगल समाचार सुना ॥६१॥

सखायं स्वामिनं द्रष्टुं हर्षात्तूर्णं समापतत् ।
फलानि मधुपुष्पादि गृहीत्वा भक्तिसंयुतः ॥ ६२॥

यह सुनते ही वह तुरन्त अपने एकमात्र सखा और स्वामी श्रीरघुनाथजी को देखने के लिए प्रसन्नचित्त से भक्तिपूर्वक फल, शहद और पुष्पादि लेकर वहाँ आया ॥६२ ॥

रामस्याग्रे विनिक्षिप्य दण्डवत्प्रापतद्भुवि ।
गुहमुत्थाप्य तं तूर्णं राघवः परिषस्वजे ॥ ६३॥

और वह भेंट की सामग्री श्री राम को अर्पण कर दण्ड के समान पृथ्वी पर गिर पड़ा। तब श्रीरघुनाथजी उसे तुरन्त ही उठाकर गले से लगा लिया ॥ ६३ ॥

सम्पृष्टकुशलो रामं गुहः प्राञ्जलिरब्रवीत् ।
धन्योऽहमद्य मे जन्म नैषादं लोकपावन ॥ ६४॥

पुनः रामजी के कुशल पूछने पर गुह ने हाथ जोड़कर कहा-“हे लोकपावन ! मैं धन्य हूँ, आज मेरा निषाद-जाति में जन्म लेना सफल हो गया ॥ ६४ ॥

बभूव परमानन्दः स्पृष्ट्वा तेऽङ्गं रघूत्तम ।
नैषादराज्यमेतत्ते किङ्करस्य रघूत्तम ॥ ६५॥

त्वदधीनं वसन्नत्र पालयास्मान् रघूद्वह ।
आगच्छ यामो नगरं पावनं कुरु मे गृहम् ॥ ६६॥

हे रघुश्रेष्ठ ! आपके सशरीर दर्शन से मुझे परम आनन्द प्राप्त हुआ है। हे रघुवर ! आपके दास यह निषाद राज्य आप ही का है इसलिये हे रघुनाथजी ! आप यहाँ रहकर हमलोगों की रक्षा कीजिये। चलिये, नगरमें पधारकर मेरा घर पवित्र कीजिये ॥६५-६६॥

गृहाण फलमूलानि त्वदर्थं सञ्चितानि मे ।
अनुगृह्णीष्व भगवन् दासस्तेऽहं सुरोत्तम ॥ ६७॥

हे भगवन् ! आपके लिये मैंने जो कुछ फल-मूलादि एकात्रित किये हैं उन्हें स्वीकार कीजिये। हे सुरश्रेष्ठ ! मैं आपका दास हूँ, आप मुझ पर कृपा कीजिये ॥३७॥

रामस्तमाह सुप्रीतो वचनं शृणु मे सखे ।
न वहक्ष्यामि गृहं ग्रामं नव वर्षाणि पञ्च च ॥ ६८॥

तब रामचन्द्रजी ने अति प्रसन्न होकर उससे कहा-"मित्र ! सुनो, मैं चौदह वर्ष तक किसी घर या गाँवमें नहीं जा सकता ॥ ६८ ॥

दत्तमन्येन नो भुञ्जे फलमूलादि किञ्चन ।
राज्यं ममैतत्ते सर्वं त्वं सखा मेऽतिवल्लभः ॥ ६९॥

और न किसी और के दिये हुए फल-मूलादि ही खा सकता हूँ। मित्र ! तुम्हारा यह सम्पूर्ण राज्य मेरा ही है और तुम भी मेरे अत्यन्त प्रिय सखा हो ॥६९॥

वटक्षीरं समानाय्य जटामुकुटमादरात् ।
बबन्ध लक्ष्मणेनाथ सहितो रघुनन्दनः ॥ ७०॥

तदन्तर रघुनाथजी ने वट का दूध मँगाकर लक्ष्मण के सहित भली प्रकार सँवार कर जटा जूट बाँधे ॥७० ॥

जलमात्रं तु सम्प्राश्य सीतया सह राघवः ।
आस्तृतं कुशपर्णाद्यैः शयनं लक्ष्मणेन हि ॥ ७१॥

उवास तत्र नगरप्रासादाग्रे यथा पुरा ।
सुष्वाप तत्र वैदेह्या पर्यङ्क इव संस्कृते ॥ ७२॥

लक्ष्मणजी ने कुश और पत्तों की एक शय्या बना दी, उसी पर केवल जल पीकर सीता के सहित श्रीरघुनाथजी विराजमान हुए और पहले जिस प्रकार अयोध्यापुरी के महल में जनकनन्दिनी के सहित सुसज्जित शय्या पर सोते थे, उसी प्रकार सो गये ॥ ७१-७२॥

ततोऽविदूरे परिगृह्य चापं सबाणतूणीरधनुः स लक्ष्मणः ।
ररक्ष रामं परितो विपश्यन् गुहेन सार्धं सशरासनेन ॥ ७३॥

उनके पास ही धनुष, बाण और तरकस लिये हुए श्रीलक्ष्मणजी धनुषधारी गुह के सहित धनुष चढ़ाकर इधर-उधर देखते हुए श्रीरामचन्द्रजी की रखवाली करने लगे ॥७३॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे
अयोध्याकाण्डे पञ्चमः सर्गः ॥ ५॥

॥ षष्ठः सर्गः ॥

गंगा जी के पार जाना तथा भरद्वाज और वाल्मीकिजी से भेंट

सुप्तं रामं समालोक्य गुहः सोऽश्रुपरिप्लुतः ।
लक्ष्मणं प्राह विनयाद् भ्रातः पश्यसि राघवम् ॥ १॥

शयानं कुशपत्रौघसंस्तरे सीतया सह ।
यः शेते स्वर्णपर्यङ्के स्वास्तीर्णे भवनोत्तमे ॥ २॥

श्रीमहादेवजी बोले-हे पार्वती ! उस समय शयन करते हुए श्रीरामजी को देखकर गुह सजल नेत्र हो नम्रतापूर्वक लक्ष्मणजी से बोला-भाई ! देखते हो, जो श्रीरामजी उत्तम भवन में सुन्दर सेज युक्त सुवर्ण निर्मित पलंग पर शयन करते थे, वही आज श्रीसीताजी के साथ कुश और पत्तों से बने बिछौने पर शयन कर रहे हैं ॥ १-२॥

कैकेयी रामदुःखस्य कारणं विधिना कृता ।
मन्थराबुद्धिमास्थाय कैकेयी पापमाचरत् ॥ ३॥

विधाता ने श्रीरामजी के दुःख का कारण कैकेयी को बना दिया। मन्थरा की बुद्धि पर विश्वास कर कैकेयी ने पाप का कार्य किया ॥३॥

तच्छ्रुत्वा लक्ष्मणः प्राह सखे शृणु वचो मम ।
कः कस्य हेतुर्दुःखस्य कश्च हेतुः सुखस्य च ॥ ४॥

स्वपूर्वार्जितकर्मैव कारणं सुखदुःखयोः ॥ ५॥

यह सुनकर लक्ष्मणजी बोले-भाई ! मेरी बात सुनो! कौन किसके दुःख अथवा कौन किसके सुख का कारण है ? अपना पूर्वजन्म का अर्जित कर्म ही सुख-दुःख का कारण है ॥ ४-५॥

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ।
अहं करोमीति वृथाभिमानः
स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः ॥ ६॥

कोई भी सुख और दुःख का दाता नहीं है; कोई दूसरा सुख-दुःख देता है, यह समझना कुबुद्धि है। मैं कार्य करता हूँ यह व्यर्थ का अभिमान है, क्योंकि संसार अपने कर्म के रज्जु से बँधा हुआ है ॥ ६॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनद्वेष्यमध्यस्थबान्धवाः ।
स्वयमेवाचरन् कर्म तथा तत्र विभाव्यते ॥ ७॥

मनुष्य अपने आप विभिन्न आचरण कर अपने आचरण के अनुसार सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, द्वेष्य, मध्यस्थ तथा बन्धु मानता है और उसके साथ वैसा आचरण करता है ॥ ७ ॥

सुखं वा यदि वा दुःखं स्वकर्मवशगो नरः ।
यद्यद्यथागतं तत्तद् भुक्त्वा स्वस्थमना भवहत् ॥ ८॥

सुख अथवा दुःख अपने कर्म के अनुसार व्यक्ति को जो भी प्राप्त हो, उसे भोगते हुए प्रसन्न मन रहना चाहिये ॥ ८॥

न मे भोगागमे वाञ्छा न मे भोगविवर्जने ।

आगच्छत्वथ मागच्छत्वभोगवशगो भवहत् ॥ ९॥

स्वस्मिन् देशे च काले च यस्माद्वा येन केन वा ।
कृतं शुभाशुभं कर्म भोज्यं तत्तत्र नान्यथा ॥ १०॥

हमें भोगों की प्राप्ति अथवा भोगों का त्याग किसी की ईच्छा नहीं है। भोग मिले अथवा न मिले, भोगों के अधीन हम नहीं हैं। जिस देश अथवा काल में जिस किसी के द्वारा जिस किसी भी प्रकार का शुभाशुभ कर्म किया जाता है, उसे निश्चय ही उसी प्रकार भोगना पड़ता है इसमें सन्देह नहीं है ॥ ९-१०॥

अलं हर्षविषादाभ्यां शुभाशुभफलोदये ।
विधात्रा विहितं यद्यत्तदलङ्घ्यं सुरासुरैः ॥ ११॥

अत: शुभ अथवा अशुभ कर्मफल उपस्थित होने पर हर्ष अथवा दुःख करना व्यर्थ है; क्योंकि देव की गति देव या दैत्य कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता है ॥ ११॥

सर्वदा सुखदुःखाभ्यां नरः प्रत्यवरुध्यते ।
शरीरं पुण्यपापाभ्यामुत्पन्नं सुखदुःखवत् ॥ १२॥

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् ।
द्वयमेतद्धि जन्तूनामलङ्घ्यं दिनरात्रिवत् ॥ १३॥

दुःख और सुख से सर्वदा मनुष्य आवृत्त रहता है; क्योंकि पाप और पुण्य से उत्पन्न मानव शरीर सुख-दुःख भय ही है। सुख के बाद दुःख

और दुःख के बाद सुख आता है। ये दोनों दिन और रात्रि के समान प्राणियों द्वारा अलाघ्य हैं ॥१२-१३॥

सुखमध्ये स्थितं दुःखं दुःखमध्ये स्थितं सुखम् ।
द्वयमन्योन्यसंयुक्तं प्रोच्यते जलपङ्कवत् ॥ १४॥

सुख के मध्य में दुःख और दुःख के मध्य में सुख रहता ही है। यह दोनों जल एवं कीचड़ की भाँति आपस में संयुक्त हैं ॥ १४ ॥

तस्माद्धैर्येण विद्वांस इष्टानिष्टोपपत्तिषु ।
न हृष्यन्ति न मुह्यन्ति समं मायेति भावनात् ॥ १५॥

अतः सब कुछ माया ही है इस प्रकार की भावना से विद्वान् लोग इष्ट अथवा अनिष्ट की प्राप्ति में हर्ष अथवा शोक नहीं करते ॥ १५ ॥

गुहलक्ष्मणयोरेवं भाषतोर्विमलं नभः ।
बभूव रामः सलिलं स्पृष्ट्वा प्रातः समाहितः ॥ १६॥

गुह और लक्ष्मण के इस प्रकार वार्तालाप करते-करते आकाश विमल हो गया अर्थात उजाला हो गया, तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजी जल से आचमन कर प्रातः कृत्य किये ॥ १६ ॥

उवाच शीघ्रं सुदृढं नावमानय मे सखे ।
श्रुत्वा रामस्य वचनं निषादाधिपतिर्गुहः ॥ १७॥

स्वयमेव दृढं नावमानिनाय सुलक्षणाम् ।
स्वामिन्नारुह्यतां नौकां सीतया लक्ष्मणेन च ॥ १८॥

श्रीरामचन्द्रजी बोले-मित्र ! मेरे लिए एक सुदृढ़ नौका शीघ्र लाओ। श्रीरामचन्द्रजी की यह वाणी सुनकर निषादराज गुह स्वयं ही सुलक्षण सम्पन्न सुदृढ़ नौका लाया और बोला-स्वामिन् ! सीता और लक्ष्मण के साथ नौका पर चढ़ जाइये ॥ १७-१८॥

वाहये ज्ञातिभिः सार्धमहमेव समाहितः ।
तथेति राघवः सीतामारोप्य शुभलक्षणाम् ॥ १९॥

गुहस्य हस्तावालम्ब्य स्वयं चारोहदच्युतः ।
आयुधादीन् समारोप्य लक्ष्मणोऽप्यारुरोह च ॥ २०॥

मैं स्वयं अपने जाति बान्धवों के साथ सावधानी पूर्वक चलाऊँगा। 'ऐसा ही हो' यह कहकर श्रीरघुनाथजी शुभलक्षणा श्रीसीताजी को नौका पर चढ़ाया और गुह का हाथ पकड़कर स्वयं अच्युत भगवान् श्रीराम नौका पर चढ़े। तत्पश्चात् अपने आयुधों को रखकर लक्ष्मणजी नौका पर आरूढ़ हुए ॥ १९-२०॥

गुहस्तान् वाहयामास ज्ञातिभिः सहितः स्वयम् ।
गङ्गामध्ये गतां गङ्गां प्रार्थयामास जानकी ॥ २१॥

देवि गङ्गे नमस्तुभ्यं निवृत्ता वनवासतः ।
रामेण सहिताहं त्वां लक्ष्मणेन च पूजये ॥ २२॥

सुरामान्सोपहारैश्च नानाबलिभिरादृता ।
इत्युक्त्वा परकूलं तौ शनैरुत्तीर्य जग्मतुः ॥ २३॥

तदनन्तर गुह ने अपने जाति-बान्धवों के साथ स्वयं नौका को चलाना प्रारंभ किया गंगा के मध्य में जाकर श्रीजानकी जी ने गंगा की प्रार्थना कि हे देवि गंगा ! मैं तुम्हें नमस्कार करती हूँ। वनवास से लौटने पर मैं राम और लक्ष्मण के सहित आपकी पूजा करूँगी। इस प्रकार प्रार्थना करने पर वह लोग धीरे-धीरे गंगा पार उतर कर आगे चलने लगे ॥ २१-२३॥

गुहोऽपि राघवं प्राह गमिष्यामि त्वया सह ।
अनुज्ञां देहि राजेन्द्र नो चेत्प्राणान्स्त्यजाम्यहम् ॥ २४॥

तत्पश्चात् गुह श्रीरघुनाथ जी से बोले हे राजेन्द्र ! मैं भी आपके साथ चलूँगा, आप मुझे आज्ञा दीजिये, नहीं तो मै प्राणों को छोड़ दूंगा ॥ २४॥

श्रुत्वा नैषादिवचनं श्रीरामस्तमथाब्रवीत् ।
चतुर्दश समाः स्थित्वा दण्डके पुनरप्यहम् ॥ २५॥

आयास्याम्युदितं सत्यं नासत्यं रामभाषितम् ।
इत्युक्त्वालिङ्ग्य तं भक्तं समाश्वास्य पुनः पुनः ॥ २६॥

निवर्तयामास गुहं सोऽपि कृच्छ्राद्ययौ गृहम् ॥ २७॥

निषाद पुत्र का यह वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजी बोले "मैं चौदहवर्ष दण्डकवन में रहकर यहाँ पुनः आऊँगा। यह सर्वथा सत्य है। राम कभी असत्य नहीं कहता"। यह कहकर श्रीरामचन्द्र भक्त गुह को सान्त्वना देकर उसे बार बार आलिङ्गन कर विदा किया और निषादराज कठिनाई से अपने घर लौटे ॥ २५-२७ ॥

तत्र मेध्यं मृगं हत्वा पक्त्वा हुत्वा च ते त्रयः ।
भुक्त्वा वृक्षतले सुप्त्वा सुखमासत तां निशाम् ॥ २८॥

ततो रामस्तु वैदेह्या लक्ष्मणेन समन्वितः ।
भरद्वाजाश्रमपदं गत्वा बहिरुपस्थितः ।
तत्रैकं वटुकं दृष्ट्वा रामः प्राह च हे वटो ॥ २९॥

रामो दाशरथिः सीतालक्ष्मणाभ्यां समन्वितः ।
आस्ते बहिर्वनस्येति ह्युच्यतां मुनिसन्निधौ ॥ ३०॥

तदनन्तर जानकीजी तथा लक्ष्मणजी के सहित श्रीरामचन्द्रजी भरद्वाज मुनि के आश्रम के समीप पहुँचकर बाहर उपस्थित हो गये। वहाँ एक ब्रह्मचारी को देखकर श्रीरामचन्द्रजी बोले-हे वट ! मुनिवर से जाकर कहिये कि सीता और लक्ष्मण के सहित दशरथ पुत्र राम आश्रम के बाहर खड़ा है ॥ २८ ३० ॥

तच्छ्रुत्वा सहसा गत्वा पादयोः पतितो मुनेः ।
स्वामिन् रामः समागत्य वनाद्बहिरवस्थितः ॥ ३१॥

सभार्यः सानुजः श्रीमानाह मां देवसन्निभः ।
भरद्वाजाय मुनये ज्ञापयस्व यथोचितम् ॥ ३२॥

रघुनाथजी की यह वाणी सुनकर ब्रह्मचारी शीघ्र ही मुनिवर के पास जाकर उनके चरणों में नतमस्तक होकर बोला-"भगवन् ! अपनी पत्नी एवं अनुज के साथ श्रीरामचन्द्रजी आकर आश्रम के बाहर खड़े

हैं। देवतुल्य श्रीमान् रामचन्द्र ने मुझसे कहा है कि मुनिवर भरद्वाज को यथोचित जानकारी दो" ॥ ३१-३२ ॥

तच्छ्रुत्वा सहसोत्थाय भरद्वाजो मुनीश्वरः ।
गृहीत्वार्घ्यं च पाद्यं च रामसामीप्यमाययौ ॥ ३३॥

यह सुनकर मुनीश्वर भरद्वाजजी सहसा उठकर स्वयं अर्द्ध पाद्य लेकर श्री राम के समीप आये ॥ ३३ ॥

दृष्ट्वा रामं यथान्यायं पूजयित्वा सलक्ष्मणम् ।
आह मे पर्णशालां भो राम राजीवलोचन ॥ ३४॥

आगच्छ पादरजसा पुनीहि रघुनन्दन ।
इत्युक्त्वोटजमानीय सीतया सह रघावौ ॥ ३५॥

श्रीराम को देखकर उन्होंने लक्ष्मण जी सहित उनका यथोचित पूजन सत्कार किया तथा बोले-हे राम ! हे कमलनयन रघुनन्दन! आप अपने चरणारविन्द से मेरी पर्णशाला को पवित्र कीजिये। यह कहकर वह श्री सीताजी के सहित दोनों रघुकुमारों को अपनी पर्णशाला में ले आए ॥३४-३५ ॥

भक्त्या पुनः पूजयित्वा चकारातिथ्यमुत्तमम् ।
अद्याहं तपसः पारं गतोऽस्मि तव सङ्गमात् ॥ ३६॥

और पुनः उनकी भक्तिपूर्वक पूजाकर उत्तम आतिथ्यसत्कार किया। तत्पश्चात् मुनिवर बोले-हे राम ! आज आपके समागम से मेरी तपस्या पूर्ण हो गयी है ॥ ३६ ॥

ज्ञातं राम तवोदन्तं भूतं चागामिकं च यत् ।
जानामि त्वां परात्मानं मायया कार्यमानुषम् ॥ ३७॥

हे रघुनन्दन! मैं आपका भूत और भविष्य सम्पूर्ण वृत्तान्त जानता हूँ। आप परमात्मा हैं और कार्य सिद्धि हेतु माया मनुष्य रूप धारण कर अवितरित हुए हैं। ॥३७॥

यदर्थमवतीर्णोऽसि प्रार्थितो ब्रह्मणा पुरा ।
यदर्थं वनवासस्ते यत्करिष्यसि वै पुरः ॥ ३८॥

जानामि ज्ञानदृष्ट्याहं जातया त्वदुपासनात् ।
इतः परं त्वां किं वक्ष्ये कृतार्थोऽहं रघूत्तम ॥ ३९॥

यस्त्वां पश्यामि काकुत्स्थं पुरुषं प्रकृतेः परम् ।
रामस्तमभिवाद्याह सीतालक्ष्मणसंयुतः ॥ ४०॥

अनुग्राह्यास्त्वया ब्रह्मन्वयं क्षत्रियबान्धवाः ।
इति सम्भाष्य तेऽन्योन्यमुषित्वा मुनिसन्निधौ ॥ ४१॥

पूर्वसमय में ब्रह्मा की प्रार्थना से जिस कारण आपने अवतार लिया है तथा जिस कारण आपको वनवास प्राप्त हुआ है और भविष्य में जो आप करेंगे वह सबकुछ मैं आपकी उपासना द्वारा प्राप्त ज्ञान दृष्टि से जानता हूँ। हे रघुश्रेष्ठ ! अधिक मैं क्या कहूँ ? मैं कृत-कृत्य हो गया, जो मुझे आज प्रकृति से परे परम पुरुष ककुत्स्थनन्दन आपको मैं साक्षात् देख रहा हूँ। तदनन्तर सीता और लक्ष्मण के सहित श्रीरामचन्द्रजी ने उन्हें प्रणाम किया और बोले-"ब्रह्मन् ! हम क्षत्रिय

कुलोत्पन्न होने के कारण आप की कृपा के पात्र हैं"! इस प्रकार परस्पर सम्भाषण के अनन्तर मुनि के आश्रम पर वह रूक गए ॥ ३८-४१॥

प्रातरुत्थाय यमुनामुत्तीर्य मुनिवारकैः ।
कृताप्लवहन मुनिना दृष्टमार्गेण राघवः ॥ ४२॥

प्रययौ चित्रकूटाद्रिं वाल्मीकेर्यत्र चाश्रमः ।
गत्वा रामोऽथ वाल्मीकेराश्रमं ऋषिसङ्कुलम् ॥ ४३॥

नानामृगद्विजाकीर्णं नित्यपुष्पफलाकुलम् ।
तत्र दृष्ट्वा समासीनं वाल्मीकिं मुनिसत्तमम् ॥ ४४॥

प्रातःकाल उठकर मुनियों द्वारा निर्मित नौका द्वारा उन्होंने यमुना को पार किये और मुनिवर द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से चित्रकूट पर्वत की ओर चल पड़े जहाँ श्रीवाल्मीकिजी का आश्रम था। ऋषिसमूह से परिपूर्ण नाना मृग, पक्षी समाकुल नित्य पुष्प, फलादि युक्त श्रीवाल्मीकि जी के आश्रम में जाकर श्रीरामचन्द्रजी ने मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकि जी वहां विराजमान देखा ॥ ४२-४४॥

ननाम शिरसा रामो लक्ष्मणेन च सीतया ।
दृष्ट्वा रामं रमानाथं वाल्मीकिर्लोकसुन्दरम् ॥ ४५॥

जानकीलक्ष्मणोपेतं जटामुकुटमण्डितम् ।
कन्दर्पसदृशाकारं कमनीयाम्बुजेक्षणम् ॥ ४६॥

श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण और सीता के साथ उन्हें शिर झुकाकर प्रणाम किया और श्रीवाल्मीकि जी सुन्दर कमल के समान नयन वाले, कामदेव की आकृति वाले, जटा-मुकुट-धारण किये हुए, त्रिलोक विमोहन लक्ष्मीपति श्रीरामचन्द्रजी को सीता और लक्ष्मण के सहित देखा ॥ ४५-४६॥

दृष्ट्वैव सहसोत्तस्थौ विस्मयानिमिषेक्षणः ।
आलिङ्ग्य परमानन्दं रामं हर्षाश्रुलोचनः ॥ ४७॥

उन्हें देखते ही वाल्मीकि जी सहसा उठकर खड़े हो गए और आश्चर्य पूर्वक उन्हें देखते हुए, आनन्दाश्रपूर्ण नयन हो उन्होंने परमानन्द स्वरूप श्रीरामचन्द्र जी का आलिङ्गन किया ॥ ४७ ॥

पूजयित्वा जगत्पूज्यं भक्त्यार्घ्यादिभिरादृतः ।
फलमूलैः स मधुरैर्भोजयित्वा च लालितः ॥ ४८॥

तथा अत्यन्त भक्तिपूर्वक जगत्पूज्य भगवान् श्री राम की अर्द्ध, पाद्य आदि से आदरपूर्वक पूजाकर मीठे-मीठे फल-मूलादि भोजन करा कर उनका सत्कार किया ॥४८॥

राघवः प्राञ्जलिः प्राह वाल्मीकिं विनयान्वितः ।
पितुराज्ञां पुरस्कृत्य दण्डकानागता वयम् ॥ ४९॥

तदनन्तर श्रीरघुनाथजी अति विनयपूर्वक हाथ जोड़कर श्रीवाल्मीकिजी से बोले-"हम पिताजी की आज्ञा से दण्डकवन में आये हैं ॥ ४९ ॥

भवन्तो यदि जानन्ति किं वक्ष्यामोऽत्र कारणम् ।
यत्र मे सुखवासाय भवहत्स्थानं वदस्व तत् ॥ ५०॥

आप तो सब कुछ जानते ही हैं । अत: हम इसका कारण क्या कहें ? मुझे कोई ऐसा स्थान बताइये जहाँ मैं सुखपूर्वक रह सकूँ, ॥५०॥

सीतया सहितः कालं किञ्चित्तत्र नयाम्यहम् ।
इत्युक्तो राघवहणासौ मुनिः सस्मितमब्रवीत् ॥ ५१॥

त्वमेव सर्वलोकानां निवासस्थानमुत्तमम् ।
तवापि सर्वभूतानि निवाससदनानि हि ॥ ५२॥

उस स्थान पर सीता के साथ मैं कुछ समय व्यतीत करूँगा । श्रीरघुनाथजी के इस प्रकार कहने पर मुनिवर मुस्कराकर बोले-हे राम ! आप ही सम्पूर्ण प्राणियों के उत्तम निवास स्थान हैं तथा सम्पूर्ण जीव भी आपके निवास सदन (गृह) हैं ॥ ५१-५२ ॥

एवं साधारणं स्थानमुक्तं ते रघुनन्दन ।
सीतया सहितस्येति विशेषं पृच्छतस्तव ।
तद्वक्ष्यामि रघुश्रेष्ठ यत्ते नियतमन्दिरम् ॥ ५३॥

शान्तानां समदृष्टीनामद्वेष्टॄणां च जन्तुषु ।
त्वामेव भजतां नित्यं हृदयं तेऽधिमन्दिरम् ॥ ५४॥

हे रघुनन्दन ! इस प्रकार मैंने आपका साधारण निवास स्थान बताया, किन्तु आप सीता सहित अपने रहने योग्य स्थान विशेषरूप से पूछे हैं, तो हे रघुश्रेष्ठ ! मैं आपके निश्चित गृह को बतलाता हूँ। जो प्राणी

शान्त, समदर्शी, सम्पूर्ण जीवों के प्रति द्वेष रहित और अहर्निश आपके भजन करने में संलग्न रहते हैं, उनका हृदय आपका उत्तम निवास स्थान है ॥५३-५४ ॥

धर्माधर्मान् परित्यज्य त्वामेव भजतोऽनिशम् ।
सीतया सह ते राम तस्य हृत्सुखमन्दिरम् ॥ ५५॥

हे राम! जो प्राणी धर्म एवं अधर्म दोनों का त्यागकर निरन्तर आपका भजन करता है, उसके हृदय मन्दिर में आप सीता सहित सुखपूर्वक निवास करते हैं ॥ ५५॥

त्वन्मन्त्रजापको यस्तु त्वामेव शरणं गतः ।
निर्द्वन्द्वो निःस्पृहस्तस्य हृदयं ते सुमन्दिरम् ॥ ५६॥

जो प्राणी आपके मन्त्र का जप करने वाला आपके चरण में रहने वाला निर्द्वन्द्व और निःस्पृह है, उसका हृदय आपका सुन्दर मन्दिर है ॥५६ ॥

निरहङ्कारिणः शान्ता यह रागद्वेषवर्जिताः ।
समलोष्टाश्मकनकास्तेषां ते हृदयं गृहम् ॥ ५७॥

त्वयि दत्तमनोबुद्धिर्यः सन्तुष्टः सदा भवहत् ।
त्वयि सन्त्यक्तकर्मा यस्तन्मनस्ते शुभं गृहम् ॥ ५८॥

जो प्राणी अहंकार रहित, शान्त स्वभाव, रागद्वेष रहित, मृत-पिण्ड पाषाण और सुवर्ण में समदृष्टि है, जो प्राणी आप में मन और बुद्धि

रखकर सदा सन्तुष्ट रहता है तथा अपना सम्पर्ण कर्म आपको समर्पण करता है, उसका मन आपका शुभ घर है ॥५७-५८॥

यो न द्वेष्ट्यप्रियं प्राप्य प्रियं प्राप्य न हृष्यति ।
सर्वं मायेति निश्चित्य त्वां भजेत्तन्मनो गृहम् ॥ ५९॥

जो प्राणी अप्रिय को प्राप्तकर न द्वेष करता है और न प्रिय को प्राप्त कर हर्षित होता है तथा यह अखिल जगत प्रपंच मायामात्र है, यह निश्चय कर आपका भजन करता है। उसका मन आपका गृह है ॥ ५९॥

षड्भावादिविकारान् यो देहे पश्यति नात्मनि ।
क्षुत्तृट् सुखं भयं दुःखं प्राणबुद्ध्योर्निरीक्षते ॥ ६०॥

संसारधर्मैर्निर्मुक्तस्तस्य ते मानसं गृहम् ॥ ६१॥

जो प्राणी षड्विकार (सत्ता, जन्मलेना, बड़ा होना, बलदना, क्षीण होना और नाश होना) को शरीर में ही देखता है, आत्मा में नहीं और क्षुधा, तृष्णा, सुख, दुःख और भय आदि सब प्राण और बुद्धि का विकार समझता है तथा स्वयं सांसारिक धर्मों से निर्मुक्त है, उसका हृदय आपका गृह है ॥ ६०-६१ ॥

पश्यन्ति यह सर्वगुहाशयस्थं त्वां चिद्घनं सत्यमनन्तमेकम् ।
अलेपकं सर्वगतं वरेण्यं तेषां हृदब्जे सह सीतया वस ॥ ६२॥

जो प्राणी चिद्घन, सत्यस्वरूप, अनन्त, एकनिर्लेप, सर्वगत, वरेण्य आपको समस्त भूतों के अन्तः करण में स्थित देखते है। उनके हृत्कमल में आप सीताजी सहित निवास कीजिये ॥ ६२ ॥

निरन्तराभ्यासदृढीकृतात्मनां त्वत्पादसेवापरिनिष्ठितानाम् ।
त्वन्नामकीर्त्या हतकल्मषाणां सीतासमेतस्य गृहं हृदब्जे ॥ ६३॥

निरन्तर अभ्यास के द्वारा जिन्होंने अपने चित्त को दृढ़ कर लिया है; तथा जो आपके चरणारविन्द की सेवा में सदा तल्लीन रहते हैं, और आपके नाम संकीर्तन से जिनका सम्पूर्ण कल्मष समाप्त हो गया है उनका हृत्कमल सीताजी सहित आपका निवास गृह है ॥ ६३ ॥

राम त्वन्नाममहिमा वर्ण्यते केन वा कथम् ।
यत्प्रभावादहं राम ब्रह्मर्षित्वमवाप्तवान् ॥ ६४॥

हे राम! आपके उस नाम की महिमा का वर्णन किस प्रकार किया जाए, जिसके प्रभाव से मुझे ब्रह्मर्षि पद प्राप्त हुआ है ॥६४॥

अहं पुरा किरातेषु किरातैः सह वर्धितः ।
जन्ममात्रद्विजत्वं मे शूद्राचाररतः सदा ॥ ६५॥

पूर्व समय में मैं किरातों के साथ रहता था और उन लोगों के साथ बड़ा हुआ। मैं केवल जन्म मात्र से ब्राह्मण था किन्तु आचरण से सदा शूद्र था ॥ ६५॥

शूद्रायां बहवः पुत्रा उत्पन्ना मेऽजितात्मनः ।
ततश्चोरैश्च सङ्गम्य चौरोऽहमभवं पुरा ॥ ६६॥

मुझ अजितेन्द्रिय से अनेक शूद्र पुत्र उत्पन्न हुए हैं। उस समय मैं चोरों के संग में रहने के कारण चोर हो गया था ॥ ६६ ॥

धनुर्बाणधरो नित्यं जीवानामन्तकोपमः ।
एकदा मुनयः सप्त दृष्टा महति कानने ॥ ६७॥

मैं नित्य प्रति धनुष वाण लिए हुए प्राणियों को मारने वाले यमराज के समान था, मैंने एक समय एक घोर जंगल में सप्तर्षियों को देखा ॥ ६७ ॥

साक्षान्मया प्रकाशन्तो ज्वलनार्कसमप्रभाः ।
तानन्वधावं लोभेन तेषां सर्वपरिच्छदान् ॥ ६८॥

ग्रहीतुकामस्तत्राहं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवम् ।
दृष्ट्वा मां मुनयोऽपृच्छन् किमायासि द्विजाधम ॥ ६९॥

वह अपनी प्रभा से साक्षात् अग्नि और सूर्य के समान प्रकाशमान थे। मैं उनका सर्वस्व अपहरण करने के लोभ से उनके पीछे दौड़ा और बोला ठहरो, ठहरो! तदनन्तर मुनीश्वर मुझे देखकर पूछे-"हे द्विजाधम ! तुम क्यों आ रहे हो ? ॥ ६८-६९ ॥

अहं तानब्रवं किञ्चिदादातुं मुनिसत्तमाः ।
पुत्रदारादयः सन्ति बहवो मे बुभुक्षिताः ॥ ७०॥

मैंने कहा -हे मुनिगण ! मेरे अनेक पुत्र-कलत्रादि भूख से वुभुक्षित हैं। अत-एव उनके भरण-पोषण के लिए कुछ लेने आ रहा हूँ॥ ७०॥

तेषां संरक्षणार्थाय चरामि गिरिकानने ।
ततो मामूचुरव्यग्राः पृच्छ गत्वा कुटुम्बकम् ॥ ७१॥

यो यो मया प्रतिदिनं क्रियते पापसञ्चयः ।
यूयं तद्भागिनः किं वा नेति वहतिपृथक्पृथक् ॥ ७२॥

उन लोगों के ही संरक्षण हेतु मैं गिरि-कानन में भ्रमण करता हूँ। इस पर वह मुनीश्वर निर्भयता पूर्वक बोले कि तुम अपने कुटुम्बियों के पास जाकर प्रत्येक बन्धुओं से पृथक्-पृथक् पूछ कर आओ कि जो मैं प्रतिदिन पाप सञ्चय करता हूँ, आपलोग भी उसके भागी हैं या नहीं ? ॥७१-७२ ॥

वयं स्थास्यामहे तावदागमिष्यसि निश्चयः ।
तथेत्युक्त्वा गृहं गत्वा मुनिभिर्यदुदीरितम् ॥ ७३॥

अपृच्छं पुत्रदारादीन्स्तैरुक्तोऽहं रघूत्तम ।
पापं तवैव तत्सर्वं वयं तु फलभागिनः ॥ ७४॥

निश्चय ही जब तक तुम लौटकर नहीं आओगे तब तक हम यहीं रहेंगे। “जैसी आपकी इच्छा" यह कहकर मैं घर आ गया तथा जिस प्रकार प्रश्न करने को मुझसे मुनीश्वरों ने कहा था उसको मैंने अपने पुत्र-स्त्री आदि से पूछा। हे रघुश्रेष्ठ ! इस प्रकार पूछने पर वह बोले कि, "वह सम्पूर्ण पाप तुम्हारा ही होगा, हम लोग तो फल द्रव्यादि के भागी होंगे ॥ ७३-७४ ॥

तच्छ्रुत्वा जातनिर्वेदो विचार्य पुनरागमम् ।

मुनयो यत्र तिष्ठन्ति करुणापूर्णमानसाः ॥ ७५॥

यह सुनकर मुझे वैराग्य उत्पन्न हो गया तथा मैं विचार करता हुआ करुणा से पूर्ण हृदय वाले मुनीश्वर जहाँ थे वहाँ वापस आया ॥ ७५ ॥

मुनीनां दर्शनादेव शुद्धान्तःकरणोऽभवम् ।
धनुरादीन् परित्यज्य दण्डवत्पतितोऽस्म्यहम् ॥ ७६॥

रक्षध्वं मां मुनिश्रेष्ठा गच्छन्तं निरयार्णवम् ।
इत्यग्रे पतितं दृष्ट्वा मामूचुर्मुनिसत्तमाः ॥ ७७॥

तत्पश्चात् उन मुनिगणों के दर्शनमात्र से ही मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो गया और मैं धनुष बाणादि का त्यागकर दण्डवत् पृथ्वी पर गिर पड़ा ॥ ७६ ॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते सफलः सत्समागमः ।
उपदेक्ष्यामहे तुभ्यं किञ्चित्तेनैव मोक्ष्यसे ॥ ७८॥

परस्परं समालोच्य दुर्वृत्तोयं द्विजाधमः ।
उपेक्ष्य एव सद्वृत्तैस्तथापि शरणं गतः ।
रक्षणीयः प्रयत्नेन मोक्षमार्गोपदेशतः ॥ ७९॥

"हे मुनिश्रेष्ठ! इस पापरूपी समुद्र में जाते हुए मेरी रक्षा कीजिये-इस प्रकार मुझे अपने सामने पड़ा देखकर मुनीश्वर बोले-"उठो, उठो ? तुम्हारा संत समागम सफल हो गया, तुम्हारा कल्याण हो, तुम्हें हम कुछ उपदेश देते हैं उससे तुम मुक्त हो जाओगे"। उन्होंने आपस में विचार किया कि यह ब्राह्मणाधम दुराचारी है। अतः सदाचारियों के

लिए उपेक्ष्य है, किन्तु क्योंकि यह शरणागत है तो मोक्षमार्ग के उपदेश द्वारा यत्नपूर्वक इसकी रक्षा करनी चाहिये ॥ ७८-७९॥

इत्युक्त्वा राम ते नाम व्यत्यस्ताक्षरपूर्वकम् ।
एकाग्रमनसात्रैव मरेति जप सर्वदा ॥ ८०॥

हे राम! यह सोचकर वे आपके नामाक्षरों को व्यस्त (मरा) कर मुझसे बोले कि तुम इस स्थान पर एकाग्रचित होकर "मरा-मरा" का सदा जप करो ॥ ८० ॥

आगच्छामः पुनर्यावत्तावदुक्तं सदा जप ।
इत्युक्त्वा प्रययुः सर्वे मुनयो दिव्यदर्शनाः ॥ ८१॥

जब तक हम पुनः लौट कर न आयें तब तक तुम सर्वदा इस निर्दिष्ट विधि से जप करो'। यह कहकर वह दिव्य दर्शन मुनीश्वर चले गये ॥ ८१॥

अहं यथोपदिष्टं तैस्तथाकरवमञ्जसा ।
जपन्नेकाग्रमनसा बाह्यं विस्मृतवानहम् ॥ ८२॥

एवं बहुतिथे काले गते निश्चलरूपिणः ।
सर्वसङ्गविहीनस्य वल्मीकोऽभून्ममोपरि ॥ ८३॥

तत्पश्चात् मैं उनके उपदेशानुसार अहर्निश जप करने लगा। इस प्रकार निरन्तर एकाग्रचित्त होकर जप करते-करते मुझे बाह्य ज्ञान विस्मृत हो गया और इस प्रकार बहुत काल तक निश्चलता पूर्वक रहने

से सर्वसङ्गविहीन मेरे ऊपर वल्मीक (दीमक का ढेर) बन गया ॥ ८२-८३ ॥

ततो युगसहस्रान्ते ऋषयः पुनरागमन् ।
मामूचुर्निष्क्रमस्वेति तच्छ्रुत्वा तूर्णमुत्थितः ॥ ८४॥

वल्मीकान्निर्गतश्चाहं नीहारादिव भास्करः ।
मामप्याहुर्मुनिगणा वाल्मीकिस्त्वं मुनीश्वर ॥ ८५॥

तत्पश्चात् एक हजार युग व्यतीत होने पर उन मुनीश्वरों का पुनः आगमन हुआ और वह मुझसे बोले-"निकल आओ" यह सुनकर मैं खड़ा हो गया और जिस प्रकार कुहरे को पार कर भास्कर निकलते हैं, उस प्रकार मैं वल्मीक के अन्दर से निकल आया। तब मुनीश्वर मुझसे बोले-हे मुनिवर ! तुम वाल्मीकि हो ॥ ८४-८५॥

वल्मीकात्सम्भवो यस्माद् द्वितीयं जन्म तेऽभवत् ।
इत्युक्त्वा ते ययुर्दिव्यगतिं रघुकुलोत्तम ॥ ८६॥

इस समय वल्मीक से निकलने के कारण यह तुम्हारा दूसरा जन्म हुआ है। हे रघुश्रेष्ठ ! यह कहकर वह दिव्यलोक को चले गये ॥८६॥

अहं ते राम नाम्नश्च प्रभावादीदृशोऽभवम् ।
अद्य साक्षात्प्रपश्यामि ससीतं लक्ष्मणेन च ॥ ८७॥

रामं राजीवपत्राक्षं त्वां मुक्तो नात्र संशयः ।
आगच्छ राम भद्रं ते स्थलं वै दर्शयाम्यहम् ॥ ८८॥

हे राम! आपके नाम के प्रभाव से मैं ऐसा हो गया और आज सीता और लक्ष्मण के साथ साक्षात् कमलनयन आपको देख रहा हूँ। आह ! मैं निःसन्देह मुक्त हो गया। हे राम ! आपका मङ्गल हो, आप आइये, मैं आपके रहने योग्य स्थान दिखाता हूँ ॥ ८७-८८॥

एवमुक्त्वा मुनिः श्रीमान्ल्लक्ष्मणेन समन्वितः ।
शिष्यैः परिवृतो गत्वा मध्ये पर्वतगङ्गयोः ॥ ८९॥

तत्र शालां सुविस्तीर्णां कारयामास वासभूः ।
प्राक्पश्चिमं दक्षिणोदक् शोभनं मन्दिरद्वयम् ॥ ९०॥

यह कह कर शिष्यों से चारों ओर से घिरे हुए श्रीमान मुनिवर वाल्मीकिजी लक्ष्मण के सहित गंगा और पर्वत के मध्य स्थल में जाकर भगवान राम के रहने योग्य-एक सुविशाल शाला बनाये, जिसमे एक पूर्व-पश्चिम और दूसरा उत्तर दक्षिण दो सुन्दर घर बनाए गए ॥ ८९-९० ॥

जानक्या सहितो रामो लक्ष्मणेन समन्वितः ।
तत्र ते देवसदृशा ह्यवसन् भवनोत्तमे ॥ ९१॥

उस दिव्य भवन में जानकीजी के साथ श्रीराम और लक्ष्मण देवताओं के समान रहने लगे ॥ ९१ ॥

वाल्मीकिना तत्र सुपूजितोऽयं
रामः ससीतः सह लक्ष्मणेन ।
देवैर्मुनीन्द्रैः सहितो मुदास्ते
स्वर्गे यथा देवपतिः सशच्या ॥ ९२॥

श्रीवाल्मीकिजी से विधिवत् सम्मानित होकर देवता और मुनिगणों सहित श्रीरामचन्द्रजी वहाँ सीता और लक्ष्मण के साथ स्वर्गलोक में इन्द्राणी (शची) के साथ देवराज इन्द्र के रहने के समान रहने लगे ॥ ९२॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे
अयोध्याकाण्डे षष्ठः सर्गः ॥ ६॥

॥ सप्तमः सर्गः ॥

सुमन्त्र का लौटकर आना, राजा दशरथ का स्वर्गवास तथा भरतजी का नौनिहाल से आना और श्रीवसिष्ठजी के आदेश से पिता का अन्त्येष्टि-संस्कार करना।

सुमन्त्रोऽपि तदायोध्यां दिनान्ते प्रविवहश ह ।
वस्त्रेण मुखमाच्छाद्य बाष्पाकुलितलोचनः ॥ १॥

श्रीमहादेवजी बोले-सुमन्त्र जी ने भी सन्ध्या काल में, सजल नेत्र होकर, वस्त्र से मुख ढंककर अयोध्यापुरी में प्रवेश किया ॥ १॥

बहिरेव रथं स्थाप्य राजानं द्रष्टुमाययौ ।
जयशब्देन राजानं स्तुत्वा तं प्रणनाम ह ॥ २॥

वह रथ को बाहर रखकर राजा को देखने के लिये अन्तःपुर में गये और जयध्वनि से उनकी स्तुतिकर राजा को प्रणाम किया ॥२॥

ततो राजा नमन्तं तं सुमन्त्रं विह्वलोऽब्रवीत् ।
सुमन्त्र रामः कुत्रास्ते सीतया लक्ष्मणेन च ॥ ३॥

राजा दशरथ नमस्कार करते हुए सुमन्त्र को देखकर दुःख से विह्वल होकर बोले-"सुमन्त्र! सीता और लक्ष्मण के सहित रामजी कहाँ हैं ? ॥३॥

कुत्र त्यक्तस्त्वया रामः किं मां पापिनमब्रवीत् ।
सीता वा लक्ष्मणो वापि निर्दयं मां किमब्रवीत् ॥ ४॥

आपने राम को कहाँ छोड़ा है? वह मुझ पापी को क्या कहे हैं ? तथा सीता और लक्ष्मण ने भी मुझ निर्दयी को क्या कहा है ॥४॥

हा राम हा गुणनिधे हा सीते प्रियवादिनि ।
दुःखार्णवह निमग्नं मां म्रियमाणं न पश्यसि ॥ ५॥

हा-राम! हा गुणनिधे! हा प्रियवादिनि सीते! क्या मुझको दुःख सागर में डूब कर मरते हुए तुम नहीं देखते हो" ? ॥ ५॥

विलप्यैवं चिरं राजा निमग्नो दुःखसागरे ।
एवं मन्त्री रुदन्तं तं प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ ६॥

रामः सीता च सौमित्रिर्मया नीता रथेन ते ।
शृङ्गवहरपुराभ्याशे गङ्गाकूले व्यवस्थिताः ॥ ७॥

इस प्रकार बहुत देर तक विलाप कर राजा दुःख समुद्र में डूब गये। उन्हें इसप्रकार रुदन करते हुए देखकर मन्त्री हाथ जोड़कर बोले-महाराज! मैं राम, सीता और लक्ष्मण को आपके रथ में बैठाकर ले गया। उन्होंने शृङ्गवेर पुर के समीप गङ्गाजी के किनारे विश्राम किया ॥ ६-७ ॥

गुहेन किञ्चिदानीतं फलमूलादिकं च यत् ।
स्पृष्ट्वा हस्तेन सम्प्रीत्या नाग्रहीद्विससर्ज तत् ॥ ८॥

वहाँ पर निषादराज गुह फल मूलादि लेकर आया, किन्तु रामजी ने उन्हें प्रतिपूर्वक हाथ से ही स्पर्शकर करके ही छोड़ दिया, उनमें से कुछ भी ग्रहण नहीं किया ॥८॥

वटक्षीरं समानाय्य गुहेन रघुनन्दनः ।
जटामुकुटमाबद्ध्य मामाह नृपते स्वयम् ॥ ९॥

तत्पश्चात् श्रीरघुनाथ जी ने निषाद राज गुह से वट का दूध मँगाकर अपनी जटाओं का मुकुट बनाया और मुझसे बोले ॥ ९॥

सुमन्त्र ब्रूहि राजानं शोकस्तेऽस्तु न मत्कृते ।
साकेतादधिकं सौख्यं विपिने नो भविष्यति ॥ १०॥

सुमन्त्रजी ! महाराज से निवेदन कीजियेगा कि वह मेरे लिये शोक न करें। हमें साकेत से भी अधिक सुख वन में प्राप्त होगा ॥ १०॥

मातुर्मे वन्दनं ब्रूहि शोकं त्यजतु मत्कृते ।
आश्वासयतु राजानं वृद्धं शोकपरिप्लुतम् ॥ ११॥

माता से मेरा प्रणाम निवेदन कर कहिएगा कि मेरे लिये शोक करना छोड़ दें। महाराज वृद्ध और शोक से व्याकुल हैं उन्हें आश्वस्त करना ॥ ११॥

सीता चाश्रुपरीताक्षी मामाह नृपसत्तम ।
दुःखगद्गदया वाचा रामं किञ्चिदवहक्षती ॥ १२॥

साष्टाङ्गं प्रणिपातं मे ब्रूहि श्वश्र्वोः पदाम्बुजे ।
इति प्ररुदती सीता गता किञ्चिदवाङ्मुखी ॥ १३॥

हे नृपश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् सजालनेत्र हो राम के तरफ किञ्चित् देखती हुई सीता दुःख पूर्वक गदगद वाणी से मुझसे बोली; दोनों सासुओं के चरण कमलों में मेरा प्रणाम कहियेगा और यह कहकर थोड़ा सिर झुकाकर रोती हुई वहाँ से चली गयी ॥ १२-१३ ॥

ततस्तेऽश्रुपरीताक्षा नावमारुरुहुस्तदा ।
यावद्गङ्गां समुत्तीर्य गतास्तावदहं स्थितः ॥ १४॥

ततो दुःखेन महता पुनरेवाहमागतः ।
ततो रुदन्ती कौसल्या राजानमिदमब्रवीत् ॥ १५॥

कैकेय्यै प्रियभार्यायै प्रसन्नो दत्तवान् वरम् ।
त्वं राज्यं देहि तस्यैव मत्पुत्रः किं विवासितः ॥ १६॥

तत्पश्चात् वह सब सजलनेत्रों से नाव पर आरूढ़ हुए। जबतक वह लोग गंगा जी के उस पार पहुंचे, तब तक मै वहीं स्थित था । तदनन्तर मैं वहाँ से चलकर बड़े दु.ख से यहाँ आया हूँ। तत्पश्चात् रोती हुई कौसल्या राजा से यह बोली कि हे राजन् ! यदि आप प्रसन्न होकर अपनी प्रिया कैकयी को वर दिया तो आपके लिए उचित था कि आप उसके पुत्र को ही राज्य दे देते, किन्तु मेरे पुत्र को आपने देश से क्यों निकाल दिया ॥ १४-१६ ॥

कृत्वा त्वमेव तत्सर्वमिदानीं किं नु रोदिषि ।
कौसल्यावचनं श्रुत्वा क्षते स्पृष्ट इवाग्निना ॥ १७॥

और अब आप यह सब करने के पश्च्यात रोते क्यों हैं ? कौसल्या की ऐसी बातें सुनकर ऐसी वेदना हुई जैसे घाव में अग्नि के स्पर्श से होती है ॥१७॥

पुनः शोकाश्रुपूर्णाक्षः कौसल्यामिदमब्रवीत् ।
दुःखेन म्रियमाणं मां किं पुनर्दुःखयस्यलम् ॥ १८॥

तदनन्तर महाराज शोकाश्रुपूर्ण नेत्र हो कौसल्या से बोले-मैं तो स्वयं दुःख से मर रहा हूँ, इस प्रकार मुझे क्यों दुःख देती हो ? अब इससे क्या लाभ है ? ॥ १८ ॥

इदानीमेव मे प्राणा उत्क्रमिष्यन्ति निश्चयः ।
शप्तोऽहं बाल्यभावहन केनचिन्मुनिना पुरा ॥ १९॥

निःसन्देह मेरे प्राण अभी निकलने वाले हैं। पूर्वसमय में मेरी मूर्खता के कारण एक मुनीश्वर ने मुझे शाप दिया था ॥ १५॥

पुराहं यौवने दृप्तश्चापबाणधरो निशि ।
अचरं मृगयासक्तो नद्यास्तीरे महावने ॥ २०॥

एक समय मैं युवावस्था के मद से उन्मत्त होकर आखेट में आसक्ति के कारण रात्रि के समय हाथ में धनुष-बाण लेकर घोर जंगल में नदी के किनारे भ्रमण कर रहा था ॥२०॥

तत्रार्धरात्रसमये मुनिः कश्चित्तृषार्दितः ।
पिपासार्दितयोः पित्रोर्जलमानेतुमुद्यतः ।
अपूरयज्जले कुम्भं तदा शब्दोऽभवन्महान् ॥ २१॥

वहां आधी रात के समय किसी प्यासे मुनि ने अपने प्यासे माता-पिता के लिये जल लेने हेतु नदी में घड़ा डुबाया। जिससे समय महान शब्द हुआ ॥ २१ ॥

गजः पिबति पानीयमिति मत्वा महानिशि ।
बाणं धनुषि सन्धाय शब्दवहधिनमक्षिपम् ॥ २२॥

हा हतोऽस्मीति तत्राभूच्छब्दो मानुषसूचकः ।
कस्यापि न कृतो दोषो मया केन हतो विधे ॥ २३॥

और ऐसा लगा जैसे कोई हाथी पानी पी रहा है, यह सोचकर मैंने घनुष पर बाण चढ़ाकर शब्दवेधी बाण छोड़ा। परन्तु वहाँ पर मनुष्य सूचक शब्द हुआ कि हा! मैं मारा गया । हे विधे ! मैंने तो किसी का कोई अपराध नहीं किया था, मुझको किसने मारा ? ॥२२ -२३॥

प्रतीक्षते मां माता च पिता च जलकाङ्क्षया ।
तच्छ्रुत्वा भयसन्त्रस्तस्ततोऽहं पौरुषं वचः ॥ २४॥

शनैर्गत्वाथ तत्पार्श्वं स्वामिन् दशरथोऽस्म्यहम् ।
अजानता मया विद्धस्त्रातुमर्हसि मां मुने ॥ २५॥

हाय! मेरे माता पिता भी जल के लिये मेरा रास्ता देख रहे होंगे। इस प्रकार मनुष्य का वचन सुनकर मैं अत्यन्त भयभीत हुआ और धीरे-धीरे उनके पास जाकर बोला"-प्रभो ! मैं दशरथ हूँ, मैंने ही अनजाने में यह बाण छोड़ा है। हे मुने! आप मेरी रक्षा कीजिये ॥ २४-२५॥

इत्युक्त्वा पादयोस्तस्य पतितो गद्गदाक्षरः ।
तदा मामाह स मुनिर्मा भैषीर्नृपसत्तम ॥ २६॥

यह कहकर मैं गदगद कण्ठ होकर उनके चरणों में गिर गया। तदनन्तर वह मुनीश्वर मुझसे बोले-हे नृपश्रेष्ठ ! डरो मत ॥ २६ ॥

ब्रह्महत्या स्पृशेन्न त्वां वैश्योऽहं तपसि स्थितः ।
पितरौ मां प्रतीक्षेते क्षुत्तृड्भ्यां परिपीडितौ ॥ २७॥

तुम्हें ब्रह्महत्या नहीं लगेगी, क्योंकि मैं ब्राह्मण नहीं, तपस्या में स्थित वैश्य हूँ। मेरे माता-पिता भूख और प्यास से व्याकुल होकर मेरी राह देखते होंगे॥ २६ ॥

तयोस्त्वमुदकं देहि शीघ्रमेवाविचारयन् ।
न चेत्त्वां भस्मसात्कुर्यात्पिता मे यदि कुप्यति ॥ २८॥

अत: बिना कुछ विचार किये ही अब तुम शीघ्र उन्हें जल दे आओ, यदि मेरे पिता कुपित हो गये तो वह तुम्हें भस्म कर डालेंगे ॥२८॥

जलं दत्वा तु तौ नत्वा कृतं सर्वं निवहदय ।
शल्यमुद्धर मे देहात्प्राणान्स्त्यक्ष्यामि पीडितः ॥ २९॥

उन्हें जल देकर और नमस्कार कर अपना सारा कृत्य सुना देना। मुझे अत्यन्त पीड़ा हो रही है। तुम मेरे शरीर में से बाण निकाल दो, अब मैं प्राण त्याग करूँगा ॥ २९ ॥

इत्युक्तो मुनिना शीघ्रं बाणमुत्पाट्य देहतः ।
सजलं कलशं धृत्वा गतोऽहं यत्र दम्पती ॥ ३०॥

मुनि के यह कहने पर मैंने शीघ्र ही उनके शरीर से बाण निकाल दिया और जल का घड़ा लेकर उनके माता-पिता के पास गया ॥ ३० ॥

अतिवृद्धावन्धदृशौ क्षुत्पिपासार्दितौ निशि ।
नायाति सलिलं गृह्य पुत्रः किं वात्र कारणम् ॥ ३१॥

उनके माता-पिता कह रहे थे कि हम अत्यन्तवृद्ध और नेत्रहीन हैं और भुख प्यास से पीड़ित हो रहे हैं। इस रात्रि के समय मेरा पुत्र अबतक जल लेकर नहीं आया, इसमें क्या कारण है ? ॥ ३१॥

अनन्यगतिकौ वृद्धौ शोच्यौ तृट्परिपीडितौ ।
आवामुपेक्षते किं वा भक्तिमानावयोः सुतः ॥ ३२॥

हम दोनों अनन्यगतिक हैं, अर्थात् कोई दूसरा सहारा नहीं है, हम वृद्ध, शोचनीय और प्यास से अत्यन्त पीडित हैं। हमलोगों का भक्त पुत्र हम लोगों की उपेक्षा क्यों कर रहा है ? ॥ ३२ ॥

इति चिन्ताव्याकुलौ तौ मत्पादन्यासजं ध्वनिम् ।
श्रुत्वा प्राह पिता पुत्र किं विलम्बः कृतस्त्वया ॥ ३३॥

इस प्रकार चिन्ता से व्याकुल हो रहे मेरे पैरों की ध्वनि सुनकर पिता ने पूछा-बेटा! आज तू इतनी विलम्ब क्यों किया ॥ ३३ ॥

देह्यावयोः सुपानीयं पिब त्वमपि पुत्रक ।
इत्येवं लपतोर्भीत्या सकाशमगमं शनैः ॥ ३४॥

हमें पवित्रजल दो और तुम भी जल पीओ। उनके इस प्रकार कहने पर मैं डरते डरते धीरे से उनके पास गया ॥ ३४॥

पादयोः प्रणिपत्याहमब्रवं विनयान्वितः ।
नाहं पुत्रस्त्वयोध्याया राजा दशरथोऽस्म्यहम् ॥ ३५॥

उनके चरणों में प्रणाम कर नम्रता पूर्वक बोला-मै आपका पुत्र नहीं हूँ, बल्कि अयोध्या का राजा दशरथ हूँ ॥ ३५ ॥

पापोऽहं मृगयासक्तो रात्रौ मृगविहिंसकः ।
जलावताराद्दूरेऽहं स्थित्वा जलगतं ध्वनिम् ॥ ३६॥

श्रुत्वाहं शब्दवहधित्वादेकं बाणमथात्यजम् ।
हतोऽस्मीति ध्वनिं श्रुत्वा भयात्तत्राहमागतः ॥ ३७॥

मैं पापी मृग आखेट में आसक्ति के कारण रात्रि के समय पशुओं का वध करता फिरता था। जलाशय से मैं दूर था, किन्तु जल में ध्वनि को सुनकर मैंने एक शब्दवेधी छोड़ा । परन्तु "मैं मारा गया" यह शब्द जब मै सुना तो डरता हुआ वहाँ गया ॥३६-३७॥

जटां विकीर्य पतितं दृष्ट्वाहं मुनिदारकम् ।
भीतो गृहीत्वा तत्पादौ रक्ष रक्षेति चाब्रवम् ॥ ३८॥

मैं वहाँ आकर जटा फैलाये पड़े एक मुनिकुमार को देखा तो भय से उनके चरण पकड़ लिया और 'मेरी रक्षा करो, रक्षा करो' कहने लगा ॥ ३८ ॥

मा भैषीरिति मां प्राह ब्रह्महत्याभयं न ते ।
मत्पित्रोः सलिलं दत्त्वा नत्वा प्रार्थय जीवितम् ॥ ३९॥

तब वह बोले डरो मत, तुम्हे ब्रह्महत्या का डर नहीं है। मेरे माता-पिता को जल देकर उन्हें प्रणाम कर जीवनदान के लिये प्रार्थना करो ॥३९॥

इत्युक्तो मुनिना तेन ह्यागतो मुनिहिंसकः ।
रक्षेतां मां दयायुक्तौ युवां हि शरणागतम् ॥ ४०॥

मुनिकुमार के इस प्रकार कहने पर यह मुनि हिंसक आप के समीप आया है । आप दोनों बड़े दयावान् हैं, आप कृपा पूर्वक इस शरणागत की रक्षा कीजिये ॥ ४०॥

इति श्रुत्वा तु दुःखार्तौ विलप्य बहु शोच्य तम् ।
पतितो नौ सुतो यत्र नय तत्राविलम्बयन् ॥ ४१॥

यह सुनकर वह दोनों दुःख से व्याकुल होकर, अपने पुत्र के लिये बहुत शोक और विलाप करते हुये पृथ्वीपर गिर पड़े। वे बोले-"जहाँ हमारा पुत्र है, वहाँ हमें ले चलो" ॥४१॥

ततो नीतौ सुतो यत्र मया तौ वृद्धदम्पती ।
स्पृष्ट्वा सुतं तौ हस्ताभ्यां बहुशोऽथ विलेपतुः ॥ ४२॥

तब उनके मृत पुत्र के पास उन वृद्ध दम्पत्ति को मैं ले गया और वह उसे हाथों से छूकर अति विलाप करने लगे ॥ ४२ ॥

हाहेति क्रन्दमानौ तौ पुत्र पुत्रेत्यवोचताम् ।
जलं देहीति पुत्रेति किमर्थं न ददास्यलम् ॥ ४३॥

"हा पुत्र ! हा पुत्र ! यह कहते हुए वे रोते हुए बोले -'बेटा! हमें जल दो, हमें जल दो। आज जल क्यों नहीं देते हो ? ॥ ४३ ॥

ततो मामूचतुः शीघ्रं चितिं रचय भूपते ।
मया तदैव रचिता चितिस्तत्र निवहशिताः ।
त्रयस्तत्राग्निरुत्सृष्टो दग्धास्ते त्रिदिवं ययुः ॥ ४४॥

इसके पश्च्यात वह मुझसे बोले -राजन् ! शीघ्र चिता बनाओ। मैंने शीघ्र ही चिता तैयार कर दी दिया। वह तीनों उस पर चढ़ गये और अग्नि लगाने पर उसमें भस्म होकर स्वर्गलोक को चले गये ॥ ४४ ॥

तत्र वृद्धः पिता प्राह त्वमप्येवं भविष्यसि ।
पुत्रशोकेन मरणं प्राप्स्यसे वचनान्मम ॥ ४५॥

उस समय वृद्ध पिता ने मुझसे कहा कि तुम्हें भी ऐसा ही होगा। मेरे वचन से तुम्हारा भी पुत्र शोक से ही मरण होगा।४५ ॥

स इदानीं मम प्राप्तः शापकालोऽनिवारितः ।
इत्युक्त्वा विललापाथ राजा शोकसमाकुलः ॥ ४६॥

वह अपरिहार्य शाप काल मेरे लिये उपस्थित हुआ है। यह कहकर राजा दशरथ अतिशोकाकुल हो विलाप करने लगे। ॥४६॥

हा राम पुत्र हा सीते हा लक्ष्मण गुणाकर ।
त्वद्वियोगादहं प्राप्तो मृत्युं कैकेयिसम्भवम् ॥ ४७॥

"हा पुत्र राम ! हा सीते ! हा गुणाकर लक्ष्मण! तुम्हारे वियोग से मैं कैकेयी के द्वारा उपस्थित मृत्यु को प्राप्त कर रहा हूँ ॥४७॥

वदन्नेवं दशरथः प्राणान्स्त्यक्त्वा दिवं गतः ।
कौसल्या च सुमित्रा च तथान्या राजयोषितः ॥ ४८॥

चुक्रुशुश्च विलेपुश्च उरस्ताडनपूर्वकम् ।
वसिष्ठः प्रययौ तत्र प्रातर्मन्त्रिभिरावृतः ॥ ४९॥

यह कहते हुए महाराज दशरथ प्राणों को छोड़कर स्वर्गलोक चले गये। उस समय कौसल्या- सुमित्रा और अन्य रानियाँ छाती पीट-पीट कर रोने तथा विलाप करने लगीं। प्रातः काल होने पर मन्त्रियों के साथ वहाँ वसिष्ठजी आये ॥ ४८-४९ ॥

तैलद्रोण्यां दशरथं क्षिप्त्वा दूतानथाब्रवीत् ।
गच्छत त्वरितं साश्वा युधाजिन्नगरं प्रति ॥ ५०॥

तैलपूर्ण द्रोणी (नौका) में राजा दशरथ के शव को रखवाकर दूतों से बोले-तुमलोग शीघ्र ही घोड़ों पर सवार होकर युधाजित् की राजधानी जाओ ॥५०॥

तत्रास्ते भरतः श्रीमाञ्छत्रुघ्नसहितः प्रभुः ।
उच्यतां भरतः शीघ्रमागच्छेति ममाज्ञया ॥ ५१॥

अयोध्यां प्रति राजानं कैकेयीं चापि पश्यतु ।
इत्युक्तास्त्वरितं दूता गत्वा भरतमातुलम् ॥ ५२॥

युधाजितं प्रणम्योचुर्भरतं सानुजं प्रति ।
वसिष्ठस्त्वब्रवीद्राजन् भरतः सानुजः प्रभुः ॥ ५३॥

शीघ्रमागच्छतु पुरीमयोध्यामविचारयन् ।
इत्याज्ञप्तोऽथ भरतस्त्वरितं भयविह्वलः ॥ ५४॥

आययौ गुरुणादिष्टः सह दूतैस्तु सानुजः ।
राज्ञो वा राघवस्यापि दुःखं किञ्चिदुपस्थितम् ॥ ५५॥

वहाँ पर शत्रुघ्न के साथ श्रीमान् महाराज भरत विराजमान हैं। मेरी आज्ञा से उनसे यह कहना कि भरत शीघ्र ही अयोध्यापुरी में आकर महाराज दशरथ और कैकेयी का दर्शन करें। वसिष्ठजी के ऐसा कहने पर दूत गण शीघ्र ही जाकर भरत के मामा युधाजित् और अनुज शत्रुध्न सहित भरत को प्रणाम कर बोले-राजन् ! वसिष्ठजी ने कहा है कि अनुज शत्रुध्न सहित महाराज भरत शीघ्र ही विना कुछ सोच विचार किये अयोध्यापुरी में चले आएं। यह आज्ञा सुनकर भरतजी भय से व्याकुल होकर शीघ्र ही गुरुजी के आदेश से अनुज

सहित दूतों के साथ चले और यह सोच रहे थे कि अवश्य ही महाराज या श्रीरघुनाथजी पर कोई घोर संकट उपस्थित हुआ है ॥ ५१-५५॥

इति चिन्तापरो मार्गे चिन्तयन्नगरं ययौ ।
नगरं भ्रष्टलक्ष्मीकं जनसम्बाधवर्जितम् ॥ ५६॥

उत्सवैश्च परित्यक्तं दृष्ट्वा चिन्तापरोऽभवत् ।
प्रविश्य राजभवनं राजलक्ष्मीविवर्जितम् ॥ ५७॥

अपश्यत्कैकेयीं तत्र एकामेवासने स्थिताम् ।
ननाम शिरसा पादौ मातुर्भक्तिसमन्वितः ॥ ५८॥

मन ही मन रास्ते में चिन्ता करते हुए नगर में पहुंचे। उन्होंने नगर में पहुँचने पर नगर को लक्ष्मीहीन, जन समूह से रहित, तथा उत्सवहीन देखा। यह देखकर वह अत्यन्त चिन्तित हुए। राज्यलक्ष्मी रहित राज्य भवन में जाकर वहाँ अकेली कैकेयी को एक आसन पर बैठे हुए देखा। माता को देखकर उन्होंने भक्तिपूर्वक माता के चरणो में सिर रखकर उनको प्रणाम किया ॥ ५६-५८ ॥

आगतं भरतं दृष्ट्वा कैकेयी प्रेमसम्भ्रमात् ।
उत्थायालिङ्ग्य रभसा स्वाङ्कमारोप्य संस्थिता ॥ ५९॥

मूर्ध्न्यवघ्राय पप्रच्छ कुशलं स्वकुलस्य सा ।
पिता मे कुशलो भ्राता माता च शुभलक्षणा ॥ ६०॥

भरतजी को आए हुए देखकर कैकेयी ने प्रेमवश शीघ्रता से उठकर उन्हें हृदय से लगाया और अपनी गोद में बैठाकर उनका सिर

सूंघकर अपने कुल की कुशलता पूछी। वह बोली-"मेरे पिता, भाई और शुभलक्षणा माताजी कुशलपूर्वक तो हैं ? ॥५९- ६०॥

दिष्ट्या त्वमद्य कुशली मया दृष्टोऽसि पुत्रक ।
इति पृष्टः स भरतो मात्रा चिन्ताकुलेन्द्रियः ॥ ६१॥

दूयमानेन मनसा मातरं समपृच्छत ।
मातः पिता मे कुत्रास्ते एका त्वमिह संस्थिता ॥ ६२॥

पुत्र ! आज बड़े भाग्य से मैं तुम्हें सकुशल देख रही हूँ। इस प्रकार माता के पूछने पर चिन्ता से व्याकुल एवं दुःखी होकर भरतजी ने माता से पूछा-माँ ! पिताजी कहाँ हैं, तुम यहाँ अकेली क्यों बैठी हो ? ॥६१-६२ ॥

त्वया विना न मे तातः कदाचिद्रहसि स्थितः ।
इदानीं दृश्यते नैव कुत्र तिष्ठति मे वद ॥ ६३॥

तुम्हारे बिना तो पिताजी कभी एकांत में नहीं बैठते थे परन्तु इस समय मुझे वह दिखाई नहीं दे रहे हैं । अत: इस समय वह कहाँ स्थित हैं यह कृपापूर्वक मुझसे कहो ॥ ६३॥

अदृष्ट्वा पितरं मेऽद्य भयं दुःखं च जायते ।
अथाह कैकेयी पुत्र किं दुःखेन तवानघ ॥ ६४॥

पिताजी को यहाँ उपस्थित नहीं देखने से मुझे आज मुझे अत्यन्त भय और दुःख हो रहा है। यह सुनकर कैकेयी बोली-"हे अनघ ! तुम्हारे दुःख का क्या कारण है ? ॥ ६४॥

या गतिर्धर्मशीलानामश्वमेधादियाजिनाम् ।
तां गतिं गतवानद्य पिता ते पितृवत्सल ॥ ६५॥

हे पितृ वत्सल! अश्वमेधादि यज्ञ करने वाले धर्म परायण पुरुषों की जो गति होती है। आज तुम्हारे पिता ने उस गति को प्राप्त किया हैं ? ॥ ६५॥

तच्छ्रुत्वा निपपातोर्व्यां भरतः शोकविह्वलः ।
हा तात क्व गतोऽसि त्वं त्यक्त्वा मां वृजिनार्णवह ॥ ६६॥

यह सुनते ही भरत शोकाकुल होकर पृथ्वी पर गिर पड़े और बोले- "हा तात! हा तात! मुझे दुःख सागर में छोड़कर आप कहाँ चले गये ? ॥६६॥

असमर्प्यैव रामाय राज्ञे मां क्व गतोऽसि भोः ।
इति विलपितं पुत्रं पतितं मुक्तमूर्धजम् ॥ ६७॥

उत्थाप्यामृज्य नयने कैकेयी पुत्रमब्रवीत् ।
समाश्वसिहि भद्रं ते सर्वं सम्पादितं मया ॥ ६८॥

हाय ! महाराज आप मुझे राम को समर्पित किए विना कहाँ चले गये" इस प्रकार विलाप करते हुए विखरे हुए केशों वाले पृथ्वी पर पड़े अपने पुत्र को उठाकर कैकेयी भरत के आँखों की आँसू पोछकर बोली बेटा! धैर्य धारण करो! तुम्हारा कल्याण हो। मैं तुम्हारे लिये सब कुछ सम्पादित कर लिया है ॥६७-६८ ॥

तामाह भरतस्तातो म्रियमाणः किमब्रवीत् ।
तमाह कैकेयी देवी भरतं भयवर्जिता ॥ ६९॥

यह सुनकर भरत जी पूछे-मरते समय महाराज क्या कहे थे ? यह सुनकर कैकेयी देवी ने निर्भय होकर भरत जी से कहा ॥ ६९॥

हा राम राम सीतेति लक्ष्मणेति पुनः पुनः ।
विलपन्नेव सुचिरं देहं त्यक्त्वा दिवं ययौ ॥ ७०॥

वह हा राम! हा राम ! हा सीते! हा लक्ष्मण! इस प्रकार बहुत देर तक बारम्बार विलाप करते हुए अपना शरीर त्याग कर स्वर्ग को चले गये" ॥ ७०॥

तामाह भरतो हेऽम्ब रामः सन्निहितो न किम् ।
तदानीं लक्ष्मणो वापि सीता वा कुत्र ते गताः ॥ ७१॥

इस पर भरत जी पूछा -"हे मातः! क्या उस समय राम, सीता और लक्ष्मण भी उनके पास नहीं थे क्या ? उस समय वह कहाँ गये थे" ॥ ७१ ॥

रामस्य यौवराज्यार्थं पित्रा ते सम्भ्रमः कृतः ।
तव राज्यप्रदानाय तदाहं विघ्नमाचरम् ॥ ७२॥

कैकेयी बोली तुम्हारे पिता ने राम को युवराज पद देने के लिये तैयारी की थी, परन्तु तुमको राज्य दिलाने हेतु उस समय मैंने उसमें विघ्न उपस्थित कर दिया ॥ ७२ ॥

राज्ञा दत्तं हि मे पूर्वं वरदेन वरद्वयम् ।
याचितं तदिदानीं मे तयोरेकेन तेऽखिलम् ॥ ७३॥

राज्यं रामस्य चैकेन वनवासो मुनिव्रतम् ।
ततः सत्यपरो राजा राज्यं दत्त्वा तवैव हि ॥ ७४॥

रामं सम्प्रेषयामास वनमेव पिता तव ।
सीताप्यनुगता रामं पातिव्रत्यमुपाश्रिता ॥ ७५॥

पूर्व समय में प्रसन्न होकर वरदाता राजा मुझे दो वरदान मांगने के लिये कहा था। उस समय उनमें से मैं एक वरदान के द्वारा मैंने तुम्हारे लिये सम्पूर्ण राज्य और दूसरे वर से राम के लिये मुनिव्रत का पालन करते हुए वनवास मांगा। अत: तुम्हारे पिता सत्यसन्ध महाराज दशरथ ने तुमको राज्य एवं राम को वनवास देकर राम को वन में भेज दिया। पातिव्रत्य परायण सीता भी राम के साथ ही वन में चली गयी ॥ ७३-७५॥

सौभ्रात्रं दर्शयन् राममनुयातोऽपि लक्ष्मणः ।
वनं गतेषु सर्वेषु राजा तानेव चिन्तयन् ॥ ७६॥

प्रलपन् रामरामेति ममार नृपसत्तमः ।
इति मातुर्वचः श्रुत्वा वज्राहत इव द्रुमः ॥ ७७॥

पपात भूमौ निःसञ्ज्ञस्तं दृष्ट्वा दुःखिता तदा ।
कैकेयी पुनरप्याह वत्स शोकेन किं तव ॥ ७८॥

लक्ष्मण भी भ्रातृस्नेह से राम के पीछे-पीछे चल दिये। सबके वन चले जाने पर उन लोगों का स्मरण करते हुए तथा राम ! राम ! रटते विलाप करते हुए नृपश्रेष्ठ महाराज ने शरीर त्याग दिया। माता के ऐसे वचन सुनकर भरत जी कटे वृक्ष के समान अचेत होकर भूमि पर गिर पड़े। भरत जी को ऐसी स्थिति में देखकर कैकेयी दुःखी होकर बोली-- बेटा! तुम शोक क्यों करते हो? ॥७६-७८॥

राज्ये महति सम्प्राप्ते दुःखस्यावसरः कुतः ।
इति ब्रुवन्तीमालोक्य मातरं प्रदहन्निव ॥ ७९॥

यह महान् राज्य प्राप्त करने के बाद दुःख का अवसर ही कहाँ है? इस प्रकार माता को कहते हुए देखकर क्रोध से जलते हुए माता से बोले ॥ ७९ ॥

असम्भाष्यासि पापे मे घोरे त्वं भर्तृघातिनी ।
पापे त्वद्गर्भजातोऽहं पापवानस्मि साम्प्रतम् ।
अहमग्निं प्रवहक्ष्यामि विषं वा भक्षयाम्यहम् ॥ ८०॥

खड्गेन वाथ चात्मानं हत्वा यामि यमक्षयम् ।
भर्तृघातिनि दुष्टे त्वं कुम्भीपाकं गमिष्यसि ॥ ८१॥

"अरी पापिनी! तुम बात करने योग्य नहीं हो। अरी घोरे ! तुम अपने पति की घातिनी हो । अरि पापे ! तुम्हारे गर्भ से उत्पन्न होने के कारण मैं भी प्रत्यक्ष महापापी हूँ। अब या तो मैं अग्नि में प्रवेश कर लूँगा, विष खा लूँगा अथवा खड्ग से आत्महत्या कर यमपुर को चला जाऊँगा।

हे भर्तृघातिनि ! हे दुष्टे ! तुम भी कुम्भीपाक नामक नरक में पड़ोगी ॥ ८०-८१ ॥

इति निर्भर्त्स्य कैकेयीं कौसल्याभवनं ययौ ।
सापि तं भरतं दृष्ट्वा मुक्तकण्ठा रुरोद ह ॥ ८२॥

इस प्रकार कैकेयी को डाँट-फटकार कर भारत जी कौसल्या के घर चले गए। भरत को देखते ही माता कौसल्या मुक्तकण्ठ से रुदन करने लगीं ॥ ८२ ॥

पादयोः पतितस्तस्या भरतोऽपि तदाऽरुदत् ।
आलिङ्ग्य भरतं साध्वी राममाता यशस्विनी ।
कृशाऽतिदीनवदना साश्रुनेत्रेदमब्रवीत् ॥ ८३॥

भरतजी उनके चरणों पर गिरकर रोने लगे। उन्हें गले लगाकर महादुर्बला और अति दीनबदना यशस्विनी राममाता कौसल्या सजल नेत्र होकर बोली ॥ ८३ ॥

पुत्र त्वयि गते दूरमेवं सर्वमभूदिदम् ।
उक्तं मात्रा श्रुतं सर्वं त्वया ते मातृचेष्टितम् ॥ ८४॥

बेटा ! तुम्हारे दूर चले जाने के कारण ही यह सब अनर्थ हुए हैं, अपनी माता से तुमने सब कुछ सुन ही लिया होगा ॥ ८४ ॥

पुत्रः सभार्यो वनमेव यातः
सलक्ष्मणो मे रघुरामचन्द्रः ।
चीराम्बरो बद्धजटाकलापः

सन्त्यज्य मां दुःखसमुद्रमग्नाम् ॥ ८५॥

मेरा पुत्र रघुश्रेष्ठ रामचन्द्र अपनी पत्नी सीता और लक्ष्मण के साथ चीरवस्त्र धारणकर, जटा जूट बाँधकर तथा मुझे दुःख समुद्र में छोड़कर वन को चला गया है ॥८५॥

हा राम हा मे रघुवंशनाथ
जातोऽसि मे त्वं परतः परात्मा ।
तथापि दुःखं न जहाति मां वै
विधिर्बलीयानिति मे मनीषा ॥ ८६॥

हा राम ! हा मेरे रघुवंश शिरोमणि ! आप साक्षात् परम पुरुष परमात्मा मेरे गर्भ से जन्म लिए है, परन्तु दुःख ने मेरा पीछा नहीं छोड़ा। अतएव विधाता ही प्रबल है, ऐसा मेरा विचार है ॥ ८६ ॥

स एवं भरतो वीक्ष्य विलपन्तीं भृशं शुचा ।
पादौ गृहीत्वा प्राहेदं शृणु मातर्वचो मम ॥ ८७॥

कैकेय्या यत्कृतं कर्म रामराज्याभिषेचने ।
अन्यद्वा यदि जानामि सा मया नोदिता यदि ॥ ८८॥

पापं मेऽस्तु तदा मातर्ब्रह्महत्याशतोद्भवम् ।
हत्वा वसिष्ठं खड्गेन अरुन्धत्या समन्वितम् ॥ ८९॥

भूयात्तत्पापमखिलं मम जानामि यद्यहम् ।
इत्येवं शपथं कृत्वा रुरोद भरतस्तदा ॥ ९०॥

उन्हें शोक से इस प्रकार विलाप करते देखकर भरतजी उनका चरण पकड़कर बोले-हे माता! मेरी बात सुनिये-श्रीरामचन्द्रजी के राज्याभिषेक के समय कैकेयी ने जो कुछ किया है उसमें मेरी सम्मति हो अथवा मैं जानता होऊँ तो मुझे सौ ब्रह्महत्याओं का पाप लगे अथवा अरुन्धती और वसिष्ठजी को खड्ग से मारने से जो पाप होता है वह मुझे लगे। इस प्रकार शपथ कर भरतजी रोने लगे ॥ ८७-९० ॥

कौसल्या तमथालिङ्ग्य पुत्र जानामि मा शुचः ।
एतस्मिन्नन्तरे श्रुत्वा भरतस्य समागमम् ॥ ९१॥

वसिष्ठो मन्त्रिभिः सार्धं प्रययौ राजमन्दिरम् ।
रुदन्तं भरतं दृष्ट्वा वसिष्ठः प्राह सादरम् ॥ ९२॥

तब कौसल्या ने भरत जी को हृदय से लगाकर कहा -बेटा! मै यह सब कुछ जानती हूँ, तुम किसी प्रकार की चिन्ता न करो। इसी समय ही भरत जी का समागम सुनकर मन्त्रियों के साथ वसिष्ठ जी राजभवन में आये और रोते हुए भरत को देखकर आदर पूर्वक बोले ॥ ९१-९२ ॥

वृद्धो राजा दशरथो ज्ञानी सत्यपराक्रमः ।
भुक्त्वा मर्त्यसुखं सर्वमिष्ट्वा विपुलदक्षिणैः ॥ ९३॥

अश्वमेधादिभिर्यज्ञैर्लब्ध्वा रामं सुतं हरिम् ।
अन्ते जगाम त्रिदिवं देवहन्द्राद्धासनं प्रभुः ॥ ९४॥

महाराज दशरथ वृद्ध, ज्ञानी, और सत्य पराक्रमी थे। वे मर्त्यलोक के सम्पूर्ण सुख-भोगकर भरपूर दक्षिणा देकर अश्वमेधादि यज्ञों द्वारा

भगवान् का भजन कर और साक्षात् विष्णुभग वान् को ही अपने पुत्र रामचन्द्र के रूप में प्राप्तकर स्वर्गलोक में देवराज इन्द्र के अर्धं आसन के अधिकारी हुए हैं ॥ ९३-९४ ॥

तं शोचसि वृथैव त्वमशोच्यं मोक्षभाजनम् ।
आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्धो जन्मनाशादिवर्जितः ॥ ९५॥

वे सर्वथा अशोचनीय और मोक्ष के पात्र हैं, उनके लिये शोच करना व्यर्थ ही है। आत्मा नित्य, अव्यय, शुद्ध और जन्म मृत्यु आदि रहित हैं ॥ ९५ ॥

शरीरं जडमत्यर्थमपवित्रं विनश्वरम् ।
विचार्यमाणे शोकस्य नावकाशः कथञ्चन ॥ ९६॥

यह शरीर जड़, अति अपवित्र और नाशवान है। विचार करने पर तो शोक के लिये कोई स्थान नहीं है ॥ ९६॥

पिता वा तनयो वापि यदि मृत्युवशं गतः ।
मूढास्तमनुशोचन्ति स्वात्मताडनपूर्वकम् ॥ ९७॥

यदि कोई पिता अथवा पुत्र मर जाता है तो मूढप्राणी ही अपनी छाती पीट-पीटकर शोक करते हैं ॥९७ ॥

निःसारे खलु संसारे वियोगो ज्ञानिनां यदा ।
भवहद्वैराग्यहेतुः स शान्तिसौख्यं तनोति च ॥ ९८॥

यदि इस संसार में ज्ञानिजनों शोक अथवा किसी से वियोग होता है तो वह वियोग उनके लिये वैराग्य का कारण होता है और वह सुख-शान्ति का विस्तार ही करता है ॥ ९८ ॥

जन्मवान् यदि लोकेऽस्मिन्स्तर्हि तं मृत्युरन्वगात् ।
तस्मादपरिहार्योऽयं मृत्युर्जन्मवतां सदा ॥ ९९॥

इस लोक में जन्म लेने वालों के लिये मृत्यु सर्वदा अनिवार्य है तथा मृत्यु को प्राप्त मनुष्यों का पुनर्जन्म भी निश्चित है ॥ ९९ ॥

स्वकर्मवशतः सर्वजन्तूनां प्रभवाप्ययौ ।
विजानन्नप्यविद्वान् यः कथं शोचति बान्धवान् ॥ १००॥

अपने कर्मवश सम्पूर्ण प्राणियों की जन्म-मृत्यु होते ही हैं, यह जानकर भी अविद्वान् पुरुष अपने बन्धु बान्धवों के लिये कैसे शोक करते हैं ॥१०० ॥

ब्रह्माण्डकोटयो नष्टाः सृष्टयो बहुशो गताः ।
शुष्यन्ति सागराः सर्वे कैवास्था क्षणजीविते ॥ १०१॥

करोड़ों ब्रह्माण्ड नष्ट हो गये, अनेकों सृष्टियाँ व्यतीत हो गयीं, एकदिन सम्पूर्ण समुद्र सूख जायेंगे। ऐसे में इस क्षणिक जीवन में क्या आस्था की जाय ? ॥ १०१॥

चलपत्रान्तलग्नाम्बुबिन्दुवत्क्षणभङ्गुरम् ।
आयुस्त्यजत्यवहलायां कस्तत्र प्रत्ययस्तव ॥ १०२॥

हिलते हुए पत्ते के नोक पर लटकती हुई जल बूंद के समान यह जीवन क्षणभङ्गुर है, असमय ही आयु छोड़कर चली जाती है, उसका विश्वास क्यों करते हो? ॥ १०२॥

देही प्राक्तनदेहोत्थकर्मणा देहवान् पुनः ।
तद्देहोत्थेन च पुनरेवं देहः सदात्मनः ॥ १०३॥

इस जीवात्मा ने अपने पूर्व जन्म के शरीर से उत्पन्न कर्मों के अनुसार ही शरीर धारण किया है। और इस शरीर के कर्मों से यह दूसरा शरीर धारण करेगा। इस प्रकार आत्मा को बार-बार शरीर की प्राप्ति होती रहती है ॥ १०३ ॥

यथा त्यजति वै जीर्णं वासो गृह्णाति नूतनम् ।
तथा जीर्णं परित्यज्य देही देहं पुनर्नवम् ॥ १०४॥

भजत्येव सदा तत्र शोकस्यावसरः कुतः ।
आत्मा न म्रियते जातु जायते न च वर्धते ॥ १०५॥

जिस प्रकार मनुष्य अपने पुराने वस्त्र को छोड़कर नवीन वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार देहधारी जीव पुराने शरीर को छोड़कर नवीन शरीर धारण कर लेता है। अतएव इसमें शोक का कारण ही क्या है ? आत्मा तो न कभी मरता है न कभी जन्म लेता है और न कभी बढ़ता ही है ॥ १०४-१०५ ॥

षड्भावरहितोऽनन्तः सत्यप्रज्ञानविग्रहः ।
आनन्दरूपो बुद्ध्यादिसाक्षी लयविवर्जितः ॥ १०६॥

आत्मा षड्भाव विकारों से रहित, अनन्त सच्चित्स्वरूप, आनन्द स्वरूप, बुद्धि आदि का साक्षी तथा अविनाशी है ॥ १०६ ॥

एक एव परो ह्यात्मा ह्यद्वितीयः समः स्थितः ।
इत्यात्मानं दृढं ज्ञात्वा त्यक्त्वा शोकं कुरु क्रियाम् ॥ १०७॥

वह परमात्मा एक अद्वितीय और समभाव से स्थित है। इसप्रकार आत्मा को दृढ़ ज्ञान प्राप्तकर शोक रहित होकर सम्पूर्ण कार्य करो ॥ १०७ ॥

तैलद्रोण्याः पितुर्देहमुद्धृत्य सचिवैः सह ।
कृत्यं कुरु यथान्यायमस्माभिः कुलनन्दन ॥ १०८॥

हे कुलनन्दन भरत ! अपने पिता का शरीर तैल की नौका में से निकालकर मन्त्रिगण और हम समस्त ऋषि गणों के साथ उनकी विधिवत् अन्त्येष्टि-संस्कार करो ॥१०८ ॥

इति सम्बोधितः साक्षाद्गुरुणा भरतस्तदा ।
विसृज्याज्ञानजं शोकं चक्रे सविधिवत्क्रियाम् ॥ १०९॥

गुरुजी के यह समझाने पर भरतजी अज्ञान जन्य शोक से मुक्त हो विधिवत् राजा के अन्त्येष्टि संस्कार को किया ॥ १०९॥

गुरुणोक्तप्रकारेण आहिताग्नेर्यथाविधि ।
संस्कृत्य स पितुर्देहं विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ११०॥

एकादशेऽहनि प्राप्ते ब्राह्मणान् वहदपारगान् ।

भोजयामास विधिवच्छतशोऽथ सहस्रशः ॥ १११॥

गुरुजी की आज्ञानुसार अग्निहोत्री विधिपूर्वक पिता के शरीर का शास्त्रविधि से संस्कार सम्पादित करके एकादशी के दिन सैकड़ों और हजारों वैदिक ब्राह्मणों को विधिवत् भोजन कराया ॥११०-१११॥

उद्दिश्य पितरं तत्र ब्राह्मणेभ्यो धनं बहु ।
ददौ गवां सहस्राणि ग्रामान् रत्नाम्बराणि च ॥ ११२॥

तथा पिता के निमित्त ब्राह्मणों को विपुल धन, हजारों गौ अनेकों गाँव और रत्न तथा वस्त्रों का दान किया ॥ ११२॥

अवसत्स्वगृहे यत्र राममेवानुचिन्तयन् ।
वसिष्ठेन सह भ्रात्रा मन्त्रिभिः परिवारितः ॥ ११३॥

और श्रीरामचन्द्रजी का स्मरण करते हुए वशिष्ठ जी, भाई और मन्त्रियों के साथ घर में रहने लगे ॥ ११३ ॥

रामेऽरण्यं प्रयाते सह जनकसुतालक्ष्मणाभ्यां सुघोरं
माता मे राक्षसीव प्रदहति हृदयं दर्शनादेव सद्यः ।
गच्छाम्यारण्यमद्य स्थिरमतिरखिलं दूरतोऽपास्य राज्यं
रामं सीतासमेतं स्मितरुचिरमुखं नित्यमेवानुसेवह ॥ ११४॥

जनकनन्दिनी सीता और लक्ष्मण के सहित श्रीरामचन्द्रजी के घोर जंगल में चले जाने के कारण मेरी माता कैकेयी के दर्शन से ही राक्षसी के समान मेरे हृदय में दाह उत्पन्न होती है। अत: मैं भी अब निःसन्देह शीघ्र ही सम्पूर्ण राज्य छोड़कर वन में चला जाऊँगा और मधुरमुस्कान से सुशोभित मुख मण्डल वाले श्रीराम और सीता की

नित्यप्रति सेवा करूँगा यह भरतजी घर में रहते हुए निरंतर सोचते रहते थे ॥ ११४॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे
अयोध्याकाण्डे सप्तमः सर्गः ॥ ७॥

॥ अष्टमः सर्गः ॥

भरतजी का वन के लिये प्रस्थान, मार्ग में गुह और भरद्वाजजी से भेंट तथा चित्रकूट का दर्शन

वसिष्ठो मुनिभिः सार्धं मन्त्रिभिः परिवारितः ।
राज्ञः सभां देवसभासन्निभामविशद्विभुः ॥ १॥

श्रीमहादेवजी बोले-हे पार्वति ! एक दिन मुनिगण सहित मन्त्रियों से घिरे हुए भगवान् वसिष्ठजी देवताओं के समान राजसभा में आये ॥१॥

तत्रासने समासीनश्चतुर्मुख इवापरः ।
आनीय भरतं तत्र उपवहश्य सहानुजम् ॥ २॥

अब्रवीद्वचनं देशकालोचितमरिन्दमम् ।
वत्स राज्येऽभिषेक्ष्यामस्त्वामद्य पितृशासनात् ॥ ३॥

वहाँ पर द्वितीय ब्रह्माजी के समान आसन पर विराजमान श्रीवशिष्ठजी अनुज सहित भरतजी को बुलाकर आसन पर बैठाकर देशकालोचित वाक्य अरिन्दम भरतजी से बोले -वत्स ! तुम्हारे पिता के कथनानुसार आज राज्य पद पर हम तुम्हे अभिषिक्त करेंगे॥२-३ ॥

कैकेय्या याचितं राज्यं त्वदर्थे पुरुषर्षभ ।
सत्यसन्धो दशरथः प्रतिज्ञाय ददौ किल ॥ ४॥

हे पुरुषोत्तम ! तुम्हारे लिये कैकेयी राजादशरथ से राज्य की याचना की थी। सत्यसन्ध राजा दशरथ ने प्रतिज्ञा पूर्वक कैकेयी को वर दिया था ॥ ४॥

अभिषेको भवत्वद्य मुनिभिर्मन्त्रपूर्वकम् ।
तच्छ्रुत्वा भरतोऽप्याह मम राज्येन किं मुने ॥ ५॥

अत: मुनियों द्वारा मन्त्रच्चारण के साथ आज तुम्हारा अभिषेक होना चाहिये । यह सुनकर भरतजी बोले-हे मुनिवर ! राज्य से मेरा क्या प्रयोजन है ? ॥५॥

रामो राजाधिराजश्च वयं तस्यैव किङ्कराः ।
श्वः प्रभाते गमिष्यामो राममानेतुमञ्जसा ॥ ६॥

श्री राम ही राजाधिराज हैं और हमलोग उनके दास हैं। कल प्रातःकालः श्रीरामजी को वापस लाने के लिये हम वन में जायेंगे ॥६॥

अहं यूयं मातरश्च कैकेयीं राक्षसीं विना ।
हनिष्याम्यधुनैवाहं कैकेयीं मातृगन्धिनीम् ॥ ७॥

किन्तु मां नो रघुश्रेष्ठः स्त्रीहन्तारं सहिष्यते ।
तच्छोभूते गमिष्यामि पादचारेण दण्डकान् ॥ ८॥

शत्रुघ्नसहितस्तूर्णं यूयमायात वा न वा ।
रामो यथा वने यातस्तथाहं वल्कलाम्बरः ॥ ९॥

मैं ,आप लोग एवं राक्षसी कैकेयी को छोड़कर सभी माताएँ वन को चलेंगे। मैं तो नाममात्र की माता, कैकेयी को मार डालता परन्तु श्री रघुनाथजी मुझ स्त्री हत्यारे को कभी क्षमा नहीं करेंगे। अत: आपलोग जायें अथवा ना जाएँ किन्तु मैं भ्राता शत्रुघ्न के साथ जिस प्रकार श्रीरामजी वन गये हैं उसी प्रकार वल्कल वस्त्र धारण कर पैदल ही दण्डकारण्य जाऊँगा ॥ ७-९॥

फलमूलकृताहारः शत्रुघ्नसहितो मुने ।
भूमिशायी जटाधारी यावद्रामो निवर्तते ॥ १०॥

जब तक श्री रामजी वापस लौट कर नहीं आते तब तक शत्रुघ्न के साथ फलमूलादि भोजन, जटाजूट धारण एवं भूमि पर शयन करूँगा ॥ १० ॥

इति निश्चित्य भरतस्तूष्णीमेवावतस्थिवान् ।
साधुसाध्विति तं सर्वे प्रशशंसुर्मुदान्विताः ॥ ११॥

यह निश्चित करने के पश्च्यात भरतजी मौन हो गये और उनके यह वचन सुन कर सब लोग प्रसन्न होकर साधु-साधु कहकर उनकी प्रसंशा करने लगे ॥ ११॥

ततः प्रभाते भरतं गच्छन्तं सर्वसैनिकाः ।
अनुजग्मुः सुमन्त्रेण नोदिताः साश्वकुञ्जराः ॥ १२॥

प्रातः काल होने पर भरतजी के प्रस्थान करते समय हाथी, घोड़े के साथ समस्त सैनिक सुमन्त्र के कहने पर उनके साथ चले ॥१२॥

कौसल्याद्या राजदारा वसिष्ठप्रमुखा द्विजाः ।
छादयन्तो भुवं सर्वे पृष्ठतः पार्श्वतोऽग्रतः ॥ १३॥

कौसल्या आदि महारानियाँ तथा वसिष्ठ आदि द्विजगण यथायोग्य उनके आगे पीछे चारों ओर पृथिवी को आच्छादन कर चलने लगे ॥ १३ ॥

शृङ्गवहरपुरं गत्वा गङ्गाकूले समन्ततः ।
उवास महती सेना शत्रुघ्नपरिचोदिता ॥ १४॥

शृङ्गवेरपुर पहुँचने पर महान सेना शत्रुध्न की प्रेरणा से गङ्गातट पर यत्र-तत्र ठहर गयी॥ १४॥

आगतं भरतं श्रुत्वा गुहः शङ्कितमानसः ।
महत्या सेनया सार्धमागतो भरतः किल ॥ १५॥

पापं कर्तुं न वा याति रामस्याविदितात्मनः ।
गत्वा तद्धृदयं ज्ञेयं यदि शुद्धस्तरिष्यति ॥ १६॥

श्री भरतजी का आगमन सुनकर गुह को शंका हुई कि भरत महती सेना के साथ आये हैं। अत: यह भी हो सकता है कि यह राम के अज्ञात में उनका कोई अनिष्ट करने जाते हों ? उनके पास जाकर उनका हृदय जानना चाहिए। यदि उनका हृदय शुद्ध हो तो वह गंगा पार जायें ॥ १५-१६॥

गङ्गा नो चेत्समाकृष्य नावस्तिष्ठन्तु सायुधाः ।
ज्ञातयो मे समायत्ताः पश्यन्तः सर्वतोदिशम् ॥ १७॥

यदि उनका शुद्ध हृदय न हुआ तो मेरे जाति बान्धव अस्त्र-शस्त्र लेकर चारो ओर देखते रहें और सभी नौकाओं को लेकर गंगा के मध्य स्थित कर दें ॥१७॥

इति सर्वान् समादिश्य गुहो भरतमागतः ।
उपायनानि सङ्गृह्य विविधानि बहून्यपि ॥ १८॥

प्रययौ ज्ञातिभिः सार्धं बहुभिर्विविधायुधैः ।
निवहद्योपायनान्यग्रे भरतस्य समन्ततः ॥ १९॥

दृष्ट्वा भरतमासीनं सानुजं सह मन्त्रिभिः ।
चीराम्बरं घनश्यामं जटामुकुटधारिणम् ॥ २०॥

इस प्रकार सबको आदेश देकर गुह विविध भेंट सामग्री के साथ आयुधबंद हो समस्त बन्धु-बान्धओं सहित भरतजी के पास आया। वहाँ उनके सामने सब सामग्री रखकर यत्र-तत्र देखते हुए गुह ने देखा कि मेघ के समान श्यामवर्ण वाले श्री भरतजी चीरवस्त्र धारण किये तथा जटाजूट बाँध कर छोटे भाई शतुघ्न तथा मन्त्रियों के साथ बैठे हैं ॥१८-२० ॥

राममेवानुशोचन्तं रामरामेति वादिनम् ।
ननाम शिरसा भूमौ गुहोऽहमिति चाब्रवीत् ॥ २१॥

वह 'राम-राम' यह जप करते हुए श्री राम का ही स्मरण कर रहे हैं । यह देखकर उसने पृथिवी पर सिर रखकर भरतजी को प्रणाम कर बोला-मैं गुह हूँ ॥ २१ ॥

शीघ्रमुत्थाप्य भरतो गाढमालिङ्ग्य सादरम् ।
पृष्ट्वाऽनामयमव्यग्रः सखायमिदमब्रवीत् ॥ २२॥

भ्रातस्त्वं राघवहणात्र समेतः समवस्थितः ।
रामेणालिङ्गितः सार्द्रनयनेनामलात्मना ॥ २३॥

भरतजी ने उसे शीघ्र ही उठाकर आदर पूर्वक गाढ़ आलिंगन किया और प्रसन्न मुख से उसकी कुशलक्षेम पूछकर सखा-भाव से उससे बोले हे भाई ! तुम यहाँ श्रीरामचन्द्रजी के साथ रहे थे तथा निर्मल हृदय श्रीरामजी ने सजलनेत्र होकर तुम्हारा आलिंगन किया था ॥ २२-२३ ॥

धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि यत्त्वया परिभाषितः ।
रामो राजीवपत्राक्षो लक्ष्मणेन च सीतया ॥ २४॥

सीता और लक्ष्मण के सहित कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी ने तुमसे बात-चीत भी की थी। अत: तुम्हारा जीवन सफल है, तुम धन्य हो ॥ २४ ॥

यत्र रामस्त्वया दृष्टस्तत्र मां नय सुव्रत ।
सीतया सहितो यत्र सुप्तस्तद्दर्शयस्व मे ॥ २५॥

हे सुव्रत ! जिस स्थान पर श्रीरामचन्द्रजी को तुमने देखा था, कृपा कर वहाँ मुझे ले चलो। उन्होंने सीताजी के साथ हित जहाँ शयन किया था वह स्थान मुझे दिखलाओ ॥ २५॥

त्वं रामस्य प्रियतमो भक्तिमानसि भाग्यवान् ।
इति संस्मृत्य संस्मृत्य रामं साश्रुविलोचनः ॥ २६॥

तुम राम के प्रियतम सखा और भक्तों में भाग्यवान हो। बारम्बार श्रीराम का स्मरण करने से भरतजी के नेत्रों में जल भर आया ॥२६॥

गुहेन सहितस्तत्र यत्र रामः स्थितो निशि ।
ययौ ददर्श शयनस्थलं कुशसमास्तृतम् ॥ २७॥

इस प्रकार विरह से व्याकुल होकर वह गुह के साथ उस स्थान पर जा पहुंचे जहाँ पर श्रीरामजी के रात्रि के समय निवास किया था। वहाँ पहुंचकर भारत जी ने कुशा-बिछे हुए भगवान् के उस शयन स्थान को देखा ॥ २७ ॥

सीताऽऽभरणसंलग्नस्वर्णबिन्दुभिरर्चितम् ।
दुःखसन्तप्तहृदयो भरतः पर्यदेवयत् ॥ २८॥

अहोऽतिसुकुमारी या सीता जनकनन्दिनी ।
प्रासादे रत्नपर्यङ्के कोमलास्तरणे शुभे ॥ २९॥

रामेण सहिता शेते सा कथं कुशविष्टरे ।
सीता रामेण सहिता दुःखेन मम दोषतः ॥ ३०॥

वह शयन स्थान श्रीसीता जी के सुवर्णाभूषणों से झड़े हुए सुवर्णकणों से सुशोभित था। उसे देखकर भरतजी का हृदय दुःख से विह्वल हो गया और वह विलाप करने लगे कि अहो ! अति सुकुमारी जनकनन्दिनी सीता राजमहल में कोमल विस्तर युक्त रत्नपयङ्क पर श्रीरघुनाथजी के साथ शयन करती थीं वह मेरे दोषों से श्रीरामजी के

साथ इस कुशों की चटाई कैसे दुःख पूर्वक शयन करती होंगी ॥ २८-३०॥

धिङ्मां जातोऽस्मि कैकेय्या पापराशिसमानतः ।
मन्निमित्तमिदं क्लेशं रामस्य परमात्मनः ॥ ३१॥

मुझे धिक्कार है। मैं कैकेयी के गर्भ से मूर्तिमान पापराशि के समान ही उत्पन्न हूँ। हाय ! परमात्मा राम को मेरे लिये क्लेश उठाना पड़ा ॥ ३१ ॥

अहोऽतिसफलं जन्म लक्ष्मणस्य महात्मनः ।
राममेव सदान्वेति वनस्थमपि हृष्टधीः ॥ ३२॥

ओह ! महात्मा लक्ष्मण का जन्म अतिसफल है, वह वन में भी भगवान राम के साथ रहते हुए सदा प्रसन्न मन से उन्हीं का अनुसरण करते हैं ॥ ३२॥

अहं रामस्य दासा यह तेषां दासस्य किङ्करः ।
यदि स्यां सफलं जन्म मम भूयान्न संशयः ॥ ३३॥

मैं राम के दासों के दास का भी सेवक हो जाऊँ तो मेरा जन्म सफल हो जाय, इसमें संशय नहीं है ॥ ३३॥

भ्रातर्जानासि यदि तत्कथयस्व ममाखिलम् ।
यत्र तिष्ठति तत्राहं गच्छाम्यानेतुमञ्जसा ॥ ३४॥

हे भाई! तुम्हें ज्ञात हो तो मुझे यह सबकुछ बताओ कि श्रीरामजी कहाँ है ? जहाँ कहीं भी वे होंगे मैं शीघ्र उन्हें लाने के लिये वहीं जाऊँगा ॥ ३४ ॥

गुहस्तं शुद्धहृदयं ज्ञात्वा सस्नेहमब्रवीत् ।
देव त्वमेव धन्योऽसि यस्य ते भक्तिरीदृशी ॥ ३५॥

रामे राजीवपत्राक्षे सीतायां लक्ष्मणे तथा ।
चित्रकूटाद्रिनिकटे मन्दाकिन्यविदूरतः ॥ ३६॥

मुनीनामाश्रमपदे रामस्तिष्ठति सानुजः ।
जानक्या सहितो नन्दात्सुखमास्ते किल प्रभुः ॥ ३७॥

गुह उनका हृदय शुद्ध देखकर स्नेह पूर्वक बोला-स्वामिन् ! श्रीरामजी, सीता और लक्ष्मण में आपकी इस प्रकार की विशुद्ध भक्ति है, अतः आप ही धन्य हैं। अनुज लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी चित्रकूट पर्वत के समीप मन्दाकिनी नदी के पास मुनियों के आश्रम में रहते हैं। वहाँ जानकी जी के साथ भगवान् राम आनन्द और सुख पूर्वक विराजमान हैं ॥ ३५-३७ ॥

तत्र गच्छामहे शीघ्रं गङ्गां तर्तुमिहार्हसि ।
इत्युक्त्वा त्वरितं गत्वा नावः पञ्चशतानि ह ॥ ३८॥

समानयत्ससैन्यस्य तर्तुं गङ्गां महानदीम् ।
स्वयमेवानिनायैकां राजनावं गुहस्तदा ॥ ३९॥

गंगा पार कर शीघ्र ही हमलोग वहाँ चलें। यह कहकर गुह ने शीघ्र ही सेना के सहित भरतजी को महानदी गंगा जी को पार करने के लिये पाँच सौ नावें मँगवायी और स्वयं एक राज नौका लेकर आया ॥ ३८-३९ ॥

आरोप्य भरतं तत्र शत्रुघ्नं राममातरम् ।
वसिष्ठं च तथान्यत्र कैकेयीं चान्ययोषितः ॥ ४०॥

उस नौका पर भरत, शत्रघ्न, राम की माता कौसल्या और वसिष्ठ जी को बैठाया, दूसरी नौका पर कैकेयी आदि अन्य राज-महिलाओं को चढ़ाया ॥४०॥

तीर्त्वा गङ्गां ययौ शीघ्रं भरद्वाजाश्रमं प्रति ।
दूरे स्थाप्य महासैन्यं भरतः सानुजो ययौ ॥ ४१॥

आश्रमे मुनिमासीनं ज्वलन्तमिव पावकम् ।
दृष्ट्वा ननाम भरतः साष्टाङ्गमतिभक्तितः ॥ ४२॥

इस प्रकार शीघ्र ही गंगा जी को पारकर वह लोग भारद्वाज मुनि के आश्रम के तरफ गए उस आश्रम के दूर ही अपनी महती सेना को छोड़कर वह भाई शत्रुध्न के साथ आश्रम में गये और प्रज्वलित अग्नि के समान तेजस्वी मुनिवर भरद्वाज जी को आश्रम में बैठे हुए देखकर उन्हें अत्यन्त भक्ति से साष्टाङ्ग-प्रणाम किया ॥ ४१-४२॥

ज्ञात्वा दाशरथिं प्रीत्या पूजयामास मौनिराट् ।
पप्रच्छ कुशलं दृष्ट्वा जटावल्कलधारिणम् ॥ ४३॥

राज्यं प्रशासतस्तेऽद्य किमेतद्वल्कलादिकम् ।
आगतोऽसि किमर्थं त्वं विपिनं मुनिसेवितम् ॥ ४४॥

मुनीश्वर भरद्वाज जी को जब यह ज्ञात हुआ कि यह दशरथ कुमार भरत हैं तब उन्होंने प्रीतिपूर्वक उनकी पूजा अर्चना की और जटावल्कलादि धारण किये देख भरतजी से पूछा -भाई भरत! राज्य का शासन करते हुये यह बल्कलादि धारणकर मुनिजन सेवित इस तपोवन में आज आपका कैसे आगमन हुआ ॥ ४३-४४ ॥

भरद्वाजवचः श्रुत्वा भरतः साश्रुलोचनः ।
सर्वं जानासि भगवन् सर्वभूताशयस्थितः ॥ ४५॥

श्रीभरद्वाज मुनि का यह वचन सुनकर भरतजी नेत्रों में जलभर कर बोले-भगवन् ! आप तो सब कुछ जानते ही हैं क्योंकि आप सर्वान्तर्यामी हैं ॥४५॥

तथापि पृच्छसे किञ्चित्तदनुग्रह एव मे ।
कैकेय्या यत्कृतं कर्म रामराज्यविघातनम् ॥ ४६॥

वनवासादिकं वापि न हि जानामि किञ्चन ।
भवत्पादयुगं मेऽद्य प्रमाणं मुनिसत्तम ॥ ४७॥

परन्तु आप जो पूछते हैं वह मेरे ऊपर आपका कुछ अनुग्रह ही है। कैकेयी ने श्रीरामचन्द्रजी के राज्याभिषेक में विघ्न और वनवास आदि के विषय में जो कार्य किया है मैं आपके चरणारविन्दों का शपथ कर कहता हूँ कि उसमें मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं था ॥ ४६-४७॥

इत्युक्त्वा पादयुगलं मुनेः स्पृष्ट्वाऽर्त्तमानसः ।
ज्ञातुमर्हसि मां देव शुद्धो वाऽशुद्ध एव वा ॥ ४८॥

यह कहकर वे अत्यन्त आर्त्तचित्त होकर मुनि के दोनों पैर पकड़कर बोले-"भगवन् ! आप तो स्वयं जान सकते हैं कि मैं दोषी हूँ अथवा निर्दोष हूँ ? ॥४८॥

मम राज्येन किं स्वामिन् रामे तिष्ठति राजनि ।
किङ्करोऽहं मुनिश्रेष्ठ रामचन्द्रस्य शाश्वतः ॥ ४९॥

हे स्वामिन् ! महाराज राम के रहते हुए मुझे राज्य से क्या प्रयोजन है ? हे मुनिश्रेष्ठ ! मै तो हमेशा ही श्रीरामचन्द्र जी का दास हूँ ॥४९॥

अतो गत्वा मुनिश्रेष्ठ रामस्य चरणान्तिके ।
पतित्वा राज्यसम्भारान् समर्प्यात्रैव राघवम् ॥ ५०॥

अत: हे मुनिनाथ ! मैं श्रीरामचन्द्रजी के पास जाकर उनके चरणारविन्दों में पड़कर यह सम्पूर्ण राज्य-पाट उन्ही को सौंप दूंगा॥५०॥

अभिषेक्ष्ये वसिष्ठाद्यैः पौरजानपदैः सह ।
नेष्येऽयोध्यां रमानाथं दासः सेवहऽतिनीचवत् ॥ ५१॥

तथा च वसिष्ठजी आदि नगरवासी और जनपदवासियों के साथ मिलकर श्रीरामचन्द्रजी का राज्याभिषेक कर अयोध्या को लौटाकर ले चलूगा और अकिञ्चनदास की भाँति मैं उन लक्ष्मीपति की सेवा करूँगा ॥५१॥

इत्युदीरितमाकर्ण्य भरतस्य वचो मुनिः ।
आलिङ्ग्य मूर्ध्न्यवघ्राय प्रशशंस सविस्मयः ॥ ५२॥

मुनीश्वर भरद्वाजजी भरत की यह अभिलाषा सुनकर भारद्वाज मुनि ने उनका आलिंगन किया और विस्मय से उनका सिर सूंघकर उनकी प्रशंसा करने लगे ॥५२॥

वत्स ज्ञातं पुरैवैतद्भविष्यं ज्ञानचक्षुषा ।
मा शुचस्त्वं परो भक्तः श्रीरामे लक्ष्मणादपि ॥ ५३॥

भाद्वाजजी बोले-हे वत्स! मैंने अपने ज्ञाननेत्रों से पहले ही यह सब जान लिया था, तुम शोक न करो; तुम लक्ष्मण से भी अधिक श्री राम के परम भक्त हो ॥५३॥

आतिथ्यं कर्तुमिच्छामि ससैन्यस्य तवानघ ।
अद्य भुक्त्वा ससैन्यस्त्वं श्वो गन्ता रामसन्निधिम् ॥ ५४॥

हे अनघ ! मैं सेना के साथ तुम्हारा आतिथ्य-सत्कार करना चाहता हूँ। आज सेना सहित तुम यहीं भोजन करो और कल श्रीराम के पास जाना ॥ ५४॥

यथाऽऽज्ञापयति भवान्स्तथेति भरतोऽब्रवीत् ।
भरद्वाजस्त्वपः स्पृष्ट्वा मौनी होमगृहे स्थितः ॥ ५५॥

यह सुनकर भरतजी बोले-"आपकी जैसी आज्ञा होगी, वही होगा"। तदनन्तर मुनिवर भरद्वाज जी ने आचमन किया और मौन होकर यज्ञशाला में बैठ गए ॥ ५५ ॥

दध्यौ कामदुघां कामवर्षिणीं कामदो मुनिः ।
असृजत्कामधुक् सर्वं यथाकाममलौकिकम् ॥ ५६॥

कामप्रद मुनीश्वर वहाँ बैठकर सम्पूर्ण कामनाओं को सिद्ध करने वाली कामधेनु का स्मरण किया किये। और उस कामधेनु ने इच्छानुसार सम्पूर्ण अलौकिक भोगसामग्री वहां उपस्थित कर दी ॥ ५६ ॥

भरतस्य ससैन्यस्य यथेष्टं च मनोरथम् ।
यथा ववर्ष सकलं तृप्तास्ते सर्वसैनिकाः ॥ ५७॥

कामधेनु ने सेना सहित भरतजी के सम्पूर्ण मनोरथों को पूर्ण किया जिससे समस्त सैनिक सन्तुष्ट हो गए ॥ ५७॥

वसिष्ठं पूजयित्वाग्रे शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ।
पश्चात्ससैन्यं भरतं तर्पयामास योगिराट् ॥ ५८॥

कामधेनु ने प्रथम योगिराज श्रीवसिष्ठजी की शास्त्रानुकूल पूजा की और तत्पश्चात् सेना सहित श्रीभरतजी को तृप्त किया ॥ ५८॥

उषित्वा दिनमेकं तु आश्रमे स्वर्गसन्निभे ।
अभिवाद्य पुनः प्रातर्भरद्वाजं सहानुजः ॥ ५९॥

इस प्रकार उस स्वर्ग के समान आश्रम में एकदिन ठहरकर प्रातःकाल मुनिवर को प्रणाम कर उनकी आज्ञा से अनुज के सहित भरतजी श्रीरामचन्द्रजी के पास चले ॥ ५९॥

भरतस्तु कृतानुज्ञः प्रययौ रामसन्निधिम् ।
चित्रकूटमनुप्राप्य दूरे संस्थाप्य सैनिकान् ।
रामसन्दर्शनाकाङ्क्षी प्रययौ भरतः स्वयम् ॥ ६०॥

चित्रकूट के समीप पहुँचने पर वह सैनिकों को दूर रखकर स्वयं श्रीरामचन्द्रजी के दर्शन की इच्छा से आगे चले ॥ ६० ॥

शत्रुघ्नेन सुमन्त्रेण गुहेन च परन्तपः ।
तपस्विमण्डलं सर्वं विचिन्वानो न्यवर्तत ॥ ६१॥

अदृष्ट्वा रामभवनमपृच्छदृषिमण्डलम् ।
कुत्रास्ते सीतया सार्धं लक्ष्मणेन रघूत्तमः ॥ ६२॥

परन्तप श्री भरतजी, शत्रुघ्न, सुमन्त्र और गुह को साथ लेकर समस्त तपस्वियों के आश्रम में श्री राम को खोज कर लौट आये किन्तु कहीं भी श्रीरामचन्द्रजी की कुटी नहीं मिली। उन्होंने पुनः ऋषि-मण्डली से पुछा कि सीता और लक्ष्मण के सहित श्रीरघुनाथजी कहाँ रहते हैं ॥ ६१-६२॥

ऊचुरग्रे गिरेः पश्चाद्गङ्गाया उत्तरे तटे ।
विविक्तं रामसदनं रम्यं काननमण्डितम् ॥ ६३॥

ऋषियों ने कहा सामने पर्वत के उस तरफ श्रीमन्दाकिनी के उत्तरीय तट पर वन लताओं से मण्डित श्रीराम की परम रमणीक एकान्त कुटी है ॥ ६३ ॥

सफलैराम्रपनसैः कदलीखण्डसंवृतम् ।
चम्पकैः कोविदारैश्च पुन्नागैर्विपुलैस्तथा ॥ ६४॥

सफल आम्रवृक्ष, पनस और कदली खण्ड से चारो ओर से घिरी हुई वह कुटी है। उसके चारो ओर बहुत से चम्पक, कचनार और नागकेशर के वृक्ष सुशोभित हैं ॥ ६४ ॥

एवं दर्शितमालोक्य मुनिभिर्भरतोऽग्रतः ।
हर्षाद्ययौ रघुश्रेष्ठभवनं मन्त्रिणा सह ॥ ६५॥

मुनिगण द्वारा इस प्रकार बताने पर श्रीभरतजी प्रसन्नता पूर्वक मन्त्रियों सहित सबसे आगे श्रीरघुनाथजी के निवास स्थान के लिये चल दिए ॥६५॥

ददर्श दूरादतिभासुरं शुभं
रामस्य गेहं मुनिवृन्दसेवितम् ।
वृक्षाग्रसंलग्नसुवल्कलाजिनं
रामाभिरामं भरतः सहानुजः ॥ ६६॥

आगे बढ़ने पर अनुज सहित भरतजी को दूर से ही श्रीरामचन्द्रजी का मुनिजन सेवित अत्यन्त रमणीय और कान्तिमान सुन्दर भवन दिखाई दिया। उसमें वृक्ष की शाखा पर वल्कलवस्त्र और मृगचर्म रखे हुए थे और श्रीरामचन्द्र जी के रहने के कारण वह परम रमणीय था॥६६ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे
अयोध्याकाण्डे अष्टमः सर्गः ॥ ८॥

॥ नवमः सर्गः ॥

भगवान् राम और भरत का मिलन, भरतजी का अयोध्यापुरी को लौटना और श्रीरामचन्द्रजी का अत्रिमुनि के आश्रम पर जाना।

अथ गत्वाऽऽश्रमपदसमीपं भरतो मुदा ।
सीतारामपदैर्युक्तं पवित्रमतिशोभनम् ॥ १॥

श्रीमहादेवजी बोले-हे पार्वति ! तत्पश्चात् श्री भरत जी अत्यन्त मग्न मन से श्री सीता जी और श्री रामचन्द्र जी के चरणचिन्हों से सुशोभित आश्रम के समीप अत्यन्त रमणीय और पवित्र स्थल पर जा पहुँचे ॥ १॥

स तत्र वज्राङ्कुशवारिजाञ्चित-
ध्वजादिचिह्नानि पदानि सर्वतः ।
ददर्श रामस्य भुवोऽतिमङ्गलानि
अचेष्टयत्पादरजःसु सानुजः ॥ २॥

अहो सुधन्योऽहममूनि
रामपादारविन्दाङ्कितभूतलानि ।
पश्यामि यत्पादरजो विमृग्यं
ब्रह्मादिदेवैः श्रुतिभिश्च नित्यम् ॥ ३॥

वहाँ उन्होंने सब ओर भगवान श्रीरामचन्द्रजी के वज्र, अंकुश, कमल और ध्वजा आदि के चिन्हों से सशोभित तथा पृथिवी के लिये अत्यन्त मंगलमय चरणचिन्ह देखे। उन्हें देखकर भाई शत्रुघ्न सहित वह उस

चरणारविन्द में लोटने लगे और मन ही मन कहने लगे-"अहो! मैं परमधन्य हूँ, जो आज श्रीराम चन्द्रजी के चरणारविन्दों के चिन्हों से सुशोभित भूमि को देख रहा हूँ, जिन चरण रज को ब्रह्मा आदि देवगण और सम्पूर्ण श्रुतियाँ भी सदा अन्वेषण करती रहती हैं ॥२-३॥

इत्यद्भुतप्रेमरसाप्लुताशयो विगाढचेता रघुनाथभावने ।
आनन्दजाश्रुस्नपितस्तनान्तरः शनैरवापाश्रमसन्निधिं हरेः ॥ ४॥

इस प्रकार जिनका हृदय अद्भुत प्रेमरस से भरा हुआ है, मन श्रीरघुनाथजी की भावना में डूबा है तथा जिनका वक्षःस्थल आनन्दाश्रुओं से भीगा हुआ है; वह श्रीभरतजी धीरे-धीरे श्रीरामचन्द्रजी के आश्रम के समीप पहुंचे ॥४॥

स तत्र दृष्ट्वा रघुनाथमास्थितं दूर्वादलश्यामलमायतेक्षणम् ।
जटाकिरीटं नववल्कलाम्बरं प्रसन्नवक्त्रं तरुणारुणद्युतिम् ॥५॥

विलोकयन्तं जनकात्मजां शुभां सौमित्रिणा सेवितपादपङ्कजम् ।
तदाभिदुद्राव रघूत्तमं शुचा हर्षाच्च तत्पादयुगं त्वराग्रहीत् ॥ ६॥

उस स्थान पर दूर्वा दल के समान श्यामवर्ण और विशाल नेत्रों वाले श्रीरघुनाथजी को उन्होंने बैठे हुए देखा, जो जटाओं का मुकुट और नवीन वल्कलवस्त्र धारण किये हुए थे और प्रसन्नवदन तथा मध्याह्न सूर्य के समान प्रभायुक्त थे और शुभलक्षणा श्रीजनकनन्दिनी की ओर देख रहे थे तथा श्रीलक्ष्मणजी जिनके चरणारविन्दों की सेवा कर रहे थे। उन्हें देखते ही भरतजी ने दौड़कर हर्ष और शोकयुक्त होकर शीघ्र उनके दोनों चरणों को चरण पकड़ लिया ॥ ५-६ ॥

रामस्तमाकृष्य सुदीर्घबाहुर्दोर्भ्यां
परिष्वज्य सिषिञ्च नेत्रजैः ।
जलैरथाङ्कोपरि सन्न्यवहशयत्
पुनः पुनः सम्परिषस्वजे विभुः ॥ ७॥

विशाल भुजावाले श्रीरामचन्द्रजी ने अपनी दोनों भुजाओं से उन्हें उठाकर आलिंगन किया और उन्हें गोद में बैठाकर अपने आँसुओं से सींचते हुए बारम्बार हृदय से लगाया ॥ ७॥

अथ ता मातरः सर्वाः समाजग्मुस्त्वरान्विताः ।
राघवं द्रष्टुकामास्तास्तृषार्ता गौर्यथा जलम् ॥ ८॥

प्यासी गौएँ जिस प्रकार जल की ओर दौड़ती हैं; उस प्रकार कौसल्या आदि सभी माताएँ श्री रघुनाथजी को देखने के लिये बड़ी शीघ्रता से चलीं ॥८॥

रामः स्वमातरं वीक्ष्य द्रुतमुत्थाय पादयोः ।
ववन्दे साश्रु सा पुत्रमालिङ्ग्यातीव दुःखिता ॥ ९॥

श्रीरामचन्द्रजी ने अपनी माता को देखते ही शीघ्रता पूर्वक उठकर उनके चरणों की वन्दना की और उन्होंने अत्यन्त दुःखी नेत्रों में जल भरकर पुत्र को हृदय से लगाया ॥ ९॥

इतराश्च तथा नत्वा जननी रघुनन्दनः ।
ततः समागतं दृष्ट्वा वसिष्ठं मुनिपुङ्गवम् ॥ १०॥

साष्टाङ्गं प्रणिपत्याह धन्योऽस्मीति पुनः पुनः ।

यथार्हमुपवहश्याह सर्वानेव रघूद्वहः ॥ ११॥

श्रीरघनाथ जी ने उसी प्रकार अन्य माताओं को भी प्रणाम किया और मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजी को आते देखकर उन्हें साष्टांग प्रणाम कर बारम्बार कहने लगे कि मैं "धन्य हूँ धन्य हूँ"। श्रीरघुनाथजी ने सबको यथायोग्य बैठाकर पूछा ॥ १०-११॥

पिता मे कुशली किं वा मां किमाहातिदुःखितः ।
वसिष्ठस्तमुवाचेदं पिता ते रघुनन्दन ॥ १२॥

त्वद्वियोगाभितप्तात्मा त्वामेव परिचिन्तयन् ।
रामरामेति सीतेति लक्ष्मणेति ममार ह ॥ १३॥

हमारे पिताजी कुशल से तो हैं ? उन्होंने मेरे वियोग से अत्यन्त दुःखातुर होकर मेरे लिये क्या आज्ञा दी हैं ? तब श्रीवसिष्ठजी बोले- "हे रघुनन्दन! तुम्हारे पिताजी ने तुम्हारे वियोग से अतिसन्तप्त होकर "हे राम! हे राम! हे सीते! हे लक्ष्मण ! इस प्रकार तुम्हारा ही चिन्तन करते-करते अपने प्राणों का त्याग कर दिया है ॥ १२-१३ ॥

श्रुत्वा तत्कर्णशूलाभं गुरोर्वचनमञ्जसा ।
हा हतोऽस्मीति पतितो रुदन् रामः सलक्ष्मणः ॥ १४॥

शूल के समान कानों को लगने वाले गुरु के इन वचनों को सुनकर श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मण 'हाय'! 'हम मारे गये' इस प्रकार रोते हुए सहसा गिर गये ॥ १४ ॥

ततोऽनुरुरुदुः सर्वा मातरश्च तथापरे ।

हा तात मां परित्यज्य क्व गतोऽसि घृणाकर ॥ १५॥

तब सभी माताएँ और अन्य सभी उपस्थित लोग रोने लगे। श्रीरामचन्द्रजी बारम्बार कहने लगे-"हा तात! हे दयामय! आप मुझे छोड़कर कहाँ चले गये ? ॥ १५॥

अनाथोऽस्मि महाबाहो मां को वा लालयेदितः ।
सीता च लक्ष्मणश्चैव विलेपतुरतो भृशम् ॥ १६॥

हे महाबाहो ! मैं अनाथ होगया, अब मुझे कौन लाड़-प्यार करेगा ॥१६॥

वसिष्ठः शान्तवचनैः शमयामास तां शुचम् ।
ततो मन्दाकिनीं गत्वा स्नात्वा ते वीतकल्मषाः ॥ १७॥

वसिष्ठजी ने शान्तिमय वचनों द्वारा सबका शोक शान्त किया और सब लोगों मन्दाकिनी में स्नान करने के पश्च्यात पवित्र हुए ॥१७॥

राज्ञे ददुर्जलं तत्र सर्वे ते जलकाङ्क्षिणे ।
पिण्डान्निर्वापयामास रामो लक्ष्मणसंयुतः ॥ १८॥

मन्दाकिनी के जल में सभी लोगों ने जलाकांक्षी महाराज दशरथ को जलाञ्जली दी और लक्ष्मणजी के साथ श्रीरामचन्द्रजी ने पिण्डदान किया ॥ १८॥

इङ्गुदीफलपिण्याकरचितान्मधुसम्प्लुतान् ।
वयं यदन्नाः पितरस्तदन्नाः स्मृतिनोदिताः ॥ १९॥

हमारा अन्न हमारे पितरों को प्रिय होगा, यही स्मृति की आज्ञा है, ऐसा कहकर श्रीराम ने इङ्गुदीफल के पिण्ड बनाकर उसपर शहद डालकर पिण्डदान किया ॥ १९॥

इति दुखाश्रुपूर्णाक्षः पुनः स्नात्वा गृहं ययौ ।
सर्वे रुदित्वा सुचिरं स्नात्वा जग्मुस्तदाश्रमम् ॥ २०॥

और नेत्रों में शोकाश्रु भरे हुए वह पुनः स्नानकर आश्रम में आए। इस प्रकार अन्य सभी लोग भी बहत देर तक विलाप करने के पश्च्यात अन्त में स्नान कर आश्रम में वापस लौटे॥२०॥

तस्मिन्स्तु दिवसे सर्वे उपवासं प्रचक्रिरे ।
ततः परेद्युर्विमले स्नात्वा मन्दाकिनीजले ॥ २१॥

उपविष्टं समागम्य भरतो राममब्रवीत् ।
राम राम महाभाग स्वात्मानमभिषेचय ॥ २२॥

उस दिन सभी लोगों ने उपवास किया। दसरे दिन मन्दाकिनी के निर्मल जल में स्नान करने के पश्च्यात भरतजी ने आश्रम में बैठे हुए श्रीरामचन्द्रजी के पास आकर बोला -"हे राम! हे राम! हे महाभाग! आप अपना अभिषेक कीजिये ॥२१-२२॥

राज्यं पालय पित्र्यं ते ज्येष्ठस्त्वं मे पिता तथा ।
क्षत्रियाणामयं धर्मो यत्प्रजापरिपालनम् ॥ २३॥

यह पैतृक राज्य आपका ही है, आप इसका पालन कीजिये, आप बड़े भाई हैं, अतएव पिता के तुल्य हैं। महाराज ! प्रजा का पालन करना यही क्षत्रियों का प्रधान धर्म है ॥ २३ ॥

इष्ट्वा यज्ञैर्बहुविधैः पुत्रानुत्पाद्य तन्तवह ।
राज्ये पुत्रं समारोप्य गमिष्यसि ततो वनम् ॥ २४॥

अत: आप विविध भाँति यज्ञों से यजन कर पुनः वंशवृद्धि के लिये पुत्र उत्पन्न कर उसके बड़े होने पर राजसिहासन पर बैठाकर वन को जायें॥२४॥

इदानीं वनवासस्य कालो नैव प्रसीद मे ।
मातुर्मे दुष्कृतं किञ्चित्स्मर्तुं नार्हसि पाहि नः ॥ २५॥

हे प्रभो! इस समय वनवास का समय नहीं है; आप मुझपर प्रसन्न होइये। मेरी माता का जो कुछ भी अपराध है उसे भूलकर मेरी रक्षा कीजिये ॥ २५॥

इत्युक्त्वा चरणौ भ्रातुः शिरस्याधाय भक्तितः ।
रामस्य पुरतः साक्षाद्दण्डवत्पतितो भुवि ॥ २६॥

यह कहकर उन्होंने भाई के चरणों पर भक्तिपूर्वक अपने मस्तक रख लिया और श्रीरामचन्द्रजी के सम्मुख दण्ड के समान पृथ्वी पर गिर पड़े ॥ २६ ॥

उत्थाप्य राघवः शीघ्रमारोप्याङ्केऽतिभक्तितः ।
उवाच भरतं रामः स्नेहार्द्रनयनः शनैः ॥ २७॥

शृणु वत्स प्रवक्ष्यामि त्वयोक्तं यत्तथैव तत् ।
किन्तु मामब्रवीत्तातो नव वर्षाणि पञ्च च ॥ २८॥

उषित्वा दण्डकारण्ये पुरं पश्चात्समाविश ।
इदानीं भरतायेदं राज्यं दत्तं मयाखिलम् ॥ २९॥

श्री रामचन्द्र जी ने भरत को शीघ्रता से उठाकर अत्यन्त प्रेमपूर्वक गोद में बैठा लिया और नेत्रों में प्रेमाश्रु भरकर धीरे धीरे उनसे कहने लगे-"भाई! मैं जो कहता हूँ वह सुनो। तुम जो कहते हो वह बिल्कुल ठीक है। परन्तु पिताजी ने मुझे चौदह वर्ष तक दण्डकारण्य में रहने के पश्च्यात अयोध्या आने की आज्ञा दी है। और यह भी कहा है कि यह सम्पूर्ण राज्य मैं भरत को देता हूँ॥ २७-२९ ॥

ततः पित्रैव सुव्यक्तं राज्यं दत्तं तवैव हि ।
दण्डकारण्यराज्यं मे दत्तं पित्रा तथैव च ॥ ३०॥

अतएव स्पष्ट ही पिताजी ने यह राज्य तुम्हें दिया है और उसी प्रकार मुझे दण्डकारण्य का राज्य दिया है ॥३०॥

अतः पितुर्वचः कार्यमावाभ्यामतियत्नतः ।
पितुर्वचनमुल्लङ्घ्य स्वतन्त्रो यस्तु वर्तते ॥ ३१॥

स जीवन्नेव मृतको देहान्ते निरयं व्रजेत् ।
तस्माद्राज्यं प्रशाधि त्वं वयं दण्डकपालकाः ॥ ३२॥

अत: हम दोनों को प्रयत्न पूर्वक पिताजी के वचनों को सफल करना चाहिये। जो मनुष्य अपने पिता के वचनों का उल्लंघन कर स्वेच्छा पूर्वक आचरण करता है वह जीता हुआ भी मृतक के समान है और शरीर छोड़ने पर नरक को जाता है। अत: तुम राज्य का शासन करो, हम दण्डकारण्य की रक्षा करेंगे ॥३१-३२॥

भरतस्त्वब्रवीद्रामं कामुको मूढधीः पिता ।
स्त्रीजितो भ्रान्तहृदय उन्मत्तो यदि वक्ष्यति ।
तत्सत्यमिति न ग्राह्यं भ्रान्तवाक्यं यथा सुधीः ॥ ३३॥

तब श्री भरत जी श्री रामचन्द्र जी से बोले-"पिताजी ने यदि काम के अधीन होकर, मूढमति स्त्री के वश में होकर भ्रान्तचित्त और उन्मत्त होने के कारण इस प्रकार कह भी दिया तो भी उसे सत्य नहीं मानना चाहिये। जिस प्रकार बुद्धिमान व्यक्ति भ्रान्तपुरुषों के कथन का आदर नहीं करते॥ ३३ ॥

श्रीराम उवाच
न स्त्रीजितः पिता ब्रूयान्न कामी नैव मूढधीः ।
पूर्वं प्रतिश्रुतं तस्य सत्यवादी ददौ भयात् ॥ ३४॥

श्रीरामचन्द्रजी बोले-पिताजी ने स्त्रीवश, कामवश अथवा मूढ होकर ऐसा नहीं कहा था । वह सत्यवादी थे और अपनी पूर्व-प्रतिज्ञा के अनुसार ही प्रतिज्ञा-भंग के डर से उन्होंने यह वर दिया थे ॥ ३४ ॥

असत्याद्भीतिरधिका महतां नरकादपि ।
करोमीत्यहमप्येतत्सत्यं तस्यै प्रतिश्रुतम् ॥ ३५॥

महान पुरुषों को नरक से भी अधिक भय असत्य से हुआ करता है। मैं भी "ऐसा ही करूँगा" क्योंकि मैं पिताजी से सत्य प्रतिज्ञा कर चुका हूँ ॥ ३५॥

कथं वाक्यमहं कुर्यामसत्यं राघवो हि सन् ।
इत्युदीरितमाकर्ण्य रामस्य भरतोऽब्रवीत् ॥ ३६॥

श्रीभरत उवाच
तथैव चीरवसनो वने वत्स्यामि सुव्रत ।
चतुर्दश समास्त्वं तु राज्यं कुरु यथासुखम् ॥ ३७॥

मैं रघुवंश में जन्म लेकर अपना वचन कैसे उलट सकता हूँ ? श्रीरामचन्द्रजी की यह वाणी सुनकर श्री भरतजी बोले-हे सुव्रत ! यदि यह बात है तो पिताजी के आज्ञानुसार मैं आपकी जगह चौदह वर्ष तक वल्कल वस्त्र धारण कर वन में रहूँगा और आप सुखपूर्वक राज्य करें ॥३६-३७॥

श्रीराम उवाच
पित्रा दत्तं तवैवैतद्राज्यं मह्यं वनं ददौ ।
व्यत्ययं यद्यहं कुर्यामसत्यं पूर्ववत् स्थितम् ॥ ३८॥

श्रीरामचन्द्रजी बोले-पिताजी तुम्हें यह राज्य और मुझे वनवास दिया हैं। यदि मैं इसका विपरीत आचरण करूँ तो असत्य अपने स्थान पर बना रहेगा ॥३८॥

अहमप्यागमिष्यामि सेवह त्वां लक्ष्मणो यथा ।
नोचेत्प्रायोपवहशेन त्यजाम्येतत्कलेवरम् ॥ ३९॥

भरतजी बोले-यदि आप वन से लौटना नहीं चाहते तो मुझे भी आज्ञा दीजिये जिससे मैं भी वन में रहकर लक्ष्मण के समान ही अपकी सेवा कर सकूं; अन्यथा अन्न जल का परित्याग कर मैं यहीं शरीर छोड़ दूंगा ॥ ३९ ।

इत्येवं निश्चयं कृत्वा दर्भानास्तीर्य चातपे ।
मनसापि विनिश्चित्य प्राङ्मुखोपविवहश सः ॥ ४०॥

इस प्रकार अपना दृढ़निश्चय प्रकट कर तथा मन में यह दृढ़कर वह धूप में कुशासन बिछाकर पूर्व दिशा की ओर मुखकरके बैठ गये ॥ ४० ॥

भरतस्यापि निर्बन्धं दृष्ट्वा रामोऽतिविस्मितः ।
नेत्रान्तसञ्ज्ञां गुरवह चकार रघुनन्दनः ॥ ४१॥

भरतजी का यह हठ देखकर श्रीरामचन्द्रजी ने अत्यन्त विस्मित होकर गुरु वसिष्ठजी को नेत्रों से संकेत किया ॥४१॥

एकान्ते भरतं प्राह वसिष्ठो ज्ञानिनां वरः ।
वत्स गुह्यं शृणुष्वेदं मम वाक्यात्सुनिश्चितम् ॥ ४२॥

रामो नारायणः साक्षाद्ब्रह्मणा याचितः पुरा ।
रावणस्य वधार्थाय जातो दशरथात्मजः ॥ ४३॥

और ज्ञानियों में श्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजी ने भरत को एकान्त में ले जाकर भरतजी से कहा "वत्स! मैं सुनिश्चित तुमसे गुह्य रहस्य कहता हूँ, सुनो-

भगवान श्रीराम साक्षात् नारायण हैं। पूर्व समय में ब्रह्माजी के प्रार्थना करने पर वे रावण को मारने के लिये इन्होने दशरथ के यहाँ पुत्र रूप में अवतार लिया हैं ॥४२-४३॥

योगमायापि सीतेति जाता जनकनन्दिनी ।
शेषोऽपि लक्ष्मणो जातो राममन्वेति सर्वदा ॥ ४४॥

रावणं हन्तुकामास्ते गमिष्यन्ति न संशयः ।
कैकेय्या वरदानादि यद्यन्निष्ठुरभाषणम् ॥ ४५॥

सर्वं देवकृतं नो चेदेवं सा भाषयेत्कथम् ।
तस्मात्त्यजाऽऽग्रहं तात रामस्य विनिवर्तने ॥ ४६॥

निवर्तस्व महासैन्यैर्भ्रातृभिः सहितः पुरम् ।
रावणं सकुलं हत्वा शीघ्रमेवागमिष्यति ॥ ४७॥

इसी प्रकार उनकी योगमाया ने जनकनन्दिनी सीता के रूप में अवतार ग्रहण किया है और शेषजी लक्ष्मण के रूप में उत्पन्न होकर उनका अनुगमन कर रहे हैं। श्री राम रावण को मारना चाहते हैं। अत: निःसन्देह वह वन में ही रहेंगे। कैकेयी के वरदान और निष्ठुर भाषण आदि समस्त कार्य देवताओं की प्रेरणा से ही हुए हैं ; अन्यथा कैकेयी इस प्रकार के वचन वह कैसे बोल सकती थी ? अत: हे तात ! तुम राम को लौटाने का आग्रह छोड़ दो और माताओं तथा महती सेना के साथ अयोध्या को वापस लौट चलो। श्रीराचन्द्रजी भी कुलसहित रावण का संहार कर शीघ्र ही अयोध्या लौट आयेंगे ॥४४-४७॥

इति श्रुत्वा गुरोर्वाक्यं भरतो विस्मयान्वितः ।
गत्वा समीपं रामस्य विस्मयोत्फुल्ललोचनः ॥ ४८॥

पादुके देहि राजेन्द्र राज्याय तव पूजिते ।
तयोः सेवां करोम्येव यावदागमनं तव ॥ ४९॥

गुरुजी का यह कथन सुनकर भरतजी को अत्यन्त विस्मय हुआ और वह आश्चर्य चकित होकर श्रीरामचन्द्रजी के पास जाकर बोले-हे राजेन्द्र ! आप मुझे राज्यशासन के लिये अपनी जगत् पूज्य चरणपादुकाएँ दीजिये। जब तक आप लौटकर आयेगें तब तक मैं उन्हीं की सेवा करता रहूँगा॥ ४८-४९ ॥

इत्युक्त्वा पादुके दिव्ये योजयामास पादयोः ।
रामस्य ते ददौ रामो भरतायातिभक्तितः ॥ ५०॥

यह कहकर भरतजी ने उनके चरणों में दो दिव्यपादुकाएँ पहना दी तथा श्रीरामचन्द्र जी ने भरत का भक्तिभाव देखकर वह दिव्यपादुकाएँ उन्हें दे दीं ॥५०॥

गृहीत्वा पादुके दिव्ये भरतो रत्नभूषिते ।
रामं पुनः परिक्रम्य प्रणनाम पुनः पुनः ॥ ५१॥

भरतजी ने उन रत्नजटित दिव्यपादुकाओं को लेकर श्रीरामचन्द्रजी की परिक्रमा की तथा उन्हें बारम्बार प्रणाम किया ॥ ५१ ॥

भरतः पुनराहेदं भक्त्या गद्गदया गिरा ।
नवपञ्चसमान्ते तु प्रथमे दिवसे यदि ॥ ५२॥

नागमिष्यसि चेद्राम प्रविशामि महानलम् ।
बाढमित्येव तं रामो भरतं सन्यवर्तयत् ॥ ५३॥

और वह भक्तिभाव से गद्गद् वाणी से बोले - "हे राम ! आप यदि चौदहवर्ष के व्यतीत होने पर प्रथम दिन ही अयोध्या नहीं आये तो मैं महान् अग्नि में प्रवेश कर जाऊँगा" । तब श्रीरामचन्द्रजी ने बहुत अच्छा, कह कर श्रीभरतजी को विदा किया ॥ ५२-५३ ॥

ससैन्यः सवसिष्ठश्च शत्रुघ्नसहितः सुधीः ।
मातृभिर्मन्त्रिभिः सार्धं गमनायोपचक्रमे ॥ ५४॥

इसके पश्च्यात बुद्धिमान् भरतजी ने सम्पूर्ण सेना, वसिष्ठजी, शत्रुघ्न और समस्त माताओं तथा मन्त्रियों के साथ अयोध्या वापस जाने की तैयारी की ॥५४॥

कैकेयी राममेकान्ते स्रवन्नेत्रजलाकुला ।
प्राञ्जलिः प्राह हे राम तव राज्यविघातनम् ॥ ५५॥

कृतं मया दुष्टधिया मायामोहितचेतसा ।
क्षमस्व मम दौरात्म्यं क्षमासारा हि साधवः ॥ ५६॥

इसी समय कैकेयी एकान्त स्थान में सजलनेत्र हो हाथ जोड़कर श्रीरामचन्द्रजी से बोली-हे राम ! माया से मुग्धचित्त हो जाने से मुझ कुबुद्धि ने तुम्हारे राज्याभिषेक में विघ्न डाल दिया है, परन्तु तुम मेरी इस कुटिलता को क्षमा करना; क्योंकि साधुलोग सर्वदा क्षमाशील ही होते हैं ॥ ५५-५६ ॥

त्वं साक्षाद्विष्णुरव्यक्तः परमात्मा सनातनः ।
मायामानुषरूपेण मोहयस्यखिलं जगत् ।
त्वयैव प्रेरितो लोकः कुरुते साध्वसाधु वा ॥ ५७॥

आप साक्षात् विष्णु भगवान् , अव्यक्त परमात्मा और सनातन पुरुष हैं। अपने मायामय मनुष्य रूप से सम्पूर्ण जगत् को आप मोहित कर रहे हैं। आपकी ही प्रेरणा से संसार के प्राणी शुभ अथवा अशुभकर्म करते हैं ॥ ५७ ॥

त्वदधीनमिदं विश्वमस्वतन्त्रं करोति किम् ।
यथा कृत्रिमनर्तक्यो नृत्यन्ति कुहकेच्छया ॥ ५८॥

त्वदधीना तथा माया नर्तकी बहुरूपिणी ।
त्वयैव प्रेरिताहं च देवकार्यं करिष्यता ॥ ५९॥

पापिष्ठं पापमनसा कर्माचरमरिन्दम ।
अद्य प्रतीतोऽसि मम देवानामप्यगोचरः ॥ ६०॥

यह सम्पूर्ण संसार आपके ही अधीन है, परतन्त्र होने से यह स्वयं कुछ भी नहीं कर सकता, जिस प्रकार कृत्रिम नर्तकियाँ सूत्रधार की इच्छा से ही नृत्य करती हैं उसी प्रकार विविध आकार धारण करने वाली मायारूपिणी नटी आपके ही अधीन है। तथा हे शत्रदमन ! देवताओं का कार्य करने की इच्छा रखने वाले आपसे प्रेरित होकर ही मुझ पापिनी ने अपनी दुष्टबुद्धि से यह पापकर्म किया था। आज मैं आपको जान गई हूँ, आप देवताओं की भी मन वाणी आदि से अगम्य हैं ॥५८-६०॥

पाहि विश्वेश्वरानन्त जगन्नाथ नमोऽस्तु ते ।
छिन्धि स्नेहमयं पाशं पुत्रवित्तादिगोचरम् ॥ ६१॥

त्वज्ज्ञानानलखड्गेन त्वामहं शरणं गता ।
कैकेय्या वचनं श्रुत्वा रामः सस्मितमब्रवीत् ॥ ६२॥

यदाह मां महाभागे नानृतं सत्यमेव तत् ।
मयैव प्रेरिता वाणी तव वक्त्राद्विनिर्गता ॥ ६३॥

देवकार्यार्थसिद्ध्यर्थमत्र दोषः कुतस्तव ।
गच्छ त्वं हृदि मां नित्यं भावयन्ती दिवानिशम् ॥ ६४॥

सर्वत्र विगतस्नेहा मद्भक्त्या मोक्ष्यसेऽचिरात् ।
अहं सर्वत्र समदृग् द्वेष्यो वा प्रिय एव वा ॥ ६५॥

हे विश्वेश्वर! हे अनन्तं! आप मेरी रक्षा कीजिये । हे जगन्नाथ ! आपको नमस्कार है। हे प्रभो! मैं आपकी शरण में हूँ। आप अपने ज्ञानाग्निरूप तलवार से मेरे पुत्र तथा धन आदि के स्नेह पाश को काट दीजिये। कैकेयी का यह वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजी मुस्कुराकर बोले-हे महाभागे! आप जो कुछ कह रहीं हैं वह ठीक ही है, मिथ्या नहीं है। मेरी ही प्रेरणा से देवताओं के कार्य की सिद्धि के लिये आपके मुख से यह शब्द निकले थे। इसमें आपका कोई दोष नहीं है। अत: आप अयोध्या कूट जाएँ और अहर्निश निरन्तर हृदय में मेरी भावना करने से आप सर्वत्र स्नेह रहित होकर मेरी भक्ति द्वारा शीघ्र ही मुक्त हो जायेंगी। मैं सर्वत्र समदर्शी हूँ, मेरा कोई भी प्रिय अथवा अप्रिय नहीं है ॥६१-६५ ॥

नास्ति मे कल्पकस्येव भजतोऽनुभजाम्यहम् ।
मन्मायामोहितधियो मामम्ब मनुजाकृतिम् ॥ ६६॥

सुखदुःखाद्यनुगतं जानन्ति न तु तत्त्वतः ।
दिष्ट्या मद्गोचरं ज्ञानमुत्पन्नं ते भवापहम् ॥ ६७॥

माया करने वाला पुरुष जिस प्रकार अपनी माया से बनाए वस्तुओं में राग-द्वेष नहीं करता, उसी प्रकार मेरा भी किसी में राग-द्वेष नहीं है। जो पुरुष जिस भाँति मेरा भजन करता है। मैं वैसा ही उसका ध्यान रखता हूँ। हे मातः! मेरी माया से विमोहित होकर लोग मुझे सुख-दुःख के वशीभूत हुआ साधारण मनुष्य ही जानते हैं। वह मेरे वास्तविक रूप को नहीं जानते। आप अत्यन्त भाग्यशाली हैं जो संसार-भय से दूर करने वाला मेरा तत्त्वज्ञान आपको उत्पन्न हुआ ॥ ६६-६७॥

स्मरन्ती तिष्ठ भवने लिप्यसे न च कर्मभिः ।
इत्युक्ता सा परिक्रम्य रामं सानन्दविस्मया ॥ ६८॥

प्रणम्य शतशो भूमौ ययौ गेहं मुदान्विता ।
भरतस्तु सहामात्यैर्मातृभिर्गुरुणा सह ॥ ६९॥

अयोध्यामगमच्छ्रीघ्रं राममेवानुचिन्तयन् ।
पौरजानपदान् सर्वानयोध्यायामुदारधीः ॥ ७०॥

मेरा स्मरण करती हुई घर में रहो, इससे आप कर्मबन्धन से विमुक्त रहेंगी। इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी के कहने पर आनन्द और विस्मय

पूर्वक श्रीरामचन्द्रजी ने कैकेयी की परिक्रमा की और पृथ्वी पर सिर रखकर उन्हें शाष्टांग प्रणाम कर प्रसन्नता पूर्वक अपने घर को चली गई और भरतजी मन्त्रिगण माताओं और वसिष्ठजी के साथ श्रीरामचन्द्रजी का स्मरण करते हुए शीघ्रता से अयोध्या को लौट गए ॥६८-७०॥

स्थापयित्वा यथान्यायं नन्दिग्रामं ययौ स्वयम् ।
तत्र सिंहासने नित्यं पादुके स्थाप्य भक्तितः ॥ ७१॥

पूजयित्वा यथा रामं गन्धपुष्पाक्षतादिभिः ।
राजोपचारैरखिलैः प्रत्यहं नियतव्रतः ॥ ७२॥

फलमूलाशनो दान्तो जटावल्कलधारकः ।
अधःशायी ब्रह्मचारी शत्रुघ्नसहितस्तदा ॥ ७३॥

उदार बुद्धि वाले श्रीभरतजी ने सभी नगरवासियों और देशवासियों की यथायोग्य अयोध्यापुरी में रहने की व्यवस्था कर स्वयं नन्दिग्राम चले गये। उस स्थान पर सिंहासन पर उन दोनों चरणपादुकाओं को रखकर वह श्रीरामचन्द्रजी के समान उनकी नित्यप्रति भक्तिपूर्वक गन्ध पुष्प, अक्षतादि से सम्पूर्ण पूजन सामग्री से पूजन करने लगे। इस प्रकार श्रीभरतजी फलमूल का आहार करते हुए, इन्द्रियों का दमन करते हुए, जटा-वल्कल धारण किए, पृथ्वी पर शयन और ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए शत्रुघ्न के साथ निवास करने लगे ॥ ७१-७३ ॥

राजकार्याणि सर्वाणि यावन्ति पृथिवीतले ।
तानि पादुकयोः सम्यङ्निवहदयति राघवः ॥ ७४॥

पृथ्वी पर होने वाले सम्पूर्ण राज कार्यों को श्रीभरतजी पादुकाओं के सामने निवेदन कर देते थे ॥७४॥

गणयन् दिवसान्येव रामागमनकाङ्क्षया ।
स्थितो रामार्पितमनाःसाक्षाद्ब्रह्ममुनिर्यथा ॥ ७५॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी के आने की प्रतीक्षा में समय गिनते हुए श्रीरामचन्द्रजी में ही अपना मन लगाकर साक्षात् ब्रह्मर्षि के समान रहने लगे ॥ ७५ ॥

रामस्तु चित्रकूटाद्रौ वसन्मुनिभिरा वृतः ।
सीतया लक्ष्मणेनापि किञ्चित्कालमुपावसत् ॥ ७६॥

श्रीरामचन्द्रजी ने भी चित्रकूट-पर्वत पर सीता और लक्ष्मण के साथ मुनियों से घिरे हुए कुछ दिन व्यतीत किये ॥ ७६॥

नागराश्च सदा यान्ति रामदर्शनलालसाः ।
चित्रकूटस्थितं ज्ञात्वा सीतया लक्ष्मणेन च ॥ ७७॥

श्रीरामचन्द्रजी की मात सीता और लक्ष्मण के साथ चित्रकूट पर्वत पर विद्यमान सुनकर आसपास के नगर निवासी दर्शन की इच्छा से सदैव आया करते थे ॥ ७७ ॥

दृष्ट्वा तज्जनसम्बाधं रामस्तत्याज तं गिरिम् ।
दण्डकारण्यगमने कार्यमप्यनुचिन्तयन् ॥ ७८॥

श्रीरामचन्द्रजी ने उस भीड़ को देखकर और अपने दण्डकारण्य में आने के कार्य को विचारकर उस पर्वत को छोड़ दिया ॥ ७८॥

अन्वगात्सीतया भ्रात्रा ह्यत्रेराश्रममुत्तमम् ।
सर्वत्र सुखसंवासं जनसम्बाधवर्जितम् ॥ ७९॥

और उस स्थान से चलकर वह सीता तथा लक्ष्मण के साथ अत्रिमुनि के अति उत्तम और जन समुदाय शून्य आश्रम में आये जो सभी प्रकार से सुखपूर्वक रहने योग्य था ॥ ७९ ॥

गत्वा मुनिमुपासीनं भासयन्तं तपोवनम् ।
दण्डवत्प्रणिपत्याह रामोऽहमभिवादये ॥ ८०॥

वहाँ पहुँचने पर वह अपने आश्रम में विराजमान और सम्पूर्ण तपोवन को प्रकाशित करते हुए: मुनीश्वर के पास जाकर उन्हें दण्डवत् प्रणाम कर बोले-"मैं राम आपका अभिवादन करता हूँ। ८०॥

पितुराज्ञां पुरस्कृत्य दण्डकाननमागतः ।
वनवासमिषेणापि धन्योऽहं दर्शनात्तव ॥ ८१॥

मैं पिताजी की आज्ञा से दण्डकारण्य में आया हूँ। इस समय वनवास के बहाने आपका दर्शन करके मैं कृतार्थ हो गया हूँ ॥ ८१॥

श्रुत्वा रामस्य वचनं रामं ज्ञात्वा हरिं परम् ।
पूजयामास विधिवद्भक्त्या परमया मुनिः ॥ ८२॥

श्रीरामचन्द्रजी का यह उत्तम वचन सुनकर मुनीश्वर ने उन्हें साक्षात् परब्रह्म जानकर उनकी अत्यन्त भक्तिपूर्वक विधिवत पूजा की ॥८२॥

वन्यैः फलैः कृतातिथ्यमुपविष्टं रघूत्तमम् ।
सीतां च लक्ष्मणं चैव सन्तुष्टो वाक्यमब्रवीत् ॥ ८३॥

भार्या मेऽतीव संवृद्धा ह्यनसूयेति विश्रुता ।
तपश्चरन्ती सुचिरं धर्मज्ञा धर्मवत्सला ॥ ८४॥

अत्रिमुनि ने जंगल में उत्पन्न होने वाले फलों से उनका आतिथ्य सत्कार कर आसन प्रदान किया श्री रघुनाथजी, महारानी सीताजी और लक्ष्मणजी से प्रसन्नता पूर्वक बोले-"मेरी भार्या 'अनसूया' नाम से विश्रुत है, वह अतिवृद्धा और बहुत दिनों से तपस्या कर रही है। तथा वह धर्म को जानने वाली और धर्म में प्रेम रखने वाली है ॥ ८३-८४ ॥

अन्तस्तिष्ठति तां सीता पश्यत्वरिनिषूदन ।
तथेति जानकीं प्राह रामो राजीवलोचनः ॥ ८५॥

गच्छ देवीं नमस्कृत्य शीघ्रमेहि पुनः शुभे ।
तथेति रामवचनं सीता चापि तथाकरोत् ॥ ८६॥

इस समय वह कुटी के अन्दर है। हे शत्रु दमन राम ! सीताजी को अनुसूया से मिल लेना चाहिए। "बहुत अच्छा" यह कहकर कमललोचन श्रीरामचन्द्रजी जानकीजी से बोले-“हे शुभे! तुम जाकर शीघ्र ही देवी अनसूया जी को प्रणाम कर आओ”। 'बहुत अच्छा' यह

कहकर सीताजी ने श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा का पालन किया ॥ ८५-८६॥

दण्डवत्पतितामग्रे सीतां दृष्ट्वातिहृष्टधीः ।
अनसूया समालिङ्ग्य वत्से सीतेति सादरम् ॥ ८७॥

दिव्ये ददौ कुण्डले द्वे निर्मिते विश्वकर्मणा ।
दुकूले द्वे ददौ तस्यै निर्मले भक्तिसंयुता ॥ ८८॥

अनसूया जी अपने सामने दण्ड के समान पड़ी सीता को देखकर अति हर्षित हो बेटी सीता यह कहकर आदर पूर्वक उका आलिङ्गन किया और भक्तिसहित उन्हें विश्वकर्मा द्वारा निर्मित दो दिव्यकुण्डल और शुभ्र रेशमी वस्त्र भेंट किया ॥ ८७-८८ ॥

अङ्गरागं च सीतायै ददौ दिव्यं शुभानना ।
न त्यक्ष्यतेऽङ्गरागेण शोभा त्वां कमलानने ॥ ८९॥

सुन्दर मुखवाली अनसूयाजी ने सीता को दिव्यअङ्गराग भी दिया और बोलीं- हे कमल के समान मुखवाली सीते! इस अङ्गराग को लगाने से तुम्हारे शरीर की शोभा कभी कम नहीं होगी ॥ ८९ ॥

पातिव्रत्यं पुरस्कृत्य राममन्वेहि जानकि ।
कुशली राघवो यातु त्वया सह पुनर्गृहम् ॥ ९०॥

हे जानकि ! तुम पातिव्रत्य धर्म का पालन करती हुई सदा श्री राम की ही अनुगामिनि रहना। श्रीरघनाथजी तुम्हारे साथ कुशलपूर्वक घर को लौटें" ॥ ९० ॥

भोजयित्वा यथान्यायं रामं सीतासमन्वितम् ।
लक्ष्मणं च तदा रामं पुनः प्राह कृताञ्जलिः ॥ ९१॥

राम त्वमेव भुवनानि विधाय तेषां
संरक्षणाय सुरमानुषतिर्यगादीन् ।
देहान् बिभर्षि न च देहगुणैर्विलिप्तस्-
त्वत्तो बिभेत्यखिलमोहकरी च माया ॥ ९२॥

इसके पश्च्यात उन्होंने विधिपूर्वक लक्ष्मण और सीताजी के सहित श्रीरामचन्द्रजी को भोजन कराया और वह श्रीरामचन्द्रजी से हाथ जोड़कर बोले-'हे राम! इन सम्पूर्ण भुवनों की रचना कर आप इनकी रक्षा के लिए देवता, मनुष्य और तिर्यक योनियों में शरीर धारण करते हैं ; तथापि आप देह के गुणधर्मो से लिप्त नहीं होते; सम्पूर्ण संसार को मोहित करने वाली माया भी आपसे हमेशा भय मानती है ॥९१-९२॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे
अयोध्याकाण्डे नवमः सर्गः ॥ ९॥

समाप्तमिदमयोध्याकाण्डम्

॥श्रीगणेशाय नमः॥
॥ ॐ परब्रह्मणे नमः॥

॥ अध्यात्मरामायण ॥

अरण्यकाण्डम्

॥ प्रथमः सर्गः ॥

विराध-वध

श्रीमहादेव उवाच
अथ तत्र दिनं स्थित्वा प्रभाते रघुनन्दनः ।
स्नात्वा मुनिं समामन्त्र्य प्रयाणायोपचक्रमे ॥ १॥

श्रीमहादेवजी बोले-हे पार्वती ! उस दिन अत्रि मुनि के आश्रम में निवास करने के पश्च्यात दूसरे दिन प्रातः काल स्नानकर श्रीरघुनाथजी मुनिवर की अनुमति लेकर चलने के लिए तैयार हुए ॥१॥

मुने गच्छामहे सर्वे मुनिमण्डलमण्डितम् ।
विपिनं दण्डकं यत्र त्वमाज्ञातुमिहार्हसि ॥ २॥

श्री रघुनाथ जी बोले हे मुने! हमलोग मुनि मण्डली से सुशोभित दण्डकारण्य जाना चाहते हैं, आप आज्ञा दीजिए ॥२॥

मार्गप्रदर्शनार्थाय शिष्यानाज्ञप्तुमर्हसि ।
श्रुत्वा रामस्य वचनं प्रहस्यात्रिर्महायशाः ।
प्राह तत्र रघुश्रेष्ठं राम राम सुराश्रय ॥ ३॥

सर्वस्य मार्गद्रष्टा त्वं तव को मार्गदर्शकः ।
तथापि दर्शयिष्यन्ति तव लोकानुसारिणः ॥ ४॥

हमारा मार्ग प्रदर्शन करने के लिये कुछ शिष्यों को आज्ञा दीजिये। श्रीराम जी की यह बात सुनकर महायशस्वी अत्रि मुनि हँसकर बोले- हे रघुश्रेष्ठ राम ! देवताओं के आश्रय स्वरूप आप सबके मार्ग दर्शक हैं, आपका मार्गदर्शक कौन होगा ? तथापि इस समय लोक व्यवहार का अनुसरण करने वाले आपको मार्ग बतलाने के लिये शिष्यगण आपके साथ जायेंगे ॥३-४ ॥

इति शिष्यान् समादिश्य स्वयं किञ्चित्तमन्वगात् ।
रामेण वारितः प्रीत्या अत्रिः स्वभवनं ययौ ॥ ५॥

तत्पश्चात् शिष्यों को आज्ञा देकर मुनिवर अत्रि भी स्वयं कुछ दूर रामचन्द्रजी के साथ गए और उनके प्रीतिपूर्वक मना करने पर अपने आश्रम को वापस लौट आये। ॥ ५॥

क्रोशमात्रं ततो गत्वा ददर्श महतीं नदीम् ।
अत्रेः शिष्यानुवाचेदं रामो राजीवलोचनः ॥ ६॥

एक कोस चलने के अनन्तर राजीव लोचन श्रीरामजी ने एक बहुत बड़ी नदी देखी। नदी को देखकर श्रीरघुनाथ जी ने अत्रिमुनि के शिष्यों से पूछा ॥ ६॥

नद्याः सन्तरणे कश्चिदुपायो विद्यते न वा ।
ऊचुस्ते विद्यते नौका सुदृढा रघुनन्दन ॥ ७॥

नदी को पार करने के लिये कोई उपाय है या नहीं ? यह सुनकर मुनि के शिष्यगण बोले-हे रघुनन्दन ! एक सुदृढ नौका है ॥७॥

तारयिष्यामहे युष्मान् वयमेव क्षणादिह ।
ततो नावि समारोप्य सीतां राघवलक्ष्मणौ ॥ ८॥

क्षणात्सन्तारयामासुर्नदीं मुनिकुमारकाः ।
रामाभिनन्दिताः सर्वे जग्मुरत्रेरथाश्रमम् ॥ ९॥

हमलोग उसमें चढ़ाकर आपको क्षण मात्र में ही नदी के उस पार पहुंचा देंगे। उन्होंर यह कहकर सीता जी सहित श्री राम और लक्ष्मण जी को नौकापर चढ़ाकर क्षण भर में नदी के उस पार पहुंचा दिया और श्रीरामचन्द्र जी द्वारा प्रशंसित होकर अत्रिमुनि के आश्रम पर लौट आये ॥ ८-९॥

तावहत्य विपिनं घोरं झिल्लीझङ्कारनादितम् ।
नानामृगगणाकीर्णं सिंहव्याघ्रादिभीषणम् ॥ १०॥

इसके बाद झिल्लियों की झनकार से गुंजायमान, अनेकों मृगगणों से पूर्ण और सिंह व्याघ्रादि हिंसक पशुओं से भयानक एक घोर वन में पहुंचे ॥ १०॥

राक्षसैर्घोररूपैश्च सेवितं रोमहर्षणम् ।
प्रविश्य विपिनं घोरं रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ ११॥

भयंकर रूपधारण करने वाले राक्षसों से सेवित उस रोमाञ्चकारी घोर वन में घुसकर श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणजी से बोले ॥ ११ ॥

इतः परं प्रयत्नेन गन्तव्यं सहितेन मे ।
धनुर्गुणेन संयोज्य शरानपि करे दधत् ॥ १२॥

अग्रे यास्याम्यहं पश्चात्त्वमन्वेहि धनुर्धर ।
आवयोर्मध्यगा सीता मायेवात्मपरात्मनोः ॥ १३॥

यहाँ से सावधान होकर हम लोगों को आगे चलना चाहिये। मैं धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर और हाथ में बाण लेकर आगे चलता हूँ , तथा तुम धनुष धारण कर पीछे-पीछे चलो, हम दोनों के मध्य सीता जी और ब्रह्म के मध्य माया की भांति चलें ॥ १२-१३ ॥

चक्षुश्चारय सर्वत्र दृष्टं रक्षोभयं महत् ।
विद्यते दण्डकारण्ये श्रुतपूर्वमरिन्दम ॥ १४॥

हे अरिन्दम! सर्वत्र सतर्कता पूर्वक दृष्टि रखो। जैसा हमने पहले सुना था उसी प्रकार का इस दण्डकारण्य में राक्षसों का महद् भय दिखायी देता है ॥ १४ ॥

इत्येवं भाषमाणौ तौ जग्मतुः सार्धयोजनम् ।
तत्रैका पुष्करिण्यास्ते कल्हारकुमुदोत्पलैः ॥ १५॥

इस प्रकार बातचीत करते सीता जी सहित श्री राम और लक्ष्मण जी सार्ध योजन (डेढ़ योजन छः कोस) चले गये वहाँ पर कुमुद, कहार, कमलादि से सुशोभित एक पुष्करिणी थी॥१५॥

अम्बुजैः शीतलोदेन शोभमाना व्यदृश्यत ।
तत्समीपमथो गत्वा पीत्वा तत्सलिलं शुभम् ॥ १६॥

वह कमल और शीतल जल से सुशोभित दिखायी दे रही थी। उन्होंने उसके पास जाकर उसके सुन्दर जल का पान किया ॥१६॥

ऊषुस्ते सलिलाभ्याशे क्षणं छायामुपाश्रिताः ।
ततो ददृशुरायान्तं महासत्त्वं भयानकम् ॥ १७॥

और जल पान के पश्च्यात जल के किनारे वृक्ष की छाया में बैठ गये उसी समय उन्होंने महावलवान भयानक राक्षस को आते हुए देखा ॥ १७ ॥

करालदंष्ट्रवदनं भीषयन्तं स्वगर्जितैः ।
वामांसे न्यस्तशूलाग्रग्रथितानेकमानुषम् ॥ १८॥

उस राक्षस का मुख तीक्ष्ण दाढ़ों से परिपूर्ण था और उसके बायें कन्धे पर एक त्रिशुल रखा था, उसमें अनेक मनुष्य प्रथित थे ॥ १८॥

भक्षयन्तं गजव्याघ्रमहिषं वनगोचरम् ।
ज्यारोपितं धनुर्धृत्वा रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ १९॥

वह अनेक जंगली हाथी, सिंह, और भैंसों को खाता हुआ आ रहा था। उस राक्षस को देखकर श्रीरामचन्द्रजी ने धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर धनुष को उठाया और लक्ष्मण जी से बोले ॥ १९ ॥

पश्य भ्रातर्महाकायो राक्षसोऽयमुपागतः ।
आयात्यभिमुखं नोऽग्रे भीरूणां भयमावहन् ॥ २०॥

भाई लक्ष्मण ! देखो यह कायर पुरुषों को डराने वाला उग्र रूप महाकाय राक्षस यहाँ आ रहा है ॥ २०॥

सज्जीकृतधनुस्तिष्ठ मा भैर्जनकनन्दिनि ।
इत्युक्त्वा बाणमादाय स्थितो राम इवाचलः ॥ २१॥

तुम धनुष पर बाण चढ़ाकर तैयार हो जाओ और जानकी! तुम डरना मत। यह कहकर श्रीरामचन्द्रजी धनुष के ऊपर बाण चढ़ाकर पर्वत के समान निश्चल होकर खड़े हो गये ॥२१॥

स तु दृष्ट्वा रमानाथं लक्ष्मणं जानकीं तदा ।
अट्टहासं ततः कृत्वा भीषयन्निदमब्रवीत् ॥ २२॥

तत्पश्चात् वह राक्षस राम लक्ष्मण और जानकी को देखकर भीषण अट्टहास करता हुआ इस प्रकार बोला ॥२२॥

कौ युवां बाणतूणीरजटावल्कलधारिणौ ।
मुनिवहषधरौ बालौ स्त्रीसहायौ सुदुर्मदौ ॥ २३॥

तुम दोनों बालक बाण तूणीर और बल्कल आदि मुनिवेश धारण किये हुए कौन हो ? तुम्हारे साथ एक स्त्री भी है और तुम दोनों बड़े उन्मत दिखायी दे रहे हो ॥ २३॥

सुन्दरौ बत मे वक्त्रप्रविष्टकवलोपमौ ।
किमर्थमागतौ घोरं वनं व्यालनिषेवितम् ॥ २४॥

तुम दोनों सुन्दर और मेरे मुख में जाने वाले मेरे ग्रास के समान हो । तुम हिंसक जन्तुओं से पूर्ण इस घोर जंगल में क्यों आये हो ॥ २४ ॥

श्रुत्वा रक्षोवचो रामः स्मयमान उवाच तम् ।
अहं रामस्त्वयं भ्राता लक्ष्मणो मम सम्मतः ॥ २५॥

राक्षस का यह वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजी उस राक्षस से बोले-मैं राम हूँ और यह मेरा प्यारा छोटा भाई लक्ष्मण है ॥ २५ ॥

एषा सीता मम प्राणवल्लभा वयमागताः ।
पितृवाक्यं पुरस्कृत्य शिक्षणार्थं भवादृशाम् ॥ २६॥

यह मेरी प्राणवल्लभा सीता है। हम अपने पिता की आज्ञा से तुम जैसों को शिक्षा देने के लिये वन में आये हैं ॥ २६ ॥

शृत्वा तद्रामवचनमट्टहासमथाकरोत् ।
व्यादाय वक्त्रं बाहुभ्यां शूलमादाय सत्वरः ॥ २७॥

मां न जानासि राम त्वं विराधं लोकविश्रुतम् ।
मद्भयान्मुनयः सर्वे त्यक्त्वा वनमितो गताः ॥ २८॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी का वचन सुनकर वह अट्टहास कर मुंह फैलाकर जल्दी से अपने हाथों में शूल लेकर बोला-हे राम ! क्या तुम मुझे नहीं जानते ? मैं जगत्प्रसिद्ध विराध हूँ। मेरे भय से भयभीत होकर मुनिगण दूसरे वन में चले गये हैं ॥ २७-२८॥

यदि जीवितुमिच्छास्ति त्यक्त्वा सीतां निरायुधौ ।
पलायत न चेच्छीघ्रं भक्षयामि युवामहम् ॥ २९॥

तुम लोगों को जीवित रहने की इच्छा है तो सीता और अपने आयुधों को छोड़कर भाग जाओ, नहीं तो तुम दोनों को मैं खा जाऊंगा ॥ २९ ॥ ।

इत्युक्त्वा राक्षसः सीतामादातुमभिदुद्रुवह ।
रामश्चिच्छेद तद्बाहू शरेण प्रहसन्निव ॥ ३०॥

ऐसा कहकर वह राक्षस सीता जी को पकड़ने के लिये उनकी की ओर दौड़ा। इस पर श्री रामचन्द्र जी हँसते हुए अपने बाण से उसकी भुजाएँ काट दी ॥ ३० ॥

ततः क्रोधपरीतात्मा व्यादाय विकटं मुखम् ।

राममभ्यद्रवद्रामश्चिच्छेद परिधावतः ॥ ३१॥

पदद्वयं विराधस्य तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ३२॥

इस पर वह अत्यन्त क्रोधित हो विकराल मुख को फैलाकर श्री रामचन्द्रजी की ओर दौड़ा। इसपर श्रीरामचन्द्रजी विराध के दोनों पैर काट दिये ॥३१-३२ ॥

ततः सर्प इवास्येन ग्रसितुं राममापतत् ।
ततोऽर्धचन्द्राकारेण बाणेनास्य महच्छिरः ॥ ३३॥

चिच्छेद रुधिरौघेण पपात धरणीतले ।
ततः सीता समालिङ्ग्य प्रशशंस रघूत्तमम् ॥ ३४॥

इस पर वह विराध सर्प के समान अपने मुख से श्रीरामचन्द्रजी को निगल जाने के लिये उनकी ओर दौड़ा। तब भगवान् राम ने एक अर्द्धचन्द्राकार बाण से उसका महान् सर को काट दिया। तब वह खून से लथः पथ होकर तत क्षण पृथ्वी पर गिर पड़ा। इस प्रकार उसको मरा देखकर श्री सीताजी रघुश्रेष्ठ भगवान राम का आलिंगन कर उनकी भूरि भूरि प्रशंसा की ॥ ३३-३४ ॥

ततो दुन्दुभयो नेदुर्दिवि देवगणेरिताः ।
ननृतुश्चाप्सरा हृष्टा जगुर्गन्धर्वकिन्नराः ॥ ३५॥

उस समय आकाश में देवगण दुन्दुभी बजाने लगे, अप्सराएँ प्रसन्नता पूर्वक नाचने लगीं, गन्धर्व और किन्नरगण गाने लगे ॥३५॥

विराधकायाददतिसुन्दराकृतिः विभ्राजमानो विमलाम्बरावृतः ।
प्रतप्तचामीकरचारुभूषणो व्यदृश्यताग्रे गगने रविर्यथा ॥ ३६॥

उसी समय विराध के शरीर से आकाशस्थित सूर्यदेव के समान, सुन्दर वस्त्रों और प्रत्यक्ष सुवर्णालंकारों से सुसज्जित सुन्दर पुरुष प्रकट हुआ ॥ ३६ ॥

प्रणम्य रामं प्रणतार्तिहारिणं भवप्रवाहोपरमं घृणाकरम् ।
प्रणम्य भूयः प्रणनाम दण्डवत् प्रपन्नसर्वार्तिहरं प्रसन्नधीः ॥ ३७॥

उस समय वह पुरुष शरणागत जनों का दुःख दूर करने वाले, संसार-सागर से पार करने वाले, दयामय श्रीराम चन्द्रजी को प्रसन्न मन से प्रणाम कर प्रसन्नचित्त, शरणागतों के सम्पूर्ण क्लेश हरण करने वाले प्रभु को पृथ्वी पर दण्डवत् कर बारम्बार प्रणाम किया ॥ ३७ ॥

विराध उवाच
श्रीराम राजीवदलायताक्ष विद्याधरोऽहं विमलप्रकाशः ।
दुर्वाससाकारणकोपमूर्तिना शप्तः पुरा सोऽद्य विमोचितस्त्वया ॥३८॥

विराध बोला-हे कमलदल लोचन श्रीराम ! मैं विमलप्रकाश विद्याधर हूँ। मुझे पूर्व समय में अकारण क्रोध करने वाले श्री दुर्वासा ऋषि ने शाप दिया था, आज मैं उस शाप से आपके द्वारा मुक्त हो गया ॥ ३८॥

इतः परं त्वच्चरणारविन्दयोः स्मृतिः सदा मेऽस्तु भवोपशान्तये ।
त्वन्नामसङ्कीर्तनमेव वाणी करोतु मे कर्णपुटं त्वदीयम् ॥ ३९॥

कथामृतं पातु करद्वयं ते पादारविन्दार्चनमेव कुर्यात् ।
शिरश्च ते पादयुगप्रणामं करोतु नित्यं भवदीयमेवम् ॥ ४०॥

इसके बाद भवभय दूर करने वाले आपके चरणारविन्दों की ओर मेरी स्मृति सदा बनी रहे, मेरी वाणी आपके नाम का संकीर्तन सुने, कान आपके कथामृत का पान करते रहें, और सर आपके दोनों चरणों में प्रणाम करता रहे, ऐसा मुझे वरदान दीजिए ॥३९-४०॥

नमस्तुभ्यं भगवते विशुद्धज्ञानमूर्तये ।
आत्मारामाय रामाय सीतारामाय वहधसे ॥ ४१॥

हे विशुद्धज्ञानमूर्ति भगवन् ! आपको नमस्कार है। आप अपने स्वरूप में रमण करने वाले होने के कारण श्रीराम हैं, अपनी माया के साथ विराजमान रहने के कारण युगलमूर्ति श्री सीताराम हैं और संसार के रचयिता है, आपको नमस्कार है ॥४१॥

प्रपन्नं पाहि मां राम यास्यामि त्वदनुज्ञया ।
देवलोकं रघुश्रेष्ठ माया मां मा वृणोतु ते ॥ ४२॥

हे राम ! मैं आपका शरणागत हूँ, आप मेरी रक्षा कीजिये। हे रघुश्रेष्ठ ! आपकी आज्ञा से मैं देवलोक में जा रहा हूँ, आपकी माया मुझे आच्छादित न करे यह आप कृपा कीजिये ॥४२॥

इति विज्ञापितस्तेन प्रसन्नो रघुनन्दनः ।
ददौ वरं तदा प्रीतो विराधाय महामतिः ॥ ४३॥

इस प्रकार विराध के द्वारा प्रार्थना करने पर महामति श्रीरघुनाथ जी ने प्रसन्न होकर उसे यह वर दिये ॥ ४३ ॥

गच्छ विद्याधराशेषमायादोषगुणा जिताः ।
त्वया मद्दर्शनात्सद्यो मुक्तो ज्ञानवतां वरः ॥ ४४॥

विद्याधर ! तुम जाओ। तुमने माया के सम्पूर्ण गुण-दोषों को जीत लिया है, तुम ज्ञानियों में श्रेष्ठ और मेरे दर्शन के प्रभाव से शीघ्र मुक्त हो गए हो ॥ ४४॥

मद्भक्तिर्दुर्लभा लोके जाता चेन्मुक्तिदा यतः ।
अतस्त्वं भक्तिसम्पन्नः परं याहि ममाज्ञया ॥ ४५॥

मेरी भक्ति संसार में दुर्लभ है, यदि मेरी भक्ति प्राप्त हो जाय तो वह मुक्तिदायिनी होती है। तुम मेरी भक्ति से सम्पन्न हो, अतः मेरी आज्ञा से परमधाम को जाओ ॥ ४५ ॥

रामेण रक्षोनिधनं सुघोरं शापाद्विमुक्तिर्वरदानमेवम् ।
विद्याधरत्वं पुनरेव लब्धं रामं गृणन्नेति नरोऽखिलार्थान् ॥ ४६॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी द्वारा घोर राक्षस का निधन किए, उसको शाप से मुक्ति, वरदान और विद्या धरत्व प्रदान किया। जो व्यक्ति इन लीलाओं का कीर्तन द्वारा श्रीरामचन्द्रजी की स्तुति करता है, वह निश्चय सम्पूर्ण अभिलषित पदार्थों को प्राप्त करता है।

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे
अरण्यकाण्डे प्रथमः सर्गः ॥ १॥

॥ द्वितीयः सर्गः ॥

शरभङ्ग तथा सुतीक्ष्ण आदि मुनीश्वरों से भेंट

श्रीमहादेव उवाच

विराधे स्वर्गते रामो लक्ष्मणेन च सीतया ।
जगाम शरभङ्गस्य वनं सर्वसुखावहम् ॥ १॥

श्रीमहादेवजी बोले-हे पार्वति! विराध के स्वर्ग चले जाने पर लक्ष्मण और सीताजी के साथ श्रीरामचन्द्रजी शरभङ्ग मुनि के सर्वसुखदायक वन में आये । १॥

शरभङ्गस्ततो दृष्ट्वा रामं सौमित्रिणा सह ।
आयान्तं सीतया सार्धं सम्भ्रमादुत्थितः सुधीः ॥ २॥

शरभङ्गमुनि लक्ष्मण और सीता सहित श्रीरामचन्द्र को आते देखकर शीघ्रता से उठ खड़े हुए ॥२॥

अभिगम्य सुसम्पूज्य विष्टरेषूपवहशयत् ।
आतिथ्यमकरोत्तेषां कन्दमूलफलादिभिः ॥ ३॥

उनकी आगवानी कर यथाविधि पूजा कर उनको आसन पर बैठाया तथा कन्द-मूल-फल आदि से उनका आतिथ्य-सत्कार किया ॥३॥

प्रीत्याऽऽह शरभङ्गोऽपि रामं भक्तिपरायणम् ।
बहुकालमिहैवाऽऽसं तपसे कृतनिश्चयः ॥ ४॥

अद्य मत्तपसा सिद्धं यत्पुण्यं बहु विद्यते ।
तत्सर्वं तव दास्यामि ततो मुक्तिं व्रजाम्यहम् ॥ ५॥

तत्पश्चात् शरभङ्गमुनि भक्तवत्सल भगवान् राम से प्रीतिपूर्वक बोले- मैं बहुत समय से आपके दर्शन का निश्चय कर तपस्या करता हुआ यहीं रहता हूँ। हे राम ! आप साक्षात् परमेश्वर हैं। मैं तपस्या के द्वारा प्राप्त अपने सम्पूर्ण पुण्यों को आपको समर्पित कर मुक्ति प्राप्त करूँगा ॥ ४-५॥

समर्प्य रामस्य महत्सुपुण्यफलं
विरक्तः शरभङ्गयोगी ।
चितिं समारोहयदप्रमेयं
रामं ससीतं सहसा प्रणम्य ॥ ६॥

यह कहकर विरक्त योगिवर शरभङ्ग ने अपना महान् पुण्यफल को श्रीरामचन्द्रजी को समर्पण किया तथा माता सीता जी के सहित अप्रमेय भगवान को प्रणाम कर सहसा चिता में आरूढ हुए ॥ ६॥

ध्यायन्श्चिरं राममशेषहृत्स्थं
दूर्वादलश्यामलमम्बुजाक्षम् ।
चीराम्बरं स्निग्धजटाकलापं
सीतासहायं सहलक्ष्मणं तम् ॥ ७॥

उस समय वह सर्वान्तर्यामी दूर्वादल के समान श्यामवर्ण, कमलनयन, चीराम्बरधारी, स्निग्ध जटाजूट वाले श्रीरामचन्द्र का सीता और लक्ष्मण के सहित बहुत देर तक ध्यान करते रहे ॥७॥

को वा दयालुः स्मृतकामधेनुरन्यो
जगत्यां रघुनायकादहो ।
स्मृतो मया नित्यमनन्यभाजा
ज्ञात्वा स्मृतिं मे स्वयमेव यातः ॥ ८॥

और मन ही मन कहने लगे अहो! इस संमार में श्रीरघुनाथजी को छोड़कर स्मरण करने से कामनाओं को पूर्ण करनेवाला दूसरा कौन दयालु है ? मै अनन्यभाव से उनका नित्य स्मरण करता था, इसलिए मेरे स्मरण को जान कर वह स्वयं मेरे पास चले आये ॥८॥

पश्यत्विदानीं देवहशो रामो दाशरथिः प्रभुः ।
दग्ध्वा स्वदेहं गच्छामि ब्रह्मलोकमकल्मषः ॥ ९॥

हे देवेश! दशरथनन्दन प्रभु राम मेरे तरफ देखते रहें, मैं अपने शरीर को जलाकर निष्पाप होकर ब्रह्मलोक को जा रहा हूँ ॥९॥

अयोध्याधिपतिर्मेऽस्तु हृदये राघवः सदा ।
यद्वामाङ्के स्थिता सीता मेघस्येव तटिल्लता ॥ १०॥

अयोध्यापति श्रीरामचन्द्रजी सर्वदा मेरे हृदय में विद्यमान रहें, जिनके वामांग में मेघ की बिजली के समान श्रीसीताजी विद्यमान हैं ॥ १०॥

इति रामं चिरं ध्यात्वा दृष्ट्वा च पुरतः स्थितम् ।
प्रज्वाल्य सहसा वह्निं दग्ध्वा पञ्चात्मकं वपुः ॥ ११॥

इस प्रकार बहुत देर तक श्रीरामचन्द्रजी का ध्यान करते हुए अपने सामने स्थित श्रीरामचन्द्रजी को देखते हुए मुनिवर शरभङ्ग जी ने सहसा अग्नि जलाकर अपने पञ्चभौतिक शरीर की आहुति दे दी ॥ ११॥

दिव्यदेहधरः साक्षाद्ययौ लोकपतेः पदम् ।
ततो मुनिगणाः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः ।
आजग्मू राघवं द्रष्टुं शरभङ्गनिवहशनम् ॥ १२॥

और दिव्य शरीर धारण कर साक्षात् ब्रह्मलोक को चले गये। तत्पश्चात् दण्डकारण्य निवासी समस्त मुनिगण श्रीरघुनाथ जी का दर्शन करने के लिए शरभङ्ग मुनि के आश्रम पर आये ॥ १२ ॥

दृष्ट्वा मुनिसमूहं तं जानकीरामलक्ष्मणाः ।
प्रणेमुः सहसा भूमौ मायामानुषरूपिणः ॥१३॥

उस मुनि समाज को देखकर माया-मानव रूप श्रीराम, सीता और लक्ष्मण ने सहसा पृथ्वी पर मस्तक रखकर उन्हें प्रणाम किया ॥ १३ ॥

आशीर्भिरभिनन्द्याथ रामं सर्वहृदि स्थितम् ।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे धनुर्बाणधरं हरिम् ॥ १४॥

उन्होंने सबके हृदय के आधार श्रीराम का आशिर्वाद द्वारा अभिनन्दन किया और धनुष-बाण धारण करने वाले श्रीहरि को हाथ जोड़कर बोले ॥ १४ ॥

भूमेर्भारावताराय जातोऽसि ब्रह्मणार्थितः ।
जानीमस्त्वां हरिं लक्ष्मीं जानकीं लक्ष्मणं तथा ॥ १५॥

शेषांशं शङ्खचक्रे द्वे भरतं सानुजं तथा ।
अतश्चादौ ऋषीणां त्वं दुःखं मोक्तुमिहार्हसि ॥ १६॥

हम जानते हैं कि आपका ब्रह्माजी की प्रार्थना पर भूमि का भार हरण करने के लिए ही अवतार हुआ है। आप साक्षात् श्रीहरि, श्रीजानकीजी लक्ष्मी, श्रीलक्ष्मणजी शेषजी का अंश और भरत शत्रुघ्न भगवान् के शंख और चक्र हैं; यह भी हम जानते हैं। अतः आप सर्वप्रथम यहाँ के ऋषियों के दुःख को दूर कीजिए ॥ १५-१६ ॥

आगच्छ यामो मुनिसेवितानि वनानि सर्वाणि रघूत्तम क्रमात् ।
द्रष्टुं सुमित्रासुतजानकीभ्यां तदा दयाऽस्मासु दृढा भविष्यति ॥१७॥

हे रघुश्रेष्ठ ! आप श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी सहित मेरे साथ आइये और क्रमशः मुनीश्वरों के आश्रमों को देखने चलिए। इससे हमलोगों के ऊपर आपकी दया दृढ़ होगी ॥ १७ ॥

इति विज्ञापितो रामः कृताञ्जलिपुटैर्विभुः ।
जगाम मुनिभिः सार्धं द्रष्टुं मुनिवनानि सः ॥ १८॥

ददर्श तत्र पतितान्यनेकानि शिरांसि सः ।
अस्थिभूतानि सर्वत्र रामो वचनमब्रवीत् ॥ १९॥

इस प्रकार हाथ जोड़कर निवेदन करने पर श्रीरामजी मुनियों के साथ उनके तपोवनों को देखने के वहाँ पर वे अनेक छिन्न शिर पड़े हुए देखे। उन्हें देखकर श्रीरामचन्द्रजी मुनियों से पूछे ॥ १९॥

अस्थीनि केषामेतानि किमर्थं पतितानि वै ।
तमूचुर्मुनयो राम ऋषीणां मस्तकानि हि ॥ २०॥

ये हड्डियाँ किनकी हैं और यहाँ किसलिए पड़ी हैं ? तत्पश्चात् मुनियों ने कहा-हे राम! यह मस्तक ऋषियों के हैं ॥ २०॥

राक्षसैर्भक्षितानीश प्रमत्तानां समाधितः ॥
अन्तरायं मुनीनां ते पश्यन्तोऽनुचरन्ति हि ॥ २१॥

हे समर्थ! इनलोगों को राक्षस खा गये हैं। समाधि में स्थित रहने के कारण भागने में असमर्थ मुनीश्वरों को खाने का अवसर देखते हुए वह राक्षस यत्र तत्र भ्रमण करते रहते हैं ॥२१॥

श्रुत्वा वाक्यं मुनीनां स भयदैन्यसमन्वितम् ।
प्रतिज्ञामकरोद्रामो वधायाशेषरक्षसाम् ॥ २२॥

मुनियों के भय और दीनतापूर्वक यह वाणी सुनकर श्रीरामचन्द्र जी ने समस्त राक्षसों का वध करने के लिए प्रतिज्ञा की ॥ २२ ॥

पूज्यमानः सदा तत्र मुनिभिर्वनवासिभिः ।
जानक्या सहितो रामो लक्ष्मणेन समन्वितः ॥ २३॥

उवास कतिचित्तत्र वर्षाणि रघुनन्दनः ।

एवं क्रमेण सम्पश्यन्नृषीणामाश्रमान् विभुः ॥ २४॥

इस प्रकार क्रमपूर्वक ऋषियों के आश्रम देखते हुए भगवान् श्रीरघुनाथजी वन में रहने वाले मुनियों द्वारा नित्य पूजित होते हुए लक्ष्मण और सीता के साथ कुछ वर्ष वहाँ रहे ॥ २३-२४ ॥

सुतीक्ष्णस्याश्रमं प्रागात्प्रख्यातमृषिसङ्कुलम् ।
सर्वर्तुगुणसम्पन्नं सर्वकालसुखावहम् ॥ २५॥

तदन्तर वह सुविख्यात सुतीक्ष्ण ऋषि के आश्रम में गये, वह आश्रम ऋषियों से भरा हुआ और सर्व ऋतु-गुण सम्पन्न तथा सब समय सुखदायक था॥ २५ ॥

राममागतमाकर्ण्य सुतीक्ष्णः स्वयमागतः ।
अगस्त्यशिष्यो रामस्य मन्त्रोपासनतत्परः ।
विधिवत्पूजयामास भक्त्युत्कण्ठितलोचनः ॥ २६॥

राम-मन्त्र के उपासक और अगस्त्य मुनि के शिष्य सुतीक्ष्णजी श्रीरामचन्द्र का आगमन सुन कर स्वयं आगे आये और उन्होंने श्रीरामचन्द्र, माता सीता और लक्ष्मण जी की यथाविधि पूजा की। उस समय भक्ति से उनके नेत्र उत्कण्ठित थे ॥ २६ ॥

सुतीक्ष्ण उवाच
त्वन्मन्त्रजाप्यहमनन्तगुणाप्रमेय
सीतापते शिवविरिञ्चिसमाश्रिताङ्घ्रे ।
संसारसिन्धुतरणामलपोतपाद
रामाभिराम सततं तव दासदासः ॥ २७॥

सुतीक्ष्ण बोले-हे अनन्तगुण अप्रमेय सीतापते ! मैं आपके ही नाम का मन्त्र जप करता हूँ। हे अभिराम राम ! श्रीशिवजी और ब्रह्माजी आपके चरणाश्रित हैं, आपके पादपद्म संसार सागर को पार करने के लिए जहाज रूप हैं। हे नाथ ! मैं सतत् आपका दासानुदास हूँ ॥ २७ ॥

मामद्य सर्वजगतामविगोचरस्त्वं
त्वन्मायया सुतकलत्रगृहान्धकूपे ।
मग्नं निरीक्ष्य मलपुद्गलपिण्डमोह-
पाशानुबद्धहृदयं स्वयमागतोऽसि ॥ २८॥

आप संसार के सम्पूर्ण प्राणियों की इन्द्रियों से अगोचर हैं। परन्तु मलमूत्र रूपी शरीर के मोह के पाश में फंसे हुए मनवाले मुझ दीन को अपनी ही माया से मोहित होकर पुत्र-कलत्र, गृह आदि के अन्धकूप में मुझे पड़ा देखकर आप स्वयं पधारे हैं ॥ २८ ॥

त्वं सर्वभूतहृदयेषु कृतालयोऽपि
त्वन्मन्त्रजाप्यविमुखेषु तनोषि मायाम् ।
त्वन्मन्त्रसाधनपरेष्वपयाति माया
सेवानुरूपफलदोऽसि यथा महीपः ॥ २९॥

आप सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में निवास करनेवाले हैं। जो लोग आपके मन्त्र का जप करने से विमुख हैं, उन्हें अपनी माया से मोहित करते हैं और जो प्राणी आपके मन्त्र को जप करने में तल्लीन हैं; उनकी माया आप दूर करते हैं। इस प्रकार अपनी अपनी सेवा के अनुसार राजा की भाँति सबको आप फल देने वाले हैं ॥ २९ ॥

विश्वस्य सृष्टिलयसंस्थितिहेतुरेकः
त्वं मायया त्रिगुणया विधिरीशविष्णू ।
भासीश मोहितधियां विविधाकृतिस्त्वं
यद्वद्रविः सलिलपात्रगतो ह्यनेकः ॥ ३०॥

हे ईश! आपही इस सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के आदि कारण होते हुए त्रिगुणात्मिका माया के कारण ब्रह्मा, विष्णु और महेश के रूपों में भासित होते हैं। जिस प्रकार जल के पात्रों में एक ही सूर्य प्रतिबिम्बित होकर अनेक प्रकार से प्रकाशित होता हैं, उसी प्रकार मोहित बुद्धिवालों के लिए आप विविध आकृतियों में प्रतीत हो रहे हैं ॥ ३० ॥

प्रत्यक्षतोऽद्य भवतश्चरणारविन्दं
पश्यामि राम तमसः परतः स्थितस्य ।
दृग्रूपतस्त्वमसतामविगोचरोऽपि
त्वन्मन्त्रपूतहृदयेषु सदा प्रसन्नः ॥ ३१॥

हे राम ! आप सर्वथा अज्ञान से पृथक् हैं। तथापि आज मैं आपके चरणारविन्द को प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। अतः आप सबके साक्षी होने से असत्प्राणियों को अगोचर होकर भी आपका मन्त्र जप करने से पवित्र हृदय वालों पर आप सदा प्रसन्न रहते हैं ॥ ३१ ॥

पश्यामि राम तव रूपमरूपिणोऽपि
मायाविडम्बनकृतं सुमनुष्यवहषम् ।
कन्दर्पकोटिसुभगं कमनीयचापबाणं
दयार्द्रहृदयं स्मितचारुवक्त्रम् ॥ ३२॥

हे राम! रूप रहित होने पर भी अपने माया से धारण किये हुए आपके सुन्दर वेष को मैं देख रहा हूँ। यह वेष करोड़ों कामदेवों के समान सुन्दर और धनुष बाण धारण किये हुए हैं। आप दया हृदय और मन्द मुस्कान युक्त मनोहर हैं ॥ ३२ ॥

सीतासमेतमजिनाम्बरमप्रधृष्यं
सौमित्रिणा नियतसेवितपादपद्मम् ।
नीलोत्पलद्युतिमनन्तगुणं प्रशान्तं
मद्भागधेयमनिशं प्रणमामि रामम् ॥ ३३॥

सीता सहित, मृगचर्मधारी अजेय, नित्य श्रीलक्ष्मणजी द्वारा सेवित पादपन वाले, नीलकमल की कान्तियुक्त, अनन्तगुण सम्पन्न, अतिशान्त मेरा सौभाग्यरूप श्रीराममूर्ति को अनिश में प्रणाम करता हूँ ॥ ३३ ॥

जानन्तु राम तव रूपमशेषदेश-
कालाद्युपाधिरहितं घनचित्प्रकाशम् ।
प्रत्यक्षतोऽद्य मम गोचरमेतदेव
रूपं विभातु हृदये न परं विकाङ्क्षे ॥ ३४॥

हे राम ! देश, काल, पात्र आदि समस्त उपाधियों से रहित, चिद्घन प्रकाश स्वरूप आपके स्वरूप को जानने वाले जानते रहें, किन्तु मेरे हृदय में आज से मुझे जो प्रत्यक्ष रूप दिखायी पड रहा है, यही रूप मेरे हृदय में विराजमान है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी रूप की मुझे कामना नही है ॥ ३४॥

इत्येवं स्तुवतस्तस्य रामः सस्मितमब्रवीत् ।

मुने जानामि ते चित्तं निर्मलं मदुपासनात् ॥ ३५॥

इस प्रकार सुतीक्ष्ण की स्तुति सुनकर श्रीरामचन्द्रजी मुस्कुराते हुए बोले-हे मुने ! तुम्हारा चित्त मेरी उपासना से निर्मल हो गया है, यह मै जानता हूँ ॥ ३५ ॥

अतोऽहमागतो द्रष्टुं मद्दते नान्यसाधनम् ।
मन्मन्त्रोपासका लोके मामेव शरणं गताः ॥ ३६॥

मेरे अतिरिक्त तुम्हारा कोई अन्य साधन नहीं है। अतः मैं तुम्हें देखने के लिए आया हूँ। जो लोग संसार में मेरे मन्त्र की उपासना करनेवाले और मेरी शरणागति में रहनेवाले हैं ॥ ३६ ।

निरपेक्षा नान्यगतास्तेषां दृश्योऽहमन्वहम् ।
स्तोत्रमेतत्पठेद्यस्तु त्वत्कृतं मत्प्रियं सदा ॥ ३७॥

सद्भक्तिर्मे भवहत्तस्य ज्ञानं च विमलं भवहत् ।
त्वं ममोपासनादेव विमुक्तोऽसीह सर्वतः ॥ ३८॥

तथा नित्य निरपेक्ष और अनन्यगतिक हैं मैं उन्हें नित्य प्रति दर्शन देता हूँ। तुम्हारे द्वारा किये हुए स्तोत्र का जो व्यक्ति पाठ करता है, उसे मेरी विशुद्ध भक्ति तथा निर्मल ज्ञान प्राप्त होता है। तुम मेरो उपासना से विमुक्त हो गये हो ॥ ३७-३८ ॥

देहान्ते मम सायूज्यं लप्स्यसे नात्र संशयः ।
गुरुं ते द्रष्टुमिच्छामि ह्यगस्त्यं मुनिनायकम् ।
किञ्चित्कालं तत्र वस्तुं मनो मे त्वरयत्यलम् ॥ ३९॥

शरीर त्याग के अनन्तर मेरे सायुज्य पद को निःसन्देह प्राप्त करोगे। मै तुम्हारे गुरु मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यजी से मिलना चाहता हूँ। मेरा मन कुछ दिन उनके पास रहने के लिए उतावला हो रहा है ॥३९ ॥

सुतीक्ष्णोऽपि तथेत्याह श्वो गमिष्यसि राघव ।
अहमप्यागमिष्यामि चिराद् दृष्टो महामुनिः ॥ ४०॥

सुतीक्ष्ण बोले-हे राघव ! "तथा इति" मैं कल आपको वहाँ ले चलूँगा। महामुनि गुरुवर को देखे मुझे भी बहुत दिन हो गए हैं अतः मै भी आपके साथ वहाँ चलूँगा ॥ ४०॥

अथ प्रभाते मुनिना समेतो
रामः ससीतः सह लक्ष्मणेन ।
अगस्त्यसम्भाषणलोलमानसः
शनैरगस्त्यानुजमन्दिरं ययौ ॥ ४१॥

इसके बाद प्रातःकाल होने पर सीता और लक्ष्मण सहित मुनिवर सुतीक्ष्ण के साथ श्रीरामचन्द्रजी अगस्त्यजी से सम्भाषण की उत्कण्ठा से धीरे धीरे अगस्त्य जी के छोटे भाई- अग्निजिह्व मुनि के आश्रम की ओर चल दिये ॥ ४१॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे
अरण्यकाण्डे द्वितीयः सर्गः ॥ २॥

॥ तृतीयः सर्गः ॥

मुनिवर अगस्त्यजी से भेंट

अथ रामः सुतीक्ष्णेन जानक्या लक्ष्मणेन च ।
अगस्त्यस्यानुजस्थानं मध्याह्ने समपद्यत ॥ १॥

श्रीमहादेवजी बोले-हे पार्वति ! श्रीरामचन्द्रजी, सीता, लक्ष्मण सहित सुतीक्ष्ण को साथ लिये मध्याह्न समय में अगस्त्य मुनि के छोटे भाई अग्निजिह्व मुनि के आश्रम में पहुंचे ॥१॥

तेन सम्पूजितः सम्यग्भुक्त्वा मूलफलादिकम् ।
परेद्युः प्रातरुत्थाय जग्मुस्तेऽगस्त्यमण्डलम् ॥ २॥

अग्निजिह्व मुनि ने उनकी विधिवत् पूजा की और अग्निजिह्व मुनि द्वारा अर्पित किए गए कन्द-मूल फल खाकर दूसरे दिन प्रातःकाल उठकर अगस्त्य मुनि के आश्रम की ओर प्रस्थान किया ॥२॥

सर्वर्तुफलपुष्पाढ्यं नानामृगगणैर्युतम् ।
पक्षिसङ्घैश्च विविधैर्नादितं नन्दनोपमम् ॥ ३॥

अगस्त्य मुनि का आश्रम सभी ऋतुओं के फूल और फलों से परिपूर्ण, विविध वन्य पशुओं से युक्त, विविध पक्षियों से गुञ्जित नन्दनवन के समान सुशोभित था॥३॥

ब्रह्मर्षिभिर्देवर्षिभिः सेवितं मुनिमन्दिरैः ।

सर्वतोऽलङ्कृतं साक्षाद् ब्रह्मलोकमिवापरम् ॥ ४॥

चारो तरफ से ऋषियों के आश्रमों से सुशोभित, ब्रह्मर्षियों और देवर्षियों से सेवित वह आश्रम साक्षात् दूसरे ब्रह्मलोक के समान प्रतीत हो रहा था॥ ४॥

बहिरेवाश्रमस्याथ स्थित्वा रामोऽब्रवीन्मुनिम् ।
सुतीक्ष्ण गच्छ त्वं शीघ्रमागतं मां निवहदय ॥ ५॥

अगस्त्यमुनिवर्याय सीतया लक्ष्मणेन च ।
महाप्रसाद इत्युक्त्वा सुतीक्ष्णः प्रययौ गुरोः ॥ ६॥

आश्रमं त्वरया तत्र ऋषिसङ्घसमावृतम् ।
उपविष्टं रामभक्तैर्विशेषेण समायुतम् ॥ ७॥

व्याख्यातराममन्त्रार्थं शिष्येभ्यश्चातिभक्तितः ।
दृष्ट्वागस्त्यं मुनिश्रेष्ठं सुतीक्ष्णः प्रययौ मुनेः ॥ ८॥

आश्रम के बाहर रहकर श्रीरामचन्द्रजी सुतीक्ष्ण से बोले-हे सुतीक्ष्ण ! तुम शीघ्र जाकर मुनिवर अगस्त्यजी से सीता और लक्ष्मण सहित मेरे आने की सूचना दे दो। तब सुतीक्ष्णजी यह महाप्रसाद है, यह कहकर शीघ्रता से गुरुजी के आश्रम में गये। वहाँ जाकर मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यजी को मुनिमण्डलियों विशेषतः रामभक्तों से घिरे हुए बैठे और अत्यन्त भक्तिपूर्वक शिष्यों को राममन्त्र की व्याख्या सुनाते देखा। यह देखकर सुतीक्ष्णजी उनके पास गये ॥५-८ ॥

दण्डवत्प्रणिपत्याह विनयावनतः सुधीः ।

रामो दाशरथिर्ब्रह्मन् सीतया लक्ष्मणेन च ।
आगतो दर्शनार्थं ते बहिस्तिष्ठति साञ्जलिः ॥ ९॥

उन्हें विनयपूर्वक दण्डवत् प्रणाम कर सुधी सुतीक्ष्ण बोले -ब्रह्मन् ! दशरथनन्दन श्री रामचन्द्रजी सीता और लक्ष्मण के साथ आपके दर्शन के लिये आये और अञ्जलि बाँधे आश्रम के बाहर खड़े हैं ॥९॥

अगस्त्य उवाच
शीघ्रमानय भद्रं ते रामं मम हृदिस्थितम् ।
तमेव ध्यायमानोऽहं काङ्क्षमाणोऽत्र संस्थितः ॥ १०॥

अगस्त्यजी बोले-वत्स ! तुम्हारा कल्याण हो! शीघ्र मेरे हृदय में स्थित रहने वाले राम को अन्दर लाओ। मैं उनके दर्शनों की अकांक्षा से उन्हीं का ध्यान करता हूँ ॥ १० ॥

इत्युक्त्वा स्वयमुत्थाय मुनिभिः सहितो द्रुतम् ।
अभ्यगात्परया भक्त्या गत्वा राममथाब्रवीत् ॥ ११॥

यह कहकर शीघ्र मुनियों के साथ अगस्त्य मुनि उठकर स्वयं श्रीरामचन्द्रजी के पास आये और उनसे अत्यन्त भक्तिपूर्वक बोले ॥ ११॥

आगच्छ राम भद्रं ते दिष्ट्या तेऽद्य समागमः ।
प्रियातिथिर्मम प्राप्तोऽस्यद्य मे सफलं दिनम् ॥ १२॥

हे राम ! आइये आपका कल्याण हो। बड़े भाग्य से आपका आज समागम हुआ है। आज मुझे मेरे प्रिय अतिथि प्राप्त हुए हैं, आज का दिन सफल है ॥ १२॥

रामोऽपि मुनिमायान्तं दृष्ट्वा हर्षसमाकुलः ।
सीतया लक्ष्मणेनापि दण्डवत्पतितो भुवि ॥ १३॥

मुनीश्वर को आते देखकर श्रीरामचन्द्रजी अत्यन्त आनन्दित होकर लक्ष्मण और सीता के सहित पृथ्वी पर दण्ड के समान लेट गये ॥ १३ ॥

द्रुतमुत्थाप्य मुनिराड् राममालिङ्ग्य भक्तितः ।
तद्गात्रस्पर्शजाह्लादस्रवन्नेत्रजलाकुलः ॥ १४॥

मुनिराज ने राम को शीघ्र उठाकर भक्तिपूर्वक हृदय से लगा लिया और उनके शरीर के स्पर्श से प्राप्त आनन्द से उनके नेत्रों में आनन्द अश्रु भर आए ॥१४॥

गृहीत्वा करमेकेन करेण रघुनन्दनम् ।
जगाम स्वाश्रमं हृष्टो मनसा मुनिपुङ्गवः ॥ १५॥

तत्पश्चात् मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यजी अपने एक हाथ से उनका हाथ पकड़कर प्रसन्न मन से उन्हें अपने आश्रम में ले आए ॥१५॥

सुखोपविष्टं सम्पूज्य पूजया बहुविस्तरम् ।
भोजयित्वा यथान्यायं भोज्यैर्वन्यैरनेकधा ॥ १६॥

अगस्त्य मुनि ने उन्हें सुखपूर्वक आसन पर बैठाकर विस्तार पूर्वक उनकी विधिवत् पूजा की तथा समयानुकूल विविध प्रकार के वन्यफलों का भोजन कराया ॥१३॥

सुखोपविष्टमेकान्ते रामं शशिनिभाननम् ।
कृताञ्जलिरुवाचेदमगस्त्यो भगवानृषिः ॥ १७॥

एकान्त में सुखपूर्वक बैठे चन्द्रमा की कान्ति के समान शरीर वाले श्रीरामचन्द्रजी से भगवान् अगस्त्यमुनि हाथ जोड़कर बोले ॥१७॥

त्वदागमनमेवाहं प्रतीक्षन् समवस्थितः ।
यदा क्षीरसमुद्रान्ते ब्रह्मणा प्रार्थितः पुरा ॥ १८॥

भूमेर्भारापनुत्त्यर्थं रावणस्य वधाय च ।
तदादि दर्शनाकाङ्क्षी तव राम तपश्चरन् ।
वसामि मुनिभिः सार्धं त्वामेव परिचिन्तयन् ॥ १९॥

हे राम ! पूर्व समय में क्षीर समुद्र के निकट ब्रह्माजी ने आपसे पृथ्वी का भार हरण करने के लिये रावण का वध करने की प्रार्थना की थी, उसी समय से आपके दर्शन की इच्छा से तपस्या तथा आपका चिन्तन करता हुआ मैं आपके आने की प्रतीक्षा में मुनियों के साथ यहाँ रहता हूँ ॥ १८-१९ ॥

सृष्टेः प्रागेक एवासीर्निर्विकल्पोऽनुपाधिकः ।
त्वदाश्रया त्वद्विषया माया ते शक्तिरुच्यते ॥ २०॥

सृष्टि के पहले आप निर्विकल्प और उपाधि रहित थे, आपमें आश्रित और आपको विषय बनाने वाली माया आपकी शक्ति कही जाती है ॥ २० ॥

त्वामेव निर्गुणं शक्तिरावृणोति यदा तदा ।
अव्याकृतमिति प्राहुर्वेदान्तपरिनिष्ठिताः ॥ २१॥

जिस समय आप निर्गुण को आपकी माया ढक लेतें हैं, उस समय वेदान्त निष्ठपुरुष इसे "अव्याकृत' कहते हैं ॥ २१॥

मूलप्रकृतिरित्येके प्राहुर्मायेति केचन ।
अविद्या संसृतिर्बन्ध इत्यादि बहुधोच्यते ॥ २२॥

कोई इसे मूलप्रकृति और कोई माया कहते हैं। यही अविद्या संसृति और बन्धन आदि विविध नामों से व्यवहृत होती है ॥ २२॥

त्वया सङ्क्षोभ्यमाणा सा महत्तत्त्वं प्रसूयते ।
महत्तत्त्वादहङ्कारस्त्वया सञ्चोदितादभूत् ॥ २३॥

अहङ्कारो महत्तत्त्वसंवृतस्त्रिविधोऽभवत् ।
सात्त्विको राजसश्चैव तामसश्चेति भण्यते ॥ २४॥

आपके द्वारा क्षोभित होने पर महत्तत्व उत्पन्न होता है। आपकी प्रेरणा से ही महत्तत्व से अहंकार उत्पन्न होता है। महत्तत्व से संवृत अहकार तीन प्रकार का हुआ, वह सात्विक, राजस ओर तामस कहा जाता है ॥२३-२४॥

तामसात्सूक्ष्मतन्मात्राण्यासन् भूतान्यतः परम् ।
स्थूलानि क्रमशो राम क्रमोत्तरगुणानि ह ॥ २५॥

हे राम ! तामस अहंकार से सूक्ष्मतन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) उत्पन्न हुई, इन सूक्ष्म तन्मात्राओं से इनके गुण के अनुसार क्रमशः स्थूलभूत (आकाश, वायु अग्नि, जल, पृथ्वी) उत्पन्न हुए ॥ २५ ॥

राजसानीन्द्रियाण्येव सात्त्विका देवता मनः ।
तेभ्योऽभवत्सूत्ररूपं लिङ्गं सर्वगतं महत् ॥ २६॥

राजस अहंकार से दस इन्द्रियाँ और सात्त्विक अहंकार से इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता और मन उत्पन्न हुए। इन सबको मिलाकर समष्टि सूक्ष्मशरीर रूप हिरण्यगर्भ (सूत्रात्मा) हुआ ॥ २६ ॥

ततो विराट् समुत्पन्नः स्थूलाद्भूतकदम्बकात् ।
विराजः पुरुषात्सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥ २७॥

इसके पश्च्यात स्थूल भूतों से विराट् उत्पन्न हुआ और विराट् पुरुष से यह सम्पूर्ण स्थावर-जगम संसार प्रकट हुआ ॥२७॥

देवतिर्यङ्मनुष्याश्च कालकर्मक्रमेण तु ।
त्वं रजोगुणतो ब्रह्मा जगतः सर्वकारणम् ॥ २८॥

सत्त्वाद्विष्णुस्त्वमेवास्य पालकः सद्भिरुच्यते ।
लये रुद्रस्त्वमेवास्य त्वन्मायागुणभेदतः ॥ २९॥

आप काल और कर्म के अनुसार देव, तिर्यक् और मनुष्य आदि विविध योनियों में प्रकट हुए हैं; माया के गुणों के भेद से आप रजोगुण से युक्त होकर जगत्कर्ता ब्रह्माजी, सत्त्वगुण द्वारा जगत् का पालन करने वाला विष्णु और तमोगुण द्वारा जगत् का लय करने वाले भगवान् रुद्र हुए हैं ऐसा विद्वान् पुरुष मानते हैं ॥२८-२९॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्या वृत्तयो बुद्धिजैर्गुणैः ।
तासां विलक्षणो राम त्वं साक्षी चिन्मयोऽव्ययः ॥ ३०॥

हे राम ! बुद्धि के तीन गुणों (सत्त्व, रज और तम) से प्राणियों की जाग्रत् , स्वप्न और सुसुप्ति ये तीन अवस्थायें होती हैं। परन्तु आप इन तीनों से पृथक्, साक्षी, चिन्मय और अविकारी हैं ॥ ३० ॥

सृष्टिलीलां यदा कर्तुमीहसे रघुनन्दन ।
अङ्गीकरोषि मायां त्वं तदा वै गुणवानिव ॥ ३१॥

हे रघुनन्दन ! जब आप सृष्टि लीला करना चाहते हैं, तब माया को अङ्गीकार कर गुणवान जैसे हो जाते हैं ॥ ३१ ।

राम माया द्विधा भाति विद्याऽविद्येति ते सदा ।
प्रवृत्तिमार्गनिरता अविद्यावशवर्तिनः ।
निवृत्तिमार्गनिरता वहदान्तार्थविचारकाः ॥ ३२॥

त्वद्भक्तिनिरता यह च ते वै विद्यामयाः स्मृताः ।
अविद्यावशगा यह तु नित्यं संसारिणश्च ते ।
विद्याभ्यासरता यह तु नित्यमुक्तास्त एव हि ॥ ३३॥

हे राम ! आपकी यह माया सदा विद्या और अविद्या दो रूपों में प्रकाशित होती है। प्रवृत्ति मार्ग में रहने वाले अविद्या के वशीभूत और वेदान्त के अर्थों को विचार करने वाले निवृत्ति परायण और आपकी भक्ति में निरत रहने वाले विद्यामय कहे जाते हैं, जो अविद्या के वशीभूत हैं; वह सर्वदा जन्म-मरणरूप संसार में फंसे रहते हैं और विद्याभ्यासी नित्य मुक्त हैं ॥ ३२-३३॥

लोके त्वद्भक्तिनिरतास्त्वन्मन्त्रोपासकाश्च यह ।
विद्या प्रादुर्भवहत्तेषां नेतरेषां कदाचन ॥ ३४॥

संसार में जो आपकी भक्ति में निरत और आपके मन्त्र के उपासक हैं, उनमें विद्या का प्रादुर्भाव होता है; अन्य किसी के हृदय में नहीं ॥ ३४ ॥

अतस्त्वद्भक्तिसम्पन्ना मुक्ता एव न संशयः ।
त्वद्भक्त्यमृतहीनानां मोक्षः स्वप्नेऽपि नो भवहत् ॥ ३५॥

इसलिए आपकी भक्ति में रहने वाले पुरुष निश्चय जीवन मुक्त हैं। आपकी भक्तिरूपी अमृत के विना स्वप्न में भी मुक्ति नहीं हो सकती ॥ ३५॥

किं राम बहुनोक्तेन सारं किञ्चिद्ब्रवीमि ते ।
साधुसङ्गतिरेवात्र मोक्षहेतुरुदाहृता ॥ ३६॥

साधवः समचित्ता यह निःस्पृहा विगतैषिणः ।
दान्ताः प्रशान्तास्त्वद्भक्ता निवृत्ताखिलकामनाः ॥ ३७॥

इष्टप्राप्तिविपत्त्योश्च समाः सङ्गविवर्जिताः ।
सन्न्यस्ताखिलकर्माणः सर्वदा ब्रह्मतत्पराः ॥ ३८॥

यमादिगुणसम्पन्नाः सन्तुष्टा येन केनचित् ।
सत्सङ्गमो भवद्यर्हि त्वत्कथाश्रवणे रतिः ॥ ३९॥

हे राम !अधिक कहने से क्या ? मै सारतत्त्व कहता हूँ, संसार में साधुसंगति ही मोक्ष का मुख्य कारण कहा गया है। जो लोग संसार में सम्पत्ति और विपत्ति में समानचित्त, स्पृहारहित, पुत्र-धनादि की इच्छा रहित, इन्द्रियों को दमन करनेवाले, सम्पूर्ण कामनाओं से शून्य, शान्तचित्त, आपके भक्त, इष्ट तथा अनिष्ट फल में समान रहने वाले, संगहीन, समस्त कर्मों का त्याग करने वाले, सर्वदा ब्रह्म परायण रहने वाले, यम आदि गुणों से सम्पन्न, जो मिले उसमें सन्तुष्ट रहने वाले होते हैं, वह ही साधु हैं। इस तरह के साधु पुरुषों का जब संगम हाता है तो आपके कथा श्रवण में प्रेम हो जाता है ॥ ३७-३९ ॥

समुदेति ततो भक्तिस्त्वयि राम सनातने ।
त्वद्भक्तावुपपन्नायां विज्ञानं विपुलं स्फुटम् ॥ ४०॥

उदेति मुक्तिमार्गोऽयमाद्यश्चतुरसेवितः ।
तस्माद्राघव सद्भक्तिस्त्वयि मे प्रेमलक्षणा ॥ ४१॥

सदा भूयाद्धरे सङ्गस्त्वद्भक्तेषु विशेषतः ।
अद्य मे सफलं जन्म भवत्सन्दर्शनादभूत् ॥ ४२॥

हे राम ! इसके बाद आप सनातन में भक्ति होती है, तथा आपकी भक्ति हो जाने पर आपका स्फुट-विपुल ज्ञान होता है। यह चतुरजन

सेवित मुक्ति का आद्य मार्ग है। अत: हे राघव ! आप में सर्वदा प्रेमलक्षणा मेरी भक्ति रहे। हे राघव ! मुझे अधिक से अधिक आपके भक्तों की संगती हो। हे नाथ ! आपके दर्शन से मेरा जन्म सफल हो गया ॥ ४०-४२॥

अद्य मे क्रतवः सर्वे बभूवुः सफलाः प्रभो ।
दीर्घकालं मया तप्तमनन्यमतिना तपः ।
तस्येह तपसो राम फलं तव यदर्चनम् ॥ ४३॥

हे प्रभो ! आज मेरे सम्पूर्ण यज्ञ सफल हो गये। बहुत दिनों से मैने अनन्यभाव से तपस्या की है। हे राम ! उसी का यह फल है कि मैने आज आपकी पूजा की ॥४३॥

सदा मे सीतया सार्धं हृदये वस राघव ।
गच्छतस्तिष्ठतो वापि स्मृतिः स्यान्मे सदा त्वयि ॥ ४४॥

हे राघव ! सीताजी के साथ आप मेरे हृदय में सर्वदा वास करें, मुझे चलते-बैठते सर्वदा आपकी स्मृति बनी रहे । ४४ ॥

इति स्तुत्वा रमानाथमगस्त्यो मुनिसत्तमः ।
ददौ चापं महेन्द्रेण रामार्थे स्थापितं पुरा ॥ ४५॥

अक्षय्यौ बाणतूणीरौ खड्गो रत्नविभूषितः ।
जहि राघव भूभारभूतं राक्षसमण्डलम् ॥ ४६॥

इस प्रकर रमानाथ श्रीरघुनाथजी की स्तुतिकर मुनिसत्तम अगस्त्यजी ने श्री राम के लिये इन्द्र का दिया हुआ धनुष और बाणों से भरे कभी खाली न होने वाले दो तरकस एवं रत्न जटिल एक खड्ग उपहार स्वरुप दिए और बोले-हे राघव ! पृथिवी के भारस्वरूप राक्षसों का आप संहार करें ॥४५-४६॥

यदर्थमवतीर्णोऽसि मायया मनुजाकृतिः ।
इतो योजनयुग्मे तु पुण्यकाननमण्डितः ॥ ४७॥

अस्ति पञ्चवटीनाम्ना आश्रमो गौतमीतटे ।
नेतव्यस्तत्र ते कालः शेषो रघुकुलोद्वह ॥ ४८॥

तत्रैव बहुकार्याणि देवानां कुरु सत्पते ॥ ४९॥

जिसके लिये आपने मायामानव के रूप में अवतार लिया हैं। यहाँ से दो योजन की दूरी पर गौमती नदी के तट पर पवित्र वन से सुशोभित पञ्चवटी नामक एक सुन्दर आश्रम है। हे रघुनाथजी ! आप अवशिष्ट समय वहाँ व्यतीत करें। हे सत्पते! वहाँ रहकर आप देवताओं के बहुत कार्य सिद्ध करेगें ॥४७-४९॥

श्रुत्वा तदागस्त्यसुभाषितं वचः स्तोत्रं च तत्त्वार्थसमन्वितं विभुः ।
मुनिं समाभाष्य मुदान्वितो ययौ प्रदर्शितं मार्गमशेषविद्धरिः ॥५०॥

तत्पश्चात् सर्वज्ञ भगवान राम, अगस्त्यजी का मनोहर भाषण और गूढ रहस्य से परिपूर्ण स्तोत्र को सुनकर और उनकी अनुमति लेकर से पूर्वक उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग से चले ॥५०॥

इति श्रीमदध्यात्मरामयणे उमामहेश्वरसंवादे
अरण्यकाण्डे तृतीयः सर्गः ॥ ३॥

॥ चतुर्थः सर्गः ॥

पञ्चवटी में निवास और लक्ष्मणजी को उपदेश

श्री महादेव उवाच
मार्गे व्रजन् ददर्शाथ शैलशृङ्गमिव स्थितम् ।
वृद्धं जटायुषं रामः किमेतदिति विस्मितः ॥ १॥

श्रीमहादेवजी बोले- हे पार्वति! मार्ग में जाते समय श्रीरामचन्द्रजी पर्वत-शिखर के समान बैठे हुए वृद्ध जटायु को देखा। उसे देखकर उनको बड़ा विस्मय हुआ कि यह कैसा जीव है ? ॥१॥

धनुरानय सौमित्रे राक्षसोऽयं पुरः स्थितः ।
इत्याह लक्ष्मणं रामो हनिष्याम्यृषिभक्षकम् ॥ २॥

श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मण से बोले-हे सौमित्र ! मेरा धनुष लाओ। देखो सामने यह राक्षस बैठा है; मैं ऋषिभक्षक इस दुष्ट को मार डालता हूँ॥ २॥

तच्छ्रुत्वा रामवचनं गृध्रराड् भयपीडितः ।
वधार्होऽहं न ते राम पितुस्तेऽहं प्रियः सखा ॥ ३॥

जटायुर्नाम भद्रं ते गृध्रोऽहं प्रियकृत्तव ॥ ४॥

श्रीरामचन्द्रजी का यह वचन सुनकर गृध्रराज जटायु भय से दुःखित हो बोले -राम! मैं तुम्हारे पिता का प्रिय सखा जटायु नामक गृध्र हूँ। तुम्हारा कल्याण हो, मैं तुम्हारा प्रिय करने वाला हूँ ॥ ३-४ ॥

पञ्चवट्यामहं वत्स्ये तवैव प्रियकाम्यया ।
मृगयायां कदाचित्तु प्रयाते लक्ष्मणेऽपि च ॥ ५॥

सीता जनककन्या मे रक्षितव्या प्रयत्नतः ।
श्रुत्वा तद्गृध्रवचनं रामः सस्नेहमब्रवीत् ॥ ६॥

तुम्हारे कल्याण की ईच्छा से पंचवटी में रहूँगा। जब कभी लक्ष्मणजी भी शिकार खेलने के लिये चले जायेंगे तब मैं प्रयत्न पूर्वक जनकनन्दिनी सीता की रक्षा करूँगा। गृध्रराज के ये वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजी स्नेहपूर्वक बोले ॥५-६॥

साधु गृध्र महाराज तथैव कुरु मे प्रियम् ।
अत्रैव मे समीपस्थो नातिदूरे वने वसन् ॥ ७॥

हे गृध्रमहाराज ! ठीक ही है ! इस पास के वन में ही रहते हुए आप अवश्य मेरा प्रिय साधन करें ॥ ७ ॥

इत्यामन्त्रितमालिङ्ग्य ययौ पञ्चवटीं प्रभुः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सीतया रघुनन्दनः ॥ ८॥

इस प्रकार अपनी सम्मति देकर भगवान् श्रीराम जटायु को आलिङ्गन कर भाई लक्ष्मण और सीताजी के साथ पञ्चवटी को गये ॥ ८॥

गत्वा ते गौतमीतीरं पञ्चवट्यां सुविस्तरम् ।
मन्दिरं कारयामास लक्ष्मणेन सुबुद्धिना ॥ ९॥

गौतमी-नदी के तटपर पहुंचकर उन्होंने बुद्धिमान् लक्ष्मण जी से पश्चवटी में एक विशाल कुटी बनवाई ॥९॥

तत्र ते न्यवसन् सर्वे गङ्गाया उत्तरे तटे ।
कदम्बपनसाम्रादिफलवृक्षसमाकुले ॥ १०॥

विविक्ते जनसम्बाधवर्जिते नीरुजस्थले ।
विनोदयन् जनकजां लक्ष्मणेन विपश्चिता ॥ ११॥

अध्युवास सुखं रामो देवलोक इवापरः ।
कन्दमूलफलादीनि लक्ष्मणोऽनुदिनं तयोः ॥ १२॥

आनीय प्रददौ रामसेवातत्परमानसः ।
धनुर्बाणधरो नित्यं रात्रौ जागर्ति सर्वतः ॥ १३॥

वहाँ पर उन्होंने गौतमी नदी के उत्तर तटपर कदम्ब, पनस और आम्र आदि फल वाले वृक्षों से युक्त रोगरहित एक जनशून्य एकान्त स्थान में निवास किया। श्रीरामचन्द्रजी बुद्धिमान् लक्ष्मण जी के साथ जनकात्मजा सीता का मनोरञ्जन करते हुए उस देवलोक के समान सुरम्य स्थान में दूसरे इन्द्र के समान सुखपूर्वक रहने लगे। राम-सेवा में जिनका मन लगा हुआ है, ऐसे लक्ष्मणजी नित्यप्रति उन्हें कन्द मूल-फल लाकर देते थे और रात्रि के समय धनुष बाण लेकर चारो ओर जागरण करते थे ॥ १०-१३॥

स्नानं कुर्वन्त्यनुदिनं त्रयस्ते गौतमीजले ।
उभयोर्मध्यगा सीता कुरुते च गमागमौ ॥ १४॥

वह तीनों व्यक्ति नित्यप्रति गौतमी नदी में स्नान करते थे। उस समय सीताजी उन दोनों के बीच में रहकर आती जाती थीं ॥ १४॥

आनीय सलिलं नित्यं लक्ष्मणः प्रीतमानसः ।
सेवतेऽहरहः प्रीत्या एवमासन् सुखं त्रयः ॥ १५॥

लक्ष्मणजी प्रसन्न मन से नित्यप्रति जल लाकर भक्ति पूर्वक उनकी सेवा करते थे। इस प्रकार वह तीनों वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे॥ १५॥

एकदा लक्ष्मणो राममेकान्ते समुपस्थितम् ।
विनयावनतो भूत्वा पप्रच्छ परमेश्वरम् ॥ १६॥

एक दिन लक्ष्मणजी एकान्त में बैठे हुए परमात्मा श्रीराम के पास जाकर नम्रता पूर्वक कहा ॥ १६ ॥

भगवन् श्रोतुमिच्छामि मोक्षस्यैकान्तिकीं गतिम् ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष सङ्क्षेपाद्वक्तुमर्हसि ॥ १७॥

भगवन् ! मैं आपके मुखारविन्द से मोक्ष का अव्यभिचारी निश्चित साधन सुनना चाहता हूँ अत: हे कमलनयन! आप उसका संक्षेप में वर्णन कीजिये ॥ १७ ॥

ज्ञानं विज्ञानसहितं भक्तिवैराग्यबृंहितम् ।
आचक्ष्व मे रघुश्रेष्ठ वक्ता नान्योऽस्ति भूतले ॥ १८॥

हे रघुश्रेष्ठ! आप मुझे भक्ति और वैराग्य से ओत-प्रोत विज्ञान युक्त-ज्ञान बताइये । संसार में आपके अतिरिक्त इस विषय का उपदेश करने वाला और कोई नहीं है ॥ १८ ॥

श्रीराम उवाच
शृणु वक्ष्यामि ते वत्स गुह्याद्गुह्यतरं परम् ।
यद्विज्ञाय नरो जह्यात्सद्यो वैकल्पकं भ्रमम् ॥ १९॥

श्रीरामचन्द्रजी बोले-वत्स! सुनो, मैं तुमसे गुप्त से गुप्त, परम रहस्य सुनाता हूँ; जिसको जान लेने पर मनुष्य शीघ्र ही विकल्पजनित भ्रम से मुक्त हो जाता है ॥ १९ ॥

आदौ मायास्वरूपं ते वक्ष्यामि तदनन्तरम् ।
ज्ञानस्य साधनं पश्चाज्ज्ञानविज्ञानसंयुतम् ॥ २०॥

पहले मैं माया का स्वरूप तुमसे कहूंगा; और फिर ज्ञान का साधन और फिर विज्ञान के सहित ज्ञान को बतलाऊँगा ॥ २०॥

ज्ञेयं च परमात्मानं यज्ज्ञात्वा मुच्यते भयात् ।
अनात्मनि शरीरादावात्मबुद्धिस्तु या भवहत् ॥ २१॥

सैव माया तयैवासौ संसारः परिकल्प्यते ।
रूपे द्वे निश्चिते पूर्वे मायायाः कुलनन्दन ॥ २२॥

इनके अतिरिक्त जानने योग्य परमात्मा का स्वरूप वर्णन करूँगा। जिसको जान लेने पर मनुष्य संसार के भय से मुक्त हो जाता है। शरीरादि अनात्मपदार्थों में जो आत्मबुद्धि होती है. उसी को माया

कहते हैं। उसी के द्वारा इस ससार की कल्पना हुई है। हे कुलनन्दन ! माया के दो रूप माने गये हैं ॥ २१-२२ ॥

विक्षेपावरणे तत्र प्रथमं कल्पयेज्जगत् ।
लिङ्गाद्यब्रह्मपर्यन्तं स्थूलसूक्ष्मविभेदतः ॥ २३॥

एक विक्षेप और दूसरा आवरण अर्थात् माया की दो शक्तियाँ हैं, एक आवरण शक्ति और दूसरी विक्षेप शक्ति। इनमें से विक्षेप शक्ति ही महत्तत्व से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त सम्पूर्ण संसार की स्थूल और सूक्ष्मभेद से कल्पना करती है ॥ २३ ॥

अपरं त्वखिलं ज्ञानरूपमावृत्य तिष्ठति ।
मायया कल्पितं विश्वं परमात्मनि केवले ॥ २४॥

रज्जौ भुजङ्गवद्भ्रान्त्या विचारे नास्ति किञ्चन ।
श्रूयते दृश्यते यद्यत्स्मर्यते वा नरैः सदा ॥ २५॥

असदेव हि तत्सर्वं यथा स्वप्नमनोरथौ ।
देह एव हि संसारवृक्षमूलं दृढं स्मृतम् ॥ २६॥

दूसरी आवरणशक्ति सम्पूर्ण ज्ञान को ढक कर स्थिर रहती है। यह सम्पूर्ण विश्व रस्सी में सर्प के भ्रम की भाँति शुद्ध परमात्मा में माया से कल्पित है, विचार करने पर कुछ भी सत्य नहीं होता। मनुष्य जो कुछ हमेशा सुनते देखते और स्मरण करते हैं, वह सभी स्वप्न और मनोरथों के समान असत्य हैं। शरीर ही इस संसार रूप वृक्ष का दृढ़ मूल है ॥ २४-२६॥

तन्मूलः पुत्रदारादिबन्धः किं तेऽन्यथात्मनः ॥ २७॥

इस कारण से केवल शरीर के द्वारा पुत्र, स्त्री आदि का बन्धन है; अन्यथा आत्मा का इन सबसे क्या सम्बन्ध है ॥ २७ ॥

देहस्तु स्थूलभूतानां पञ्च तन्मात्रपञ्चकम् ।
अहङ्कारश्च बुद्धिश्च इन्द्रियाणि तथा दश ॥ २८॥

चिदाभासो मनश्चैव मूलप्रकृतिरेव च ।
एतत्क्षेत्रमिति ज्ञेयं देह इत्यभिधीयते ॥ २९॥

पञ्च महाभूत, पञ्च तन्मात्राएँ, अहंकार, बुद्धि, दशेन्द्रियाँ, चिदाभास, मन और मूल-प्रकृति इन सबके समुदाय को क्षेत्र जानना चाहिए; इसी को ही शरीर भी कहते हैं ॥ २८-२९ ॥

एतैर्विलक्षणो जीवः परमात्मा निरामयः ।
तस्य जीवस्य विज्ञाने साधनान्यपि मे शृणु ॥ ३०॥

दोष रहित परमात्मा रूप जीव इन सबसे पृथक है। उस जीव को जानने का साधन अब मैं बतलाता हूँ सुनो- ॥३०॥

जीवश्च परमात्मा च पर्यायो नात्र भेदधीः ।
मानाभावस्तथा दम्भहिंसादिपरिवर्जनम् ॥ ३१॥

पराक्षेपादिसहनं सर्वत्रावक्रता तथा ।
मनोवाक्कायसद्भक्त्या सद्गुरोः परिसेवनम् ॥ ३२॥

बाह्याभ्यन्तरसंशुद्धिः स्थिरता सत्क्रियादिषु ।
मनोवाक्कायदण्डश्च विषयेषु निरीहता ॥ ३३॥

निरहङ्कारता जन्मजराद्यालोचनं तथा ।
असक्तिः स्नेहशून्यत्वं पुत्रदारधनादिषु ॥ ३४॥

इष्टानिष्टागमे नित्यं चित्तस्य समता तथा ।
मयि सर्वात्मके रामे ह्यनन्यविषया मतिः ॥ ३५॥

जनसम्बाधरहितशुद्धदेशनिषेवणम् ।
प्राकृतैर्जनसङ्घैःश्च ह्यरतिः सर्वदा भवहत् ॥ ३६॥

आत्मज्ञाने सदोद्योगो वहदान्तार्थावलोकनम् ।
उक्तैरेतैर्भवहज्ज्ञानं विपरीतैर्विपर्ययः ॥ ३७॥

जीव और परमात्मा दोनों एक दूसरे के पर्याय वाचक हैं, इनमें भेदबुद्धि नहीं करनी चाहिये। अभिमान से दूर रहना, दम्भ और हिंसा आदि का त्याग करना, दूसरों का आक्षेप सहन करना, सभी जगह कुटिलता का त्याग, मन, वचन और शरीर की सच्ची भक्ति से सद्गुरु की सेवा करना, बाह्य और आन्तरिक शुद्धि से रहना, सत्कर्मों में तत्पर रहना, मन, वाणी और शरीर का संयम करना, विषयों में प्रवत न होना, अहंकार शून्य रहना, जन्म, मृत्यु, रोग और जरा आदि के कष्टों का विचार करना, पुत्र, स्त्री और धन आदि में आसक्ति तथा स्नेह न करना, इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति में चित्त को सदा समान रखना, मुझ सर्वात्मा राम में अनन्य बुद्धि रखना, जन समूह शून्य पवित्र देश में रहना, संसारी लोगों से सर्वदा उदासीन रहना, आत्मज्ञान का हमेशा उद्योग करना तथा वेदान्त के अर्थों पर विचार

करना, इन साधनों से ज्ञान प्राप्त होता है और इनके विपरीत आचरण करने से अज्ञान होता है ॥ ३१-३७ ॥

बुद्धिप्राणमनोदेहाहङ्कृतिभ्यो विलक्षणः ।
चिदात्माहं नित्यशुद्धो बुद्ध एवहति निश्चयम् ॥ ३८॥

येन ज्ञानेन संवित्ते तज्ज्ञानं निश्चितं च मे ।
विज्ञानं च तदैवैतत्साक्षादनुभवहद्यदा ॥ ३९॥

जिसके द्वारा मैं बुद्धि, प्राण, मन, देह, अहंकार आदि से विलक्षण नित्य शुद्ध-बुद्ध चित् स्वरूप आत्मा हूँ, यह ज्ञान प्राप्त हो वह ज्ञान है। यह निश्चय है । जिस ज्ञान के द्वारा इसका साक्षात् अनुभव होता है, उसी को विज्ञान कहते हैं ॥ ३८-३९ ॥

आत्मा सर्वत्र पूर्णः स्याच्चिदानन्दात्मकोऽव्ययः ।
बुद्ध्याद्युपाधिरहितः परिणामादिवर्जितः ॥ ४०॥

आत्मा सर्वत्र पूर्ण, चिदानन्दस्वरूप, अविनाशी, बुद्धि आदि उपाधियों से रहित परिणामादि शून्य है ॥ ४०॥

स्वप्रकाशेन देहादीन् भासयन्ननपावृतः ।
एक एवाद्वितीयश्च सत्यज्ञानादिलक्षणः ॥ ४१॥

असङ्गः स्वप्रभो द्रष्टा विज्ञानेनावगम्यते ।
आचार्यशास्त्रोपदेशाद्यैक्यज्ञानं यदा भवहत् ॥ ४२॥

आत्मनोर्जीवपरयोर्मूलाविद्या तदैव हि ।

लीयते कार्यकरणैः सहैव परमात्मनि ॥ ४३॥

यह आत्मा अपने प्रकाश से देहादि को प्रकाशित करता हुआ स्वयं भी आवरण रहित, एक अद्वितीय, सत्यज्ञान स्वरूप, संग हीन स्वप्रकाश और सबका द्रष्टा है; यह विज्ञान के द्वारा ही ज्ञात होता है। जिस समय आचार्य और शास्त्र के उपदेश से जीवात्मा और परमात्मा की एकता का ज्ञान होता है, उस समय मूल अविद्या अपने कार्य शरीर आदि तथा इन्द्रियों के सहित परमात्मा में लीन हो जाती है ॥ ४१-४३ ॥

सावस्था मुक्तिरित्युक्ता ह्युपचारोऽयमात्मनि ।
इदं मोक्षस्वरूपं ते कथितं रघुनन्दन ॥ ४४॥

ज्ञानविज्ञानवैराग्यसहितं मे परात्मनः ।
किन्त्वेतद्दुर्लभं मन्ये मद्भक्तिविमुखात्मनाम् ॥ ४५॥

अविद्या की इस परमात्मा में लय की अवस्था को ही मोक्ष कहते हैं। आत्मा में यह मोक्ष केवल उपचार मात्र ही है। हे रघुनन्दन लक्ष्मण! तुम्हें यह ज्ञान, विज्ञान और वैराग्य के सहित परमात्मा रूप अपना मोक्षस्वरूप में सुनाया; किन्तु जो लोग मेरी भक्ति से विमुख हैं उनके लिये मै इसे अत्यन्त दुर्लभ मानता हूँ॥४४-४५॥

चक्षुष्मतामपि तथा रात्रौ सम्यङ् न दृश्यते ।
पदं दीपसमेतानां दृश्यते सम्यगेव हि ॥ ४६॥

एवं मद्भक्तियुक्तानामात्मा सम्यक् प्रकाशते ।
मद्भक्तेः कारणं किञ्चिद्वक्ष्यामि शृणु तत्त्वतः ॥ ४७॥

जिस प्रकार नेत्र रहते हुए भी लोग सांयकाल में चोर आदि का चिन्ह भली-भाँति नहीं देख पाते, दीपक होने पर ही उस समय वह दिखाई देता है, उसी प्रकार मेरी भक्ति से युक्त पुरुषों को ही आत्मा का सम्यक् साक्षात्कार होता है। अब मै अपनी भक्ति के कुछ वास्तविक उपाय बतलाता हूँ, सुनो ॥ ४६-४७ ॥

मद्भक्तसङ्गो मत्सेवा मद्भक्तानां निरन्तरम् ।
एकादश्युपवासादि मम पर्वानुमोदनम् ॥ ४८॥

मत्कथाश्रवणे पाठे व्याख्याने सर्वदा रतिः ।
मत्पूजापरिनिष्ठा च मम नामानुकीर्तनम् ॥ ४९॥

भक्तों की संगति करना, हमेशा मेरा और मेरे भक्तों की सेवा करना, एकादशी आदि व्रत करना, मेरे पर्व दिनों को मानना, मेरी कथा सुनने पढ़ने और उसके व्याख्यान में प्रेम करना, मेरी पूजा में तत्पर रहना, मेरा नाम-संकीर्तन करना ॥ ४८-४९ ॥

एवं सततयुक्तानां भक्तिरव्यभिचारिणी ।
मयि सञ्जायते नित्यं ततः किमवशिष्यते ॥ ५०॥

इस प्रकार जो निरन्तर मुझमें रमे रहते हैं, उनकी मुझ में अविचल भक्ति निश्चय ही हो जाती है, और निश्चल भक्ति होने पर अवशिष्ट ही क्या रह जाता ? ॥५०॥

अतो मद्भक्तियुक्तस्य ज्ञानं विज्ञानमेव च ।
वैराग्यं च भवहच्छीघ्रं ततो मुक्तिमवाप्नुयात् ॥ ५१॥

अतएव मेरी भक्ति से युक्त प्राणी को ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य आदि की प्राप्ति शीघ्र ही हो जाती है, पुनः वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ ५१॥

कथितं सर्वमेतत्ते तव प्रश्नानुसारतः ।
अस्मिन्मनः समाधाय यस्तिष्ठेत्स तु मुक्तिभाक् ॥ ५२॥

न वक्तव्यमिदं यत्नान्मद्भक्तिविमुखाय हि ।
मद्भक्ताय प्रदातव्यमाहूयापि प्रयत्नतः ॥ ५३॥

इस प्रकार तुम्हारे प्रश्नों के अनुसार सम्पूर्ण जानने योग्य बातें मैंने तुम्हे बताई है। जो व्यक्ति अपने मन को इसमें लगाकर रहता है, वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। हे लक्ष्मण ! मेरी भक्ति से विमुख पुरुषों से इसे सावधानी पूर्वक नहीं कहना चाहिये और मेरे भक्तों को प्रयत्नपूर्वक भी बुलाकर इस रहस्य को सुनाना चाहिये ॥५२-५३॥

य इदं तु पठेन्नित्यं श्रद्धाभक्तिसमन्वितः ।
अज्ञानपटलध्वान्तं विधूय परिमुच्यते ॥ ५४॥

जो पुरुष इसका श्रद्धा भक्तिपूर्वक पाठ करेगा वह अज्ञानरूपी अन्धकार को हटाकर मुक्त हो जायेगा ॥ ५४॥

भक्तानां मम योगिनां सुविमलस्वान्तातिशान्तात्मनां
मत्सेवाभिरतात्मनां च विमलज्ञानात्मनां सर्वदा ।
सङ्गं यः कुरुते सदोद्यतमतिस्तत्सेवनानन्यधीः
मोक्षस्तस्य करे स्थितोऽहमनिशं दृश्यो भवह नान्यथा ॥ ५५॥

जो पुरुष मेरी सेवा में अनुरक्त चित्त, निर्मल हृदय, शान्त आत्मा, विमलज्ञान सम्पन्न और मेरे परम भक्त योगिपुरुषों की संगति अनन्य भाव से हमेशा उनकी सेवा में तत्परता पूर्वक करता है। उस पुरुष की मुक्ति करतल गत रहती है और मैं हमेशा उसकी दृष्टि के सम्मुख विराजमान रहता हूँ। इसके अतिरिक्त
और किसी उपाय से मेरा दर्शन होना सम्भव नहीं है ॥५५॥

इति श्रीमदध्यात्मरामयणे उमामहेश्वरसंवादे
अरण्यकाण्डे चतुर्थः सर्गः ॥ ४॥

॥ पञ्चमः सर्गः ॥

शूपर्णखा को दण्ड, खर आदि राक्षसों का वध और शूपर्णखा का रावण के पास जाना

श्री महादेव उवाच
तस्मिन् काले महारण्ये राक्षसी कामरूपिणी ।
विचचार महासत्त्वा जनस्थाननिवासिनी ॥ १॥

श्रीमहादेवजी बोले- हे पार्वति ! उस समय उस महारण्य में जन स्थान निवासनी महाबलवती इच्छानुसार रूप धारण करने वाली एक राक्षसी विचरण करती रहती थी ॥१॥

एकदा गौतमीतीरे पञ्चवट्यां समीपतः ।
पद्मवज्राङ्कुशाङ्कानि पदानि जगतीपतेः ॥ २॥

दृष्ट्वा कामपरीतात्मा पादसौन्दर्यमोहिता ।
पश्यन्ती सा शनैरायाद्राघवस्य निवहशनम् ॥ ३॥

एकदिन पञ्चवटी के समीप गौतमी नदी के तट पर जगत्पति श्रीरामचन्द्रजी के पद्म, वन और अंकुश की रेखाओं से युक्त चरण-चिन्हों को देखकर वह उनके सौन्दर्य से मोहित होकर, कामासक्त हुई। उन्हें देखती हुई धीरे-धीरे श्रीरघुनाथजी के आश्रम में चली आयी ॥२-३॥

तत्र सा तं रमानाथं सीतया सह संस्थितम् ।
कन्दर्पसदृशं रामं दृष्ट्वा कामविमोहिता ॥ ४॥

राक्षसी राघवं प्राह कस्य त्वं कः किमाश्रमे ।
युक्तो जटावल्कलाद्यैः साध्यं किं तेऽत्र मे वद ॥ ५॥

वहाँ कामदेव के समान सुन्दर रमानाथ श्री रामचन्द्रजी को सीता के साथ बैठे हुए देखकर वह काम से विमोहित राक्षसी रघुनाथ जी से बोली-"तुम किसके पुत्र हो? तुम्हारा नाम क्या है ? इस आश्रम में जटावल्कल आदि धारण कर क्यों रहते हो। यहाँ रहकर तुम कौन सी वस्तु प्राप्त करना चाहते हो ? यह मुझे बतलाओ ॥४-५॥

अहं शूर्पणखा नाम राक्षसी कामरूपिणी ।
भगिनी राक्षसेन्द्रस्य रावणस्य महात्मनः ॥ ६॥

मैं राक्षसेन्द्र महात्मा रावण की बहन कामरूपिणा राक्षसी शूपर्णखा हूँ ॥३॥

खरेण सहिता भ्रात्रा वसाम्यत्रैव कानने ।
राज्ञा दत्तं च मे सर्वं मुनिभक्षा वसाम्यहम् ॥ ७॥

मैं अपने भाई खर के साथ इस वन में रहती हूँ। राजा ने इस वन का सम्पूर्ण अधिकार मुझे सौंप दिया हैं। अत: मैं मुनियों को भक्षण करती हुई यहाँ रहती हूँ॥७॥

त्वां तु वहदितुमिच्छामि वद मे वदतां वर ।
तामाह रामनामाहमयोध्याधिपतेः सुतः ॥ ८॥

हे वक्ताओं में श्रेष्ठ! मैं तुम्हें जानना चाहती हूँ, अतः तुम अपने विषय में मुझे बताओ। तब भगवान राम उससे बोले-मैं अयोध्याधिपति राजा दशरथ का पुत्र हूँ, मेरा नाम राम है ॥ ८॥

एषा मे सुन्दरी भार्या सीता जनकनन्दिनी ।
स तु भ्राता कनीयान् मे लक्ष्मणोऽतीवसुन्दरः ॥ ९॥

यह सुन्दरी जनकनन्दिनी सीता मेरी भार्या या है, तथा यह अति सुकुमार मेरा छोटा अनुज लक्ष्मण है॥९॥

किं कृत्यं ते मया ब्रूहि कार्यं भुवनसुन्दरि ।
इति रामवचः श्रुत्वा कामार्ता साब्रवीदिदम् ॥ १०॥

हे त्रिभुवन सुन्दरि! तुम बताओ कि मैं तुम्हारा क्या कार्य करूँ ? श्रीरामजी का यह वचन सुन कर वह कामातुर शूर्पणखा बोली ॥ १० ॥

एहि राम मया सार्धं रमस्व गिरिकानने ।
कामार्ताहं न शक्नोमि त्यक्तुं त्वां कमलेक्षणम् ॥ ११॥

हे राम ! किसी गिरि-गुहा में इस समय चलकर मेरे साथ आनन्द करो। इस समय मैं कामार्ता हूँ। अतएव आप कमललोचन को मैं छोड़ नहीं सकती ॥ ११॥

रामः सीतां कटाक्षेण पश्यन् सस्मितमब्रवीत् ।
भार्या ममैषा कल्याणी विद्यते ह्यनपायिनी ॥ १२॥

यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजी नेत्रों से सीता की तरफ इशारा करते हुए मुस्कुराकर बोले-“हे सुन्दरि ! यह मेरी भार्या विद्यमान है, जिसे त्यागना असम्भव है ॥ १२ ॥

त्वं तु सापत्न्यदुःखेन कथं स्थास्यसि सुन्दरि ।
बहिरास्ते मम भ्राता लक्ष्मणोऽतीव सुन्दरः ॥ १३॥

तुम जीवन भर सौत की डाह से जलती हुई किस प्रकार रहोगी? बाहर मेरा अत्यन्त सुन्दर छोटा भाई लक्ष्मण स्थित है ॥ १३॥

तवानुरूपो भविता पतिस्तेनैव सञ्चर ।
इत्युक्ता लक्ष्मणं प्राह पतिर्मे भव सुन्दर ॥ १४॥

भ्रातुराज्ञां पुरस्कृत्य सङ्गच्छावोऽद्य मा चिरम् ।
इत्याह राक्षसी घोरा लक्ष्मणं काममोहिता ॥ १५॥

वही तुम्हारे लिये योग्य पति होगा, तुम उसी के साथ विहार करो। इस प्रकार कहने पर काम से मोहिता शूर्पणखा लक्ष्मणजी के पास जाकर बोली-“हे सुन्दर ! अपने भाई की आज्ञा से तुम मेरा पति हो आओ। हम और तुम आज परस्पर संगम करें, विलम्ब मत करो" ॥१४-१५॥

तामाह लक्ष्मणः साध्वि दासोऽहं तस्य धीमतः ।
दासी भविष्यसि त्वं तु ततो दुःखतरं नु किम् ॥ १६॥

यह सुनकर लक्ष्मणजी शूर्पणखा से बोले- "हे साध्वि ! मैं उन बुद्धिमान भगवान् राम का दास हूँ। मुझे अपना पति बनाने से तुम्हें उनकी दासी होना पड़ेगा। तुम्हें इससे अधिक दुःख की बात क्या होगी ? ॥ १६ ॥

तमेव गच्छ भद्रं ते स तु राजाखिलेश्वरः ।
तच्छ्रुत्वा पुनरप्यागाद्राघवं दुष्टमानसा ॥ १७॥

तुम्हारा कल्याण हो, तुम उनके पास जाओ, वे ही महाराज सबके स्वामी हैं। "यह सुनकर दुष्ट चित्ता वह राक्षसी पुनः रघुनाथजी के पास आयी ॥ १७ ॥

क्रोधाद्राम किमर्थं मां भ्रामयस्यनवस्थितः ।
इदानीमेव तां सीतां भक्षयामि तवाग्रतः ॥ १८॥

श्रीरामचन्द्रजी के पास आकर वह क्रोधपूर्वक बोली-"हे राम ! तुम बड़े चञ्चल मन वाले हो, मुझे यत्र-तत्र क्यों घुमा रहे हो ? मैं तत्क्षण तुम्हारे सामने इस सीता को खा जाती हूँ" ॥ १८ ॥

इत्युक्त्वा विकटाकारा जानकीमनुधावति ।
ततो रामाज्ञया खड्गमादाय परिगृह्य ताम् ॥ १९॥

चिच्छेद नासां कर्णौ च लक्ष्मणो लघुविक्रमः ।
ततो घोरध्वनिं कृत्वा रुधिराक्तवपुर्द्रुतम् ॥ २०॥

क्रन्दमाना पपाताग्रे खरस्य परुषाक्षरा ।
किमेतदिति तामाह खरः खरतराक्षरः ॥ २१॥

यह कहकर वह विकटरूप धारण कर जानकीजी की ओर खाने के लिए दौड़ी। लक्ष्मणजी श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा मानकर उसे पकड़कर जल्दी ही खड्ग लेकर उसके नाक-कान काट दिये। तव वह घोर शब्द करती हुई खुन से लथ-पथ होकर अति शीघ्रता से रोती हुई, कठोर शब्द करती हुई खर के सामने गिर पड़ी। उसका इस प्रकार देखकर तीक्ष्णध्वनि वाला खर बाला- यह क्या है? ॥ १९-२१ ॥

केनैवं कारितासि त्वं मृत्योर्वक्त्रानुवर्तिना ।
वद मे तं वधिष्यामि कालकल्पमपि क्षणात् ॥ २२॥

मृत्यु के मुख में जाने की इच्छा रखने वाले किसने तुम्हारा यह हाल किया है ? मुझे बताओ, वह काल के समान भी क्यों न हो, मैं क्षण भर में उसका वध कर डालूंगा ॥ २२ ॥

तमाह राक्षसी रामः सीतालक्ष्मणसंयुतः ।
दण्डकं निर्भयं कुर्वन्नास्ते गोदावरीतटे ॥ २३॥

यह सुनकर राक्षसी शूर्पनखा उससे बोली-"यहाँ सीता और लक्ष्मण के साथ राम दण्डकारण्य को निर्भय करता हुआ गोदावरी के तटपर रहता है ॥ २३ ॥

मामेवं कृतवान्स्तस्य भ्राता तेनैव चोदितः ।
यदि त्वं कुलजातोऽसि वीरोऽसि जहि तौ रिपू ॥ २४॥

उसकी ही प्रेरणा से उसके छोटा भाई लक्ष्मण ने मेरी यह गति की है। आप बड़े कुलीन और वीर हो तो उन दोनों शत्रुओं को मार दो ॥ २४ ॥

तयोस्तु रुधिरं पास्ये भक्षयैतौ सुदुर्मदौ ।
नो चेत्प्राणान् परित्यज्य यास्यामि यमसादनम् ॥ २५॥

तुम उन दोनों मदोन्मत्तों को खा जाओ और मैं उन दोनों का खून पीऊँगी; अन्यथा मैं अपने प्राणों को त्यागकर यमपुर को चली जाऊँगी ॥२५॥

तच्छ्रुत्वा त्वरितं प्रागात्खरः क्रोधेन मूर्च्छितः ।
चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम् ॥ २६॥

चोदयामास रामस्य समीपं वधकाङ्क्षया ।
खरश्च त्रिशिराश्चैव दूषणश्चैव राक्षसः ॥ २७॥

सर्वे रामं ययुः शीघ्रं नानाप्रहरणोद्यताः ।
श्रुत्वा कोलाहलं तेषां रामः सौमित्रिमब्रवीत् ॥ २८॥

शूर्पणखा का यह कथन सुनकर खर क्रोध से शीघ्र ही युद्ध के लिये चल पड़ा और राम को मारने के लिए उसने बड़े पराक्रमी चौदह हजार राक्षसों को उनके पास भेजा। खर, दूषण और त्रिशिरा यह तीनों राक्षस अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र लेकर श्री राम के पास युद्ध की इच्छा से आये। उनका कोलाहल सुनकर श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मण से बोले ॥ २६-२८॥

श्रूयते विपुलः शब्दो नूनमायान्ति राक्षसाः ।
भविष्यति महद्युद्धं नूनमद्य मया सह ॥ २९॥

हे लक्ष्मण ! बड़ा कोलाहल सुनाई दे रहा है, प्रतीत होता है कि निश्चय ही राक्षस गण आ रहे हैं; निश्चय ही राक्षसों के साथ आज मेरा घोर युद्ध होगा ॥ २९ ॥

सीतां नीत्वा गुहां गत्वा तत्र तिष्ठ महाबल ।
हन्तुमिच्छाम्यहं सर्वान् राक्षसान् घोररूपिणः ॥ ३०॥

अत: हे महाबल ! तुम सीता को लेकर किसी पर्वत की गुफा में चले जाओ। इन समस्त घोर रूप राक्षसों का आज मैं वध करना चाहता हूँ॥ ३०॥

अत्र किञ्चिन्न वक्तव्यं शापितोऽसि ममोपरि ।
तथेति सीतामादाय लक्ष्मणो गह्वरं ययौ ॥ ३१॥

तुम्हें मेरी सौगन्ध है, इस विषय में तुम कुछ नहीं कहोगे, श्री राम के ऐसा कहने पर लक्ष्मण जी जैसी आज्ञा कहकर सीताजी को लेकर एक गिरि गुफा में चले गये ॥ ३१ ॥

रामः परिकरं बद्ध्वा धनुरादाय निष्ठुरम् ।
तूणीरावक्षयशरौ बद्ध्वायत्तोऽभवत्प्रभुः ॥ ३२॥

श्रीरामचन्द्रजी अपनी कमर कसकर और कठोर धनुष और दो अक्षय बाण वाले तरकस बाँधकर युद्ध के लिए तैयार हो गये॥३२॥

तत आगत्य रक्षांसि रामस्योपरि चिक्षिपुः ।
आयुधानि विचित्राणि पाषाणान् पादपानपि ॥ ३३॥

तब राक्षसगण वहाँ आकर श्री राम के ऊपर अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र, पत्थर और वृक्षादि की वर्षा करने लगे ॥ ३३ ॥

तानि चिच्छेद रामोऽपि लीलया तिलशः क्षणात् ।
ततो बाणसहस्रेण हत्वा तान् सर्वराक्षसान् ॥ ३४॥

खरं त्रिशिरसं चैव दूषणं चैव राक्षसम् ।
जघान प्रहरार्धेन सर्वानेव रघूत्तमः ॥ ३५॥

तब एक क्षण में ही श्रीरामचन्द्र जी ने लीला मात्र से ही उनके अस्त्र-शस्त्रादि को तिल-तिल कर काट डाला और हजारों बाणों से उन सम्पूर्ण राक्षसों को मारकर खर, दूषण और त्रिशिरा का भी वध कर दिया। इस प्रकार आधे पहर में ही सम्पूर्ण राक्षसों का संहार कर दिया ॥ ३४-३५॥

लक्ष्मणोऽपि गुहामध्यात्सीतामादाय राघवह ।
समर्प्य राक्षसान् दृष्ट्वा हतान् विस्मयमाययौ ॥ ३६॥

तब लक्ष्मणजी गुफा में से सीताजी को लाकर श्रीरघुनाथजी को सौंप दिया। उस समय सभी राक्षसों को मरा हुआ देखकर वह अत्यंत आश्चर्य चकित हुए ॥ ३६॥

सीता रामं समालिङ्ग्य प्रसन्नमुखपङ्कजा ।

शस्त्रव्रणानि चाङ्गेषु ममार्ज जनकात्मजा ॥ ३७॥

जनकनन्दिनी सीताजी प्रसन्नमख से श्रीरामचन्द्रजी का आलिगन किया और उनके शरीर में लगे हुए अस्त्र-शस्त्र के घावों पर हाथ फेरने लगीं ॥३७ ॥

सापि दुद्राव दृष्ट्वा तान् हतान् राक्षसपुङ्गवान् ।
लङ्कां गत्वा सभामध्ये क्रोशन्ती पादसन्निधौ ॥ ३८॥

रावणस्य पपातोर्व्यां भगिनी तस्य रक्षसः ।
दृष्ट्वा तां रावणः प्राह भगिनीं भयविह्वलाम् ॥ ३९॥

उन सम्पूर्ण राक्षसों को मरा हुआ देखकर राक्षसेन्द्र रावण की बहन शूर्पणखा दौड़ती हुई लंका में पहुँची और राजसभा में पहुंचकर रोती हुई रावण के पैरों के समीप जमीन पर गिर पड़ी। अपनी बहन को इस प्रकार भयभीत देखकर रावण बोला ॥ ३८-३९ ॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ वत्से त्वं विरूपकरणं तव ।
कृतं शक्रेण वा भद्रे यमेन वरुणेन वा ॥ ४०॥

कुबेरेणाथवा ब्रूहि भस्मीकुर्यां क्षणेन तम् ।
राक्षसी तमुवाचेदं त्वं प्रमत्तो विमूढधीः ॥ ४१॥

अरी वत्से! उठकर खड़ी हो, बताओ किसने तुम्हे कुरूप बना दिया है? हे भद्रे! यह इन्द्र, यम, वरुण अथवा कुबेर में से किसका काम है। बताओ मैं एक क्षण में ही उसे भस्म कर डालूंगा। तब राक्षसी

शूर्पणखा उससे बोली-तुम बड़े ही प्रमादी और मूढ बुद्धिवाले हो ॥ ४०-४१ ॥

पानासक्तः स्त्रीविजितः षण्ढः सर्वत्र लक्ष्यसे ।
चारचक्षुर्विहीनस्त्वं कथं राजा भविष्यसि ॥ ४२॥

तुम मद्यपान में आसक्त, स्त्री के वशीभूत और सब विषयों में नपुंसक की भाँति प्रतीत होते हो। तुम्हारे चार रूप नेत्र आर्थत गुप्तचर नहीं हैं। तुम राजा कैसे रह सकोगे? ॥ ४२ ॥

खरश्च निहतः सङ्ख्ये दूषणस्त्रिशिरास्तथा ।
चतुर्दश सहस्राणि राक्षसानां महात्मनाम् ॥ ४३॥

निहतानि क्षणेनैव रामेणासुरशत्रुणा ।
जनस्थानमशेषेण मुनीनां निर्भयं कृतम् ।
न जानासि विमूढस्त्वमत एव मयोच्यते ॥ ४४॥

युद्ध में खर मारा गया तथा दूषण और त्रिशिरा आदि चौदह हजार मुख्य राक्षसों को, राक्षसों के शत्रु राम ने एक क्षण में ही मार डाला और सम्पूर्ण जनस्थान को मुनिश्वरों के लिये सर्वथा निर्भय कर दिया। इतना होने पर भी तुम कुछ नहीं जानते ? अत: तुम मूढ हो यह मैं कहती हूँ॥ ४३-४४ ॥

रावण उवाच
को वा रामः किमर्थं वा कथं तेनासुरा हताः ।
सम्यक्कथय मे तेषां मूलघातं करोम्यहम् ॥ ४५॥

रावण बोला-राम कौन है ? किसके लिये किस प्रकार उसने इन राक्षसों का वध किया है ? तू सब कुछ विस्तार पूर्वक मुझे बता, मैं उसका मूलाधार ही नष्ट कर दूंगा ॥ ४५ ॥

शूर्पणखोवाच
जनस्थानादहं याता कदाचित् गौतमीतटे ।
तत्र पञ्चवटी नाम पुरा मुनिजनाश्रया ॥ ४६॥

शूर्पणखा बोली-एकदिन जनस्थान से मै गौतमी के तटपर जा रही थी, वहाँ पर पूर्वकाल में मुनिजन सेवित पञ्चवटी नामक आश्रम है ॥ ४६॥

तत्राश्रमे मया दृष्टो रामो राजीवलोचनः ।
धनुर्बाणधरः श्रीमान् जटावल्कलमण्डितः ॥ ४७॥

उस आश्रम में जटावल्कल आदि से सुशोभित धनुष-बाण धारण करने वाले कमललोचन शोभाधाम श्रीराम को मैंने देखा ॥ ४७॥

कनीयाननुजस्तस्य लक्ष्मणोऽपि तथाविधः ।
तस्य भार्या विशालाक्षी रूपिणी श्रीरिवापरा ॥ ४८॥

उसका अनुज लक्ष्मण भी उसके समान सुन्दर है। उस राम की विशाल लोच नवाली भार्या दूसरी लक्ष्मी के समान सुन्दर है॥४८॥

देवगन्धर्वनागानां मनुष्याणां तथाविधा ।
न दृष्टा न श्रुता राजन् द्योतयन्ती वनं शुभा ॥ ४९॥

देव, गन्धर्व, नाग और मनुष्य आदि किसी में भी मैंने ऐसी रूपवती स्त्री को न देखा है और न सुना ही है। वह शुभलक्षणा अपनी कान्ति से सम्पूर्ण वन को प्रकाशित कर रही थी ॥ ४९॥

आनेतुमहमुद्‌युक्ता तां भार्यार्थं तवानघ ।
लक्ष्मणो नाम तद्‌भ्राता चिच्छेद मम नासिकाम् ॥ ५०॥

उसे तुम्हारी पत्नी बनाने की ईच्छा से मैं उसे तुम्हारे पास लाने का प्रयास किया, इसलिये राम के भाई लक्ष्मण ने मेरी नाक काट ली ॥५०॥

कर्णौ च नोदितस्तेन रामेण स महाबलः ।
ततोऽहमतिदुःखेन रुदती खरमन्वगाम् ॥ ५१॥

और फिर राम के कहने पर महाबली लक्ष्मण ने मेरा कान भी काट दिया। तदनन्तर मैं अत्यन्त दुःख से रोती हुई खर के पास गयी ॥ ५१ ॥

सोऽपि रामं समासाद्य युद्धं राक्षसयूथपैः ।
अतः क्षणेन रामेण तेनैव बलशालिना ॥ ५२॥

सर्वे तेन विनष्टा वै राक्षसा भीमविक्रमाः ।
यदि रामो मनः कुर्यात्त्रैलोक्यं निमिषार्धतः ॥ ५३॥

भस्मीकुर्यान्न सन्देह इति भाति मम प्रभो ।
यदि सा तव भार्या स्यात्सफलं तव जीवितम् ॥ ५४॥

उसने अपने राक्षस सेनापतियों के साथ शीघ्र ही जाकर राम से युद्ध छेड़ दिया; परन्तु उस बलशाली राम ने क्षण मात्र में ही सभी भीम-पराक्रम वाले राक्षसों को नष्ट कर दिया। हे प्रभो! मुझे तो प्रतीत हो रहा है कि राम यदि इच्छा करे तो वह आधे निमेष में ही सम्पूर्ण त्रिलोकी को भस्म कर सकता है। परन्तु उसकी स्त्री सीता यदि तुम्हारी भार्या हो जाय तो तुम्हारा जीवन सफल हो जाएगा ॥५२-५४ ॥

अतो यतस्व राजेन्द्र यथा ते वल्लभा भवहत् ।
सीता राजीवपत्राक्षी सर्वलोकैकसुन्दरी ॥ ५५॥

अत: हे राजेन्द्र ! तुम यह प्रयत्न करो कि सम्पूर्ण लोकों में सुन्दरी कमललोचनी सीता तुम्हारी प्राणवल्लभा हो जाए ॥ ५५ ॥

साक्षाद्रामस्य पुरतः स्थातुं त्वं न क्षमः प्रभो ।
मायया मोहयित्वा तु प्राप्स्यसे तां रघूत्तमम् ॥ ५६॥

हे प्रभो! तुम राम के सामने साक्षात् स्थित नहीं हो सकते। अत: उन रघुश्रेष्ठ को किसी प्रकार मायाजाल से मोहित कर उसे प्राप्त कर सकते हो ॥ ५६॥

श्रुत्वा तत्सूक्तवाक्यैश्च दानमानादिभिस्तथा ।
आश्वास्य भगिनीं राजा प्रविवहश स्वकं गृहम् ।
तत्र चिन्तापरो भूत्वा निद्रां रात्रौ न लब्धवान् ॥ ५७॥

यह सुनकर राक्षसेन्द्र रावण सुन्दर वाक्यों और दान सम्मान आदि से बहन शूर्पणखा को धैर्य देकर अपने अन्तःपुर में प्रवेश किया। परन्तु वहाँ चिन्ता के कारण उसे रात्रि में नींद नहीं आयी ॥५७ ॥

एकेन रामेण कथं मनुष्यमात्रेण नष्टः सबलः खरो मे ।
भ्राता कथं मे बलवीर्यदर्पयुतो विनष्टो बत राघवहण ॥ ५८॥

वह सोचने लगा कि अकेले मनुष्य मात्र रघुवंशी राम बल-वीर्य और राक्षस-सम्पन्न मेरे भाई खर को सेना के साथ कैसे मार डाला ॥ ५८ ॥

यद्वा न रामो मनुजः परेशो
मां हन्तुकामः सबलं बलौघैः ।
सम्प्रार्थितोऽयं द्रुहिणेन पूर्वं
मनुष्यरूपोऽद्य रघोः कुलेऽभूत् ॥ ५९॥

अत: यह राम मनुष्य नहीं है, साक्षात् परमात्मा ने ही पूर्व समय में ब्रह्मा की प्रार्थना करने पर मेरी सेना सहित वानरसेनाओं से मुझे मारने के लिये इस समय रघुवंश में मनुष्य रूप से अवतार लिया है ॥५९॥

वध्यो यदि स्यां परमात्मनाहं वैकुण्ठराज्यं परिपालयेऽहम् ।
नो चेदिदं राक्षसराज्यमेव भोक्ष्ये चिरं राममतो व्रजामि ॥ ६०॥

मैं परमात्मा द्वारा यदि मारा गया तो वैकुण्ठ का राज्य प्राप्त करूँगा; नहीं तो बहुत दिनों तक राक्षसों का राज्य भोग करूँगा ही। अत: मैं राम के पास अवश्य ही चलूँगा ॥ ६० ॥

इत्थं विचिन्त्याखिलराक्षसेन्द्रो रामं विदित्वा परमेश्वरं हरिम् ।
विरोधबुद्ध्यैव हरिं प्रयामि द्रुतं न भक्त्या भगवान् प्रसीदेत् ॥६१॥

सम्पूर्ण राक्षसों का स्वामी रावण यह विचार किया कि भगवान् राम को साक्षात् परमात्मा हरि समझकर विरोध बुद्धि से मैं भगवान के पास जाऊँगा, भक्ति के द्वारा भगवान् मुझपर शीघ्र तो प्रसन्न हो सकते ही नहीं॥६१ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामयणे उमामहेश्वरसंवादे
अरण्यकाण्डे पञ्चमः सर्गः ॥ ५॥

॥ षष्ठः सर्गः ॥

रावण का मारीच के पास जाना

विचिन्त्यैवं निशायां स प्रभाते रथमास्थितः ।
रावणो मनसा कार्यमेकं निश्चित्य बुद्धिमान् ॥ १॥

ययौ मारीचसदनं परं पारमुदन्वतः ।
मारीचस्तत्र मुनिवज्जटावल्कलधारकः ॥ २॥

ध्यायन् हृदि परात्मानं निर्गुणं गुणभासकम् ।
समाधिविरमेऽपश्यद्रावणं गृहमागतम् ॥ ३॥

श्री महादेवजी बोले-हे पार्वति ! रात्रि के समय यह विचार कर प्रातः काल होने पर बुद्धिमान् रावण रथ में सवार हुआ और अपने मन में

एक कार्य सोचकर समुद्र के दूसरे तट पर मारीच के घर गया। वहाँ पर मारीच मुनियों के समान जटा बल्कलादि धारण कर गुणों के प्रकाशक निर्गुण परमात्मा का ध्यान कर रहा था। समाधि भंग होने पर उसने रावण को अपने घर आया हुआ देखा ॥ १-३॥

द्रुतमुत्थाय चालिङ्ग्य पूजयित्वा यथाविधि ।
कृतातिथ्यं सुखासीनं मारीचो वाक्यमब्रवीत् ॥ ४॥

रावण को अपने घर देखते ही जल्दी से उठकर गले से आलिंगन कर विधिवत् उसकी पूजा तथा आतिथ्य-सत्कार करने के अनन्तर स्वस्थ होकर रावण जब बैठा तो मारीच उससे बोला ॥ ४॥

समागमनमेतत्ते रथेनैकेन रावण ।
चिन्तापर इवाभासि हृदि कार्यं विचिन्तयन् ॥ ५॥

हे रावण! इस समय तुम एक ही रथ में आये हो तथा तुम्हारा मन किसी कार्य के चिन्तन में चिन्ताग्रस्त प्रतीत होता है।॥५॥

ब्रूहि मे न हि गोप्यं चेत्करवाणि तव प्रियम् ।
न्याय्यं चेद्ब्रूहि राजेन्द्र वृजिनं मां स्पृशेन्न हि ॥ ६॥

यदि यह कार्य गोपनीय न हो तो मुझसे बताओ। हे राजेन्द्र ! उस कार्य को करने में मुझे पाप न लगे और वह न्यायोचित कार्य हो तो मुझे बताओ मैं तुम्हारा वह प्रिय कार्य अवश्य करूँगा ॥ ६ ॥

रावण उवाच
अस्ति राजा दशरथः साकेताधिपतिः किल ।

रामनामा सुतस्तस्य ज्येष्ठः सत्यपराक्रमः ॥ ७॥

रावण बोला-अयोध्या के अधिपति राजादशरथ का बड़ा लड़का सत्य पराक्रमी राम है ॥७॥

विवासयामास सुतं वनं वनजनप्रियम् ।
भार्यया सहितं भ्रात्रा लक्ष्मणेन समन्वितम् ॥ ८॥

राजा ने अपने वन जन प्रिय पुत्र को भाई लक्ष्मण और स्त्री के साथ जंगल में भेज दिया है ॥८॥

स आस्ते विपिने घोरे पञ्चवट्याश्रमे शुभे ।
तस्य भार्या विशालाक्षी सीता लोकविमोहिनी ॥ ९॥

इस समय वह घोर दण्डकारण्य के पञ्चवटी नामक शुभ आश्रम में रहता है। उसकी भार्या विशालनयना सीता त्रिलोक को विमोहित करने वाली है ॥ ९॥

रामो निरपराधान्मे राक्षसान् भीमविक्रमान् ।
खरं च हत्वा विपिने सुखमास्तेऽतिनिर्भयः ॥ १०॥

वह राम बड़े पराक्रमी भाई खर सहित निरपराधी राक्षसों को मारकर उस तपोवन में निर्भय होकर सुखपूर्वक रहता है ॥ १०॥

भगिन्याः शूर्पणखाया निर्दोषायाश्च नासिकाम् ।
कर्णौ चिच्छेद दुष्टात्मा वने तिष्ठति निर्भयः ॥ ११॥

मेरी बहन निर्दोषा शूर्पणखा का नाक और कान काटकर वह दुष्टात्मा जंगल में निर्भयता पूर्वक रहता है ॥ ११॥

अतस्त्वया सहायेन गत्वा तत्प्राणवल्लभाम् ।
आनयिष्यामि विपिने रहिते राघवहण ताम् ॥ १२॥

अतएव तुम्हारी सहायता से वहाँ जाकर राम के तपोवन में न रहने पर उसकी प्राणवल्लभा को ले आऊँगा ॥ १२ ॥

त्वं तु मायामृगो भूत्वा ह्याश्रमादपनेष्यसि ।
रामं च लक्ष्मणं चैव तदा सीतां हराम्यहम् ॥ १३॥

तुम माया-मय-मृगरूप धारण कर राम और लक्ष्मण को आश्रम से दूर ले जाना। उसी समय मै सीता का हरण कर लाऊँगा ॥१३॥

त्वं तु तावत्सहायं मे कृत्वा स्थास्यसि पूर्ववत् ।
इत्येवं भाषमाणं तं रावणं वीक्ष्य विस्मितः ॥ १४॥

इस प्रकार तुम मेरी सहायता कर वापस अपने आश्रम में आकर रहना। इस प्रकार रावण को कहते हुए देखकर विस्मित होकर मारीच बोला ॥ १४ ॥

केनेदमुपदिष्टं ते मूलघातकरं वचः ।
स एव शत्रुर्वध्यश्च यस्त्वन्नाशं प्रतीक्षते ॥ १५॥

रामस्य पौरुषं स्मृत्वा चित्तमद्यापि रावण ।
बालोऽपि मां कौशिकस्य यज्ञसंरक्षणाय सः ॥ १६॥

आगतस्त्विषुणैकेन पातयामास सागरे ।
योजनानां शतं रामस्तदादि भयविह्वलः ॥ १७॥

स्मृत्वा स्मृत्वा तदेवाहं रामं पश्यामि सर्वतः ॥ १८॥

हे रावण! यह मूलाघात अर्थात सर्वनाश करने वाली बात तुमसे किसने कही है? इस प्रकार तुम्हारा नाश चाहने वाला निश्चय ही तुम्हारा शत्रु और वध करने योग्य है। हे रावण ! उसके बाल्यकाल के पुरुषार्थ को याद कर भय होता है। वह विश्वामित्र जी के यज्ञ रक्षा करने के लिये गया था और एक बाण से ही मुझे सौ योजन दूर समुद्र के तट पर फेंक दिया था, तब से भय से व्याकुल हो बार-बार उस बात का स्मरण होने से सर्वत्र मुझे राम-ही-राम दिखलायी देने लगते हैं ॥ १५ -१८ ॥

दण्डकेऽपि पुनरप्यहं वने पूर्ववैरमनुचिन्तयन् हृदि ।
तीक्ष्णशृङ्गमृगरूपमेकदा मादृशैर्बहुभिरावृतोऽभ्ययाम् ॥ १९॥

एक दिन अपने पूर्व बैर का स्मरण कर मै दण्डकारण्य में अपने समान बहुत से मृगों के साथ मिलकर एक तीखे सींग वाला मृग का रूप धारण कर गया था ॥ १९ ॥

राघवं जनकजासमन्वितं लक्ष्मणेन सहितं त्वरान्वितः ।
आगतोऽहमथ हन्तुमुद्यतो मां विलोक्य शरमेकमक्षिपत् ॥ २०॥

जब मैं अति स्फुर्ति पूर्वक सीता, लक्ष्मण और श्रीरघुनाथजी को मारने की इच्छा से आगे बढ़ा तब मुझे देखकर उन्होंने केवल एक बाण छोडा ॥ २०॥

तेन विद्धहृदयोऽहमुद्भ्रमन् राक्षसेन्द्र पतितोऽस्मि सागरे ।
तत्प्रभृत्यहमिदं समाश्रितः स्थानमूर्जितमिदं भयार्दितः ॥ २१॥

हे राक्षसेन्द्र। उससे हृदय विद्ध होने से मैं आकाश में चक्कर काटता हुआ समुद्र में आकर गिरा। तभी से मैं भयभीत होकर इस निर्भय स्थान में रहता हूँ॥२१॥

राममेव सततं विभावये भीतभीत इव भोगराशितः ।
राजरत्नरमणीरथादिकं श्रोत्रयोर्यदि गतं भयं भवहत् ॥ २२॥

राज, रत्न, रमणी, और रथ आदि विविध भोग सामग्रियों के अक्षरों का कानों में उच्चारण पड़ते ही मुझे राम की याद आने से भय उत्पन्न हो जाता है। अत: मै भोग-समुदाय से भयभीत होकर निरन्तर राम का ही ध्यान करता रहता हूँ॥ २२॥

राम आगत इहेतिशङ्कया बाह्यकार्यमपि सर्वमत्यजम् ।
निद्रया परिवृतो यदा स्वपे राममेव मनसानुचिन्तयन् ॥ २३॥

इस स्थान पर राम न आगये हों इस आशंका से मैने समस्त बाह्य कार्यों का त्याग कर दिया हूँ। जिस समय मैं निद्रा के वश होकर हो सो जाता हूँ; उस समय मन ही मन राम का ही स्मरण करता रहता हूँ ॥ २३ ॥

स्वप्नदृष्टिगतराघवं तदा बोधितो विगतनिद्र आस्थितः ।
तद्भवानपि विमुच्य चाग्रहं राघवं प्रति गृहं प्रयाहि भोः ॥ २४॥

रक्ष राक्षसकुलं चिरागतं तत्स्मृतौ सकलमेव नश्यति ।
तव हितं वदतो मम भाषितं परिगृहाण परात्मनि राघवह ।
त्यज विरोधमतिं भज भक्तितः परमकारुणिको रघुनन्दनः ॥२५॥

अहमशेषमिदं मुनिवाक्यतः अशृणवमादियुगे परमेश्वरः ।
ब्रह्मणार्थित उवाच तं हरिः किं तवहप्सितमहं करवाणि तत् ॥२६॥

ब्रह्मणोक्तमरविन्दलोचन त्वं प्रयाहि भुवि मानुषं वपुः ।
दशरथात्मजभावमञ्जसा जहि रिपुं दशकन्धरं हरे ॥ २७॥

इस प्रकार स्वप्न में देखे हुए श्रीरघुनाथजी को निद्रा टूटने पर जब मैं जागता हूँ तो भी नहीं भूलता। अत: हे रावण ! तुम भी श्रीराघव से हठ छोड़कर अपने घर को चले जाओ और पुराने समय से चल रहे अपने राक्षस-वंश की रक्षा करो तुम श्रीरामचन्द्रजी से वैर मत करो, उनका वैर भाव से स्मरण करने से सर्वस्व नष्ट हो जाता है। मैं तुम्हारे हित के लिये जो कुछ कहता हूँ उसे मानो। तुम परमात्मा श्रीरघुनाथजी से विरोध बुद्धि छोड़ दो और भक्तिभाव से उनका भजन करो, क्योंकि श्रीरामचन्द्रजी बड़े ही दयालु हैं। मुनीश्वरों के मुख से ये सभी बातें मैं सुनी हैं कि सत्ययुग में ब्रह्माजी के प्रार्थना पर परमात्मा श्रीहरि ने कहा था कि तुम्हारा मनोरथ क्या है जिसे मै पूर्ण करूँ। तब ब्रह्माजी भगवान से बोले-हे कमललोचन हरि! आप मनुष्य रूप से पृथिवी में अवतार लीजिए और शीघ्र ही दशरथ का पुत्र श्रीराम होकर देवद्रोही दशानन का वध कीजिये ॥ २४-२७॥

अतो न मानुषो रामः साक्षान्नारायणोऽव्ययः ।
मायामानुषवहषेण वनं यातोऽतिनिर्भयः ॥ २८॥

भूभारहरणार्थाय गच्छ तात गृहं सुखम् ।
श्रुत्वा मारीचवचनं रावणः प्रत्यभाषत ॥ २९॥

अत: तुम निश्चय समझो कि श्रीरामचन्द्र मनुष्य नहीं हैं; वह साक्षात् अव्यय-पुरुष श्रीनारायण है; माया-मानव होकर वे निर्भयता पूर्वक पृथिवी का भार उतारने के लिये वन में आये हैं। अत: हे तात ! तुम सुखपूर्वक घर को लौट जाओ। मारीच का यह कथन सुनकर रावण बोला ॥ २८-२९॥

परमात्मा यदा रामः प्रार्थितो ब्रह्मणा किल ।
मां हन्तुं मानुषो भूत्वा यत्नादिह समागतः ॥ ३०॥

करिष्यत्यचिरादेव सत्यसङ्कल्प ईश्वरः ।
अतोऽहं यत्नतः सीतामानेष्याम्येव राघवात् ॥ ३१॥

ब्रह्माजी की प्रार्थना से यदि परमात्मा ही श्रीराम होकर मनुष्यरूप से मुझे मारने के लिये प्रयत्न पूर्वक यहाँ आये हैं, तो शीघ्र ही वह वैसा ही करेंगे, क्योंकि ईश्वर सत्य संकल्प हैं। अत: मै यत्नपूर्वक अवश्य ही श्रीरघुनाथजी के पास से सीता को ले आऊंगा ॥ ३०-३१॥

वधे प्राप्ते रणे वीर प्राप्स्यामि परमं पदम् ।
यद्वा रामं रणे हत्वा सीतां प्राप्स्यामि निर्भयः ॥ ३२॥

हे वीर! युद्ध में यदि मैं उनके हाय मारा गया, तो अवश्य ही परमपद को प्राप्त करूँगा। यदि मैं ही रणक्षेत्र में श्रीराम को मार दूंगा तो निर्भयतापूर्वक सीता को पाऊँगा ॥ ३२ ॥

तदुत्तिष्ठ महाभाग विचित्रमृगरूपधृक् ।
रामं सलक्ष्मणं शीघ्रमाश्रमादतिदूरतः ॥ ३३॥

आक्रम्य गच्छ त्वं शीघ्रं सुखं तिष्ठ यथा पुरा ।
अतः परं चेद्यत्किञ्चिद्भाषसे मद्विभीषणम् ॥ ३४॥

हनिष्याम्यसिनानेन त्वामत्रैव न संशयः ।
मारीचस्तद्वचः श्रुत्वा स्वात्मन्येवान्वचिन्तयत् ॥ ३५॥

अत: हे महाभाग ! उठो और शीघ्र ही विचित्र मृग का रूप धारण कर श्रीराम और लक्ष्मण को आश्रम से अतिदूर ले जाओ। और पूर्ववत् अपने आश्रम में आकर सुखपूर्वक रहो। मुझे भयभीत करने के लिये तुम और कुछ यदि कहोगे तो अभी इसी खडग से तुम्हें यही मार डालूंगा। उसका यह कथन सुनकर मारीच मन ही मन सोचने लगा॥ ३३-३५॥

यदि मां राघवो हन्यात्तदा मुक्तो भवार्णवात् ।
मां हन्याद्यदि चेद्दुष्टस्तदा मे निरयो ध्रुवम् ॥ ३६॥

यदि रघुनाथजी मुझे मारेंगे तो मै संसार-सागर को पार कर लूंगा और कहीं इस दुष्ट मुझे यहीं मार दिया तो निश्चय ही मुझे नरक भोगना पड़ेगा ॥ ३६॥

इति निश्चित्य मरणं रामादुत्थाय वहगतः ।
अब्रवीद्रावणं राजन् करोम्याज्ञां तव प्रभो ॥ ३७॥

इस प्रकार श्रीराम के हाथ से अपने वध का निश्चय कर वह शीघ्रता से उठा और रावण से बोला-हे राजन् ! हे प्रभो! मै आपकी आज्ञा का पालन करूगा ॥३७ ॥

इत्युक्त्वा रथमास्थाय गतो रामाश्रमं प्रति ।
शुद्धजाम्बूनदप्रख्यो मृगोऽभूद्रौप्यबिन्दुकः ॥ ३८॥

वह ऐसा कहकर रावण के रथ पर चढ़कर श्रीरामचन्द्र के आश्रम के पास आया और चाँदी की बूंदो के सहित सुवर्णवर्ण युक्त विचित्र मृग-रूप का धारण किया ॥ ३८॥

रत्नशृङ्गो मणिखुरो नीलरत्नविलोचनः ।
विद्युत्प्रभो विमुग्धास्यो विचचार वनान्तरे ॥ ३९॥

रामाश्रमपदस्यान्ते सीतादृष्टिपथे चरन् ॥ ४०॥

उसके सींग रत्नमय, खुर मणिमय और नेत्र नील रत्नमय थे। इस प्रकार बिजली की छटा और मनोहर मुखवाला वह मृग श्रीरामचन्द्रजी के आश्रम के पास सीताजी के सामने वन में विचरण करने लगा ॥ ३९-४०॥

क्षणं च धावत्यवतिष्ठते क्षणं समीपमागत्य पुनर्भयावृतः ।
एवं स मायामृगवहषरूपधृक् चचार सीतां परिमोहयन् खलः ॥४१॥

किसी क्षण तो वह चौकड़ी मारता और कभी कभी पास आकर रूक जाता। और फिर भय से भागने लगता। इस प्रकार वह वञ्चक माया-मृग रूप धारणकर सीताजी को मोहित करता हुआ विचरण करने लगा ॥४१ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामयणे उमामहेश्वरसंवादे
अरण्यकाण्डे षष्ठः सर्गः ॥ ६॥

॥ सप्तमः सर्गः ॥

मारीचवध और सीताहरण

श्रीमहादेव उवाच
अथ रामोऽपि तत्सर्वं ज्ञात्वा रावणचेष्टितम् ।
उवाच सीतामेकान्ते शृणु जानकि मे वचः ॥ १॥

श्रीमहादेव जी बोले-हे पार्वति ! श्रीरामचन्द्रजी रावण की सम्पूर्ण चेष्टाओं को जानकर एकान्त में सीताजी से बोले हे जानकी! मेरी बात सुनो ॥ १॥

रावणो भिक्षुरूपेण आगमिष्यति तेऽन्तिकम् ।
त्वं तु छायां त्वदाकारां स्थापयित्वोटजे विश ॥ २॥

अग्नावदृश्यरूपेण वर्षं तिष्ठ ममाज्ञया ।
रावणस्य वधान्ते मां पूर्ववत्प्राप्स्यसे शुभे ॥ ३॥

हे शुभे! रावण तुम्हारे पास भिक्षुक का रूप धारण कर आयेगा। अतएव तुम अपनी आकृति की छाया को कुटी में छोड़कर अग्नि में मेरी आज्ञा से एक वर्ष तक अदृश्य होकर रहो। रावण का वध हो जाने के बाद पूर्ववत् तुम मझे प्राप्त कर लोगी ॥२-३॥

श्रुत्वा रामोदितं वाक्यं सापि तत्र तथाकरोत् ।
मायासीतां बहिः स्थाप्य स्वयमन्तर्दधेऽनले ॥ ४॥

श्रीरामचन्द्रजी की बात सुनकर सीताजी ने भी वैसा ही किया। वे माया-सीता को बाहर रखकर स्वयं अग्नि में अन्तर्धान हो गयीं ॥४॥

मायासीता तदाऽपश्यन्मृगं मायाविनिर्मितम् ।
हसन्ती राममभ्येत्य प्रोवाच विनयान्विता ॥ ५॥

तदनन्तर माया मयी सीता मायामृग को देखकर श्रीरामचन्द्रजी के पास हँसती हुई आकर नम्रतापूर्वक बोली ॥५॥

पश्य राम मृगं चित्रं कानकं रत्नभूषितम् ।
विचित्रबिन्दुभिर्युक्तं चरन्तमकुतोभयम् ।
बद्ध्वा देहि मम क्रीडामृगो भवतु सुन्दरः ॥ ६॥

हे राम ! यह रत्न-विभूषित सुवर्णमृग को देखिये । यह विचित्र बिन्दु युक्त कैसे निर्भयता पूर्वक विचरण कर रहा है ? हे प्रभो! इसे बाँधकर मुझे ला दीजिये, इसको मैं अपना क्रीडामृग बनाना चाहती हूँ ॥६॥

तथेति धनुरादाय गच्छन् लक्ष्मणमब्रवीत् ।
रक्ष त्वमतियत्नेन सीतां मत्प्राणवल्लभाम् ॥ ७॥

श्रीरामचन्द्रजी ने ऐसा ही हो, यह कह कर अपना धनुष उठा लिया और जाते हुए लक्ष्मण से बोले "हे लक्ष्मण ! तुम मेरी प्राणवल्लभा सीता की यत्नपूर्वक रक्षा करना ॥७॥

मायिनः सन्ति विपिने राक्षसा घोरदर्शनाः ।
अतोऽत्रावहितः साध्वीं रक्ष सीतामनिन्दिताम् ॥ ८॥

जंगल में देखने में बड़े भयङ्कर मायावी राक्षस हैं। अत: तुम अनिन्दिता साध्वी सीता की सावधानी पूर्वक रक्षा करना ॥८॥

लक्ष्मणो राममाहेदं देवायं मृगरूपधृक् ।
मारीचोऽत्र न सन्देह एवम्भूतो मृगः कुतः ॥ ९॥

तब लक्ष्मणजी श्रीरामचन्द्रजी से बोले-" हे देव ! यह मृग का रूप धारण किया हुआ निःसन्देह मारीच है, क्योंकि इस प्रकार का मृग कहाँ हो सकता है ? ॥ ९॥

श्रीराम उवाच
यदि मारीच एवायं तदा हन्मि न संशयः ।
मृगश्चेदानयिष्यामि सीताविश्रमहेतवह ॥ १०॥

तब श्रीरामचन्द्रजी बोले- यदि यह मारीच ही है तो निःसन्देह इसे मैं मार दूंगा; और यदि यह मृग है तो सीता के मन विश्राम के लिये इसे ले आऊँगा" ॥ १०॥

गमिष्यामि मृगं बद्ध्वा ह्यानयिष्यामि सत्वरः ।
त्वं प्रयत्नेन सन्तिष्ठ सीतासंरक्षणोद्यतः ॥ ११॥

मैं जाता हूँ और शीघ्र ही इस मृग को बाँधकर लाता हूँ, तुम प्रयत्न पूर्वक सीताजी की रखवाली करते हुए रहो ॥ ११॥

इत्युक्त्वा प्रययौ रामो मायामृगमनुद्रुतः ।
माया यदाश्रया लोकमोहिनी जगदाकृतिः ॥ १२॥

यह जगदाकृति लोक विमोहिनी माया जिनके आश्रित है, वे श्रीरामचन्द्रजी यह कहकर उस माया मृग के पीछे दौड़ते हुए चले गये ॥ १२॥

निर्विकारश्चिदात्मापि पूर्णोऽपि मृगमन्वगात् ।
भक्तानुकम्पी भगवानिति सत्यं वचो हरिः ॥ १३॥

वह निर्विकार, चिदात्मा और पूर्ण होकर भी मृग के पीछे-पीछे दौड़े। अतएव "भगवान् हरि भक्तवत्सल हैं", यह वाक्य सत्य ही है ॥ १३ ॥

कर्तुं सीताप्रियार्थाय जानन्नपि मृगं ययौ ।
अन्यथा पूर्णकामस्य रामस्य विदितात्मनः ॥ १४॥

मृगेण वा स्त्रिया वापि किं कार्यं परमात्मनः ॥ १५॥

भगवान् सब कुछ जानते हुए भी सीता को प्रसन्न करने के लिये मृग के पीछे दौड़े। अन्यथा पूर्णकाम आत्मज्ञ परमात्मा राम को मृग अथवा स्त्री से क्या प्रयोजन ? वह मृग कभी तो समीप दिखायी देता और कभी क्षण मात्र में ही दूर भागकर छिप जाता था ॥ १४-१५॥

कदाचिद् दृश्यतेऽभ्याशे क्षणं धावति लीयते ।
दृश्यते च ततो दूरादेवं राममपाहरत् ।
ततो रामोऽपि विज्ञाय राक्षसोऽयमिति स्फुटम् ॥ १६॥

विव्याध शरमादाय राक्षसं मृगरूपिणम् ।
पपात रुधिराक्तास्यो मारीचः पूर्वरूपधृक् ॥ १७॥

कभी बहुत दूर दिखायी देता, इस प्रकार वह श्रीरामचन्द्रजी को पञ्चवटी से बहुत दूर ले गया। तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजी यह जान लिये कि यह राक्षस ही है और उन्होंने मायामृग रूप राक्षस को बाण से बींध डाला। बाण के लगते ही मारीच अपना पूर्वरूप धारणकर रूधिर भरे मुख से पृथ्वी पर गिर पड़ा ॥ १६-१७॥

हा हतोऽस्मि महाबाहो त्राहि लक्ष्मण मां द्रुतम् ।
इत्युक्त्वा रामवद्वाचा पपात रुधिराशनः ॥ १८॥

वह रुधिरपान करने वाला राक्षस हे महाबाहो लक्ष्मण! मैं मारा गया, शीघ्र मेरी रक्षा करो; इस प्रकार श्री राम की वाणी में कहता हुआ गिर पड़ा ॥ १८॥

यन्नामाज्ञोऽपि मरणे स्मृत्वा तत्साम्यमाप्नुयात् ।
किमुताग्रे हरिं पश्यन्स्तेनैव निहतोऽसुरः ॥ १९॥

मरते समय जिनके नाम का स्मरण कर अज्ञ भी जिनमें लीन हो जाते हैं, उनको सामने देखते हुए और उन्हीं के हाथों से वध हुए, उस राक्षस के विषय में कहना ही क्या ? ॥ १९ ॥

तद्देहादुत्थितं तेजः सर्वलोकस्य पश्यतः ।
राममेवाविशद्देवा विस्मयं परमं ययुः ॥ २०॥

उसके शरीर से तेज निकल कर सबके देखते-देखते राम में समा गया यह देखकर देवता विस्मित हुए ॥ २०॥

किं कर्म कृत्वा किं प्राप्तः पातकी मुनिहिंसकः ।

अथवा राघवस्यायं महिमा नात्र संशयः ॥ २१॥

वह कहने लगे, इस मुनिजन हिंसक पापी निशाचर कैसा-कैसा कर्म किया और कैसी गति प्राप्त किया; अथवा निःसन्देह यह राघव की ही महिमा है ॥ २१ ॥

रामबाणेन संविद्धः पूर्वं राममनुस्मरन् ।
भयात्सर्वं परित्यज्य गृहवित्तादिकं च यत् ॥ २२॥

राम के बाण से विद्ध यह पहले से ही भय से गृह, धन आदि की लिप्सा को छोड़कर श्रीरामचन्द्रजी के स्मरण में लगा हुआ था ॥२२॥

हृदि रामं सदा ध्यात्वा निर्धूताशेषकल्मषः ।
अन्ते रामेण निहतः पश्यन् राममवाप सः ॥ २३॥

हृदय में सदा श्रीराम का ध्यान करने से सम्पूर्ण पाप रहित होने वाला यह अन्त में श्रीराम के बाण से मरकर इसने श्रीरामचन्द्र जी को ही प्राप्त कर लिया ॥ २३ ॥

द्विजो वा राक्षसो वापि पापी वा धार्मिकोऽपि वा ।
त्यजन् कलेवरं रामं स्मृत्वा याति परं पदम् ॥ २४॥

ब्राह्मण, राक्षस, पापी अथवा धार्मिक शरीर का त्याग करते समय श्रीराम का स्मरण करने से परम पद को प्राप्त करते हैं ॥ २४॥

इति तेऽन्योन्यमाभाष्य ततो देवा दिवं ययुः ॥ २५॥

रामस्तच्चिन्तयामास म्रियमाणोऽसुराधमः ।
हा लक्ष्मणेति मद्वाक्यमनुकुर्वन्ममार किम् ।
श्रुत्वा मद्वाक्यसदृशं वाक्यं सीतापि किं भवहत् ॥ २६॥

इस प्रकार परस्पर बातचीत करते हुए देवगण स्वर्गलोक चले गये। तब श्रीरामचन्द्रजी सोचने लगे कि यह अधम राक्षस हा लक्ष्मण! इस प्रकार मेरी बोली में कहकर प्राण क्यों छोड़ा ? मेरे वाक्यों को सुनकर सीताजी की क्या दशा होगी ? ॥ २५-२६ ।

इति चिन्तापरीतात्मा रामो दूरान्न्यवर्तत ॥ २७॥

सीता तद्भाषितं श्रुत्वा मारीचस्य दुरात्मनः ।
भीतातिदुःखसंविग्ना लक्ष्मणं त्विदमब्रवीत् ।
गच्छ लक्ष्मण वहगेन भ्राता तेऽसुरपीडितः ॥ २८॥

इस प्रकार चिन्ता करते हुए बड़े दूर से श्रीरामचन्द्रजी लौटने लगे। इधर उस मारीच का कहा हुआ शब्द सुनकर अत्यन्त भय और दुःख से व्याकुल हो सीताजी लक्ष्मण से इस प्रकार बोलीं-"लक्ष्मण ! तुम जल्दी जाओ, तुम्हारे भाई असुरों से पीड़ित हैं ॥ २७-२८ ॥

हा लक्ष्मणेति वचनं भ्रातुस्ते न शृणोषि किम् ।
तामाह लक्ष्मणो देवि रामवाक्यं न तद्भवहत् ॥ २९॥

हा लक्ष्मण ! अपने भाई का यह शब्द क्या तुम नहीं सुनते ? तब लक्ष्मणजी बोले-देवि ! यह वाक्य श्रीरामचन्द्रजी का नहीं है ॥ २९॥

यः कश्चिद्राक्षसो देवि म्रियमाणोऽब्रवीद्वचः ।
रामस्त्रैलोक्यमपि यः क्रुद्धो नाशयति क्षणात् ॥ ३०॥

किसी राक्षस ने मरते समय यह वाक्य कहा है। जो श्रीरामजी क्रोधित होने पर क्षणमात्र में ही त्रिलोकी को नष्ट कर सकते हैं ॥३०॥

स कथं दीनवचनं भाषतेऽमरपूजितः ।
क्रुद्धा लक्ष्मणमालोक्य सीता बाष्पविलोचना ॥ ३१॥

प्राह लक्ष्मण दुर्बुद्धे भ्रातुर्व्यसनमिच्छसि ।
प्रेषितो भरतेनैव रामनाशाभिकाङ्क्षिणा ॥ ३२॥

वह देवताओं से पूज्य प्रभु इस प्रकार दीन-वचन कैसे बोल सकते ? तत्पश्चात् नेत्रों में जलभर कर क्रोध पूर्वक लक्ष्मण के तरफ देखती हुई सीताजी बोली- रे लक्ष्मण ! क्या तू अपने भाई को विपत्ति में पड़ा हुआ देखना चाहता हो? अरे दुर्बुद्धे ! यह प्रतीत होता है कि राम का नाश चाहने वाला भरत ने ही तुझे भेजा है ॥३१-३२॥

मां नेतुमागतोऽसि त्वं रामनाश उपस्थिते ।
न प्राप्स्यसे त्वं मामद्य पश्य प्राणान्स्त्यजाम्यहम् ॥ ३३॥

राम का नाश हो जाने पर मुझे लेने के लिये ही तू आया है क्या ? किन्तु तुम मुझे प्राप्त नहीं कर सकोगे। देखो, मैं अभी प्राण त्याग देती हूँ ॥ ३३॥

न जानातीदृशं रामस्त्वां भार्याहरणोद्यतम् ।
रामादन्यं न स्पृशामि त्वां वा भरतमेव वा ॥ ३४॥

राम इस प्रकार पत्नीहरण के लिये उद्यत तुझे नहीं जानते, रामके अतिरिक्त तुम अथवा भरत में से किसी का मैं स्पर्श नहीं कर सकती ॥ ३४ ॥

इत्युक्त्वा वध्यमाना सा स्वबाहुभ्यां रुरोद ह ।
तच्छ्रुत्वा लक्ष्मणः कर्णौ पिधायातीव दुःखितः ॥ ३५॥

मामेवं भाषसे चण्डि धिक् त्वां नाशमुपैष्यसि ।
इत्युक्त्वा वनदेवीभ्यः समर्प्य जनकात्मजाम् ॥ ३६॥

ययौ दुःखातिसंविग्नो राममेव शनैः शनैः ।
ततोऽन्तरं समालोक्य रावणो भिक्षुवहषधृक् ॥ ३७॥

सीतासमीपमगमत् स्फुरद्दण्डकमण्डलुः ।
सीता तमवलोक्याशु नत्वा सम्पूज्य भक्तितः ॥ ३८॥

कन्दमूलफलादीनि दत्त्वा स्वागतमब्रवीत् ।
मुने भुङ्क्ष्व फलादीनि विश्रमस्व यथासुखम् ॥ ३९॥

इदानीमेव भर्ता मे ह्यागमिष्यति ते प्रियम् ।
करिष्यति विशेषेण तिष्ठ त्वं यदि रोचते ॥ ४०॥

यह कहकर अपने हाथों से छाती पीट-पीट कर रोने लगीं। सीता के ऐसे कठोर शब्द सुनकर लक्ष्मणजी ने अति दुःखित होकर अपने दोनों कान मूंद लिये और बोले-हे चण्डि ! तुमको धिक्कार है, मुझे इस प्रकार कह रही हो! इससे तुम नष्ट हो जाओगी। यह कहकर लक्ष्मणजी ने वन देवियों को सीताजी को सौंपकर दुःख के कारण

खिन्न मन से धीरे-धीरे राम के पास चले। इसी समय मौका देखकर रावण भिक्षुक का वेष धारण कर दण्ड-कमण्डल लिये सीता के पास आया। सीताजी उसे देखकर शीघ्र ही नमस्कार कर भक्तिपूर्वक उसका पूजन कर कन्द-मूल फल आदि देकर स्वागत करते हुए बोलीं- "हे मुने! यह फल आदि खाकर सुखपूर्वक विश्राम कीजिये। थोड़ी देर में ही मेरे पतिदेव आते होंगे। आपकी यदि इच्छा हो तो कुछ देर रुकिये। वे आपका कुछ विशेष आतिथ्य कर सकेंगे ॥ ३५-४०॥

भिक्षुरुवाच
का त्वं कमलपत्राक्षि को वा भर्ता तवानघे ।
किमर्थमत्र ते वासो वने राक्षससेविते ।
ब्रूहि भद्रे ततः सर्वं स्ववृत्तान्तं निवहदये ॥ ४१॥

भिक्षु बोला हे कमललोचने । तुम कौन हो? तुम्हारे पति कौन हैं? हे अनघे। इस राक्षस सेवित वन में तुम्हारा रहना कैसे है ? हे भद्रे! यह सब तुम मुझे बताओ, तब मै अपना वृत्तान्त बतलाऊँगा ॥ ४१ ॥

सीतोवाच
अयोध्याधिपतिः श्रीमान् राजा दशरथो महान् ।
तस्य ज्येष्ठः सुतो रामः सर्वलक्षणलक्षितः ॥ ४२॥

तस्याहं धर्मतः पत्नी सीता जनकनन्दिनी ।
तस्य भ्राता कनीयान्श्च लक्ष्मणो भ्रातृवत्सलः ॥ ४३॥

सीताजी बोलीं- हे भिक्षो! श्रीमान् महाराजदशरथ अयोध्या के राजा के ज्येष्ठ पुत्र सर्व लक्षण सम्पन्न श्रीराम हैं, मै जनकनन्दिनी सीता

उनकी धर्मपत्नी हूँ। उनका छोटा भाई लक्ष्मण भ्रातृवत्सल है ॥ ४२-४३ ॥

पितुराज्ञां पुरस्कृत्य दण्डके वस्तुमागतः ।
चतुर्दश समास्त्वां तु ज्ञातुमिच्छामि मे वद ॥ ४४॥

श्रीरामचन्द्रजी पिता की आज्ञा से चौदहवर्ष तक दण्डकारण्य में आये हैं। मै आपके विषय में जानना चाहती हूँ, मुझे बतलावें ॥४४॥

भिक्षुरुवाच
पौलस्त्यतनयोऽहं तु रावणो राक्षसाधिपः ।
त्वत्कामपरितप्तोऽहं त्वां नेतुं पुरमागतः ॥ ४५॥

भिक्षुक बोला-मैं पुलस्त्यनन्दन विश्वश्रवा का पुत्र राक्षसों का राजा रावण हूँ। तुम्हारे काम से पीडित होकर मैं तुम्हें अपनी राजधानी में ले जाने के लिये आया हूँ ॥४५॥

मुनिवहषेण रामेण किं करिष्यसि मां भज ।
भुङ्क्ष्व भोगान् मया सार्धं त्यज दुःखं वनोद्भवम् ॥ ४६॥

मुनिवेषधारी राम से तुम क्या करोगी? तुम मुझसे प्रेम करो और इस वनवास के दुःख को छोड़कर मेरे साथ विविध भोगों का भोग करो ॥ ४६ ॥

श्रुत्वा तद्वचनं सीता भीता किञ्चिदुवाच तम् ।
यद्येवं भाषसे मां त्वं नाशमेष्यसि राघवात् ॥ ४७॥

उसकी ये बातें सुनकर सीताजी कुछ डरते हुए उससे बोलीं-यदि तू मुझसे ऐसी बातें करेगा तो श्रीरामचन्द्रजी तुझे नष्ट कर देंगे ॥४७॥

आगमिष्यति रामोऽपि क्षणं तिष्ठ सहानुजः ।
मां को धर्षयितुं शक्तो हरेर्भार्यां शशो यथा ॥ ४८॥

तू क्षणभर ठहर, भाई के साथ श्रीरामजी आते ही होंगे। मुझे कौन मेरी इच्छा के विरुद्ध ले जा सकता? सिंहनी को क्या खरहा उसकी इच्छा के विरुद्ध ले जा सकता? ॥४८॥

रामबाणैर्विभिन्नस्त्वं पतिष्यसि महीतले ॥ ४९॥

इति सीतावचः श्रुत्वा रावणः क्रोधमूर्च्छितः ।
स्वरूपं दर्शयामास महापर्वतसन्निभम् ।
दशास्यं विंशतिभुजं कालमेघसमद्युतिम् ॥ ५०॥

राम के बाणों से छिन्न-भिन्न तू जमीन पर गिरेगा। इस प्रकार सीता का वचन सुनकर क्रोध से मूर्छित रावण ने महापर्वत के समान अपना स्वरूप दिखाया; दशमुख, बीस भुजाएँ तथा काले मेघ के समान उसकी कान्ति थी॥ ४९-५०॥

तद्दृष्ट्वा वनदेव्यश्च भूतानि च वितत्रसुः ।
ततो विदार्य धरणीं नखैरुद्धृत्य बाहुभिः ॥ ५१॥

तोलयित्वा रथे क्षिप्त्वा ययौ क्षिप्रं विहायसा ।
हा राम हा लक्ष्मणेति रुदती जनकात्मजा ॥ ५२॥

भयोद्विग्नमना दीना पश्यन्ती भुवमेव सा ।
श्रुत्वा तत्क्रन्दितं दीनं सीतायाः पक्षिसत्तमः ॥ ५३॥

जटायुरुत्थितः शीघ्रं नगाग्रात्तीक्ष्णतुण्डकः ।
तिष्ठ तिष्ठेति तं प्राह को गच्छति ममाग्रतः ॥ ५४॥

मुषित्वा लोकनाथस्य भार्यां शून्याद्वनालयात् ।
शुनको मन्त्रपूतं त्वं पुरोडाशमिवाध्वरे ॥ ५५॥

उस समय उस भयंकर रूप को देखकर वन देवियाँ और वन में रहने वाले जीव भयभीत हो गये। तब रावण सीताजी के पैरों के नीचे की जमीन को नखों से खोदकर' सीताजी को अपने हाथों से उठा लिया और रथ में रखकर शीघ्र आकाश मार्ग से चल दिया। उस समय सीताजी अति भयभीत होकर कातर-दृष्टि से पृथिवी की ओर देखती हुई "हा राम! हा लक्ष्मण ! यह कहकर रोने लगीं। सीताजी का वह आर्त क्रन्दन सुनकर शीघ्र ही तीक्ष्ण चोंचवाला पक्षी श्रेष्ठ जटायु पहाड़ की चोटी पर से उडा और बोला-"अरे ! ठहर, ! ठहर, यज्ञ के मन्त्रपूत पुरोडाश को ले जाने वाले कुत्ते की भाँति तू मेरे सामने जगन्नाथ श्रीरघुनाथजी की भार्या को ले जाता है ? ॥ ५१-५५ ॥

इत्युक्त्वा तीक्ष्णतुण्डेन चूर्णयामास तद्रथम् ।
वाहान् बिभेद पादाभ्यां चूर्णयामास तद्धनुः ॥ ५६॥

यह कहकर जटायु ने अपनी तीक्ष्णचोंच से रावण के रथ को चूर-चूर कर दिया और अपने पंजों से घोड़ों को मारकर उसके धनुष के टुकड़े-टुकड़े कर दिया ॥ ५६ ॥

ततः सीतां परित्यज्य रावणः खड्गमाददे ।
चिच्छेद पक्षौ सामर्षः पक्षिराजस्य धीमतः ॥ ५७॥

तब सीताजी को छोड़कर रावण अपना खड्ग निकाला और अत्यंत क्रोधित होकर मतिमान् जटायु के पँख काट दिए ॥५७॥

पपात किञ्चिच्छेषेण प्राणेन भुवि पक्षिराट् ।
पुनरन्यरथेनाशु सीतामादाय रावणः ॥ ५८॥

पँख कट जाने पर पक्षिराज जटायु अधमरा हो पृथिवी पर गिर पड़ा और ततक्षण रावण सीताजी को दूसरे रथ पर चढ़ाकर चल दिया ॥ ५८ ॥

क्रोशन्ती रामरामेति त्रातारं नाधिगच्छति ।
हा राम हा जगन्नाथ मां न पश्यसि दुःखिताम् ॥ ५९॥

उस समय किसी रक्षक को न देखकर वह सीता बारम्बार श्रीराम को पुकारती हुई रो-रोकर कह रही थीं-हा राम! हा जगन्नाथ ! क्या आप मुझ दुःखिनी को देखते नहीं है ? ॥ ५९॥

रक्षसा नीयमानां स्वां भार्यां मोचय राघव ।
हा लक्ष्मण महाभाग त्राहि मामपराधिनीम् ॥ ६०॥

हे राघव ! आपकी स्त्री को राक्षस ले जाता है। आप छुड़ाइये। हा महाभाग लक्ष्मण ! मुझ अपराधिनी की तुम रक्षा करो ॥ ६०॥

वाक्शरेण हतस्त्वं मे क्षन्तुमर्हसि देवर ।

इत्येवं क्रोशमानां तां रामागमनशङ्कया ॥ ६१॥

जगाम वायुवहगेन सीतामादाय सत्वरः ॥ ६२॥

विहायसा नीयमाना सीतापश्यदधोमुखी ।
पर्वताग्रे स्थितान् पञ्च वानरान् वारिजानना ।
उत्तरीयार्धखण्डेन विमुच्याभरणादिकम् ॥ ६३॥

बद्ध्वा चिक्षेप रामाय कथयन्त्विति पर्वते ॥ ६४॥

ततः समुद्रमुल्लङ्घ्य लङ्कां गत्वा स रावणः ।
स्वान्तःपुरे रहस्ये तामशोकविपिनेऽक्षिपत् ।
राक्षसीभिः परिवृतां मातृबुद्ध्यान्वपालयत् ॥ ६५॥

हे देवर ! मैंने तुम्हें कठोर वाणी रूपी बाण से मारा था, तुम मुझे क्षमा करना। सीताजी के इस प्रकार रुदन करने से राम के आने की आशंका से वायु के समान अति तीव्र वेग से सीताजी को लेकर रावण चलने लगा। इस प्रकार आकाश मार्ग से जाते हुए नीचे की ओर देखती हुई कमल के समान मुखवाली सीताजी एक पर्वत के शिखर पर पाँच वानरों को बैठे देखा। यह देखकर य्होने अपना आभूषणादि उतारकर अपने दुपट्टे के टुकड़े में बाँधा और यह वानर राम को मेरा समाचार सुनाएं, इस आशय से पर्वत पर फेंक दिया । तब रावण समुद्र पार कर लंका में पहुंचकर अपने अन्तः पुर के एकान्त देस्थान अशोक वाटिका में सीताजी को रखा और राक्षसियों से घेरे में रखकर मातृबुद्धि से उनकी रक्षा करने लगा ॥ ६१-६५ ॥

कृशाऽतिदीना परिकर्मवर्जिता

दुःखेन शुष्यद्वदनाऽतिविह्वला ।
हा राम रामेति विलप्यमाना
सीता स्थिता राक्षसवृन्दमध्ये ॥ ६६॥

उस स्थान में अतिकश दीनवदना सीताजी सब प्रकार के श्रृंगारों को छोड़कर दुःख के कारण शुष्क वदन और अत्यन्त विह्वल होकर हा राम । हा राम ! यह विलाप करती हुई राक्षसों के मध्य रहने लगीं ॥ ६६ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामयणे उमामहेश्वरसंवादे
अरण्यकाण्डे सप्तमः सर्गः ॥ ७॥

॥ अष्टमः सर्गः ॥

सीताजी के वियोग में भगवान राम का विलाप और जटायु से भेंट

श्रीमहादेव उवाच
रामो मायाविनं हत्वा राक्षसं कामरूपिणम् ।
प्रतस्थे स्वाश्रमं गन्तुं ततो दूराद्ददर्श तम् ॥ १॥

आयान्तं लक्ष्मणं दीनं मुखेन परिशुष्यता ।
राघवश्चिन्तयामास स्वात्मन्येव महामतिः ॥ २॥

श्री महादेवजी बोले- श्रीरामचन्द्रजी ने कामरूप धारण करने वाले मायावी राक्षस को मारकर जब अपने आश्रम पर आने के लिए प्रस्थान किया तो उन्होंने दूर से ही दीन तथा उदास मुख किये हुए लक्ष्मण जी को आते हुए देखा तब मन में ही महामति श्रीरघुनाथजी विचार करने लगे ॥ १-२॥

लक्ष्मणस्तन्न जानाति मायासीतां मया कृताम् ।
ज्ञात्वाप्येनं वञ्चयित्वा शोचामि प्राकृतो यथा ॥ ३॥

मैंने मायारूप सीता की रचना कर उसे पंचवटी में स्थापित किया है, यह लक्ष्मण नहीं जानते। मैं जानकर भी लक्ष्मण से यह बात गुप्त रखकर साधारण मनुष्य की तरह शोक करूँगा ॥ ३॥

यद्यहं विरतो भूत्वा तूष्णीं स्थास्यामि मन्दिरे ।
तदा राक्षसकोटीनां वधोपायः कथं भवहत् ॥ ४॥

यदि मै विरत होकर चुप-चाप अपने घर में बैठ जाऊँगा तो करोड़ों राक्षसों के वध का उपाय कैसे होगा? ॥ ४॥

यदि शोचामि तां दुःखसन्तप्तः कामुको यथा ।
तदा क्रमेणानुचिन्वन् सीतां यास्येऽसुरालयम् ।
रावणं सकुलं हत्वा सीतामग्नौ स्थितां पुनः ॥ ५॥

मयैव स्थापितां नीत्वा यातायोध्यामतन्द्रितः ॥ ६॥

अहं मनुष्यभावहन जातोऽस्मि ब्रह्मणार्थितः ।
मनुष्यभावमापन्नः किञ्चित्कालं वसामि कौ ।
ततो मायामनुष्यस्य चरितं मेऽनुशृण्वताम् ॥ ७॥

मुक्तिः स्यादप्रयासेन भक्तिमार्गानुवर्तिनाम् ।
निश्चित्यैवं तदा दृष्ट्वा लक्ष्मणं वाक्यमब्रवीत् ॥ ८॥

यदि उस सीता के लिये कामी पुरुष की भाँति दःखातुर होकर शोक करूंगा तो क्रमशः सीता की खोज करता हुआ राक्षसराज रावण के यहाँ पहुंचकर उसे कुल सहित मारकर पुनः अग्नि में स्थापित की हुई सीता का अग्नि से निकालकर शीघ्र ही अयोध्या को चला जाऊँगा। मैंने ब्रह्मा की प्रार्थना से मनुष्यावतार लिया है अत: कुछ समय तक पृथ्वी पर ही मनुष्य भाव से रहूँगा। इससे मुझ माया से मनुष्य रूप धारण करने वाले के चरित्रों को सुनने वाले भक्तिमार्ग में लगे हुए प्राणियों की मुक्ति बिना प्रयास के ही हो जाएगी। इस प्रकार निश्चय कर श्रीराम चन्द्रजी लक्ष्मण की ओर देखकर बोले ॥५-८॥

किमर्थमागतोऽसि त्वं सीतां त्यक्त्वा मम प्रियाम् ।

नीता वा भक्षिता वापि राक्षसैर्जनकात्मजा ॥ ९॥

लक्ष्मण ! तुम मेरी प्रिया सीता को छोड़कर कैसे आ गये ! अब तो सीता का या तो राक्षसगणों ने हरण कर लिया होगा अथवा भक्षण कर लिया होगा ॥९॥

लक्ष्मणः प्राञ्जलिः प्राह सीताया दुर्वचो रुदन् ।
हा लक्ष्मणेति वचनं राक्षसोक्तं श्रुतं तया ॥ १०॥

त्वद्वाक्यसदृशं श्रुत्वा मां गच्छेति त्वराब्रवीत् ।
रुदन्ती सा मया प्रोक्ता देवि राक्षसभाषितम् ।
नेदं रामस्य वचनं स्वस्था भव शुचिस्मिते ॥ ११॥

यह सुनकर लक्ष्मणजी ने हाथ जोड़कर, रोते हुए, सीता जी द्वारा कहे हुए दुर्वाक्यों को कह दिया। लक्ष्मणजी बोले-"हा लक्ष्मण !" यह आपके वाक्य के समान ही राक्षस का वाक्य सुनकर सीताजी मुझसे बोलों कि तुम शीघ्र ही जाओ। तब मैंने रोती हुई सीताजी को समझाया कि हे देवि ! यह राक्षस का शब्द है। हे शुचिस्मते! आप निश्चिन्त रहें ॥१०-११॥

इत्येवं सान्त्विता साध्वी मया प्रोवाच मां पुनः ।
यदुक्तं दुर्वचो राम न वाच्यं पुरतस्तव ॥ १२॥

इस प्रकार उनसे कहने पर भी साध्वी सीता मुझसे जो दुर्वचन कहें हैं, हे भगवन् ! वह आपके सामने कहने योग्य नहीं हैं ॥१२॥

कर्णौ पिधाय निर्गत्य यातोऽहं त्वां समीक्षितुम् ।

रामस्तु लक्ष्मणं प्राह तथाप्यनुचितं कृतम् ॥ १३॥

अत: मै अपने कानों को बन्द करके वहाँ से आपका कुशल जानने के लिये चला आया हूँ। यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजी बोले-हे लक्ष्मण ! यह तुमने अनुचित कार्य किया ॥ १३ ॥

त्वया स्त्रीभाषितं सत्यं कृत्वा त्यक्ता शुभानना ।
नीता वा भक्षिता वापि राक्षसैर्नात्र संशयः ॥ १४॥

तुम स्त्री की बात को सत्य मानकर शुभानना सीता को छोड़ कर आ गए। अब या तो सीता का राक्षसों ने हरण कर लिया होगा अथवा भक्षण कर लिया होगा ॥१४॥

इति चिन्तापरो रामः स्वाश्रमं त्वरितो ययौ ।
तत्रादृष्ट्वा जनकजां विललापातिदुःखितः ॥ १५॥

इस प्रकार चिन्तित होकर श्रीरामचन्द्रजी अति शीघ्रता से अपने आश्रम में आए। और वहाँ जानकी को न पाकर अति दुखी होकर विलाप करने लगे ॥१५॥

हा प्रिये क्व गतासि त्वं नासि पूर्ववदाश्रमे ।
अथवा मद्विमोहार्थं लीलया क्व विलीयसे ॥ १६॥

हा प्रिये ! तुम कहाँ चली गयी ? तुम पूर्व की भाँति आश्रम में दिखायी नही दे रही हो; अथवा हमें मोहित करने के लिये लीला से कहीं छिप गयी हो ? ॥१६॥

इत्याचिन्वन् वनं सर्वं नापश्यज्जानकीं तदा ।
वनदेव्यः कुतः सीतां ब्रुवन्तु मम वल्लभाम् ॥ १७॥

मृगाश्च पक्षिणो वृक्षा दर्शयन्तु मम प्रियाम् ।
इत्येवं विलपन्नेव रामः सीतां न कुत्रचित् ॥ १८॥

इस तरह विलाप करते हुए उन्होंने सम्पूर्ण वन में सीता जी को खोजा, परन्तु जानकी जी कहीं भी दिखायी नहीं दीं। तत्पश्चात् वह कहने लगे हे वनदेवियों! यह बताओ कि मेरी प्राणवल्लभा सीता कहाँ हैं? अरे मृग, पक्षी और वृक्षों तुम मेरी प्रिया को दिखाओ। इस तरह विलाप करते हुए सर्वज्ञ श्रीरघुनाथजी ने सीता को कहीं नहीं पाया ॥१७-१८॥

सर्वज्ञः सर्वथा क्वापि नापश्यद्रघुनन्दनः ।
आनन्दोऽप्यन्वशोचत्तामचलोऽप्यनुधावति ॥ १९॥

निर्ममो निरहङ्कारोऽप्यखण्डानन्दरूपवान् ।
मम जायेति सीतेति विललापातिदुःखितः ॥ २०॥

भगवान् राम ने आनन्दस्वरूप होकर भी सीताजी के लिये शोक किया; निश्चल होकर भी उनको खोजते हुए यत्र-तत्र दौड़ते रहे। और ममता तथा अहङ्कार से शून्य अखण्डानन्द-स्वरूप होकर भी अत्यन्त दुःखित होकर मेरी जानकी! सीता! यह कहकर विलाप करते रहे ॥१९-२०॥

एवं मायामनुचरन्नसक्तोऽपि रघूत्तमः ।
आसक्त इव मूढानां भाति तत्त्वविदां न हि ॥ २१॥

इस प्रकार माया का अनुसरण करते हुए श्रीरघुनाथजी आसक्ति से रहित होते हुए भी मूढ़ जनों को आसक्त जैसा प्रतीत हो रहे हैं, परन्तु तत्त्वज्ञानियों को इस प्रकार का भ्रम नहीं होता था ॥२१॥

एवं विचिन्वन् सकलं वनं रामः सलक्ष्मणः ।
भग्नं रथं छत्रचापं कूबरं पतितं भुवि ॥ २२॥

दृष्ट्वा लक्ष्मणमाहेदं पश्य लक्ष्मण केनचित् ।
नीयमानां जनकजां तं जित्वान्यो जहार ताम् ॥ २३॥

इस तरह लक्ष्मण के साथ श्रीरामचन्द्रजी द्वारा सम्पूर्ण वन में सीता जी को खोजते हुए जमीन पर टूटे रथ, क्षत्र, धनुष और कुबर को पड़े हुए देखा। उन्हें देखकर श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मण से बोले-हे लक्ष्मण! यहाँ देखो, सीताजी को हरण कर ले जाते हुए कोई अन्य ही युद्ध में जीतकर उन्हें हरण कर ले गया है ॥२२-२३॥

ततः कञ्चिद्भुवो भागं गत्वा पर्वतसन्निभम् ।
रुधिराक्तवपुर्दृष्ट्वा रामो वाक्यमथाब्रवीत् ॥ २४॥

और कुछ दूर जाने पर एक पर्वत के समान शरीर को खून से लथ-पथ देखकर श्रीरामचन्द्रजी बोले-॥२४॥

एष वै भक्षयित्वा तां जानकीं शुभदर्शनाम् ।
शेते विविक्तेऽतितृप्तः पश्य हन्मि निशाचरम् ॥ २५॥

निःसन्देह यही शुभदर्शना सीता को खाकर तृप्त होकर यहाँ एकान्त में सो रहा है। मैं इस राक्षस को अभी मार देता हूँ ॥२५॥

चापमानय शीघ्रं मे बाणं च रघुनन्दन ।
तच्छ्रुत्वा रामवचनं जटायुः प्राह भीतवत् ॥ २६॥

हे रघुनन्दन लक्ष्मण ! शीघ्र ही मेरा धनुषबाण लाओ । राम की यह उक्ति सुनकर भयभीत होकर जटायु बोला ॥२६॥

मां न मारय भद्रं ते म्रियमाणं स्वकर्मणा ।
अहं जटायुस्ते भार्याहारिणं समनुद्रुतः ॥ २७॥

रावणं तत्र युद्धं मे बभूवारिविमर्दन ।
तस्य वाहान् रथं चापं छित्त्वाहं तेन घातितः ॥ २८॥

पतितोऽस्मि जगन्नाथ प्राणान्स्त्यक्ष्यामि पश्य माम् ।
तच्छ्रुत्वा राघवो दीनं कण्ठप्राणं ददर्श ह ॥ २९॥

हस्ताभ्यां संस्पृशन् रामो दुःखाश्रुवृतलोचनः ॥ ३०॥

मैं अपने ही कर्म से मर रहा हूँ; आप मुझे न मारें, आपका कल्याण हो। मैं जटायु नामक गृध्र हूँ। मैंने आपकी भार्या सीता का हरण करके ले जाते हुए रावण का पीछा किया और उसका रथ, धनुष तोड़ दिया और घोड़े मार दिए; परन्तु उसने मुझे घायल कर दिया जिससे मैं घायल होकर यहाँ पड़ा हूँ। हे जगन्नाथ ! आप मेरी ओर देखिये, मैं अब अपने प्राणों को छोड़ना चाहता हूँ। यह सुनकर श्रीरघुनाथजी ! उनके पास जाकर उसे कण्ठगतप्राण और अति दीन अवस्था में पड़े देखा। तत्पश्चात् वह आँखों में आँसू भरकर उस पर हाथ फेरते हुए बोले ॥२७-३०॥

जटायो ब्रूहि मे भार्या केन नीता शुभानना ।
मत्कार्यार्थं हतोऽसि त्वमतो मे प्रियबान्धवः ॥ ३१॥

हे जटायु ! मेरी सुमुखी भार्या सीता को कौन ले गया है ? उसे बताओ। अहो! तुम मेरे कार्य के लिये मारे गये। अत: अवश्य ही तुम मेरे प्रिय-बन्धु हो" ॥३१॥

जटायुः सन्नया वाचा वक्त्राद्रक्तं समुद्वमन् ।
उवाच रावणो राम राक्षसो भीमविक्रमः ॥ ३२॥

आदाय मैथिलीं सीतां दक्षिणाभिमुखो ययौ ।
इतो वक्तुं न मे शक्तिः प्राणान्स्त्यक्ष्यामि तेऽग्रतः ॥ ३३॥

जटायु रक्त वमन करते हुए अस्फुट वाणी में बोला-“हे राम! महापराक्रमी राक्षसराज रावण मैथिली सीता को दक्षिण दिशा में ले गया है। इससे अधिक कहने की मुझमें शक्ति नहीं है आपके सामने मैं अभी अपने प्राणों का त्याग करना चाहता हूँ ॥३२-३३॥

दिष्ट्या दृष्टोऽसि राम त्वं म्रियमाणेन मेऽनघ ।
परमात्मासि विष्णुस्त्वं मायामनुजरूपधृक् ॥ ३४॥

हे राम ! आज बड़े भाग्य से मरते समय आपको मैं देख पा रहा हूँ। हे अनघ! आप माया-मानव रूप में अवतरित साक्षात् परमात्मा विष्णु ही हैं ॥३४॥

अन्तकालेऽपि दृष्ट्वा त्वां मुक्तोऽहं रघुसत्तम ।
हस्ताभ्यां स्पृश मां राम पुनर्यास्यामि ते पदम् ॥ ३५॥

हे रघुश्रेष्ठ! मैं तो अपने अन्तिम समय में आपका दर्शन करने से ही मुक्त हो गया, परन्तु आप मुझे अपने कर कमलों से स्पर्श कीजिए; पुनः आपका परमपद मैं प्राप्त करूँगा ॥३५॥

तथेति रामः पस्पर्श तदङ्गं पाणिना स्मयन् ।
ततः प्राणान् परित्यज्य जटायुः पतितो भुवि ॥ ३६॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजी ने मुस्कुराते हुए बहुत अच्छा यह कहकर उसका शरीर अपने कर कमलों से स्पर्श किया। तब जटायु अपना प्राण छोड़कर पृथ्वी पर गिर पड़ा ॥३६॥

रामस्तमनुशोचित्वा बन्धुवत् साश्रुलोचनः ।
लक्ष्मणेन समानाय्य काष्ठानि प्रददाह तम् ॥३७॥

तब श्रीरामचन्द्र जी सजल नेत्र हो उसके लिये अपने बन्धुवर्ग के समान शोक करते हुए लक्ष्मण से लकड़ियों को एकत्रित करवाकर उसका दाह-संस्कार किया ॥३७॥

स्नात्वा दुःखेन रामोऽपि लक्ष्मणेन समन्वितः ।
हत्वा वने मृगं तत्र मांसखण्डान् समन्ततः ॥ ३८॥

शाद्वले प्राक्षिपद्रामः पृथक् पृथगनेकधा ।
भक्षन्तु पक्षिणः सर्वे तृप्तो भवतु पक्षिराट् ॥ ३९॥

इत्युक्त्वा राघवः प्राह जटायो गच्छ मत्पदम् ।
मत्सारूप्यं भजस्वाद्य सर्वलोकस्य पश्यतः ॥ ४०॥

श्रीरामचन्द्रजी बोले- हे जटायु ! तुम मेरे परमपद को जाओ और आज सबके देखते-देखते मेरा सारूप्य प्राप्त करो ॥४०॥

ततोऽनन्तरमेवासौ दिव्यरूपधरः शुभः ।
विमानवरमारुह्य भास्वरं भानुसन्निभम् ॥ ४१॥

तब वह जटायु शीघ्र ही सुन्दर दिव्य शरीर धारण कर सूर्य के समान देदीप्यमान एक विमान पर आरूढ़ हुआ ॥४१॥

शङ्खचक्रगदापद्मकिरीटवरभूषणैः ।
द्योतयन् स्वप्रकाशेन पीताम्बरधरोऽमलः ॥ ४२॥

उस समय वह सुन्दर पीताम्बर धारण किये शंख, चक्र, गदा, पद्म और किरीट आदि श्रेष्ठ आभषणों से विभूषित अपने प्रकाश से प्रकाशित कर रहा था ॥४२॥

चतुर्भिः पार्षदैर्विष्णोस्तादृशैरभिपूजितः ।
स्तूयमानो योगिगणैः राममाभाष्य सत्वरः ।
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा तुष्टाव रघुनन्दनम् ॥ ४३॥

उसी प्रकार के भगवान् विष्णु के चार पार्षद उसकी स्तुति कर रहे थे और योगिजन उसकी स्तुति कर रहे थे। तब वह श्रदधा के साथ हाथ जोड़कर श्रीरघुनाथजी की स्तुति करने लगा ॥४३॥

जटायुरुवाच
अगणितगुणमप्रमेयमाद्यं सकलजगत्स्थितिसंयमादिहेतुम् ।
उपरमपरमं परात्मभूतं सततमहं प्रणतोऽस्मि रामचन्द्रम् ॥ ४४॥

जटायु बोला-जो अगणित गुण सम्पन्न, अप्रमेय जगत के आदिकारण और उसकी स्थिति लय के आदि कारण हैं, उन परम शान्त स्वरूप परमात्मा श्रीराम चन्द्रजी को मैं निरन्तर प्रणाम करता हूँ ॥४४।

निरवधिसुखमिन्दिराकटाक्षं क्षपितसुरेन्द्रचतुर्मुखादिदुःखम् ।
नरवरमनिशं नतोऽस्मि रामं वरदमहं वरचापबाणहस्तम् ॥ ४५॥

जो असीम आनन्दमय और श्रीकमलादेवी के कटाक्ष के आश्रय हैं, जो ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवताओं का दुःख दूर करने वाले हैं, उन धनुष-बाण धारण करने वाले वरदायक मनुष्यों में श्रेष्ठ भगवान् श्रीरामचन्द्रजी को मैं अहर्निश प्रणाम करता हूँ ॥४५॥

त्रिभुवनकमनीयरूपमीड्यं रविशतभासुरमीहितप्रदानम् ।
शरणदमनिशं सुरागमूले कृतनिलयं रघुनन्दनं प्रपद्ये ॥ ४६॥

त्रिलोकी में जो सबसे अधिक रूपवान् , स्तुत्य, सैकड़ों सूर्यों के समान तेजस्वी तथा अभिलषित फल देने वाले हैं, उन शरद पद और प्रेमी हृदय में रहने वाले श्रीरघुनाथजी की मैं अहर्निश शरण ग्रहण करता हूँ॥४६॥

भवविपिनदवाग्निनामधेयं भवमुखदैवतदैवतं दयालुम् ।
दनुजपतिसहस्रकोटिनाशं रवितनयासदृशं हरिं प्रपद्ये ॥ ४७॥

जिनका नाम संसाररूप वन के लिये दावाग्नि के समान है, जो महादेव आदि देवताओं के भी देव हैं तथा जो करोड़ों दानवेन्द्रों का दमन करने वाले और श्रीयमुनाजी के समान श्याम वर्ण वाले हैं, उन दयामय श्रीहरि का मैं शरणागत हूँ ॥४७॥

अविरतभवभावनातिदूरं भवविमुखैर्मुनिभिः सदैव दृश्यम् ।
भवजलधिसुतारणाङ्घ्रिपोतं शरणमहं रघुनन्दनं प्रपद्ये ॥ ४८॥

संसार में हमेशा वासना रखने वाले पुरुषों से जो अत्यन्त दूर और संसार से विरत मुनियों को सदैव दृष्टिगोचर रहते हैं, जिनके चरणारविन्द रूप जहाज संसार सागर से पार करने वाले हैं; उन श्रीरघुनाथजी का मैं शरण ग्रहण करता हूँ ॥४८॥

गिरिशगिरिसुतामनोनिवासं गिरिवरधारिणमीहिताभिरामम् ।
सुरवरदनुजेन्द्रसेविताङ्घ्रिं सुरवरदं रघुनायकं प्रपद्ये ॥ ४९॥

जो श्रीमहादेवजी और पार्वती जी के मन में निरन्तर निवास करते हैं, जिनका चरित्र अत्यन्त मनोहर है और देव तथा असुरपतिगण जिनके चरणारविन्द की सेवा करते हैं, उन गिरिवर धारी देवताओं को वर देने वाले श्रीरघुनाथजी का मैं शरणागत हूँ ॥४९॥

परधनपरदारवर्जितानां परगुणभूतिषु तुष्टमानसानाम् ।
परहितनिरतात्मनां सुसेव्यं रघुवरमम्बुजलोचनं प्रपद्ये ॥ ५०॥

जो दूसरे का धन और पर स्त्री से हमेशा दूर रहते हैं तथा दूसरों के गुण और दूसरों के ऐश्वर्य को देखकर प्रसन्न रहते हैं उन निरन्तर

परोपकार-परायण महात्माओं से सुसेवित कमललोचन श्रीरघुनाथ जी की मैं शरण ग्रहण करता हूँ ॥५०॥

स्मितरुचिरविकासिताननाब्जमतिसुलभं सुरराजनीलनीलम् ।
सितजलरुहचारुनेत्रशोभं रघुपतिमीशगुरोर्गुरुं प्रपद्ये ॥ ५१॥

जिनका मुखारविन्द मधुर मुसकान से सुशोभित हो रहा है, जो भक्तों के लिये अति सुलभ हैं, जिनके शरीर की आभा इन्द्रनीलमणि के समान सुन्दर नीलवर्ण की है, जिनके मनोहर नेत्र श्वेत कमल की शोभा वाले हैं; उन महादेवजी के परमगुरु श्रीरघुनाथजी का मैं शरण ग्रहण करता हूँ ॥५१॥

हरिकमलजशम्भुरूपभेदात्त्वमिह विभासि गुणत्रयानुवृत्तः ।
रविरिव जलपूरितोदपात्रेष्वमरपतिस्तुतिपात्रमीशमीडे ॥ ५२॥

जलपूर्ण विविध पात्रों में प्रतिबिम्बित होने वाले सूर्य की भाँति सत्त्व, रज और तम इन गुणों से सम्बद्धित होकर आप विष्णु, ब्रह्मा और शंकरजी के रूप में भासित होते हैं। देवराज इन्द्र से स्तुल्य परमेश्वर स्वरूप आपकी मैं स्तुति करता हूँ ॥५२॥

रतिपतिशतकोटिसुन्दराङ्गं शतपथगोचरभावनाविदूरम् ।
यतिपतिहृदये सदा विभातं रघुपतिमार्तिहरं प्रभुं प्रपद्ये ॥ ५३॥

आपका दिव्य शरीर करोड़ों कामदेव से भी अधिक सुन्दर है, सैकड़ों मार्गों में फंसे हुए लोगों से आप अत्यन्त दूर और यतिपति के हृदय में आप हमेशा भासमान हैं। इस प्रकार आर्त्तजनों का दुःख दूर करने वाले प्रभु श्रीरघुनाथजी का मैं शरण ग्रहण करता हूँ ॥५३॥

इत्येवं स्तुवतस्तस्य प्रसन्नोऽभूद्रघूत्तमः ।
उवाच गच्छ भद्रं ते मम विष्णोः परं पदम् ॥ ५४॥

इस प्रकार जटायु की स्तुति से प्रसन्न होकर श्रीरघुनाथजी जटायु से बोले-"हे जटायु ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम मेरे परमधाम विष्णुलोक में जाओ॥५४॥

शृणोति य इदं स्तोत्रं लिखेद्वा नियतः पठेत् ।
स याति मम सारूप्यं मरणे मत्स्मृतिं लभेत् ॥ ५५॥

जो प्राणी तुम्हारे द्वारा किये मेरे इस स्तोत्र को एकाग्र मन से सुनता, लिखता अथवा पढ़ता है वह मेरा सारूप्य पद को प्राप्त करता है और अन्त समय में उसे मेरी स्मृति होती है ॥५५॥

इति राघवभाषितं तदा श्रुतवान् हर्षसमाकुलो द्विजः ।
रघुनन्दनसाम्यमास्थितः प्रययौ ब्रह्मसुपूजितं पदम् ॥ ५६॥

पक्षिराज जटायु श्रीरघुनाथजी का यह कथन सहर्ष सुनकर उन्हीं के समान रूप धारण कर ब्रह्माजी से अत्यन्त पूजित हो परमधाम को चला गया ॥५६॥

इति श्रीमदध्यात्मरामयणे उमामहेश्वरसंवादे
अरण्यकाण्डे अष्टमः सर्गः ॥ ८॥

॥ नवमः सर्गः ॥

कबन्ध का उद्धार

श्रीमहादेव उवाच
ततो रामो लक्ष्मणेन जगाम विपिनान्तरम् ।
पुनर्दुःखं समाश्रित्य सीतान्वेषणतत्परः ॥ १॥

श्रीमहादेवजी बोले-हे पार्वति ! तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजी दुःखी होकर पुनः सीताजी को खोजते हुए लक्ष्मणजी के साथ दूसरे जंगल में गये ॥१॥

तत्राद्भुतसमाकारो राक्षसः प्रत्यदृश्यत ।
वक्षस्येव महावक्त्रश्चक्षुरादिविवर्जितः ॥ २॥

वहाँ उन्होंने एक अद्भुत आकृति वाले राक्षस को देखा, उसके वक्षःस्थल में ही एक बड़ा भारी मुख था और वह राक्षस नेत्र तथा कर्ण आदि से रहित था । ॥२॥

बाहू योजनमात्रेण व्यापृतौ तस्य रक्षसः ।
कबन्धो नाम दैत्येन्द्रः सर्वसत्त्वविहिंसकः ॥ ३॥

उस राक्षस की भुजाएँ एक-एक योजन तक फैली हुई थीं और सम्पूर्ण प्राणियों का हिंसा करने वाला वह कबन्ध नामक दैत्यराज था। ॥३॥

तद्बाह्वोर्मध्यदेशे तौ चरन्तौ रामलक्ष्मणौ ।

ददर्शतुर्महासत्त्वं तद्बाहुपरिवहष्टितौ ॥ ४॥

उसकी भुजाओं के बीच चलते हुए उनसे घिरे हुए राम और लक्ष्मण ने उस महावलवान् राक्षस को देखा ॥४॥

रामः प्रोवाच विहसन् पश्य लक्ष्मण राक्षसम् ।
शिरःपादविहीनोऽयं यस्य वक्षसि चाननम् ॥ ५॥

तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजी ने हँसते हुए बोले-लक्ष्मण ! इस राक्षस को देखो; यह राक्षस सिर और पैरों से रहित है, तथा इसकी छाती में ही मुख है ॥५॥

बाहुभ्यां लभ्यते यद्यत्तत्तद्भक्षन् स्थितो ध्रुवम् ।
आवामप्येतयोर्बाह्वोर्मध्ये सङ्कलितौ ध्रुवम् ॥ ६॥

अपनी भुजाओं के द्वारा इसे जो प्राप्त हो जाता है उसी से यह जीवित रहता है। हमलोग भी निःसन्देह इसकी भुजाओं के बीच फँस गये हैं॥६।

गन्तुमन्यत्र मार्गो न दृश्यते रघुनन्दन ।
किं कर्तव्यमितोऽस्माभिरिदानीं भक्षयेत्स नौ ॥ ७॥

हे रघुनन्दन! इससे निकलने का हमें कोई रास्ता दिखायी नहीं पड़ता। हमे अब क्या करना चाहिये? लगता है यह हमारा शीघ्र ही यह भक्षण कर लेगा ॥७॥

लक्ष्मणस्तमुवाचेदं किं विचारेण राघव ।

आवामेकैकमव्यग्रौ छिन्द्यावास्य भुजौ ध्रुवम् ॥ ८॥

लक्ष्मणजी बोले-हे राघव! अधिक सोचने-विचारने की आवश्यकता नहीं है। हम दोनों को सावधान होकर तत्क्षण इसकी एक-एक भुजा को काट देना चाहिए ॥८॥

तथेति रामः खड्गेन भुजं दक्षिणमच्छिनत् ।
तथैव लक्ष्मणो वामं चिच्छेद भुजमञ्जसा ॥ ९॥

"बहुत अच्छा" यह कहकर श्रीरामचन्द्रजी ने खड्ग से उसकी दायीं भुजा को काट दिये। उसी प्रकार श्रीलक्ष्मणजी भी तरक्षण उसकी वाम भुजा को काट दिया ॥९॥

ततोऽतिविस्मितो दैत्यः कौ युवां सुरपुङ्गवौ ।
मद्बाहुच्छेदकौ लोके दिवि देवहषु वा कुतः ॥ १०॥

तत्पश्चात् वह दैत्य अति विस्मय पूर्वक बोला-मेरी भुजाओं को काटने वाले तुम लोग कौन श्रेष्ठ देवता हो ? इस लोक अथवा स्वर्ग में रहने वाले देवगणों में भी ऐसा समर्थ होना असम्भव है ॥१०॥

ततोऽब्रवीद्धसन्नेव रामो राजीवलोचनः ।
अयोध्याधिपतिः श्रीमान् राजा दशरथो महान् ॥ ११॥

तब कमल नयन श्रीरामचन्द्रजी हँसते हुए बोले-अयोध्या के अधिपति श्रीमान् महाराज दशरथ थे ॥११॥

रामोऽहं तस्य पुत्रोऽसौ भ्राता मे लक्ष्मणः सुधीः ।

मम भार्या जनकजा सीता त्रैलोक्यसुन्दरी ॥ १२॥

मैं उनका पुत्र राम और यह बुद्धिमान् मेरा अनुज लक्ष्मण है, तथा त्रैलोक्यसुन्दरी जनकनन्दिनी सीता मेरी भार्या है ॥१२॥

आवां मृगयया यातौ तदा केनापि रक्षसा ।
नीतां सीतां विचिन्वन्तौ चागतौ घोरकानने ॥ १३॥

बाहुभ्यां वहष्टितावत्र तव प्राणरिरक्षया ।
छिन्नौ तव भुजौ त्वं च को वा विकटरूपधृक् ॥ १४॥

हमलोग शिकार खेलने के लिये बाहर गये थे, इसी बीच कोई राक्षस ने सीता का हरण कर लिया, उसी को खोजते हुए हम यहाँ इस घोर जंगल में आ गये हैं। इतने में ही तुम हम लोगों को अपनी भुजाओं से घेर लिया। तब हमलोग अपना प्राण बचाने के लिये मैंने तुम्हारी भुजाओं को काट दिया। तुम यह बताओ कि इस विकट रूप वाले तुम कौन हो ? ॥१३-१४॥

कबन्ध उवाच
धन्योऽहं यदि रामस्त्वमागतोऽसि ममान्तिकम् ।
पुरा गन्धर्वराजोऽहं रूपयौवनदर्पितः ॥ १५॥

कबन्ध बोला-यदि आप राम हैं और स्वयं आप मेरे पास आये हैं तो मैं धन्य हूँ। पूर्व समय में मैं रूप और यौवन के मद से उन्मत्त एक गन्धर्वराज था ॥१५॥

विचरन्ल्लोकमखिलं वरनारीमनोहरः ।

तपसा ब्रह्मणो लब्धमवध्यत्वं रघूत्तम ॥ १६॥

हे रघुश्रेष्ठ ! मैं तपस्या के द्वारा ब्रह्माजी से यह वर प्राप्त किया था कि मुझे कभी कोई न मार सके; और अपनी रूप-कान्ति से सुन्दर स्त्रियों के मन को चुराता हुआ सम्पूर्ण लोकों में भ्रमण करता था ॥१६॥

अष्टावक्रं मुनिं दृष्ट्वा कदाचिदहसं पुरा ।
क्रुद्धोऽसावाह दुष्ट त्वं राक्षसो भव दुर्मते ॥ १७॥

एक समय अष्टावक्र ऋषि को देखकर मैं हँस पड़ा; अत: वह क्रोधित होकर बोले-अरे दुष्ट दुर्बुद्धे ! तू राक्षस हो जाओ ॥१७॥

अष्टावक्रः पुनः प्राह वन्दितो मे दयापरः ।
शापस्यान्तं च मे प्राह तपसा द्योतितप्रभः ॥ १८॥

त्रेतायुगे दाशरथिर्भूत्वा नारायणः स्वयम् ।
आगमिष्यति ते बाहू छिद्येते योजनायतौ ॥ १९॥

उनके शाप से भयभीत होकर जब मैंने उनसे क्षमा याचना की तो तप से परमतेजस्वी उन दयालु-मुनीश्वर ने मुझे दिए गए शाप का अन्त करने का उपाय बताया। उन्होंने कहा -त्रेता युग में स्वयं नारायण दशरथ के यहाँ अवतार लेकर तुम्हारे पास आयेंगे और वह एक-एक योजन लम्बी तुम्हारी दोनों भुजाओं को काट देंगे॥१८-१९॥

तेन शापाद्विनिर्मुक्तो भविष्यसि यथा पुरा ।
इति शप्तोऽहमद्राक्षं राक्षसीं तनुमात्मनः ॥ २०॥

तत्पश्चात् तुम शाप से छूट कर अपना पूर्वरूप धारण करोगे। इस प्रकार अष्टावक्र ऋषि के शाप देने के बाद मैंने अपने आप को राक्षस के रूप में देखा ॥२०॥

कदाचिद्देवराजानमभ्यद्रवमहं रुषा ।
सोऽपि वज्रेण मां राम शिरोदेशेऽभ्यताडयत् ॥ २१॥

हे राम! एक समय मैं क्रोधपूर्वक देवराज इन्द्र के पीछे दौड़ा। तब उन्होंने क्रोधित होकर मेरे सर पर अपने वज्र से मारा ॥२१॥

तदा शिरो गतं कुक्षिं पादौ च रघुनन्दन ।
ब्रह्मदत्तवरान्मृत्युर्नाभून्मे वज्रताडनात् ॥ २२॥

हे रघुनन्दन ! ब्रह्माजी के वरदान के कारण मैं मरा नहीं; परन्तु उस वज्र के आघात से मेरा सर पेट में घुस गया ॥२२॥

मुखाभावह कथं जीवहृदयमित्यमराधिपम् ।
ऊचुः सर्वे दयाविष्टा मां विलोक्याऽऽस्यवर्जितम् ॥ २३॥

मुझ मुख विहीन को देखकर देवताओं का दया आई ओर वे देवराज इन्द्र से बोले कि यह मुख के विना कैसे जीवित रहेगा ? ॥२३॥

ततो मां प्राह मघवा जठरे ते मुखं भवहत् ।
बाहू ते योजनायामौ भविष्यत इतो व्रज ॥ २४॥

देवताओं के प्रार्थना करने पर इन्द्र मुझसे बोले तुम्हारे पेट में ही मुख होगा और तुम्हारी भुजाएँ एक-एक योजन लम्बी हो जायेंगी, अब तुम यहाँ से चले जाओ ॥२४॥

इत्युक्तोऽत्र वसन्नित्यं बाहुभ्यां वनगोचरान् ।
भक्षयाम्यधुना बाहू खण्डितौ मे त्वयानघ ॥ २५॥

इन्द्र के यह कहने पर मैं यहाँ रहकर नित्य प्रति अपने हाथों से वन के जीवों को खींचकर खाता रहता हूँ। हे अनघ! अब आपने मेरी भुजाओं को काट दिया ॥२५॥

इतः परं मां श्वभ्रास्ये निक्षिपाग्नीन्धनावृते ।
अग्निना दह्यमानोऽहं त्वया रघुकुलोत्तम ॥ २६॥

पूर्वरूपमनुप्राप्य भार्यामार्गं वदामि ते ॥ २७॥

इत्युक्ते लक्ष्मणेनाशु श्वभ्रं निर्मित्य तत्र तम् ।
निक्षिप्य प्रादहत्काष्ठैस्ततो देहात्समुत्थितः ।
कन्दर्पसदृशाकारः सर्वाभरणभूषितः ॥ २८॥

हे रघुश्रष्ठ! आप मुझे ईन्धन और अग्नि युक्त गड्ढे में डाल दीजिये। आपके द्वारा अग्नि से दग्ध होने पर मैं अपना पूर्वरूप धारणकर आपकी भार्या का पता बताऊँगा। यह कहने पर श्रीरामचन्द्रजी ने शीघ्र ही लक्ष्मण से एक बड़ा गड्ढा तैयार करवाया और उसे उस गड्ढे में डालकर लड़कियों से जला दिया। तदनन्तर उस राक्षस के शरीर से एक सर्वालङ्कार विभूषित कामदेव के समान अति सुन्दर पुरुष प्रकट हुआ ॥२६-२८॥

रामं प्रदक्षिणं कृत्वा साष्टाङ्गं प्रणिपत्य च ।
कृताञ्जलिरुवाचेदं भक्तिगद्गदया गिरा ॥ २९॥

वह श्रीरामचन्द्रजी की परिक्रमा कर उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम करने के पश्च्यात भक्ति से गदगद कण्ठ होकर हाथ जोड़कर कहने लगा।॥२९॥

गन्धर्व उवाच
स्तोतुमुत्सहते मेऽद्य मनो रामातिसम्भ्रमात् ।
त्वामनन्तमनाद्यन्तं मनोवाचामगोचरम् ॥ ३०॥

गन्धर्व बोला-हे राम! आप अनन्त, आदि और अन्त रहित तथा मन वाणी से परे हैं, फिर भी मेरा मन आपकी स्तुति करने के लिये बड़े वेग से उत्सुक हो रहा है ॥३०॥

सूक्ष्मं ते रूपमव्यक्तं देहद्वयविलक्षणम् ।
दृग्रूपमितरत्सर्वं दृश्यं जडमनात्मकम् ।
तत्कथं त्वां विजानीयाद्व्यतिरिक्तं मनः प्रभो ॥ ३१॥

बुद्ध्यात्माभासयोरैक्यं जीव इत्यभिधीयते ।
बुद्ध्यादि साक्षी ब्रह्मैव तस्मिन्निर्विषयेऽखिलम् ॥ ३२॥

आरोप्यतेऽज्ञानवशान्निर्विकारेऽखिलात्मनि ।
हिरण्यगर्भस्ते सूक्ष्मं देहं स्थूलं विराट् स्मृतम् ॥ ३३॥

भावनाविषयो राम सूक्ष्मं ते ध्यातृमङ्गलम् ।

भूतं भव्यं भविष्यच्च यत्रेदं दृश्यते जगत् ॥ ३४॥

हे प्रभो! आपके स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीर से आपका वास्तविक ज्ञानमय स्वरूप सूक्ष्म अर्थात् यागियों से सर्वथा दुर्ज्ञेय है। उससे अतिरक्ति जो पदार्थ हैं, वह जड, दृश्य और अनात्मा हैं। अत: आपसे भिन्न यह जड़ मन आपको कैसे जान सकता है? बुद्धि और चिदाभास के अन्योन्याध्यासरूप ऐक्य को ही जीव कहते हैं। इन बुद्धि आदि का साक्षी ब्रह्म ही है। वह ब्रह्म वाणी आदि किसी का भी विषय नहीं है; उस निर्विकार सर्वात्मा में अज्ञानवश इस सम्पूर्ण चराचर जगत् को आरोपित किया जाता है। हे राम! आपका सूक्ष्म शरीर हिरण्यगर्भ और स्थूल शरीर विराट् कहा जाता है। आपका भावनामय, हृदय कमल में ध्यान करने योग्य सूक्ष्मरूप जिसमें भूत, वर्तमान और भविष्यत् यह सम्पूर्ण संसार दृष्टिगोचर होता है, आपके ध्यान करने वालों को मङ्गल करने वाला है ॥३१-३४॥

स्थूलेऽण्डकोशे देहे ते महदादिभिरावृते ।
सप्तभिरुत्तरगुणैर्वैराजो धारणाश्रयः ॥ ३५॥

अपने-अपने उत्तरवर्ती तत्वों से प्रत्येक दस गुना अधिक महत् तत्त्वादि सात आवरणों के द्वारा घिरे हुए आपके स्थूल ब्रह्माण्ड शरीर में ही धारणा का आश्रयरूप विराट् शरीर स्थित है ॥३५॥

त्वमेव सर्वकैवल्यं लोकास्तेऽवयवाः स्मृताः ।
पातालं ते पादमूलं पार्ष्णिस्तव महातलम् ॥ ३६॥

एक मात्र आप ही सर्व मोक्ष स्वरूप हैं। यह सम्पूर्ण लोक आपके अवयव हैं। पाताल आपका चरणतल है; महातल आपका पाणि है ॥३६॥

रसातलं ते गुल्फौ तु तलातलमितीर्यते ।
जानुनी सुतलं राम ऊरू ते वितलं तथा ॥ ३७॥

अतलं च मही राम जघनं नाभिगं नभः ।
उरःस्थलं ते ज्योतींषि ग्रीवा ते मह उच्यते ॥ ३८॥

वदनं जनलोकस्ते तपस्ते शङ्खदेशगम् ।
सत्यलोको रघुश्रेष्ठ शीर्षण्यास्ते सदा प्रभो ॥ ३९॥

हे राम ! रसातल गुल्फ हैं, तलातल जानु, सुतल जंघाएँ, वितल आपके दोनों अरु, अतल और पृथिवी आपके कटि प्रदेश, भूलोक नाभि, स्वर्लोक वक्षः स्थल, महर्लोक ग्रीवा, जनलोक मुख, तप लोक ललाट तथा हे प्रभो ! सत्यलोक आपका मस्तक है ॥३७-३९॥

इन्द्रादयो लोकपाला बाहवस्ते दिशः श्रुती ।
अश्विनौ नासिके राम वक्त्रं तेऽग्निरुदाहृतः ॥ ४०॥

हे राम! इन्द्रादि लोकपाल गण आपकी भुजाएँ, दिशाएँ कर्ण, अश्विनी कुमार नासिका और अग्नि मुख है ॥४०॥

चक्षुस्ते सविता राम मनश्चन्द्र उदाहृतः ।
भ्रूभङ्ग एव कालस्ते बुद्धिस्ते वाक्पतिर्भवहत् ॥ ४१॥

हे राम ! आपके नेत्र सूर्य और मन चन्द्रमा हैं; काल भ्रभंगी और बृहस्पति जी आपकी बुद्धि हैं ॥४१॥

रुद्रोऽहङ्काररूपस्ते वाचश्छन्दांसि तेऽव्यय ।
यमस्ते दंष्ट्रदेशस्थो नक्षत्राणि द्विजालयः ॥ ४२॥

हे निर्विकार ! रुद्र आपके अहंकार, वेद आपकी वाणी, यम आपके दांत, देशस्थ दाढ़े और नक्षत्रगण आपकी दन्तपङ्क्ति हैं ॥४२॥

हासो मोहकरी माया सृष्टिस्तेऽपाङ्गमोक्षणम् ।
धर्मः पुरस्तेऽधर्मश्च पृष्ठभाग उदीरितः ॥ ४३॥

सर्वविमोहिनी माया आपका हास्य, सृष्टि कटाक्ष, धर्म आगे का हिस्सा और अधर्म पृष्ठ भाग है ॥४३॥

निमिषोन्मेषणे रात्रिर्दिवा चैव रघूत्तम ।
समुद्राः सप्त ते कुक्षिर्नाड्यो नद्यस्तव प्रभो ॥ ४४॥

हे रघुत्तम ! रात्रि और दिन आपके निमेषोन्मष हैं। हे प्रभो! सात समुद्र आपकी कुक्षि तथा नदियाँ हैं ॥४४॥

रोमाणि वृक्षौषधयो रेतो वृष्टिस्तव प्रभो ।
महिमा ज्ञानशक्तिस्ते एवं स्थूलं वपुस्तव ॥ ४५॥

हे प्रभो! वृक्ष और औषधियाँ आपके रोम, वृष्टि वीर्य और ज्ञान शक्ति आपकी महिमा है। यह आपके स्थूल शरीर हैं ॥४५॥

यदस्मिन् स्थूलरूपे ते मनः सन्धार्यते नरैः ।
अनायासेन मुक्तिः स्यादतोऽन्यन्नहि किञ्चन ॥ ४६॥

आपके इस स्थूल शरीर में स्थिर बुद्धिवाला व्यक्ति अनायास ही मुक्त हो जाता है। हे राम! आपके स्थूल रूप से पृथक् कोई वस्तु नहीं है ॥४६॥

अतोऽहं राम रूपं ते स्थूलमेवानुभावये ।
यस्मिन् ध्याते प्रेमरसः सरोमपुलको भवहत् ॥ ४७॥

अत: हे राम ! मैं आपके इस स्थूलरूप का सदा चिन्तन करता हूँ, जिसके ध्यान मात्र से ही सम्पूर्ण शरीर रोमाञ्चित हो जाता है तथा हृदय में प्रेम का सञ्चार होता है ॥४७॥

तदैव मुक्तिः स्याद्राम यदा ते स्थूलभावकः ।
तदप्यास्तां तवैवाहमेतद्रूपं विचिन्तये ॥ ४८॥

हे राम! यह जीव जब आपके विराट रूप का चिन्तन करता है तब तत्क्षण ही वह मुक्त हो जाता है, फिर भी मुझे उसकी आवश्यकता नहीं है। मैं आपके इस रूप का ही चिन्तन करूँगा ॥४८॥

धनुर्बाणधरं श्यामं जटावल्कलभूषितम् ।
अपीच्यवयसं सीतां विचिन्वन्तं सलक्ष्मणम् ॥ ४९॥

इदमेव सदा मे स्यान्मानसे रघुनन्दन ॥ ५०॥

सर्वज्ञः शङ्करः साक्षात्पार्वत्या सहितः सदा ।
त्वद्रूपमेव सततं ध्यायन्नास्ते रघूत्तम ।
मुमूर्षूणां तदा काश्यां तारकं ब्रह्मवाचकम् ॥ ५१॥

रामरामेत्युपदिशन् सदा सन्तुष्टमानसः ।
अतस्त्वं जानकीनाथ परमात्मा सुनिश्चितः ॥ ५२॥

हे रघुनन्दन मैं प्रार्थना करता हूँ कि लक्ष्मणजी के साथ सीता जी का अन्वेषण करता हुआ, जटा-बल्कल से विभूषित, धनुष-बाण धारण करने वाला आपका यह तरुणवयस्क श्यामरूप हमेशा मेरे हृदय में विराजमान रहे। हे रघुश्रेष्ठ ! पार्वतीजी सहित सर्वज्ञ श्रीशंकरजी हमेशा आपके इस दिव्यरूप का चिन्तन किया करते हैं। तथा काशी में मृत्यु प्राप्त करने वालों को ब्रह्मवाचक "राम-राम" यह तारक-मन्त्र का उपदेश करते हुए सतत आनन्दमग्न रहते हैं। अत-एव हे जानकीनाथ ! आप निश्चय ही परमात्मा हैं ॥४९-५२॥

सर्वे ते मायया मूढास्त्वां न जानन्ति तत्त्वतः ।
नमस्ते रामभद्राय वहधसे परमात्मने ॥ ५३॥

आपकी माया से विमोहित होकर सबलोग आपके वास्तविक स्वरूप को नहीं जानते। हे जगत्स्रष्टा परमात्मा राम ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥५३॥

अयोध्याधिपते तुभ्यं नमः सौमित्रिसेवित ।
त्राहि त्राहि जगन्नाथ मां माया नावृणोतु ते ॥ ५४॥

हे सौमित्र सेवित अयोध्याधिपति! आपको नमस्कार है। हे जगन्नाथ ! आप मेरी रक्षा कीजिये, आपकी माया मुझे विमोहित न करे॥५४॥

श्रीराम उवाच
तुष्टोऽहं देवगन्धर्व भक्त्या स्तुत्या च तेऽनघ ।
याहि मे परमं स्थानं योगिगम्यं सनातनम् ॥ ५५॥

श्रीरामचन्द्रजी बोले-हे देव गन्धर्व ! मैं तुम्हारी भक्ति और प्रार्थना से अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ। हे अनघ ! तुम योगियों के प्राप्त करने योग्य मेरे सनातन परमधाम को जाओ ॥५५॥

जपन्ति यह नित्यमनन्यबुद्ध्या
भक्त्या त्वदुक्तं स्तवमागमोक्तम् ।
तेऽज्ञानसम्भूतभवं विहाय
मां यान्ति नित्यानुभवानुमेयम् ॥ ५६॥

जो व्यक्ति तुम्हारे द्वारा किए इस आगमोक्त स्तोत्र का अनन्य बुद्धि से नित्य भक्ति पूर्वक पाठ करेगा । वह अन्त में अज्ञानजन्य संसार से मुक्त होकर नित्य अनुभव रूप मुझ परमात्मा को प्राप्त करेगा ॥५६॥

इति श्रीमदध्यात्मरामयणे उमामहेश्वरसंवादे
अरण्यकाण्डे नवमः सर्गः ॥ ९॥

॥ दशमः सर्गः ॥

शबरी से भेंट

श्रीमहादेव उवाच
लब्ध्वा वरं स गन्धर्वः प्रयास्यन् राममब्रवीत् ।
शबर्यास्ते पुरोभागे आश्रमे रघुनन्दन ॥ १॥

भक्त्या त्वत्पादकमले भक्तिमार्गविशारदा ।
तां प्रयाहि महाभाग सर्वं ते कथयिष्यति ॥ २॥

श्रीमहादेवजी बोले-हे पार्वति! वह गन्धर्व भगवान् श्री राम से वर प्राप्त कर उनके परमधाम को जाते हुए बोला-हे रघुनन्दन ! आगे वाले आश्रम में शबरी रहती है। आपके चरण-कमल में भक्ति रखने से वह भक्ति-मार्ग में कुशल है। हे महाभाग ! आप वहाँ जाइये। वह आपको सब बातें बता देगी ॥१-२॥

इत्युक्त्वा प्रययौ सोऽपि विमानेनार्कवर्चसा ।
विष्णोः पदं रामनामस्मरणे फलमीदृशम् ॥ ३॥

यह कहकर सूर्य के समान एक तेजस्वी विमान पर चढ़कर वह विष्णुलोक को चला गया। राम नाम के स्मरण का फल ऐसा ही होता है ॥३॥

त्यक्त्वा तद्विपिनं घोरं सिंहव्याघ्रादिदूषितम् ।
शनैरथाश्रमपदं शबर्या रघुनन्दनः ॥ ४॥

तत्पश्चात् सिंह, व्याघ्र आदि से दूषित उस घोर वन को छोड़कर श्रीरामचन्द्रजी धीरे-धीरे शबरी के आश्रम पर पधारे॥४॥

शबरी राममालोक्य लक्ष्मणेन समन्वितम् ।
आयान्तमाराद्धर्षेण प्रत्युत्थायाचिरेण सा ॥ ५॥

श्रीरामचन्द्र को लक्षमण के सहित समीप आते हुए देखकर शबरी अति हर्षित होकर शीघ्र उठकर खड़ी हो गई ॥५॥

पतित्वा पादयोरग्रे हर्षपूर्णाश्रुलोचना ।
स्वागतेनाभिनन्द्याथ स्वासने सन्न्यवहशयत् ॥ ६॥

उसके नेत्रों में आनन्द अश्रु भर आये और वह भगवान के चरणारविन्द में गिरकर उनका स्वागत किया तथा कुशल-प्रश्न के अनन्तर सुन्दर आसन पर बैठाया ॥६॥

रामलक्ष्मणयोः सम्यक्पादौ प्रक्षाल्य भक्तितः ।
तज्जलेनाभिषिच्याङ्गमथार्घ्यादिभिरादृता ॥ ७॥

सम्पूज्य विधिवद्रामं ससौमित्रिं सपर्यया ।
सङ्‌गृहीतानि दिव्यानि रामार्थं शबरी मुदा ॥ ८॥

फलान्यमृतकल्पानि ददौ रामाय भक्तितः ।
पादौ सम्पूज्य कुसुमैः सुगन्धैः सानुलेपनैः ॥ ९॥

और भक्ति-पूर्वक श्रीराम और लक्ष्मण के चरणों को अच्छी तरह धोया तथा उस चरणोदक को अपने शरीर पर छिड़ककर श्रद्धायुक्त हो अर्थादि विविध सामग्रियों से श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी की विधिवत् पूजा कर अमृत के समान दिव्य फल जो उसने वह श्रीरामचन्द्रजी के लिये एकत्रित कर रखा था हर्ष पूर्वक लाकर भक्तिभाव से उन्हें प्रदान किया तथा उनके चरणाविन्द की पूजा चन्दन युक्त सुगन्धित पुष्पों से की ॥ ७-९ ॥

कृतातिथ्यं रघुश्रेष्ठमुपविष्टं सहानुजम् ।
शबरी भक्तिसम्पन्ना प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ १०॥

इस तरह आतिथ्य सत्कार के अनन्तर जब श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मण के सहित आसन पर विराजमान थे तब भक्ति पूर्वक हाथ जोड़कर शबरी बोली ॥ १०॥

अत्राश्रमे रघुश्रेष्ठ गुरवो मे महर्षयः ।
स्थिताः शुश्रूषणं तेषां कुर्वती समुपस्थिता ॥ ११॥

बहुवर्षसहस्राणि गतास्ते ब्रह्मणः पदम् ।
गमिष्यन्तोऽब्रुवन्मां त्वं वसात्रैव समाहिता ॥ १२॥

हे रघुश्रेष्ठ ! पहले इस आश्रम में मेरे गुरु महर्षि मतंग जी रहते थे। उनकी सेवा-शुश्रूषा करती हुई मैं हजारों वर्षों से यहाँ रहती हूँ। महर्षि ने अब ब्रह्म पद प्राप्त कर लिया है। उन्होंने जाते समय मुझसे कहा था कि तुम एकाग्रमन हो यहीं रहो। ॥११-१२॥

रामो दाशरथिर्जातः परमात्मा सनातनः ।

राक्षसानां वधार्थाय ऋषीणां रक्षणाय च ॥ १३॥

सनातन परमात्मा ने राक्षसों को मारने और ऋषियों की रक्षा के लिये राजा दशरथ के पुत्र राम के रूप में अवतार लिया हैं ॥ १३॥

आगमिष्यति चैकाग्रध्याननिष्ठा स्थिरा भव ।
इदानीं चित्रकूटाद्रावाश्रमे वसति प्रभुः ॥ १४॥

वह शीघ्र ही यहाँ आयेंगे। एकाग्रचित्त से ध्यान करती हुई तुम यहीं रहो। इस समय चित्रकूट पर्वत के आश्रम में भगवान् श्रीरामचन्द्रजी विराजमान हैं ॥ १४॥

यावदागमनं तस्य तावद्रक्ष कलेवरम् ।
दृष्ट्वैव राघवं दग्ध्वा देहं यास्यसि तत्पदम् ॥ १५॥

उनके यहाँ आने तक तुम अपने शरीर का पालन करो और उनके आने पर श्रीरघुनाथजी का दर्शन करते हुए इस शरीर को जलाकर तुम उनके परम धाम को चली जाओगी ॥ १५ ॥

तथैवाकरवं राम त्वद्ध्यानैकपरायणा ।
प्रतीक्ष्यागमनं तेऽद्य सफलं गुरुभाषितम् ॥ १६॥

हे राम! गुरुजी की आज्ञा से उसी समय से मैं आपका ही ध्यान करती हुई आपके आने की राह देख रही थी। गुरुजी का वाक्य आज सफल हो गया ॥ १६ ॥

तव सन्दर्शनं राम गुरूणामपि मे न हि ।

योषिन्मूढाऽप्रमेयात्मन् हीनजातिसमुद्भवा ॥ १७॥

हे राम ! आपका दर्शन मेरे गुरुदेव को भी नहीं हुआ और हे अप्रमेयात्मन् ! मैं तो हीन जाति में उत्पन्न मूढ स्त्री ही हूँ ॥ १७ ॥

तव दासस्य दासानां शतसङ्ख्योत्तरस्य वा ।
दासीत्वे नाधिकारोऽस्ति कुतः साक्षात्तवैव हि ॥ १८॥

आपके दासों के जो दास हैं उनके भी उत्तरोत्तर जो सैकड़ों दासानुदास हैं मैं तो उनकी भी दासी होने की अधिकारिणी नही हूँ। अत: आपकी प्रत्यक्ष दासी होने का मुझे अधिकार ही कहाँ है ॥ १८ ॥

कथं रामाद्य मे दृष्टस्त्वं मनोवागगोचरः ।
स्तोतुं न जाने देवहश किं करोमि प्रसीद मे ॥ १९॥

हे राम ! आप मन और वाणी से अगोचर हैं, मुझे आपका दर्शन कैसे हो गया। हे देवेश्वर ! आपकी स्तुति करना मैं नहीं जानती, मैं क्या करूँ ? आप प्रसन्न होइए ॥ १९ ॥

श्रीराम उवाच
पुंस्त्वे स्त्रीत्वे विशेषो वा जातिनामाश्रमादयः ।
न कारणं मद्भजने भक्तिरेव हि कारणम् ॥ २०॥

श्रीरामचन्द्रजी बोले-पुरुषत्व, स्त्रीत्व अथवा कोई जाति विशेष, नाम, आश्रम आदि मेरे भजन के कारण नही हैं; मेरे भजन का कारण तो केवल भक्ति ही है ॥ २० ॥

यज्ञदानतपोभिर्वा वहदाध्ययनकर्मभिः ।
नैव द्रष्टुमहं शक्यो मद्भक्तिविमुखैः सदा ॥ २१॥

मेरी भक्ति से विमुख और यज्ञ, दान, तप, वेदाध्ययन अथवा अन्य किसी कर्म के द्वारा कोई प्राणी मुझे नहीं देख पाता ॥ २१॥

तस्माद्भामिनि सङ्क्षेपाद्वक्ष्येऽहं भक्तिसाधनम् ।
सतां सङ्गतिरेवात्र साधनं प्रथमं स्मृतम् ॥ २२॥

अत: हे भामिनी ! मैं संक्षेप में अपनी भक्ति के साधनों को बताता हूँ- इनमें सत्संगति ही पहला साधन है ॥ २२ ॥

द्वितीयं मत्कथालापस्तृतीयं मद्गुणेरणम् ।
व्याख्यातृत्वं मद्वचसां चतुर्थं साधनं भवहत् ॥ २३॥

मेरी कथा का कीर्तन यह द्वितीय साधन है; मेरा गुणानुवाद तृतीय साधन और मेरे वाक्यों की व्याख्या करना चतुर्थ साधन होता है ॥ २३ ॥

आचार्योपासनं भद्रे मद्बुद्ध्याऽमायया सदा ।
पञ्चमं पुण्यशीलत्वं यमादि नियमादि च ॥ २४॥

निष्ठा मत्पूजने नित्यं षष्ठं साधनमीरितम् ।
मम मन्त्रोपासकत्वं साङ्गं सप्तममुच्यते ॥ २५॥

हे भद्रे। मेरी बुद्धि से निष्कपट होकर आचार्य की सेवा करना पञ्चम साधन, पवित्र स्वभाव, यम-नियमादि पालन और मेरी पूजा में हमेशा प्रेम होना भक्ति का छठवाँ साधन तथा मेरे मन्त्र की साङ्गोपाङ्ग उपासना सप्तम साधन कहा जाता है ॥२४-२५॥

मद्भक्तेष्वधिका पूजा सर्वभूतेषु मन्मतिः ।
बाह्यार्थेषु विरागित्वं शमादिसहितं तथा ॥ २६॥

अष्टमं नवमं तत्त्वविचारो मम भामिनि ।
एवं नवविधा भक्तिः साधनं यस्य कस्य वा ॥ २७॥

स्त्रियो वा पुरुषस्यापि तिर्यग्योनिगतस्य वा ।
भक्तिः सञ्जायते प्रेमलक्षणा शुभलक्षणे ॥ २८॥

मुझसे अधिक मेरे भक्तों की पूजा करना, समस्त प्राणियों में मेरी बुद्धि रखना, बाह्य वस्तुओं में वैराग्य होना और शम-दमादि सम्पन्न यह मेरी भक्ति का आठवाँ साधन है। तथा तत्त्व का विचार करना यह नवम साधन है। हे भामिनी ! इस प्रकार नवधा भक्ति है। हे शुभ लक्षणे! यह साधन जिस-किसी भी प्राणी में हो वह पुरुष, स्त्री अथवा पशु-पक्षी आदि कोई भी हो, उसमें प्रेमलक्षणा-भक्ति उत्पन्न हो ही जाती है ॥२६-२८॥

भक्तौ सञ्जातमात्रायां मत्तत्त्वानुभवस्तदा ।
ममानुभवसिद्धस्य मुक्तिस्तत्रैव जन्मनि ॥ २९॥

स्यात्तस्मात्कारणं भक्तिर्मोक्षस्येति सुनिश्चितम् ।
प्रथमं साधनं यस्य भवहत्तस्य क्रमेण तु ॥ ३०॥

भवहत्सर्वं ततो भक्तिर्मुक्तिरेव सुनिश्चितम् ।
यस्मान्मद्भक्तियुक्ता त्वं ततोऽहं त्वामुपस्थितः ॥ ३१॥

भक्ति का अविर्भाव होने से ही मेरे स्वरूप का अनुभव हो जाता है और मेरे अनुभव होने वाले की मुक्ति उसी जन्म में ही हो जाती है। अत: यह सुनिश्चय है कि मुक्ति का साधन भक्ति ही है। भक्ति के सभी साधनों में जिसमें प्रथम साधन होता है, उसमें क्रमशः भक्ति के सभी लक्ष्मण आ जाते हैं। और उसे भक्ति तथा मुक्ति प्राप्त होना सुनिश्चित ही है। तुम मेरी भक्ति से युक्त हो इसलिए मैं तुम्हारे पास आया हूँ ॥२९-३१॥

इतो मद्दर्शनान्मुक्तिस्तव नास्त्यत्र संशयः ।
यदि जानासि मे ब्रूहि सीता कमललोचना ॥ ३२॥

कुत्रास्ते केन वा नीता प्रिया मे प्रियदर्शना ॥ ३३॥

मेरा दर्शन होने से निःसन्देह तुम्हारी मुक्ति हो जायेगी। यदि तुम जानती हो तो बताओ कि इस समय कमललोचना सीता कहाँ है ? मेरी प्रियदर्शना प्रिया को कौन ले गया है ? ॥३२-३३॥

शबर्युवाच
देव जानासि सर्वज्ञ सर्वं त्वं विश्वभावन ।
तथाऽपि पृच्छसे यन्मां लोकाननुसृतः प्रभो ॥ ३४॥

ततोऽहमभिधास्यामि सीता यत्राधुना स्थिता ।
रावणेन हृता सीता लङ्कायां वर्ततेऽधुना ॥ ३५॥

शबरीबोली हे देव ! हे सर्वज्ञ! हे विश्वभावन! आप सबकुछ जानते हैं। तथापि लोक का अनुसरण करते हुए मुझसे पूछते हैं तो इस समय सीता जहाँ है उसे मैं बताती हूँ। रावण सीताजी को हरण करके ले गया है और इस समय सीताजी लंका में हैं ॥३४-३५॥

इतः समीपे रामाऽऽस्ते पम्पानाम सरोवरम् ।
ऋष्यमूकगिरिर्नाम तत्समीपे महानगः ॥ ३६॥

हे राम! इसके समीप ही पम्पा नामक सरोवर है। उसके समीप ही ऋष्मूक नामक बड़ा पर्वत है ॥३६॥

चतुर्भिर्मन्त्रिभिः सार्धं सुग्रीवो वानराधिपः ।
भीतभीतः सदा यत्र तिष्ठत्यतुलविक्रमः ॥ ३७॥

वालिनश्च भयाद् भ्रातुस्तदगम्यमृषेर्भयात् ।
वालिनस्तत्र गच्छ त्वं तेन सख्यं कुरु प्रभो ॥ ३८॥

सुग्रीवहण स सर्वं ते कार्यं सम्पादयिष्यति ।
अहमग्निं प्रवहक्ष्यामि तवाग्रे रघुनन्दन ॥ ३९॥

वहाँ पर अतुल पराक्रमी वानरों का राजा सुग्रीव अपने भाई के भय से हमेशा अत्यन्त भयभीत होकर अपने चार मन्त्रियों के साथ रहता है। ऋषि के शाप के भय से वह स्थान सर्वथा वाली के अगम्य है। हे प्रभो! आप वहाँ जाएं और सुग्रीव से मित्रता करें। वह आपका सभी

कार्य सिद्ध करेगा। हे रघुनन्दन! मै आपके सामने अब अग्नि में प्रवेश करूँगी ॥३७-३९॥

मुहूर्तं तिष्ठ राजेन्द्र यावद्दग्ध्वा कलेवरम् ।
यास्यामि भगवन् राम तव विष्णोः परं पदम् ॥ ४०॥

हे राजेश्वर ! हे भगवन् ! हे राम! जबतक मैं अपना शरीर की आहुति देकर आप विष्णु भगवान् के परमपद को जाऊँ, तबतक आप एक मुहूर्त यहाँ रूकिये ॥४०॥

इति रामं समामन्त्र्य प्रविवहश हुताशनम् ।
क्षणान्निर्धूय सकलमविद्याकृतबन्धनम् ।
रामप्रसादाच्छबरी मोक्षं प्रापातिदुर्लभम् ॥ ४१॥

शबरी ने भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के साथ यह सम्भाषण कर अग्नि में प्रवेश किया और एक क्षण में ही समस्त अविद्याजन्य बन्धनों को नष्टकर भगवान् श्रीराम की कृपा से अति दुर्लभ मोक्ष-प्रद को प्राप्त किया ॥४१॥

किं दुर्लभं जगन्नाथे श्रीरामे भक्तवत्सले ।
प्रसन्नेऽधमजन्मापि शबरी मुक्तिमाप सा ॥ ४२॥

उस नीच जाति में उत्पन्न शबरी ने भी मोक्ष प्राप्त कर लिया; भक्तवत्सल जगन्नाथ भगवान् श्रीरामचन्द्र के प्रसन्न होने पर दुर्लभ ही क्या है ॥४२॥

किं पुनर्ब्राह्मणा मुख्याः पुण्याः श्रीरामचिन्तकाः ।

मुक्तिं यान्तीति तद्भक्तिर्मुक्तिरेव न संशयः ॥ ४३॥

अत: श्रीरामचन्द्र का ध्यान करने वाले पुण्यजन्मा ब्राह्मणादि की मुक्ति हो जाय तो इसमें संशय ही क्या है ? निःसन्देह भगवान् श्री राम की भक्ति ही मुक्ति है ॥४३॥

भक्तिर्मुक्तिविधायिनी भगवतः श्रीरामचन्द्रस्य हे
लोकाः कामदुघाङ्घ्रिपद्मयुगलं सेवध्वमत्युत्सुकाः ।
नानाज्ञानविशेषमन्त्रविततिं त्यक्त्वा सुदूरे भृशं
रामं श्यामतनुं स्मरारिहृदये भान्तं भजध्वं बुधाः ॥ ४४॥

अरे लोकवासियों! भगवान् श्रीरामचन्द्रजी की भक्ति ही मोक्षदायिनी है। अत: कामधेनु के समान उनके चरण द्वन्द्व की अति उत्सुकता पूर्वक सेवा करो। हे बुद्धिमान् प्राणियों ! विविध विज्ञानवार्ता और मन्त्र विस्तार को दूर छोड़कर शीघ्र ही श्रीशंकरजी के हृदय में शोभा पाने वाले श्याम शरीर वाले भगवान् श्रीरामचन्द्र का अत्यन्त भजन करो ॥४४॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे
अरण्यकाण्डे दशमः सर्गः ॥ १०॥

अरण्यकाण्डम् समाप्तम् ॥

॥श्रीगणेशाय नमः॥
॥ ॐ परब्रह्मणे नमः॥

॥ अध्यात्मरामायण ॥

किष्किन्धाकाण्डम्

॥ प्रथमः सर्गः ॥

सुग्रीव से मित्रता

श्रीमहादेव उवाच ।
ततः सलक्ष्मणो रामः शनैः पम्पासरस्तटम् ।
आगत्य सरसां श्रेष्ठां दृष्ट्वा विस्मयमाययौ ॥ १॥

श्री महादेव जी बोले- हे पार्वति ! तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मण जी के साथ धीरे-धीरे पम्पा सरोवर के तट पर आये। उस रमणीय सरोवर को देखकर उन्हे अति विस्मय हुआ ॥१॥

क्रोशमात्रं सुविस्तीर्णमगाधामलशम्बरम् ।
उत्फुल्लाम्बुजकल्हारकुमुदोत्पलमण्डितम् ॥ २॥

वह सरोवर एक कोस विस्तार वाला था, उसमें अतिनिर्मल अगाध जल और चतुर्दिक कमल, कहार, कुमुद तथा उत्पल आदि सुशोभित हो रहे थे ॥२॥

हंसकारण्डवाकीर्णं चक्रवाकादिशोभितम् ।
जलकुक्कुटकोयष्टिक्रौञ्चनादोपनादितम् ॥ ३॥

उसमें यत्र-तत्र हंस और कारण्डव आदि पक्षी विहार कर रहे थे, चक्रवाक् आदि उस सरोवर की शोभा बढ़ा रहे थे और जल कुक्कुट, कोयष्टि तथा क्रौञ्च आदि पक्षियों के कलरव से वह सरोवर शब्दायमान हो रहा था ॥३॥

नानापुष्पलताकीर्णं नानाफलसमावृतम् ।
सतां मनःस्वच्छजलं पद्मकिञ्जल्कवासितम् ॥ ४॥

वह विविध पुष्प-लताओं से परिपूर्ण और अनेक प्रकार के फलवाले वृक्षों से घिरा हुआ कमलकेशर से सुवासित उस सरोवर का जल सज्जन व्यक्तियों के मन के समान स्वच्छ था ॥४॥

तत्रोपस्पृश्य सलिलं पीत्वा श्रमहरं विभुः ।
सानुजः सरसस्तीरे शीतलेन पथा ययौ ॥ ५॥

वहाँ पहुँचकर प्रभु श्रीरामचन्द्रजी अनुज लक्ष्मण के साथ आचमन कर सरोवर के श्रमहारी शीतलजल का पान किया और सरोवर के किनारे-किनारे शीतल छायायुक्त मार्ग से चलने लगे ॥५॥

ऋष्यमूकगिरेः पार्श्वे गच्छन्तौ रामलक्ष्मणौ ।
धनुर्बाणकरौ दान्तौ जटावल्कलमण्डितौ ।
पश्यन्तौ विविधान् वृक्षान् गिरेः शोभां सुविक्रमौ ॥ ६॥

सुग्रीवस्तु गिरेर्मूर्ध्नि चतुर्भिः सह वानरैः ।
स्थित्वा ददर्श तौ यान्तावारुरोह गिरेः शिरः ॥ ७॥

भयादाह हनूमन्तं कौ तौ वीरवरौ सखे ।
गच्छ जानीहि भद्रं ते वटुर्भूत्वा द्विजाकृतिः ॥ ८॥

जटावल्कल से विभूषित, जितेन्द्रिय परम पराक्रमी श्रीराम और लक्ष्मण हाथ में धनुष-बाण धारण किये अनेक वृक्षों और पर्वत की शोभा देखते हुए जब ऋष्यमूक पर्वत के पास चल रहे थे, उस समय सुग्रीव अपने चार मन्त्रियों के साथ गिरि-शिखर पर बैठे थे। श्रीराम और लक्ष्मण को आते हुए देखकर, सुग्रीव पर्वत के एक ऊँचे शिखर पर चढ़ गये और भयभीत होकर हनुमानजी से बोले-मित्र! देखो, ये दोनों वीरवर कौन हैं ? तुम्हारा कल्याण हो, तुम ब्रह्मचारी ब्राह्मण का वेश धारण कर उनके पास जाओ और ज्ञात करो कि यह कौन हैं । ६-८।

वालिना प्रेषितौ किंवा मां हन्तुं समुपागतौ ।
ताभ्यां सम्भाषणं कृत्वा जानीहि हृदयं तयोः ॥ ९॥

उनसे बातचीत कर उनके हृदय की बात जानना; क्या उन लोगों को मुझे मारने के लिये वाली ही भेजा है ॥९॥

यदि तौ दुष्टहृदयौ संज्ञां कुरु कराग्रतः ।
विनयावनतो भूत्वा एवं जानीहि निश्चयम् ॥ १०॥

यदि वे दुष्टहृदय वाले हों तो ऊँगली से ही ईशारा करना और बड़े विनम्र होकर इसका पता लगाना ॥१०॥

तथेति वटुरूपेण हनुमान् समुपागतः ।
विनयावनतो भूत्वा रामं नत्वेदमब्रवीत् ॥ ११॥

कौ युवां पुरुषव्याघ्रौ युवानौ वीरसम्मतौ ।
द्योतयन्तौ दिशः सर्वाः प्रभया भास्कराविव ॥ १२॥

"तथा इति" यह कहकर हनुमान जी ने ब्रह्मचारी का रूप धारण कर राम के पास आये और विनय पूर्वक नमस्कार कर बोले-हे पुरुष-व्याघ्र ! आप दोनों कौन हैं ? आप युवा और वीर जान पड़ते हैं। अहो ! सूर्य के समान अपने शरीर की कान्ति से सभी दिशाओं को आप प्रकाशित कर रहे हैं ॥११-१२॥

युवां त्रैलोक्यकर्तारावििति भाति मनो मम ।
युवां प्रधानपुरुषौ जगद्धेतू जगन्मयौ ॥ १३॥

मेरे मन में यह प्रतीत हो रहा है कि आप लोग त्रिलोकी की रचना करने वाले संसार के आदिकारण-भूत जगन्मय प्रधान पुरुष ही हैं ॥१३॥

मायया मानुषाकारौ चरन्ताविव लीलया ।
भूभारहरणार्थाय भक्तानां पालनाय च ॥ १४॥

आप पृथिवी का भार हरण करने के लिये और भक्तजनों की रक्षा के लिये मानो लीला वश अपनी माया से मनुष्य का रूप धारण कर विचरण कर रहें हैं ॥१४॥

अवतीर्णाविह परौ चरन्तौ क्षत्रियाकृती ।
जगत्स्थितिलयौ सर्गं लीलया कर्तुमुद्यतौ ॥ १५॥

क्षत्रिय कुमार के रूप में अवतीर्ण होकर आप साक्षात् परमात्मा ही पृथिवी पर विचरण कर रहे हैं। आप लीला के द्वारा ही संसार की उत्पत्ति, स्थिति और लय करने में तत्पर हैं ॥१५॥

स्वतन्त्रौ प्रेरकौ सर्वहृदयस्थाविहेश्वरौ ।
नरनारायणौ लोके चरन्ताविति मे मतिः ॥ १६॥

मेरा तो यह विचार है कि आप सबके हृदय में विराजमान, सबके प्रेरक परम स्वतन्त्र भगवान् नारायण ही इस लोक में विचरण कर रहे हैं ॥१६॥

श्रीरामो लक्ष्मणं प्राह पश्यैनं वटुरूपिणम् ।
शब्दशास्त्रमशेषेण श्रुतं नूनमनेकधा ॥ १७॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणजी से बोले-हे लक्ष्मण ! इस ब्रह्मचारी को देखो। निश्चय ही इस ब्रह्मचारी ने सम्पूर्ण शब्दशास्त्र, व्याकरण आदि अनेकों बार विधिवत् पढ़ लिया है ॥१७॥

अनेन भाषितं कृत्स्नं न किञ्चिदपशब्दितम् ।
ततः प्राह हनूमन्तं राघवो ज्ञानविग्रहः ॥ १८॥

देखो इसने जो भी बातें कही, इसमें कहीं भी किसी प्रकार की एक भी अशुद्धि नहीं है। तब विज्ञान घन श्रीरघुनाथजी हनुमानजी से बोले ॥१८॥

अहं दाशरथी रामस्त्वयं मे लक्ष्मणोऽनुजः ।
सीतया भार्यया सार्धं पितुर्वचनगौरवात् ॥ १९॥

आगतस्तत्र विपिने स्थितोऽहं दण्डके द्विज ।
तत्र भार्या हृता सीता रक्षसा केनचिन्मम ।
तामन्वेष्टुमिहायातौ त्वं को वा कस्य वा वद ॥ २०॥

हे द्विज ! मैं दशरथ पुत्र राम हूँ, यह मेरा अनुज लक्ष्मण है। पिता की आज्ञा से मैं अपनी स्त्री सीता के सहित वन में आया था और दण्डकारण्य में रहता था। उस स्थान पर किसी राक्षस ने मेरी भार्या सीता का हरण कर लिया है। अत: सीता को खोजने के लिये हम यहाँ आये हैं। आप बताइए आप कौन हैं और किसके पुत्र हैं ? ॥१९-२०॥

वटुरुवाच ।
सुग्रीवो नाम राजा यो वानराणां महामतिः ।
चतुर्भिर्मन्त्रिभिः सार्धं गिरिमूर्धनि तिष्ठति ॥ २१॥

ब्रह्मचारी बोले महामति सुग्रीव वानरों के राजा अपने चार मन्त्रियों के साथ पर्वत के शिखर पर रहते हैं॥२१॥

भ्राता कनियान् सुग्रीवो वालिनः पापचेतसः ।
तेन निष्कासितो भार्या हृता तस्येह वालिना ॥ २२॥

वे दुष्टहृदयवाले वाली के छोटे भाई हैं। दुष्ट वाली ने उनकी स्त्री को छीनकर उन्हें घर से निकाल दिया है ॥२२॥

तद्भयादृष्यमूकाख्यं गिरिमाश्रित्य संस्थितः ।
अहं सुग्रीवसचिवो वायुपुत्रो महामते ॥ २३॥

अत: उसके भय से सुग्रीव इस ऋष्यमूक पर्वत पर रहते हैं। हे महामते ! मैं उन्हीं सुग्रीव का मन्त्री और वायु का पुत्र हूँ ॥२३॥

हनुमान्नाम विख्यातो ह्यञ्जनीगर्भसम्भवः ।
तेन सख्यं त्वया युक्तं सुग्रीवहण रघूत्तम ॥ २४॥

माता अञ्जनी के गर्भ से मेरा जन्म हुआ है। मैं हनुमान नाम से प्रसिद्ध हूँ। हे रघुश्रेष्ठ! आपको महाराज सुग्रीव से मित्रता करनी चाहिये ॥२४॥

भार्यापहारिणं हन्तुं सहायस्ते भविष्यति ।
इदानीमेव गच्छाम आगच्छ यदि रोचते ॥ २५॥

वह आपकी भार्या को हरण करने वाले का वध करने में आपके सहायक होंगे। आपकी यदि ईच्छा हो तो आप अभी उनके पास चलें ॥२५॥

श्रीराम उवाच:
अहमप्यागतस्तेन सख्यं कर्तुं कपीश्वर ।
सख्युस्तस्यापि यत्कार्यं तत्करिष्याम्यसंशयम् ॥ २६॥

श्री रामचन्द्रजी बोले-हे कपीश्वर ! मैं भी उनसे मित्रता करने के लिये ही आया हूँ। उन मित्र का भी जो कार्य होगा मै निश्चय ही उसे पूर्ण कर दूंगा ॥२६॥

हनुमान् स्वस्वरूपेण स्थितो राममथाब्रवीत् ।
आरोहतां मम स्कन्धौ गच्छामः पर्वतोपरि ॥ २७॥

यत्र तिष्ठति सुग्रीवो मन्त्रिभिर्वालिनो भयात् ।
तथेति तस्यारुरोह स्कन्धं रामोऽथ लक्ष्मणः ॥ २८॥

यह सनकर हनुमानजी अपना रूप धारणकर श्रीरामचन्द्रजी से बोले- आप लोग मेरे दोनों कन्धों पर चढ़ जाइये। हम पर्वत के ऊपर चलते हैं, जिस स्थान पर वाली के भय से अपने मन्त्रियों के साथ सुग्रीव रहते हैं। तदनन्तर श्रीराम और लक्ष्मण "तथा-इति" यह कहकर उनके कंधों पर चढ़ गये ॥२७-२८॥

उत्पपात गिरेर्मूर्ध्नि क्षणादेव महाकपिः ।
वृक्षच्छायां समाश्रित्य स्थितौ तौ रामलक्ष्मणौ ॥ २९॥

वानर राज हनुमान् एक ही क्षण में ही पर्वत के शिखर पर कूदकर पहुँच गये। वहाँ पर श्रीराम और लक्ष्मणजी एक वृक्ष की छाया में खड़े हो गये ॥२९॥

हनुमानपि सुग्रीवमुपगम्य कृताञ्जलिः ।
व्येतु ते भयमायातौ राजन् श्रीरामलक्ष्मणौ ॥ ३०॥

तब हनुमान जी सुग्रीव के पास जाकर उनसे हाथ जोड़कर बोले-हे राजन! आप अपनी शंका को दूर कीजिये; आपके यहाँ श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मण जी पधारे हैं ॥३०॥

शीघ्रमुत्तिष्ठ रामेण सख्यं ते योजितं मया ।

अग्निं साक्षिणमारोप्य तेन सख्यं द्रुतं कुरु ॥ ३१॥

आप शीघ्र उठिये, मैं श्रीराम से आपकी मित्रता का संयोग निश्चित किया है। शीघ्र ही अग्नि को साक्षी बना कर उनसे मित्रता कीजिये ॥३१॥

ततोऽतिहर्षात्सुग्रीवः समागम्य रघूत्तमम् ।
वृक्षशाखां स्वयं छित्वा विष्टराय ददौ मुदा ॥ ३२॥

तब सुग्रीव अत्यन्त प्रसन्न होकर श्रीरघुनाथजी के पास आये और प्रसन्न मन से उन्होंने अपने हाथ से एक वृक्ष की शाखा को तोड़कर उन्हें बैठने के लिये आसन दिये ॥३२॥

हनूमान्ल्लक्ष्मणायादात्सुग्रीवाय च लक्ष्मणः ।
हर्षेण महताविष्टाः सर्व एवावतस्थिरे ॥ ३३॥

इस प्रकार हनुमान जी ने लक्ष्मण जी को तथा लक्ष्मण जी ने सुग्रीव को आसन दिया। सबलोग अति आनन्द पूर्वक अपने-अपने आसनों पर बैठ गये ॥३३॥

लक्ष्मणस्त्वब्रवीत्सर्वं रामवृत्तान्तमादितः ।
वनवासाभिगमनं सीताहरणमेव च ॥ ३४॥

तब लक्ष्मणजी ने आदि से लेकर वन में आने तथा सीताहरण तक का श्रीरामचन्द्रजी का सम्पूर्ण वृत्तान्त सुना दिया ॥३४॥

लक्ष्मणोक्तं वचः श्रुत्वा सुग्रीवो राममब्रवीत् ।

अहं करिष्ये राजेन्द्र सीतायाः परिमार्गणम् ॥ ३५॥

लक्ष्मणजी के ये वचन सुनकर सुग्रीव श्रीरामचन्द्रजी से बोले-हे राजराजेश्वर ! मैं सीताजी की खोज करूँगा ॥ ३५॥

साहाय्यमपि ते राम करिष्ये शत्रुघातिनः ।
शृणु राम मया दृष्टं किञ्चित्ते कथयाम्यहम् ॥ ३६॥

हे राम! मैं शत्रुओं का वध करने में भी आपकी सहायता करूँगा; इस सम्बन्ध में मैंने जो कुछ देखा हैं वह मैं आपको सुनाता हूँ सुनिये ॥३६॥

एकदा मन्त्रिभिः सार्धं स्थितोऽहं गिरिमूर्धनि ।
विहायसा नीयमानां केनचित्प्रमदोत्तमाम् ॥ ३७॥

एक समय मैं मन्त्रियों के साथ पर्वत के शिखर पर बैठा था। उस समय मैने देखा कि कोई राक्षस किसी उत्तम कामिनी को आकाश-मार्ग से ले जा रहा है ॥३७॥

क्रोशन्तीं रामरामेति दृष्ट्वास्मान् पर्वतोपरि ।
आमुच्याभरणान्याशु स्वोत्तरीयेण भामिनी ॥ ३८॥

निरीक्ष्याधः परित्यज्य क्रोशन्ती तेन रक्षसा ।
नीताहं भूषणान्याशु गुहायामक्षिपं प्रभो ॥ ३९॥

वह राम! राम! कहकर विलाप कर रही थी। हमलोगों को पर्वत शिखर पर बैठे देखकर उसने शीघ्र ही अपना आभूषण उतार एक

वस्त्र में बाँधकर और मेरे तरफ देखते हुए नीचे गिरा दिए। हे प्रभो! इस प्रकार निरन्तर विलाप करती हुई उस अबला को राक्षस ले गया। हे प्रभो! मैंने उन आभषणों को शीघ्रता से उठाकर गुफा में रख दिया है ॥३८-३९॥

इदानीमपि पश्य त्वं जानीहि तव वा न वा ।
इत्युक्त्वानीय रामाय दर्शयामास वानरः ॥ ४०॥

विमुच्य रामस्तद्दृष्ट्वा हा सीतेति मुहुर्मुहुः ।
हृदि निक्षिप्य तत्सर्वं रुरोद प्राकृतो यथा ॥ ४१॥

आप अभी उसे देखिये और पहचानिये कि वह आभूषण सीता जी के ही हैं या नहीं। यह कहकर कपिराज सुग्रीव उन आभूषणों को लाकर राम को दिखाया। श्रीरामचन्द्र जी ने उन आभूषणों को खोलकर देखते ही उन्हें छाती से लगा लिया और साधारण मनुष्य की भाँति वारम्बार हा सीते! हा सीते! कहकर रोने लगे ॥४०-४१॥ ।

आश्वास्य राघवं भ्राता लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ।
अचिरेणैव ते राम प्राप्यते जानकी शुभा ।
वानरेन्द्रसहायेन हत्वा रावणमाहवह ॥ ४२॥

तदनन्तर भाई लक्ष्मण उन्हें आश्वासन देकर कहा -हे राम ! वानरराज सुग्रीव की सहायता से रावण को युद्ध में मारकर शीघ्र ही आप शुभलक्षणा जनकनन्दिनी को प्राप्त करेंगे ॥४२॥

सुग्रीवोऽप्याह हे राम प्रतिज्ञां करवाणि ते ।
समरे रावणं हत्वा तव दास्यामि जानकीम् ॥ ४३॥

सुग्रीव भी बोले कि हे राम! मैं आप से प्रतिज्ञा करता हूँ कि रावण को युद्ध में मारकर मैं आपको सीता को दिला दूंगा॥४३॥

ततो हनूमान् प्रज्वाल्य तयोरग्निं समीपतः ।
तावुभौ रामसुग्रीवावग्नौ साक्षिणि तिष्ठति ॥ ४४॥

बाहू प्रसार्य चालिङ्ग्य परस्परमकल्मषौ ।
समीपे रघुनाथस्य सुग्रीवः समुपाविशत् ॥ ४५॥

तब हनुमान जी ने उन दोनों के पास अग्नि को प्रज्वलित किया और निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी और सुग्रीवजी दोनों ही अग्नि को साक्षी मानकर परस्पर एक दूसरे से भुजा फैलाकर मिले। तत्पश्चात् सुग्रीव श्रीरामचन्द्रजी के पास बैठ गये ॥४४-४५॥

स्वोदन्तं कथयामास प्रणयाद्रघुनायके ।
सखे शृणु ममोदन्तं वालिना यत्कृतं पुरा ॥ ४६॥

और अत्यन्त प्रेमपूर्वक उन्हें अपना इतिवृत्त सुनाने लगे। वह बोले- सखे ! मेरा वृत्तान्त सुनिये-पूर्व समय में वाली ने मेरे साथ जो किया है वह सुनाता हूँ॥४६॥

मयपुत्रोऽथ मायावी नाम्ना परमदुर्मदः ।
किष्किन्धां समुपागत्य वालिनं समुपाह्वयत् ॥ ४७॥

एक समय अति मदोन्मत्त मय दानव के पुत्र मायावी ने किष्किन्धापुरी में आकर वाली को युद्ध के लिये ललकारा ॥४७॥

सिंहनादेन महता वाली तु तदमर्षणः ।
निर्ययौ क्रोधताम्राक्षो जघान दृढमुष्टिना ॥ ४८॥

उसके सिंहनाद से वाली की आँखे क्रोध से लाल हो गयीं और वाली ने बाहर आकर उसको बड़े जोर से एक मुक्का मारा ॥४८॥

दुद्राव तेन संविग्नो जगाम स्वगुहां प्रति ।
अनुदुद्राव तं वाली मायाविनमहं तथा ॥ ४९॥

उसके आघात से विकल होकर मायावी अपनी गुफा की ओर दौड़ा । तब वाली और मैंने, दोनों ने उसका पीछा किया ॥४९॥

ततः प्रविष्टमालोक्य गुहां मायाविनं रुषा ।
वाली मामाह तिष्ठ त्वं बहिर्गच्छाम्यहं गुहाम् ।
इत्युक्त्वाविश्य स गुहां मासमेकं न निर्ययौ ॥ ५०॥

मायावी को गुफा में गया देखकर वाली को अति क्रोध हुआ। वह मुझसे बोला-तुम यहाँ रहो मैं गुफा में जाता हूँ। यह कहकर वह गुफा में गया और एक माह व्यतीत हो जाने पर भी वह गुफा से बाहर नहीं निकला ॥५०॥

मासादूर्ध्वं गुहाद्वारान्निर्गतं रुधिरं बहु ।
तद्दृष्ट्वा परितप्ताङ्गो मृतो वालीति दुःखितः ॥ ५१॥

एक मास के अनन्तर उस गुफा के द्वार से अत्यधिक रक्त निकला। उसे देखकर मैंने यह समझा कि वाली मारा गया; जिसके कारण मुझे बड़ा दुःख और सन्ताप हुआ ॥५१॥

गुहाद्वारि शिलामेकां निधाय गृहमागतः ।
ततोऽब्रवं मृतो वाली गुहायां रक्षसा हतः ॥ ५२॥

तब उस गुफा के द्वार पर एक शिला रखकर मैं घर वापस लौट आया और सबसे यह कह दिया कि वाली गुफा में राक्षस द्वारा मारा गया ॥५२॥

तच्छ्रुत्वा दुःखिताः सर्वे मामनिच्छन्तमप्युत ।
राज्येऽभिषेचनं चक्रुः सर्वे वानरमन्त्रिणः ॥ ५३॥

यह समाचार सुनकर सभी लोग दुखी हुए। हे अच्युत ! मेरे न चाहने पर भी सभी वानर मन्त्रिगणों ने मुझे राजपद पर अभिषिक्त कर दिया ॥५३॥

शिष्टं तदा मया राज्यं किञ्चित्कालमरिन्दम ।
ततः समागतो वाली मामाह परुषं रुषा ॥ ५४॥

हे अरिन्दम ! मैंने कुछ ही समय राज्य शासन किया था कि वाली आ गया और क्रोधपूर्वक मुझे कठोर वचन कहने लगा ॥५४॥

बहुधा भर्त्सयित्वा मां निजघान च मुष्टिभिः ।
ततो निर्गत्य नगरादधावं परया भिया ॥ ५५॥

अनेक प्रकार से भर्त्सना करने के पश्च्यात उसने मुझे मुष्टि से मारा। तब मैं अति भयभीत होकर नगर छोड़कर भाग गया ॥५५॥

लोकान् सर्वान् परिक्रम्य ऋष्यमूकं समाश्रितः ।
ऋषेः शापभयात्सोऽपि नायातीमं गिरिं प्रभो ॥ ५६॥

हे प्रभो! मैं सभी लोकों में घूमकर ऋष्यमूक पर्वत पर आश्रित हूँ। ऋषि के शाप के भय से वह इस पर्वत पर नहीं आ सकता ॥५६॥

तदादि मम भार्यां स स्वयं भुङ्क्ते विमूढधीः ।
अतो दुःखेन सन्तप्तो हृतदारो हताश्रयः ॥ ५७॥

वसाम्यद्य भवत्पादसंस्पर्शात्सुखितोऽस्म्यहम् ।
मित्रदुःखेन सन्तप्तो रामो राजीवलोचनः ॥ ५८॥

हनिष्यामि तव द्वेष्यं शीघ्रं भार्यापहारिणम् ।
इति प्रतिज्ञामकरोत्सुग्रीवस्य पुरस्तदा ॥ ५९॥

तब से मेरी भार्या को वह दुर्मति स्वयं उपभोग करता है और मैं स्त्री तथा घर हरण होने के दुःख से संतप्त हूँ। आज आपके पाद-स्पर्श से मैंने सुख प्राप्त किया है। तदनन्तर मित्र के दुःख से राजीवलोचन भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ने दुखी होकर उसके सामने प्रतिज्ञा की कि मैं अति शीघ्र तुम्हारी पत्नी को हरण करने वाले तुम्हारे शत्रु को मार दूंगा ॥५७-५९॥

सुग्रीवोऽप्याह राजेन्द्र वाली बलवतां बली ।
कथं हनिष्यति भवान् देवैरपि दुरासदम् ॥ ६०॥

सुग्रीव बोले कि हे राजेन्द्र ! वाली सभी योद्धाओं में अग्रणी है। उसको पराजित करना देवताओं के लिये भी अत्यन्त कठिन है। आप उसे कैसे मार सकते हैं? ॥६०॥

शृणु ते कथयिष्यामि तद्बलं बलिनां वर ।
कदाचिद्दुन्दुभिर्नाम महाकायो महाबलः ॥ ६१॥

किष्किन्धामगमद्राम महामहिषरूपधृक् ।
युद्धाय वालिनं रात्रौ समाह्वयत भीषणः ॥ ६२॥

हे वीरवर! आप सुनें, मैं उसके बल के बारे में बतलाता हूँ। एक समय दुन्दुभि नामक एक बड़ा बलवान् और महाकाय राक्षस भैंसे का रूप धारण कर किष्किन्धापुरी में आया और उस भयानक असुर ने रात्रि के समय वाली को युद्ध के लिये ललकारा ॥६१-६२॥

तच्छ्रुत्वाऽसहमानोऽसौ वाली परमकोपनः ।
महिषं शृङ्गयोर्धृत्वा पातयामास भूतले ॥ ६३॥

उसकी ललकार को सुनकर वाली उसे सहन न कर सका और उसने अति क्रोधित होकर भैंसे की सींग पकड़कर उसे पृथिवी पर पटक दिया। ॥६३॥

पादेनैकेन तत्कायमाक्रम्यास्य शिरो महत् ।
हस्ताभ्यां भ्रामयंश्छित्त्वा तोलयित्वाक्षिपद्भुवि ॥ ६४॥

अपने एक पैर से उसके शरीर को दबाकर उस दैत्य के महान मस्तक को वाली ने अपने हाथों से घुमाकर तोड़ डाला और उसे उछालकर भूमि पर फेंक दिया ॥६४॥

पपात तच्छिरो राम मातङ्गाश्रमसन्निधौ ।
योजनात्पतितं तस्मान्मुनेराश्रममण्डले ॥ ६५॥

हे राम ! फेंकने पर वह सिर वहाँ से एक योजन दूर मुनियों के आश्रममण्डल में मतङ्ग ऋषि के आश्रम के पास आकर गिरा ॥६५॥

रक्तवृष्टिः पपातोच्चैर्दृष्ट्वा तां क्रोधमूर्च्छितः ।
मातङ्गो वालिनं प्राह यद्यागन्तासि मे गिरिम् ॥ ६६॥

इतः परं भग्नशिरा मरिष्यसि न संशयः ।
एवं शप्तस्तदारभ्य ऋष्यमूकं न यात्यसौ ॥ ६७॥

उस सिर के गिरने से यत्र-तत्र रक्त की वृष्टि हो गयी। यह देखकर महर्षि मतङ्ग जी ने क्रोधित होकर वाली को शाप दिया कि आज से यदि तू कभी मेरे इस पर्वत पर आयेगा तो निश्चय ही तेरा सिर फट जायेगा और तू म मर जाएगा। मुनीवर के शाप के कारण वह इस ऋष्यमूक पर्वत पर नहीं आता है॥६६-६७॥

एतज्ज्ञात्वाहमप्यत्र वसामि भयवर्जितः ।
राम पश्य शिरस्तस्य दुन्दुभेः पर्वतोपमम् ॥ ६८॥

इस कारण मैं इस पर्वत पर निर्भय होकर रहता हूँ। हे राम! यह पर्वत के समान दुन्दुभि का सिर देखिये ॥६८॥

तत्क्षेपणे यदा शक्तः शक्तस्त्वं वालिनो वधे ।
इत्युक्त्वा दर्शयामास शिरस्तद्गिरिसन्निभम् ॥ ६९॥

यदि आप इसे फेंकने में समर्थ होंगे तो निश्चय ही वाली का वध कर सकेंगे। यह कहकर सुग्रीव वह पर्वत के समान दुन्दुभि का शिर दिखाया ॥६९॥

दृष्ट्वा रामः स्मितं कृत्वा पादाङ्गुष्ठेन चाक्षिपत् ।
दशयोजनपर्यन्तं तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ७०॥

उस सिर को देखकर श्रीरामचन्द्रजी मुस्कुराते हुए अपने पैर के अंगूठे से उसे दश योजन दूर फेंक दिया, यह एक अद्भूत घटना हुई ॥७०॥

साधु साध्विति सम्प्राह सुग्रीवो मन्त्रिभिः सह ।
पुनरप्याह सुग्रीवो रामं भक्तपरायणम् ॥ ७१॥

एते ताला महासाराः सप्त पश्य रघूत्तम ।
एकैकं चालयित्वासौ निष्पत्रान् कुरुतेऽञ्जसा ॥ ७२॥

अपने मन्त्रियों के साथ सुग्रीव साधु-साधु कहने लगे और पुनः भक्त परायण भगवान् श्रीराम से बोले-हे रघुश्रेष्ठ! ये ताल के सात वृक्ष सुदृढ़ हैं, इसे देखिये। वाली इनमें से प्रत्येक को हिलाकर अनायास ही पत्र रहित कर देता है ॥७१-७२॥

यदि त्वमेकबाणेन विद्ध्वा छिद्रं करोषि चेत् ।

हतस्त्वया तदा वाली विश्वासो मे प्रजायते ।
तथेति धनुरादाय सायकं तत्र सन्दधे ॥ ७३॥

बिभेद च तदा रामः सप्त तालान् महाबलः ।
तालान् सप्त विनिर्भिद्य गिरिं भूमिं च सायकः ॥ ७४॥

पुनरागत्य रामस्य तूणीरे पूर्ववत्स्थितः ।
ततोऽतिहर्षात्सुग्रीवो राममाहातिविस्मितः ॥ ७५॥

देव त्वं जगतां नाथः परमात्मा न संशयः ।
मत्पूर्वकृतपुण्यौघैः सङ्गतोऽद्य मया सह ॥ ७६॥

एक बाण से ही आप यदि इनमें बेधकर छिद्र कर देंगे तो मुझे विश्वास हो जायगा कि आप वाली को मार देंगे। तदनन्तर महाबली श्रीरघुनाथजी "तथा इति" यह कहकर अपने धनुष पर बाण चढ़ाया और उन सातों ताल के वृक्षों को वेध दिया । तब वह बाण सातों ताल, पर्वत, और भूमि को वेधकर पूर्ववत् आकर श्रीरामचन्द्रजी के तरकश में स्थित हो गया। यह देखकर सुग्रीव आश्चर्य चकित होकर श्रीरामचन्द्रजी से बोले कि हे देव ! निःसन्देह आप सम्पूर्ण जगत् के स्वामी साक्षात् परमात्मा हैं। पूर्वजन्म के पुण्य समूह के कारण ही से आपसे आज मेरा संयोग हुआ है ॥७३-७६॥

त्वां भजन्ति महात्मानः संसारविनिवृत्तये ।
त्वां प्राप्य मोक्षसचिवं प्रार्थयेऽहं कथं भवम् ॥ ७७॥

महात्मा-जन संसार-बन्धन की निवृत्ति के लिये आपका भजन करते हैं; और आप मोक्ष देने वाले प्रभु को प्राप्त कर मै सांसारिक वस्तुओं की कामना कैसे करूँ ? ॥७७॥

दाराः पुत्रा धनं राज्यं सर्वं त्वन्मायया कृतम् ।
अतोऽहं देवदेवहश नाकाङ्क्षेऽन्यत्प्रसीद मे ॥ ७८॥

हे देवदेवेश्वर ! स्त्री पुत्र, धन, राज्य आदि समस्त पदार्थ आपकी माया के कार्य है। अतएव आपके अतिरिक्त अब मुझे किसी पदार्थ की ईच्छा नहीं है; आप मुझ पर कृपा कीजिए ॥७८॥

आनन्दानुभवं त्वाद्य प्राप्तोऽहं भाग्यगौरवात् ।
मृदर्थं यतमानेन निधानमिव सत्पते ॥ ७९॥

अनाद्यविद्यासंसिद्धं बन्धनं छिन्नमद्य नः ।
यज्ञदानतपःकर्मपूर्तेष्टादिभिरप्यसौ ॥ ८०॥

न जीर्यते पुनर्दार्ढ्यं भजते संसृतिः प्रभो ।
त्वत्पाददर्शनात्सद्यो नाशमेति न संशयः ॥ ८१॥

हे सत्पते ! आप आनन्दानुभव जिस प्रकार मिट्टी खोदते समय किसी को निधि प्राप्त हो जाय उसी प्रकार बड़े भाग्य से आप आज मुझे प्राप्त हुए हैं। आज मेरा अनादि अविद्या का बन्धन कट गया। हे प्रभो! यह संसार रूपी बन्धन यज्ञ, दान, तप तथा इष्टापूर्ति आदि कर्मों से भी नहीं कटता और दृढ़ ही हो जाता है। परन्तु आपके चरणों के दर्शन से निःसन्देह यह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥७९-८१॥

क्षणार्धमपि यच्चित्तं त्वयि तिष्ठत्यचञ्चलम् ।
तस्याज्ञानमनर्थानां मूलं नश्यति तत्क्षणात् ॥ ८२॥

तत्तिष्ठतु मनो राम त्वयि नान्यत्र मे सदा ॥ ८३॥

जिसका चित्त आधे क्षण भी निश्चल होकर आपके ध्यान में स्थित होता है, उसका सम्पूर्ण अनर्थों का मूलकारण अज्ञान तत्क्षण ही समाप्त हो जाता है। अत: हे राम ! मेरा मन सतत आप में संलग्न रहे, वह आपको छोड़कर अन्यत्र कहीं भी न जाय ॥८२-८३॥

रामरामेति यद्वाणी मधुरं गायति क्षणम् ।
स ब्रह्महा सुरापो वा मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ८४॥

एक क्षण भी जिसकी बाणी राम-राम यह मधुर गान करे वह ब्रह्मघाती अथवा मद्य पान करने वाला ही क्यों न हो, सभी पापों से छूट जाता है ॥८४॥

न काङ्क्षे विजयं राम न च दारसुखादिकम् ।
भक्तिमेव सदा काङ्क्षे त्वयि बन्धविमोचनीम् ॥ ८५॥

हे राम ! न मुझे विजय की आकाङ्क्षा है और न स्त्री सुख की ही आकाङ्क्षा है । भव-बन्धन-विमोचनी आपकी भक्ति ही मै चाहता हूँ ॥८५॥

त्वन्मायाकृतसंसारस्त्वदंशोऽहं रघूत्तम ।
स्वपादभक्तिमादिश्य त्राहि मां भवसङ्कटात् ॥ ८६॥

हे रघुश्रेष्ठ ! यह संसार आपकी माया का विलास है और मैं आपका ही अंश हूँ। अत: अपने चरणारविन्द की भक्ति मुझे देकर भव संकट से रक्षा कीजिये ॥८६॥

पूर्वं मित्रार्युदासीनास्त्वन्मायावृतचेतसः ।
आसन्मेऽद्य भवत्पाददर्शनादेव राघव ॥ ८७॥

सर्वं ब्रह्मैव मे भाति क्व मित्रं क्व च मे रिपुः ।
यावत्त्वन्मायया बद्धस्तावद्गुणविशेषता ॥ ८८॥

सा यावदस्ति नानात्वं तावद्भवति नान्यथा ।
यावन्नानात्वमज्ञानात्तावत्कालकृतं भयम् ॥ ८९॥

पहले आपकी माया से ढका हुआ मेरा मन अपने शत्रु -मित्र-उदासीन आदि में लगा था परन्तु आपके चरणारविन्द का दर्शन होते ही सबकुछ मुझे ब्रह्म-स्वरूप ही प्रकाशित हो रहा है। हे प्रभो! कौन मेरा मित्र और कौन मेरा शत्र ? जीव जब-तक आपकी माया से आवृत्त रहता है, तब तक यह अज्ञान जन्य भेद रहता है और तभी तक प्राणी को मृत्यु का भय रहता है।॥८७-८९॥

अतोऽविद्यामुपास्ते यः सोऽन्धे तमसि मज्जति ।
मायामूलमिदं सर्वं पुत्रदारादिबन्धनम् ।
तदुत्सारय मायां त्वं दासीं तव रघूत्तम ॥ ९०॥

अतः जो व्यक्ति अविद्या की उपासना करता है वह घोर-अन्धकार में पड़ता है। यह पुत्र स्त्री आदि सम्पूर्ण बन्धन मायामूल ही हैं। अत-

एव हे रघूत्तम ! अपनी दासी रूप इस माया को मुझसे दूर कीजिये ॥९०॥

त्वत्पादपद्मार्पितचित्तवृत्तिस्त्वन्नामसङ्गीतकथासु वाणी ।
त्वद्भक्तसेवानिरतौ करौ मे त्वदङ्गसङ्गं लभतां मदङ्गम् ॥ ९१॥

हे प्रभो। मेरा चित्तवृत्त हमेशा आपके चरणारविन्द में लगा रहे, मेरी वाणी हमेशा आपके नाम संकीर्तन और कथा-वार्ता में संलग्न रहे और हाथ आपके भक्तों को सेवा में लगे रहें तथा मेरा शरीर हमेशा आपका अङ्ग-सङ्ग करता रहे ॥११॥

त्वन्मूर्तिभक्तान् स्वगुरुं च चक्षुः पश्यत्वजस्रं स शृणोतु कर्णः ।
त्वज्जन्मकर्माणि च पादयुग्मं व्रजत्वजस्रं तव मन्दिराणि ॥ ९२॥

नेत्र हमेशा आपकी मूर्ति, आपके भक्तजन और अपने गुरु का दर्शन करते रहें, कान हमेशा आपके अवतारों की लीला-कथा का श्रवण करें और मेरे पैर हमेशा आपके मन्दिरों की यात्रा करते रहे ॥९२॥

अङ्गानि ते पादरजोविमिश्रर्थानि बिभ्रत्वहिशत्रुकेतो ।
शिरस्त्वदीयं भवपद्मजाद्यैर्जुष्टं पदं राम नमत्वजस्त्रम् ॥ ९३॥

हे गरुडध्वज! मेरा शरीर आपके चरणरज से युक्त तीर्थोदक धारण करे और जिनकी शिव, ब्रह्मा आदि देवगण हमेशा सेवा करते हैं मेरा सिर हमेशा आपके चरणों में प्रणाम करें ॥१३॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे किष्किन्धाकाण्डे
प्रथमः सर्गः ॥ १॥

॥ द्वितीय सर्गः ॥

वाली का वध और भगवान् श्रीराम के साथ उसका सम्भाषण

इत्थं स्वात्मपरिष्वङ्गनिर्धूताशेषकल्मषम् ।
रामः सुग्रीवमालोक्य सस्मितं वाक्यमब्रवीत् ॥ १॥

मायां मोहकरीं तस्मिन् वितन्वन् कार्यसिद्धये ।
सखे त्वदुक्तं यत्तन्मां सत्यमेव न संशयः ॥ २॥

श्रीमहादेवजी बोले-हे पार्वति ! इस तरह अपने संसर्ग से समस्त पापो के क्षय के पश्च्यात, पुण्यआत्मा सुग्रीव को देखकर श्रीरघुनाथजी ने कार्य सिद्ध करने के लिये उसपर मोह उत्पन्न करनेवाली अपनी माया का विस्तार करते हुए मुस्कुराकर कहा -हे मित्र! तुमने जो कहा है, वह निःसन्देह ठीक ही है ॥१-२॥

किन्तु लोका वदिष्यन्ति मामेवं रघुनन्दनः ।
कृतवान् किं कपीन्द्राय सख्यं कृत्वाग्निसाक्षिकम् ॥ ३॥

किन्तु समाज तो यही कहेगा रघुनाथजी ने वानरराज सुग्रीव से अग्नि को साक्षी मान कर मित्रता की, परन्तु केवल सुग्रीव ने ही श्रीराम का कार्य सिद्ध किया। श्री राम ने सुग्रीव का कोई भी कार्य नहीं किया ॥३॥

इति लोकापवादो मे भविष्यति न संशयः ।
तस्मादाह्वय भद्रं ते गत्वा युद्धाय वालिनम् ॥ ४॥

इस प्रकार संसार में निःसन्देह मेरी निन्दा होगी। एक तुम्हारा कल्याण हो, तुम अभी जाकर युद्ध के लिये वाली को ललकारो ॥ ४॥

बाणेनैकेन तं हत्वा राज्ये त्वामभिषेचये ।
तथेति गत्वा सुग्रीवः किष्किन्धोपवनं द्रुतम् ॥ ५॥

कृत्वा शब्दं महानादं तमाह्वयत वालिनम् ।
तच्छ्रुत्वा भ्रातृनिनदं रोषताम्रविलोचनः ॥ ६॥

निर्जगाम गृहाच्छीघ्रं सुग्रीवो यत्र वानरः ।
तमापतन्तं सुग्रीवः शीघ्रं वक्षस्यताडयत् ॥ ७॥

उसे एक ही बाण से मारकर मैं तुम्हें राजपद पर अभिषिक्त कर देगा। "तथा इति" यह कहकर सुग्रीव अति शीघ्र किष्किन्धापुरी के उपवन में गया और वाली को युद्ध की इच्छा से पुकारने के लिए महानाद किया। अपने भाई सुग्रीव के महानाद को सुनकर वाली क्रोध से लाल हो गया और वह तत्काल अपने घर से निकलकर वानरराज सुग्रीव के पास आया। उसे आते ही उसके वक्षस्थल में सुग्रीव ने मुक्का मारा ॥५-७॥

सुग्रीवमपि मुष्टिभ्यां जघान क्रोधमूर्छितः ।
वाली तमपि सुग्रीव एवं क्रुद्धौ परस्परम् ॥ ८॥

अयुद्ध्येतामेकरूपौ दृष्ट्वा रामोऽतिविस्मितः ।
न मुमोच तदा बाणं सुग्रीववधशङ्कया ॥ ९॥

बाली ने भी क्रोधित होकर सुग्रीव पर अपने दोनों हाथों से प्रहार किया और सुग्रीव ने भी वाली पर आक्रमण किया, इस प्रकार वह दोनों अति क्रोधपूर्वक एक दुसरे से युद्ध करने लगे। युद्ध में उन दोनों को एक साथ देखकर श्री राम ने चकित होकर, सुग्रीव के वध की आशंका से बाण नहीं छोड़ा ॥८-९॥

ततो दुद्राव सुग्रीवो वमन् रक्तं भयाकुलः ।
वाली स्वभवनं यातः सुग्रीवो राममब्रवीत् ॥ १०॥

किं मां घातयसे राम शत्रुणा भ्रातृरूपिणा ।
यदि मद्धनने वाञ्छा त्वमेव जहि मां विभो ॥ ११॥

अन्त में सुग्रीव भय से व्याकुल होकर रक्त वमन करता हुआ वहां से भाग आया और वाली अपने घर पर चला गया। सुग्रीव श्रीराम से बोला -हे राम ! आप इस भ्रातारूपी, शत्रु से मुझे मरवाना चाहते हैं क्या ? हे प्रभो ! मुझे मरवाने की ही यदि आपकी इच्छा है तो आप स्वयं ही मुझे मार दीजिये ॥१०-११॥

एवं मे प्रत्ययं कृत्वा सत्यवादिन् रघूत्तम ।
उपेक्षसे किमर्थं मां शरणागतवत्सल ॥ १२॥

श्रुत्वा सुग्रीववचनं रामः साश्रुविलोचनः ।
आलिङ्ग्य मा स्म भैषीस्त्वं दृष्ट्वा वामेकरूपिणौ ॥ १३॥

मित्रघातित्वमाशङ्क्य मुक्तवान् सायकं न हि ।
इदानीमेव ते चिह्नं करिष्ये भ्रमशान्तये ॥ १४॥

हे सत्यवादी रघूत्तम ! आप तो शरणागत वत्सल हैं, फिर मझे विश्वास दिलाकरआप इस प्रकार मेरी उपेक्षा क्यों करते हैं। सुग्रीव की यह बात सुनकर श्रीरामचन्द्रजी ने उसे हृदय से लगा लिया और सजलनेत्र होकर बोले-भाई ! तुम डरो मत, तुम दोनों का एक जैसा रूप देखकर, मित्र के वध की आशंका से मैंने बाण नहीं छोड़ा। इस भ्रम को दूर करने के लिये मैं तुम्हारे शरीर में अब कोई एक चिन्ह स्थापित करूंगा ॥१२-१४॥

गत्वाह्वय पुनः शत्रुं हतं द्रक्ष्यसि वालिनम् ।
रामोऽहं त्वां शपे भ्रातर्हनिष्यामि रिपुं क्षणात् ॥ १५॥

तुम एक बार फिर जाकर अपने शत्रु को पुकारो, तुम वाली को मरा हुआ देखोगे। भाई! मैं राम तुम्हारी शपथ कर कहता हूँ कि इस बार मैं क्षणभर में तुम्हारे शत्रु को मार दूंगा ॥१५॥

इत्याश्वास्य स सुग्रीवं रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
सुग्रीवस्य गले पुष्पमालामामुच्य पुष्पिताम् ॥ १६॥

इस प्रकार सुग्रीव को आश्वासन देकर श्रीराम चन्द जी ने लक्ष्मण से कहा-लक्ष्मणा! खिले हुए फूलों की एक माला सुग्रीव के गले में डाल दो ॥ १६॥

प्रेषयस्व महाभाग सुग्रीवं वालिनं प्रति ।
लक्ष्मणस्तु तदा बद्ध्वा गच्छ गच्छेति सादरम् ॥ १७॥

प्रेषयामास सुग्रीवं सोऽपि गत्वा तथाकरोत् ।
पुनरप्यद्भुतं शब्दं कृत्वा वालिनमाह्वयत् ॥ १८॥

हे महाभाग! सुग्रीव को वाली से लड़ने के लिये भेज दो। तब लक्ष्मण जी ने सुग्रीव के गले में माला डालकर आदरपूर्वक कहा कि भाई ! तुम जाओ, यह कहकर लक्ष्मण जी ने सुग्रीव को लड़ने के लिये भेज दिये। सुग्रीव ने वहाँ पहुँचकर पुनः अद्‌भुत शब्द से सिंहनाद करते हुए वाली को पुकारा ॥ १७-१८॥

तच्छ्रुत्वा विस्मितो वाली क्रोधेन महतावृतः ।
बद्‌ध्वा परिकरं सम्यग्गमनायोपचक्रमे ॥ १९॥

गच्छन्तं वालिनं तारा गृहीत्वा निषिषेध तम् ।
न गन्तव्यं त्वयेदानीं शङ्का मेऽतीव जायते ॥ २०॥

इदानीमेव ते भग्नः पुनरायाति सत्वरः ।
सहायो बलवांस्तस्य कश्चिन्नूनं समागतः ॥ २१॥

वाली तामाह हे सुभ्रु शङ्का ते व्येतु तद्गता ।
प्रिये करं परित्यज्य गच्छ गच्छामि तं रिपुम् ॥ २२॥

हत्वा शीघ्रं समायास्ये सहायस्तस्य को भवहत् ।
सहायो यदि सुग्रीवस्ततो हत्वोभयं क्षणात् ॥ २३॥

आयास्ये मा शुचः शूरः कथं तिष्ठेद् गृहे रिपुम् ।
ज्ञात्वाप्याह्वयमानं हि हत्वायास्यामि सुन्दरि ॥ २४॥

यह सुनकर वाली अति विस्मित हुआ और अति क्रोधपूर्वक अपनी कमर कसकर चलने के लिये तैयार हो गया। उसे जाते हुए देखकर

वाली की सकी स्त्री ने उसका हाथ पकड़कर उसे रोका और बोली देव! मेरे ह्रदय में बड़ी आशंका हो रही है, इस समय आप मत जाइए। यह अभी आप से पराजित होकर भागा था और शीघ्र ही लौट आया। ऐसा प्रतीत होता है कि उसे कोई बलवान सहायक मिल गया है । ऐसा सुनकर वाली बोला -हे सुन्दर भृकुटी वाली! यदि सुग्रीव का कोई सहायक होगा तो भी क्षणभर में ही दोनों को मारकर आ जाऊँगा। हे सुन्दरी ! तुम किसी प्रकार की चिन्ता मत करो। शत्रु की ललकार सुनकर कोई शूरवीर घर में कैसे रूक सकता है? अत: मैं उसे अवश्य मारकर आऊँगा ॥१९-२४॥

तारोवाच
मत्तोऽन्यच्छृणु राजेन्द्र श्रुत्वा कुरु यथोचितम् ।
आह मामङ्गदः पुत्रो मृगयायां श्रुतं वचः ॥ २५॥

तारा बोली-हे राजेन्द्र ! मुझसे अन्य भी वृत्तान्त सुनिये और उसे सुनकर आप जैसा उचित समझें वैसा करें। अंगद ने मृगया के समय सुनी हुई बातें मुझसे कहीं हैं ॥२५॥

अयोध्याधिपतिः श्रीमान् रामो दाशरथिः किल ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सीतया भार्यया सह ॥ २६॥

आगतो दण्डकारण्यं तत्र सीता हृता किल ।
रावणेन सह भ्रात्रा मार्गमाणोऽथ जानकीम् ॥ २७॥

आगतो ऋष्यमूकाद्रिं सुग्रीवहण समागतः ।
चकार तेन सुग्रीवः सख्यं चानलसाक्षिकम् ॥ २८॥

अयोध्याधिपति दशरथनन्दन भगवान श्रीरामचन्द्रजी अपने भाई लक्ष्मण और सीता के साथ दण्डकारण्य में आये थे। उस स्थान पर रावण ने सीता का हरण कर लिया है। श्रीरामचन्द्रजी अपनी भार्या जानकी जी को खोजते हुए अपने भाई लक्ष्मण के साथ सुग्रीव से मिले हैं। उस स्थान पर सुग्रीव ने अग्नि को साक्षी मानकर उनसे मित्रता की है ॥२६-२८॥

प्रतिज्ञां कृतवान् रामः सुग्रीवाय सलक्ष्मणः ।
वालिनं समरे हत्वा राजानं त्वां करोम्यहम् ॥ २९॥

श्रीरामचन्द्रजी ने भी लक्ष्मणजी के साथ सुग्रीव से प्रतिज्ञा की है कि मैं युद्ध में वाली को मारकर तुम्हें राजा बना दूंगा । २९॥

इति निश्चित्य तौ यातौ निश्चितं शृणु मद्वचः ।
इदानीमेव ते भग्नः कथं पुनरुपागतः ॥ ३०॥

इसी उद्देश्य से वह दोनों यहाँ आये हैं, मेरी यह बात सच मानिये। अन्यथा अभी-अभी आप से मार खाकर भागा हुआ सुग्रीव इतनी जल्दी कैसे लौट आया ? ॥३०॥

अतस्त्वं सर्वथा वैरं त्यक्त्वा सुग्रीवमानय ।
यौवराज्येऽभिषिञ्चाशु रामं त्वं शरणं व्रज ॥ ३१॥

अत: आप सुग्रीव से वैर भाव छोड़कर उसे यहाँ लाइये और शीघ्र ही उसे युवराज पद पर अभिषिक्त कर श्रीरामचन्द्रजी की शरण में जाइये ॥३१॥

पाहि मामङ्गदं राज्यं कुलं च हरिपुङ्गव ।
इत्युक्त्वाश्रुमुखी तारा पादयोः प्रणिपत्य तम् ॥ ३२॥

हे कपिश्रेष्ठ ! आप कृपया, अङ्गद, इस राज्य और कुल की रक्षा के लिए यह कीजिये। यह कहकर तारा वाली के चरणों में गिर पड़ी। उस समय तारा के मुखपर अश्रुधाराएँ बह रहीं थीं ॥३२॥

हस्ताभ्यां चरणौ धृत्वा रुरोद भयविह्वला ।
तामालिङ्ग्य तदा वाली सस्नेहमिदमब्रवीत् ॥ ३३॥

स्त्रीस्वभावाद्बिभेषि त्वं प्रिये नास्ति भयं मम ।
रामो यदि समायातो लक्ष्मणेन समं प्रभुः ॥ ३४॥

तदा रामेण मे स्नेहो भविष्यति न संशयः ।
रामो नारायणः साक्षादवतीर्णोऽखिलप्रभुः ॥ ३५॥

भूभारहरणार्थाय श्रुतं पूर्वं मयानघे ।
स्वपक्षः परपक्षो वा नास्ति तस्य परात्मनः ॥ ३६॥

वह भय से विह्वल होकर अपने दोनों हाथों से वाली के चरण पकड़कर फूट-फूट कर रोने लगी। तत्पश्चात् वाली प्रेमपूर्वक तारा का आलिङ्गन कर बोला-प्रिये ! तुम स्त्री स्वभाव से व्यर्थ ही डरती हो, मुझे तो कोई भय का कारण दिखलायी नहीं पड़ता। लक्ष्मण के सहित प्रभु श्रीराम यदि यहाँ आए हैं तो निःसन्देह उनसे मेरा प्रेम हो जायगा। हे अनघे ! श्री राम तो साक्षात् सर्वेश्वर श्रीनारायण हैं। उन्होंने पृथ्वी का भार हरण करने के लिए ही अवतार लिया हैं, इसे मैंने पहले से ही

सुन रखा है। वह प्रकृति आदि से परे सर्व आत्मा हैं, उनका न कोई अपना है और न कोई पराया है ॥३३-३६॥

आनेष्यामि गृहं साध्वि नत्वा तच्चरणाम्बुजम् ।
भजतोऽनुभजत्येष भक्तिगम्यः सुरेश्वरः ॥ ३७॥

हे साध्वि ! उनके चरण कमलों में प्रणाम कर मैं उन्हें घर ले आऊँगा। वह सुरेश्वर भक्ति से प्राप्त होते हैं और उनका भजन करनेवाले पर वह प्रसन्न रहते हैं ॥३७ ॥

यदि स्वयं समायाति सुग्रीवो हन्मि तं क्षणात् ।
यदुक्तं यौवराज्याय सुग्रीवस्याभिषेचनम् ॥ ३८॥

कथमाहूयमानोऽहं युद्धाय रिपुणा प्रिये ।
शूरोऽहं सर्वलोकानां सम्मतः शुभलक्षणे ॥ ३९॥

भीतभीतमिदं वाक्यं कथं वाली वदेत्प्रिये ।
तस्माच्छोकं परित्यज्य तिष्ठ सुन्दरि वहश्मनि ॥ ४०॥

यदि सुग्रीव अकेला ही आया है तो एक क्षण में ही मैं उसे मार दूंगा। हे शुभलक्षणे ! प्रिये ! तू सुग्रीव को युवराज पद पर अभिषिक्त करने के लिए कहती हो तो मैं भी सम्पूर्ण लोकों में माननीय शूरवीर हूँ। शत्रु के द्वारा ललकारे जाने पर भी उसके भय से वाली ऐसा कैसे कह सकता है। अत: हे सुन्दरि! तुम निःसन्देह होकर घर पर रहो॥ ३८-४०॥

एवमाश्वास्य तारां तां शोचन्तीमश्रुलोचनाम् ।

गतो वाली समुद्युक्तः सुग्रीवस्य वधाय सः ॥ ४१॥

इस प्रकार शोकाश्रुपूर्ण नेत्र तारा को वाली आश्वासन देकर सुग्रीव को मारने के उद्देश्य से चला गया ॥४१॥

दृष्ट्वा वालिनमायान्तं सुग्रीवो भीमविक्रमः ।
उत्पपात गले बद्धपुष्पमालो मतङ्गवत् ॥ ४२॥

वाली को आते हुए देखकर भीम पराक्रमी सुग्रीव गले में पुष्पमाला पहने हुए गजराज के समान उछलने लगा ॥ ४२ ॥

मुष्टिभ्यां ताडयामास वालिनं सोऽपि तं तथा ।
अहन्वाली च सुग्रीवं सुग्रीवो वालिनं तथा ॥ ४३॥

और सुप्रीव अपने मुष्टि प्रहार से वाली पर प्रहार किया और वाली ने भी सुग्रीव पर उसी प्रकार प्रहार किया; दोनों बारम्बार एक दूसरे पर प्रहार करने लगे॥४३॥

रामं विलोकयन्नेव सुग्रीवो युयुधे युधि ।
इत्येवं युद्ध्यमानौ तौ दृष्ट्वा रामः प्रतापवान् ॥ ४४॥

बाणमादाय तूणीरादैन्द्रे धनुषि सन्दधे ।
आकृष्य कर्णपर्यन्तमदृश्यो वृक्षखण्डगः ॥ ४५॥

निरीक्ष्य वालिनं सम्यग्लक्ष्यं तद्धृदयं हरिः ।
उत्ससर्जाशनिसमं महावहगं महाबलः ॥ ४६॥

राम को देखता हुआ ही सुग्रीव युद्ध में लड़ रहा था। परमप्रतापी श्रीरामचन्द्रजी इस प्रकार उन दोनों को लड़ते हुए देखकर अपने तरकस से एक बाण निकाल कर अपने ऐन्द्र धनुष पर चढ़ाया । और एक वृक्ष की ओट में धनुष को कर्णपर्यन्त खींच कर महापराक्रमी श्रीहरि ने वाली को देखकर उसके हृदय को लक्ष्य कर वज्र के समान कठोर और महावेगशाली बाण छोड़ दिया ॥४४-४६ ॥

बिभेद स शरो वक्षो वालिनः कम्पयन् महीम् ।
उत्पपात महाशब्दं मुञ्चन् स निपपात ह ॥ ४७॥

उस बाण ने वाली के वक्षःस्थल को बेध दिया। बाण के लगते घोर शब्द का हुआ वाली उछलकर पृथ्वी पर गिर पड़ा जिससे पृथ्वी कम्पायमान हो उठी॥ ४७ ॥

तदा मुहूर्त्तं निःसन्ज्ञो भूत्वा चेतनमाप सः ।
ततो वाली ददर्शाग्रे रामं राजीवलोचनम् ।
धनुरालम्ब्य वामेन हस्तेनान्येन सायकम् ॥ ४८॥

बिभ्राणं चीरवसनं जटामुकुटधारिणम् ।
विशालवक्षसं भ्राजद्वनमालाविभूषितम् ॥ ४९॥

उस समय वह एक मुहूर्त के लिए मूर्छित हो गया, और जब उसे होश आया तो उसने अपने सामने कमलनयन श्रीरघुनाथजी को खड़ा देखा। श्री राम बायें हाथ से धनुष का सहारा कर दायें हाथ में बाण लिये हुए थे, शरीर पर चीरवस्त्र धारण किया हुआ था तथा सिर पर

जटाओं का मुकुट धारण किया थे। उनका विशाल वक्षःस्थल मनोहर वनमाला से विभूषित था ॥ ४८-४९ ॥

पीनचार्वायतभूजं नवदूर्वादलच्छविम् ।
सुग्रीवलक्ष्मणाभ्यां च पार्श्वयोः परिसेवितम् ॥ ५०॥

उनकी भुजाएँ स्थूल, सुन्दर और लम्बी थीं, उनके शरीर की कान्ति नव दुर्वादल के समान श्यामवर्ण की थी। उनके दोनों तरफ सुग्रीव और लक्ष्मण सेवा में तत्पर थे ॥ १०॥

विलोक्य शनकैः प्राह वाली रामं विगर्हयन् ।
किं मयापकृतं राम तव येन हतोऽस्म्यहम् ॥ ५१॥

श्रीरामचन्द्रजी को देखकर वाली ने उन्हें तिरस्कृत करते हुए धीरे से कहा हे राम! मैने आपका कौन सा अनिष्ट किया था कि आपने मुझे मारा ॥ ५१॥

राजधर्ममविज्ञाय गर्हितं कर्म ते कृतम् ।
वृक्षखण्डे तिरोभूत्वा त्यजता मयि सायकम् ॥ ५२॥

राजनीति न जानने के कारण ही आपने ऐसा निन्दनीय कर्म किया है। इस प्रकार वृक्ष की आड़ में छिपकर मेरे ऊपर वाण छोड़ते हुए ॥ ५२ ॥

यशः किं लप्स्यसे राम चोरवत्कृतसङ्गरः ।
यदि क्षत्रियदायादो मनोर्वंशसमुद्भवः ॥ ५३॥

युद्धं कृत्वा समक्षं मे प्राप्यसे तत्फलं तदा ।
सुग्रीवहण कृतं किं ते मया वा न कृतं किमु ॥ ५४॥

चोर के समान युद्ध करने से क्या आप यश प्राप्त करेंगे? यदि आपका जन्म मनु के वंश में हुआ है, आप क्षत्रिय कुमार हैं, तो मेरे समक्ष आकर युद्ध करते तो आपको उसका फल भी मिलता; सुग्रीव ने आपका कौन सा कार्य किया है और मैंने आपका कौन सा कार्य नहीं किया ॥ ५३-५४॥

रावणेन हृता भार्या तव राम महावने ।
सुग्रीवं शरणं यातस्तदर्थमिति शुश्रुम ॥ ५५॥

हे राम ! महावन में रावण ने आपकी भार्या सीता का हरण किया है, इसलिए आप सुग्रीव की शरण में आये हैं ॥ ५५ ॥

बत राम न जानीषे मद्बलं लोकविश्रुतम् ।
रावणं सकुलं बद्ध्वा ससीतं लङ्कया सह ॥ ५६॥

आनयामि मुहूर्त्तार्द्धाद्यदि चेच्छामि राघव ।
धर्मिष्ठ इति लोकेऽस्मिन् कथ्यसे रघुनन्दन ॥ ५७॥

वानरं व्याधवद्धत्वा धर्मं कं लप्स्यसे वद ।
अभक्ष्यं वानरं मांसं हत्वा मां किं करिष्यसि ॥ ५८॥

परन्तु मेरे विश्वविख्यात बल को आप नहीं जानते हैं। हे राघव ! मैं कुलसहित रावण को बाँधकर सीता और लंका के सहित आधे मुहूर्त में ले आता। हे रघुनन्दन! इस संसार में आप बड़े धर्मात्मा कहे जाते

हैं, व्याध के समान एक वानर को मारकर आपको कौन सा धर्म प्राप्त होगा ? वानर का मांस अभक्ष्य होता है अत: मुझे मार कर आप क्या प्राप्त करेंगे ? ॥५६- ५८ ॥

इत्येवं बहु भाषन्तं वालिनं राघवोऽब्रवीत् ।
धर्मस्य गोप्ता लोकेऽस्मिंश्चरामि सशरासनः ॥ ५९॥

वाली के यह कहने पर श्रीरघुनाथजी बोले-धर्म की रक्षा करने हेतु मै संसार में धनुष धारण कर विचरण करता हूँ। ॥५९॥

अधर्मकारिणं हत्वा सद्धर्मं पालयाम्यहम् ।
दुहिता भगिनी भ्रातुर्भार्या चैव तथा स्नुषा ॥ ६०॥

समा यो रमते तासामेकामपि विमूढधीः ।
पातकी स तु विज्ञेयः स वध्यो राजभिः सदा ॥ ६१॥

मै अधर्म करने वालों को मारकर सद्धर्म का पालन करता हूँ। दुहिता, बहन, अनुज वधू, पुत्र वधू यह सभी समान है। जो मूढ व्यक्ति इनमें से किसी भी एक के साथ रमण करता है उसे महापातकी जानना चाहिये और राजा को उसे मार देना चाहिये ॥ ६०-६१ ॥

त्वं तु भ्रातुः कनिष्ठस्य भार्यायां रमसे बलात् ।
अतो मया धर्मविदा हतोऽसि वनगोचर ॥ ६२॥

रे वनचर ! तू अपने छोटे भाई की स्त्री का बलात् रमण करता था। अत: मुझ धर्मात्मा ने तुझे मारा ॥ ३२॥

त्वं कपित्वान्न जानीषे महान्तो विचरन्ति यत् ।
लोकं पुनानाः सञ्चारैरतस्तान्नातिभाषयेत् ॥ ६३॥

वानर होने से तू यह नहीं जानता कि महान लोग जहाँ विचरण करते हैं वहाँ अपने आचरणों से संसार को पवित्र करते हैं। अत: उनसे इस प्रकार नहीं बोलना चाहिये ॥ ६३ ॥

तच्छ्रुत्वा भयसन्त्रस्तो ज्ञात्वा रामं रमापतिम् ।
वाली प्रणम्य रभसाद्रामं वचनमब्रवीत् ॥ ६४॥

यह सुनकर वाली भयभीत हो गया और उन्हें साक्षात् रमापति श्रीनारायण जानकर शीघ्रता से प्रणाम कर बोला ॥ ६४ ॥

राम राम महाभाग जाने त्वां परमेश्वरम् ।
अजानता मया किञ्चिदुक्तं तत्क्षन्तुमर्हसि ॥ ६५॥

हे राम! हे राम! हे महाभाग! आप साक्षात् परमेश्वर को मैं समझ गया। अज्ञान वश मैंने जो कुछ कहा हैं उसे आप क्षमा करें ॥६५॥

साक्षात्त्वच्छरघातेन विशेषेण तवाग्रतः ।
त्यजाम्यसून् महायोगिदुर्लभं तव दर्शनम् ॥ ६६॥

आपका दर्शन योगियों को भी दुर्लभ है, और मैं साक्षात् आपका बाण लगने से, विशेषरूप से आपके सामने मने प्राण छोड़ रहा हूँ। ॥६६ ॥

यन्नाम विवशो गृह्णन् म्रियमाणः परं पदम् ।

यति साक्षात्स एवाद्य मुमूर्षोर्मे पुरः स्थितः ॥ ६७॥

मृत्यु के समय जिनका नाम लेने से प्राणी परमपद को प्राप्त करता है, वही आप इस अन्तिम समय में आज साक्षात् मेरे सामने उपस्थित हैं ॥६७ ॥

देव जानामि पुरुषं त्वां श्रियं जानकीं शुभाम् ।
रावणस्य वधार्थाय जातं त्वां ब्रह्मणार्थितम् ॥ ६८॥

हे देव ! यह में जानता हूँ कि आप साक्षात् परमपुरुष नारायण हैं और जानकीजी श्रीलक्ष्मीजी हैं। ब्रह्माजी की प्रार्थना करने के कारण आपने रावण का वध करने के लिये अवतार लिया है॥६८॥

अनुजानीहि मां राम यान्तं त्वत्पदमुत्तमम् ।
मम तुल्यबले बाले अङ्गदे त्वं दयां कुरु ॥ ६९॥

हे राम ! में अब आपके उत्तम धाम को जा रहा हूँ। आप मुझे आज्ञा दीजिये। मेरे ही समान बलशाली, मेरे बालक अंगद पर आप दया कीजिये ॥ ६९ ॥

विशल्यं कुरु मे राम हृदयं पाणिना स्पृशन् ।
तथेति बाणमुद्धृत्य रामः पस्पर्श पाणिना ।
त्यक्त्वा तद्वानरं देहममरेन्द्रोऽभवत्क्षणात् ॥ ७०॥

हे राम ! मेरे हृदय को आपने हाथों से स्पर्श करते हुए इस बाण को निकाल दीजिये। तत्पश्चात् श्री रामचन्द्रजी ने 'तथा इति' यह कहकर

उसे स्पर्श करते हुए बाण निकाल दिया। तब वाली वानर का शरीर छोड़कर तत्क्षण इन्द्र रूप में स्थित हो गया ॥ ७० ॥

वाली रघूत्तमशराभिहतो विमृष्टो
रामेण शीतलकरेण सुखाकरेण ।
सद्यो विमुच्य कपिदेहमनन्यलभ्यं
प्राप्तं पदं परमहंसगणैर्दुरापम् ॥ ७१॥

हे पार्वति ! वाली श्रीरघुनाथजी के बाण से मारा गया और उनके करकमल के शीतल स्पर्श से तुरंत अपने वानर शरीर को छोड़कर अनन्यलभ्य परमपद को प्राप्त किया, जो परम हंसों को भी प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है ॥ ७१॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे किष्किन्धाकाण्डे
द्वितीयः सर्गः ॥ २॥

॥ तृतीय सर्गः ॥

तारा का विलाप, श्रीरामचन्द्रजी का तारा को समझाना तथा सुग्रीव को राजपद प्राप्त करना

निहते वालिनि रणे रामेण परमात्मना ।
दुद्रुवुर्वानराः सर्वे किष्किन्धां भयविह्वलाः ॥ १॥

तारामूचुर्महाभागे हतो वाली रणाजिरे ।
अङ्गदं परिरक्षाद्य मन्त्रिणः परिनोदय ॥ २॥

श्रीमहादेवजी बोले हे पार्वति ! युद्ध में परमात्मा राम से बाली को मारे जाने से भय से व्याकुल हो सभी वानर गण किष्किन्धापुरी में दौड़े और तारा से बोले हे महाभागे! वानरराज वाली रण में मारे गये। अब आप अंगद की रक्षा कीजिये और मन्त्रियों को सावधान कीजिये ॥ १-२॥

चतुर्द्वारकपाटादीन् बद्ध्वा रक्षामहे पुरीम् ।
वानराणां तु राजानमङ्गदं कुरु भामिनि ॥ ३॥

हे भामिनी ! हमलोग नगर के चारो द्वारों के कपाटों को लगाकर नगर की रक्षा करते हैं, आप अंगद को वानरों का राजा बनाइये॥३॥

निहतं वालिनं श्रुत्वा तारा शोकविमूर्छिता ।
अताडयत्स्वपाणिभ्यां शिरो वक्षश्च भूरिशः ॥ ४॥

किमङ्गदेन राज्येन नगरेण धनेन वा ।
इदानीमेव निधनं यास्यामि पतिना सह ॥ ५॥

वाली को मरा हुआ सुनकर, शोक से मूर्छित होकर तारा अपने सिर छाती को बारम्बार पीटने लगी और बोली, मुझे अंगद, राज्य, नगर अथवा धन से क्या प्रयोजन ? मैं तो अपने पति के साथ प्राण त्याग दूंगी॥४-५॥

इत्युक्त्वा त्वरिता तत्र रुदती मुक्तमूर्धजा ।
ययौ ताराऽतिशोकार्ता यत्र भर्तृकलेवरम् ॥ ६॥

यह कहकर तारा रोती हुई शीघ्र ही अपने पति के पड़े हुए शव के पास गयी। उस समय तारा अत्यन्त शोकाकुल थी और उसके केश बिखरे थे ॥६॥

पतितं वालिनं दृष्ट्वा रक्तैः पांसुभिरावृतम् ।
रुदती नाथनाथेति पतिता तस्य पादयोः ॥ ७॥

वहाँ पर रक्त और धूलि से लथ-पथ वाली को पड़ा देखकर वह "हा नाथ ! हा नाथ !" यह कहकर रोती हुई उसके चरणों पर गिर पड़ी ॥ ७ ॥

करुणं विलपन्ती सा ददर्श रघुनन्दनम् ।
राम मां जहि बाणेन येन वाली हतस्त्वया ॥ ८॥

करुण-क्रन्दन करती हुई वह रघुनाथजी से बोली: हे राम ! जिस बाण से आपने वाली को मारा हैं, उसी बाण से मुझे भी मारिये ॥८॥

गच्छामि पतिसालोक्यं पतिर्मामभिकाङ्क्षते ।
स्वर्गेऽपि न सुखं तस्य मां विना रघुनन्दन ॥ ९॥

मैं शीघ्र ही अपने पति के पास जाऊँगी; वह मेरी राह देखते होंगे। क्योंकि हे रघुनन्दन! मेरे बिना उन्हें स्वर्ग में भी सुख प्राप्त नहीं होगा ॥९॥

पत्नीवियोगजं दुःखमनुभूतं त्वयानघ ।
वालिने मां प्रयच्छाशु पत्नीदानफलं भवहत् ॥ १०॥

हे अनघ ! पत्नी के वियोग का दुःख तो आपने अनुभव किया ही है। अत: आप मुझे शीघ्र ही वाली के पास भेज दीजिये। इससे आपको स्त्रीदान का फल प्राप्त होगा। ॥१०॥

सुग्रीव त्वं सुखं राज्यं दापितं वालिघातिना ।
रामेण रुमया सार्धं भुङ्क्ष्व सापत्नवर्जितम् ॥ ११॥

सुग्रीव ! वाली को मारने वाले राम ने तुम्हें राज्य दिला ही दिया; निष्कण्टक रुमा के साथ तू उस राज्य का भोग कर ॥ ११ ॥

इत्येवं विलपन्तीं तां तारां रामो महामनाः ।
सान्त्वयामास दयया तत्त्वज्ञानोपदेशतः ॥ १२॥

इस प्रकार विलाप करती हुई तारा को महामना श्रीराम ने दयापूर्वक तत्त्वज्ञान का उपदेश देकर शान्त किया ॥ १२॥

किं भीरु शोचसि व्यर्थं शोकस्याविषयं पतिम् ।
पतिस्तवायं देहो वा जीवो वा वद तत्त्वतः ॥ १३॥

पञ्चात्मको जडो देहस्त्वङ्मांसरुधिरास्थिमान् ।
कालकर्मगुणोत्पन्नः सोऽप्यास्तेऽद्यापि ते पुरः ॥ १४॥

श्री राम बोले: हे भीरु ! तू शोक न करने योग्य अपने पति के लिये क्यों व्यर्थ शोक करती है ? तू यह सोच-समझ कर बता कि तुम्हारा पति यह देह है या इसमें रहने वाला जीव। यदि देह पति है तो यह जड पञ्चभूतमय एवं त्वचा, मांस, रुधिर, अस्थि से निर्मित है। तथा काल, कर्म और गुणों से उत्पन्न होने के कारण वह अभी भी तुम्हारे सामने पड़ा है ॥१३-१४॥

मन्यसे जीवमात्मानं जीवस्तर्हि निरामयः ।
न जायते न म्रियते न तिष्ठति न गच्छति ॥ १५॥

यदि च जीव को अपना पति मानती हो तो तुझे शोक नहीं करना चाहिये; क्योंकि वह निर्विकार है। न वह जन्म लेता है, न मरता है, न स्थिर रहता है और न जाता है ॥१५॥

न स्त्री पुमान्वा षण्ढो वा जीवः सर्वगतोऽव्ययः ।
एक एवाद्वितीयोऽयमाकाशवदलेपकः ।
नित्यो ज्ञानमयः शुद्धः स कथं शोकमर्हति ॥ १६॥

तारोवाच
देहोऽचित्काष्ठवद्राम जीवो नित्यश्चिदात्मकः ।

सुखदुःखादिसम्बन्धः कस्य स्याद्राम मे वद ॥ १७॥

जीव तो सर्वव्यापी अव्यय है। वह स्त्री, पुरुष अथवा नपुंसक कुछ भी नहीं है। ऐसा सुनने पर ह तारा बोली-हे राम ! यह शरीर काष्ठ के समान जड़ और जीव नित्य चैतन्यस्वरूप है, परन्तु सुख और दुःखादि का सम्बन्ध किससे होता है ? यह आप मुझे बतलाइये ॥१६-१७॥

श्रीराम उवाच ।
अहङ्कारादिसम्बन्धो यावद्देहेन्द्रियैः सह ।
संसारस्तावदेव स्यादात्मनस्त्वविवहकिनः ॥ १८॥

श्रीरामचन्द्रजी बोले जब तक देह और इन्द्रियों के साथ अहङ्कारादि का सम्बन्ध रहता है तब तक आत्मा और अनात्मा के विवेक से रहित जीव का संसार से सम्बन्ध रहता है ॥ १८॥

मिथ्यारोपितसंसारो न स्वयं विनिवर्तते ।
विषयान् ध्यायमानस्य स्वप्ने मिथ्यागमो यथा ॥ १९॥

यह संसार मिथ्या ही आत्मा के साथ आरोपित है, परन्तु वह स्वयं निवृत्त नहीं होता, जिस प्रकार विषयों का ध्यान करने वाले को स्वप्न के दृश्य मिथ्या ही होते हैं ॥१९॥

अनाद्यविद्यासम्बन्धात्तत्कार्याहङ्कृतेस्तथा ।
संसारोऽपार्थकोऽपि स्याद्रागद्वेषादिसङ्कुलः ॥ २०॥

अनादि अविद्या और उसका कार्य अहंकार के सम्बन्ध से स्थित है, यह संसार निरर्थक किन्तु राग-द्वेषादि से पूर्ण है।॥ २०॥

मन एव हि संसारो बन्धश्चैव मनः शुभे ।
आत्मा मनःसमानत्वमेत्य तद्गतबन्धभाक् ॥ २१॥

हे शुभे! मन ही संसार और मन ही बन्धन है। उस अनात्मवस्तु मन के साथ एक होने के कारण यह आत्मा उससे उत्पन्न सुख दुःखादि के बन्धन में पड़ता है ॥२१॥

यथा विशुद्धः स्फटिकोऽलक्तकादिसमीपगः ।
तत्तद्वर्णयुगाभाति वस्तुतो नास्ति रञ्जनम् ॥ २२॥

बुद्धीन्द्रियादिसामीप्यादात्मनः संसृतिर्बलात् ।
आत्मा स्वलिङ्गं तु मनः परिगृह्य तदुद्भवान् ॥ २३॥

कामान् जुषन् गुणैर्बद्धः संसारे वर्ततेऽवशः ।
आदौ मनोगुणान् सृष्ट्वा ततः कर्माण्यनेकधा ॥ २४॥

जिस प्रकार विशुद्ध-स्फटिक लाह आदि के समीप होने से उन्हीं के रंग का प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में वह उस रंग का नहीं होता, उसी प्रकार बुद्धि और इन्द्रिय आदि के समीप रहने से बलात् आत्मा को संसार की प्रतीत होती है। आत्मा अपने लिंग शरीर को ग्रहण कर उससे उत्पन्न होने वाले विषयों का भोग करता हुआ उसके रागद्वेषादि गुणों में बन्धकर विवश होकर संसार-चक्र में फंसा रहता है। पहले मन के गुणों की रचना करता है और फिर अनेक प्रकार का कर्म करता है ॥२२-२४॥

शुक्ललोहितकृष्णानि गतयस्तत्समानतः ।

एवं कर्मवशाज्जीवो भ्रमत्याभूतसम्प्लवम् ॥ २५॥

वह कर्म शुक्ल - जप, ध्यान आदि, लोहित - हिंसामय यज्ञ-यागादि, कृष्ण- मद्यपानादि पापकर्म तीन प्रकार के होते हैं। इस प्रकार अपने कर्म के वश होकर जीव प्रलय पर्यन्त जन्म मृत्यु रुपी आवागमन के चक्कर में पड़ा रहता है ॥२३-२५॥

सर्वोपसंहृतौ जीवो वासनाभिः स्वकर्मभिः ।
अनाद्यविद्यावशगस्तिष्ठत्यभिनिवहशतः ॥ २६॥

प्रलयावस्था में सम्पूर्ण भूतों का लय हो जाने पर भी अपने-अपने कर्तृत्व, भोक्तृत्व के अभिनिवेश से यह अपनी वासनाओं एवं कर्मों के साथ अनादि अविद्या माया से अच्छादित रहता है ॥२६॥

सृष्टिकाले पुनः पूर्ववासनामानसैः सह ।
जायते पुनरप्येवं घटीयन्त्रमिवावशः ॥ २७॥

सृष्टि के समय में पूर्ववासनाओं से युक्त मनके साथ घटीयन्त्र के समान विवश होकर उत्पन्न होता है ॥२७॥

यदा पुण्यविशेषेण लभते सङ्गतिं सताम् ।
मद्भक्तानां सुशान्तानां तदा मद्विषया मतिः ॥ २८॥

जिस समय विशेष पुण्य के होने से मेरे भक्त शान्तचित्त महात्माओं की सत संगति होती है, तब इसकी बुद्धि मद्विषयक होती है ॥२८॥

मत्कथाश्रवणे श्रद्धा दुर्लभा जायते ततः ।

ततः स्वरूपविज्ञानमनायासेन जायते ॥ २९॥

इससे मेरी कथा सुनने में श्रद्धा होती है, जो दुर्लभा है। मेरी कथा का श्रवण करने से अनायास ही मेरे स्वरूप का ज्ञान हो जाता है ॥२९॥

तदाचार्यप्रसादेन वाक्यार्थज्ञानतः क्षणात् ।
देहेन्द्रियमनःप्राणाहङ्कृतिभ्यः पृथक् स्थितम् ॥ ३०॥

स्वात्मानुभवतः सत्यमानन्दात्मानमद्वयम् ।
ज्ञात्वा सद्यो भवहन्मुक्तः सत्यमेव मयोदितम् ॥ ३१॥

तब गुरु कृपा के द्वारा 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के अर्थ का ज्ञान होने तथा स्वयं अनुभव से यह अपने सच्चिदानन्द स्वरूप अद्वितीय आत्मा को देह इन्द्रिय, मन, प्राण और अहंकार आदि से पृथक् समझकर शीघ्र ही क्षणभर में मुक्त हो जाता है। हे तारा! यह सत्य बात मैंने तुझसे कही है ॥३०-३१॥

एवं मयोदितं सम्यगालोचयति योऽनिशम् ।
तस्य संसारदुःखानि न स्पृशन्ति कदाचन ॥ ३२॥

इस प्रकार मेरी कही हुइ वाणी का जो भली-भाँति अहर्निश मनन करते है, उन्हें सांसारिक दुःख कभी भी स्पर्श नहीं करते ॥३२॥

त्वमप्येतन्मया प्रोक्तमालोचय विशुद्धधीः ।
न स्पृश्यसे दुःखजालैः कर्मबन्धाद्विमोक्ष्यसे ॥ ३३॥

मेरे इस उपदेश को तुझे भी शुद्धचित्त से मनन करना चाहिए; ऐसा करने से तूझे भी दुःख जाल स्पर्श नहीं करेंगे और तू कर्म बन्धन से मुक्त हो जाएगी ॥३३॥

पूर्वजन्मनि ते सुभ्रु कृता मद्भक्तिरुत्तमा ।
अतस्तव विमोक्षाय रूपं मे दर्शितं शुभे ॥ ३४॥

हे सुभ्र! तुमने पूर्व जन्म में मेरी अत्युत्कट भक्ति की थी; अत: हे सुन्दरि ! तुझे आत्मवत् करने के हेतु मैंने तुम्हें दर्शन दिया है ॥३४॥

ध्यात्वा मद्रूपमनिशमालोचय मयोदितम् ।
प्रवाहपतितं कार्यं कुर्वन्त्यपि न लिप्यसे ॥ ३५॥

मेरे स्वरूप का अहर्निश ध्यान करती हुई, मेरे उपदेश का मनन करो। ऐसा करने से प्रारब्ध के द्वारा होने वाले कर्मों से तू निर्लिप्त रहेगी ॥३५॥

श्रीरामेणोदितं सर्वं श्रुत्वा तारातिविस्मिता ।
देहाभिमानजं शोकं त्यक्त्वा नत्वा रघूत्तमम् ॥ ३६॥

आत्मानुभवसन्तुष्टा जीवन्मुक्ता बभूव ह ।
क्षणसङ्गममात्रेण रामेण परमात्मना ॥ ३७॥

अनादिबन्धं निर्धूय मुक्ता सापि विकल्मषा ।
सुग्रीवोऽपि च तच्छ्रुत्वा रामवक्त्रात्समीरितम् ॥ ३८॥

जहावज्ञानमखिलं स्वस्थचित्तोऽभवत्तदा ।

ततः सुग्रीवमाहेदं रामो वानरपुङ्गवम् ॥ ३९॥

श्रीरामचन्द्रजी के द्वारा सम्पूर्ण उपदेश को सुनकर तारा ने अतिविस्मित होकर देहाभिमान जनित शोक को छोड़कर श्रीरघुनाथजी को प्रणाम किया और आत्मानुभव से सन्तुष्ट होकर वह तत्काल जीवन्मुक्त हो गयी। परमात्मा राम के क्षणमात्र के सत्सङ्ग से वह अनादि अविद्या के बन्धन को काटकर कल्मष रहित हो मुक्त हो गयी। भगवान् के मुखारविन्द से उपदेश सुनकर सुग्रीव भी सम्पूर्ण अज्ञान से रहित शान्तचित्त हो गया। तब भगवान् श्रीरामचन्द्रजी वानर में श्रेष्ठ सुग्रीव से बोले ॥३६-३९॥

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य पुत्रेण यदुक्तं साम्परायिकम् ।
कुरु सर्वं यथान्यायं संस्कारादि ममाज्ञया ॥ ४०॥

हे सुग्रीव ! मेरी आज्ञा से तुम अपने भाई के ज्येष्ठ पुत्र अङ्गद के द्वारा शास्त्रोक्त औदैहिक कर्म को पूर्ण करो ॥४०॥

तथेति बलिभिर्मुख्यैर्वानरैः परिणीय तम् ।
वालिनं पुष्पके क्षिप्त्वा सर्वराजोपचारकैः ॥ ४१॥

भेरीदुन्दुभिनिर्घोषैर्ब्राह्मणैर्मन्त्रिभिः सह ।
यूथपैर्वानरैः पौरैस्तारया चाङ्गदेन च ॥ ४२॥

गत्वा चकार तत्सर्वं यथाशास्त्रं प्रयत्नतः ।
स्नात्वा जगाम रामस्य समीपं मन्त्रिभिः सह ॥ ४३॥

जैसी आज्ञा, यह कह कर सुग्रीव ने मुख्य-मुख्य बलवान् वानरों को साथ में लेकर वाली के शव को पुष्प के विमान पर रखकर राजोचित उपचारों से भेरी, दुन्दुभि आदि का घोष पूर्वक, ब्राह्मण, मन्त्री, युथपति वानरगण, नगरवासी, तारा और अङ्गद के साथ जाकर प्रयत्न पूर्वक शास्त्रोक्त संस्कारों को सम्पन्न कराया और स्नानादि के बाद मन्त्रियों सहित राम के पास लौट आया ॥४१-४३॥

नत्वा रामस्य चरणौ सुग्रीवः प्राह हृष्टधीः ।
राज्यं प्रशाधि राजेन्द्र वानराणां समृद्धिमत् ॥ ४४॥

वहाँ आकर सुग्रीव ने प्रसन्नमन से श्रीरामचन्द्रजी के चरणारविन्द में प्रणाम कर बोला-हे राजेन्द्र ! वानरों के इस समृद्धिशाली राज्य का आप शासन करें ॥४४॥

दासोऽहं ते पादपद्मं सेवह लक्ष्मणवच्चिरम् ।
इत्युक्तो राघवः प्राह सुग्रीवं सस्मितं वचः ॥ ४५॥

त्वमेवाहं न सन्देहः शीघ्रं गच्छ ममाज्ञया ।
पुरराज्याधिपत्ये त्वं स्वात्मानमभिषेचय ॥ ४६॥

मैं तो आपके चरणारविन्द का दास हूँ। लक्ष्मण के समान ही मैं भी सदा आपके चरणारविन्द की सेवा करूँगा। यह सुनकर श्रीरघुनाथजी मुस्कुराते हुए सुप्रीव से बोले-सुग्रीव ! जो मैं हूँ वही तुम हो, इसमें सन्देश नहीं है। शीघ्र ही मेरी आज्ञा से तुम जाओ और किष्किन्धा के राज्यपद पर अपना अभिषेक कराओ ॥४५-४६॥

नगरं न प्रवहक्ष्यामि चतुर्दश समाः सखे ।

आगमिष्यति मे भ्राता लक्ष्मणः पत्तनं तव ॥ ४७॥

हे सत्वे ! मैं चौदह वर्ष तक किसी भी नगर में प्रवेश नहीं कर सकता। अत: तुम्हारे राज्याभिषेक के समय अनुज लक्ष्मण नगर में जायेंगे॥४७॥

अङ्गदं यौवराज्ये त्वमभिषेचय सादरम् ।
अहं समीपे शिखरे पर्वतस्य सहानुजः ॥ ४८॥

वत्स्यामि वर्षदिवसांस्ततस्त्वं यत्नवान् भव ।
किञ्चित्कालं पुरे स्थित्वा सीतायाः परिमार्गणे ॥ ४९॥

अङ्गद को आदर पूर्वक युवराज पद पर अभिषेक करना। वर्षा के दिनों में भाई लक्ष्मण के साथ मैं यहाँ पर्वत के शिखर पर रहूँगा, तुम कुछ समय नगर में रहकर पुनः सीताजी की खोज के लिये प्रयत्न करना ॥ ४८-४९॥

साष्टाङ्गं प्रणिपत्याह सुग्रीवो रामपादयोः ।
यदाज्ञापयसे देव तत्तथैव करोम्यहम् ॥ ५०॥

तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजी के चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम कर सुग्रीव बोला-भगवन् ! आपकी जैसी आज्ञा होगी वही मैं करूँगा ॥५०॥

अनुज्ञातश्च रामेण सुग्रीवस्तु सलक्ष्मणः ।
गत्वा पुरं तथा चक्रे यथा रामेण चोदितः ॥ ५१॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा से सुग्रीव ने लक्ष्मणजी को साथ लेकर किष्किन्धापुरी में जाकर श्रीरामचन्द्र जी के कथनानुसार समस्त कार्यों को सम्पन्न किया ॥५१॥

सुग्रिवहण यथान्यायं पूजितो लक्ष्मणस्तदा ।
आगत्य राघवं शीघ्रं प्रणिपत्योपतस्थिवान् ॥ ५२॥

तब सुग्रीव से यथोचित सम्मानित होकर लक्ष्मणजी वापस श्रीरघुनाथजी के पास चले आये और उनके चरण में प्रणामकर उनकी सेवा में तत्पर हो गये ॥५२॥

ततो रामो जगामाशु लक्ष्मणेन समन्वितः ।
प्रवर्षणगिरेरूर्ध्वं शिखरं भूरिविस्तरम् ॥ ५३॥

तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजी तत्क्षण लक्ष्मण के साथ प्रवर्षण पर्वत के ऊपर अतिविस्तीर्ण शिखर पर चले गये ॥५३॥

तत्रैकं गह्वरं दृष्ट्वा स्फाटिकं दीप्तिमच्छुभम् ।
वर्षवातातपसहं फलमूलसमीपगम् ।
वासाय रोचयामास तत्र रामः सलक्ष्मणः ॥ ५४॥

उन्होंने वहाँ स्फटिकमणि की एक स्वच्छ और प्रकाशमान गुफा देखी। वह वर्षा, वायु और धूप से रक्षा में योग्य थी तथा समीप में ही कन्द-मूल और फल लगे हुए थे। उसे देखकर श्रीराम और लक्ष्मण ने वहाँ रहना अनुकूल समझा ॥५४॥

दिव्यमूलफलपुष्पसंयुते मौक्तिकोपमजलौघपल्वले ।

चित्रवर्णमृगपक्षिशोभिते पर्वते रघुकुलोत्तमोऽवसत् ॥ ५५॥

तत्पश्चात् रघुकूल तिलक श्रीरामचन्द्रजी, दिव्य मूल-फल और फूलों से सम्पन्न मोती के समान स्वच्छ जलवाले जलाशयों से युक्त विचित्र मृग-पक्षिगण सेवित उस प्रवर्षण पर्वत पर रहने लगे ॥५५॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे किष्किन्धाकाण्डे
तृतीयः सर्गः ॥ ३॥

॥चतुर्थ सर्गः ॥

भगवान् राम का लक्ष्मण जी से क्रिया योग का वर्णन ।

तत्र वार्षिकदिनानि राघवो लीलया मणिगुहासु सञ्चरन् ।
पक्वमूलफलभोगतोषितो लक्ष्मणेन सहितोऽवसत्सुखम् ॥ १॥

श्रीमहादेवजी बोले-हे पार्वती! उस स्थान पर लक्ष्मण के साथ श्रीरामचन्द्रजी लीला से मणिमय गुफाओं में विचरण करते हुए, पके हुए फल-मूल के भोजन से निर्वाह करते हुए, वर्षा ऋतु दिनों में आनन्दपूर्वक निवास किया ॥१॥

वातनुन्नजलपूरितमेघानन्तरस्तनितवैद्युतगर्भान् ।
वीक्ष्य विस्मयमगाद्गजयूथान् यद्वदाहितसुकाञ्चनकक्षान् ॥ २॥

वायु से प्रेरित जल से पूरित मेघों को देखकर जो अपने अन्दर कौंधती हुई बिजली के कारण स्वर्णमय झूलों से युक्त हाथियों के झुण्ड के समान प्रतीत होते थे, उन्हें अति विस्मय होता था॥२॥

नवघासं समास्वाद्य हृष्टपुष्टमृगद्विजाः ।
धावन्तो परितो रामं वीक्ष्य विस्फारितेक्षणाः ॥ ३॥

न चलन्ति सदा ध्याननिष्ठा इव मुनीश्वराः ।
रामं मानुषरूपेण गिरिकाननभूमिषु ॥ ४॥

चरन्तं परमात्मानं ज्ञात्वा सिद्धगणा भुवि ।

मृगपक्षिगणा भूत्वा राममेवानुसेविरे ॥ ५॥

नवीनतृण के खाने से हृष्ट-पुष्ट तन्दरुस्त पक्षीगण इधर-उधर दौड़ते हुए जब कभी श्रीरामचन्द्रजी को देखते थे तो श्रीरामचन्द्रजी की ओर एकटक श्रीरामचन्द्रजी की ओर देखते रह जाते थे, और ध्याननिष्ट मुनिश्वरों के समान जहाँ के तहाँ खड़े रह जाते थे। इस समय परमात्मा राम को गिरि, कानन, और भूमि पर मनुष्य रूप से विचरण करते हुए जानकर अनेक सिद्धगण पृथ्वी पर मृग और पक्षी का रूप धारण कर हमेशा उन्हीं की सेवा में रहने लगे ॥३-५॥

सौमित्रिरेकदा राममेकान्ते ध्यानतत्परम् ।
समाधिविरमे भक्त्या प्रणयाद्विनयान्वितः ॥ ६॥

अब्रवीद्देव ते वाक्यात्पूर्वोक्ताद्विगतो मम ।
अनाद्यविद्यासम्भूतः संशयो हृदि संस्थितः ॥ ७॥

एक समय सुमित्रानन्दन श्रीलक्ष्मणजी एकान्त में ध्यान करते हुए भगवान् श्रीराम से उनकी समाधि खुलने पर अति-प्रेम और भक्ति से नम्रतापूर्वक बोले- हे भगवन् ! आपने मुझे जो पूर्व समय में उपदेश दिया था, उस उपदेश के द्वारा मेरे हृदय में स्थित अनादि-अविद्याजन्य संशय दूर हो गया ॥६-७॥

इदानीं श्रोतुमिच्छामि क्रियामार्गेण राघव ।
भवदाराधनं लोके यथा कुर्वन्ति योगिनः ॥ ८॥

परन्तु हे राघव! योगी जन जिस प्रकार क्रिया मार्ग से संसार में आपकी आराधना करते हैं। इस समय मैं उसे सुनना चाहता हूँ ॥८॥

इदमेव सदा प्राहुर्योगिनो मुक्तिसाधनम् ।
नारदोऽपि तथा व्यासो ब्रह्मा कमलसम्भवः ॥ ९॥

योगी जनों, देवर्षि नारद जी, महषिवेदव्यास, कमलयोनि श्रीब्रह्माजी ने भी मुक्ति साधन के इसी मार्ग का प्रतिपादन किया है ॥९॥

ब्रह्मक्षत्रादिवर्णानामाश्रमाणां च मोक्षदम् ।
स्त्रीशूद्राणां च राजेन्द्र सुलभं मुक्तिसाधनम् ।
तव भक्ताय मे भ्रात्रे ब्रूहि लोकोपकारकम् ॥ १०॥

हे राजेन्द्र ! ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णों तथा ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों को मोक्ष देने वाला, स्त्री तथा शूद्रों को भी मुक्ति का सुलभ साधन यही है। हे प्रभु ! मै आपका भक्त और अनुज हूँ। अत: लोकोपकारी इस साधन का वर्णन मुझसे कीजिये ॥१०॥

श्रीराम उवाच ।
मम पूजाविधानस्य नान्तोऽस्ति रघुनन्दन ।
तथापि वक्ष्ये सङ्क्षेपाद्यथावदनुपूर्वशः ॥ ११॥

श्रीरामचन्द्रजी बोले: हे रघुनन्दन! मेरी पूजा विधि का अन्त नहीं है, तथापि संक्षेप में यथाक्रम मैं इसका वर्णन करता हूँ ॥ ११ ॥

स्वगृह्योक्तप्रकारेण द्विजत्वं प्राप्य मानवः ।
सकाशात्सद्गुरोर्मन्त्रं लब्ध्वा मद्भक्तिसंयुतः ॥ १२॥

मेरी भक्ति से सम्पन्न मनुष्य अपनी शाखा गृह सूत्र द्वारा निर्दिष्ट विधि से द्विजत्व प्राप्तकर भक्तिपूर्वक सद्गुरु के पास जाकर मंत्र ग्रहण करे ॥१२॥

तेन सन्दर्शितविधिर्मामेवाराधयेत्सुधीः ।
हृदये वाऽनले वार्चेत्प्रतिमादौ विभावसौ ॥ १३॥

शालग्रामशिलायां वा पूजयेन्मामतन्द्रितः ।
प्रातःस्नानं प्रकुर्वीत प्रथमं देहशुद्धये ॥ १४॥

वहदतन्त्रोदितैर्मन्त्रैर्मृल्लेपनविधानतः ।
सन्ध्यादि कर्म यन्नित्यं तत्कुर्याद्विधिना बुधः ॥ १५॥

बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि उनकी बताई हुई विधि से अपने हृदय में, अग्नि में, प्रतिमा आदि में अथवा भगवान सूर्य में मेरी ही अराधना करे, अथवा अतन्द्रित हो शालिग्राम शिला में ही मेरी पूजा करे। बुद्धिमान् उपासक सर्वप्रथम शरीर की शुद्धि के लिये प्रातःकाल ही वैदिक अथवा तांत्रिक मंत्रों से शरीर में विधिवत् मृत्तिका आदि लगाकर स्नान करें और नियमानुसार संध्या आदि नित्यकर्म करें ॥१३-१५॥

सङ्कल्पमादौ कुर्वीत सिद्ध्यर्थं कर्मणां सुधीः ।
स्वगुरुं पूजयेद्भक्त्या मद्बुद्ध्या पूजको मम ॥ १६॥

मेरी पूजा करने वाला बुद्धिमान् पुरुष कार्यों की सिद्धि के लिये सर्वप्रथम संकल्प करे और मेरी ही बुद्धि से अपने गुरुदेव की पूजा करे ॥१६॥

शिलायां स्नपनं कुर्यात्प्रतिमासु प्रमार्जनम् ।
प्रसिद्धैर्गन्धपुष्पाद्यैर्मत्पूजा सिद्धिदायिका ॥ १७॥

शिलारूप मेरी मूर्ती हो तो उसे स्नान करवाये तथा च मेरी मूर्ति की प्रतिमा हो तो मार्जन करे। और प्रसिद्ध गन्ध-पुष्प आदि से मेरी पूजा करे यह शीघ्र ही सिद्धि देने वाली होती है ॥१७॥

अमायिकोऽनुवृत्त्या मां पूजयेन्नियतव्रतः ।
प्रतिमादिष्वलङ्कारः प्रियो मे कुलनन्दन ॥ १८॥

सब प्रकार से छलछिद्र का त्याग कर, गुरु द्वारा निर्दिष्ट विधि से मेरी पूजा करनी चाहिए। हे कलनन्दन! प्रतिमा आदि का श्रृंगार करना मेरा प्रिय है ॥१८॥

अग्नौ यजेत हविषा भास्करे स्थण्डिले यजेत् ।
भक्तेनोपहृतं प्रीत्यै श्रद्धया मम वार्यपि ॥ १९॥

अग्नि में हवन से मेरी पूजा कर वेदी पर सूर्य की आकृति बनाकर सूर्यमण्डल में मेरी पूजा करे। भक्त के द्वारा श्रद्धा से निवेदन किया हुआ जल भी मेरी प्रसन्नता का कारण होता है ॥१९॥

किं पुनर्भक्ष्यभोज्यादि गन्धपुष्पाक्षतादिकम् ।
पूजाद्रव्याणि सर्वाणि सम्पाद्यैवं समारभेत् ॥ २०॥

तो फिर भक्ष्य-भोज्य आदि पदार्थ, गन्ध, पुष्प, अक्षत् , आदि पूजन सामग्री आदि की बात ही क्या है? सम्पूर्ण पूजन सामग्री को एकत्रित कर मेरी पूजा करे ॥२०॥

चैलाजिनकुशैः सम्यगासनं परिकल्पयेत् ।
तत्रोपविश्य देवस्य सम्मुखे शुद्धमानसः ॥ २१॥

कुश, मृगचर्म, वस्त्र आदि का आसन बनाकर उस पर शुद्ध हृदय से इष्टदेव के सामने बैठ जाये ॥२१॥

ततो न्यासं प्रकूर्वीत मातृकाबहिरान्तरम् ।
केशवादि ततः कुर्यात्तत्त्वन्यासं ततः परम् ॥ २२॥

मन्मूर्तिपञ्जरन्यासं मन्त्रन्यासं ततो न्यसेत् ।
प्रतिमादावपि तथा कुर्यान्नित्यमतन्द्रितः ॥ २३॥

तब बहिर्मात्रिका न्यास, अन्तर मातृका न्यास, केशव, नारायण आदि चतुर्विंशति नामों का न्यास कर तत्त्व न्यास करे। तत्पश्चात् विष्णुपरोक्त मेरी मूर्ति में पञ्जरन्यास तथा मन्त्र न्यास करे। आलस्य रहित होकर इसी विधि से मेरी प्रतिमा में भी न्यास करे ॥२२-२३॥

कलशं स्वपुरो वामे क्षिपेत्पुष्पादि दक्षिणे ।
अर्घ्यपाद्यप्रदानार्थं मधुपर्कार्थमेव च ॥ २४॥

तथैवाचमनार्थं तु न्यसेत्पात्रचतुष्टयम् ।
हृत्पद्मे भानुविमले मत्कलां जीवसञ्ज्ञिताम् ॥ २५॥

ध्यायेत्स्वदेहमखिलं तया व्याप्तमरिन्दम ।
तामेवावाहयेन्नित्यं प्रतिमादिषु मत्कलाम् ॥ २६॥

तथा च अपने सामने बायीं तरफ कलश तथा दायीं तरफ पुष्प आदि सामाग्री रखे। इसी प्रकार अर्द्ध, पाद्य, मधुपर्क तथा आचमन के लिये चार पात्र रखे। सूर्य के समान तेजस्वी हृदय कमल में जीव संज्ञक मेरी कला का ध्यान करे। हे अरिन्दम ! अपने सम्पूर्ण शरीर को उससे व्याप्त हुआ समझे तथा प्रतिमा आदि में भी पूजा करते समय मेरी जीव कला का नित्य आवहन करे ॥२४-२६ ॥

पाद्यार्घ्याचमनीयाद्यैः स्नानवस्त्रविभूषणैः ।
यावच्छक्योपचारैर्वा त्वर्चयेन्मामममायया ॥ २७॥

पाद्य, आद्य, आचमन स्नान, वस्त्र, आभूषण, आदि सामग्रियों से अथवा यथोपलब्ध सामग्रियों से मेरी पूजा करे ॥२७॥

विभवह सति कर्पूरकुङ्कुमागरुचन्दनैः ।
अर्चयेन्मन्त्रवन्नित्यं सुगन्धकुसुमैः शुभैः ॥ २८॥

यदि अपने पास शक्ति हो तो प्रतिदिन कपूर, कुमकुम, अगर, चन्दन और सुगन्धित उत्तम पुष्पों से मन्त्रों के द्वारा मेरी पूजा करे ॥२८॥

दशावरणपूजां वै ह्यागमोक्तां प्रकारयेत् ।
नीराजनैर्धूपदीपैर्नैवद्यैर्बहुविस्तरैः ॥ २९॥

श्रद्धयोपहरेन्नित्यं श्रद्धाभुगहमीश्वरः ।
होमं कुर्यात्प्रयत्नेन विधिना मन्त्रकोविदः ॥ ३०॥

तथाच नीराजन् - पाँच बत्तियों की आरती, धूप, दीप और विविध प्रकार के नैवेद्यों से वैदिक दशावरण पूजाविधि से मेरी पूजा करे। श्रद्धा के साथ नित्यप्रति सम्पूर्ण पदार्थ समर्पित करे। मैं परमात्मा श्रद्धा का ही भूखा हूँ। मन्त्रज्ञ पूजा के अनन्तर विधिपूर्वक हवन करे ॥ २९-३०॥

अगस्त्येनोक्तमार्गेण कुण्डेनागमवित्तमः ।
जुहुयान्मूलमन्त्रेण पुंसूक्तेनाथवा बुधः ॥ ३१॥

शास्त्रज्ञ बुद्धिमान् पुरुष अगस्त ऋषि के द्वारा निर्दिष्ट विधि से कुण्ड बनाकर मूलमन्त्र अथवा पुरुषसूक्त से उसमें हवन करे ॥३१॥

अथवौपासनाग्नौ वा चरुणा हविषा तथा ।
तप्तजाम्बूनदप्रख्यं दिव्याभरणभूषितम् ॥ ३२॥

ध्यायेदनलमध्यस्थं होमकाले सदा बुधः ।
पार्षदेभ्यो बलिं दत्त्वा होमशेषं समापयेत् ॥ ३३॥

अथवा अग्निहोत्र की अग्नि में चरु तथा हविष हवन करे, हवन करते समय बुद्धिमान् होम की अग्नि में तपाये हुए स्वर्ण की आभा वाले, दिव्याभरण भूषित अग्नि के मध्य में परमात्मा का ध्यान करे। और मेरे पार्षदों को बलि देकर शेष आहुति दे ॥३२-३३॥

ततो जपं प्रकुर्वीत ध्यायेन्मां यतवाक् स्मरन् ।
मुखवासं च ताम्बूलं दत्त्वा प्रीतिसमन्वितः ॥ ३४॥

मदर्थे नृत्यगीतादि स्तुतिपाठादि कारयेत् ।
प्रणमेद्दण्डवद्भूमौ हृदये मां निधाय च ॥ ३५॥

तब मौन होकर मेरा ध्यान और स्मरण करता हुआ जप करे। और प्रीति पूर्वक मुखवास और ताम्बूल देकर मेरे लिये नृत्य, गीत, स्तुति पाठ आदि कराए और हृदय में मेरा ध्यान कर भूमिपर दण्डवत् साष्टांग करे ॥३४-३५॥

शिरस्याधाय मद्दत्तं प्रसादं भावनामयम् ।
पाणिभ्यां मत्पदे मूर्ध्नि गृहीत्वा भक्तिसंयुतः ॥ ३६॥

रक्ष मां घोरसंसारादित्युक्त्वा प्रणमेत्सुधीः ।
उद्वासयेद्यथापूर्वं प्रत्यग्ज्योतिषि संस्मरन् ॥ ३७॥

मेरे दिये हुए भावनामय प्रसाद को सिर पर रखकर भक्तिपूर्वक मेरे चरणों को अपने हाथों से अपने मस्तक पर रखकर इस घोर संसार से मेरी रक्षा करें, यह कहकर मुझे प्रणाम करे। तब बुद्धिमान् उपासक प्रतिमा में आवाहित जीवकला मुझमें प्रवेश कर गई है, यह भावना करता हुआ विसर्जन करे ॥३६-३७॥

एवमुक्तप्रकारेण पूजयेद्विधिवद्यदि ।
इहामूत्र च संसिद्धिं प्राप्नोति मदनुग्रहात् ॥ ३८॥

जो इस प्रकार उक्त विधि से मेरी पूजा करता है, वह मेरी कृपा से इस लोक और परलोक दोनों जगह सिद्धि प्राप्त करता है ॥३८॥

मद्भक्तो यदि मामेवं पूजां चैव दिने दिने ।
करोति मम सारूप्यं प्राप्नोत्येव न संशयः ॥ ३९॥

मेरा भक्त नित्य प्रति यदि इस प्रकार मेरी पूजा करता है तो निःसंदेह मेरा सारूप्य प्राप्त करता है ॥३९॥

इदं रहस्यं परमं च पावनं मयैव साक्षात्कथितं सनातनम् ।
पठत्यजस्रं यदि वा शृणोति यः स सर्वपूजाफलभाङ् न संशयः
॥४०॥

यह गोपनीय पूजा विधि परम पवित्र और सनातन है, जिसे स्वयं मैं अपने मुख से कहा हूँ। जो प्राणी निरन्तर इसे पढ़ता अथवा सुनता है, निःसंदेह वह सम्पूर्ण पूजा का फल प्राप्त करता है ॥४०॥

एवं परात्मा श्रीरामः क्रियायोगमनुत्तमम् ।
पृष्टः प्राह स्वभक्ताय शेषांशाय महात्मने ॥ ४१॥

इस प्रकार परमात्मा श्रीराम ने अनन्य भक्त शेषावतार महात्मा लक्ष्मणजी के पूछने पर इस अतिउत्तम क्रिया योग का उन्हें उपदेश दिये ॥४१॥

पुनः प्राकृतवद्रामो मायामालम्ब्य दुःखितः ।
हा सीतेति वदन्नैव निद्रां लेभे कथञ्चन ॥ ४२॥

श्रीरामचन्द्र जी अपनी माया का अवलम्बन कर साधारण मनुष्य की भाँति दुःखित होकर हा सीते! हा सीते! यह कहते हुए सारी रात व्यतीत की। किसी भी प्रकार से उन्हें निद्रा नहीं आई ॥४२॥

एतस्मिन्नन्तरे तत्र किष्किन्धायां सुबुद्धिमान् ।

हनूमान् प्राह सुग्रीवमेकान्ते कपिनायकम् ॥ ४३॥

शृणु राजन् प्रवक्ष्यामि तवैव हितमुत्तमम् ।
रामेण ते कृतः पूर्वमुपकारो ह्यनुत्तमः ॥ ४४॥

इसी समय किष्किन्धापुरी में बुद्धिमान् हनुमानजी ने वानरराज सुग्रीव से बोले-हे राजन् ! सुनिये, मैं आपके अत्यन्त हित की बात करता हूँ। श्रीरामचन्द्रजी ने पहले आपका बड़ा उपकार किया है ॥४३-४४॥

कृतघ्नवत्त्वया नूनं विस्मृतः प्रतिभाति मे ।
त्वत्कृते निहतो वाली वीरस्त्रैलोक्यसम्मतः ॥ ४५॥

राज्ये प्रतिष्ठितोऽसि त्वं तारां प्राप्तोऽसि दुर्लभाम् ।
स रामः पर्वतस्याग्रे भ्रात्रा सह वसन् सुधीः ॥ ४६॥

त्वदागमनमेकाग्रमीक्षते कार्यगौरवात् ।
त्वं तु वानरभावहन स्त्रीसक्तो नावबुद्ध्यसे ॥ ४७॥

परन्तु मुझे प्रतीत होता है कि कृतघ्न के समान आप उसे भूल गये हैं। आपके लिये ही जिन्हीने त्रैलोक्यमान्य वीरवर वाली का वध किया, आपको राज्यपद पर प्रतिष्ठित किया तथा आपको दुर्लभ तारा प्राप्त हुई; वह बुद्धिमान् भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अपने भाई के साथ पर्वत शिखर पर निवास करते हुए अपने भारी कार्य के लिये एकाग्रचित्त होकर आपके आने की राह देख रहे हैं। परन्तु आप वानर स्वभाव होने के कारण, स्त्री में आसक्त हो कर कुछ नहीं जानते । ॥४५-४७॥

करोमीति प्रतिज्ञाय सीतायाः परिमार्गणम् ।
न करोषि कृतघ्नस्त्वं हन्यसे वालिवद्द्रुतम् ॥ ४८॥

मैं सीता की खोज करूँगा, यह प्रतीज्ञा करने के बाद भी आपने अभी तक कुछ नहीं किया। आप बड़े कृतघ्न हैं और वाली के समान शीघ्र ही मारे जायेंगे ॥४८॥

हनूमद्वचनं श्रुत्वा सुग्रीवो भयविह्वलः ।
प्रत्युवाच हनूमन्तं सत्यमेव त्वयोदितम् ॥ ४९॥

हनुमानजी का यह कथन सुनकर सुग्रीव भय से विह्वल हो उठा तथा हनुमान जी से बोला -हनुमान्! तुम ठीक ही कहते हो॥४९॥

शीघ्रं कुरु ममाज्ञां त्वं वानराणां तरस्विनाम् ।
सहस्राणि दशेदानीं प्रेषयाशु दिशो दश ॥ ५०॥

तुम शीघ्र ही मेरी आज्ञा से शीघ्रगामी दस हजार वानरों को दसों दिशाओं में भेजो ॥५०॥

सप्तद्वीपगतान् सर्वान् वानरानानयन्तु ते ।
पक्षमध्ये समायान्तु सर्वे वानरपुङ्गवाः ॥ ५१॥

वह सभी सातों द्वीपों में रहने वाले समस्त वानरों को यहाँ ले आएं और जितने प्रमुख वानर हैं वह सब यहाँ एक पक्ष के भीतर आ जाएं ॥५१॥

यह पक्षमतिवर्तन्ते ते वध्या मे न संशयः ।

इत्याज्ञाप्य हनूमन्तं सुग्रीवो गृहमाविशत् ॥ ५२॥

जो एक पक्ष के भीतर जो नहीं आयेंगे, वह मेरे हाथों मारे जायेंगे। इस प्रकार हनुमानजी को आज्ञा देकर सुग्रीव पुनः अपने महल में चले गये ॥५२॥

सुग्रीवाज्ञां पुरस्कृत्य हनूमान् मन्त्रिसत्तमः ।
तत्क्षणे प्रेषयामास हरीन् दश दिशः सुधीः ॥ ५३॥

सुग्रीव की आज्ञा से बुद्धिवान् मन्त्रिवर श्रीहनुमान जी तत्क्षण दसों दिशाओं में बहुत से वानर भेज दिये ॥५३ ॥

अगणितगुणसत्त्वान् वायुवहगप्रचारान्
वनचरगणमुख्यान् पर्वताकाररूपान् ।
पवनहितकुमारः प्रेषयामास दूता-
नतिरभसतरात्मा दानमानादितृप्तान् ॥ ५४॥

अगणित गुण सम्पन्न पराक्रमी वायु के समानगति वाले और पर्वत के समान आकृति वाले मुख्य-मुख्य वानर दूतों को श्रीरामचन्द्रजी के कार्य के लिये उतावले पवननन्दन श्रीहनुमान जी ने दान-मान से संतुष्ट कर सभी दिशाओं में भेज दिया ॥५४॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे किष्किन्धाकाण्डे
चतुर्थः सर्गः ॥ ४॥

॥पञ्चम सर्गः ॥

भगवान राम का शोक और लक्ष्मणजी का किष्किन्धापुरी में जाना

रामस्तु पर्वतस्याग्रे मणिसानौ निशामुखे ।
सीताविरहजं शोकमसहन्निदमब्रवीत् ॥ १॥

पश्य लक्ष्मण मे सीता राक्षसेन हृता बलात् ।
मृताऽमृता वा निश्चेतुं न जानेऽद्यापि भामिनीम् ॥ २॥

श्रीमहादेवजी बोले-हे पार्वति! एकदिन प्रदोष-काल में मणिमय पर्वत के शिखर पर बैठे हुए श्रीरामचन्द्रजी सीता के विरह जनित शोक को सहन न करने के कारण इस प्रकार बोले-हे लक्ष्मण! देखो, मेरी सीता का राक्षस बलपूर्वक हरण कर ले गया; वह भामिनी अभी तक जीवित है या नहीं; यह निश्चय करने के लिये आज तक हमें कुछ भी पता नहीं चला ॥१-२॥

जीवतीति मम ब्रूयात्कश्चिद्वा प्रियकृत् स मे ।
यदि जानामि तां साध्वीं जीवन्तीं यत्र कुत्र वा ॥ ३॥

हठादेवाहरिष्यामि सुधामिव पयोनिधेः ।
प्रतिज्ञां शृणु मे भ्रातर्येन मे जनकात्मजा ॥ ४॥

नीता तं भस्मसात्कुर्यां सपुत्रबलवाहनम् ।
हे सीते चन्द्रवदने वसन्ती राक्षसालये ॥ ५॥

दुःखार्त्ता मामपश्यन्ती कथं प्राणान् धरिष्यसि ।
चन्द्रोऽपि भानुवद्भाति मम चन्द्राननां विना ॥ ६॥

वह जीवित है यह समाचार मुझसे जो सुनाए वह मेरा अति उपकार करने वाला है। उस साध्वी को जहाँ कहीं भी जीवित रहना जान जाऊँ तो वह कहीं भी क्यों न हो अवश्य ही समुद्र से अमृत के समान उसे शीघ्र लाऊँगा। हे भाई! मेरी प्रतिज्ञा सुनो, जो मेरी जनकात्मजा को ले गया है, उसे मैं पुत्र, सेना और वाहनों सहित भस्म कर दूंगा। हे चन्द्रवदने सीते! मुझे नहीं देखती हुई राक्षसों के घर में रहती हुई तुम किस प्रकार अपना प्राण धारण करोगी ? हाय ! चन्द्रमुखी सीता के विना चन्द्रमा भी सूर्य के समान प्रतीत होता है ॥३-६॥

चन्द्र त्वं जानकीं स्पृष्ट्वा करैर्मां स्पृश शीतलैः ।
सुग्रीवोऽपि दयाहीनो दुःखितं मां न पश्यति ॥ ७॥

हे चन्द्र! तुम जानकी को अपनी किरणों से स्पर्श करो, और उन शीतल किरणों से पुन: मुझे स्पर्श करो। सुग्रीव भी निर्दयी होकर मुझ दुःखिया को नहीं देखता ॥७॥

राज्यं निष्कण्टकं प्राप्य स्त्रीभिः परिवृतो रहः ।
कृतघ्नो दृश्यते व्यक्तं पानासक्तोऽतिकामुकः ॥ ८॥

अहो ! निष्कण्टक राज्य प्राप्त कर, मद्यपान में आसक्त, वह अत्यन्त कामुक होकर स्त्रियों से घिरा हुआ एकान्त में पड़ा रहता है। वह अत्यन्त कृतघ्न प्रतीत हो रहा है ॥ ८॥

नायाति शरदं पश्यन्नपि मार्गयितुं प्रियाम् ।
पूर्वोपकारिणं दुष्टः कृतघ्नो विस्मृतो हि माम् ॥ ९॥

शरद ऋतु आने पर भी वह मेरी प्रिया की खोज कराने हेतु नहीं आता है। मैंने पूर्वसमय में उसका उपकार किया था, किन्तु वह दुष्ट कृतघ्न होकर मुझे भूल गया हैं ॥९॥

हन्मि सुग्रीवमप्येवं सपुरं सहबान्धवम् ।
वाली यथा हतो मेऽद्य सुग्रीवोऽपि तथा भवहत् ॥ १०॥

सुग्रीव को भी मैं उसी प्रकार उसके नगर, बन्धु-बान्धव आदि के सहित मार दूंगा, जिस प्रकार वाली मेरे हाथों से मारा गया, उसी प्रकार आज सुग्रीव भी मारा जायगा॥१०॥

इति रुष्टं समालोक्य राघवं लक्ष्मणोऽब्रवीत् ।
इदानीमेव गत्वाहं सुग्रीवं दुष्टमानसम् ॥ ११॥

मामाज्ञापय हत्वा तमायास्ये राम तेऽन्तिकम् ।
इत्युक्त्वा धनुरादाय स्वयं तूणीरमेव च ॥ १२॥

गन्तुमभ्युद्यतं वीक्ष्य रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
न हन्तव्यस्त्वया वत्स सुग्रीवो मे प्रियः सखा ॥ १३॥

श्रीरघुनाथजी को इस प्रकार रुष्ट देखकर लक्ष्मणजी बोले-हे राम! आप मुझे आज्ञा दीजिये मैं अभी जाकर दुष्टचित्त सुग्रीव को मारकर आपके पास लौट आता हूँ। यह कह कर हाथ में धनुष तरकस लिये

स्वयं जाने को तद्यत लक्ष्मणजी को देखकर श्रीरामचन्द्रजी बोले- "वत्स! सुग्रीव मेरा प्रिय सुहृदय है तम उसे मत मारना ॥११-१३॥

किन्तु भीषय सुग्रीवं वालिवत्त्वं हनिष्यसे ।
इत्युक्त्वा शीघ्रमादाय सुग्रीवप्रतिभाषितम् ॥ १४॥

किन्तु सुग्रीव को भयभीत करना कि तू भी वाली के समान मारा जायगा और उत्तर लेकर शीघ्र आना। तब जो कुछ करना होगा मैं अवश्य ही वह करूँगा। ॥ १४॥

आगत्य पश्चाद्यत्कार्यं तत्करिष्याम्यसंशयम् ।
तथेति लक्ष्मणोऽगच्छत्त्वरितो भीमविक्रमः ॥ १५॥

किष्किन्धां प्रति कोपेन निर्दहन्निव वानरान् ।
सर्वज्ञो नित्यलक्ष्मीको विज्ञानात्मापि राघवः ॥ १६॥

"जैसी आपकी इच्छा" यह कहकर महापराक्रमी लक्ष्मण जी शीघ्र ही किष्किन्धापुरी में पहुँच गए। वह इस प्रकार क्रोधित हो रहे थे कि सभी वानरों को भस्म कर देंगे। श्रीरघुनाथजी सर्वज्ञ और ज्ञानस्वरूप हैं। श्रीलक्ष्मीजी नित्य उनकी सेवा करती हैं। ॥ १५ -१६॥

सीतामनुशुशोचार्त्तः प्राकृतः प्राकृतामिव ।
बुद्ध्यादिसाक्षिणस्तस्य मायाकार्यातिवर्तिनः ॥ १७॥

रागादिरहितस्यास्य तत्कार्यं कथमुद्भवहत् ।
ब्रह्मणोक्तमृतं कर्तुं राज्ञो दशरथस्य हि ॥ १८॥

सीता के शोक से इस प्रकार विव्हल हो रहे हैं जिस प्रकार साधारण पुरुष अपनी स्त्री के वियोग से दुखी होता है। वह सर्वसमर्थ परमात्मा प्रभु बुद्धि आदि के साक्षी, माया के कार्यों से परे और राग-द्वेष आदि विकारों से रहित हैं। तो फिर इन विकारों का कार्य रूप शोक उन्हें किस प्रकार हो सकता है ? निश्चय ही उन्होंने ब्रह्माजी की वाणी सत्य करने के लिये और महाराज दशरथ को उनकी तपस्या का फल देने के लिये ही मनुष्य रूप में अवतार लिया है। ॥ १७ -१८॥

तपसः फलदानाय जातो मानुषवहषधृक् ।
मायया मोहिताः सर्वे जना अज्ञानसंयुताः ॥ १९॥

कथमेषां भवहन्मोक्ष इति विष्णुर्विचिन्तयन् ।
कथां प्रथयितुं लोके सर्वलोकमलापहाम् ॥ २०॥

रामायणाभिधां रामो भूत्वा मानुषचेष्टकः ।
क्रोधं मोहं च कामं च व्यवहारार्थसिद्धये ॥ २१॥

तत्तत्कालोचितं गृह्णन् मोहयत्यवशाः प्रजाः ।
अनुरक्त इवाशेषगुणेषु गुणवर्जितः ॥ २२॥

सब लोग माया से मोहित होकर अज्ञान के वशीभूत हो गये हैं, उससे किस प्रकार उनकी निवृत्ति हो यह सोचकर भगवान् विष्णु ने अपनी सकल लोक-मलापहारिणी रामायण की कथा का लोक में विस्तार करने के लिये ही राम रूप में अवतार लेकर मनुष्य के समान अनेक लीलाएँ करते हुए, व्यवहार की सिद्धि के लिए, समय के अनुसार क्रोध, मोह और काम आदि विकारों को स्वीकार करते हुए विकारों

के वशवर्ति अपनी प्रजा को अपनी लीला से विमोहित कर रहे हैं, परन्तु सम्पूर्ण गुणों से अनुरक्त जैसे वह दिखलायी पड़ते हुए भी वस्तुतः सबसे रहित हैं ॥१९-२२॥

विज्ञानमूर्तिर्विज्ञानशक्तिः साक्ष्यगुणान्वितः ।
अतः कामादिभिर्नित्यमविलिप्तो यथा नभः ॥ २३॥

वह विज्ञान-स्वरूप, विज्ञान शक्ति सम्पन्न, साक्षी एवं गुणातीत हैं। अत: आकाश के समान काम आदि से सर्वथा निर्लिप्त हैं ॥२३॥

विन्दन्ति मुनयः केचिज्जानन्ति जनकादयः ।
तद्भक्ता निर्मलात्मानः सम्यग् जानन्ति नित्यदा ।
भक्तचित्तानुसारेण जायते भगवानजः ॥ २४॥

इनके वास्तविक स्वरूप को कोई-कोई मुनि तथा जनक इत्यादि और निर्मल मन वाले भक्तगण नित्य भली भाँति जानते हैं। वह भगवान भक्त की भावना के अनुसार अवतार ग्रहण करते हैं ॥२४॥

लक्ष्मणोऽपि तदा गत्वा किष्किन्धानगरान्तिकम् ।
ज्याघोषमकरोत्तीव्रं भीषयन् सर्ववानरान् ॥ २५॥

लक्ष्मणजी ने किष्किन्धा पुरी के समीप जाकर सभी वानरों को डराते हुए धनुष की प्रत्यंचा से भीषण टंकार किया ॥ २५ ॥

तं दृष्ट्वा प्राकृतास्तत्र वानरा वप्रमूर्धनि ।
चक्रुः किलकिलाशब्दं धृतपाषाणपादपाः ॥ २६॥

तान् दृष्ट्वा क्रोधताम्राक्षो वानरान् लक्ष्मणस्तदा ।
निर्मूलान् कर्तुमुद्युक्तो धनुरानम्य वीर्यवान् ॥ २७॥

उसे देखकर कुछ साधारण बन्दर नगर के शिखर पर चढ़कर अपने हाथों में पत्थर और वृक्ष आदि लेकर किलकारी करने लगे। उन्हें देखकर वीरवर लक्ष्मणजी के नेत्र क्रोध से लाल हो गये और धनुष को चढ़ाकर बन्दरों को निर्मूल करने के लिये उद्यत हुए ॥२६-२७॥

ततः शीघ्रं समाप्लुत्य ज्ञात्वा लक्ष्मणमागतम् ॥ २८॥

निवार्य वानरान् सर्वानङ्गदो मन्त्रिसत्तमः ।
गत्वा लक्ष्मणसामीप्यं प्रणनाम स दण्डवत् ॥ २९॥

लक्ष्मणजी को आया हुआ जानकर मंत्रिवर अंगदजी शीघ्र ही कूदकर आगे आये और वह सभी वानरों को रोककर लक्ष्मणजी के पास गये और उनको दण्डवत् प्रणाम किया ॥२८-२९॥

ततोऽङ्गदं परिष्वज्य लक्ष्मणः प्रियवर्धनः ।
उवाच वत्स गच्छ त्वं पितृव्याय निवहदय ॥ ३०॥

मामागतं राघवहण चोदितं रौद्रमूर्तिना ।
तथेति त्वरितं गत्वा सुग्रीवाय न्यवहदयत् ॥ ३१॥

तब प्रियवर्धन लक्ष्मणजी अंगद को गले लगा कर बोले-वत्स ! तुम जाकर अपने पितृव्य सग्रीव से कह दो कि श्रीरघुनाथजी तुमसे अत्यन्त क्रुद्ध हैं। मैं उनकी प्रेरणा से यहाँ आया हूँ। 'जैसी आपकी

इच्छा' यह कहकर शीघ्र ही सारा वृतान्त अंगद जी ने सुग्रीव को सुनाया ॥३०-३१॥

लक्ष्मणः क्रोधताम्राक्षः पुरद्वारि बहिः स्थितः ।
तच्छ्रुत्वातीव सन्त्रस्तः सुग्रीवो वानरेश्वरः ॥ ३२॥

अंगद बोले कि क्रोध से लाल नेत्र किए लक्ष्मणजी बाहर नगर के द्वार पर खड़े हैं। यह सुनकर वानरराज सुग्रीव को अत्यन्त भय हुआ॥३२॥

आहूय मन्त्रिणां श्रेष्ठं हनूमन्तमथाब्रवीत् ।
गच्छ त्वमङ्गदेनाशु लक्ष्मणं विनयान्वितः ॥ ३३॥

सान्त्वयन् कोपितं वीरं शनैरानय सादरम् ।
प्रेषयित्वा हनूमन्तं तारामाह कपीश्वरः ॥ ३४॥

वह मन्त्रिवर हनुमानजी को बुलाकर बोले-तुम अंगदजी के साथ शीघ्र ही लक्ष्मणजी के पास जाओ और क्रोधित हुए उन वीरवर को विनय पूर्वक शान्त करके, आदर सहित उन्हें यहाँ ले आओ। हनुमानजी को भेजकर कपिराज सुग्रीव तारा से बोले-॥३३-३४॥

त्वं गच्छ सान्त्वयन्ती तं लक्ष्मणं मृदुभाषितैः ।
शान्तमन्तःपुरं नीत्वा पश्चाद्दर्शय मेऽनघे ॥ ३५॥

हे अनघे ! आगे जाकर तुम वीरवर लक्ष्मण को शान्त करो और उनके शान्त हो जाने पर अन्तःपुर में लाकर मुझसे मिलाओ ॥३५॥

भवत्विति ततस्तारा मध्यकक्षं समाविशत् ।
हनुमानङ्गदेनैव सहितो लक्ष्मणान्तिकम् ॥ ३६॥

गत्वा ननाम शिरसा भक्त्या स्वागतमब्रवीत् ।
एहि वीर महाभाग भवद्गृहमशङ्कितम् ॥ ३७॥

ऐसा ही हो यह कहकर तारा बीच कक्ष में आई। अंगद के सहित हनुमानजी भी लक्ष्मण के पास आये और सिर झुकाकर भक्तिपूर्वक स्वागत करते हुए बोले-हे वीरवर महाभाग! यह आपका ही घर है निःसंकोच आप आइये । ३६-३७॥

प्रविश्य राजदारादीन् दृष्ट्वा सुग्रीवमेव च ।
यदाज्ञापयसे पश्चात्तत्सर्वं करवाणि भोः ॥ ३८॥

अन्दर आकर राजमहिषी और महाराज सुग्रीव से मिलें, पुनः आपकी आज्ञा के अनुसार हम कार्य करेंगे ॥३८॥

इत्युक्त्वा लक्ष्मणं भक्त्या करे गृह्य स मारुतिः ।
आनयामास नगरमध्याद्राजगृहं प्रति ॥ ३९॥

यह कह पवननन्दन हनुमान जी ने भक्ति से लक्ष्मण जी का हाथ पकड़कर नगर के मध्य से होते हुए राजमन्दिर की ओर ले गए ॥३९॥

पश्यंस्तत्र महासौधान् यूथपानां समन्ततः ।
जगाम भवनं राज्ञः सुरेन्द्रभवनोपमम् ॥ ४०॥

तत्पश्चात् लक्ष्मणजी को रास्ते में जाते हुए यत्र-तत्र वानरों के यूथपतियों के महल को देखते हुए राजभवन में पहुँचे जो इन्द्र के भवन के समान अतिशोभायमान था ॥४०॥

मध्यकक्षे गता तत्र तारा ताराधिपानना ।
सर्वाभरणसम्पन्ना मदरक्तान्तलोचना ॥ ४१॥

वहाँ पर बीचकक्ष में ही चन्द्रमुखी तारा बैठी हुई थी, वह सम्पूर्ण अलंकारों से अलंकृत थी और मद के कारण उसके नेत्र कुछ रक्तवर्ण हो रहे थे ॥४१॥

उवाच लक्ष्मणं नत्वा स्मितपूर्वाभिभाषिणी ।
एहि देवर भद्रं ते साधुस्त्वं भक्तवत्सलः ॥ ४२॥

मधुरभाषिणी वह तारा लक्ष्मणजी को प्रणाम कर मुस्कुराती हुई बोली-देवर जी आइये, आपका कल्याण हो, आप साधुस्वभाव और भक्तवत्सल हैं ॥ ४२ ॥

किमर्थं कोपमाकार्षीर्भक्ते भृत्ये कपीश्वरे ।
बहुकालमनाश्वासं दुःखमेवानुभूतवान् ॥ ४३॥

अपने भक्त और अनुचर वानरराज सुग्रीव पर आपने इतना कोप क्यों किया है; उन्होंने बहुत दिनों से बिना किसी सहारे के दुःख ही दुःख भोगा है।४३ ॥

इदानीं बहुदुःखौघाद्भवद्भिरभिरक्षितः ।
भवत्प्रसादात्सुग्रीवः प्राप्तसौख्यो महामतिः ॥ ४४॥

इस समय बहुत बड़े दुःख से आपने उनकी रक्षा की है। आप लोगों की कृपा से ही महामति सुग्रीव को यह सुख प्राप्त हुआ है ॥४४॥

कामासक्तो रघुपतेः सेवार्थं नागतो हरिः ।
आगमिष्यन्ति हरयो नानादेशगताः प्रभो ॥ ४५॥

वानर स्वभाव से काम में आसक्त होकर रघुनाथजी की सेवा में वह उपस्थित नहीं हुए हैं। हे प्रभु ! विविध देशों से बहुत वानर आने वाले हैं ॥४५॥

प्रेषितो दशसाहस्रा हरयो रघुसत्तम ।
आनेतुं वानरान् दिग्भ्यो महापर्वतसन्निभान् ॥ ४६॥

हे रघुसत्तम ! विविध दिशाओं से महापर्वत के समान वानरों को बुलाने के लिये दससहस्त्र वानर भेजे गये हैं ॥४६॥

सुग्रीवः स्वयमागत्य सर्ववानरयूथपैः ।
वधयिष्यति दैत्यौघान् रावणं च हनिष्यति ॥ ४७॥

स्वयं सुग्रीव समस्त वानर यूथपतियों के साथ जाकर दैत्य दल का संहार और रावण का वध करेंगे ॥४७॥

त्वयैव सहितोऽद्यैव गन्ता वानरपुङ्गवः ।
पश्यान्तर्भवनं तत्र पुत्रदारसुहृद्वृतम् ॥ ४८॥

दृष्ट्वा सुग्रीवमभयं दत्त्वा नय सहैव ते ।

ताराया वचनं श्रुत्वा कृशक्रोधोऽथ लक्ष्मणः ॥ ४९॥

जगामान्तःपुरं यत्र सुग्रीवो वानरेश्वरः ।
रुमामालिङ्ग्य सुग्रीवः पर्यङ्के पर्यवस्थितः ॥ ५०॥

वह कपिश्रेष्ठ आपके साथ आज ही जाने वाले हैं। आप कृपया अन्तःपुर में पधारें, उस स्थान पर पुत्र, स्त्री, सुहृद् आदि के साथ सुग्रीव बैठे हैं। सुग्रीव से मिलकर उनको अभय दान दीजिये और साथ ही श्रीरामचन्द्रजी के पास ले जाइये। तारा के यह वचन सुनकर लक्ष्मणजी का क्रोध शान्त हुआ वह अन्तःपुर में वानरराज सुग्रीव के पास गये। पलङ्गपर सुग्रीव रुमा का आलिंगन किए हुए विराजमान थे ॥४८-५०॥

दृष्ट्वा लक्ष्मणमत्यर्थमुत्पपातातिभीतवत् ।
तं दृष्ट्वा लक्ष्मणः क्रुद्धो मदविह्वलितेक्षणम् ॥ ५१॥

सुग्रीवं प्राह दुर्वृत्त विस्मृतोऽसि रघूत्तमम् ।
वाली येन हतो वीरः स बाणोऽद्य प्रतीक्षते ॥ ५२॥

सुग्रीव लक्ष्मणजी को देखते ही अति भयभीत के समान उछलकर खड़े हो गये। मद से विह्वलित नेत्र वाले सुग्रीव को देखकर अतिक्रोधित हो लक्ष्मणजी बोले-दुर्वृत सुग्रीव ! रघुनाथजी को तू भूल गया। जिस बाण से वाली मारा गया था वह आज तुम्हारी प्रतीक्षा करता है ॥५१-५२॥

त्वमेव वालिनो मार्गं गमिष्यसि मया हतः ।
एवमत्यन्तपरुषं वदन्तं लक्ष्मणं तदा ॥ ५३॥

उवाच हनुमान् वीरः कथमेवं प्रभाषसे ।
त्वत्तोऽधिकतरो रामे भक्तोऽयं वानराधिपः ॥ ५४॥

प्रतीत होता है कि तू मेरे द्वारा मारे जाने से वाली के रास्ते से ही जाना चाहता है। इस प्रकार लक्ष्मणजी के कठोर वचन सुनकर वीरवर हनुमानजी बोले-आप इस प्रकार क्यों कहते हैं, यह वानरराज सुग्रीव आप से भी अधिक श्रीरामचन्द्रजी के भक्त हैं ॥ ५३-५४ ॥

रामकार्यार्थमनिशं जागर्ति न तु विस्मृतः ।
आगताः परितः पश्य वानराः कोटिशः प्रभो ॥ ५५॥

गमिष्यन्त्यचिरेणैव सीतायाः परिमार्गणम् ।
साधयिष्यति सुग्रीवो रामकार्यमशेषतः ॥ ५६॥

श्रीरामचन्द्रजी के कार्य के लिये यह अहर्निश जागरण करते हैं, यह उनके कार्य को भूले नहीं हैं। हे प्रभु ! करोड़ों बंदर अनेकों दिशाओं से आ रहे हैं। वह सभी सीताजी को पता लगाने के लिए जायेंगे और सुग्रीव श्रीरामचन्द्रजी के शेष कार्य को विधिवत् सम्पन्न करेंगे ॥५५-५६॥

श्रुत्वा हनुमतो वाक्यं सौमित्रिर्लज्जितोऽभवत् ।
सुग्रीवोऽप्यर्घ्यपाद्याद्यैर्लक्ष्मणं समपूजयत् ॥ ५७॥

आलिङ्ग्य प्राह रामस्य दासोऽहं तेन रक्षितः ।
रामः स्वतेजसा लोकान् क्षणार्द्धेनैव जेष्यति ॥ ५८॥

हनुमानजी के ये वाक्य सुनकर लक्ष्मणजी लज्जित हो गये। तब सुग्रीवजी ने अर्ध्य, पाद्य आदि से लक्ष्मणजी की विधिवत् पूजन किया और उनसे गले मिलकर सुग्रीव बोले-मैं तो श्रीराम का दास हूँ और उन्होंने ही मेरी रक्षा की है, वह अपने तेज से आधे क्षण में ही सम्पूर्ण लोकों को जीत सकते हैं ॥५७-५८॥

सहायमात्रमेवाहं वानरैः सहितः प्रभो ।
सौमित्रिरपि सुग्रीवं प्राह किञ्चिन्मयोदितम् ॥ ५९॥

तत्क्षमस्व महाभाग प्रणयाद्भाषितं मया ।
गच्छामोऽद्यैव सुग्रीव रामस्तिष्ठति कानने ॥ ६०॥

हे प्रभु! मैं वानरों सहित केवल उनका सहायक मात्र हूँ। तब लक्ष्मणजी सुग्रीव से बोले-हे महाभाग ! यदि प्रणयवश मैंने आपसे जो कुछ अनुचित कहा तोउसे क्षमा करें। भगवान श्रीराम जंगल में अकेले हैं, अत: हम आज ही उनके पास चलेंगे ॥५९-६०॥

एक एवातिदुःखार्त्तो जानकीविरहात्प्रभुः ।
तथेति रथमारुह्य लक्ष्मणेन समन्वितः ॥ ६१॥

वानरैः सहितो राजा राममेवान्वपद्यत ॥ ६२॥

वहाँ पर प्रभु श्रीरामचन्द्रजी श्रीजानकीजी के विरह से अत्यन्त दुःखी हैं। 'जैसी आपकी आज्ञा' यह कहकर सुग्रीव, लक्ष्मणजी के साथ रथ में बैठकर वानरों के साथ श्रीरामचन्द्र जी पास चल पड़े ॥६१-६२॥

भेरीमृदङ्गैर्बहुऋक्षवानरैः श्वेतातपत्रैर्व्यजनैश्च शोभितः ।

नीलाङ्गदाद्यैर्हनुमत्प्रधानैः समावृतो राघवमभ्यगाद्धरिः ॥ ६३॥

उस समय भेरी, मृदङ्ग आदि विविध प्रकार के वाद्य बज रहे थे और अनेक ऋक्ष, वानर श्वेत छत्र चामर लिये उन्हें अत्यन्त सुशोभित कर रहे थे। नील, अङ्गद हनुमान आदि प्रमुख वानरों के साथ सुग्रीव श्रीरघुनाथजी के पास चले ॥६३॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे किष्किन्धाकाण्डे पञ्चमः सर्गः ॥ ५॥

॥ षष्ठ सर्गः ॥

सीताजी की खोज, वानरों का गुफा में प्रवेश और स्वयंप्रभा का चरित्र ।

दृष्ट्वा रामं समासीनं गुहाद्वारि शिलातले ।
चैलाजिनधरं श्यामं जटामौलिविराजितम् ॥ १॥

विशालनयनं शान्तं स्मितचारुमुखाम्बुजम् ।
सीताविरहसन्तप्तं पश्यन्तं मृगपक्षिणः ॥ २॥

रथाद्दूरात्समुत्पत्य वहगात्सुग्रीवलक्ष्मणौ ।
रामस्य पादयोरग्रे पेततुर्भक्तिसंयुतौ ॥ ३॥

श्रीमहादेवजी बोले-हे पार्वती! गुफा के द्वार पर शिलाखण्ड पर विराजमान श्रीरामचन्द्रजी को सुग्रीव और लक्ष्मणजी ने दूर से ही देखा। वह मृगचर्म धारण किये, जटा मुकुट से सुशोभित, विशाल नेत्र, स्मित सुन्दर मुखारविन्द, शान्त मूर्ति, श्यामशरीर भगवान् श्रीराम सीताजी की विरह व्यथा से संतप्त होकर मृग और पक्षियों को देख रहे थे। उन्हें दूर से देखकर वह सभी शीघ्र ही रथ से उतर कर अत्यन्त भक्ति पूर्वक श्रीरघुनाथजी के चरणों में गिर पड़े ॥ १-३॥

रामः सुग्रीवमालिङ्ग्य पृष्ट्वानामयमन्तिके ।
स्थापयित्वा यथान्यायं पूजयामास धर्मवित् ॥ ४॥

धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्रजी ने सुग्रीव का आलिंगन करके कुशलक्षेम पूछा तथा अपने पास बैठा कर और यथोचित सत्कार किया ॥४॥

ततोऽब्रवीद्रघुश्रेष्ठं सुग्रीवो भक्तिनम्रधीः ।
देव पश्य समायान्तीं वानराणां महाचमूम् ॥ ५॥

तत्पश्चात् सुग्रीव भक्ति से अत्यन्त विनम्र होकर श्रीरघुनाथजी से बोले- देव ! आती हुई वानरों की महान् सेना को देखिये ॥ ५॥

कुलाचलाद्रिसम्भूता मेरुमन्दरसन्निभाः ।
नानाद्वीपसरिच्छैलवासिनः पर्वतोपमाः ॥ ६॥

असङ्ख्याताः समायान्ति हरयः कामरूपिणः ।
सर्वे देवांशसम्भूताः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ७॥

प्रभो ! हिमालय आदि पर्वतों पर उत्पन्न हुए, सुमेरु और मंदराचल के समान अनेक दीप, नदी तथा पर्वतों के ऊपर निवास करने वाले पर्वतों के समान अगणित विशालकाय वानर आ रहे हैं। यह देवताओं के अंश से उत्पन्न, इच्छा के अनुरूप रूप धारण करने वाले और युद्धविद्या में अत्यन्त निपुण हैं ॥ ६-७॥

अत्र केचिद्गजबलाः केचिद्दशगजोपमाः ।
गजायुतबलाः केचिदन्येऽमितबलाः प्रभो ॥ ८॥

इनमें किसी में एक हाथी का बल, किसी में दस हाथी का बल तथा किसी में हजार हाथियों का बल और किसी में अमित बल है॥८॥

केचिदञ्जनकूटाभाः केचित्कनकसन्निभाः ।
केचिद्रक्तान्तवदना दीर्घवालास्तथापरे ॥ ९॥

कोई कज्जलगिरि के समान और कोई सुवर्ण के समान हैं। किसी का मुख रक्तवर्ण है और किसी के शरीर पर लम्बे-लम्बे बाल हैं ॥९॥

शुद्धस्फटिकसङ्काशाः केचिद्राक्षससन्निभाः ।
गर्जन्तः परितो यान्ति वानरा युद्धकाङ्क्षिणः ॥ १०॥

इनमें कोई शुद्धस्फटिक मणि के समान और कोई राक्षस के समान हैं। यह सभी वानर युद्ध की इच्छा से गरजते हुए यत्र-तत्र दौड़ रहे हैं ॥ १०॥

त्वदाज्ञाकारिणः सर्वे फलमूलाशनाः प्रभो ।
ऋक्षाणामधिपो वीरो जाम्बवान्नाम बुद्धिमान् ॥ ११॥

एष मे मन्त्रिणां श्रेष्ठः कोटिभल्लूकवृन्दपः ।
हनूमानेष विख्यातो महासत्त्वपराक्रमः ॥ १२॥

वायुपुत्रोऽतितेजस्वी मन्त्री बुद्धिमतां वरः ।
नलो नीलश्च गवयो गवाक्षो गन्धमादनः ॥ १३॥

शरभो मैन्दवश्चैव गजः पनस एव च ।
वलीमुखो दधिमुखः सुषेणस्तार एव च ॥ १४॥

केसरी च महासत्त्वः पिता हनुमतो बली ।
एते ते यूथपा राम प्राधान्येन मयोदिताः ॥ १५॥

हे प्रभो ! ये सब आपकी आज्ञा पालन करने वाले और फलमूल खाने वाले हैं। ये ऋक्षों के अधिपति जाम्बवान वीर और बुद्धिमान हैं। यह मेरे मंत्रियों में श्रेष्ठ करोड़ भालुओं के वृन्द के अधिपति हैं। यह महाशक्तिशाली और पराक्रम में विख्यात परम तेजस्वी पवनपुत्र हनुमान जी हैं। यह बुद्धिमानों में श्रेष्ठ मंत्री हैं। इसके अतिरिक्त नल, नील, गवय, गवाक्ष, गंधमादन, मैन्दव, गज, पनस, बलीमुख, दधिमुख, सुषेण, तार तथा हनुमानजी के पिता महाबली परमधीर केसरी मेरे प्रधान-प्रधान यूथपति हैं, जिन्हें मैंने आपसे निवेदन किया है ॥११-१५॥

महात्मानो महावीर्याः शक्रतुल्यपराक्रमाः ।
एते प्रत्येकतः कोटिकोटिवानरयूथपाः ॥ १६॥

यह सब महात्मा, अति बलवान् और इन्द्र के समान पराक्रमी हैं। और इनमे से प्रत्येक कोटि-कोटि वानरों के यूथपति हैं ॥ १६ ॥

तवाज्ञाकारिणः सर्वे सर्वे देवांशसम्भवाः ।
एष वालिसुतः श्रीमानङ्गदो नाम विश्रुतः ॥ १७॥

यह सभी देवताओं के अंश से समुद्भुत और आपके आज्ञाकारी हैं। ये वालिकुमार श्रीमान् अंगद के नाम से विख्यात हैं ॥ १७ ॥

वालितुल्यबलो वीरो राक्षसानां बलान्तकः ।
एते चान्ये च बहवस्त्वदर्थे त्यक्तजीविताः ॥ १८॥

यह वाली के समान बलवान् और राक्षसों के बल को दमन करने वाले हैं। यह सभी और अनेक वानरयोद्धा आपके लिये प्राण न्योछावर करने वाले हैं ॥ १८ ॥

योद्धारः पर्वताग्रैश्च निपुणाः शत्रुघातने ।
आज्ञापय रघुश्रेष्ठ सर्वे ते वशवर्तिनः ॥ १९॥

यह पर्वत शिला लेकर युद्ध करने वाले और शत्रुओं का संहार करने में निपुण हैं। हे रघुश्रेष्ठ! आप इन्हें आज्ञा दीजिये, ये आपके वशवर्ति हैं ॥ १९ ॥

रामः सुग्रीवमालिङ्ग्य हर्षपूर्णाश्रुलोचनः ।
प्राह सुग्रीव जानासि सर्वं त्वं कार्यगौरवम् ॥ २०॥

मार्गणार्थं हि जानक्या नियुङ्क्ष्व यदि रोचते ।
श्रुत्वा रामस्य वचनं सुग्रीवः प्रीतमानसः ॥ २१॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजी आनन्दाश्रुपूर्ण नेत्रों से सुग्रीव को हृदय से लगाकर बोले- सुग्रीव ! कार्य गौरव तो तुम जानते ही हो, यदि यह उचित हो तो जानकीजी की खोज के लिये इन्हें नियुक्त करो। श्रीरामचन्द्रजी का यह वचन सुनकर कपिश्रेष्ठ सुग्रीव ने प्रसन्न होकर अनेक वानरों को सीताजी की खोज के लिये भेजा॥ २०-२१॥

प्रेषयामास बलिनो वानरान् वानरर्षभः ।
दिक्षु सर्वासु विविधान् वानरान् प्रेष्य सत्वरम् ॥ २२॥

दक्षिणां दिशमत्यर्थं प्रयत्नेन महाबलान् ।

युवराजं जाम्बवन्तं हनूमन्तं महाबलम् ॥ २३॥

नलं सुषेणं शरभं मैन्दं द्विविदमेव च ।
प्रेषयामास सुग्रीवो वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २४॥

विचिन्वन्तु प्रयत्नेन भवन्तो जानकीं शुभाम् ।
मासादर्वाङ्निवर्तध्वं मच्छासनपुरःसराः ॥ २५॥

शीघ्र ही सभी दिशाओं में अनेक वानरों को भेजकर दक्षिण दिशा में यत्नपूर्वक महाबलशाली युवराज अङ्गद, जाम्बवान् , हनुमान् , नल, सुषेण, शरभ, मैन्द तथा द्विविद् आदि को यह कहकर भेजे कि मेरी आज्ञा से तुमलोग अति प्रयत्न पूर्वक शुभलक्षणा जानकीजी का अन्वेषण करना और एक मास के अन्दर ही लौट आना ॥ २२-२५॥

सीतामदृष्ट्वा यदि वो मासादूर्ध्वं दिनं भवहत् ।
तदा प्राणान्तिकं दण्डं मत्तः प्राप्स्यथ वानराः ॥ २६॥

सीता को विना देखे एकमास से एक दिन भी यदि अधिक होगा तो तुम लोगों को मेरे द्वारा दिया गया मृत्युदण्ड भोगना पड़ेगा ॥२६॥

इति प्रस्थाप्य सुग्रीवो वानरान् भीमविक्रमान् ।
रामस्य पार्श्वे श्रीरामं नत्वा चोपविवहश सः ॥ २७॥

इसप्रकार महापराक्रमी वानरों को भेजकर सुग्रीव श्रीराम को प्रणाम कर उनके समीप बैठ गये।॥ २७ ॥

गच्छन्तं मारुतिं दृष्ट्वा रामो वचनमब्रवीत् ।

अभिज्ञानार्थमेतन्मे ह्यङ्गुलीयकमुत्तमम् ॥ २८॥

मन्नामाक्षरसंयुक्तं सीतायै दीयतां रहः ।
अस्मिन् कार्ये प्रमाणं हि त्वमेव कपिसत्तम ।
जानामि सत्त्वं ते सर्वं गच्छ पन्थाः शुभस्तव ॥ २९॥

तब जाते हुए हनुमानजी को देखकर श्रीरामचन्द्रजी बोले-पहचान के लिये यह मेरे नाम की मुद्रिका ले लो। मेरे नाम की इस मुद्रिका को एकान्त में सीता को देना। हे कपिश्रेष्ठ ! इस विषय में स्वयं तुम ही समर्थ हो, मैं तुम्हारे बुद्धि बल को भली-भाँति जानता हूँ, तुम्हारा मार्ग कल्याण प्रद हो॥२८-२९॥

एवं कपीनां राज्ञा ते विसृष्टाः परिमार्गणे ।
सीताया अङ्गदमुखा बभ्रमुस्तत्र तत्र ह ॥ ३०॥

इस प्रकार सुग्रीव के द्वारा भेजे गये वह अङ्गदादि कपिश्रेष्ठ सीताजी की खोज करते हुए यत्र-तत्र पृथिवी पर विचरण करने लगे ॥३०॥

भ्रमन्तो विन्ध्यगहने ददृशुः पर्वतोपमम् ।
राक्षसं भीषणाकारं भक्षयन्तं मृगान् गजान् ॥ ३१॥

उन सभी वानरों ने घूमते-घूमते विन्ध्याचल के गहन वन में पर्वत के समान भीषण आकृति वाला राक्षस देखे, जो मृग, जंगली हाथी आदि का भक्षण कर रहे थे ॥ ३१॥

रावणोऽयमिति ज्ञात्वा केचिद्वानरपुङ्गवाः ।
जघ्नुः किलकिलाशब्दं मुञ्चन्तो मुष्टिभिः क्षणात् ॥ ३२॥

यही रावण है, यह समझकर कुछ वानरगणों ने किलकिला कर उसे क्षणमात्र में ही मुष्टि प्रहारों से मार दिया ॥३२॥

नायं रावण इत्युक्त्वा ययुरन्यन्महद्वनम् ।
तृषार्ता सलिलं तत्र नाविन्दन् हरिपुङ्गवाः ॥ ३३॥

और फिर सुगमता से उसे मरा देखकर. 'यह रावण नहीं है', यह कहते हुए वह दूसरे महावन में गये। वहाँ पर वह प्यासे हो गये, किन्तु कहीं भी जल दिखायी नहीं पड़ा ॥ ३३ ॥

विभ्रमन्तो महारण्ये शुष्ककण्ठोष्ठतालुकाः ।
ददृशुर्गह्वरं तत्र तृणगुल्मावृतं महत् ॥ ३४॥

उस महारण्य में घूमते हुए उनके कण्ठ, ओष्ठ, तालु आदि सूख गये। तदनन्तर वहाँ तृण, गुल्म और लता आदि से आवृत्त उन्हें एक विशाल गुफा दिखायी दी ॥ ३४॥

आर्द्रपक्षान् क्रौञ्चहंसान्निःसृतान् ददृशुस्ततः ।
अत्रास्ते सलिलं नूनं प्रविशामो महागुहाम् ॥ ३५॥

इत्युक्त्वा हनुमानग्रे प्रविवहश तमन्वयुः ।
सर्वे परस्परं धृत्वा बाहून् बाहुभिरुत्सुकाः ॥ ३६॥

उन्हीने देखा कि उस गुफा से भीगे पंख वाले क्रौञ्च और हंस निकल रहे हैं। इस गुफा में जल होगा, यह सोच कर उन सभी ने उस गुफा में प्रवेश किया। सबसे आगे हनुमानजी ने प्रवेश किया और उनके

पीछे अन्य सभी वानर एक दूसरे के हाथ में हाथ डालकर उत्सुकतापूर्वक उसमें घुस गये ॥ ३५-३६ ॥

अन्धकारे महद्दूरं गत्वापश्यन् कपीश्वराः ।
जलाशयान् मणिनिभतोयान् कल्पद्रुमोपमान् ॥ ३७॥

बहुत दूर तक अन्धकार में ही जाने के अनन्तर उन सभी वानरों ने उस गुफा में मणि के समान स्वच्छ जल से परिपूर्ण अनेक सरोवर देखे ॥ ३७॥

वृक्षान् पक्वफलैर्नम्रान् मधुद्रोणसमन्वितान् ।
गृहान् सर्वगुणोपेतान् मणिवस्त्रादिपूरितान् ॥ ३८॥

उनके समीप ही पके हुए फलों के भार झुके से हुए कल्पतरु के समान सुन्दर वृक्ष थे, जिनमें शहद के छत्ते लगे हुए थे। समीप में ही मणिमय वस्त्रालङ्कारों से युक्त और दिव्य भोजन सामग्रियों से परिपूर्ण सर्वगुण सम्पन्न निर्जन भवनों को उन्होंने देखा ॥ ३८॥

दिव्यभक्ष्यान्नसहितान् मानुषैः परिवर्जितान् ।
विस्मितास्तत्र भवने दिव्ये कनकविष्टरे ॥ ३९॥

प्रभया दीप्यमानां तु ददृशुः स्त्रियमेककाम् ।
ध्यायन्तीं चीरवसनां योगिनीं योगमास्थिताम् ॥ ४०॥

एक दिव्य भवन में सुवर्ण सिंहासन पर विराजमान एक दिव्य रमणी को देख कर वह आश्चर्यचकित हो गए। वह रमणी योगाभ्यास में तल्लीन एक योगिनी थी, जो अपने तेज से उस स्थान को प्रकाशित

कर रही थी तथा अपने शरीर पर चीर-वस्त्र धारण किये उस समय ध्यानस्थ थी। ३९-४० ॥

प्रणेमुस्तां महाभागां भक्त्या भीत्या च वानराः ।
दृष्ट्वा तान् वानरान् देवी प्राह यूयं किमागताः ॥ ४१॥

कुतो वा कस्य दूता वा मत्स्थानं किं प्रधर्षथ ।
तच्छ्रुत्वा हनुमानाह शृणु वक्ष्यामि देवि ते ॥ ४२॥

उस महाभाग युवति को देखकर समस्त वानरों ने भय और प्रीति से उसे प्रणाम किये। तत्पश्चात् वह देवी उनकी ओर देखकर बोली-आपलोग यहाँ क्यों और कहाँ से आये हैं ? आप किसके दूत हैं तथा मेरे स्थान को भ्रष्ट क्यों कर रहें हैं? यह सुनकर हनुमानजी बोले-देवि ! मैं सब कुछ आपसे बतलाता हूँ॥४१-४२॥

अयोध्याधिपतिः श्रीमान् राजा दशरथः प्रभुः ।
तस्य पुत्रो महाभागो ज्येष्ठो राम इति श्रुतः ॥ ४३॥

परम ऐश्वर्यशाली महाराज दशरथ अयोध्या के अधिपति थे। महाभागशाली उनके ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामचन्द्र नाम से प्रसिद्ध हैं ॥ ४३॥

पितुराज्ञां पुरस्कृत्य सभार्यः सानुजो वनम् ।
गतस्तत्र हृता भार्या तस्य साध्वी दुरात्मना ॥ ४४॥

श्री राम अपने पिता की आज्ञा से अपनी स्त्री और अपने अनुज के साथ वन में आये थे। जंगल में उनकी परमसाध्वी अर्धाङ्गिनी सीता को रावण ने बलपूर्वक हरण कर लिया। ॥ ४४॥

रावणेन ततो रामः सुग्रीवं सानुजो ययौ ।
सुग्रीवो मित्रभावहन रामस्य प्रियवल्लभाम् ॥ ४५॥

तदनन्तर रावण को खोजते हुए श्री राम अपने भाई लक्ष्मण के साथ सुग्रीव के पास आये। सुग्रीव से उनकी मित्रता हो जाने से सुग्रीव ने हम लोगों को यह आदेश दिया है कि उनकी प्राणप्रिया सीता की तुम लोग खोज करो। ॥ ४५॥

मृगयध्वमिति प्राह ततो वयमुपागताः ।
ततो वनं विचिन्वन्तो जानकीं जलकाङ्क्षिणः ॥ ४६॥

प्रविष्टा गह्वरं घोरं दैवादत्र समागताः ।
त्वं वा किमर्थमत्रासि का वा त्वं वद नः शुभे ॥ ४७॥

अत: हम सभी उसी स्थान से आये हैं। जंगल में जानकीजी को खोजते-खोजते हमें जल की आवश्यकता हुई। अत-एव हमलोग इस भयङ्कर गुफा में भाग्यवश चले आये हैं। हे शुभे! आप कौन हैं और यहाँ किसलिये रहती हैं ? यह हमें बतलाइये ॥ ४६-४७॥

योगिनी च तथा दृष्ट्वा वानरान् प्राह हृष्टधीः ।
यथेष्टं फलमूलानि जग्ध्वा पीत्वामृतं पयः ॥ ४८॥

आगच्छत ततो वक्ष्ये मम वृत्तान्तमादितः ।
तथेति भुक्त्वा पीत्वा च हृष्टास्ते सर्ववानराः ॥ ४९॥

यह वृत्तान्त सुनकर उस योगिनी को बड़ा हर्ष हुआ और वह वानरों से बोली-तुम लोग पहले इच्छानुसार फल-मूल आदि खाकर अमृत

मय जलपान कर आओ; तब मैं अपना सब इतिवृत्त बतलाऊँगी। तत्पश्चात उन वानरगणों ने 'जैसी आपकी आज्ञा' यह कह कर इच्छा के अनुसार फलमूलादि खाकर जलपान किया ॥ ४८-४९ ॥

देव्याः समीपं गत्वा ते बद्धाञ्जलिपुटाः स्थिताः ।
ततः प्राह हनूमन्तं योगिनी दिव्यदर्शना ॥ ५०॥

हेमा नाम पुरा दिव्यरूपिणी विश्वकर्मणः ।
पुत्री महेशं नृत्येन तोषयामास भामिनी ॥ ५१॥

और पुनः प्रसन्न मन उस देवी के पास आकर हाथ जोड़कर खड़े हो गये। तब वह दिव्यदर्शना योगिनी हनुमानजी से कहने लगी-पूर्व समय में विश्वकर्मा की हेमा नाम की एक दिव्य रूपिणी पुत्री थी। उस सुन्दरी ने अपने नृत्य से श्रीमहादेवजी को प्रसन्न किया ॥ ५०-५१ ॥

तुष्टो महेशः प्रददाविदं दिव्यपुरं महत् ।
अत्र स्थिता सा सुदती वर्षाणामयुतायुतम् ॥ ५२॥

प्रसन्न होकर श्रीमहादेवजी ने यह विशाल दिव्य नगर उसे दिया तब वह सुन्दर दर्शना हजारों वर्ष यहाँ रही ॥ ५२ ॥

तस्या अहं सखी विष्णुतत्परा मोक्षकाङ्क्षिणी ।
नाम्ना स्वयम्प्रभा दिव्यगन्धर्वतनया पुरा ॥ ५३॥

उसकी सखी दिव्य नामक गन्धर्व की मैं पुत्री हूँ। स्वयंप्रभा मेरा नाम है, मुझे मोक्ष की इच्छा है। अत: मैं सदैव विष्णुभगवान की उपासना में तल्लीन रहती हूँ। ॥ ५३ ॥

गच्छन्ती ब्रह्मलोकं सा मामाहेदं तपश्चर ।
अत्रैव निवसन्ती त्वं सर्वप्राणिविवर्जिते ॥ ५४॥

पूर्व समय में वह जब ब्रह्मलोक में जाने लगी तब वह मुझसे बोली कि तुम सब प्रकार से निर्जन इस स्थान पर रहकर तपस्या करो॥५३-५४ ॥

त्रेतायुगे दाशरथिर्भूत्वा नारायणोऽव्ययः ।
भूभारहरणार्थाय विचरिष्यति कानने ॥ ५५॥

त्रेतायुग में साक्षात् नारायण राजा दशरथ के यहाँ जन्म लेकर पृथ्वी का भार हरण करने के लिये वन में विचरण करेंगे ॥५५॥

मार्गन्तो वानरास्तस्य भार्यामायान्ति ते गुहाम् ।
पूजयित्वाथ तान् नत्वा रामं स्तुत्वा प्रयत्नतः ॥ ५६॥

यातासि भवनं विष्णोर्योगिगम्यं सनातनम् ।
इतोऽहं गन्तुमिच्छामि रामं द्रष्टुं त्वरान्विता ॥ ५७॥

उनकी स्त्री को खोजते हुए कुछ वानर तुम्हारे गुफा में आयेंगे। विधिवत् उनकी पूजा कर श्रीरामचन्द्रजी के पास जाकर विधिवत् उनकी स्तुति कर योगियों के प्राप्त होने योग्य उनके सनातन धाम को तू चली जाओगी। अत-एव मैं अब शीघ्र ही भगवान श्रीराम का दर्शन करने के लिये जाना चाहती हूँ॥५६-५७ ॥

यूयं पिदध्वमक्षीणि गमिष्यथ बहिर्गुहाम् ।

तथैव चक्रुस्ते वहगाद्गताः पूर्वस्थितं वनम् ॥ ५८॥

तुम सब अपनी आँखें बन्द कर लो, तब गुफा से बाहर निकल जाओगे। ऐसा कर वे लोग शीघ्र प्रथम वन में पहुँच गये ॥ ५८॥

सापि त्यक्त्वा गुहां शीघ्रं ययौ राघवसन्निधिम् ।
तत्र रामं ससुग्रीवं लक्ष्मणं च ददर्श ह ॥ ५९॥

वह योगिनी भी उस गुफा को छोड़कर श्रीरामचन्द्रजी के पास आयी। वहाँ उसने सुग्रीव और लक्ष्मण के साथ भगवान श्रीरामचन्द्रजी का दर्शन किया ॥ ५९॥

कृत्वा प्रदक्षिणं रामं प्रणम्य बहुशः सुधीः ।
आह गद्गदया वाचा रोमाञ्चिततनूरुहा ॥ ६०॥

दासी तवाहं राजेन्द्र दर्शनार्थमिहागता ।
बहुवर्षसहस्राणि तप्तं मे दुश्चरं तपः ॥ ६१॥

गुहायां दर्शनार्थं ते फलितं मेऽद्य तत्तपः ।
अद्य हि त्वां नमस्यामि मायायाः परतः स्थितम् ॥ ६२॥

वह श्रीरामचन्द्रजी की प्रदक्षिणा और बार-बार प्रणाम कर पुलकित बदन हो गद्गद् वाणी से कहने लगी कि हे राजाधिराज! मैं आपकी दासी आपके दर्शन हेतु यहाँ आयी हूँ, आपके दर्शन के लिये गुफा में रहकर सहस्त्रों वर्षों तक मैंने आपकी तपस्या की है। आज मेरा मनोरथ सिद्ध हो गया। मैं आज मायातीत आपको नमस्कार कर रही है॥ ६०-६२ ॥

सर्वभूतेषु चालक्ष्यं बहिरन्तरवस्थितम् ।
योगमायाजवनिकाच्छन्नो मानुषविग्रहः ॥ ६३॥

सभी भूतों में बाहर-भीतर अलक्षित होकर विद्यमान आपने योगमाया का अवलम्बन कर मनुष्य विग्रह धारण किया है ॥६३॥

न लक्ष्यसेऽज्ञानदृशां शैलूष इव रूपधृक् ।
महाभागवतानां त्वं भक्तियोगविधित्सया ॥ ६४॥

अवतीर्णोऽसि भगवन् कथं जानामि तामसी ।
लोके जानातु यः कश्चित्तव तत्त्वं रघूत्तम ॥ ६५॥

मायिक की माया को साधारण जन जिस प्रकार नहीं जानते, उसी प्रकार अज्ञानी पुरुष आपके शुद्ध स्वरूप को नहीं जान सकते। हे भगवन् ! आप महाभागवत् अपने भक्तों के लिए भक्तियोग विधि की शिक्षा देने के लिए ही अवतार लिए हैं। तमोगुणी मैं आपको कैसे जान सकती हूँ ? हे रघुश्रेष्ठ! संसार में जो कोई आपके परमतत्त्व को जानते हों तो जानते रहें ॥ ६४-६५॥

ममैतदेव रूपं ते सदा भातु हृदालये ।
राम ते पादयुगलं दर्शितं मोक्षदर्शनम् ॥ ६६॥

अदर्शनं भवार्णानां सन्मार्गपरिदर्शनम् ।
धनपुत्रकलत्रादिविभूतिपरिदर्पितः ।
अकिञ्चनधनं त्वाद्य नाभिधातुं जनोऽर्हति ॥ ६७॥

मेरे हृदय में तो आपका यही रूप हमेशा विराज मान रहे। हे राम ! मोक्षदायक और संसार सागर से पार करने वाले तथा सत्पथ प्रदर्शक आपके चरण कमलों का आज मुझे दर्शन हुआ है। हे आदिपुरुष ! जो मनुष्य धन, पुत्र, स्त्री और ऐश्वर्य आदि से उन्मत्त हो रहे हैं, वह आपकी स्तुति नहीं कर सकते; क्योंकि आप अकिश्चन प्राणियों के सर्वस्व हैं ॥ ६४-६७ ॥

निवृत्तगुणमार्गाय निष्किञ्चनधनाय ते ॥ ६८॥

नमः स्वात्माभिरामाय निर्गुणाय गुणात्मने ।
कालरूपिणमीशानमादिमध्यान्तवर्जितम् ॥ ६९॥

समं चरन्तं सर्वत्र मन्ये त्वां पुरुषं परम् ।
देव ते चेष्टितं कश्चिन्न वहद नृविडम्बनम् ॥ ७०॥

गुणातीत, अकिञ्चन प्राणियों के धन, आत्माराम में रमण करने वाले निर्गुण और गुणों के आत्मा आपको मैं बारम्बार नमस्कार करती हूँ। आप फालरूप से सबका नियन्ता, आदि-मध्य-अन्त्य रहित सर्वत्र समभाव से व्याप्त परात्पर पुरुष हैं। हे देव ! मानव चरित्र का अनुकरण करते हुए जिन लीलाओं को आप करते हैं उन्हें कोई भी नहीं जान सकता ॥ ६८-७० ॥

न तेऽस्ति कश्चिद्दयितो द्वेष्यो वाऽपर एव च ।
त्वन्मायापिहितात्मानस्त्वां पश्यन्ति तथाविधम् ॥ ७१॥

हे प्रभो! न कोई आपको प्रिय है और न कोई आपका अप्रिय, और कोई आपका उदासीन भी नहीं है। आपकी माया से आवृत्त आत्मा वाले प्राणी आपको तत्तद् स्वरूप में देखते हैं ॥ ७१॥

अजस्याकर्तुरीशस्य देवतिर्यङ्नरादिषु ।
जन्मकर्मादिकं यद्यत्तदत्यन्तविडम्बनम् ॥ ७२॥

आप जन्म रहित, अकर्ता और ईश्वर हैं। आपकी महती लीला से ही देव, तिर्यक् , मनुष्य आदि योनियों में आपका जन्म-कर्म होता है ॥ ७२ ॥

त्वामाहुरक्षरं जातं कथाश्रवणसिद्धये ।
केचित्कोसलराजस्य तपसः फलसिद्धये ॥ ७३॥

आप अविनाशी कहे जाते हैं और कथा-श्रवण की सिद्धि के लिये ही आप अवतार ग्रहण करते हैं। कोई-कोई तो कहते हैं कि कौशलाधीश महाराज दशरथ की तपस्या का फल देने के लिये आपने अवतार लिया है ॥ ७३ ॥

कौसल्यया प्राथ्यर्मानं जातमाहुः परे जनाः ।
दुष्टराक्षसभूभारहरणायार्थितो विभुः ॥ ७४॥

ब्रह्मणा नररूपेण जातोऽयमिति केचन ।
शृण्वन्ति गायन्ति च यह कथास्ते रघुनन्दन ॥ ७५॥

अन्य लोगों का कहना है कि आप कौसल्याजी की प्रार्थना से अवतार लिये हैं और कोई-कोई कहते हैं कि ब्रह्माजी की प्रार्थना करने पर भूमि के भारस्वरूप राक्षसों का विनाश करने के लिये ही सर्वव्यापक

होकर आप मनुष्य रूप में अवतरित हैं। हे रघुनन्दन! जो लोग आपकी कथा श्रवण-कीर्तन करेगे ॥ ७४-७५॥

पश्यन्ति तव पादाब्जं भवार्णवसुतारणम् ।
त्वन्मायागुणबद्धाहं व्यतिरिक्तं गुणाश्रयम् ॥ ७६॥

कथं त्वां देव जानीयां स्तोतुं वाविषयं विभुम् ।
नमस्यामि रघुश्रेष्ठं बाणासनशरान्वितम् ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सुग्रीवादिभिरन्वितम् ॥ ७७॥

निश्चय ही संसार सागर से पार करने वाले आपके चरणारविन्दों का दर्शन करेंगे। हे देव ! मै आपके माया के गुणों से बद्ध हूँ। तब मैं उन गुणों से पृथक् गुणाश्रय आपको कैसे जान सकती हूँ? तथा आप विभु की स्तुति भी मैं कैसे कर सकती क्योंकि आप वाणी से अगम्य हैं ? अत: हे रघुश्रेष्ठ ! अनुज लक्ष्मण और सुग्रीवादि के साथ धनुष-बाण धारण करने वाले आपको मैं केवल प्रणाम करती हूँ ॥ ७४-७७ ॥

एवं स्तुतो रघुश्रेष्ठः प्रसन्नः प्रणताघहृत् ।
उवाच योगिनीं भक्तां किं ते मनसि काङ्क्षितम् ॥ ७८॥

उसके इस प्रकार स्तुति करने पर प्रणतपापहारी रघुश्रेष्ठ प्रसन्न होकर भक्ता उस योगिनी से बोले कि तुम्हारी इच्छा क्या है ? ॥ ७८॥

सा प्राह राघवं भक्त्या भक्तिं ते भक्तवत्सल ।
यत्र कुत्रापि जाताया निश्चलां देहि मे प्रभो ॥ ७९॥

भक्तिपूर्वक वह श्रीरघुनाथजी से बोली-हे भक्तवत्सल प्रभो ! मैं जहाँ कहीं भी जन्म ग्रहण करूँ, आप निश्चल भक्ति मुझे प्रदान कीजिए ॥ ७९ ॥

त्वद्भक्तेषु सदा सङ्गो भूयान्मे प्राकृतेषु न ।
जिह्वा मे रामरामेति भक्त्या वदतु सर्वदा ॥ ८०॥

हमेशा आपके भक्तों से ही मेरा साथ हो, सांसारिक लोगों का साथ न हो और मेरी जिह्वा हमेशा राम-राम यही कहती रहे ॥८०॥

मानसं श्यामलं रूपं सीतालक्ष्मणसंयुतम् ।
धनुर्बाणधरं पीतवाससं मुकुटोज्ज्वलम् ॥ ८१॥

अङ्गदैर्नूपुरैर्मुक्ताहारैः कौस्तुभकुण्डलैः ।
भान्तं स्मरतु मे राम वरं नान्यं वृणे प्रभो ॥ ८२॥

हे राम ! मेरा मन धनुर्बाण धारण किये, पीताम्बर धारी, सुन्दर मुकुट, भुजबन्द, नूपुर, मोतियों की माला, कौस्तुभमणि और कुण्डलों से विभूषित श्यामल-मनोहर स्वरूप, श्रीसीताजी और लक्ष्मण के साथ आपका चिन्तन करता रहे। हे प्रभो! इसके अतिरिक्त मैं कोई अन्य वरदान नहीं माँगती ॥ ८१-८२ ॥

श्रीराम उवाच ।
भवत्वेवं महाभागे गच्छ त्वं बदरीवनम् ।
तत्रैव मां स्मरन्ती त्वं त्यक्त्वेदं भूतपञ्चकम् ।
मामेव परमात्मानमचिरात्प्रतिपद्यसे ॥ ८३॥

श्रीरामचन्द्रजी बोले-हे महाभागे ! ऐसा ही हो। अब तुम वदरीकाश्रम में जाओ और वहाँ पर मेरा चिन्तन करती हुई रहो। शीघ्र ही यह पाश्चभौतिक शरीर छोड़कर तुम मेरे परमधाम को प्राप्त करोगी ॥८३॥

श्रुत्वा रघूत्तमवचोऽमृतसारकल्पं
गत्वा तदैव बदरीतरुखण्डजुष्टम् ।
तीर्थं तदा रघुपतिं मनसा स्मरन्ती
त्यक्त्वा कलेवरमवाप परं पदं सा ॥ ८४॥

श्रीरघुनाथजी की अमृत तुल्य वाणी को सुनकर वह स्वयंप्रभा उसी समय पुण्यस्थली वदरीकाश्रम चली गयी। वहाँ अनेक बेर के वृक्ष लगे हुए हैं। उस स्थान पर उसने अपने अन्तःकरण में श्री रघुनाथजी का स्मरण करती हुए अन्त में शरीर का त्याग होने पर श्रीरघुनाथजी के परमपद को प्राप्त किया ८४॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे किष्किन्धाकाण्डे
षष्ठः सर्गः ॥ ६॥

॥ सप्तम सर्गः ॥

वानरों का प्रायोपवेशन और सम्पाती से भेंट

श्रीमहादेव उवाच ।
अथ तत्र समासीना वृक्षखण्डेषु वानराः ।
चिन्तयन्तो विमुह्यन्तः सीतामार्गणकर्शिताः ॥ १॥

श्रीमहादेवजी बोले-हे पार्वति ! सीताजी का अन्वेषण करते-करते थककर वानरगण उस गुफा के समीप वृक्षों के डालों पर बैठकर सीता जी का पता न लगने के कारणविमोहित होकर सोच-विचार कर रहे थे ॥१॥

तत्रोवाचाङ्गदः कांश्चिद्वानरान् वानरर्षभः ।
भ्रमतां गह्वरेऽस्माकं मासो नूनं गतोऽभवत् ॥ २॥

उस समय वानरश्रेष्ठ अंगद जी कुछ वानरों से बोले-प्रतीत होता है कि इस कन्दरा में खोजते-खोजते निश्चय ही हमलोगों का एक मास व्यतीत हो गया ॥ २॥

सीता नाधिगतास्माभिर्न कृतं राजशासनम् ।
यदि गच्छाम किष्किन्धां सुग्रीवोऽस्मान् हनिष्यति ॥ ३॥

अब तक हमलोगों को सीताजी का पता नहीं चला। हमलोग वानरराज सुग्रीव की आज्ञा का पालन नहीं कर सके, यदि हम किष्किन्धापुरी को लौट चलें तो अवश्य ही वह हमें मार देगा ॥३॥

विशेषतः शत्रुसुतं मां मिषान्निहनिष्यति ।
मयि तस्य कुतः प्रीतिरहं रामेण रक्षितः ॥ ४॥

अपने शत्रु का पुत्र समझ कर वह तो इस बहाने अवश्य ही मुझे मार देगा। मेरी रक्षा तो श्रीरामचन्द्रजी ने ही की हैं, मुझमें सुग्रीव का प्रेम कहाँ हो सकता ? ॥४॥

इदानीं रामकार्यं मे न कृतं तन्मिषं भवहत् ।
तस्य मद्धनने नूनं सुग्रीवस्य दुरात्मनः ॥ ५॥

मुझसे श्रीरामचन्द्रजी का कार्य नहीं हुआ। अत एव इस बहाने से मेरा वध करने के लिए उसे अच्छा अवसर मिल जायगा ॥ ५॥

मातृकल्पां भ्रातृभार्यां पापात्मानुभवत्यसौ ।
न गच्छेयमतः पार्श्वं तस्य वानरपुङ्गवाः ॥ ६॥

वह दुरात्मा अपनी माता के समान अपने बड़े भाई की पत्नी का भोग करता है। अत एव वानरश्रेष्ठों ! अब मैं उसके पास नहीं जाऊँगा और किसी यहीं पर अपना जीवन समाप्त कर दूंगा। ॥६॥

त्यक्ष्यामि जीवितं चात्र येन केनापि मृत्युना ।
इत्यश्रुनयनं केचिद्दृष्ट्वा वानरपुङ्गवाः ॥ ७॥

व्यथिताः साश्रुनयना युवराजमथाब्रुवन् ॥ ८॥

इस प्रकार अंगद के नेत्रों में जल भरा देखकर अनेकों प्रमुख वानरों को अत्यंत खेद हुआ और वह सभी सब आँखों में आँसू भरकर युवराज से बोले ॥७-८॥

किमर्थं तव शोकोऽत्र वयं ते प्राणरक्षकाः ।
भवामो निवसामोऽत्र गुहायां भयवर्जिताः ॥ ९॥

आप शोक क्यों करते हैं? हमलोग आपके प्राणों की रक्षा करने वाले हैं और निर्भय होकर इसी गुफा में रहेंगे ॥ ९॥

सर्वसौभाग्यसहितं पुरं देवपुरोपमम् ।
शनैः परस्परं वाक्यं वदतां मारुतात्मजः ॥ १०॥

श्रुत्वाङ्गदं समालिङ्ग्य प्रोवाच नयकोविदः ।
विचार्यते किमर्थं ते दुर्विचारो न युज्यते ॥ ११॥

यह सर्वसौभाग्य सम्पन्न अमरावती के तुल्य है। इस प्रकार धीरे-धीरे परस्पर बात-चीत करते हुए यह शब्द नीति निपुण हनुमान जी को सुनायी पड़े। इसे सुनकर उन्होंने अंगद का आलिंगन करते हुए कहा – अंगद! तुम यह चिन्ता क्यों करते हो ! यह दुविचार उचित नहीं है ॥ १०-११ ॥

राज्ञोऽत्यन्तप्रियस्त्वं हि तारापुत्रोऽतिवल्लभः ।
रामस्य लक्ष्मणात्प्रीतिस्त्वयि नित्यं प्रवर्धते ॥ १२॥

तुम तारा के अत्यन्त प्रिय पुत्र हो; अत एव महाराज सुग्रीव के तुम अत्यन्त प्रिय हो। श्रीरामचन्द्रजी की नित्य प्रति लक्ष्मणजी से भी अधिक प्रीति बढ़ती जाती है ॥ १२॥

अतो न राघवाद्भीतिस्तव राज्ञो विशेषतः ।
अहं तव हिते सक्तो वत्स नान्यं विचारय ॥ १३॥

अत: श्रीरामचन्द्रजी अथवा राजा सुग्रीव से तुम्हें किसी प्रकार का भय नहीं है। और मैं विशेष रूप से तुम्हारे हित में तत्पर हूँ। अत: हे वत्स ! तुम किसी प्रकार की चिन्ता मत करो ॥ १३ ॥

गुहावासश्च निर्भेद्य इत्युक्तं वानरैस्तु यत् ।
तदेतद्रामबाणानामभेद्यं किं जगत्त्रये ॥ १४॥

इन वानरों का कहना है कि इस गुफा में किसी प्रकार का भय नहीं होगा तो त्रैलोक्य में वह कौन सी वस्तु है जो भगवान श्रीराम के बाणों से अभेद्य हो ? ॥ १४ ॥

यह त्वां दुर्बोधयन्त्येते वानरा वानरर्षभ ।
पुत्रदारादिकं त्यक्त्वा कथं स्थास्यन्ति ते त्वया ॥ १५॥

हे कपिश्रेष्ठ! ये वानरगण तुम्हें जो अनुचित सलाह देते हैं तो वह भी अपनी स्त्री, पुत्र आदि को छोड़कर तुम्हारे साथ कैसे रहेंगे? ॥ १५॥

अन्यद्गुह्यतमं वक्ष्ये रहस्यं शृणु मे सुत ।
रामो न मानुषो देवः साक्षान्नारायणोऽव्ययः ॥ १६॥

पुत्र ! मैं तुम्हे एक गुप्त रहस्य बतलाता हूँ, इस रहस्य को सुनो- भगवान् श्रीराम कोई साधारण मनुष्य नहीं हैं। वह निर्विकार साक्षात् नारायण देव हैं ॥ १६ ॥

सीता भगवती माया जनसम्मोहकारिणी ।
लक्ष्मणो भुवनाधारः साक्षाच्छेषः फणीश्वरः ॥ १७॥

भगवती श्रीसीताजी जगन्मोहिनी माया हैं तथा श्रीलक्ष्मणजी त्रिभुवनाधार साक्षात् नागराज श्री शेषजी हैं॥१७॥

ब्रह्मणा प्रार्थिताः सर्वे रक्षोगणविनाशने ।
मायामानुषभावहन जाता लोकैकरक्षकाः ॥ १८॥

यह सभी ब्रह्माजी की प्रार्थना करने पर राक्षसों का नाश करने के लिये माया-मानव के रूप में अवतरित हैं। इनमें से प्रत्येक व्यक्ति त्रिलोकी की रक्षा करने में समर्थ हैं ॥ १८॥

वयं च पार्षदाः सर्वे विष्णोर्वैकुण्ठवासिनः ।
मनुष्यभावमापन्ने स्वेच्छया परमात्मनि ॥ १९॥

वयं वानररूपेण जातास्तस्यैव मायया ।
वयं तु तपसा पूर्वमाराध्य जगतां पतिम् ॥ २०॥

तेनैवानुगृहीताः स्मः पार्षदत्वमुपागताः ।
इदानीमपि तस्यैव सेवां कृत्वैव मायया ॥ २१॥

पुनर्वैकुण्ठमासाद्य सुखं स्थास्यामहे वयम् ।

इत्यङ्गदमथाश्वास्य गता विन्ध्यं महाचलम् ॥ २२॥

हम लोग वैकुण्ठ वासी भरावान् विष्णु के पार्षद हैं। स्वेच्छया भगवान् जब मनुष्य रूप में अवतरित हुए तब हमलोंग उनकी माया-शक्ति से वानर के रूप में उत्पन्न हो गए। पूर्व समय में हमने श्री जगदीश्वर की आराधना तपस्या के द्वारा की थी। अत: उनकी कृपा से हम लोग उनके सेवक हुए थे। इस समय भी हमलोग माया की प्रेरणा से उनकी सेवाकर अन्त में सुखपूर्वक वैकुण्ठ में रहेंगे। इस प्रकार अंगद जी को आश्वस्तकर हनुमानजी विन्ध्य पर्वत पर गए ॥ १९-२२॥

विचिन्वन्तोऽथ शनकैर्जानकीं दक्षिणाम्बुधेः ।
तीरे महेन्द्राख्यगिरेः पवित्रं पादमाययुः ॥ २३॥

और धीरे-धीरे श्रीजानकीजी का अन्वेषण करते हुए दक्षिण समुद्र के तटपर महेन्द्र पर्वत की तराई में पहुँचे ॥ २३ ॥

दृष्ट्वा समुद्रं दुष्पारमगाधं भयवर्धनम् ।
वानरा भयसन्त्रस्ताः किं कुर्म इति वादिनः ॥ २४॥

वहाँ अपार, अगाध और भय को बढ़ाने वाला समुद्र को देखकर वह भयभीत हो गए और परस्पर कहने लगे कि हमें अब क्या करना चाहिए ? ॥ २४ ॥

निषेदुरुदधेस्तीरे सर्वे चिन्तासमन्विताः ।
मन्त्रयामासुरन्योन्यमङ्गदाद्या महाबलाः ॥ २५॥

अंगद आदि सभी महापराकमी वानर गण अत्यन्त शोकाकुल होकर समुद्र तट पर बैठकर आपस में विचार विमर्श करने लगे ॥२५॥

भ्रमतो मे वने मासो गतोऽत्रैव गुहान्तरे ।
न दृष्टो रावणो वाद्य सीता वा जनकात्मजा ॥ २६॥

अहो! वन में खोजते-खोजते उस गुफा में ही एक मास व्यतीत हो गया किन्तु अभी तक हम रावण अथवा जनक नन्दिनी सीता को नहीं देख सके॥ २६ ॥

सुग्रीवस्तीक्ष्णदण्डोऽस्मान्निहन्त्येव न संशयः ।
सुग्रीववधतोऽस्माकं श्रेयः प्रायोपवहशनम् ॥ २७॥

सुग्रीव तीक्ष्ण दण्ड देनेवाला है, निःसन्देह वह हमें मार देगा। सुग्रीव के द्वारा मरने से तो अच्छा है कि हम प्रायोपवेशन अर्थात अन्न-जल छोत्याग कर अपने प्राणत्याग कर दें, इसमें हमारा अधिक कल्याण है ॥ २७ ॥

इति निश्चित्य तत्रैव दर्भानास्तीर्य सर्वतः ।
उपाविवहशुस्ते सर्वे मरणे कृतनिश्चयाः ॥ २८॥

यह निर्णय करने के पश्च्यात वह सब यत्र-तत्र कुशासन बिछा कर मरने का निश्चय करके वहीं बैठ गए ॥ २८ ॥

एतस्मिन्नन्तरे तत्र महेन्द्राद्रिगुहान्तरात् ।
निर्गत्य शनकैरागाद्गृध्रः पर्वतसन्निभः ॥ २९॥

इसी समय महेन्द्राचल की गुफा से निकल कर धीरे-धीरे पर्वताकार एक गृध्र वहाँ आया ॥ २९॥

दृष्ट्वा प्रायोपवहशेन स्थितान् वानरपुङ्गवान् ।
उवाच शनकैर्गृध्रः प्राप्तो भक्ष्योऽद्य मे बहुः ॥ ३०॥

और वहाँ अन्न जल त्याग कर प्रायोपवेशन के लिये बैठे बड़े-बड़े वानरों देखकर वह मन्द स्वर में कहने लगा-आज बहुत सा खाद्य मुझे प्राप्त हो गया है ॥ ३०॥

एकैकशः क्रमात्सर्वान् भक्षयामि दिने दिने ।
श्रुत्वा तद्गृध्रवचनं वानरा भीतमानसाः ॥ ३१॥

प्रतिदिन मैं एक-एक करके इन्हें खाऊँगा। गृध्र के यह वचन सुनकर वह सभी वानर भयभीत होकर कहने लगे।॥ ३१॥

भक्षयिष्यति नः सर्वानसौ गृध्रो न संशयः ।
रामकार्यं च नास्माभिः कृतं किञ्चिद्धरीश्वराः ॥ ३२॥

सुग्रीवस्यापि च हितं न कृतं स्वात्मनामपि ।
वृथानेन वधं प्राप्ता गच्छामो यमसादनम् ॥ ३३॥

निःसन्देह यह गृध्र हम लोगों को खा जायेगा। हे वानरेश्वरगण! हमने भगवान का कार्य करने के लिए कुछ किया नहीं और राजा सुग्रीव का अथवा स्वयं अपना भी हमने कुछ हितकार्य नहीं किया। व्यर्थ ही हमलोग इससे मृत्यु प्राप्त कर यमलोक को जायेंगे ॥ ३२-३३॥

अहो जटायुर्धर्मात्मा रामस्यार्थे मृतः सुधीः ॥
मोक्षं प्राप दुरावापं योगिनामप्यरिन्दमः ॥ ३४॥

अहो! धर्मात्मा जटायु धन्य है जिसने बुद्धिमान् श्रीराम के कार्य के लिये अपने प्राणों की आहूति दे दी और इस प्रकार योगियों को भी दुर्लभ वह शत्रुदमन मोक्ष-पद प्राप्त कर लिया ॥ ३४ ॥

सम्पातिस्तु तदा वाक्यं श्रुत्वा वानरभाषितम् ।
के वा यूयं मम भ्रातुः कर्णपीयूषसन्निभम् ॥ ३५॥

जटायुरिति नामाद्य व्याहरन्तः परस्परम् ।
उच्यतां वो भयं मा भून्मत्तः प्लवगसत्तमाः ॥ ३६॥

वानरों के यह वाक्य सुनकर सम्पाति बोला-हे कपिश्रेष्ठ! आपलोग कौन हैं जो आपस में मेरे कानों को अमृत के समान प्रिय लगने वाले मेरे भाई जटायु का नाम ले रहे हैं। आप मुझसे किसी प्रकार से भय-भीत न हों और अपना वृत्तान्त बताएं ॥ ३५-३६ ॥

तमुवाचाङ्गदः श्रीमानुत्थितो गृध्रसन्निधौ ।
रामो दाशरथिः श्रीमान् लक्ष्मणेन समन्वितः ॥ ३७॥

सीतया भार्यया सार्धं विचचार महावने ।
तस्य सीता हृता साध्वी रावणेन दुरात्मना ॥ ३८॥

तब श्रीमान् अंगद जी उठकर उस गृध्र के पास गये और बोले-दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजी अनुज लक्ष्मण और प्राण प्रिया सीता के

साथ घोर दण्डकारण्य में विचरण कर रहे थे। वहाँ उनकी साध्वी भार्या सीता को दुरात्मा रावण हर कर ले गया ॥ ३७-३८॥

मृगयां निर्गते रामे लक्ष्मणे च हृता बलात् ।
रामरामेति क्रोशन्ती श्रुत्वा गृध्रः प्रतापवान् ॥ ३९॥

जटायुर्नाम पक्षीन्द्रो युद्धं कृत्वा सुदारुणम् ।
रावणेन हतो वीरो राघवार्थे महाबलः ॥ ४०॥

राम और लक्ष्मण जब मृगया के लिये गये थे तब वह बलपूर्वक सीता को हर कर ले गया। उस समय वह हा राम ! हा राम ! यह कहकर रोने लगी। उनका यह रूदन सुनकर महाप्रतापी पक्षिराज गृध्रवर जटायु ने श्रीरघुनाथजी के लिये रावण से घोर युद्ध किया, परन्तु अन्त में महाबलवान् वीरवर रावण के हाथों मारे गये ॥ ३९-४०॥

रामेण दग्धो रामस्य सायूज्यमगमत्क्षणात् ।
रामः सुग्रीवमासाद्य सख्यं कृत्वाग्निसाक्षिकम् ॥ ४१॥

तब श्रीरामचन्द्रजी ने स्वयं उनका दाह संस्कार किया और तत्काल भगवान राम का सायुज्य पद जटायु को प्रदान किया। तत्पश्चात् श्रीरघुनाथजी सुग्रीव के पास आये और अग्नि को साक्षी मान कर उनसे मित्रता की ॥ ४१ ॥

सुग्रीवचोदितो हत्वा वालिनं सुदुरासदम् ।
राज्यं ददौ वानराणां सुग्रीवाय महाबलः ॥ ४२॥

तत्पश्चात् सुग्रीव के कहने पर महाबली श्रीरामचन्द्रजी ने अति दुर्जेय वाली को मारा और वानरों का राज्य सुग्रीव को दे दिया ॥४२॥

सुग्रीवः प्रेषयामास सीतायाः परिमार्गणे ।
अस्मान् वानरवृन्दान् वै महासत्त्वान् महाबलः ॥ ४३॥

महाबली सुग्रीव ने हम जैसे अनेकों महापराक्रमी वानरों को सीताजी की खोज के लिये भेजा है ॥४३॥

मासादर्वाङ्निवर्तध्वं नो चेत्प्राणान् हरामि वः ।
इत्याज्ञया भ्रमन्तोऽस्मिन् वने गह्वरमध्यगाः ॥ ४४॥

महाराज सुग्रीव ने आज्ञा दी है कि एक मास के भीतर ही सबको लौट कर आना है, अन्यथा वह सबको मृत्यु दंड देंगे। उनकी आज्ञा से इस वन में घूमते हुए हमलोग एक गुफा में पहुँचे ॥४४॥

गतो मासो न जानीमः सीतां वा रावणं च वा ॥
मर्तुं प्रायोपविष्टा स्मस्तीरे लवणवारिधेः ॥ ४५॥

वहाँ पर एकमास पूर्ण हो गया परन्तु अभी तक हमें माता सीता अथवा रावण किसी का भी पता नहीं चला। अत: हमलोग अन्न जल त्याग कर प्राण त्यागने हेतु इस क्षीर समुद्र के तटपर बैठे हैं ॥४५॥

यदि जानासि हे पक्षिन् सीतां कथय नः शुभाम् ।
अङ्गदस्य वचः श्रुत्वा सम्पातिर्हृष्टमानसः ॥ ४६॥

उवाच मत्प्रियो भ्राता जटायुः प्लवगेश्वराः ।
बहुवर्षसहस्रान्ते भ्रातृवार्ता श्रुता मया ॥ ४७॥

हे पक्षि! शुभलक्षणा सीता का यदि तुम्हें पता हो तो बताओ। अंगद की यह वाणी सुनकर सम्पाति मन में प्रसन्न होकर बोला-हे कपीश्वरों! जटायु मेरा परमप्रिय भाई था। कई सहस्त्र वर्षों के बाद आज मैंने आज अपने भाई का समाचार सुना है ॥४६-४७॥

वाक्साहाय्यं करिष्येऽहं भवतां प्लवगेश्वराः ।
भ्रातुः सलिलदानाय नयध्वं मां जलान्तिकम् ॥ ४८॥

पश्चात्सर्वं शुभं वक्ष्ये भवतां कार्यसिद्धये ।
तथेति निन्युस्ते तीरं समुद्रस्य विहङ्गमम् ॥ ४९॥

हे वानरों! अवश्य ही मैं वाणी से आपलोगों की कुछ सहायता कर सकता हूँ। भाई को जल देने के लिये आप मुझे जल के समीप ले चलें। इसके पश्च्यात मैं आप लोगों की कार्य सिद्धि के लिये उचित सलाह दूंगा। 'जैसी आपकी आज्ञा' कह कर वह वानर सम्पाति को समुद्र तटपर ले गये ॥४८-४९॥

सोऽपि तत्सलिले स्नात्वा भ्रातुर्दत्त्वा जलाञ्जलिम् ।
पुनः स्वस्थानमासाद्य स्थितो नीतो हरीश्वरैः ।
सम्पातिः कथयामास वानरान् परिहर्षयन् ॥ ५०॥

लङ्का नाम नगर्यास्ते त्रिकूटगिरिमूर्धनि ।
तत्राशोकवने सीता राक्षसीभिः सुरक्षिता ॥ ५१॥

वहाँ पहुँचकर सम्पाति ने जल में स्नान कर भाई को जलांजलि प्रदान की। तब वानर गण सम्पाति को उसके स्थान पर ले गये। वहाँ बैठकर सम्पाति वानरों को हर्षित करता हुआ बोला-त्रिकूटपर्वत पर लंका नामक एक नगरी है। वहाँ पर श्रीसीताजी अशोक वन में राक्षसियों की निगरानी में रहती हैं ॥५०-५१॥

समुद्रमध्ये सा लङ्का शतयोजनदूरतः ।
दृश्यते मे न सन्देहः सीता च परिदृश्यते ॥ ५२॥

निःसन्देह लंकापुरी यहाँ से सौ योजन दूर समुद्र के मध्य में है। मुझे लंकापुरी और सीताजी यहाँ से दिखाई पड़ती हैं ॥ ५२॥

गृध्रत्वाद्दूरदृष्टिर्मे नात्र संशयितुं क्षमम् ।
शतयोजनविस्तीर्णं समुद्रं यस्तु लङ्घयेत् ॥ ५३॥

स एव जानकीं दृष्ट्वा पुनरायास्यति ध्रुवम् ।
अहमेव दुरात्मानं रावणं हन्तुमुत्सहे ।
भ्रातुर्हन्तारमेकाकी किन्तु पक्षविवर्जितः ॥ ५४॥

मैं गृध्र हूँ। अत एव मेरी दूरदृष्टि है, इसमें सन्देह का लेश नहीं है। आपलोगों में से जो सौ योजन विस्तृत समुद्र को लांघने में समर्थ हो वह निश्चय ही जानकीजी को देखकर आ सकता है। मेरे भाई को मारने वाला दुरात्मा रावण के लिये तो अकेला मैं ही पर्याप्त हूँ, किन्तु मेरे पंख नहीं हैं अत: मैं असमर्थ हूँ॥ ५३-५४ ॥

यतध्वमतियत्नेन लङ्घितुं सरितां पतिम् ।
ततो हन्ता रघुश्रेष्ठो रावणं राक्षसाधिपम् ॥ ५५॥

आप लोग समुद्र को पार करने का यत्न करें, राक्षसाधिप रावण को तो स्वयं रघुश्रेष्ठ मारेंगे ॥ ५५ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धुं शतयोजनायतं
लङ्कां प्रविश्याथ विदेहकन्यकाम् ।
दृष्ट्वा समाभाष्य च वारिधिं पुन-
स्तर्तुं समर्थः कतमो विचार्यताम् ॥ ५६॥

शतयोजन विस्तृत इस समुद्र को लांघ कर लंका में जाकर वैदेही जानकी को देख तथा उनसे बातचीत कर वापस समुद्र को पार करके आने में कौन समर्थ है, इसका आपलोग विचार करें ॥५६॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे किष्किन्धाकाण्डे
सप्तमः सर्गः ॥ ७॥

॥ अष्टम सर्गः ॥

सम्पाति की आत्मकथा

अथ ते कौतुकाविष्टाः सम्पातिं सर्ववानराः ।
पप्रच्छुर्भगवन् ब्रूहि स्वमुदन्तं त्वमादितः ॥ १॥

श्रीमहादेवजी बोले- हे पार्वति ! सम्पाति का यह कथन सुनकर वानरगणों ने उत्सुकता से सम्पाति से पूछा -भगवन् ! आप आदि से अपना इतिवृत्त सुनाइये ॥ १॥

सम्पातिः कथयामास स्ववृत्तान्तं पुरा कृतम् ।
अहं पुरा जटायुश्च भ्रातरौ रूढयौवनौ ॥ २॥

बलेन दर्पितावावां बलजिज्ञासया खगौ ।
सूर्यमण्डलपर्यन्तं गन्तुमुत्पतितौ मदात् ॥ ३॥

तदनन्तर सम्पाति ने अपना पूर्व वृत्तान्त सुनाते हुए कहा -पूर्व समय में, जिस समय थे मैं और मेरा भाई जटायु दोनों पूर्ण युवा थे, अपने बल के मद से उन्मत्त होकर यह जानने के लिए कि हम कितने बलवान हैं, अति घमण्ड से आकाश में सूर्यमण्डल तक जाने के लिए उड़े ॥२-३ ॥

बहुयोजनसाहस्रं गतौ तत्र प्रतापितः ।
जटायुस्तं परित्रातुं पक्षैराच्छाद्य मोहतः ॥ ४॥

स्थितोऽहं रश्मिभिर्दग्धपक्षोऽस्मिन् विन्ध्यमूर्धनि ।
पतितो दूरपतनान्मूर्च्छितोऽहं कपीश्वराः ॥ ५॥

हजारों योजन ऊँचे चले जाने पर जटायु सूर्य के तेज से जलने लगा। उसकी रक्षा करने के लिये मैं मोहवश उसे अपने पंखों से ढककर चलने लगा और अन्त में सूर्य की किरणों से मेरा पंख जल जाने के कारण यहाँ विन्ध्याचल पर्वत के शिखर पर गिर पड़ा और बहुत ऊँचाई से गिरने के कारण मूर्छित हो गया ॥४-५॥

दिनत्रयात्पुनः प्राणसहितो दग्धपक्षकः ।
देशं वा गिरिकूटान् वा न जाने भ्रान्तमानसः ॥ ६॥

तीन दिन के बाद जब मुझे होश हुआ तो पंख जल जाने के कारण मेरा मन भ्रम में पड़ गया और मैं यह नहीं ससझ सका कि यह कौन देश अथवा पर्वत शिखर है ॥६॥

शनैरुन्मील्य नयने दृष्ट्वा तत्राश्रमं शुभम् ।
शनैः शनैराश्रमस्य समीपं गतवानहम् ॥ ७॥

धीरे-धीरे आँख खोलने पर वहाँ मुझे एक सुन्दर आश्रम दिखाई दिया। और धीरे-धीरे मैं उस आश्रम के समीप गया ॥७॥

चन्द्रमा नाम मुनिराड् दृष्ट्वा मां विस्मितोऽवदत् ।
सम्पाते किमिदं तेऽद्य विरूपं केन वा कृतम् ॥ ८॥

उस आश्रम में चन्द्रमा नामक मुनीश्वर रहते थे। मुझे देखकर विस्मयपूर्वक वे बोले-सम्पाति ! यह क्या ? तुझे इस प्रकार कुरूप किसने कर दिया ? ॥ ८॥

जानामि त्वामहं पूर्वमत्यन्तं बलवानसि ।
दग्धौ किमर्थं ते पक्षौ कथ्यतां यदि मन्यसे ॥ ९॥

तुम्हें मैं पहले से ही जानता हूँ; तुम बड़े बलवान् हो, परन्तु तुम्हारे पंख कैसे जल गये ? यदि उचित हो तो तुम अपना वृत्तान्त मुझे सुनाओ ॥ ९॥

ततः स्वचेष्टितं सर्वं कथयित्वातिदुःखितः ।
अब्रवं मुनिशार्दूल दह्येऽहं दाववह्निना ॥ १०॥

उन मुनिश्रेष्ठ को मैंने अपना सम्पूर्ण अपना इतिवृत्त सुनाया और अति दुखी होकर बोला-अब मैं दावाग्नि में जलकर मरूँगा॥ १०॥

कथं धारयितुं शक्तो विपक्षो जीवितं प्रभो ।
इत्युक्तोऽथ मुनिर्वीक्ष्य मां दयार्द्रविलोचनः ॥ ११॥

शृणु वत्स वचो मेऽद्य श्रुत्वा कुरु यथेप्सितम् ।
देहमूलमिदं दुःखं देहः कर्मसमुद्भवः ॥ १२॥

क्योंकि हे प्रभो! पंखों के बिना किस प्रकार मैं अपना जीवन धारण कर सकता हूँ? इस प्रकार कहने पर दयावश मुनिवर ने अपने नेत्रों में जल भरकर मेरी ओर देखते हुए बोला -वत्स ! अब तुम मेरी बात

सुनो, उसे सुनकर जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा ही करना। देह ही इस दुःख का आश्रय है, तथा देह कर्मजन्य है ॥ ११-१२ ॥

कर्म प्रवर्तते देहेऽहम्बुद्ध्या पुरुषस्य हि ।
अहङ्कारस्त्वनादिः स्यादविद्यासम्भवो जडः ॥ १३॥

पुरुष जब शरीर में अहङ्कार बुद्धि रखता है तब कर्म की प्रवृत्ति होती है। यह कर्म अविद्या से उत्पन्न जड अहंकार अनादि है ॥ १३॥

चिच्छायया सदा युक्तस्तप्तायःपिण्डवत् सदा ।
तेन देहस्य तादात्म्याद्देहश्चेतनवान् भवहत् ॥ १४॥

तप्त लोहापिण्ड की भाँति अहंकार सर्वदा चिदाभास से व्याप्त है। उस चिदाभास विशिष्ट अहंकार का देह से तादात्म्य सम्बन्ध होने से - देह चेतनायुक्त होता है॥ १४ ॥

देहोऽहमिति बुद्धिः स्यादात्मनोऽहङ्कृतेर्बलात् ।
तन्मूल एष संसारः सुखदुःखादिसाधकः ॥ १५॥

अहंकार के कारण ही आत्मा को यह प्रतीति होती है कि "मैं देह हूँ", इसी से यह सुख दुखादि देनेवाला जन्म-मरणरूप यह संसार प्राप्त होता है ॥ १५॥

आत्मनो निर्विकारस्य मिथ्या तादात्म्यतः सदा ।
देहोऽहं कर्मकर्ताहमिति सङ्कल्प्य सर्वदा ॥ १६॥

जीवः करोति कर्माणि तत्फलैर्बद्ध्यतेऽवशः ।
ऊर्ध्वाधो भ्रमते नित्यं पापपुण्यात्मकः स्वयम् ॥ १७॥

इस देह का निर्विकार आत्मा के साथ मिथ्या तादात्म्य सम्बन्ध होने से जीव सर्वदा मैं देह हूँ यह संकल्प कर अपने कर्त्ता को मानकर अनेक कर्म करता है और विवश होकर उनके फलों में बंधता है। इस प्रकार पाप-पुण्य के वश में होकर हमेशा ऊंची नीची नीच योनियों में भ्रमण करता रहता है ॥ १६-१७ ॥

कृतं मयाधिकं पुण्यं यज्ञदानादि निश्चितम् ।
स्वर्गं गत्वा सुखं भोक्ष्य इति सङ्कल्पवान् भवहत् ॥ १८॥

मैंने अत्यधिक यज्ञ-दान पुण्य आदि किया है। अत: मैं निश्चय ही स्वर्ग में जाकर सुख का भोग करूँगा ॥ १८ ॥

तथैवाध्यासतस्तत्र चिरं भुक्त्वा सुखं महत् ।
क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन् कर्मचोदितः ॥ १९॥

यह भाव से वहाँ चिर समय तक महान् सुखभोग कर पुण्यक्षय हो जाने पर प्रारब्ध की प्रेरणा से इच्छा न रहते हुए भी अधः पतित होता है ॥ १९॥

पतित्वा मण्डले चेन्दोस्ततो नीहारसंयुतः ।
भूमौ पतित्वा व्रीह्यादौ तत्र स्थित्वा चिरं पुनः ॥ २०॥

सर्व प्रथम वह चन्द्रमण्डलं पर गिरता है और फिर चन्द्र किरणों के द्वारा कुहरे के साथ पृथ्वी पर आकर बहुत दिनों तक ब्रीहि आदि धान्यों में रहता है ॥२०॥

भूत्वा चतुर्विधं भोज्यं पुरुषैर्भुज्यते ततः ।
रेतो भूत्वा पुनस्तेन ऋतौ स्त्रीयोनिसिञ्चितः ॥ २१॥

फिर वह चार प्रकार के अन्न रूप से पुरुषों द्वारा खाया जाता है और वीर्यरूप में परिणत हो जाता है। तब वह उसके द्वारा ऋतु काल में स्त्री भी योनियों में डाला जाता है ॥२१॥

योनिरक्तेन संयुक्तं जरायुपरिवहष्टितम् ।
दिनेनैकेन कललं भूत्वा रूढत्वमाप्नुयात् ॥ २२॥

योनि स्थित रज से मिलकर एक दिन में वह झिल्ली से परिवेष्टित "कलल", होकर थोड़ा कठोर हो जाता है ॥ २२ ॥

तत्पुनः पञ्चरात्रेण बुद्‍बुदाकारतामियात् ।
सप्तरात्रेण तदपि मांसपेशित्वमाप्नुयात् ॥ २३॥

फिर पाँच रात्रि में वह बुबुदाकार होकर सात रात्रि व्यतीत होने पर मांसपेशी के समान अण्डाकार हो जाता है॥ २३ ॥

पक्षमात्रेण सा पेशी रुधिरेण परिप्लुता ।
तस्या एवाङ्कुरोत्पत्तिः पञ्चविंशतिरात्रिषु ॥ २४॥

पन्द्रह दिन के अन्दर उस माँसपेशी में रक्त भर जाता है और पचीस रात्रि के बाद उसमें अंकुर उत्पन्न होने लगता है ॥ २४॥

ग्रीवा शिरश्च स्कन्धश्च पृष्ठवंशस्तथोदरम् ।
पञ्चधाङ्गानि चैकैकं जायन्ते मासतः क्रमात् ॥ २५॥

एक मास के बाद उसमें एक-एक कर क्रमशः ग्रीवा, सिर, कन्धा, रीढ़ की हड्डी और पेट यह पाँच अंग उत्पन्न हो जाते हैं ॥ २५॥

पाणिपादौ तथा पार्श्वः कटिर्जानु तथैव च ।
मासद्वयात् प्रजायन्ते क्रमेणैव न चान्यथा ॥ २६॥

फिर दो माह में क्रमशः हाथ पाँव, पसलियाँ, कमर और घुटने बन जाते हैं। इस क्रम में व्युत्क्रम नहीं होता ॥ २६ ॥

त्रिभिर्मासैः प्रजायन्ते अङ्गानां सन्धयः क्रमात् ।
सर्वाङ्गुल्यः प्रजायन्ते क्रमान्मासचतुष्टये ॥ २७॥

इसी प्रकार तीन माह में उसमें अंगों की सन्धियाँ तथा चार महीने में उसमें अङ्गलियाँ उत्पन्न हो जाती हैं ॥२७॥

नासा कर्णौ च नेत्रे च जायन्ते पञ्चमासतः ।
दन्तपङ्क्तिर्नखा गुह्यं पञ्चमे जायते तथा ॥ २८॥

पाँच मास होने पर नाक, कान, नेत्र और पञ्चम मास में ही दाँत के मसूढे, नख और गुह्यस्थान निर्मित होते हैं ॥२८॥

अर्वाक् षण्मासतश्छिद्रं कर्णयोर्भवति स्फुटम् ।
पायुर्मेढ्रमुपस्थं च नाभिश्चापि भवन्नृणाम् ॥ २९॥

छठे मास के आरम्भ में कानों के छिद्र, गुदा, स्त्री-पुरुष की योनि के अनुसार लिंग तथा नाभि उत्पन्न होते हैं ॥ २९ ॥

सप्तमे मासि रोमाणि शिरः केशास्तथैव च ।
विभक्तावयवत्वं च सर्वं सम्पद्यतेऽष्टमे ॥ ३०॥

सातवें महीने में सभी अङ्ग पृथक्-पृथक् स्पष्ट हो जाते हैं ॥ ३०॥

जठरे वर्धते गर्भः स्त्रिया एवं विहङ्गम ।
पञ्चमे मासि चैतन्यं जीवः प्राप्नोति सर्वशः ॥ ३१॥

हे पक्षिन् ! इस प्रकार स्त्री के गर्भाशय में गर्भ बढ़ता है। पाँचवें महीने में जीव की चेतना शक्ति प्राप्त होती है ॥३१॥

नाभिसूत्राल्परन्ध्रेण मातृभुक्तान्नसारतः ।
वर्धते गर्भतः पिण्डो न म्रियेत स्वकर्मतः ॥ ३२॥

माता में द्वारा भोजन किये हुए रस को गर्भस्थित पिण्ड अपनी नाभि में लगे हुए नाल के सूक्ष्मछिद्र के द्वारा प्राप्त करता है। और अपने कर्मवश जीवित रहता है ॥ ३२ ॥

स्मृत्वा सर्वाणि जन्मानि पूर्वकर्माणि सर्वशः ।
जठरानलतप्तोऽयमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ३३॥

नानायोनिसहस्रेषु जायमानोऽनुभूतवान् ।
पुत्रदारादिसम्बन्धं कोटिशः पशुबान्धवान् ॥ ३४॥

अपने सभी पूर्वजन्म और कर्मों का उस समय जीव स्मरण करके जठरानल में सन्तत होकर यह कहता है कि मैंने पहले कई हजार

योनियों में उत्पन्न होकर करोड़ों बन्धु-बान्धव, पशु, स्त्री पुत्रादि सम्बन्ध का अनुभव किया है ॥ ३३--३४॥

कुटुम्बभरणासक्त्या न्यायान्यायैर्धनार्जनम् ।
कृतं नाकरवं विष्णुचिन्तां स्वप्नेऽपि दुर्भगः ॥ ३५॥

परन्तु मैने स्वप्न में भी भगवान् विष्णु का स्मरण नहीं किया; केवल अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण में लिप्त होकर न्याय अथवा अन्याय से धन कमाने में लगा रहा ॥ ३५॥

इदानीं तत्फलं भुञ्जे गर्भदुःखं महत्तरम् ।
अशाश्वते शाश्वतवद्देहे तृष्णासमन्वितः ॥ ३६॥

उसके परिणाम स्वरूप अब मैं गर्भ के इस महान दुःख को भोग रहा हूँ और इस नश्वर शरीर की तृष्णा में फंसा हुआ हूँ॥ ३६॥

अकार्याण्येव कृतवान्न कृतं हितमात्मनः ।
इत्येवं बहुधा दुःखमनुभूय स्वकर्मतः ॥ ३७॥

मैं अकार्य कर्म ही करता था और अपना हित कार्य नहीं किया। अत: अपने पूर्वकर्म के अनुसार मैं इस प्रकार अति दुःख भोग करता हूँ॥ ३७॥

कदा निष्क्रमणं मे स्याद्गर्भान्निरयसन्निभात् ।
इत ऊर्ध्वं नित्यमहं विष्णुमेवानुपूजये ॥ ३८॥

न जाने इस नरक तुल्य कर्म से मेरा कब निस्तार होगा। फिर मैंहमेशा श्रीविष्णु भगवान् की ही उपासना करूँगा ॥ ३८॥

इत्यादि चिन्तयन् जीवो योनियन्त्रप्रपीडितः ।
जायमानोऽतिदुःखेन नरकात्पातकी यथा ॥ ३९॥

यह चिन्ता करते-करते वह जीव योनियन्त्र से प्रपीडित हो अतिकष्ट से जन्म लेता है। जिस प्रकार कोई पापी नरक से निकलता है ॥३९ ॥

पूतिव्रणान्निपतितः कृमिरेष इवापरः ।
ततो बाल्यादिदुःखानि सर्व एवं विभुञ्जते ॥ ४०॥

उस समय यह दुर्गन्धित घाव से पतित कीड़े के समान होता है और उसे बाल्य आदि अवस्थाओं के क्लेश भोगने पड़ते हैं। इस प्रकार सभी देहधारियों को यह कष्ट उठाने पड़ते हैं ॥ ४०॥

त्वया चैवानुभूतानि सर्वत्र विदितानि च ।
न वर्णितानि मे गृध्र यौवनादिषु सर्वतः ॥ ४१॥

हे गृध्र! यौवनादि सभी अवस्थाओं में होने वाले सभी दुःखों को तुमने स्वयं देखा है और सभी लोग इन्हें जानते ही हैं, अत: मै इसका वर्णन नहीं किया ॥४१॥

एवं देहोऽहमित्यस्मादभ्यासान्निरयादिकम् ।
गर्भवासादिदुःखानि भवन्त्यभिनिवहशतः ॥ ४२॥

मैं देह हूँ, इस प्रकार अभ्यास से उत्पन्न देहाभिमान के कारण जीव को नरक और गर्भवास आदि के अनेक दुःख उठाने पड़ते हैं ॥ ४२ ॥

तस्माद्देहद्वयादन्यमात्मानं प्रकृतेः परम् ।
ज्ञात्वा देहादिममतां त्यक्त्वात्मज्ञानवान् भवहत् ॥ ४३॥

अत: मनुष्य को यह चाहिए कि अपनी आत्मा को प्रवृत्ति से परे, स्थूल-सूक्ष्म दोनों प्रकार के शरीरों से पृथक् समझकर देहादि की ममता छोड़कर आत्मज्ञान सम्पन्न हो ॥ ४३ ॥

जाग्रदादिविनिर्मुक्तं सत्यज्ञानादिलक्षणम् ।
शुद्धं बुद्धं सदा शान्तमात्मानमवधारयेत् ॥ ४४॥

हमेशा आत्मा को जाग्रत आदि अवस्थाओं से रहित, सत्-चित् स्वरूप, शुद्ध-बुद्ध और शान्त समझे ॥४४॥

चिदात्मनि परिज्ञाते नष्टे मोहेऽज्ञसम्भवह ।
देहः पततु वाऽरब्धकर्मवहगेन तिष्ठतु ॥ ४५॥

योगिनो न हि दुःखं वा सुखं वाऽज्ञानसम्भवम् ।
तस्माद्देहेन सहितो यावत्प्रारब्धसङ्क्षयः ॥ ४६॥

तावत्तिष्ठ सुखेन त्वं धृतकञ्चुकसर्पवत् ।
अन्यद्वक्ष्यामि ते पक्षिन् शृणु मे परमं हितम् ॥ ४७॥

चित्स्वरूप आत्मा का ज्ञान हो जाने पर अज्ञान जनित मोह जब नष्ट हो जाता है, तब कर्म के अनुसार यह शरीर स्थित रहे अथवा नष्ट हो जाए, योगी को किसी प्रकार अज्ञान जनित सुख दुःख नहीं होता। तुम्हारा प्रारब्ध जब तक क्षय नहीं हो जाता, तब तक केंचुल युक्त सर्प की भाँति देह धारण कर आनन्दपूर्वक रहो। हे पक्षिन् ! इसके अतिरिक्त तुम्हारे परमहित की बात बतलाता हूँ सुनो ॥ ४५-४७॥

त्रेतायुगे दाशरथिर्भूत्वा नारायणोऽव्ययः ।
रावणस्य वधार्थाय दण्डकानागमिष्यति ॥ ४८॥

सीतया भार्यया सार्धं लक्ष्मणेन समन्वितः ।
तत्राश्रमे जनकजां भ्रातृभ्यां रहिते वने ॥ ४९॥

रावणश्चोरवन्नीत्वा लङ्कायां स्थापयिष्यति ।
तस्याः सुग्रीवनिर्देशाद्वानराः परिमार्गणे ॥ ५०॥

आगमिष्यन्ति जलधेस्तीरं तत्र समागमः ।
त्वया तैः कारणवशाद्भविष्यति न संशयः ॥ ५१॥

त्रेतायुग में महाराज दशरथ के यहाँ अविनाशी नारायण अवतार लेकर रावण का वध करने के लिये अपनी स्त्री सीता और अनुज लक्ष्मण के साथ दण्डकारण्य में आयेंगे। उस स्थान पर दोनों भाइयों के तपोवन से दूर चले जाने पर रावण श्रीजानकीजी को एकान्त आश्रम से चोर की भांति चुराकर लंका में रखेगा। तब वानरराज सुग्रीव की आज्ञा से उन्हें अन्वेषण करते हुए कुछ वानर गण समुद्र तट पर आयेंगे, वहाँ पर निःसन्देह किसी कारण से उनका तुमसे समागम होगा ॥ ४८-५१ ॥

तदा सीतास्थितिं तेभ्यः कथयस्व यथार्थतः ।
तदैव तव पक्षौ द्वावुत्पत्स्येते पुनर्नवौ ॥ ५२॥

तदनन्तर तुम उन्हें सीता के बारे में यथार्थतः बतला देना। उसी समय तुम्हारे नवीन पंख उत्पन्न होंगे ॥ ५२॥

सम्पातिरुवाच ।
बोधयामास मां चन्द्रनामा मुनिकुलेश्वरः ।
पश्यन्तु पक्षौ मे जातौ नूतनावतिकोमलौ ॥ ५३॥

सम्पाति बोला-इस प्रकार चन्द्रमा नामक मुनीश्वर मुझे समझाया और मेरे नूतन एवं कोमल पंख निकल आए यह देखिए ॥ ५३ ॥

स्वस्ति वोऽस्तु गमिष्यामि सीतां द्रक्ष्यथ निश्चयम् ।
यत्नं कुरुध्वं दुर्लङ्घ्यसमुद्रस्य विलङ्घने ॥ ५४॥

अब मैं जाना चाहता हूँ, आप लोगों का कल्याण हो। निःसन्देह आपलोग सीताजी को देखेंगे। इस दुर्लंध्य समुद्र को लांघने का उपाय आपलोग कीजिए ॥ ५४॥

यन्नामस्मृतिमात्रतोऽपरिमितं संसारवारांनिधिं
तीर्त्वा गच्छति दुर्जनोऽपि परमं विष्णोः पदं शाश्वतम् ।
तस्यैव स्थितिकारिणस्त्रिजगतां रामस्य भक्ताः प्रिया
यूयं किं न समुद्रमात्रतरणे शक्ताः कथं वानराः ॥ ५५॥

है वानरगण ! जिनके नाम के स्मृति मात्र से दुर्जन भी इस अपार संसार-सागर को पार कर श्रीविष्णु भगवान् के सनातन पद को प्राप्त करते हैं, आप लोग उन्हीं त्रिलोकी श्रीरामचन्द्र के प्रिय भक्त हैं। पुनः इस क्षुद्र समुद्र को लांघने में आपलोग समर्थ क्यों नहीं होंगे? ॥ ५५ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे किष्किन्धाकाण्डे
अष्टमः सर्गः ॥ ८॥

॥नवम सर्गः ॥

समुद्रोल्लंघन की मन्त्रणा

श्रीमहादेव उवाच ।
गते विहायसा गृध्रराजे वानरपुङ्गवाः ।
हर्षेण महताविष्टाः सीतादर्शलालसाः ॥ १॥

श्रीमहादेवजी बोले-हे पार्वति ! गृध्रराज के आकाशमार्ग से जाने के अनन्तर सीताजी के दर्शन के लिये उत्कण्ठित वानरेश्वर अत्यन्त हर्षित हुए ॥ १॥

ऊचुः समुद्रं पश्यन्तो नक्रचक्रभयङ्करम् ।
तरङ्गादिभिरुन्नद्धमाकाशमिव दुर्ग्रहम् ॥ २॥

परस्परमवोचन् वै कथमेनं तरामहे ।
उवाच चाङ्गदस्तत्र शृणुध्वं वानरोत्तमाः ॥ ३॥

परन्तु समुद्र मगर और भँवर आदि से युक्त और भयङ्कर ऊंची तरंगो वाले आकाश के समान दुर्लंघ्य है, यह देखकर वह आपस में कहने लगे कि हमलोग इसे कैसे पार कर सकेंगे। तत्पश्चात् अंगद जी बोले-हे वानरश्रेष्ठगण! आपलोग सुनें ॥२-३॥

भवन्तोऽत्यन्तबलिनः शूराश्च कृतविक्रमाः ।
को वात्र वारिधिं तीर्त्वा राजकार्यं करिष्यति ॥ ४॥

आपलोग अत्यन्त बलवान् शूरवीर और पराक्रमी हैं। अत: आप लोगों में समुद्र पार कर राज्यकार्य करे, ऐसा कौन है ॥४॥

एतेषां वानराणां स प्राणदाता न संशयः ।
तदुत्तिष्ठतु मे शीघ्रं पुरतो यो महाबलः ॥ ५॥

निःसन्देह वही इन वानरों का वह प्राणदाता होगा। जो महाबली है, वह शीघ्र उठकर मेरे सामने आए ॥ ५॥

वानराणां च सर्वेषां रामसुग्रीवयोरपि ।
स एव पालको भूयान्नात्र कार्या विचारणा ॥ ६॥

वह निश्चय ही वानरों का, सुग्रीव का और श्रीरामचन्द्रजी की रक्षा करने वाला होगा ॥ ६ ॥

इत्युक्ते युवराजेन तूष्णीं वानरसैनिकाः ।
आसन्नोचुः किञ्चिदपि परस्परविलोकिनः ॥ ७॥

इस प्रकार युवराज अंगद के कहने पर सभी वानर सेनापति चुपचाप बैठे रहे। कोई कुछ भी नहीं बोला और आपस में परस्पर एक दूसरे का मुख देखते रहे ॥ ७ ॥

अङ्गद उवाच ।
उच्यतां वै बलं सर्वैः प्रत्येकं कार्यसिद्धये ।
केन वा साध्यते कार्यं जानीमस्तदनन्तरम् ॥ ८॥

अंगद बोले-आप लोग इस कार्य को करने के लिये अपनी शक्ति का वर्णन करें। तत्पश्चात् यह पता चल जाएगा कि कौन यह कार्य सिद्ध कर सकता है ॥ ८ ॥

अङ्गदस्य वचः श्रुत्वा प्रोचुर्वीरा बलं पृथक् ।
योजनानां दशारभ्य दशोत्तरगुणं जगुः ॥ ९॥

अंगद जी का यह कथन सुनकर वीर वानरगण पृथक्-पृथक् अपना बल का वर्णन करने लगे। दसयोजन से लेकर क्रमशः दसगुणोत्तर जाने में उन्होंने अपना सामर्थ्य प्रकट किया ॥९॥

शतादर्वाग्जाम्बवांस्तु प्राह मध्ये वनौकसाम् ।
पुरा त्रिविक्रमे देवह पादं भूमानलक्षणम् ॥ १०॥

त्रिःसप्तकृत्वोऽहमगां प्रदक्षिणविधानतः ।
इदानीं वार्धकग्रस्तो न शक्नोमि विलङ्घितुम् ॥ ११॥

सबके अन्त में सौ योजन जाने का बल जाम्बवन्त जी ने बताया बताया। उन्होंने कहा -पूर्व समय में भगवान् त्रिविक्रम ने जब अवतार लिया तो तब मैंने पृथ्वी के समान उनके चरणों के चारो ओर इक्कीस बार परिक्रमा की थी। परन्तु अब मैं वृद्ध हो गया हूँ, अत: मै समुद्र को पार नहीं कर सकता ॥ १०-११॥

अङ्गदोऽप्याह मे गन्तुं शक्यं पारं महोदधेः ।
पुनर्लङ्घनसामर्थ्यं न जानाम्यस्ति वा न वा ॥ १२॥

अंगद भी बोले-मैं इस महासागर को पार कर सकता हूँ किन्तु लौटकर आने में मैं समर्थ हूँ या नहीं यह नहीं कह सकता ॥ १२॥

तमाह जाम्बवान् वीरस्त्वं राजा नो नियामकः ।
न युक्तं त्वां नियोक्तुं मे त्वं समर्थोऽसि यद्यपि ॥ १३॥

अंगद की बात सुनकर जाम्बवान् उनसे बोले- अंगद जी आप इस कार्य को करने में यद्यपि समर्थ हैं तथापि आपको इस कार्य में नियुक्त करना उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि आप हमलोगों के नायक और नियामक हैं।॥ १३ ॥

अङ्गद उवाच ।
एवं चेत्पूर्ववत्सर्वे स्वप्स्यामो दर्भविष्टरे ।
केनापि न कृतं कार्यं जीवितुं च न शक्यते ॥ १४॥

तब अंगद जी बोले- यदि यह बात है, तो हमलोगों को पुनः कुशासनों पर पड़ा रहना चाहिये। क्योंकि यदि कोई यह कर्म नहीं कर सकता तब हम जीवित कैसे रह सकते हैं ? ॥ १४ ॥

तमाह जाम्बवान् वीरो दर्शयिष्यामि ते सुत ।
येनास्माकं कार्यसिद्धिर्भविष्यत्यचिरेण च ॥ १५॥

तत्पश्चात् वीरवर जाम्बवान्जी बोले-बेटा ! जिनके द्वारा हमलोगों का कार्य सिद्ध होगा उस वीर को मैं दिखलाता हूँ ॥ १५॥

इत्युक्त्वा जाम्बवान् प्राह हनूमन्तमवस्थितम् ।
हनूमन् किं रहस्तूष्णीं स्थीयते कार्यगौरवह ॥ १६॥

प्राप्तेऽज्ञेनेव सामर्थ्यं दर्शयाद्य महाबल ।
त्वं साक्षाद्वायुतनयो वायुतुल्यपराक्रमः ॥ १७॥

यह कहकर बैठे हुए हनुमानजी से जाम्बवान बोले-हे हनुमान् ! यह कार्यगौरव के उपस्थित होने पर आप एकान्त में अनजान की भाँति चुप-चाप क्यों बैठे हैं। हे महाबल ! आप साक्षात् वायुदेव के पुत्र और वायु के समान बलवान हैं। अत: आज आप अपना पराक्रम दिखलाइये ॥ १६-१७ ॥

रामकार्यार्थमेव त्वं जनितोऽसि महात्मना ।
जातमात्रेण ते पूर्वं दृष्ट्वोद्यन्तं विभावसुम् ॥ १८॥

पक्कं फलं जिघृक्षामीत्युत्प्लुतं बालचेष्टया ।
योजनानां पञ्चशतं पतितोऽसि ततो भुवि ॥ १९॥

महात्मा वायु के द्वारा आप श्रीरामचन्द्र का कार्य करने के लिये ही उत्पन्न हुए हैं। जन्म के समय में ही उदित सूर्य को देखकर इस पके हुए फल को ग्रहण करने की इच्छा से बाललीला में पाँच सौ योजन ऊपर उछलकर पुनः जमीन पर गिरे थे ॥ १८-१९ ॥

अतस्त्वद्बलमाहात्म्यं को वा शक्नोति वर्णितुम् ।
उत्तिष्ठ कुरु रामस्य कार्यं नः पाहि सुव्रत ॥ २०॥

अत: आपके बल की महत्ता का वर्णन कौन कर सकता है। हे सुव्रत ! आप उठिए और श्रीरामचन्द्रजी का कार्य कर हमलोगों की रक्षा कोजिये ॥२०॥

श्रुत्वा जाम्बवतो वाक्यं हनूमानतिहर्षितः ।
चकार नादं सिंहस्य ब्रह्माण्डं स्फोटयन्निव ॥ २१॥

जाम्बवान् का यह कथन सुनकर हनुमानजी अति हर्षित होकर समस्त ब्रह्माण्ड को कम्पायमान करने की भाँति घोर-सिंहनाद किये ॥२१॥

बभूव पर्वताकारस्त्रिविक्रम इवापरः ।
लङ्घयित्वा जलनिधिं कृत्वा लङ्कां च भस्मसात् ॥ २२॥

रावणं सकुलं हत्वाऽऽनेष्ये जनकनन्दिनीम् ।
यद्वा बद्ध्वा गले रज्ज्वा रावणं वामपाणिना ॥ २३॥

लङ्कां सपर्वतां धृत्वा रामस्याग्रे क्षिपाम्यहम् ।
यद्वा दृष्ट्वैव यास्यामि जानकीं शुभलक्षणाम् ॥ २४॥

वह दूसरे त्रिविक्रम भगवान के समान पर्वताकार हो गये और बोले - हे वानरों! मैं समुद्र को पारकर लंका को भस्म कर दूंगा और रावण को कुल सहित मारकर श्रीजानकीजी को ले आऊँगा, अथवा रावण के गले में रस्सी बाँधकर बाएं हाथ पर पर्वत सहित लंका को उठाकर श्रीराम के आगे मैं रख दूंगा। अथवा केवल शुभलक्षणा श्रीजानकीजी को ही देखकर चला आऊँगा ॥२२-२४॥

श्रुत्वा हनुमतो वाक्यं जाम्बवानिदमब्रवीत् ।
दृष्ट्वैवागच्छ भद्रं ते जीवन्तीं जानकीं शुभाम् ॥ २५॥

श्री हनुमानजी का यह कथन सुनकर जाम्बवान् जी बोले-हे वीर! तुम्हारा कल्याण हो, तुम शुभलक्षणा जानकीजी को सकुशल देखकर ही केवल चले आओ ॥ २५ ॥

पश्चाद्रामेण सहितो दर्शयिष्यसि पौरुषम् ।
कल्याणं भवताद्भद्र गच्छतस्ते विहायसा ॥ २६॥

और पुन: श्रीरामचन्द्रजी के साथ जाकर अपना पौरुष दिखलाना। हे भद्र ! आकाशमार्ग से जाते हुए तुम्हारा कल्याण हो ॥ २६ ॥

गच्छन्तं रामकार्यार्थं वायुस्त्वामनुगच्छतु ।
इत्याशीर्भिः समामन्त्र्य विसृष्टः प्लवगाधिपैः ॥ २७॥

रामकार्य के लिये जाते हुए तुम्हारा वायु अनुगमन करें। इस प्रकार आशिर्वाद देकर तथा वानरों के अधिपतियों द्वारा विदा होकर हनुमानजी महेन्द्राचल के शिखर पर चढ़ गये। वहाँ पर उन्होंने अद्भुत रूप धारण किये ॥ २७-२८ ॥

महेन्द्राद्रिशिरो गत्वा बभूवाद्भुतदर्शनः ॥ २८॥

महानगेन्द्रप्रतिमो महात्मा सुवर्णवर्णोऽरुणचारुवक्त्रः ।
महाफणीन्द्राभसुदीर्घबाहुर्वातात्मजोऽदृश्यत सर्वभूतैः ॥ २९॥

उस समय महात्मा हनुमानजी महान् पर्वत राज के समान विशाल शरीर, सुवर्ण की कान्ति, बाल सूर्य के समान अरूणवर्ण, मनोहर मुख और महान् फणीन्द्र के समान विशाल भुजावाले सभी प्राणियों को दिखायी देने लगे ॥२८-२९॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे किष्किन्धाकाण्डे
नवमः सर्गः ॥ ९॥

॥ समाप्तमिदं किष्किन्धाकाण्डम् ॥

॥श्रीगणेशाय नमः॥
॥ ॐ परब्रह्मणे नमः॥

॥ अध्यात्मरामायण ॥

सुन्दरकाण्डम्

॥ प्रथमः सर्गः ॥

हनुमानजी का समुद्रोल्लंघन तथा लङ्का में प्रवेश

श्रीमहादेव उवाच ।
शतयोजनविस्तीर्णं समुद्रं मकरालयम् ।
लिलङ्घयिषुरानन्दसन्दोहो मारुतात्मजः ॥ १॥

ध्यात्वा रामं परात्मानमिदं वचनमब्रवीत् ।
पश्यन्तु वानराः सर्वे गच्छन्तं मां विहायसा ॥ २॥

अमोघं रामनिर्मुक्तं महाबाणमिवाखिलाः ।
पश्याम्यद्यैव रामस्य पत्नीं जनकनन्दिनीम् ॥ ३॥

श्रीमहादेवजी बोले-हे पार्वति ! शत योजन विस्तृत मकर आदि दुष्ट जन्तुओं से पूर्ण समुद्र को लांघने के लिये उद्यत आनन्दघन श्री हनुमानजी ने परमात्मा श्रीरामचन्द्रजी का स्मरण करने के पश्च्यात

वानरों से बोले-हे वानरगण ! आप लोग देखें, मैं भगवान श्रीरामचन्द्रजी के अमोघ बाण के समान आकाश मार्ग से जा रहा हूँ। आज ही मैं रामप्रिया श्रीजनकनन्दिनी का दर्शन करूँगा। ॥ १-३॥

कृतार्थोऽहं कृतार्थोऽहं पुनः पश्यामि राघवम् ।
प्राणप्रयाणसमये यस्य नाम सकृत्स्मरन् ॥ ४॥

नरस्तीर्त्वा भवाम्भोधिमपारं याति तत्पदम् ।
किं पुनस्तस्य दूतोऽहं तदङ्गाङ्गुलिमुद्रिकः ॥ ५॥

प्राण-प्रयाण समय में एक बार जिनके नाम का स्मरण करने से मनुष्य अपार भवसागर को पार कर उनके परम पद को प्राप्त करता है; मैं उनका दूत उनकी अंगुली की मुद्रिका लिये हुए ॥४-५॥

तमेव हृदये ध्यात्वा लङ्घयाम्यल्पवारिधिम् ।
इत्युक्त्वा हनुमान् बाहू प्रसार्यायतवालधिः ॥ ६॥

ऋजुग्रीवोर्ध्वदृष्टिः सन्नाकुञ्चितपदद्वयः ।
दक्षिणाभिमुखस्तूर्णं पुप्लुवहऽनिलविक्रमः ॥ ७॥

अपने हृदय में उन श्री राम ध्यान करता हुआ इस तुच्छ समुद्र को पार कर जाऊँगा। यह कह कर श्रीहनुमानजी अपनी भुजा फैलाकर पूँछ को सीधा किया और शीघ्र ही गरदन को सीधा कर ऊपर की ओर देखकर, पैर को मोड़ कर, दक्षिण की ओर मुख करके वायुवेग में उड़ गए ॥ ६-७॥

आकशात्त्वरितं देवैर्वीक्ष्यमाणो जगाम सः ।

दृष्ट्वानिलसुतं देवा गच्छन्तं वायुवहगतः ॥ ८॥

परीक्षणार्थं सत्त्वस्य वानरस्येदमब्रुवन् ।
गच्छत्येष महासत्त्वो वानरो वायुविक्रमः ॥ ९॥

देवताओं के देखते देखते अति वेग से जाते हुए देखकर उनके सामर्थ्य की परीक्षा लेने के लिये देवगणों ने आपस में विचार किया कि महाशक्तिशाली वायु के समान पराक्रमवाला यह वानर जा रहा है ॥ ८-९॥

लङ्कां प्रवहष्टुं शक्तो वा न वा जानीमहे बलम् ।
एवं विचार्य नागानां मातरं सुरसाभिधाम् ॥ १०॥

अब्रवीद्देवतावृन्दः कौतूहलसमन्वितः ।
गच्छ त्वं वानरेन्द्रस्य किञ्चिद्विघ्नं समाचर ॥ ११॥

ज्ञात्वा तस्य बलं बुद्धिं पुनरेहि त्वरान्विता ।
इत्युक्ता सा ययौ शिघ्रं हनुमद्विघ्नकारणात् ॥ १२॥

परन्तु यह लंका में प्रवेश कर सकता है या नहीं यह पता नहीं चलता। अत: इसके बल का परीक्षण करना चाहिए । इस प्रकार विचार कर कुतूहलवश नागमाता सुरसा से वे लोग बोले-तुम वानरेन्द्र के पास जाकर कुछ विघ्न उपस्थित करो और इसके बल-बुद्धि का पता लगाकर शीघ्र ही चली आओ। देवताओं के यह कहने पर वह सुरसा शीघ्र ही हनुमानजी के पास विघ्न उपस्थित करने के लिए आयी ॥ १०-१२ ॥

आवृत्य मार्गं पुरतः स्थित्वा वानरमब्रवीत् ।
एहि मे वदनं शीघ्रं प्रविशस्व महामते ॥ १३॥

देवैस्त्वं कल्पितो भक्ष्यः क्षुधासम्पीडितात्मनः ।
तामाह हनुमान् मातरहं रामस्य शासनात् ॥ १४॥

वह सामने स्थित हो हनुमानजी से बोली-हे महामते ! आओ और शीघ्र मेरे मुख में प्रवेश करो। भुख से पीड़ित मुझे देवताओं ने मेरे लिये तुम्हें भक्ष्य रूप में भेजा है। सुरसा का यह कथन सुनकर हनुमानजी बोले-हे मातः ! मैं श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा से ॥१३-१४॥

गच्छामि जानकीं द्रष्टुं पुनरागम्य सत्वरः ।
रामाय कुशलं तस्याः कथयित्वा त्वदाननम् ॥ १५॥

श्रीजानकीजी को देखने के लिये जा रहा हूँ। शीघ्र ही उनका दर्शन कर और श्रीसीताजी का कुशल-समाचार श्रीरघुनाथजी को सुनाकर फिर आपके मुख में प्रवेश करूँगा। ॥१५॥

निवहक्ष्ये देहि मे मार्गं सुरसायै नमोऽस्तु ते ।
इत्युक्ता पुनरेवाह सुरसा क्षुधितास्म्यहम् ॥ १६॥

प्रविश्य गच्छ मे वक्त्रं नो चेत्त्वां भक्षयाम्यहम् ।
इत्युक्तो हनुमानाह मुखं शीघ्रं विदारय ॥ १७॥

प्रविश्य वदनं तेऽद्य गच्छामि त्वरयान्वितः ।
इत्युक्त्वा योजनायामदेहो भूत्वा पुरः स्थितः ॥ १८॥

मैं आपको प्रणाम करता हूँ, आप मुझे जाने दे। यह सुनकर सुरसा बोली मैं भूख से व्याकुल हूँ। अत: एक बार मेरे मुख में प्रवेश करके पुनः तुम चले जाना, नहीं तो तुझे मैं खाऊंगी। तत्पश्चात् हनुमानजी बोले-आप शीघ्र अपना मुख खोलो, मैं शीघ्र ही तुम्हारे मुख में प्रवेश करके लङ्का को जाऊँगा । यह कहकर एक योजन का शरीर धारण कर हनुमानजी सामने खड़े हो गये ॥१३-१८॥

दृष्ट्वा हनूमतो रूपं सुरसा पञ्चयोजनम् ।
मुखं चकार हनुमान् द्विगुणं रूपमादधत् ॥ १९॥

हनुमानजी का यह रूप देखकर सुरसा ने पाँच योजन तक अपने मुख को फैलाया; तब हनुमानजी ने अपना शरीर सुरसा से दुगना कर लिया ॥ १९ ॥

ततश्चकार सुरसा योजनानां च विंशतिम् ।
वक्त्रं चकार हनुमांस्त्रिंशद्योजनसम्मितम् ॥ २०॥

ततश्चकार सुरसा पञ्चाशद्योजनायतम् ।
वक्त्रं तदा हनूमांस्तु बभूवाङ्गुष्ठसन्निभः ॥ २१॥

प्रविश्य वदनं तस्याः पुनरेत्य पुरः स्थितः ।
प्रविष्टो निर्गतोऽहं ते वदनं देवि ते नमः ॥ २२॥

जब सुरसा ने अपना मुख बीस योजन फैला लिया तब हनुमानजी के अपना मुख तोस योजन कर लिया। तत्पश्चात् सुरसा ने अपना मुंह पचास योजन में फैला लिया, यह देख कर हनुमान जी ने तुरंत अंगूठे के आकार का रूप धारण करके उसके मुख में प्रवेश किया और

बाहर आ गए तथा हाथ जोड़ कर बोले-देवि! तुम्हारी इच्छा के अनुदार मैं तुम्हारे मुख में प्रवेश कर बाहर आ गया हूँ। आपको नमस्कार है ॥ २०-२२ ॥

एवं वदन्तं दृष्ट्वा सा हनूमन्तमथाब्रवीत् ।
गच्छ साधय रामस्य कार्यं बुद्धिमतां वर ॥ २३॥

देवैः सम्प्रेषिताहं ते बलं जिज्ञासुभिः कपे ।
दृष्ट्वा सीतां पुनर्गत्वा रामं द्रक्ष्यसि गच्छ भोः ॥ २४॥

हनुमानजी को इस प्रकार कहता हुआ देखकर सुरसा बोली-हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ! जाओ, तुम श्रीरामचन्द्रजी का कार्य सिद्ध करो। हे कपिवर ! देवगण तुम्हारे बल को जानना चाहते थे। अत: उन्होंने मुझे यहाँ तुम्हारी परीक्षा लेने के लिए भेजा था। जाओ, तुम अवश्य सीता जी को देखकर श्रीरामचन्द्रजी को देखोगे ॥ २३-२४॥

इत्युक्त्वा सा ययौ देवलोकं वायुसुतः पुनः ।
जगाम वायुमार्गेण गरुत्मानिव पक्षिराट् ॥ २५॥

यह कहकर सुरसा देवलोक चली गयी और श्रीहनुमानजी पक्षिराज गरुड़ की भाँति आकाशमार्ग से चलने लगे ॥२५॥

समुद्रोऽप्याह मैनाकं मणिकाञ्चनपर्वतम् ।
गच्छत्येष महासत्त्वो हनूमान्मारुतात्मजः ॥ २६॥

रामस्य कार्यसिद्ध्यर्थं तस्य त्वं सचिवो भव ।
सगरैर्वर्द्धितो यस्मात्पुराहं सागरोऽभवम् ॥ २७॥

इसी समय मणि कञ्चन पर्वत मैनाक से समुद्र ने कहा- यह महाशक्तिशाली पवनपुत्र हनुमानजी श्रीरामचन्द्रजी का कार्य सिद्ध करने के लिये जा रहे हैं। तुम इनकी सहायता करो। पूर्व समय में सगर पुत्रों ने मुझे बढ़ाया था। अत: मैं सागर नाम से विख्यात हूँ ॥२६-२७॥

तस्यान्वये बभूवासौ रामो दाशरथिः प्रभुः ।
तस्य कार्यार्थसिद्ध्यर्थं गच्छत्येष महाकपिः ॥ २८॥

दशरथनन्दन भगवान् श्रीरामचन्द्र उन्हीं के वंशज हैं। यह कपिराज हनुमान उनका कार्य सिद्ध करने के लिये जा रहें हैं ॥ २८ ॥

त्वमुत्तिष्ठ जलात्तूर्णं त्वयि विश्रम्य गच्छतु ।
स तथेति प्रादुरभूज्जलमध्यान्महोन्नतः ॥ २९॥

नानामणिमयैः शृङ्गैस्तस्योपरि नराकृतिः ।
प्राह यान्तं हनूमन्तं मैनाकोऽहं महाकपे ॥ ३०॥

समुद्रेण समादिष्टस्त्वद्विश्रामाय मारुते ।
आगच्छामृतकल्पानि जग्ध्वा पक्वफलानि मे ॥ ३१॥

विश्रम्यात्र क्षणं पश्चाद्गमिष्यसि यथासुखम् ।
एवमुक्तोऽथ तं प्राह हनूमान्मारुतात्मजः ॥ ३२॥

तुम शीघ्र ही जल से ऊपर उठो, जिससे कुछ समय तक हनुमान की तुम पर विश्राम कर लें और आगे जाएं । 'जैसी आपकी आज्ञा'

यह कह कर मैनाक शीघ्र ही अपने अनेक मणिमय शिखरों युक्त पानी से बहुत ऊपर उठकर अपने शिखरों पर मनुष्य का रूप धारणकर जाते हुए हनुमानजी से बोला हे महाकपि ! मैं मैनाक हूँ। हे मारुते ! आपको विश्राम देने के लिये समुद्र ने मुझे आज्ञा दी है। तुम अमृत के समान सुपक्व फलों को खाकर विश्राम करो और पुनः आनन्द पूर्वक जाना। मैनाक का यह कथन सुनकर पवनपुत्र हनुमानजी बोले ॥२९-३२॥

गच्छतो रामकार्यार्थं भक्षणं मे कथं भवहत् ।
विश्रामो वा कथं मे स्याद्गन्तव्यं त्वरितं मया ॥ ३३॥

श्रीरघुनाथजी का कार्य सिद्ध करने के लिये जाते समय मैं भोजन विश्राम आदि कैसे कर सकता हूँ? मुझे शीघ्र ही जाना है। अत: विश्राम का समय भी मुझे कहाँ है ? ॥ ३३ ॥

इत्युक्त्वा स्पृष्टशिखरः कराग्रेण ययौ कपिः ।
किञ्चिद्दूरं गतस्यास्य छायां छायाग्रहोऽग्रहीत् ॥ ३४॥

यह कहकर कपिवर हनुमानजी मैनाक के शिखर को अपनी ऊँगली से स्पर्श करके आगे चल दिये। इनके कुछ दूर जाने पर एक छायाग्रह ने उनकी छाया को पकड़ लिया ॥ ३४ ॥

सिंहिका नाम सा घोरा जलमध्ये स्थिता सदा ।
आकाशगामिनां छायामाक्रम्याकृष्य भक्षयेत् ॥ ३५॥

वह जल के मध्य में हमेशा निवास करने वाली सिंहिका नाम की राक्षसी थी। वह आकाश मार्ग से जाने वालों की छाया पकड़कर उसे खा जाती थी ॥ ३५॥

तया गृहीतो हनुमांश्चिन्तयामास वीर्यवान् ।
केनेदं मे कृतं वहगरोधनं विघ्नकारिणा ॥ ३६॥

उसके द्वारा पकड़ लिये जाने पर वहाँ पराक्रमी हनुमानजी सोचने लगे कि यह कौन विघ्न उत्पन्न करने वाला है जिसने मेरे वेग को रोक लिया ? ॥ ३६ ॥

दृश्यते नैव कोऽप्यत्र विस्मयो मे प्रजायते ।
एवं विचिन्त्य हनुमानधो दृष्टिं प्रसारयत् ॥ ३७॥

यहाँ तो कोई दिखायी नहीं देता। अत : मुझे अति विस्मय हो रहा है। यह सोचते हुए हनुमान जी ने नीचे की ओर देखा ॥३७॥

तत्र दृष्ट्वा महाकायां सिंहिकां घोररूपिणीम् ।
पपात सलिले तूर्णं पद्भ्यामेवाहनद्रुषा ॥ ३८॥

तब उन्हें महाकायवाली सिंहिका नाम की घोर राक्षसी दिखायी दी। हनुमान जी ने शीघ्र ही जल में कूदकर लातों से उसे मार दिया ॥६८॥

पुनरुत्प्लुत्य हनूमान् दक्षिणाभिमुखो ययौ ।
ततो दक्षिणमासाद्य कूलं नानाफलद्रुमम् ॥ ३९॥

और पुनः उछलकर दक्षिण दिशा की ओर चलने लगे और अनेक फलयुक्त वृक्षों वाले समुद्र के दक्षिण तट पर पहुँच गये ॥ ३९ ॥

नानापक्षिमृगाकीर्णं नानापुष्पलतावृतम् ।
ततो ददर्श नगरं त्रिकूटाचलमूर्धनि ॥ ४०॥

प्राकारैर्बहुभिर्युक्तं परिखाभिश्च सर्वतः ।
प्रवहक्ष्यामि कथं लङ्कामिति चिन्तापरोऽभवत् ॥ ४१॥

वह तट विविध प्रकार के पक्षि और मृगों से परिपूर्ण और विविध प्रकार के पुष्प लताओं से आवृत्त था। वहां पहुँच कर उन्होंने त्रिकूट पर्वत पर विद्यमान नगर को देखा। वह नगर सभी ओर से अनेक परकोटे और खाइयों से घिरा हुआ था। उसे देखकर वह सोचने लगे कि मैं लंकापुरी में कैसे प्रवेश करूंगा ॥४०-४१॥

रात्रौ वहक्ष्यामि सूक्ष्मोऽहं लङ्कां रावणपालिताम् ।
एवं विचिन्त्य तत्रैव स्थित्वा लङ्कां जगाम सः ॥ ४२॥

अपना लघुरूप धारणकर मै रावण के द्वारा पालित लंका में रात्रि के समय प्रवेश करूंगा, यह सोच-विचार कर वह वहीं रुक गये, और यथा समय पुनः लंका की ओर चल पड़े ॥ ४२ ॥

धृत्वा सूक्ष्मं वपुर्द्वारं प्रविवहश प्रतापवान् ।
तत्र लङ्कापुरी साक्षाद्राक्षसीवहषधारिणी ॥ ४३॥

महाप्रतापी हनुमानजी ने अपना सूक्ष्मरूप धारण कर जब लंका में प्रवेश या, तब वहाँ पर साक्षात् लंकापुरी राक्षसी वेष धारण कर खड़ी थी॥ ४३ ॥

प्रविशन्तं हनूमन्तं दृष्ट्वा लङ्का व्यतर्जयत् ।
कस्त्वं वानररूपेण मामनादृत्य लङ्किनीम् ॥ ४४॥

प्रविश्य चोरवद्रात्रौ किं भवान् कर्तुमिच्छति ।
इत्युक्त्वा रोषताम्राक्षी पादेनाभिजघान तम् ॥ ४५॥

श्रीहनुमानजी को लंका में प्रवेश करते देखकर उसने फटकार लगाते हुए पूछा-तुम वानर रूप धारणकर इस रात्रि में मुझ लंकिनी का अनादर करके चोर की भाँति लंका में क्यों प्रवेश कर रहे हो और क्या करने की तुम्हारी इच्छा है? यह कहकर लंकिनी ने आँखों को क्रोध से लाल कर हनुमानजी को लात मारी॥४४-४५॥

हनुमानपि तां वाममुष्टिनावज्ञयाहनत् ।
तदैव पतिता भूमौ रक्तमुद्वमती भृशम् ॥ ४६॥

तदनन्तर उसकी अवज्ञा कर हनुमानजी ने अपने बाएँ हाथ से उसे एक घूँसा मारा, जिससे वह अत्यधिक रुधिर वमन करती हुई पृथ्वी पर गिर पड़ी ॥४६॥

उत्थाय प्राह सा लङ्का हनूमन्तं महाबलम् ।
हनूमन् गच्छ भद्रं ते जिता लङ्का त्वयानघ ॥ ४७॥

और उठकर वह लंकिनी महाबली हनुमानजी से बोली-हे हनुमन् ! जाओ, तुम्हारा कल्याण हो। हे अनघ! तुमने लंका पुरी को जीत लिया है ॥ ४७ ॥

पुराहं ब्रह्मणा प्रोक्ता ह्यष्टाविंशतिपर्यये ।
त्रेतायुगे दाशरथी रामो नारायणोऽव्ययः ॥ ४८॥

पूर्व समय में ब्रह्माजी ने मुझसे कहा था कि मैंने किसी समय भूभारहरण के लिये नारायणदेव से प्रार्थना की थी। अत: अट्ठाइसवें महायुग के त्रेतायुग में दशरथ नन्दन श्रीराम के रूप में अविनाशी नारायण देव उत्पन्न होंगे ॥ ४८ ॥

जनिष्यते योगमाया सीता जनकवहश्मनि ।
भूभारहरणार्थाय प्रार्थितोऽयं मया क्वचित् ॥ ४९॥

उनकी योगमाया सीता राजाजनक के घर अवतरित होंगी॥४९॥

सभार्यो राघवो भ्रात्रा गमिष्यति महावनम् ।
तत्र सीतां महामायां रावणोऽपहरिष्यति ॥ ५०॥

अनुज लक्ष्मण और भार्या सीता के साथ वे महावन में जायेंगे। वहाँ पर महामाया रूपिणी सीता का रावण हरण करेगा ॥५० ॥

पश्चादरामेण साचिव्यं सुग्रीवस्य भविष्यति ।
सुग्रीवो जानकीं द्रष्टुं वानरान् प्रेषयिष्यति ॥ ५१॥

तब सुग्रीव के साथ श्रीराम की मित्रता होगी। सुग्रीव श्रीजानकीजी की खोज के लिये वानरों को भेजेगें ॥ ५१॥

तत्रैको वानरो रात्रावागमिष्यति तेऽन्तिकम् ।
त्वया च भर्त्सितः सोऽपि त्वां हनिष्यति मुष्टिना ॥ ५२॥

उनमें से रात्रि के समय एक वानर तुम्हारे समीप आयेगा। तुमसे तिरस्कृत होने पर वह तुम्हें मुष्टिका से मारेगा ॥ ५२॥

तेनाहता त्वं व्यथिता भविष्यसि यदानघे ।
तदैव रावणस्यान्तो भविष्यति न संशयः ॥ ५३॥

हे अनघे! जब तुम उसके मार से व्यथित हो जाओगी तभी रावण का निःसन्देह अन्त होगा ॥ ५३॥

तस्मात् त्वया जिता लङ्का जितं सर्वं त्वयानघ ।
रावणान्तःपुरवरे क्रीडाकाननमुत्तमम् ॥ ५४॥

अत: हे अनघ! तुमने लंका को जीत लिया तो सबको जीत लिया। रावण के अन्तः पुर में एक क्रीडावन है ॥ ५४||

तन्मध्येऽशोकवनिका दिव्यपादपसङ्कुला ।
अस्ति तस्यां महावृक्षः शिंशपा नाम मध्यगः ॥ ५५॥

उसमें दिव्यवृक्षों से सम्पन्न एक अशोक वाटिका है। उसके मध्य एक विशाल शिंशपा का वृक्ष है ॥ ५५॥

तत्रास्ते जानकी घोरराक्षसीभिः सुरक्षिता ।
दृष्ट्वैव गच्छ त्वरितं राघवाय निवहदय ॥ ५६॥

वहाँ घोर राक्षसियों से सुरक्षित श्रीजानकी जी रहती हैं। उनका दर्शन कर शीघ्र ही श्रीरामचन्द्रजी से उनके समाचार का निवेदन करो ॥ ५६ ॥

धन्याहमप्यद्य चिराय राघवस्मृतिर्ममासीद्भवपाशमोचिनी ।
तद्भक्तसङ्गोऽप्यतिदुर्लभो मम प्रसीदतां दाशरथिः सदा हृदि ॥५७॥

मैं धन्य हूँ; बहुत दिनों के बाद भव-बन्धन को नष्ट करने वाली श्रीरामचन्द्रजी की स्मृति मुझे हुई है और उनके भक्त का अतिदुर्लभ संग हुआ है। मेरे हृदय में विराजमान दाशरथी प्रभु श्रीरामचन्द्र हमेशा मुझ पर प्रसन्न रहें ॥५७ ॥

उल्लङ्घितेऽब्धौ पवनात्मजेन धरासुतायाश्च दशाननस्य ।
पुस्फोर वामाक्षि भुजश्च तीव्रं रामस्य दक्षाङ्गमतीन्द्रियस्य ॥ ५८॥

पवनकुमार श्रीहनुमानजी को समुद्र पार करते ही पृथ्वी सुता श्रीसीताजी और दशानन रावण दोनों के वाम वांग और भुजाएँ तथा अतीन्द्रिय परमात्मा श्रीरामचन्द्र के दायें अंग बड़े जोर-जोर से फड़कने लगे ॥ ५८॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे सुन्दरकाण्डे
प्रथमः सर्गः ॥ १॥

॥ द्वितीयः सर्गः ॥

हनुमानजी का अशोक वाटिका में जाना तथा सीताजी को रावण का भय दिखलाना

श्रीमहादेव उवाच ।

ततो जगाम हनुमान् लङ्कां परमशोभनाम् ।
रात्रौ सूक्ष्मतनुर्भूत्वा बभ्राम परितः पुरीम् ॥ १॥

श्रीमहादेवजी बोले- तत्पश्चात् हनुमानजी परम रमणीय लंका पुरी में गये और सूक्ष्म शरीर धारण कर रात्रि में नगर में सर्वत्र भ्रमण करते रहे ॥१॥

सीतान्वेषणकार्यार्थी प्रविवहश नृपालयम् ।
तत्र सर्वप्रदेशेषु विविच्य हनुमान् कपिः ॥ २॥

नापश्यज्जानकीं स्मृत्वा ततो लङ्काभिभाषितम् ।
जगाम हनुमान् शीघ्रमशोकवनिकां शुभाम् ॥ ३॥

श्रीसीता जी का आन्वेषण करने के लिये उन्होंने राजभवन में प्रवेश किया। वहाँ पर सर्वत्र खोजने के बाद भी सीताजी का जब पता नहीं चला तब हनुमानजी को लंकिनी के कथन स्मरण हुआ और वह शीघ्र ही रमणीय अशोकवाटिका में गये ॥ २-३ ॥

सुरपादपसम्बाधां रत्नसोपानवापिकाम् ।
नानापक्षिमृगाकीर्णां स्वर्णप्रासादशोभिताम् ॥ ४॥

कल्प वृक्षों और रत्न जटित सीढ़ियों वाले बावलियों से युक्त वह अशोक वाटिका अपूर्वशोभा वाली थी। उसमें विविध प्रकार के पक्षी और मृगगण विचरण कर रहे थे और सुवर्ण निर्मित महलों से वह वाटिका सुशोभित थी ॥४॥

फलैरानम्रशाखाग्रपादपैः परिवारिताम् ।
विचिन्वन् जानकीं तत्र प्रतिवृक्षं मरुत्सुतः ॥ ५॥

ददर्शाभ्रंलिहं तत्र चैत्यप्रासादमुत्तमम् ।
दृष्ट्वा विस्मयमापन्नो मणिस्तम्भशतान्वितम् ॥ ६॥

फलों के बोझ से झुके हुए वृक्षों से वह वाटिका घिरी हुई थी। पवनसुत हनुमानजी ने वहाँ प्रत्येक वृक्ष के नीचे श्रीजानकीजी को खोजते हुए एक अति रमणीय देवालय को देखा। उस देवालय के शिखर बादलों से टकरा रहे थे। सैकड़ों मणिमय स्तम्भों से युक्त उस देवालय को देखकर उन्हें अति आश्चर्य हुआ। ५-६ ॥

समतीत्य पुनर्गत्वा किञ्चिद्दूरं स मारुतिः ।
ददर्श शिंशपावृक्षमत्यन्तनिबिडच्छदम् ॥ ७॥

उससे कुछ दूर और जाने पर अति घने पत्तों से युक्त शिशंपा के वृक्ष को हनुमानजी ने देखा ॥ ७॥

अदृष्टातपमाकीर्णं स्वर्णवर्णविहङ्गमम् ।

तन्मूले राक्षसीमध्ये स्थितां जनकनन्दिनीम् ॥ ८॥

ददर्श हनुमान् वीरो देवतामिव भूतले ।
एकवहणीं कृशां दीनां मलिनाम्बरधारिणीम् ॥ ९॥

भुमौ शयानां शोचन्तीं रामरामेति भाषिणीम् ।
त्रातारं नाधिगच्छन्तीमुपवासकृशां शुभाम् ॥ १०॥

वहाँ पर कभी भी धूप नहीं आती थी और वह सुवर्ण वर्ण के पक्षियों से युक्त था। उस वृक्ष के नीचे राक्षसियों के मध्य स्थित देवता के समान जनकनन्दिनी श्रीसीताजी को वीरवर हनुमानजी ने देखा । श्रीसीताजी एक वेणी धारण किए हुए, अत्यन्त दुबली-पतली, दीन, मलिन वस्त्र धारण किए हुए भूमि पर पड़ी हुई अत्यंत शोक से राम-राम का जप कर रहीं थीं। उपवास से अतिदुर्बल उन्हें कोई भी अपना रक्षक दिखायी नहीं देता था ॥ ८-१०॥

शाखान्तच्छदमध्यस्थो ददर्श कपिकुञ्जरः ।
कृतार्थोऽहं कृतार्थोऽहं दृष्ट्वा जनकनन्दिनीम् ॥ ११॥

कपिवर श्रीहनुमानजी ने पेड़ की डाल पर पत्तों के बीच अप्कने आपको छिपा लिया तथा वहां से श्रीजानकी को देछिप कर देखने लगे और मन ही मन कहने लगे कि श्रीजानकोजी को देखकर आज मैं कृतार्थ हो गया, कृतार्थ हो गया ॥११॥

मयैव साधितं कार्यं रामस्य परमात्मनः ।
ततः किलकिलाशब्दो बभूवान्तःपुराद्बहिः ॥ १२॥

मैंने ही परमात्मा श्रीरामचन्द्र जी का कार्य सिद्ध किया। तभी रावण के अन्तः पुर से किल-किला शब्द की आवाज बाहर आयी ॥ ११-१२ ॥

किमेतदिति सँल्लीनो वृक्षपत्रेषु मारुतिः ।
आयान्तं रावणं तत्र स्त्रीजनैः परिवारितम् ॥ १३॥

तत्पश्चात् श्रीहनुमानजी ने उस शब्द का अन्वेषण करने की लिए वृक्ष के पत्तों में छिपे हुए देखा कि स्त्रियों से चारों ओर घिरा हुआ रावण उसी ओर आ रहा है ॥ १३ ॥

दशास्यं विंशतिभुजं नीलाञ्जनचयोपमम् ।
दृष्ट्वा विस्मयमापन्नः पत्रखण्डेष्वलीयत ॥ १४॥

वह दशमुख और बीस भुजा युक्त कज्जल के समान काले शरीर वाला है, उसे देखकर हनुमानजी को अति विस्मय हुआ और वह पुन: पत्तों में छिप गये ॥ १४॥

रावणो राघवहणाशु मरणं मे कथं भवहत् ।
सीतार्थमपि नायाति रामः किं कारणं भवहत् ॥ १५॥

इत्येवं चिन्तयन्नित्यं राममेव सदा हृदि ।
तस्मिन् दिनेऽपररात्रौ रावणो राक्षसाधिपः ॥ १६॥

स्वप्ने रामेण सन्दिष्टः कश्चिदागत्य वानरः ।
कामरूपधरः सूक्ष्मो वृक्षाग्रस्थोऽनुपश्यति ॥ १७॥

श्रीरघुनाथजी के द्वारा शीघ्र मेरा मरण कैसे हो रावण यह सोचता रहता था। न जाने श्रीरामजी अभी तक सीता को लेने के लिये भी क्यों नहीं आए ? इस प्रकार हृदय में हमेशा श्रीरामचन्द्रजी का चिन्तन रहने से राक्षसराज रावण उसी दिन रात्रि के अन्तिम प्रहर में स्वप्न देखा कि राम का संदेश लेकर कोई वानर आया है और स्वेच्छा रूप धारण कर सूक्ष्मरूप से वृक्ष की डाल पर बैठकर देख रहा है ॥ १५-१७ ॥

इति दृष्ट्वाद्भुतं स्वप्नं स्वात्मन्येवानुचिन्त्य सः ।
स्वप्नः कदाचित्सत्यः स्यादेवं तत्र करोम्यहम् ॥ १८॥

जानकीं वाक्शरैर्विद्ध्वा दुःखितां नितरामहम् ।
करोमि दृष्ट्वा रामाय निवहदयतु वानरः ॥ १९॥

इस अद्भुत स्वप्न को देखकर उसने मन ही मन सोचा कि कदाचित् यह स्वप्न सत्य हो, अत: मैं यह करूं कि अशोक वाटिका में चलकर अपने वाणी रूपी बाणों से जानकीजी को वेधकर अत्यन्त दुःखी करूँ, जिससे वह वानर यह सब देखकर श्रीरामचन्द्र से कहे ॥ १८-१९ ॥

इत्येवं चिन्तयन् सीतासमीपमगमद्द्रुतम् ।
नूपुराणां किङ्किणीनां श्रुत्वा शिञ्जितमङ्गना ॥ २०॥

सीता भीता लीयमाना स्वात्मन्येव सुमध्यमा ।
अधोमुख्यश्रुनयना स्थिता रामार्पितान्तरा ॥ २१॥

यह सोच कर वह शीघ्र ही सीता के पास आया। स्त्रियों के नूपुर, कंगन आदि की झनकार सुनकर सुन्दर कटिवाली श्रीसीताजी व्याकुल हो अपने शरीर को सिकोड़कर साश्रुनेत्र होकर अपने मन को श्रीरामचन्द्रजी को अर्पितकर अधोमुख हो बैठ गयीं ॥ २०-२१॥

रावणोऽपि तदा सीतामालोक्याह सुमध्यमे ।
मां दृष्ट्वा किं वृथा सुभ्रु स्वात्मन्येव विलीयसे ॥ २२॥

सीताजी को देखकर रावण बोला हे सुन्दर कटि और सुन्दरभृकुटिवाली सीते! मुझे देखकर व्यर्थ ही तुम इतनी संकुचित क्यों होती हो ॥ २२ ॥

रामो वनचराणां हि मध्ये तिष्ठति सानुजः ।
कदाचिद्दृश्यते कैश्चित्कदाचिन्नैव दृश्यते ॥ २३॥

राम वनचरों के मध्य अपने अनुज के साथ रहता है। कभी तो वह किसी को दिखायी पड़ता है और कभी दिखायी भी नहीं पड़ता ॥२३ ॥

मया तु बहुधा लोकाः प्रेषितास्तस्य दर्शने ।
न पश्यन्ति प्रयत्नेन वीक्षमाणाः समन्ततः ॥ २४॥

मैंने उसे देखने के लिये अनेक लोगों को भेजा, किन्तु प्रयत्न कर चारों तरफ देखने पर भी वह किसी को दिखायी नहीं पड़ा ॥२४॥

किं करिष्यसि रामेण निःस्पृहेण सदा त्वयि ।
त्वया सदालिङ्गितोऽपि समीपस्थोऽपि सर्वदा ॥ २५॥

हृदयेऽस्य न च स्नेहस्त्वयि रामस्य जायते ।
त्वत्कृतान् सर्वभोगांश्च त्वद्गुणानपि राघवः ॥ २६॥

भुञ्जानोऽपि न जानाति कृतघ्नो निर्गुणोऽधमः ।
त्वमानीता मया साध्वी दुःखशोकसमाकुला ॥ २७॥

इदानीमपि नायाति भक्तिहीनः कथं व्रजेत् ।
निःसत्त्वो निर्ममो मानी मूढः पण्डितमानवान् ॥ २८॥

उस उदासीन राम से अब तूझे क्या प्रयोजन है ? हमेशा तुम्हारे समीप रहते हुए और सदा तुझसे आलिंगित होता हुए भी अभी तक तुम्हारे प्रति उसके हृदय में स्नेह उत्पन्न नहीं हुआ। तुम्हारे द्वारा राम को प्राप्त सम्पूर्ण भोग और तम्हारे सम्पूर्ण गुणों को भोगकर भी कृतघ्न उदासीन और अधम राम कभी तुम्हारी याद भी नहीं करता है। तुम मेरे द्वारा हरण कर लाई गयी हो और तुम उसकी सुशीला पत्नी हो तथा इस समय दुःख और शोक से व्यथित हो। अब तक वह राम नहीं आया; तुझमें प्रेमरहित वह आता भी कैसे ? वह पराक्रम रहित, ममता शून्य, अभिमानी, मूढ़, अपने को पण्डित मानने वाला है ॥ २५-२८॥

नराधमं त्वद्विमुखं किं करिष्यसि भामिनि ।
त्वय्यतीव समासक्तं मां भजस्वासुरोत्तमम् ॥ २९॥

हे भामिनि ! तुमसे विमुख उस नराधम से तुझे क्या प्रयोजन है। मैं तुझमें अत्यन्त प्रीति रखता हूँ। अत: तुम मेरा अनुगमन करो ॥२९॥

देवगन्धर्वनागानां यक्षकिन्नरयोषिताम् ।
भविष्यसि नियोक्त्री त्वं यदि मां प्रतिपद्यसे ॥ ३०॥

मेरे अधीन तुझे रहने पर देव, गन्धर्व, नाग, तथा किन्नर आदि की स्त्रियों पर तुम शासन करोगी ॥ ३०॥

रावणस्य वचः श्रुत्वा सीताऽमर्षसमन्विता ।
उवाचाधोमुखी भूत्वा निधाय तृणमन्तरे ॥ ३१॥

रावण के यह वाक्य सुनकर सीताजी अति क्रोधित होकर अपना सिर नीचा कर अपने और रावण के बीच तृण रखकर रावण से बोलीं ॥३१ ॥

राघवाद्बिभ्यता नूनं भिक्षुरूपं त्वया धृतम् ।
रहिते राघवाभ्यां त्वं शुनीव हविरध्वरे ॥ ३२॥

हृतवानसि मां नीच तत्फलं प्राप्स्यसेऽचिरात् ।
यदा रामशराघातविदारितवपुर्भवान् ॥ ३३॥

ज्ञास्यसेऽमानुषं रामं गमिष्यसि यमान्तिकम् ।
समुद्रं शोषयित्वा वा शरैर्बद्ध्वाथ वारिधिम् ॥ ३४॥

हन्तुं त्वां समरे रामो लक्ष्मणेन समन्वितः ।
आगमिष्यत्यसन्देहो द्रक्ष्यसे राक्षसाधम ॥ ३५॥

हे नीच ! निःसन्देह श्रीरघुनाथ जी से डरकर भिक्षुक का रूप धारणकर, उन दोनों रघुश्रेष्ठों की अनुपस्थिति में जन शून्य यज्ञशाला

से कुत्ते द्वारा ले गयी हवि की भाँति तू मुझे हरण कर ले आया है । अतिशीघ्र तू उसका फल प्राप्त करेगा। श्रीरघुनाथजी की बाण वर्षा से विदीर्ण होकर जब तू यमलोक को जायेगा तब श्रीरामचन्द्र को परमब्रह्म समझेगा। रे राक्षसाधम ! निःसन्देह तू अतिशीघ्र यह देखेगा कि युद्ध में तुम्हें मारने के लिये अनुज लक्ष्मण सहित भगवान् श्रीरामचन्द्रजी समुद्र को सुखाकर अथवा बाणों से पुल बाँधकर यहाँ आयेंगे ॥ ३२-३५।

त्वां सपुत्रं सहबलं हत्वा नेष्यति मां पुरम् ॥
श्रुत्वा रक्षःपतिः क्रुद्धो जानक्याः परुषाक्षरम् ॥ ३६॥

वाक्यं क्रोधसमाविष्टः खड्गमुद्यम्य सत्वरः ।
हन्तुं जनकराजस्य तनयां ताम्रलोचनः ॥ ३७॥

तुझे पुत्र और सेनाओं के सहित मारकर मुझे अयोध्यापुरी वापस ले जायेंगे। जानकीजी का इस प्रकार कठोर शब्द सुनकर राक्षसाधिप रावण अत्यधिक क्रोध के कारण आँख लाल करता हुआ शीघ्र ही अपना खड्ग निकालकर जनकनन्दिनी सीता को मारने के लिए तैयार हो गया ॥३६-३७ ॥

मन्दोदरी निवार्याह पतिं पतिहिते रता ।
त्यजैनां मानुषीं दीनां दुःखितां कृपणां कृशाम् ॥ ३८॥

तदनन्तर अपने पति के हित में तत्पर महारानी मन्दोदरी अपने पति को रोकते हुए बोली-पतिदेव ! इस दीन, क्षीण, दुखिया एवं कातर स्त्री को छोड़ दीजिये ॥३८॥

देवगन्धर्वनागानां बह्व्यः सन्ति वराङ्गनाः ।
त्वामेव वरयन्त्युच्चैर्मदमत्तविलोचनाः ॥ ३९॥

देव, गन्धर्व, नाग आदि की अनेकों मदमत्त नेत्रोंवाली मनोहारिणी वाराङ्गनाएँ हैं जो प्रबल इच्छा से आपका वरण करना चाहती हैं ॥ ३९॥

ततोऽब्रवीद्दशग्रीवो राक्षसीर्विकृताननाः ।
यथा मे वशगा सीता भविष्यति सकामना ।
तथा यतध्वं त्वरितं तर्जनादरणादिभिः ॥ ४०॥

तत्पश्चात् अनेक विकराल बदनवाली राक्षसियों से रावण बोला-जिस प्रकार सीता अपनी कामना से मेरे वश में हो जाए, उस प्रकार तुमलोग भय अथवा आदरपूर्वक यत्न करो॥४०॥

द्विमासाभ्यन्तरे सीता यदि मे वशगा भवहत् ।
तदा सर्वसुखोपेता राज्यं भोक्ष्यति सा मया ॥ ४१॥

दो माह के भीतर यदि सीता मेरे वश में हो गयी तो वह सर्वसुख सम्पन्न मेरे साथ राज्य का भोग करेगी ॥४१॥

यदि मासद्वयादूर्ध्वं मच्छय्यां नाभिनन्दति ।
तदा मे प्रातराशाय हत्वा कुरुत मानुषीम् ॥ ४२॥

दो माह के भीतर यह यदि उसने मेरी शय्या पर आना स्वीकार नहीं किया तो इस मानुषी को मारकर मेरा प्रातःकाल का कलेवा बना देना ॥ ४२ ॥

इत्युक्त्वा प्रययौ स्त्रीभी रावणोऽन्तःपुरालयम् ।
राक्षस्यो जानकीमेत्य भीषयन्त्यः स्वतर्जनैः ॥ ४३॥

यह कहकर रावण अपनी स्त्रियों के साथ अन्तःपुर में चला गया और राक्षसियाँ श्रीसीताजी के पास आकर उन्हें विविध उपायों से भयभीत करने लगीं ॥४३॥

तत्रैका जानकीमाह यौवनं ते वृथा गतम् ।
रावणेन समासाद्य सफलं तु भविष्यति ॥ ४४॥

राक्षसियों में से एक राक्षसी बोली- तुम्हारा जीवन व्यर्थ ही व्यतीत हो रहा है। रावण से यदि तुम्हारा सहवास हो तो तुम्हारा जीवन धन्य हो जाय ॥४४॥

अपरा चाह कोपेन किं विलम्बेन जानकि ।
इदानीं छेद्यतामङ्गं विभज्य च पृथक् पृथक् ॥ ४५॥

अन्या तु खड्गमुद्यम्य जानकीं हन्तुमुद्यता ।
अन्या करालवदना विदार्यास्यमभीषयत् ॥ ४६॥

दूसरी राक्षसी क्रोध दिखाती हुई बोली-जानकी ! देर क्यों करती हो? अन्य राक्षसी खड्ग लेकर बोली-इसके अङ्गोंको काटकर पृथक-पृथक् कर दो। कोई राक्षसी अपना भयङ्कर मुख फैलाकर सीताजी को डराने लगी। ४५-४६॥

एवं तां भीषयन्तीस्ता राक्षसीर्विकृताननाः ।

निवार्य त्रिजटा वृद्धा राक्षसी वाक्यमब्रवीत् ॥ ४७॥

तदनन्तर इस प्रकार सीताजी को डराती हुई देखकर उन विकृत वदना राक्षसियों को रोककर वृद्धा राक्षसी त्रिजटा उनसे बोली ॥ ४७ ॥

शृणुध्वं दुष्टराक्षस्यो मद्वाक्यं वो हितं भवहत् ॥ ४८॥

रे दुष्टा राक्षसियों मेरी बात सुनो इससे तुम्हारा हित होगा ॥४८॥

न भीषयध्वं रुदतीं नमस्कुरुत जानकीम् ।
इदानीमेव मे स्वप्ने रामः कमललोचनः ॥ ४९॥

आरुह्यैरावतं शुभ्रं लक्ष्मणेन समागतः ।
दग्ध्वा लङ्कापुरीं सर्वां हत्वा रावणमाहवह ॥ ५०॥

इस रोती हुई जानकी को तुमलोग डराओ मत, बल्कि इन्हें नमस्कार करो। मैंने अभी ही एक स्वप्न देखा है कि कमललोचन भगवान् श्रीराम अनुज लक्ष्मण के साथ श्वेत ऐरावत हाथी पर चढ़कर आये हैं। मैंने देखा है कि लंकापुरी को जलाकर और सपरिवार रावण को मारकर ॥ ४९-५० ॥

आरोप्य जानकीं स्वाङ्के स्थितो दृष्टोऽगमूर्धनि ।
रावणो गोमयह्रदे तैलाभ्यक्तो दिगम्बरः ॥ ५१॥

अगाहत्पुत्रपौत्रैश्च कृत्वा वदनमालिकाम् ।
विभीषणस्तु रामस्य सन्निधौ हृष्टमानसः ॥ ५२॥

जानकी जी को अपनी गोद में बैठाकर पर्वत शिखर पर श्री राम बैठे हैं। गले में मुण्डों की माला पहन, शरीर में तेल लगा, नग्न वदन रावण अपने पुत्र-पौत्रों के साथ गोबर के कुण्ड में गिर पड़ा है और विभीषण प्रसन्न मन से श्रीरघुनाथजी के पास बैठा हुआ है ॥ ५१-५२॥

सेवां करोति रामस्य पादयोर्भक्तिसंयुतः ।
सर्वथा रावणं रामो हत्वा सकुलमञ्जसा ॥ ५३॥

विभीषणायाधिपत्यं दत्त्वा सीतां शुभाननाम् ।
अङ्के निधाय स्वपुरीं गमिष्यति न संशयः ॥ ५४॥

और अतिभक्ति पूर्वक उनके चरणारविन्द की सेवा कर रहा है। अत: प्रतीत होता है कि अनायास ही श्रीरामचन्द्रजी कुल सहित रावण का संहार कर विभीषण को लंका का राज्य दे देंगे और सुमुखी सीता को गोद में बैठाकर अपने नगर को चले जायेंगे, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ५३-५४ ॥

त्रिजटाया वचः श्रुत्वा भीतास्ता राक्षसस्त्रियः ।
तूष्णीमासंस्तत्र तत्र निद्रावशमुपागताः ॥ ५५॥

त्रिजटा का यह कथन सुनकर राक्षसियाँ डर कर चुपचाप यत्र-तत्र बैठ गयीं और कुछ देर के बाद उन्हें नींद आ गयी ॥ ५५ ॥

तर्जिता राक्षसीभिः सा सीता भीतातिविह्वला ।
त्रातारं नाधिगच्छन्ती दुःखेन परिमूर्च्छिता ॥ ५६॥

राक्षसियों के डराये जाने के कारण भय से अतिव्याकुल हो सीताजी अपना कोई रक्षक न देखकर दुःख से मूर्छित हो गयीं ॥५६ ॥

अश्रुभिः पूर्णनयना चिन्तयन्तीदमब्रवीत् ।
प्रभाते भक्षयिष्यन्ति राक्षस्यो मां न संशयः ।
इदानीमेव मरणं केनोपायेन मे भवहत् ॥ ५७॥

और आँखों में आँसू भरकर अति चिन्तित होकर कहने लगीं कि निःसन्देह प्रातःकाल राक्षसियाँ मुझे खा जायेंगी। ऐसा कौन सा उपाय है कि तत्क्षण मेरी मृत्यु हो जाए? ॥ ५७ ॥

एवं सुदुःखेन परिप्लुता सा विमुक्तकण्ठं रुदती चिराय ।
आलम्ब्य शाखां कृतनिश्चया मृतौ न जानती कश्चिदुपायमङ्गना
॥५८॥

इस प्रकार अपनी मृत्यु निश्चित कर, मृत्यु का कोई साधन न देखकर कल्याणी सीता जी वृक्ष की शाखा को पकड़े हुए, अति दुःखित हो बहुत देर तक फूट-फूट कर रोती रहीं ॥ ५८ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे सुन्दरकाण्डे
द्वितीयः सर्गः ॥ २॥

॥ तृतीयः सर्गः ॥

जानकीजी से भेंट, वाटिका विध्वस और ब्रह्मपाश से हनुमानजी का बयान

श्रीमहादेव उवाच ।

उद्बन्धनेन वा मोक्ष्ये शरीरं राघवं विना ।
जीवितेन फलं किं स्यान्मम रक्षोऽधिमध्यतः ॥ १॥

श्रीमहादेवजी बोले - अंत में सीता जी ने निश्चय किया कि मैं फाँसी लगाकर ही अपने शरीर का त्याग कर दूं, इन राक्षसियों के मध्य रहकर श्रीरघुनाथजी के बिना जीवित रहने से क्या लाभ! ॥ १॥

दीर्घा वहणी ममात्यर्थमुद्बन्धाय भविष्यति ।
एवं निश्चितबुद्धिं तां मरणायाथ जानकीम् ॥ २॥

विलोक्य हनुमान् किञ्चिद्विचार्यैतदभाषत ।
शनैः शनैः सूक्ष्मरूपो जानक्याः श्रोत्रगं वचः ॥ ३॥

यह मेरी लम्बी वेणी फाँसी लगाने के लिये पर्याप्त है। इस प्रकार अपने शरीर का त्याग करने के लिए निश्चित बुद्धि वाली जानकीजी को देखकर सूक्ष्मरूपधारी हनुमान जी ने मन ही मन कुछ सोचकर श्रीसीताजी के कानों में सुनायी पड़ने योग्य धीरे -धीरे इस प्रकार कहने लगे ॥२-३॥

इक्ष्वाकुवंशसम्भूतो राजा दशरथो महान् ।
अयोध्याधिपतिस्तस्य चत्वारो लोकविश्रुताः ॥ ४॥

पुत्रा देवसमाः सर्वे लक्षणैरुपलक्षिताः ।
रामश्चलक्ष्मणश्चैव भरतश्चैव शत्रुहा ॥ ५॥

इक्ष्वाकु कुल में उत्पन्न अयोध्याधिपति अतिप्रतापी महाराज दशरथ थे। त्रिलोकी में विख्यात उनके चार लड़के हुए। वह राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न, यह चारों लड़के देवताओं के समान सभी शुभलक्षणों से सम्पन्न हैं॥४-५॥

ज्येष्ठो रामः पितुर्वाक्याद्दण्डकारण्यमागतः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सीतया भार्यया सह ॥ ६॥

सबसे बड़े लड़के श्रीरामचन्द्र अपने पिता की आज्ञा से अनुज लक्ष्मण और भार्या सीता के साथ दण्डकारण्य में आये थे। ॥ ६॥

उवास गौतमीतीरे पञ्चवट्यां महामनाः ।
तत्र नीता महाभागा सीता जनकनन्दिनी ॥ ७॥

रहिते रामचन्द्रेण रावणेन दुरात्मना ।
ततो रामोऽतिदुःखार्तो मार्गमाणोऽथ जानकीम् ॥ ८॥

जटायुषं पक्षिराजमपश्यत्पतितं भुवि ।
तस्मै दत्त्वा दिवं शीघ्रमृष्यमूकमुपागमत् ॥ ९॥

वह महामना गौतमी नदी के तट पर पञ्चवटी आश्रम में रहते थे। श्रीरामचन्द्र के न रहने पर उस आश्रम से दुरात्मा रावण महाभागा जानकी को चुराकर ले गया। तदनन्तर अतिशोकाकुल हो भगवान श्रीराम जानकीजी को यत्र-तत्र अन्वेषण करते हुए पृथिवी पर पड़े पक्षिराज जटायु को देखा । और शीघ्र ही उसे दिव्य धाम पर पहुँचा कर वह ऋष्यमूक पर्वत पर आए ॥७-९॥

सुग्रीवहण कृता मैत्री रामस्य विदितात्मनः ।
तद्भार्याहारिणं हत्वा वालिनं रघुनन्दनः ॥ १०॥

वहाँ आकर आत्मदर्शी भगवान् श्रीराम ने सुग्रीव से मित्रता की और उसकी स्त्री का हरण करने वाले दुष्ट वाली का वध कर ॥१०॥

राज्येऽभिषिच्य सुग्रीवं मित्रकार्यं चकार सः ।
सुग्रीवस्तु समानाय्य वानरान् वानरप्रभुः ॥ ११॥

सुग्रीव को राज्यपद पर अभिषिक्त किया। इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी अपने मित्र का कर्य सिद्ध किया। वानरों के प्रभु सुग्रीव सभी वानरों को बुलाकर ॥ ११॥

प्रेषयामास परितो वानरान् परिमार्गणे ।
सीतायास्तत्र चैकोऽहं सुग्रीवसचिवो हरिः ॥ १२॥

सीताजी का अन्वेषण करने के लिये विविध दिशाओं में भेजा। उनमें से सुग्रीव का मन्त्री मैं एक वानर हूँ। ॥ १२॥

सम्पातिवचनाच्छीघ्रमुल्लङ्घ्य शतयोजनम् ।

समुद्रं नगरीं लङ्कां विचिन्वन् जानकीं शुभाम् ॥ १३॥

सम्पाति के कथन से मैं सौ योजन विस्तृत समुद्र को पारकर इस लङ्कापुरी में आया हूँ और सभी जगह यहाँ पर शुभलक्षणा सीताजी को मैंने ढूँढने का प्रयास किया। ॥१३॥

शनैरशोकवनिकां विचिन्वन् शिंशपातरुम् ।
अद्राक्षं जानकीमत्र शोचन्तीं दुःखसम्प्लुताम् ॥ १४॥

धीरे-धीरे अशोक वाटिका में खोजते खोजते इस शिंशपा के वृक्ष को मैंने देखा और यहाँ पर अत्यन्त दुःख से शोक करती हुई श्रीजानकीजी का दर्शन किया। ॥१४॥

रामस्य महिषीं देवीं कृतकृत्योऽहमागतः ।
इत्युक्त्वोपररामाथ मारुतिर्बुद्धिमत्तरः ॥ १५॥

श्रीरामचन्द्रजी की महारानी देवी श्रीजानकीजी के दर्शन से मै कृतकृत्य हो गया। यह कहकर बुद्धिमान श्रीहनुमानजी मौन हो गये ॥१५॥

सीता क्रमेण तत्सर्वं श्रुत्वा विस्मयमाययौ ।
किमिदं मे श्रुतं व्योम्नि वायुना समुदीरितम् ॥ १६॥

क्रमपूर्वक सभी बातों को सुनकर सीताजी को अति विस्मय हुआ और वह लगीं- जो शब्द मैंने आकाश में सुना है, क्या यह वायु द्वारा उच्चरित है? ॥१६॥

स्वप्नो वा मे मनोभ्रान्तिर्यदि वा सत्यमेव तत् ।
निद्रा मे नास्ति दुःखेन जानाम्येतत्कुतो भ्रमः ॥ १७॥

अथवा यह मेरा स्वप्न या मन की भ्रान्ति है ? अथवा मैंने जो सुना है क्या यह सत्य ही है? क्योंकि दुःख के कारण मुझे नींद नहीं आती। परन्तु इन शब्दों को तो मैंने प्रत्यक्ष ही सुना है। अत: यह भ्रम भी नहीं हो सकता ॥१७॥

येन मे कर्णपीयुषं वचनं समुदीरितम् ।
स दृश्यतां महाभागः प्रियवादी ममाग्रतः ॥ १८॥

मेरे कानों को अमृत के समान जिसने इन वाक्यों को सुनाया, वह प्रियवादी महाभाग कृपया मेरे सामने प्रकट हो जाए ॥१८॥

श्रुत्वा तज्जानकीवाक्यं हनुमान् पत्रखण्डतः ।
अवतीर्य शनैः सीतापुरतः समवस्थितः ॥ १९॥

श्रीजानकी जी के यह वचन सुनकर हनुमान जी धीरे-धीरे उस वृक्ष पर से उतर कर श्रीसीताजी के सामने खड़े हो गये ॥१९॥

कलविङ्कप्रमाणाङ्गो रक्तास्यः पीतवानरः ।
ननाम शनकैः सीतां प्राञ्जलिः पुरतः स्थितः ॥ २०॥

उन्होंने उस समय अरुणवदन, पीत वर्ण और कलविक पक्षी के समान आकार वाले वानर के रूप में धीरे से सामने आकर श्रीसीताजी को हाथ जोड़कर प्रणाम किया ॥२०॥

दृष्ट्वा तं जानकी भीता रावणोऽयमुपागतः ।
मां मोहयितुमायातो मायया वानराकृतिः ॥ २१॥

उन्हें देखकर जानकीजी को यह भय हुआ कि मुझे मोहित करने के लिये माया से वानर का रूप धारणकरके शायद रावण ही वापस आया है ॥२१॥

इत्येवं चिन्तयित्वा सा तूष्णिमासीदधोमुखी ।
पुनरप्याह तां सीतां देवि यत्त्वं विशङ्कसे ॥ २२॥

नाहं तथाविधो मातस्त्यज शङ्कां मयि स्थिताम् ।
दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्य परमात्मनः ॥ २३॥

सचिवोऽहं हरीन्द्रस्य सुग्रीवस्य शुभप्रदे ।
वायोः पुत्रोऽहमखिलप्राणभूतस्य शोभने ॥ २४॥

यह सोचकर वे नीचे मुख कर चुपचाप बैठ गयीं। तदनन्तर हनुमानजी बोले- हे देवि! आप जो सन्देह कर रही है, वह मैं नहीं हूँ। हे मातः ! मेरे विषय में अपनी शंका को आप दर कर दें। हे शुभप्रदे! कौशलेन्द्र परमात्मा श्रीरामचन्द्र का मैं दास हूँ और वानरराज सुग्रीव का मै मन्त्री हूँ। तथा हे शोभने ! सम्पूर्ण प्राणियों के प्राणभूत वायु का मै पुत्र हूँ ॥२२-२४॥

तच्छ्रुत्वा जानकी प्राह हनूमन्तं कृताञ्जलिम् ।
वानराणां मनुष्याणां सङ्गतिर्घटते कथम् ॥ २५॥

यह सुनकर हाथ जोड़े हुए खड़े हनुमानजी से जानकीजी बोलीं- वानरों और मनुष्यों की मित्रता कैसे हो सकती है ? ॥ २५॥

यथा त्वं रामचन्द्रस्य दासोऽहमिति भाषसे ।
तामाह मारुतिः प्रीतो जानकीं पुरतः स्थितः ॥ २६॥

परन्तु तुम अपने आप को श्री राम का दास कहते हो, इसका अर्थ है की मिलाप हुआ है। अत: मुझसे समस्त प्रसंग को ठीक ठीक कहो ॥२६॥

ऋष्यमूकमगाद्रामः शबर्या नोदितः सुधीः ।
सुग्रीवो ऋष्यमूकस्थो दृष्टवान् रामलक्ष्मणौ ॥ २७॥

भीतो मां प्रेषयामास ज्ञातुं रामस्य हृद्गतम् ।
ब्रह्मचारिवपुर्धृत्वा गतोऽहं रामसन्निधिम् ॥ २८॥

तब सामने खड़े हुए हनुमानजी प्रसन्न हो श्रीजानकीजी से कहने लगे- शबरी के कहने पर बुद्धिमान भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ऋष्यमूक पर्वत पर आये। उस पर्वत पर बैठे हुए सुग्रीव ने दूर से ही श्रीराम और लक्ष्मण को आते देखकर मन में डरकर मुझे उनके पास उनका आशय जानने के लिये भेजा। तब मैं ब्रह्मचारी वेष धारण कर उनके पास आया ॥२५-२८॥

ज्ञात्वा रामस्य सद्भावं स्कन्धोपरि निधाय तौ ।
नीत्वा सुग्रीवसामीप्यं सख्यं चाकरवं तयोः ॥ २९॥

मैं उनका हृदय शुद्ध समझकर उन्हें अपने कन्धे पर चढ़ाकर सुग्रीव से मित्रता करने के लिये सुग्रीव के पास उन्हें ले गया और दोनों की मित्रता करवा दी ॥२९॥

सुग्रीवस्य हृता भार्या वालिना तं रघूत्तमः ।
जघानैकेन बाणेन ततो राज्येऽभ्यषेचयत् ॥ ३०॥

सुग्रीवं वानराणां स प्रेषयामास वानरान् ।
दिग्भ्यो महाबलान् वीरान् भवत्याः परिमार्गणे ॥ ३१॥

सुग्रीव की पत्नी का वाली ने हरण कर लिया था। श्रीरघुनाथ जी ने एक ही बाण से वाली को मारकर सुग्रीव को वानरों के राज्यपद पर अभिषिक्त कर दिया। तब सुग्रीव ने आपका अन्वेषण करने के लिये महाबलवान् वीर वानरों को अनेक दिशाओं में भेजा ॥३०-३१॥

गच्छन्तं राघवो दृष्ट्वा मामभाषत सादरम् ॥ ३२॥

त्वयि कार्यमशेषं मे स्थितं मारुतनन्दन ।
ब्रूहि मे कुशलं सर्वं सीतायै लक्ष्मणस्य च ॥ ३३॥

मुझे जाते हुए देखकर श्रीरघुनाथजी आदर पूर्वक मुझसे बोले-हे मारुतनन्दन ! मेरा सम्पूर्ण कार्य तुम्हारे ऊपर ही है। तुम लक्ष्मण और मेरा कुशल सीताजी से कहना ॥३२-३३॥

अङ्गुलीयकमेतन्मे परिज्ञानार्थमुत्तमम् ।
सीतायै दीयतां साधु मन्नामाक्षरमुद्रितम् ॥ ३४॥

और मेरे नाम अंकित यह मेरी मुद्रिका पहचान के लिये सावधानी पूर्वक सीता को दे देना ॥३४॥

इत्युक्त्वा प्रददौ मह्यं कराग्रादङ्गुलीयकम् ।
प्रयत्नेन मयानीतं देवि पश्याङ्गुलीयकम् ॥ ३५॥

यह कह कर उन्होंने अपनी अंगूठी उतारकर मुझे दे दी, मैं इसे अति सावधानी पूर्वक यहाँ ले आया हूँ। हे देवि! इस मुद्रिका को आप देखिये ॥३५॥

इत्युक्त्वा प्रददौ देव्यै मुद्रिकां मारुतात्मजः ।
नमस्कृत्य स्थितो दूराद्बद्धाञ्जलिपुटो हरिः ॥ ३६॥

यह कहकर पवनकुमार हनुमानजी उस मुद्रिका को सीताजी को दे दिया और दूर पर हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥३६॥

दृष्ट्वा सीता प्रमुदिता रामनामाङ्कितां तदा ।
मुद्रिकां शिरसा धृत्वा स्रवदानन्दनेत्रजा ॥ ३७॥

राम नाम अंकित उस मुद्रिका को देखकर सीताजी ने प्रमुदित होकर अपने सिर से लगाया तथा अपने नेत्रों से आनन्द अश्रु बहाने लगी ॥३७॥

कपे मे प्राणदाता त्वं बुद्धिमानसि राघवह ।
भक्तोऽसि प्रियकारी त्वं विश्वासोऽस्ति तवैव हि ॥ ३८॥

तत्पश्चात् वे हनुमानजी से बोली-कपिश्रेष्ठ ! तुम मेरे प्राणदाता हो। तुम अति बुद्धिमान्, श्रीरघुनाथजी के भक्त और प्रिय करने वाले हो। तुम पर ही निश्चय रूप से उनका विश्वास है। ॥३८॥

नो चेन्मत्सन्निधिं चान्यं पुरुषं प्रेषयेत्कथम् ।
हनूमन् दृष्टमखिलं मम दुःखादिकं त्वया ॥ ३९॥

नहीं तो पर पुरुष तुमको वह मेरे पास क्यों भेजते ? हे हनुमान् ! मेरे सम्पूर्ण दुःखों को तो तुमने देख ही लिया है ॥३९॥

सर्वं कथय रामाय यथा मे जायते दया ।
मासद्वयावधि प्राणाः स्थास्यन्ति मम सत्तम ॥ ४०॥

मेरी इस सम्पूर्ण दशा का वर्णन तुम श्रीरामचन्द्रजी से करना जिससे मुझ पर उनकी दया उत्पन्न हो। हे सत्तम ! दो मास तक मेरे प्राण स्थित रह सकते हैं ॥४०॥

नागमिष्यति चेद्रामो भक्षयिष्यति मां खलः ।
अतः शीघ्रं कपीन्द्रेण सुग्रीवहण समन्वितः ॥ ४१॥

इसके मध्य ही यदि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी नहीं आये तो यह खल मुझे खा जायेगा। अत एव शीघ्र ही कपीन्द्र सुग्रीव के साथ ॥४१॥

वानरानीकपैः सार्धं हत्वा रावणमाहवह ।
सपुत्रं सबलं रामो यदि मां मोचयेत्प्रभुः ॥ ४२॥

वानर यूथपतियों को लेकर शीघ्र ही रावण को पुत्र और सेना सहित संग्राम में मारकर मुझे मुक्त करें तो यह पुरुषार्थ उत्तम होगा। ॥४२॥

तत्तस्य सदृशं वीर्यं वीर वर्णय वर्णितम् ।
यथा मां तारयेद्रामो हत्वा शीघ्रं दशाननम् ॥ ४३॥

हे हनुमान् ! तुम इस प्रकार वर्णन करना कि शीघ्र ही वे रावण को मारकर मेरा उद्धार करें। ॥४३॥

तथा यतस्व हनुमन् वाचा धर्ममवाप्नुहि ।
हनुमानपि तामाह देवि दृष्टो यथा मया ॥ ४४॥

यह कार्य कर तुम अधिक पुण्य प्राप्त करो। तदनन्तर हनुमानजी श्रीसीताजी से बोले-देवि! मैंने जिस अवस्था में तुम्हे देखा है ॥४४॥

रामः सलक्ष्मणः शीघ्रमागमिष्यति सायुधः ।
सुग्रीवहण ससैन्येन हत्वा दशमुखं बलात् ॥ ४५॥

समानेष्यति देवि त्वामयोध्यां नात्र संशयः ।
तमाह जानकी रामः कथं वारिधिमाततम् ॥ ४६॥

इससे प्रतीत होता है कि लक्ष्मण के सहित श्रीरामचन्द्रजी शीघ्र ही अपने आयुध लेकर सेनायुक्त सुग्रीव के साथ आयेंगे और बलपूर्वक दशानन को मारकर निःसन्देह आपको अयोध्या ले जायेंगे। ॥४५-४६॥

तीर्त्वायास्यत्यमेयात्मा वानरानीकपैः सह ।
हनूमानाह मे स्कन्धावारुह्य पुरुषर्षभौ ॥ ४७॥

तब हनुमानजी से श्रीजानकीजी बोली कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अमेयात्मा (शरीर के मापदण्ड से रहित सर्वव्यापक) हैं; परंतु वानर यूथपतियों के साथ समुद्र को किस प्रकार पारकर यहाँ आयेंगे? यह सुनकर हनुमानजी बोले-वे दोनों पुरुष श्रेष्ठ मेरे कन्धों पर चढ़कर आयेंगे ॥४७॥

आयास्यतः ससैन्यश्च सुग्रीवो वानरेश्वरः ।
विहायसा क्षणेनैव तीर्त्वा वारिधिमाततम् ॥ ४८॥

निर्दहिष्यति रक्षौघांस्त्वत्कृते नात्र संशयः ।
अनुज्ञां देहि मे देवि गच्छामि त्वरयान्वितः ॥ ४९॥

और वानरराज सुग्रीव सेना सहित इस विस्तृत समुद्र को आकाशमार्ग से एक क्षण में पारकर आपके लिये निःसन्देह सभी राक्षसों को भस्म कर देंगे। हे देवि! आप मुझे आज्ञा दें ॥४९॥

द्रष्टुं रामं सह भ्रात्रा त्वरयामि तवान्तिकम् ।
देवि किञ्चिदभिज्ञानं देहि मे येन राघवः ॥ ५०॥

तत्क्षण मैं अनुज सहित भगवान् श्रीराम का दर्शन करने के लिये जाता हूँ और शीघ्र ही उन्हें आपके पास लाने का प्रयास करता हूँ। ॥४०॥

विश्वसेन्मां प्रयत्नेन ततो गन्ता समुत्सुकः ।
ततः किञ्चिद्विचार्याथ सीता कमललोचना ॥ ५१॥

विमुच्य केशपाशान्ते स्थितं चूडामणिं ददौ ।

अनेन विश्वसेद्रामस्त्वां कपीन्द्र सलक्ष्मणः ॥ ५२॥

हे देवि! आप कोई ऐसा चिन्ह मुझे दे दीजिए जिसे देखकर श्रीरघुनाथजी मेरा विश्वास कर सकें। उसे सावधानी पूर्वक लेकर मैं उत्सुकता से उनके पास जाऊँगा। तत्पश्चात् कमललोचना सीताजी कुछ सोच-समझकर अपने केशपाश में स्थित चूड़ामणि को निकाल हनुमानजी को देकर बोलीं-हे कपिवर! इससे श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण तुम्हारा विश्वास कर लेंगे ॥४१-५२॥

अभिज्ञानार्थमन्यच्च वदामि तव सुव्रत ।
चित्रकूटगिरौ पूर्वमेकदा रहसि स्थितः ।
मदङ्के शिर आधाय निद्राति रघुनन्दनः ॥ ५३॥

हे सुव्रत! उन्हें विश्वास दिलाने के लिए मैं अन्य बात भी तुझे बतलाती हूँ। चित्रकूट पर्वत पर एकान्त में एक दिन हमलोग बैठे थे। मेरे गोद में सिर रखकर वह रघुनन्दन सो रहे थे ॥५३॥

ऐन्द्रः काकस्तदागत्य नखैस्तुण्डेन चासकृत् ।
मत्पादाङ्गुष्ठमारक्तं विददारामिषाशया ॥ ५४॥

उसी समय इन्द्र के पुत्र जयन्त ने काकवेष में आकर माँस की ईच्छा से लाल-लाल मेरे पैर के अंगूठे को अपनी चोंच और पंजों से विदीर्ण कर दिया ॥५४॥

ततो रामः प्रबुद्ध्याथ दृष्ट्वा पादं कृतव्रणम् ।
केन भद्रे कृतं चैतद्विप्रियं मे दुरात्मना ॥ ५५॥

जब श्रीरामचन्द्रजी सोकर उठे तब मेरे पैर में घाव देखकर बोले-प्रिये ! किस दुरात्मा ने मेरा यह अप्रिय किया है ? ॥ ५५ ॥

इत्युक्त्वा पुरतोऽपश्यद्वायसं मां पुनः पुनः ।
अभिद्रवन्तं रक्ताक्तनखतुण्डं चुकोप ह ॥ ५६॥

यह कहते हुए ही उन्होंने पुनः उस काक को मेरे तरफ आते हुए देखा। उसकी चोंच और पजों पर खून लगा हुआ था। उसे देखकर श्रीरघुनाथजी अति क्रोधित हुए ॥ ५६ ॥

तृणमेकमुपादाय दिव्यास्त्रेणाभियोज्य तत् ।
चिक्षेप लीलया रामो वायसोपरि तज्ज्वलन् ॥ ५७॥

अभ्यद्रवद्वायसश्च भीतो लोकान् भ्रमन् पुनः ।
इन्द्रब्रह्मादिभिश्चापि न शक्यो रक्षितुं तदा ॥ ५८॥

रामस्य पादयोरग्रेऽपतद्भीत्या दयानिधेः ।
शरणागतमालोक्य रामस्तमिदमब्रवीत् ॥ ५९॥

उन्होंने एक तृण उठाकर उसे दिव्यास्त्र से अभिमन्त्रित किया कर और उस प्रज्ज्वलित अस्त्र को उस कौवे के ऊपर लीला से ही फेंक दिये। तत्पश्चात् भयभीत होकर वह कौवा त्रैलोक्य में दौड़ता फिरा, परन्तु इन्द्र, ब्रह्मा आदि भी जब कोई भी उसकी रक्षा नहीं कर पाया, तब वह डरकर वापस दयानिधान श्रीरामचन्द्र के चरणों में आ पड़ा। उस शरणागत को देखकर श्रीरामचन्द्रजी इस प्रकार बोले ॥ ५७-५९ ॥

अमोघमेतदस्त्रं मे दत्वैकाक्षिमितो व्रज ।
सव्यं दत्त्वा गतः काक एवं पौरुषवानपि ॥ ६०॥

उपेक्षते किमर्थं मामिदानीं सोऽपि राघवः ।
हनूमानपि तामाह श्रुत्वा सीतानुभाषितम् ॥ ६१॥

देवि त्वां यदि जानाति स्थितामत्र रघूत्तमः ।
करिष्यति क्षणाद्भस्म लङ्कां राक्षसमण्डिताम् ॥ ६२॥

मेरा यह अमोघ अस्त्र है। अत: तुम अपना एक नेत्र देकर यहाँ से चले जाओ। तब वह कौवा अपनी बायीं आँख देकर वहाँ से चला गया। इस प्रकार के पुरुषार्थी भगवान् श्रीरघुनाथ जी न जाने इस समय मेरी उपेक्षा क्यों कर रहे हैं ? श्रीसीताजी का यह कथन सुनकर श्रीहनुमानजी बोले-देवि ! यदि रघूत्तम भगवान को तुम्हें यहाँ रहने का पता चलेगा तो राक्षसों से सुसजित इस लंका को क्षण भर में ही वे भस्म कर देंगे॥६०-६२ ॥

जानकी प्राह तं वत्स कथं त्वं योत्स्यसेऽसुरैः ।
अतिसूक्ष्मवपुः सर्वे वानराश्च भवादृशाः ॥ ६३॥

तब श्रीजानकीजी ने कहा-वत्स ! यदि तुम्हारे जैसे ही अति सूक्ष्म शरीरवाले अन्य सभी वानरगण हैं तो राक्षसों के साथ कैसे लड़ सकते हैं ? ॥ ६३॥

श्रुत्वा तद्वचनं देव्यै पूर्वरूपमदर्शयत् ।
मेरुमन्दरसङ्काशं रक्षोगणविभीषणम् ॥ ६४॥

देवी श्रीजानकीजी का यह कथन सुनकर हनुमानजी अपना पूर्व रूप प्रकट किया जो सुमेरु और मन्दराचल पर्वत के समान अति विशाल और राक्षसों को भय उत्पन्न करने वाला था ॥ ६४॥

दृष्ट्वा सीता हनुमन्तं महापर्वतसन्निभम् ।
हर्षेण महताविष्टा प्राह तं कपिकुञ्जरम् ॥ ६५॥

समर्थोऽसि महासत्त्व द्रक्ष्यन्ति त्वां महाबलम् ।
राक्षस्यस्ते शुभः पन्था गच्छ रामान्तिकं द्रुतम् ॥ ६६॥

पर्वत के समान विशालकाय श्रीहनुमानजी को देखकर सीताजी को अत्यधिक आनन्द हुआ और वे कपिश्रेष्ठ हनुमानजी से बोली-हे महासत्त्व ! तुम महाबलशाली और अति सामर्थ्यवान् हो; तुम शीघ्र ही श्रीरामचन्द्रजी के पास चले जाओ, तुम्हारा मार्ग कल्याणमय हो; नहीं तो तुम्हें राक्षसियाँ देख लेंगी ॥ ६५-६६ ॥

बुभुक्षितः कपिः प्राह दर्शनात्पारणं मम ।
भविष्यति फलैः सर्वैस्तव दृष्टौ स्थितैर्हि मे ॥ ६७॥

यह सुनकर बुभुक्षित श्रीहनुमानजी जानकीजी से बोले- मै आपका दर्शन कर चुका। अब आपके सामने लगे फलों से मेरा पारण होगा ॥६७ ॥

तथेत्युक्तः स जानक्या भक्षयित्वा फलं कपिः ।
ततः प्रस्थापितोऽगच्छज्जानकीं प्रणिपत्य सः ।
किञ्चिद्दूरमथो गत्वा स्वात्मन्येवान्वचिन्तयत् ॥ ६८॥

कार्यार्थमागतो दूतः स्वामिकार्याविरोधतः ।
अन्यत्किञ्चिदसम्पाद्य गच्छत्यधम एव सः ॥ ६९॥

श्रीजानकीजी के "जैसे तुम्हारी इच्छा" यह कहने पर कपिवर हनुमानजी ने फल खाये और श्रीजानकीजी से विदा हो उन्हें प्रणाम कर प्रस्थान किया । परन्तु कुछ दूर आने पर उन्होंने मन में विचार किया ये कि अपने स्वामी के कार्य के लिए आया दूत स्वामी के कार्य में विरोध करनेवाले के प्रति कुछ विरोध न करे और चुप-चाप चला जाय तो वह दूत अधम कहा जाता है ॥६८-६९॥

अतोऽहं किञ्चिदन्यच्च कृत्वा दृष्ट्वाथ रावणम् ।
सम्भाष्य च ततो रामदर्शनार्थं व्रजाम्यहम् ॥ ७०॥

अत: मैं कुछ और कार्य करके रावण को देखकर और उससे बातचीत करके श्रीरघुनाथजी के दर्शन के लिए जाऊँगा ॥ ७०॥

इति निश्चित्य मनसा वृक्षखण्डान् महाबलः ।
उत्पाट्याशोकवनिकां निर्वृक्षामकरोत्क्षणात् ॥ ७१॥

मनमें यह निश्चय कर महाबली हनुमान जी ने वृक्षों को उखाड़कर क्षण भर में ही उस अशोक वाटिका को वृक्ष हीन कर दिया ॥ ७१॥

सीताऽऽश्रयनगं त्यक्त्वा वनं शून्यं चकार सः ।
उत्पाटयन्तं विपिनं दृष्ट्वा राक्षसयोषितः ॥ ७२॥

अपृच्छन् जानकीं कोऽसौ वानराकृतिरुद्भटः ॥७३॥

सीताजी के आश्रय वाले उस शिंशपा के वृक्ष को छोड़कर सम्पूर्ण वन को उन्होंने वृक्ष हीन कर दिया। उन्हें वन को उजाड़ते देख कर राक्षसियों ने श्रीजानकीजी से पूछा कि यह वानराकार उद्भट वीर कौन है ॥ ७२-७३ ॥

जानक्युवाच ।
भवत्य एव जानन्ति मायां राक्षसनिर्मिताम् ।
नाहमेनं विजानामि दुःखशोकसमाकुला ॥ ७४॥

जानकी जी बोलीं-राक्षसी माया को तो आप ही जान सकती हैं। दुःख शोक से व्याकुल मै इसे नहीं जानती ॥ ७४॥

इत्युक्तास्त्वरितं गत्वा राक्षस्यो भयपीडिताः ।
हनूमता कृतं सर्वं रावणाय न्यवेदयन् ॥ ७५॥

यह कहने पर भय से पीडित होकर राक्षसियाँ ने रावण के पास जाकर हनुमानजी द्वारा किये गये सारे कृत्यों को सुनाया ॥ ७५॥

देव कश्चिन्महासत्त्वो वानराकृतिदेहभृत् ।
सीतया सह सम्भाष्य ह्यशोकवनिकां क्षणात् ।
उत्पाट्य चैत्यप्रासादं बभञ्जामितविक्रमः ॥ ७६॥

राक्षसियां बोली-देव ! एक बड़ा पराक्रमी वानराकार वाला प्राणी सीताजी से सम्भाषण कर क्षणभर में ही अशोक वाटिका को उजाड़ दिया है। ॥ ७६॥

प्रासादरक्षिणः सर्वान् हत्वा तत्रैव तस्थिवान् ।

तच्छ्रुत्वा तूर्णमुत्थाय वनभङ्गं महाऽप्रियम् ॥ ७७॥

उस पराक्रमी वानर ने मन्दिर के प्रासाद को भी ध्वस्त कर दिया है और उसके रक्षक सभी राक्षसों को मार इस समय वह वहीं बैठा है। "वन उजाड़ा गया" यह महान् अप्रिय समाचार सुनकर रावण शीघ्र उठा ॥ ७७॥

किङ्करान् प्रेषयामास नियुतं राक्षसाधिपः ।
निभग्नचैत्यप्रासादप्रथमान्तरसंस्थितः ॥ ७८॥

हनुमान् पर्वताकारो लोहस्तम्भकृतायुधः ।
किञ्चिल्लाङ्गूलचलनो रक्तास्यो भीषणाकृतिः ॥ ७९॥

और वह राक्षसाधिप अपने दस लाख सेवकों को भेजा। इधर पर्वताकार श्रीहनुमानजी लौह स्तम्भों को अपने आयुध के रूप में लेकर टूटे हुए मन्दिर के प्रथम भाग में बैठे थे। उनका मुख अरुणवर्ण और आकृति भयावनी थी तथा उनकी पूँछ कुछ हिल रही थी ॥ ७८-७९ ॥

आपतन्तं महासङ्घं राक्षसानां ददर्श सः ।
चकार सिंहनादं च श्रुत्वा ते मुमुहुर्भृशम् ॥ ८०॥

हनुमान जी ने राक्षसों के महा समूह को आते हुए देखकर घोर सिंहनाद किया, जिसे सुनकर सभी राक्षसगण स्तब्ध रह गये ॥ ८० ॥

हनुमन्तमथो दृष्ट्वा राक्षसा भीषणाकृतिम् ।
निर्जघ्नुर्विविधास्त्रौघैः सर्वराक्षसघातिनम् ॥ ८१॥

और उस राक्षसघाती भीषणा कृति हनुमानजी को देखकर वह सभी राक्षस उनके ऊपर अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र छोड़ने लगे ॥ ८१॥

तत उत्थाय हनुमान् मुद्गरेण समन्ततः ।
निष्पिपेष क्षणादेव मशकानिव यूथपः ॥ ८२॥

तब यूथपति गजराज जिस प्रकार मच्छरों को मसलता है, उसी प्रकार हनुमान जी उठकर अपने मुद्गर से क्षणमात्र में ही चारों ओर से उन्हें मसल डाले ॥ ८२ ॥

निहतान् किङ्करान् श्रुत्वा रावणः क्रोधमूर्च्छितः ।
पञ्च सेनापतींस्तत्र प्रेषयामास दुर्मदान् ॥ ८३॥

रावण अपने सेवकों को मरा हुआ सुन कर क्रोध से मूर्छित हो गया तथा उसने हनुमानजी से युद्ध के लिए वहाँ पर पाँच उद्भट सेनापतियों को उनकी सेनाओं के साथ भेजा ॥ ८३॥

हनूमानपि तान् सर्वांल्लोहस्तम्भेन चाहनत् ।
ततः क्रुद्धो मन्त्रिसुतान् प्रेषयामास सप्त सः ॥ ८४॥

हनुमानजी ने उन सभी को भी अपने लौहस्तम्भ से मार डाला । यह सुनकर रावण ने अतिक्रोधित होकर अपने सात मन्त्री पुत्रों को युद्ध के लिए भेजा ॥ ८४ ॥

आगतानपि तान् सर्वान् पूर्ववद्वानरेश्वरः ।
क्षणान्निःशेषतो हत्वा लोहस्तम्भेन मारुतिः ॥ ८५॥

उन्हें आते देखकर हनुमानजी ने क्षणमात्र में ही अपने लौह स्तम्भ से पूर्ववत उन सभी को भी मार दिये ॥८५॥

पूर्वस्थानमुपाश्रित्य प्रतीक्षन् राक्षसान् स्थितः ।
ततो जगाम बलवान् कुमारोऽक्षः प्रतापवान् ॥ ८६॥

और अपने पूर्वस्थान में ही स्थित होकर अन्य राक्षसों को आने की प्रतीक्षा करने लगे। तत्पश्चात् बलवान् और अति प्रतापी अक्षयकुमार युद्ध की इच्छा से वहां आया ॥८६॥

तमुत्पपात हनुमान् दृष्ट्वाकाशे समुद्गरः ।
गगनात्त्वरितो मूर्ध्नि मुद्गरेण व्यताडयत् ॥ ८७॥

हत्वा तमक्षं निःशेषं बलं सर्वं चकार सः ॥ ८८॥

उसे देखकर हनुमानजी आकाश में उड़े और आकाश से ही बड़े वेग से अपनी गदा से उसके सिर पर प्रहार किया। उस अक्षयकुमार को मार हनुमान जी ने उसकी समस्त सेना का भी संहार कर दिये ॥८७-८८॥

ततः श्रुत्वा कुमारस्य वधं राक्षसपुङ्गवः ।
क्रोधेन महताविष्ट इन्द्रजेतारमब्रवीत् ॥ ८९॥

पुत्र गच्छाम्यहं तत्र यत्रास्ते पुत्रहा रिपुः ।
हत्वा तमथवा बद्ध्वा आनयिष्यामि तेऽन्तिकम् ॥९०॥

जब उस राक्षसाधिप रावण ने अक्षयकुमार के वध का समाचार सुना तो वह अतिक्रोधित होकर इन्द्रजीत से बोला-पुत्र ! मैं अपने पुत्र के शत्रु के पास जाता हूँ। उसे मारकर अथवा बाँधकर तुम्हारे समीप मैं ले आऊँगा ॥ ८९-९० ॥

इन्द्रजित्पितरं प्राह त्यज शोकं महामते ।
मयि स्थिते किमर्थं त्वं भाषसे दुःखितं वचः ॥ ९१॥

तब इन्द्रजित अपने पिता रावण से कहा -हे महामते ! आप शोक न करें, मेरे रहते आप इस प्रकार की दुःखमय बातें क्यों कह रहे हैं ॥ ९१ ॥

बद्ध्वाऽऽनेष्ये द्रुतं तात वानरं ब्रह्मपाशतः ।
इत्युक्त्वा रथमारुह्य राक्षसैर्बहुभिर्वृतः ॥ ९२॥

जगाम वायुपुत्रस्य समीपं वीरविक्रमः ।
ततोऽतिगर्जितं श्रुत्वा स्तम्भमुद्यम्य वीर्यवान् ॥ ९३॥

उस वानर को ब्रह्मपाश में बाँधकर शीघ्र ही मैं लाता हूँ। यह कह कर वह महापराक्रमी वीर रथ पर सवार होकर बहुत राक्षसों के साथ लेकर पवनपुत्र हनुमानजी के पास पहुँचा। ॥ ९२-९३॥

उत्पपात नभोदेशं गरुत्मानिव मारुतिः ।
ततो भ्रमन्तं नभसि हनूमन्तं शिलीमुखैः ॥ ९४॥

तब भयङ्कर सिंहनाद सुनकर वीर्यवान हनुमानजी हाथ में लौहस्तम्भ लेकर गरुण के समान अकाश में उड़ गये। ॥ ९४॥

विद्ध्वा तस्य शिरोभागमिषुभिश्चाष्टभिः पुनः ।
हृदयं पादयुगलं षड्भिरेकेन वालधिम् ॥ ९५॥

भेदयित्वा ततो घोरं सिंहनादमथाकरोत् ।
ततोऽतिहर्षाद्धनुमान् स्तम्भमुद्यस्य वीर्यवान् ॥ ९६॥

उन्हें आकाश में उड़ते हुए देखकर इन्द्रजीत मेघनाद ने अपने आठ बाणों से उनके सिर, छः बाणों से हृदय, दो बाणों से दोनों चरण और एक बाण से उनके पूँछ को बेध कर सिंहनाद करने लगा। ॥९५ - ९६॥

जघान सारथिं साश्वं रथं चाचूर्णयत्क्षणात् ।
ततोऽन्यं रथमादाय मेघनादो महाबलः ॥ ९७॥

तत्पश्चात् महाबली हनुमानजी ने अतिप्रसन्न होकर स्तम्भ उठाकर क्षणमात्र में ही इन्द्रजित के सारथी को मार दिये तथा घोड़ों सहित उसके रथ को भी चूर्ण-चूर्ण कर दिया । ॥९७॥

शीघ्रं ब्रह्मास्त्रमादाय बद्ध्वा वानरपुङ्गवम् ।
निनाय निकटं राज्ञो रावणस्य महाबलः ॥ ९८॥

तब बलवान् मेघनाद ने दूसरे रथपर शीघ्र ही सवार होकर वानर श्रेष्ठ हनुमानजी को ब्रह्मपाश से बाँध लिया तथा उन्हें राक्षसाधिप रावण के पास ले गया ॥ ९२-९८॥

यस्य नाम सततं जपन्ति यहऽज्ञानकर्मकृतबंधनं क्षणात् ।
सद्य एव परिमुच्य तत्पदं यान्ति कोटिरविभासुरं शिवम् ॥ ९९॥

तस्यैव रामस्य पदाम्बुजं सदा हृत्पद्ममध्ये सुनिधाय मारुतिः ।
सदैव निर्मुक्तसमस्तबन्धनः किं तस्य पाशैरितरैश्च बन्धनैः ॥१००॥

भक्तजन जिनके नाम का निरन्तर जप करके क्षण भर में ही अज्ञान जनित बन्धन से मुक्त होकर, कोटि सूर्य के समान प्रकाशमान परमल्याणमय उनके परमपद को तत्क्षण प्राप्त करते हैं, उन्हीं भगवान् श्रीरामचन्द्रजी का चरणारविन्द सतत अपने हृत्कमल में धारण करने से हमेशा सभी बन्धनों से जो मुक्त है, उसे ब्रह्मपाश अथवा किसी प्रकार के बन्धन से क्या हानि हो सकती है ? ॥९९-१००॥।

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे सुन्दरकाण्डे
तृतीयः सर्गः ॥ ३॥

॥ चतुर्थः सर्गः ॥

हनुमान और रावण का संवाद तथा लंका दहन

श्रीमहादेव उवाच ।

यान्तं कपीन्द्रं धृतपाशबन्धनं विलोकयन्तं नगरं विभीतवत् ।
अताडयन्मुष्टितलैः सुकोपनाः पौराः समन्तादनुयान्त ईक्षितुम् ॥१॥

श्रीमहादेवजी बोले- ब्रह्मपाश से बँधे हुए कपीन्द्र हनुमानजी डरे हुए की भाँति जब नगर देखते हुए जा रहे थे, उस समय हनुमानजी को देखने के लिये यत्र-तत्र से इकट्ठे हुए नगरवासी उनके चारो तरफ घेरकर चलते हुए उन्हें क्रोधपूर्वक हाथों से मारने लगे॥१॥

ब्रह्मास्त्रमेनं क्षणमात्रसङ्गमं कृत्वा गतं ब्रह्मवरेण सत्वरम् ।
ज्ञात्वा हनूमानपि फल्गुरज्जुभिर्धृतो ययौ कार्यविशेषगौरवात् ॥२॥

ब्रह्माजी के वर से शीघ्र ही ब्रह्मास्त्र हनुमानजी को क्षणमात्र के लिए स्पर्शकर परावर्तित हो गया, परन्तु अपना विशेष कार्य सम्पादन करने के लिए हनुमानजी जानते हुए भी साधारण रस्सी से बँधकर रावण के पास गये ॥ २॥

सभान्तरस्थस्य च रावणस्य तं पुरो निधायाह बलारिजित्तदा ।
बद्धो मया ब्रह्मवरेण वानरः समागतोऽनेन हता महासुराः ॥ ३॥

तत्पश्चात् इन्द्रजित हनुमानजी को सभा में स्थित रावण के सामने ले जाकर बोला-मै ब्रह्माजी के वर के प्रभाव से इस वानर को बाँधकर लाया हूँ; इसने हमारे अतिबलशाली वीर राक्षसों का वध किया है ॥३॥

यद्युक्तमत्रार्य विचार्य मन्त्रिभिर्विधीयतामेष न लौकिको हरिः ।
ततो विलोक्याह स राक्षसेश्वरः प्रहस्तमग्रे स्थितमञ्जनाद्रिभम् ॥४॥

अपने मन्त्रियों से विचार कर जैसा उचित हो वैसा विधान करें, यह साधारण वानर नहीं है। यह सुनकर राक्षसेश्वर रावण अपने सामने बैठे हुए कज्जल पर्वत के समान कृष्णवर्ण प्रहस्त से बोला ॥ ४॥

प्रहस्त पृच्छैनमसौ किमागतःकिमत्र कार्यं कुत एव वानरः ।
वनं किमर्थं सकलं विनाशितं हताः किमर्थं मम राक्षसा बलात् ॥५॥

प्रहस्त ! इससे पूछो कि यह यहाँ क्यों आया है ? यहाँ इसका क्या कार्य है ? यह कहाँ से आया है ? किसलिये इसने मेरा सारा वन उजाड़ा ! तथा मेरे राक्षस वीरों को बलपूर्वक मारा ? ॥ ५॥

ततः प्रहस्तो हनुमन्तमादरात् पप्रच्छ केन प्रहितोऽसि वानर ।
भयं च ते मास्तु विमोक्ष्यसे मया सत्यं वदस्वाखिलराजसन्निधौ ॥६॥

तत्पश्चात् प्रहस्त ने हनुमानजी से आदर पूर्वक कहा- वानर! तुम्हें किसने भेजा है ? तुम्हे किसी प्रकार का भय नहीं है, तुम अखिलेश्वर रावण के समीप सत्य बात बतला दो, मैं तुम्हे छुडवा दूंगा ॥ ६॥

ततोऽतिहर्षात्पवनात्मजो रिपुं निरीक्ष्य लोकत्रयकण्टकासुरम् ।
वक्तुं प्रचक्रे रघुनाथसत्कथां क्रमेण रामं मनसा स्मरन्मुहुः ॥ ७॥

शृणु स्फुटं देवगणाद्यमित्र हे रामस्य दूतोऽहमशेषहृत्स्थितेः ।
यस्याखिलेशस्य हृताधुना त्वया भार्या स्वनाशाय शुनेव सद्धविः ॥८॥

तदनन्तर पवनकुमार हनुमानजी अति हर्षित हो लोकत्रय कण्टक अपने शत्रु राक्षसेन्द्र रावण को देखकर बारम्बार अपने हृदय में श्रीरामचन्द्रजी का स्मरण करते हुए, यथाक्रम श्रीरघुनाथजी की सुन्दर कथा कहना प्रारम्भ की। हनुमानजी कहने लगे-हे देवगणादि के शत्रु ! तुम साफ-साफ सुनो, कुत्ते द्वारा हवि को चुराये जाने की भाँति तू अपना सर्वनाश कराने हेतु जिन अखिलेश्वर की भार्या को हरण कर लाया है, उन्हीं सर्वान्तर्यामी भगवान् श्रीराम का मैं दूत हूँ॥७-८॥

स राघवोऽभ्येत्य मतङ्गपर्वतं सुग्रीवमैत्रीमनलस्य सन्निधौ ।
कृत्वैकबाणेन निहत्य वालिनं सुग्रीवमेवाधिपतिं चकार तम् ॥९॥

राघव ने मातङ्गपर्वत पर आकर अग्नि को साक्षी मानकर सुग्रीव से मित्रता की और एक ही बाण से वाली को मारकर सुग्रीव को वानरों का राजा बना दिया ॥ ५॥

स वानराणामधिपो महाबली महाबलैर्वानरयूथकोटिभिः ।
रामेण सार्धं सह लक्ष्मणेन भोः प्रवर्षणेऽमर्षयुतोऽवतिष्ठते ॥ १०॥

हे रावण ! वह वानरों का अधिपति महाबली सुग्रीव और करोड़ों महाबलवान् वानर शूरवीर वानरयूथों के साथ श्रीराम और लक्ष्मण सहित अति क्रोधित हुए प्रवर्षण पर्वत पर स्थित हैं ॥ १० ॥

सञ्चोदितास्तेन महाहरीश्वरा धरासुतां मार्गयितुं दिशो दश ।
तत्राहमेकः पवनात्मजः कपिः सीतां विचिन्वन् शनकैः समागतः ॥
११॥

उन्होंने जानकीजी का अन्वेषण करने के लिये दसों दिशाओं में अति उद्भट वानरेश्वरों को भेजा है। उनमें मैं पवनकुमार एक वानर धीरे-धीरे सीताजी का अन्वेषण करने के लिये यहाँ आया हूँ ॥ ११॥

दृष्टा मया पद्मपलाशलोचना सीता कपित्वाद्विपिनं विनाशितम् ।
दृष्ट्वा ततोऽहं रभसा समागतान् मां हन्तुकामान् धृतचापसायकान् ॥
१२॥

मया हतास्ते परिरक्षितं वपुः प्रियो हि देहोऽखिलदेहिनां प्रभो ।
ब्रह्मास्त्रपाशेन निबध्य मां ततः समागमन्मेघनिनादनामकः ॥१३॥

मैंने कमललोचना श्रीसीताजी का दर्शन किया और वानर स्वभाव के कारण वन को उजाड़ा, तथा मुझे मारने के लिये धनुष-बाण लेकर अतिवेग से आते हुए राक्षसों को देखकर मैंने उन्हें अपने शरीर की रक्षा के लिए मारा; क्योंकि हे राजन् ! सभी देहधारियों को अपना शरीर प्यारा होता है। तत्पश्चात् मेघनाद नामक यह राक्षस ब्रह्मपाश में बाँधकर मुझे यहाँ लाया है ॥ १२-१३ ॥

स्पृष्ट्वैव मां ब्रह्मवरप्रभावतः त्यक्त्वा गतं सर्वमवैमि रावण ।
तथाप्यहं बद्ध इवागतो हितं प्रवक्तुकामः करुणारसार्द्रधीः ॥१४॥

हे रावण! यह मै जानता हूँ कि ब्रह्माजी के वरदान से ब्रह्मास्त्र मुझे स्पर्श करते ही चला गया, परन्तु करुणाद्रहृदय से मैं तुम्हारे कल्याण की बात बताने के लिये बँधे हुए के समान यहाँ चला आया ॥ १४

विचार्य लोकस्य विवहकतो गतिंन राक्षसीं बुद्धिमुपैहि रावण ।
दैवीं गतिं संसृतिमोक्षहैतुकीं समाश्रयात्यन्तहिताय देहिनः ॥ १५॥

हे रावण! तुम विचार पूर्वक संसार की गति का चिन्तन करो, राक्षसी बुद्धि का त्याग कर भव-बन्ध विमोचिनी प्राणियों की अत्यन्त हित करने वाली देवी गति का आश्रय लो ॥ १५ ॥

त्वं ब्रह्मणो ह्युत्तमवंशसम्भवः पौलस्त्यपुत्रोऽसि कुबेरबान्धवः ।
देहात्मबुद्ध्यापि च पश्य राक्षसो नास्यात्मबुद्ध्या किमु राक्षसो नहि ॥ १६॥

तु ब्रह्माजी के उत्तमवंश में उत्पन्न हो और पुलस्त्य ऋषि के पौत्र तथा विश्वश्रवा के पुत्र और कुबेर के भाई हो। अत: तुम विचार करो कि देहात्मबुद्धि से भी तुम राक्षस नहीं हो और तो क्या ही कहना ? ॥ १६ ॥

शरीरबुद्धीन्द्रियदुःखसन्ततिः न ते न च त्वं तव निर्विकारतः ।
अज्ञानहेतोश्च तथैव सन्ततेः असत्त्वमस्याः स्वपतो हि दृश्यवत् ॥ १७॥

शरीर, बुद्धि, इन्द्रियाँ और दुःखादि सब न तुम्हारे हैं और न स्वयं यह सब तुम हो; तुम तो सर्वथा निर्विकार हो, अज्ञान ही इन सबका कारण है और स्वप्न में दृश्यजगत के समान ये सब असत् हैं ॥ १७ ॥

इदं तु सत्यं तव नास्ति विक्रिया विकारहेतुर्न च तेऽद्वयत्वतः ।
यथा नभः सर्वगतं न लिप्यते तथा भवान् देहगतोऽपि सूक्ष्मकः ।
देहेन्द्रियप्राणशरीरसङ्गतः त्वात्मेति बुद्ध्वाखिलबन्धभाग्भवहत् ॥
१८॥

यह तो सत्य है कि तुम्हारे आत्म स्वरूप में कोई विकार नहीं है। क्योंकि अद्वितीय होने से आत्म-स्वरूप में विकार का कोई कारण ही नहीं है। आकाश सर्वत्र विद्यमान होने पर भी पदार्थों के गुणदोष से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार देह में स्थित होकर भी तू सूक्ष्मरूप होने से उनके सुख-दुःखादि षड्विकारों से लिप्त नहीं होता। देह, इन्द्रिय, प्राण, और शरीर के साथ आत्मा है इस तरह की बुद्धि सम्पूर्ण बन्धनों का कारण होती है ॥ १८ ॥

चिन्मात्रमेवाहमजोऽहमक्षरो ह्यानन्दभावोऽहमिति प्रमुच्यते ।
देहोऽप्यनात्मा पृथिवीविकारजो न प्राण आत्माऽनिल एष एव सः ॥
१९॥

तथा चिन्मात्र, कभी जन्म न लेने वाला, अविनाशी आनन्दस्वरूप मैं हूँ, इस बुद्धि से जीव मुक्त हो जाता है। यह शरीर पृथ्वी का विकार अर्थात पार्थिव होने से आत्मा नहीं है ॥ १९ ॥

मनोऽप्यहङ्कारविकार एव नो न चापि बुद्धिः प्रकृतेर्विकारजा ।
आत्मा चिदानन्दमयोऽविकारवान् देहादिसङ्घाद्व्यतिरिक्त ईश्वरः ॥
२०॥

अहंकार का कार्य मन अथवा प्रकृति से सम्भूत बुद्धि भी आत्मा नहीं है। आत्मा तो चिदानन्दस्वरूप, अविकारी तथा देहादि सहयाता से पृथक उसका ईश्वर है ॥२०॥

निरञ्जनो मुक्त उपाधितः सदा ज्ञात्वैवमात्मानमितो विमुच्यते ।
अतोऽहमात्यन्तिकमोक्षसाधनं वक्ष्ये शृणुष्वावहितो महामते ॥२१॥

वह निरञ्जन और सर्वदा उपाधि से मुक्त है। आत्मा का इस प्रकार ज्ञान होते ही प्राणी संसार से मुक्त हो जाता है। अत: हे महामते! तुम सावधान होकर सुनो-मै तूझे आत्यन्तिक मोक्ष का साधन बतलाता हूँ॥ २१॥

विष्णोर्हि भक्तिः सुविशोधनं धियः ततो भवहज्ज्ञानमतीव निर्मलम् ।
विशुद्धतत्त्वानुभवो भवहत्ततः सम्यग्विदित्वा परमं पदं व्रजेत् ॥२२॥

भगवान् विष्णु की भक्ति बुद्धि को शुद्ध करने वाली होती है। तब निर्मल ज्ञान प्राप्त होता है। तदनन्तर विशुद्ध आत्मतत्त्व का अनुभव होता है और सब कुछ ज्ञान होने के बाद प्राणी परम पद को प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

अतो भजस्वाद्य हरिं रमापतिं रामं पुराणं प्रकृतेः परं विभुम् ।
विसृज्य मौर्ख्यं हृदि शत्रुभावनां भजस्व रामं शरणागतप्रियम् ।
सीतां पुरस्कृत्य सपुत्रबान्धवो रामं नमस्कृत्य विमुच्यसे भयात् ॥२३॥

अत: प्रकृति से परे, पुराण पुरुष, सर्वव्यापक, आदि नारायण, लक्ष्मीपति, हरि, रमापति भगवान् श्रीराम का तुम भजन करो। तथा अपने हृदय में शत्रु भावना रूपी मूर्खता को छोड़कर शरणागत प्रिय

श्रीराम का भजन करो। अपने पुत्र बन्धुओं के साथ सीताजी को आगे कर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी की शरण में जाकर उन्हें नमस्कार करो। इससे तुम भय से मुक्त हो जाओगे २३॥

रामं परात्मानमभावयन् जनो भक्त्या हृदिस्थं सुखरूपमद्वयम् ।
कथं परं तीरमवाप्नुयाज्जनो भवाम्बुधेर्दुःखतरङ्गमालिनः ॥ २४॥

अपने हृदय में विद्यमान अद्वितीय सुखरूप परमात्मा राम की भक्ति पूर्वक जो प्राणी ध्यान नहीं करता वह दुःख तरंगो वाले इस अपार संसार सागर से कैसे पार हो सकता है ? ॥ २४ ॥

नो चेत्त्वमज्ञानमयेन वह्निना ज्वलन्तमात्मानमरक्षितारिवत् ।
नयस्यधोऽधः स्वकृतैश्च पातकैः विमोक्षशङ्का न च ते भविष्यति
॥२५॥

यदि तुम भगवान् का भजन नहीं करोगे तो अज्ञानरूपी अग्नि से जलते हुए अपने आपको शत्रु की भाँति सुरक्षित नहीं रख सकोगे और अपने किए हुए पापकर्मों से उत्तरोत्तर अधःपतन की ओर अपने को ले जाओगे, ऐसा होने पर तुम्हारे मोक्ष की सम्भावना ही नहीं रहेगी ॥ २५ ॥

श्रुत्वामृतास्वादसमानभाषितं तद्वायुसूनोर्दशकन्धरोऽसुरः ।
अमृष्यमाणोऽतिरुषा कपीश्वरं जगाद रक्तान्तविलोचनो ज्वलन्
॥२६॥

अमृत के समान सुमधुर पवनसुत हनुमानजी के इस भाषण को सुनकर राक्षस रावण उसे सहन नहीं कर सका और अति क्रोधित

होकर क्रोध से आँखें लाल-लाल कर मन ही भन जलता हुआ हनुमानजी से बोला ॥ २६ ॥

कथं ममाग्रे विलपस्यभीतवत् प्लवङ्गमानामधमोऽसि दुष्टधीः ।
क एष रामः कतमो वनेचरो निहन्मि सुग्रीवयुतं नराधमम् ॥ २७॥

दुष्ट बुद्धि वाले ! तू वानरों में अधम है। मेरे सामने निडर के समान प्रलाप तू कैसे कर रहा है ? वह राम और वनचर सुग्रीव कौन है। सुग्रीव के साथ उस नराधम को मै ही मार दूंगा ॥ २७ ॥

त्वां चाद्य हत्वा जनकात्मजां ततो निहन्मि रामं सहलक्ष्मणं ततः ।
सुग्रीवमग्रे बलिनं कपीश्वरं सवानरं हन्म्यचिरेण वानर ।
श्रुत्वा दशग्रीववचः स मारुतिः विवृद्धकोपेन दहन्निवासुरम् ॥२८॥

हे वानर !आज तुझे मैं मारकर जनकात्मजा सीता को मारूँगा, और उसके बाद लक्ष्मणसहित राम को मारूंगा। इसके पहले अति बली वानरराज सुग्रीव को वानर सेना सहित शीघ्र ही मारूँगा। उस दशानन रावण का यह कथन सुनकर अपने अतिक्रोध से उसे जलाते हुए के समान पवनसुत बोले-॥ २८ ॥

न मे समा रावणकोटयोऽधम रामस्य दासोऽहमपारविक्रमः ।
श्रुत्वातिकोपेन हनूमतो वचो दशाननो राक्षसमेवमब्रवीत् ॥ २९॥

पार्श्वे स्थितं मारय खण्डशः कपिं पश्यन्तु सर्वेऽसुरमित्रबान्धवाः ।
निवारयामास ततो विभीषणो महासुरं सायुधमुद्यतं वधे ।
राजन् वधार्हो न भवहत्कथञ्चन प्रतापयुक्तैः परराजवानरः ॥३०॥

रे अधम ! मेरी बराबरी तो करोड़ों रावण भी नहीं कर सकते, मैं भगवान् श्रीराम का दास हूँ। मै अपार पराक्रमी हूँ। हनुमानजी का यह कथन सुनकर अत्यन्त क्रोधित हो रावण अपने बगल में स्थित एक राक्षस से कहा-अरे ! इस वानर के अनेक टुकड़े कर मार डालो, जिससे सब राक्षस, मित्र तथा बन्धुबान्धव इस कौतुक को देखें। तत्पश्चात् आयुध लेकर मारने के लिये उद्यत उस प्रचण्ड राक्षस को रोककर विभीषण बोले-राजन् । प्रतापी व्यक्ति को अन्य राज्य के वानर दूत को किसी भी प्रकार नहीं मारना चाहिये, यह उचित नहीं है ॥२९-३०॥

हतेऽस्मिन् वानरे दूते वार्ता को वा निवहदयेत्
रामाय त्वं यमुद्दिश्य वधाय समुपस्थितः ॥ ३१॥

इस वानर दूत के मारे जाने पर राम को यह समाचार कौन सुनायेगा ? ॥ ३१॥

अतो वधसमं किञ्चिदन्यच्चिन्तय वानरे ।
सचिह्नो गच्छतु हरिर्यं दृष्ट्वाऽऽयास्यति द्रुतम् ॥ ३२॥

रामः सुग्रीवसहितस्ततो युद्धं भवहत्तव ।
विभीषणवचः श्रुत्वा रावणोऽप्येतदब्रवीत् ॥ ३३॥

अत: वध के समान ही इस वानर को कोई अन्य दण्ड देने का सोचिए, उस चिह्न-युक्त वानर के साथ एक संदेशा जाए, जिसे देखकर सुग्रीव के साथ शीघ्र राम आयें और उनसे आपका युद्ध हो। विभीषण का यह कथन सुनकर रावण बोला ॥ ३२-३३ ॥

वानराणां हि लाङ्गूले महामानो भवहत्किल ।
अतो वस्त्रादिभिः पुच्छं वहष्टयित्वा प्रयत्नतः ॥३४॥

वह्निना योजयित्वैनं भ्रामयित्वा पुरेऽभितः ।
विसर्जयत पश्यन्तु सर्वे वानरयूथपाः ॥ ३५॥

अपनी पूंछ पर वानरों की बड़ी ममता होती है। अतः वस्त्रादि से इसकी पूँछ को लपेटकर उसमें आग लगा दो और इसे नगर में चारो तरफ घुमाकर छोड़ दो; जिससे सभी इस वानर यूथपति की दुर्दशा देख सकें ॥ ३४-३५॥

तथेति शणपट्टैश्च वस्त्रैरन्यैरनेकशः ।
तैलाक्तैर्वेष्टयामासुर्लाङ्गूलं मारुतेर्दृढम् ॥ ३६॥

पुच्छाग्रे किञ्चिदनलं दीपयित्वाथ राक्षसाः ।
रज्जुभिः सुदृढं बद्ध्वा धृत्वा तं बलिनोऽसुराः ॥ ३७॥

समन्ताद्भ्रामयामासुश्चोरोऽयमिति वादिनः ।
तूर्यघोषैर्घोषयन्तस्ताडयन्तो मुहुर्मुहुः ॥ ३८॥

"जैसी आपकी आज्ञा" यह कहकर राक्षस गणों ने ण हनुमानजी की पूंछ में सन की पट्टी, अनेक वस्त्र आदि दृढ़ता पूर्वक लपेटे और तेल से भीगाकर पूंछ में थोड़ी आग लगाकर उन्हें दृढ़ता पूर्वक रस्सी से बाँध कुछ बलशाली राक्षस उन्हें मारते हुए बारम्बार तूर्य घोष पूर्वक यह चोर है यह कहते हुए नगर में चारो ओर घुमाने लगे ॥ ३६-३८ ॥

हनूमतापि तत्सर्वं सोढं किञ्चिच्चिकीर्षुणा ।

गत्वा तु पश्चिमद्वारसमीपं तत्र मारुतिः ॥ ३९॥

सूक्ष्मो बभूव बन्धेभ्यो निःसृतः पुनरप्यसौ ।
बभूव पर्वताकारस्तत उत्प्लुत्य गोपुरम् ॥ ४०॥

कुछ कौतुक की इच्छा से हनुमानजी ने भी सब कुछ सहन कर लिये। हनुमानजी ने पश्चिम द्वार के समीप जाकर अपना सूक्ष्मरूप धारण कर बन्धन से निकल गए और पुनः अपना पर्वताकार रूप धारण कर प्रवेशद्वार के कंगूरे पर चढ़ गए॥ ३९-४० ॥

तत्रैकं स्तम्भमादाय हत्वा तान् रक्षिणः क्षणात् ।
विचार्य कार्यशेषं स प्रासादाग्राद्गृहाद्गृहम् ॥ ४१॥

उत्प्लुत्योप्लुत्य सन्दीप्तपुच्छेन महता कपिः ।
ददाह लङ्कामखिलां साट्टप्रासादतोरणाम् ॥ ४२॥

वहाँ पर हनुमानजी एक स्तम्भ को उखाड़कर क्षणमात्र में ही सभी रक्षकों को मार दिया और पुनः अपना अवशिष्ट कार्य करने हेतु प्रासाद के अग्रभाग से एक घर से दूसरे घर पर कूद-कूद कर अपनी जलटी हुई लम्बी पूंछ से महल, अटारी और बन्दनवार आदि से सुशाभित समस्त लंका पुरी में आग लगा दी ॥ ४१-४२॥

हा तात पुत्र नाथेति क्रन्दमानाः समन्ततः ।
व्याप्ताः प्रासादशिखरेऽप्यारूढा दैत्ययोषितः ॥ ४३॥

देवता इव दृश्यन्ते पतन्त्यः पावकेऽखिलाः ।
विभीषणगृहं त्यक्त्वा सर्वं भस्मीकृतं पुरम् ॥ ४४॥

उस समय हा तात ! हा पुत्र! हा नाथ! यह कह चारो ओर फैली हुई महलों के ऊपर चढ़ी हुई तथा अग्नि में गिरती हुई दैत्यों की स्त्रियाँ देवताओं के समान प्रतीत होती थीं। हनुमानजी ने केवल विभीषण के घर को छोड़कर सम्पूर्ण लंका को जलाकर भस्म कर दिया ॥४३-४४॥

तत उत्प्लुत्य जलधौ हनूमान्मारुतात्मजः ।
लाङ्गूलं मज्जयित्वान्तः स्वस्थचित्तो बभूव सः ॥ ४५॥

तब पवनकुमार हनुमानजी ने समुद्र में कूदकर अपनी पूंछ बुझाकर स्वस्थचित हुए ॥ ४५ ॥

वायोः प्रियसखित्वाच्च सीतया प्रार्थितोऽनलः ।
न ददाह हरेः पुच्छं बभूवात्यन्तशीतलः ॥ ४६॥

सीताजी की प्रार्थना और वायु का मित्र होने से अग्निदेव ने श्रीहनुमानजी की पूंछ को नहीं जलाया। उनके लिए अग्निदेव अतिशीतल हो गये ॥ ४६॥

यन्नामसंस्मरणधूतसमस्तपापाः
तापत्रयानलमपीह तरन्ति सद्यः ।
तस्यैव किं रघुवरस्य विशिष्टदूतः
सन्तप्यते कथमसौ प्रकृतानलेन ॥ ४७॥

जिनके नाम का स्मरण कर प्राणी सभी पापों से मुक्त हो शीघ्र ही तापत्रयरूपी अग्नि को पार कर जाते हैं; उन्हीं परमात्मा श्रीरघुनाथजी के विशिष्टदूत को यह अग्नि कैसे ताप पहुँचा सकता था ? ॥ ४७ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे सुन्दरकाण्डे
चतुर्थः सर्गः ॥ ४॥

॥ पञ्चमः सर्गः ॥

हनुमान जी का सीता जी से विदा लेना और श्री राम चन्द्र जी को सीता जी का सन्देश

श्रीमहादेव उवाच ।

ततः सीतां नमस्कृत्य हनूमानब्रवीद्वचः ।
आज्ञापयतु मां देवि भवती रामसन्निधिम् ॥ १॥

गच्छामि रामस्त्वां द्रष्टुमागमिष्यति सानुजः ।
इत्युक्त्वा त्रिःपरिक्रम्य जानकीं मारुतात्मजः ॥ २॥

श्री महादेव जी बोले-तत्पश्चात् श्रीहनुमानजी ने भी सीताजी के पास जाकर उन्हें प्रणाम करते हुए कहा-देवि ! आप मुझे आज्ञा दीजिये, मै श्रीरामचन्द्रजी के पास जाता हूँ। अपने अनुज के सहित शीघ्र ही वह आपको देखने के लिये आयेंगे। यह कहकर पवनकुमार हनुमानजी ने श्रीजानकी जी की तीन परिक्रमाएँ की॥ १-२॥

प्रणम्य प्रस्थितो गन्तुमिदं वचनमब्रवीत् ।
देवि गच्छामि भद्रं ते तूर्णं द्रक्ष्यसि राघवम् ॥३॥

लक्ष्मणं च ससुग्रीवं वानरायुतकोटिभिः ।
ततः प्राह हनूमन्तं जानकी दुःखकर्शिता॥ ४॥

त्वां दृष्ट्वा विस्मृतं दुःखमिदानीं त्वं गमिष्यसि ।
इतः परं कथं वर्ते रामवार्ताश्रुतिं विना ॥ ५ ॥

और प्रणाम करने के पश्च्यात जाने हेतु कुछ दूर प्रस्थान करने के पश्च्यात बोले-देवि! मैं जाता हूँ, आपका कल्याण हो, आप शीघ्र ही सुग्रीव और करोड़ों वानरों के सहित भगवान् राम और लक्ष्मण को देखेंगी। तदनन्तर दुःख से दुर्बल जानकीजी हनुमानजी से बोली-तुझे देखकर मैं अपना दुःख भूल गयी थी। इस समय तुम जा रहे हो, अब मै श्रीरामचन्द्रजी की वार्ता सुने बिना मैं कैसे जीवित रहूँगी ॥ १-५॥

मारुतिरुवाच ।
यद्येवं देवि मे स्कन्धमारोह क्षणमात्रतः
रामेण योजयिष्यामि मन्यसे यदि जानकि ॥ ६॥

श्रीहनुमानजी बोले-देवि ! यदि यह बात है और आप चाहें तो आप मेरे कन्धे पर चढ़े, मैं क्षणमात्र में आपको श्रीरामचन्द्रजी से मिला दूंगा ॥६॥

सीतोवाच ।
रामः सागरमाशोष्य बद्ध्वा वा शरपञ्जरैः ।
आगत्य वानरैः सार्धं हत्वा रावणमाहवह ॥ ७॥

मां नयेद्यदि रामस्य कीर्तिर्भवति शाश्वती ।
अतो गच्छ कथं चापि प्राणान् सन्धारयाम्यहम् ॥ ८॥

सीताजी बोलीं-श्रीरामचन्द्रजी सागर को सुखाकर अथवा बाणों से पुल बाँधकर वानरों सहित यहाँ आएं और रावण को युद्ध में मारकर

मुझको यदि वह ले चलें तो उन्हें अमर कीर्ति प्राप्त होगी। अत: तुम जाओ, मैं किसी प्रकार प्राण धारण करके जीवित रहूँगी ॥ ७-८॥

इति प्रस्थापितो वीरः सीतया प्रणिपत्य ताम् ।
जगाम पर्वतस्याग्रे गन्तुं पारं महोदधेः ॥ ९॥

इस प्रकार सीताजी से विदा लेकर वीरप्रवर हनुमानजी ने श्रीसीताजी को प्रणाम किया और महासागर को पार करने के लिये पर्वत शिखर पर चढ़ गये ॥ ९॥

तत्र गत्वा महासत्त्वः पादाभ्यां पीडयन् गिरिम् ।
जगाम वायुवहगेन पर्वतश्च महीतलम् ॥ १०॥

गतो महीसमानत्वं त्रिंशद्योजनमुच्छ्रितः ।
मारुतिर्गगनान्तःस्थो महाशब्दं चकार सः ॥ ११॥

वहां पहुँचकर महापराक्रमी हनुमानजी ने पर्वत को अपने पैरों से दबाकर वायुवेग से समुद्र पार करने हेतु चल पड़े । उनके दबाव से तीस योजन ऊँचाई वाला पर्वत पृथ्वी में घुसकर पृथ्वी के समान समतल हो गया। श्रीहनुमानजी ने आकाश में जाते समय घोर-शब्द किया ॥१०-११॥

तं श्रुत्वा वानराः सर्वे ज्ञात्वा मारुतिमागतम् ।
हर्षेण महताविष्टाः शब्दं चक्रुर्महास्वनम् ॥ १२॥

यह घोर-शब्द सुन हनुमानजी का लौटना जानकार वानरगण अति हर्षित हो भयंकर शब्द करने लगे ॥ १२ ॥

शब्देनैव विजानीमः कृतकार्यः समागतः ।
हनूमानेव पश्यध्वं वानरा वानरर्षभम् ॥ १३॥

इस शब्द से ही प्रतीत हो रहा है कि श्रीहनुमानजी कार्य सिद्ध करके ही लौट रहे हैं। हे वानरगण! आप देखें यह हनुमानजी ही तो हैं ॥ १३ ॥

एवं ब्रुवत्सु वीरेषु वानरेषु स मारुतिः ।
अवतीर्य गिरेर्मुर्ध्नि वानरानिदमब्रवीत् ॥ १४॥

आपस में वानरवीरों के इस प्रकार वार्तालाप करते ही श्रीहनुमानजी पर्वत शिखर पर उतर गये और उनसे कहने लगे ॥ १४ ॥

दृष्टा सीता मया लङ्का धर्षिता च सकानना ।
सम्भाषितो दशग्रीवस्ततोऽहं पुनरागतः ॥ १५॥

मैंने सीताजी का दर्शन किया और अशोक वाटिका सहित लंका का विध्वंस कर किया, तथा दशग्रीव रावण से बातचीत कर पुनः यहाँ आ गया ॥ १५॥

इदानीमेव गच्छामो रामसुग्रीवसन्निधिम् ।
इत्युक्ता वानराः सर्वे हर्षेणालिङ्ग्य मारुतिम् ॥ १६॥

केचिच्चुचुम्बुर्लाङ्गूलं ननृतुः केचिदुत्सुकाः ।
हनूमता समेतास्ते जग्मुः प्रस्रवणं गिरिम् ॥ १७॥

हम तत्क्षण ही श्रीरामचन्द्रजी और सुग्रीव के पास चलेंगे। हनुमानजी के यह कहने पर सभी वानरगणों ने अतिहर्षित होकर उनका आलिंगन किया, किसी ने उनकी पूँछ का चुम्बन किया और कोई हर्षित होकर नाचने लगे। तत्पश्चात् वह सभी हनुमान जी के साथ प्रस्रवण पर्वत पर चले गए ॥ १६-१७ ॥

गच्छन्तो ददृशुर्वीरा वनं सुग्रीवरक्षितम् ।
मधुसंज्ञं तदा प्राहुरङ्गदं वानरर्षभाः ॥ १८॥

वहाँ पर जाते हुए उन सभी ने सुग्रीव द्वारा आरक्षित मधुवन को देखे। उसे देखकर वह अङ्गदजी से बोले-॥ १८॥

क्षुधिताः स्मो वयं वीर देह्यनुज्ञां महामते ।
भक्षयामः फलान्यद्य पिबामोऽमृतवन्मधु ॥ १९॥

हे वीर ! हम लोग भूखे हैं; हे महामते ! आप आज्ञा दीजिये, आज हम फल खाकर अमृत के समान मधु का पान करें ॥ १९ ॥

सन्तुष्टा राघवं द्रष्टुं गच्छामोऽद्यैव सानुजम् ॥ २०॥

तब हम सन्तुष्ट होकर श्रीराम चन्द्रजी के दर्शन के लिये चलेंगे ॥२०॥

अङ्गद उवाच ।
हनूमान् कृतकार्योऽयं पिबतैतत्प्रसादतः ।
जक्षध्वं फलमूलानि त्वरितं हरिसत्तमाः ॥ २१॥

अङ्गदजी बोले- हनुमानजी हमारा कार्य सिद्ध कर चुके हैं। अत: हे वानरश्रेष्ठ ! आप इनकी कृपा से फल-मूल खाइये और मधुपान कीजिये ॥ २१॥

ततः प्रविश्य हरयः पातुमारेभिरे मधु ।
रक्षिणस्ताननादृत्य दधिवक्त्रेण नोदितान् ॥ २२॥

अन्गल जी की सम्मति पाकर वानरगणों ने मधुवन में प्रवेश किया और दधिमुख के द्वारा प्रेषित वनरक्षकों की अवहेलनाकर मधु पीने लगे ॥ २२॥

पिबतस्ताडयामासुर्वानरान् वानरर्षभाः ।
ततस्तान् मुष्टिभिः पादैश्चूर्णयित्वा पपुर्मधु ॥ २३॥

उन्हें मधुपान करते हुए देखकर रक्षकों ने जब उन्हें मारा, तब लात और मुष्ठियों से उन्हें कुचलकर वह मधुपान करते रहे ॥ २३॥

ततो दधिमुखः क्रुद्धः सुग्रीवस्य स मातुलः ।
जगाम रक्षिभिः सार्धं यत्र राजा कपीश्वरः ॥ २४॥

गत्वा तमब्रवीद्देव चिरकालाभिरक्षितम् ।
नष्टं मधुवनं तेऽद्य कुमारेण हनूमता ॥ २५॥

तदनन्तर सुग्रीव का मामा दधिमुख अति क्रोधित हो वन रक्षकों के साथ सुग्रीव के पास पहुँचकर बोला-राजन् ! चिरकाल से रक्षित मधुवन को आज युवराज अंगद और हनुमान ने उजाड़ डाला ॥ २४-२५॥

श्रुत्वा दधिमुखेनोक्तं सुग्रीवो हृष्टमानसः ।
दृष्ट्वागतो न सन्देहः सीतां पवननन्दनः ॥ २६॥

नो चेन्मधुवनं द्रष्टुं समर्थः को भवहन्मम ।
तत्रापि वायुपुत्रेण कृतं कार्यं न संशयः ॥ २७॥

दधिमुख का यह कथन सुन अति प्रसन्न होकर सुग्रीव कहने लगे- निःसन्देह पवननन्दन हनुमान् सीता को देख आये; अन्यथा मधुवन की तरफ देखने का साहस कौन कर सकता है ? उनमें भी निश्चय ही पवनकुमार हनुमानजी ने ही यह कार्य सिद्ध किया है ॥ २६-२७ ॥

श्रुत्वा सुग्रीववचनं हृष्टो रामस्तमब्रवीत् ।
किमुच्यते त्वया राजन् वचः सीताकथान्वितम् ॥ २८॥

सुग्रीव का यह कथन सुनकर प्रसन्न होकर श्रीरामचन्द्रजी ने सुग्रीव से पूछा -राजन् ! सीता से सम्बंधित किस बात को तुम कर रहे हो ? ॥ २८ ॥

सुग्रीवस्त्वब्रवीद्वाक्यं देव दृष्टावनीसुता ।
हनुमत्प्रमुखाः सर्वे प्रविष्टा मधुकाननम् ॥ २९॥

सुग्रीव ने कहा-देव ! प्रतीत होता है कि श्रीजानकी जी को वानरगण देख कर आये हैं, क्योंकि हनुमान आदि प्रमुख वानरगणों ने मधुवन में प्रवेश किया है ॥ २९॥

भक्षयन्ति स्म सकलं ताडयन्ति स्म रक्षिणः ।

अकृत्वा देवकार्यं ते द्रष्टुं मधुवनं मम ॥ ३०॥

न समर्थास्ततो देवी दृष्टा सीतेति निश्चितम् ।
रक्षिणो वो भयं मास्तु गत्वा ब्रूत ममाज्ञया ॥ ३१॥

वह मधुवन के फल को खा रहे हैं और रक्षकों को मार रहें हैं। आपका विना कार्य किये मेरे मधुवन को वे देखने में भी समर्थ नहीं थे। अतएव निश्चय ही वे देवि जानकीजी को देखकर आये हैं। रक्षकों ! तुम डरा मत, जाकर मेरी आज्ञा उन्हें सुनाओ ॥३०-३१॥

वानरानङ्गदमुखानानयध्वं ममान्तिकम् ।
श्रुत्वा सुग्रीववचनं गत्वा ते वायुवहगतः ॥ ३२॥

हनूमत्प्रमुखानूचुर्गच्छतेश्वरशासनात् ।
द्रष्टुमिच्छति सुग्रीवः सरामो लक्ष्मणान्वितः ॥ ३३॥

और अंगद आदि वानरों को मेरे पास ले आओ। सुग्रीव का यह कथन सुनकर वायुवेग से वह चले और हनुमानादि श्रेष्ठ वानरों से बोले कि महाराज की आज्ञा से आपलोग शीघ्र ही उनके पास जाइये, क्योंकि श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मण सहित सुग्रीव आपलोगों से मिलना चाहते हैं। ॥३२-३३॥

युष्मानतीव हृष्टास्ते त्वरयन्ति महाबलाः ।
तथेत्यम्बरमासाद्य ययुस्ते वानरोत्तमाः ॥ ३४॥

हनूमन्तं पुरस्कृत्य युवराजं तथाङ्गदम् ।

रामसुग्रीवयोरग्रे निपेतुर्भुवि सत्वरम् ॥ ३५॥

हे महावीर गण! आपलोगों से प्रसन्न होकर उन्होंने आप लोगों को बुलाया है, आप शीघ्रता पूर्वक वहां जाइए। वह वानरगण 'जैसी आपकी इच्छा' यह कहकर आकाशमार्ग से चलने लगे। युवराज अंगद ओर हनुमान जी का आगे कर वह चले ओर शीघ्र ही श्री रामचन्द्र जी और सुग्रीव के सामने पृथ्वी पर उतर आए ॥ ३०-३५॥

हनूमान् राघवं प्राह दृष्टा सीता निरामया ।
साष्टाङ्गं प्रणिपत्याग्रे रामं पश्चाद्धरीश्वरम् ॥ ३६॥

तदनन्तर हनुमानजी ने पहले भगवान् श्रीरामचन्द्र को फिर वानरराज सुग्रीव को साष्टाङ्ग प्रणाम कर श्रीरामचन्द्रजी से कहा – मैंने श्रीसीताजी को सकुशल देखा ॥ ३६॥

कुशलं प्राह राजेन्द्र जानकी त्वां शुचान्विता ।
अशोकवनिकामध्ये शिंशपामूलमाश्रिता ॥ ३७॥

राक्षसीभिः परिवृता निराहारा कृशा प्रभो ।
हा राम राम रामेति शोचन्ती मलिनाम्बरा ॥ ३८॥

हे राजेन्द्र! शोकाकुल होकर सीताजी ने अपना कुशल आपको सुनाने हेतु मुझसे कहा है। वह अशोकवाटिका के मध्य में शिंशपा वृक्ष के नीचे बैठी हैं। हे प्रभो। राक्षसियों से घिरी हुई, निराहार, अति दुबली-पतली, मलिन वस्त्र धारण कर हा राम ! हा राम ! हा राम ! यह कह कर सदा चिन्तामग्न रहती हैं ॥ ३७-३८ ॥

एकवहणी मया दृष्टा शनैराश्वासिता शुभा ।
वृक्षशाखान्तरे स्थित्वा सूक्ष्मरूपेण ते कथाम् ॥ ३९॥

उनके बालों की एक वेणी हो गयी है इस अवस्था में मैंने श्रीसीताजी को देखा, मैंने धीरे-धीरे उन्हें आश्वस्त किया तथा सूक्ष्मरूप से वृक्ष की शाखा में छिपकर जन्म से प्रारम्भ कर आपकी कथा मैंने उनको सुनाई। ॥ ३९॥

जन्मारभ्य तवात्यर्थं दण्डकागमनं तथा ।
दशाननेन हरणं जानक्या रहिते त्वयि ॥ ४०॥

जन्म से लेकर दण्डकानन आगमन, दशानन द्वारा श्रीजानकीजी का हरण ॥ ४०॥

सुग्रीवहण यथा मैत्री कृत्वा वालिनिबर्हणम् ।
मार्गणार्थं च वैदेह्या सुग्रीवहण विसर्जिताः ॥ ४१॥

सुग्रीव से मैत्री, वाली का वध और सुग्रीवजी द्वारा सीताजी का अन्वेषण हेतु बड़े बलवान् वीर वानरगण विविध दिशाओं में गये हैं, इत्यादि कथा मैंने संक्षेप से श्रीजानकोजी को सुनाइ। ॥ ४१॥

महाबला महासत्त्वा हरयो जितकाशिनः ।
गताः सर्वत्र सर्वे वै तत्रैकोऽहमिहागतः ॥ ४२॥

अहं सुग्रीवसचिवो दासोऽहं राघवस्य हि ।
दृष्टा यज्जानकी भाग्यात्प्रयासः फलितोऽद्य मे ॥ ४३॥

सीताजी की खोज के लिये सुग्रीव द्वारा बड़े बलवान्, पराक्रमी और विजयशाली वानरगण सभी दिशाओं में गये हैं, उनमें से सुग्रीव का मन्त्री और रघुनाथजी का दास मैं यहाँ आया हूँ। अति भाग्य से ही मैं श्रीजानकीजी का दर्शन किया। मेरा प्रयास सफल हुआ॥ ३९-४३॥

इत्युदीरितमाकर्ण्य सीता विस्फारितेक्षणा ।
केन वा कर्णपीयुषं श्रावितं मे शुभाक्षरम् ॥ ४४॥

मेरा यह कथन सुनकर सीताजी के नेत्र प्रफुल्लित हो गये और वह मुझसे कहने लगीं-यह शुभाक्षर कर्णामृत मुझे किसने सुनाया ? ॥४४॥

यदि सत्यं तदायातु मद्दर्शनपथं तु सः ।
ततोऽहं वानराकारः सूक्ष्मरूपेण जानकीम् ॥ ४५॥

प्रणम्य प्राञ्जलिर्भूत्वा दूरादेव स्थितः प्रभो ।
पृष्टोऽहं सीतया कस्त्वमित्यादि बहुविस्तरम् ॥ ४६॥

यदि मेरा सुनना सत्य है तो सुनानेवाला मेरे आँखों के सामने आये। हे प्रभो ! तत्पश्चात् मैं वानर की आकृति में सूक्ष्मरूप धारण करके उनके सामने गया और दूर से ही उन्हें प्रणाम कर हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। तदनन्तर श्रीसीताजी ने पूछा तुम कौन हो ? और इसी प्रकार के एनी प्रश्न मुझसे पूछे ॥ ४५ -४६ ॥

मया सर्वं क्रमेणैव विज्ञापितमरिन्दम ।
पश्चान्मयार्पितं देव्यै भवद्दत्ताङ्गुलीयकम् ॥ ४७॥

हे अरिंदम ! मैंने सभी बातों को क्रमपूर्वक उन्हें बता दिया। तत्पश्चात् मैंने आपकी दी हुए अंगूठी उनको दे दी ॥४७॥

तेन मामतिविश्वस्ता वचनं चेदमब्रवीत् ।
यथा दृष्टास्मि हनुमन् पीड्यमाना दिवानिशम् ॥ ४८॥

राक्षसीनां तर्जनैस्तत्सर्वं कथय राघवह ।
मयोक्तं देवि रामोऽपि त्वच्चिन्तापरिनिष्ठितः ॥ ४९॥

परिशोचत्यहोरात्रं त्वद्वार्तां नाधिगम्य सः ।
इदानीमेव गत्वाहं स्थितिं रामाय ते ब्रुवह ॥ ५०॥

इससे उन्हें मुझ पर विश्वास हो गया और वह कहने लगीं-हनुमन् ! तुमने साक्षात मुझे राक्षसियों द्वारा दी गयी पीड़ा से अहर्निश दुःख उठाते हुए देखा है, यह सब श्रीरामचन्द्रजी से यथावत कहना। तब मैने कहा- हे देवि ! तुम्हारी ही चिन्ता से श्रीरामजी चिन्तित रहते हैं, तुम्हारा समाचार ज्ञात न होने के कारण दिन-रात तुम्हारी चिन्ता में चिन्तित रहते हैं। तत्क्षण जाकर मैं तुम्हारी स्थिति उनको सुनाऊँगा ॥ ४८-५०॥

रामः श्रवणमात्रेण सुग्रीवहण सलक्ष्मणः ।
वानरानीकपैः सार्धमागमिष्यति तेऽन्तिकम् ॥ ५१॥

रावणं सकुलं हत्वा नेष्यति त्वां स्वकं पुरम् ।
अभिज्ञां देहि मे देवि यथा मां विश्वसेद्विभुः ॥ ५२॥

श्रीरघुनाथजी उसे सुनते ही सुग्रीव, लक्ष्मण और अन्य वानर सेनापतियों के साथ तुम्हारे समीप आएँगे और कुटुम्ब सहित रावण को मारकर तुम्हें अपनी राजधानी ले जाएंगे। हे देवि ! आप मुझे कोई ऐसा चिन्ह दें जिससे वह मुझपर विश्वास कर सकें॥ ५१-५२॥

इत्युक्ता सा शिरोरत्नं चूडापाशे स्थितं प्रियम् ।
दत्त्वा काकेन यद्वृत्तं चित्रकूटगिरौ पुरा ॥ ५३॥

तदप्याहाश्रुपूर्णाक्षी कुशलं ब्रूहि राघवम् ।
लक्ष्मणं ब्रूहि मे किञ्चिद्दुरुक्तं भाषितं पुरा ॥ ५४॥

तत्क्षमस्वाज्ञभावहन भाषितं कुलनन्दन ।
तारयेन्मां यथा रामस्तथा कुरु कृपान्वितः ॥ ५५॥

मेरा यह कथन सुनकर सीता माता ने अपने केशपाश स्थित अपनी प्रिय चूड़ामणि उतारकर मुझे दे दिया और चित्रकूट पर्वत पर काक के साथ जो इतिवृत्त हुआ वह सब भी मुझे सुनाया तथा सजल नेत्र हो कर बोलीं की श्रीरघुनाथजी से मेरा कुशल समाचार सुनाकर लक्ष्मणजी से कहना कि हे कुलनन्दन ! पहले तुम्हारे प्रति अज्ञानवश कहे हुए कठोर वाक्यों के लिये मुझे क्षमा करना। तथा श्रीरघुनाथजी जिस प्रकार मेरा उद्धार करें वह प्रयत्न करना ॥ ५३-५५ ॥

इत्युक्त्वा रुदती सीता दुःखेन महतावृता ।
मयाप्याश्वासिता राम वदता सर्वमेव ते ॥ ५६॥

ततः प्रस्थापितो राम त्वत्समीपमिहागतः ।
तदागमनवहलायामशोकवनिकां प्रियाम् ॥ ५७॥

यह कहकर महान् दुःख से दुःखी हो वे रोने लगीं; आपका सब इतिवृत्त सुनाकर मैं उन्हें आश्वस्त कर उनसे विदा हो आपके पास चला आया। आते समय रावण की प्रिय अशोक वाटिका को मैंने उजाड़ दिया

उत्पाट्य राक्षसांस्तत्र बहून् हत्वा क्षणादहम् ।
रावणस्य सुतं हत्वा रावणेनाभिभाष्य च ॥ ५८॥

लङ्कामशेषतो दग्ध्वा पुनरप्यागमं क्षणात् ।
श्रुत्वा हनूमतो वाक्यं रामोऽत्यन्तप्रहृष्टधीः ॥ ५९॥

और एक क्षण में ही अनेक राक्षसों को मार डाला। रावण के पुत्र को मार रावण से वार्तालाप कर चारो ओर से लंका को जलाकर क्षणभर में मैं यहाँ आया हूँ। हनुमानजी का कथन सुनकर अतिहर्षित होकर श्रीरामचन्द्रजी कहने लगे ॥ ५६-५९ ॥

हनूमंस्ते कृतं कार्यं देवैरपि सुदुष्करम् ।
उपकारं न पश्यामि तव प्रत्युपकारिणः ॥ ६०॥

हनुमन् ! देवताओं से भी दुष्कर कार्य तुम किया है, तुम्हारा कुछ भी उपकार करने पर उपकार के बदले प्रत्युपकार हो नहीं सकता ॥ ६०॥

इदानीं ते प्रयच्छामि सर्वस्वं मम मारुते ।
इत्यालिङ्ग्य समाकृष्य गाढं वानरपुङ्गवम् ॥ ६१॥

हे मारुति ! मैं तुम्हें अपना सर्वस्व समर्पित करता हूँ, यह कह वानर श्रेष्ठ हनुमानजी को श्री राम चन्द्र जी ने अपना गाढ़ आलिंगन प्रदान किया ॥६१॥

सार्द्रनेत्रो रघुश्रेष्ठः परां प्रीतिमवाप सः ।
हनूमन्तमुवाचेदं राघवो भक्तवत्सलः ॥ ६२॥

भक्तवत्सल श्रीरघुनाथ जी के नेत्रों में जल भर आया और वह परम प्रीतिपूर्वक हनुमानजी से बोले ॥ ६२ ॥

परिरम्भो हि मे लोके दुर्लभः परमात्मनः ।
अतस्त्वं मम भक्तोऽसि प्रियोऽसि हरिपुङ्गव ॥ ६३॥

मुझ परमात्मा का आलिंगन समस्त संसार में दुर्लभ है, वानरश्रेष्ठ ! तुम्हें यह प्राप्त हुआ, तू मेरा परम भक्त हो ॥ ६३ ॥

यत्पादपद्मयुगलं तुलसीदलाद्यैः
सम्पूज्य विष्णुपदवीमतुलां प्रयान्ति ।
तेनैव किं पुनरसौ परिरब्धमूर्ती
रामेण वायुतनयः कृतपुण्यपुञ्जः ॥ ६४॥

जिनके चरणकमल युगल की तुलसीदल आदि से पूजन कर भक्तजन अतुलनीय विष्णुपद प्राप्त करते हैं; उन परमात्मा श्रीरामचन्द्रजी ने जिनके शरीर का आलिंगन किया, उन पुण्यकर्मकर्ता वायु तनय हनुमानजी के विषय में क्या कहना ? ॥ ६४ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे सुन्दरकाण्डे
पञ्चमः सर्गः ॥ ५॥

॥ समाप्तमिदम् सुन्दरकाण्डम् ॥

॥श्रीगणेशाय नमः॥
॥ ॐ परब्रह्मणे नमः॥

॥ अध्यात्मरामायण ॥

युद्धकाण्डम्

॥ प्रथमः सर्गः ॥

प्रथम सर्ग वानर सेना का प्रस्थान

श्रीमहादेव उवाच ।
यथावद्भाषितं वाक्यं श्रुत्वा रामो हनूमतः ।
उवाचानन्तरं वाक्यं हर्षेण महतावृतः ॥ १॥

कार्यं कृतं हनुमता देवैरपि सुदुष्करम् ।
मनसापि यदन्येन स्मर्तुं शक्यं न भूतले ॥ २॥

श्री महादेवजी बोले- हनुमानजी द्वारा कथित यथावत् वर्णन को सुनने के बाद श्रीरघुनाथजी अतिहर्षित होकर कहने लगे-हनुमानजी ने जो कार्य पूर्ण किया है, उसे पूर्ण करना देवताओं के लिये भी दुष्कर है। पृथ्वी पर दूसरा कोई भी मन से उसका स्मरण नहीं कर सकता ॥ १-२॥

शतयोजनविस्तीर्णं लङ्घयेत्कः पयोनिधिम् ।
लङ्कां च राक्षसैर्गुप्तां को वा धर्षयितुं क्षमः ॥ ३॥

शतयोजनविस्तृत इस समुद्र को कौन पार कर सकता है और राक्षसों से सुरक्षित इस लकापुरी को ध्वस्त करने में कौन समर्थ हो सकता है ? ॥ ३ ॥

भृत्यकार्यं हनुमता कृतं सर्वमशेषतः ।
सुग्रीवस्येदृशो लोके न भूतो न भविष्यति ॥ ४॥

सुग्रीव के भृत्य धर्म को हनुमानजी विधिवत् पूर्ण किये। इस संसार में न कोई इस प्रकार का हुआ है और न कोई आगे भविष्य में भी होगा ॥ ४॥

अहं च रघुवंशश्च लक्ष्मणश्च कपीश्वरः ।
जानक्या दर्शनेनाद्य रक्षिताः स्मो हनूमता ॥ ५॥

हनुमानजी ने जानकी का दर्शन कर आज मुझे, रघुवंश, लक्ष्मण और कपीश्वर सुग्रीव सबकी रक्षा की ॥ ५॥

सर्वथा सुकृतं कार्यं जानक्याः परिमार्गणम् ।
समुद्रं मनसा स्मृत्वा सीदतीव मनो मम ॥ ६॥

श्रीजानकी के अन्वेषण का कार्य तो पूर्ण हो गया, परन्तु समुद्र का मनमें स्मरण होने से ही मेरा मन व्यथित होने लगता है ॥६॥

कथं नक्रझषाकीर्णं समुद्रं शतयोजनम् ।
लङ्घयित्वा रिपुं हन्यां कथं द्रक्ष्यामि जानकीम् ॥ ७॥

नक्र, मगर आदि से पूर्ण शतयोजन विस्तृत इस समुद्र को पार कर मैं शत्रु को कैसे मारूँगा और जानकी को कैसे देखूंगा? ॥७॥

श्रुत्वा तु रामवचनं सुग्रीवः प्राह राघवम् ।
समुद्रं लङ्घयिष्यामो महानक्रझषाकुलम् ॥ ८॥

लङ्कां च विधमिष्यामो हनिष्यामोऽद्य रावणम् ।
चिन्तां त्यज रघुश्रेष्ठ चिन्ता कार्यविनाशिनी ॥ ९॥

श्रीरघुनाथजी का यह कथन सुनकर सुग्रीव कहने लगे-हम आज ही महानक्र आदि से परिपूर्ण इस समुद्र को पार कर जायेंगे और लङ्का को भी विध्वंश कर रावण को मारेंगे। हे रघुश्रेष्ठ ! आप चिन्ता छोड़ें, क्योंकि चिन्ता कार्य को नाश करनेवाली होती है ॥ ८-९॥

एतान् पश्य महासत्त्वान् शूरान् वानरपुङ्गवान् ।
त्वत्प्रियार्थं समुद्युक्तान् प्रवहष्टुमपि पावकम् ॥ १०॥

आप इन महा पराक्रमी शूरवीर वानरश्रेष्ठों को देखिये ! यह आपका हितसाधन करने के लिए अग्नि में भी प्रवेश करने के लिये तैयार हैं । ॥१०॥

समुद्रतरणे बुद्धिं कुरुष्व प्रथमं ततः ।
दृष्ट्वा लङ्कां दशग्रीवो हत इत्येव मन्महे ॥ ११॥

सर्वप्रथम समुद्र पार करने का प्रयत्न कीजिए। आपके लंका को देखते ही रावण को मरा हुआ हम समझते हैं ॥ ११॥

नहि पश्याम्यहं कञ्चित्त्रिषु लोकेषु राघव ।
गृहीतधनुषो यस्ते तिष्ठेदभिमुखो रणे ॥ १२॥

हे राघव ! त्रिलोकी में भी किसी को मैं ऐसा किसी को नहीं देखता जो आपके सामने धनुष बाण धारण करने के पश्च्यात आपके सामने रण में स्थित रह सकें ॥ १२॥

सर्वथा नो जयो राम भविष्यति न संशयः ।
निमित्तानि च पश्यामि तथा भूतानि सर्वशः ॥ १३॥

हे राम ! निःसन्देह हम लोगों की ही विजय होगी; क्योंकि युद्ध में विजय के शुभ लक्षण हमें दृष्टिगत हो रहे हैं ॥ १३ ॥

सुग्रीववचनं श्रुत्वा भक्तिवीर्यसमन्वितम् ।
अङ्गीकृत्याब्रवीद्रामो हनूमन्तं पुरःस्थितम् ॥ १४॥

इस प्रकार भक्ति और पुरुषार्थ युक्त सुग्रीव की बातें सुनकर श्रीरामचन्द्रजी उसका अनुमोदन किया और सामने खड़े हुए हनुमानजी से कहा ॥ १४ ॥

येन केन प्रकारेण लङ्घयामो महार्णवम् ।
लङ्कास्वरूपं मे ब्रूहि दुःसाध्यं देवदानवैः ॥ १५॥

हम लोग किसी न किसी प्रकार से समुद्र को तो पार कर ही लेंगे; तुम लंका का स्वरूप बताओ, वह तो देव-दानवों के लिए भी दुर्जेय है ॥ १५॥

ज्ञात्वा तस्य प्रतीकारं करिष्यामि कपीश्वर ।
श्रुत्वा रामस्य वचनं हनूमान् विनयान्वितः ॥ १६॥

उवाच प्राञ्जलिर्देव यथा दृष्टं ब्रवीमि ते ।
लङ्का दिव्या पुरी देव त्रिकूटशिखरे स्थिता ॥ १७॥

हे कपीश्वर । उसे जानकर उसका प्रतिकार हम सोचेंगे । श्रीरामचन्द्रजी के यह वचन सुनकर विनयपूर्वक हाथ जोड़कर हनुमानजी बोले-देव ! जिस प्रकार मैंने लंका पुरी को देखा है , उसी प्रकार आपसे निवेदन करता हूँ। दिव्य लंका पुरी त्रिकूटपर्वत पर स्थित है ॥ १६-१७ ॥

स्वर्णप्राकारसहिता स्वर्णाट्टालकसंयुता ।
परिखाभिः परिवृता पूर्णाभिर्निर्मलोदकैः ॥ १८॥

स्वर्ण परकोटों से युक्त सुवर्ण के ही स्तम्भ और अट्टालिकाओं वाली तथा निर्मल जल से भरी हुई खाइयों से चारो ओर घिरी हुई लंकापुरी स्थित है ॥ १८ ॥

नानोपवनशोभाढ्या दिव्यवापीभिरावृता ।
गृहैर्विचित्रशोभाढ्यैर्मणिस्तम्भमयैः शुभैः ॥ १९॥

अनेक उपवनों से शोभावाली और दिव्य बावलियों और विचित्र शोभायुक्त मणिस्तम्भों वाले भवनों से वह शोभायमान है ॥ १९॥

पश्चिमद्वारमासाद्य गजवाहाः सहस्रशः ।

उत्तरे द्वारि तिष्ठन्ति साश्ववाहाः सपत्तयः ॥ २०॥

तिष्ठन्त्यर्बुदसङ्ख्याकाः प्राच्यामपि तथैव च ।
रक्षिणो राक्षसा वीरा द्वारं दक्षिणमाश्रिताः ॥ २१॥

लंकापुरी के पश्चिम द्वार पर हजारों गजारोही रक्षक, उत्तर द्वार पर पैदल सेना सहित हजारों घुड़सवार, पूर्व द्वार पर एक अरब राक्षसवीर सैनिक और दक्षिण द्वार पर भी एक अरब राक्षसवीर रक्षक हैं ॥ २०-२१ ॥

मध्यकक्षेऽप्यसङ्ख्याता गजाश्वरथपत्तयः ।
रक्षयन्ति सदा लङ्कां नानास्त्रकुशलाः प्रभो ॥ २२॥

हे प्रभो ! उसके मध्य में भी हाथी, घोड़े, रथ और पैदलों सैनिकों की असंख्य सेनाएँ नगर की रक्षा करती हैं। वह विविध अस्त्र-शस्त्रों में अति निपुण हैं ॥ २२ ॥

सङ्क्रमैर्विविधैर्लङ्का शतघ्नीभिश्च संयुता ।
एवं स्थितेऽपि देवहश शृणु मे तत्र चेष्टितम् ॥ २३॥

इस प्रकार लंका में जाने का मार्ग विविध सुरङ्ग और शतघ्नियों से सुरक्षित है; परन्तु हे देवेश्वर ! इन सभी के रहते हुए भी मैंने जो किया है , उसे सुनिये ॥ २३ ॥

दशाननबलौघस्य चतुर्थांशो मया हतः ।
दग्ध्वा लङ्कां पुरीं स्वर्णप्रासादो धर्षितो मया ॥ २४॥

दशानन रावण की चतुर्थांश सेना को मैं मार चुका हूँ और लंकापुरी को जलाकर उसके सुवर्ण महल को मैंने नष्ट कर दिया है ॥ २४ ॥

शतघ्न्यः सङ्क्रमाश्चैव नाशिता मे रघूत्तम ।
देव त्वद्दर्शनादेव लङ्का भस्मीकृता भवहत् ॥ २५॥

हे रघूत्तम ! मैं सुरङ्ग और शतघ्नियों का नाश कर दिया है। देव ! आपके देखते ही लंका भस्म हो जायगी ॥ २५॥

प्रस्थानं कुरु देवहश गच्छामो लवणाम्बुधेः ।
तीरं सह महावीरैर्वानरौघैः समन्ततः ॥ २६॥

हे देवेश ! आप प्रस्थान कीजिये। हमलोग चारो ओर से महावीर वानरी सेना को लेकर क्षीर समुद्र के तट पर चलें ॥२६॥

श्रुत्वा हनूमतो वाक्यमुवाच रघुनन्दनः ।
सुग्रीव सैनिकान् सर्वान् प्रस्थानायाभिनोदय ॥ २७॥

श्रीहनुमानजी का यह कथन सुनकर श्रीरघुनाथजी बोले सुग्रीव ! सैनिकों को प्रस्थान करने के लिए प्रेरित कीजिये ॥ २७ ॥

इदानीमेव विजयो मुहुर्तः परिवर्तते ।
अस्मिन्मुहुर्ते गत्वाहं लङ्कां राक्षससङ्कुलाम् ॥ २८॥

सप्राकारां सुदुर्धर्षां नाशयामि सरावणाम् ।
आनेष्यामि च सीतां मे दक्षिणाक्षि स्फुरत्यधः ॥ २९॥

इस समय विजय मुहूर्त ही चल रहा है। इस मुहूर्त में प्रस्थान करने के पश्च्यात मैं राक्षसों से सुरक्षित परकोट आदि होने से अति दुर्जेय लंका को रावण सहित नष्ट कर दूंगा और सीताजी को ले आऊँगा। इस समय मेरे दक्षिण नेत्र का अधःभाग फड़क रहा है ॥ २८-२९ ॥

प्रयातु वाहिनी सर्वा वानराणां तरस्विनाम् ।
रक्षन्तु यूथपाः सेनामग्रे पृष्ठे च पार्श्वयोः ॥ ३०॥

इस समय बलवान् वानर वीरों की सभी सेनायें प्रस्थान करें। यूथपति अपनी सेना की चारो तरफ से रक्षा करें ॥ ३० ॥

हनूमन्तमथारुह्य गच्छाम्यग्रेऽङ्गदं ततः ।
आरुह्य लक्ष्मणो यातु सुग्रीव त्वं मया सह ॥ ३१॥

मैं हनुमान के कन्धे पर चढ़कर और लक्ष्मण अंगद के कन्धे पर चढ़कर चले और सुग्रीव ! आप मेरे साथ चलें ॥३१॥

गजो गवाक्षो गवयो मैन्दो द्विविद एव च ।
नलो नीलः सुषेणश्च जाम्बवांश्च तथापरे ॥ ३२॥

सर्वे गच्छन्तु सर्वत्र सेनायाः शत्रुघातिनः ।
इत्याज्ञाप्य हरीन् रामः प्रतस्थे सहलक्ष्मणः ॥ ३३॥

गज, गवाक्ष, गवय, मैन्द, द्विविद, नल, नील, सुषेण, जाम्बवान् तथा शत्रुओं के संहार करनेवाले सभी सेनापति सेनाओं के चारो तरफ

चलें। इस प्रकार वानर वीरों को प्रस्थान के लिए निर्देश देकर श्रीरामचन्द्रजी ने लक्ष्मण सहित प्रस्थान किया ॥ ३२-३३ ॥

सुग्रीवसहितो हर्षात्सेनामध्यगतो विभुः ।
वारणेन्द्रनिभाः सर्वे वानराः कामरूपिणः ॥ ३४॥

अति हर्षपूर्वक श्रीरामचन्द्रजी सुग्रीव के साथ सेना के मध्य में चल रहे थे। सारे वानरवीर गजराज के समान और इच्छानुसार रूप धारण करने वाले थे ॥ ३४॥

क्ष्वेलन्तः परिगर्जन्तो जग्मुस्ते दक्षिणां दिशम् ।
भक्षयन्तो ययुः सर्वे फलानि च मधूनि च ॥ ३५॥

उन वानरों ने उछलते-कूदते और गर्जना करते हुए मधुर फल खाते एवं मधुपान करते हुए दक्षिण दिशा को प्रस्थान किया ॥ ३५॥

ब्रुवन्तो राघवस्याग्रे हनिष्यामोऽद्य रावणम् ।
एवं ते वानरश्रेष्ठा गच्छन्त्यतुलविक्रमाः ॥ ३६॥

श्रीरघुनाथ जी के सामने अतुल पराक्रमी वानर वीर यह कहते हुए जा रहे थे कि हम आज ही रावण को मार देंगे ॥ ३६॥ ।

हरिभ्यामुह्यमानौ तौ शुशुभाते रघूत्तमौ ।
नक्षत्रैः सेवितौ यद्वच्चन्द्रसूर्याविवाम्बरे ॥ ३७॥

जिस प्रकार आकाश मण्डल में नक्षत्रों से सुसेवित चन्द्र और सूर्य सुशोभित होते हैं उसी प्रकार हनुमान एवं अंगद जी के कन्धों पर जाते हुए श्रीराम और लक्ष्मणजी सुशोभित हो रहे थे॥ ३७॥

आवृत्य पृथिवीं कृत्स्नां जगाम महती चमूः ।
प्रस्फोटयन्तः पुच्छाग्रानुद्वहन्तश्च पादपान् ॥ ३८॥

शैलानारोहयन्तश्च जग्मुर्मारुतवहगतः ।
असङ्ख्याताश्च सर्वत्र वानराः परिपूरिताः ॥ ३९॥

वह महती सेना सम्पूर्ण पृथिवी को घेरकर चल रही थी। वानर वीर अपनी पूँछ को झटकारते हुए तथा वृक्षों को उखाड़ते और पर्वतों पर चढ़ते हुए वायुवेग से चल रहे थे। उस समय समस्त दिशाएँ सर्वत्र असंख्य वानरों से परिपूर्ण दिखायी दे रहीं थीं ॥ ३८-३९ ॥

हृष्टास्ते जग्मुरत्यर्थं रामेण परिपालिताः ।
गता चमूर्दिवारात्रं क्वचिन्नासज्जत क्षणम् ॥ ४०॥

भगवान श्रीराम के द्वारा पालित होकर वानरवीर अति हर्षित होकर जा रहे थे। वह सेना अहर्निश चल रही थी और कहीं पर क्षणमात्र को भी नहीं रुकती थी॥ ४०॥

काननानि विचित्राणि पश्यन्मलयसह्ययोः ।
ते सह्यं समतिक्रम्य मलयं च तथा गिरिम् ॥ ४१॥

आययुश्चानुपूर्व्येण समुद्रं भीमनिःस्वनम् ।
अवतीर्य हनूमन्तं रामः सुग्रीवसंयुतः ॥ ४२॥

सलिलाभ्याशमासाद्य रामो वचनमब्रवीत् ।
आगताः स्मो वयं सर्वे समुद्रं मकरालयम् ॥ ४३॥

वह सेना मलय और सह्य पर्वतों के विचित्र वनों को देखते हुए उन दोनों पर्वतों को पारकर भयंकर शब्द करनेवाले समुद्र के तट पर आ गये। तब श्रीरामचन्द्रजी ने हनुमानजी के कन्धे से उतर कर, सुग्रीव के साथ जल के समीप आये और बोले- हमलोग मकरादि से परिपूर्ण समुद्र के तट पर पहुँच गए हैं ॥ ४२-४३॥

इतो गन्तुमशक्यं नो निरुपायेन वानराः ।
अत्र सेनानिवहशोऽस्तु मन्त्रयामोऽस्य तारणे ॥ ४४॥

परन्तु इसके आगे बिना किसी उपाय के हमलोग जाने में असमर्थ हैं। तब तक सेना यहीं पर विश्राम करे, हमलोग समुद्र पार करने के लिये विचार विमर्श करते हैं ॥४४॥

श्रुत्वा रामस्य वचनं सुग्रीवः सागरान्तिके ।
सेनां न्यवहशयत् क्षिप्रं रक्षितां कपिकुञ्जरैः ॥ ४५॥

तब श्रीरामचन्द्रजी के कथन को सुनकर सुग्रीव ने वानरवीरों से रक्षित सेना के लिए समुद्र के तट पर पड़ाव डलवाया ॥४५॥

ते पश्यन्तो विषेदुस्तं सागरं भीमदर्शनम् ।
महोन्नततरङ्गाढ्यं भीमनक्रभयङ्करम् ॥ ४६॥

महा उन्नत तरंगों और भीषण नक्रादि से पूर्ण भयंकर समुद्र को देखकर वह लोग मन ही विषाद करने लगे ॥ ४६॥

अगाधं गगनाकारं सागरं वीक्ष्य दुःखिताः ।
तरिष्यामः कथं घोरं सागरं वरुणालयम् ॥ ४७॥

महान् आकाश के समान इस अगाध समुद्र को देखकर वह अति दुखी हुए और सोचने लगे कि इस घोर वरुणालय सागर को हम कैसे पार कर सकेंगे।॥४७॥

हन्तव्योऽस्माभिरद्यैव रावणो राक्षसाधमः ।
इति चिन्ताकुलाः सर्वे रामपार्श्वे व्यवस्थिताः ॥ ४८॥

हमें तो राक्षसाधम रावण को आज ही मारना है इस प्रकार चिन्ता करते हुए वह श्रीरामचन्द्र जी के समीप बैठ गये ॥ ४८ ॥

रामः सीतामनुस्मृत्य दुःखेन महतावृतः ।
विलप्य जानकीं सीतां बहुधा कार्यमानुषः ॥ ४९॥

श्रीरामचन्द्रजी भी सीताजी का स्मरण कर महान् दुखी हुए और कार्यवश मनुष्य रूप धारण करनेवाले भगवान् श्रीजानकी सीताजी के लिये बिलाप करने लगे।॥ ४९॥

अद्वितीयश्चिदात्मैकः परमात्मा सनातनः ।
यस्तु जानाति रामस्य स्वरूपं तत्त्वतो जनः ॥ ५०॥

तं न स्पृशति दुःखादि किमुतानन्दमव्ययम् ।

दुःखहर्षभयक्रोधलोभमोहमदादयः ॥ ५१॥

अज्ञानलिङ्गान्येतानि कुतः सन्ति चिदात्मनि ।
देहाभिमानिनो दुःखं न देहस्य चिदात्मनः ॥ ५२॥

एक चिदानन्द स्वरूप परमात्मा सनातना पुरुष भगवान श्रीराम के तात्त्विक रूप को जो जानता है उसे दुःख आदि स्पर्श भी नहीं करते ; तब आनंदस्वरूप अविनाशी श्रीरामचन्द्रजी की बात ही क्या है ? दुःख, हर्ष, भय, क्रोध, लोभ, मोह, मदादि अज्ञान के ही चिन्ह है। चिदात्मा भगवान् श्रीराम में ये कैसे हो सकते हैं ? देह अर्जित दुःख देहाभिमानी को ही होता है, चेतन आत्मा को देहार्जनित दुःख नहीं होता ॥ ५०-५२ ॥

सम्प्रसादे द्वयाभावात्सुखमात्रं हि दृश्यते ।
बुद्ध्याद्यभावात्संशुद्धे दुःखं तत्र न दृश्यते ।
अतो दुःखादिकं सर्वं बुद्धेरेव न संशयः ॥ ५३॥

समाधि प्राप्त हो जाने पर हैतु का अभाव हो जाने के कारण केवल सुखमात्र ही दृष्टिगोचर होता है। बुद्धयादि का अभाव हो जाने से उस समय शुद्ध आत्मा में दुःख प्रतीत नहीं होता। अतः निःसन्देह यह दुःखादि धर्म बुद्धि के ही हैं ॥ ५३ ॥

रामः परात्मा पुरुषः पुराणो नित्योदितो नित्यसुखो निरीहः ।
तथापि मायागुणसङ्गतोऽसौ सुखीव दुःखीव विभाव्यतेऽबुधैः ॥५४॥

भगवान् परमात्मा श्रीराम पुराणपुरुष, नित्य, प्रकाशमय, नित्य-सुखस्वरूप और निरीह हैं। तथापि माया के गुणों के संग होने से अज्ञानी पुरुषो को दुःखी अथवा दुःखी जैसा प्रतीत होते हैं ॥५४॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे युद्धकाण्डे
प्रथमः सर्गः ॥ १॥

॥द्वितीयः सर्गः ॥

रावण के द्वारा विभीषण का तिरस्कार

श्रीमहादेव उवाच ।
लङ्कायां रावणो दृष्ट्वा कृतं कर्म हनूमता ।
दुष्करं दैवतैर्वाऽपि ह्रिया किञ्चिदवाङ्मुखः ॥ १॥

आहूय मन्त्रिणः सर्वानिदं वचनमब्रवीत् ।
हनूमता कृतं कर्म भवद्भिर्दृष्टमेव तत् ॥ २॥

श्रीमहादेवजी बोले- लंका में रावण ने हनुमानजी के दुष्कर कृत्य, जो देवताओं के लिये भी दुष्कर था, उसे देखकर लज्जा से सिर नीचाकर अपने मन्त्रियों को बुलाकर कहा-हनुमान द्वारा किये गये कर्म को तो आप सभी ने देख ही लिया ॥ १-२॥

प्रविश्य लङ्कां दुर्धर्षां दृष्ट्वा सीतां दुरासदाम् ।
हत्वा च राक्षसान् वीरानक्षं मन्दोदरीसुतम् ॥ ३॥

दग्ध्वा लङ्कामशेषेण लङ्घयित्वा च सागरम् ।
युष्मान् सर्वानतिक्रम्य स्वस्थोऽगात्पुनरेव सः ॥ ४॥

उसने दुर्धर्षा-लंका पुरी में प्रवेशकर दुष्प्राप्य सीता को देखकर राक्षसवीरों और मन्दोदरीसुत अक्षयकुमार को मारकर तथा लंका को जला कर, आप सबको तिरस्कार करते हुए समुद्र पार कर सकुशल लौट गया ॥३-४॥

किं कर्तव्यमितोऽस्माभिर्यूयं मन्त्रविशारदाः ।
मन्त्रयध्वं प्रयत्नेन यत्कृतं मे हितं भवहत् ॥ ५॥

आप लोग मन्त्र विशारद अर्थात नीति कुशल हैं; क्या करने से मेरा हित हो, यह आप सभी प्रयत्नपूर्वक विचार कीजिये ॥ ५॥

रावणस्य वचः श्रुत्वा राक्षसास्तमथाब्रुवन् ।
देव शङ्का कुतो रामात्तव लोकजितो रणे ॥ ६॥

रावण का यह कथन सुन कर राक्षसगण बोले-दे देव ! राम से आपको क्या शंका है ? युद्ध में तो आपने आप सभी लोकों को जीत ही लिया है ॥६॥

इन्द्रस्तु बद्ध्वा निक्षिप्तः पुत्रेण तव पत्तने ।
जित्वा कुबेरमानीय पुष्पकं भुज्यते त्वया ॥ ७॥

आपके युद्ध में इन्द्र के पुत्र को बाँधकर आपकी राजधानी में रख दिया था और स्वयं आप कुबेर को जीतकर पुष्पकविमान का उपभोग करते हैं ॥ ७॥

यमो जितः कालदण्डाद्भयं नाभूत्तव प्रभो ।
वरुणो हुङ्कृतेनैव जितः सर्वेऽपि राक्षसाः ॥ ८॥

मयो महासुरो भीत्या कन्यां दत्त्वा स्वयं तव ।
त्वद्वशे वर्ततेऽद्यापि किमुतान्ये महासुराः ॥ ९॥

प्रभो ! आपने यम को जीत लिया, तथा उसके कालदण्ड का भी भय आपको नहीं हुआ। केवल हुंकार मात्र से आपने वरुण और राक्षसों को जीत लिये था। अन्य महासुरों का तो क्या कहना, स्वयं मयासुर आपके डर से अपनी कन्या का विवाह आपसे करने के पश्च्यात आज तक आपके वश में है ॥८-९॥

हनूमद्धर्षणं यत्तु तदवज्ञाकृतं च नः ।
वानरोऽयं किमस्माकमस्मिन् पौरुषदर्शने ॥ १०॥

इत्युपेक्षितमस्माभिर्धर्षणं तेन किं भवहत् ।
वयं प्रमत्ताः किं तेन वञ्चिताः स्मो हनूमता ॥ ११॥

हनुमान द्वारा हमारा तिरस्कार तो हमारी ही उपेक्षा से हुआ है। यह वानर है, यह क्या पुरुषार्थ करेगा? इस उपेक्षा के कारण ही उसने पुरुषार्थ दिखाया; अन्यथा क्या वह वानर हमारी उपेक्षा कर सकता था ? अत: असावधान रहने के कारण हनुमान ने हमें वञ्चित ही किया तो क्या हुआ ? ॥१०-११॥

जानीमो यदि तं सर्वे कथं जीवन् गमिष्यति ।
आज्ञापय जगत्कृत्स्नमवानरममानुषम् ॥ १२॥

कृत्वायास्यामहे सर्वे प्रत्येकं वा नियोजय ।
कुम्भकर्णस्तदा प्राह रावणं राक्षसेश्वरम् ॥ १३॥

हमसब उसे जीवित ही कैसे छोड़ सकते हैं? आप आज्ञा दें, हमलोग अभी जाकर इस पृथ्वी को वानर और मनुष्य विहीन कर देते हैं।

अथवा हम में से एक-एक को ही इस कार्य के लिये आज्ञा दीजिये। तत्पश्चात् राक्षसरावण से कुम्भकर्ण बोला ॥ १२-१३ ॥

आरब्धं यत्त्वया कर्म स्वात्मनाशाय केवलम् ।
न दृष्टोऽसि तदा भाग्यात्त्वं रामेण महात्मना ॥ १४॥

आपके द्वारा किया गया कार्य केवल आपका नाश करने के लिये ही है। सौभाग्य से इतना ही अच्छा है कि सीताजी के अपहरण के समय महात्मा राम ने आपको नहीं देखा ॥ १४ ॥

यदि पश्यति रामस्त्वां जीवन्नायासि रावण ।
रामो न मानुषो देवः साक्षान्नारायणोऽव्ययः ॥ १५॥

हे रावण! राम उस समय यदि आपको देख लेते तो आप जीवित नहीं लौटते। राम मनुष्य नहीं हैं; वह साक्षात् अव्यय नारायण देव हैं ॥ १५॥

सीता भगवती लक्ष्मी रामपत्नी यशस्विनी ।
राक्षसानां विनाशाय त्वयानीता सुमध्यमा ॥ १६॥

भगवान् श्रीराम की पत्नी यशस्विनी सीताजी साक्षात् भगवती लक्ष्मीजी ही हैं। उस सुन्दरी को आप राक्षसों के नाश के लिये ही हरण करके लाए हैं ॥ १६ ॥

विषपिण्डमिवागीर्य महामीनो यथा तथा ।
आनीता जानकी पश्चात्त्वया किं वा भविष्यति ॥ १७॥

एक बड़ी मछली जिस प्रकार विषपिण्ड को बिना जाने समझे निगल जाती है, उसी प्रकार आप भी जानकी जी को हरण कर ले आये हैं; न जाने बाद में क्या होगा? ॥१७॥

यद्यप्यनुचितं कर्म त्वया कृतमजानता ।
सर्वं समं करिष्यामि स्वस्थचित्तो भव प्रभो ॥ १८॥

बिना जाने ही यद्यपि आपने बड़ा अनुचित कार्य किया है किन्तु आप शान्त चित्त होइए, मैं सब कुछ ठीक कर दूंगा ॥ १८॥

कुम्भकर्णवचः श्रुत्वा वाक्यमिन्द्रजिदब्रवीत् ।
देहि देव ममानुज्ञां हत्वा रामं सलक्ष्मणम् ।
सुग्रीवं वानरांश्चैव पुनर्यास्यामि तेऽन्तिकम् ॥ १९॥

कुम्भकर्ण का यह कथन सुनकर इन्द्रजित बोला-देव! आप मुझे आज्ञा दें, मैं लक्ष्मण के सहित राम, सुग्रीव और सभी वानरों को मारकर शीघ्र ही आपके समीप पुनः लौट आऊँगा।॥ १९॥

तत्रागतो भागवतप्रधानो विभीषणो बुद्धिमतां वरिष्ठः ।
श्रीरामपादद्वय एकतानः प्रणम्य देवारिमुपोपविष्टः ॥ २०॥

तत्क्षण भागवत प्रधान बुद्धिमानों में श्रेष्ठ विभीषणजी वहाँ आये। श्रीरामचन्द्र के चरणद्वन्द्व में तल्लीन हृदय वह देवशत्रु रावण को प्रणाम कर बैठ गये ॥ २०॥

विलोक्य कुम्भश्रवणादिदैत्यान् मत्तप्रमत्तानतिविस्मयेन ।
विलोक्य कामातुरमप्रमत्तो दशाननं प्राह विशुद्धबुद्धिः ॥ २१॥

उन्होंने कुम्भकर्णादि अति मदोन्मत्त दैत्यों को अति विस्मयपूर्वक देखा। और उसके बाद: प्रमत्त कामातुर रावण को भी देखा, उसे देखकर विशुद्ध बुद्धि वाले विभीषणजी ने रावण से कहा ॥ २१ ॥

न कुम्भकर्णेन्द्रजितौ च राजन् तथा महापार्श्वमहोदरौ तौ ।
निकुम्भकुम्भौ च तथातिकायः स्थातुं न शक्ता युधि राघवस्य ॥२२॥

हे राजन् ! कुम्भकर्ण, इन्द्रजित, महापार्श्व, महोदर, निकुम्भ, कुम्भ तथा अतिकाय आदि कोई भी युद्ध में रघुनाथजी के सामने खड़ा नहीं रह सकता ॥ २२ ॥

सीताभिधानेन महाग्रहेण ग्रस्तोऽसि राजन् न च ते विमोक्षः ।
तामेव सत्कृत्य महाधनेन दत्त्वाभिरामाय सुखी भव त्वम् ॥ २३॥

हे राजन् ! आप सीता नामक महाग्रह से ग्रसित हुए हैं। इससे आपका छुटकारा इस प्रकार संभव नहीं है। आप सत्कारपूर्वक अति धन-धान्य के साथ सीताजी को श्रीरामचन्द्रजी को लौटाकर सुखी हो जाइये ॥ २३॥

यावन्न रामस्य शिताः शिलीमुखा
लङ्कामभिव्याप्य शिरांसि रक्षसाम् ।
छिन्दन्ति तावद्रघुनायकस्य भो-
स्तां जानकीं त्वं प्रतिदातुमर्हसि ॥ २४॥

तब तक आप श्रीरामचन्द्रजी को श्रीजानकी जी को लौटा दें, जब तक उनके तीक्ष्ण बाण लंका में व्याप्त होकर राक्षसों के सिर नहीं काटते ॥२४॥

यावन्नगाभाः कपयो महाबला हरीन्द्रतुल्या नखदंष्ट्रयोधिनः ।
लंका समाक्रम्य विनाशयन्ति ते तावद्द्रुतं देहि रघूत्तमाय ताम्
॥२५॥

नख और दाँतों से युद्ध करने वाले सिंह के समान महाबलशाली पर्वत के समान वानर गण जबतक लंका को नष्ट नहीं करते तब-तक शीघ्र आप सीताजी को श्रीरघुनाथजी को लौटा दीजिये ॥ २५॥

जीवन्न रामेण विमोक्ष्यसे त्वं गुप्तः सुरेन्द्रैरपि शङ्करेण ।
न देवराजाङ्कगतो न मृत्योः पाताललोकानपि सम्प्रविष्टः ॥ २६॥

अन्यथा आप श्रीराम से जीवित नहीं बच सकते, भले ही आपकी इन्द्र अथवा शंकर रक्षा करें, या देवेन्द्र और काल ही अपनी गोद में लेकर आपकी रक्षा करें अथवा आप पाताल में ही क्यों न छिप जाएं ॥ २६ ॥

शुभं हितं पवित्रं च विभीषणवचः खलः ।
प्रतिजग्राह नैवासौ म्रियमाण इवौषधम् ॥ २७॥

वह खल शुभ, हितकारी, पवित्र विभीषण के वचन को उसी प्रकार ग्रहण नहीं किया जिस प्रकार मरने वाला पुरुष औषधि का सेवन नहीं करता ॥२७॥

कालेन नोदितो दैत्यो विभीषणमथाब्रवीत् ।
मद्दत्तभोगैः पुष्टाङ्गो मत्समीपे वसन्नपि ॥ २८॥

प्रतीपमाचरत्येष ममैव हितकारिणः ।
मित्रभावहन शत्रुर्मे जातो नास्त्यत्र संशयः ॥ २९॥

परन्तु काल की प्रेरणा से वह दुष्ट विभीषण से यह कहने लगा कि मेरे दिये हुए भोगों से पुष्ट शरीर वाला मेरे पास रहता हुआ भी मुझ हितकर्ता के विपरीत यह आचरण करता है। निःसन्देह मित्र रूप में यह मेरा शत्रु ही हुआ है ॥ २८-२९ ॥

अनार्येण कृतघ्नेन सङ्गतिर्मे न युज्यते ।
विनाशमभिकाङ्क्षन्ति ज्ञातीनां ज्ञातयः सदा ॥ ३०॥

इस अनार्य और कृतघ्न का मेरे साथ रहना उचित नहीं है। प्रायः हमेशा अपने जातिवालों के नाश की जातिवाले ही इच्छा रखते हैं॥३०॥

योऽन्यस्त्वेवंविधं ब्रूयाद्वाक्यमेकं निशाचरः ।
हन्मि तस्मिन् क्षणे एव धिक् त्वां रक्षःकुलाधमम् ॥ ३१॥

कोई अन्य निशाचर यदि इस प्रकार कहता तो मैं उसे तत्क्षण मार देता। अरे नीच ! तुम्हें धिक्कार है, तू राक्षस कुल में अत्यन्त अधम है ॥ ३१॥

रावणेनैवमुक्तः सन् परुषं स विभीषणः ।
उत्पपात सभामध्याद्गदापाणिर्महाबलः ॥ ३२॥

इस प्रकार रावण के परुष वचन सुनकर महाबली विभीषण हाथ में गदा लेकर सभा के मध्य से उठे ॥ ३२॥

चतुर्भिर्मन्त्रिभिः सार्धं गगनस्थोऽब्रवीद्वचः ।
क्रोधेन महताविष्टो रावणं दशकन्धरम् ।
मा विनाशमुपैहि त्वं प्रियवादिनमेव माम् ॥ ३३॥

और अपने चार मन्त्रियों के साथ आकाश में स्थित होकर अति क्रोधित होकर दशानन रावण से कहने लगे ॥ ३३ ॥

धिक्करोषि तथापि त्वं ज्येष्ठो भ्राता पितुः समः ।
कालो राघवरूपेण जातो दशरथालये ॥ ३४॥

मैं सोचता हूँ कि तुम्हारा नाश न हो और तुम मुझ प्रियवादी को धिक्कारते हो। तुम मेरे बड़े भाई, पिता के समान हो, तुम्हारा काल महाराज दशरथ के घर श्रीरघुनाथजी के रूप में प्रकट हो गया है ॥ ३४॥

काली सीताभिधानेन जाता जनकनन्दिनी ।
तावुभावागतावत्र भूमेर्भारापनुत्तये ॥ ३५॥

महाशक्ति काली ही श्री सीता जी नाम से जनकजी की कन्या हुई हैं। ये दोनों पृथ्वी का भार हरण करने के लिये ही यहाँ आये हैं ॥३५॥

तेनैव प्रेरितस्त्वं तु न शृणोषि हितं मम ।
श्रीरामः प्रकृतेः साक्षात्परस्तात्सर्वदा स्थितः ॥ ३६॥

उनसे प्रेरित हो तू मेरा हितैषी वचन नहीं सुनता। भगवान् श्रीराम सर्वदा साक्षात् परब्रह्म और प्रकृति से परे हैं ॥ ३६ ॥

बहिरन्तश्च भूतानां समः सर्वत्र संस्थितः ।
नामरूपादिभेदेन तत्तन्मय इवामलः ॥ ३७॥

वह प्राणियों के बाहर-भीतर सर्वत्र समभाव से स्थित हैं तथा नामरूपादि भेद से वे पृथक्-पृथक भासित होते हैं ॥ ३७॥

यथा नानाप्रकारेषु वृक्षेष्वेको महानलः ।
तत्तदाकृतिभेदेन भिद्यतेऽज्ञानचक्षुषाम् ॥ ३८॥

पञ्चकोशादिभेदेन तत्तन्मय इवाबभौ ।
नीलपीतादियोगेन निर्मलः स्फटिको यथा ॥ ३९॥

जिस प्रकार एक ही महाग्नि अज्ञानियों की दृष्टि में अनेक वृक्षों में उनकी आकृतिवश विभिन्न प्रतीत होती है, अथवा जैसे शुद्ध स्फटिक मणि नीलपीतादि वर्गों के संयोग से तत्तद् वर्णों वाली प्रतीत होती है, उसीप्रकार पञ्चकोश आदि भेद से आत्मा तद्वत् भासित होता है ॥ ३८-३९ ॥

स एव नित्यमुक्तोऽपि स्वमायागुणबिम्बितः ।
कालः प्रधानं पुरुषोऽव्यक्तं चेति चतुर्विधः ॥ ४०॥

वे ही नित्यमुक्त होकर भी अपने माया के गुणों में प्रतिबिम्बित हो काल, प्रधान, पुरुष और अव्यक्त चार प्रकार से व्यवहृत होते हैं ॥ ४० ॥

प्रधानपुरुषाभ्यां स जगत्कृत्स्नं सृजत्यजः ।
कालरूपेण कलनां जगतः कुरुतेऽव्ययः ॥ ४१॥

वह जन्म रहित होकर भी प्रधान और पुरुष से इस सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि करते हैं और अविनाशी होकर भी कालरूप से इस जगत् का लय करते हैं ॥४१॥

कालरूपी स भगवान् रामरूपेण मायया ॥ ४२॥

ब्रह्मणा प्रार्थितो देवस्त्वद्वधार्थमिहागतः ।
तदन्यथा कथं कुर्यात्सत्यसङ्कल्प ईश्वरः ॥ ४३॥

ब्रह्मा की प्रार्थना से आपका वध करने के लिये वह यहाँ आए हैं। अत: सत्य संकल्प ईश्वर अपना संकल्प अन्यथा कैसे कर सकते हैं ॥ ४२-४३ ॥

हनिष्यति त्वां रामस्तु सपुत्रबलवाहनम् ।
हन्यमानं न शक्नोमि द्रष्टुं रामेण रावण ॥ ४४॥

त्वां राक्षसकुलं कृत्स्नं ततो गच्छामि राघवम् ।
मयि याते सुखीभूत्वा रमस्व भवने चिरम् ॥ ४५॥

अत: निश्चय ही पुत्र, सेना, वाहन सहित आपको श्रीरामचन्द्रजी मारेंगे। हे रावण ! राम द्वारा राक्षसकुल सहित आपका संहार मैं नहीं देख

सकता। अतएव मैं श्रीरघुनाथजी के पास जाता हूँ। मेरे जाने पर सुखी हो आप राजमहल में सुख भोग कीजिए ॥ ४४-४५॥

विभीषणो रावणवाक्यतः क्षणाद्विसृज्य सर्वं सपरिच्छदं गृहम् ।
जगाम रामस्य पदारविन्दयोः सेवाभिकाङ्क्षी परिपूर्णमानसः ॥४६॥

इस प्रकार रावण के कठोर वाक्यों से क्षणभर में ही गृह और अपनी सम्पूर्ण सामग्री को छोड़कर संतुष्ट मन से विभीषण भगवान् श्रीराम के चरणारविन्द की सेवा भावना से उनके पास चल दिए ॥ ४६ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे युद्धकाण्डे द्वितीयः सर्गः ॥ २॥

॥तृतीयः सर्गः ॥

विभीषण की शरणागति, समुद्र का त्रास और सेतु-बन्ध का प्रारम्भ

श्रीमहादेव उवाच ।
विभीषणो महाभागश्चतुर्भिर्मन्त्रिभिः सह ।
आगत्य गगने रामसम्मुखे समवस्थितः ॥ १॥

श्री महादेवजी ने कहा- तत्पश्चात् महाभाग विभीषण अपने चार मन्त्रियों सहित आकाश में आकर श्रीरघुनाथजी के सामने स्थित हुए ॥१॥

उच्चैरुवाच भोः स्वामिन् राम राजीवलोचन ।
रावणस्यानुजोऽहं ते दारहर्तुर्विभीषणः ॥ २॥

नाम्ना भ्रात्रा निरस्तोऽहं त्वामेव शरणं गतः ।
हितमुक्तं मया देव तस्य चाविदितात्मनः ॥ ३॥

और वह उच्च-स्वर में कहने लगे-भो स्वामिन् ! कमल लोचन श्रीराम ! आपकी भार्या हरण करने वाले रावण का मैं छोटा भाई विभीषण हूँ। मुझे मेरे भाई ने निकाल दिया है। मै आपकी शरण में आया हूँ। हे देव! उस अज्ञानी के हित की बात मैंने उसे बताई थी । ॥२-३ ॥

सीतां रामाय वैदेहीं प्रेषयेति पुनः पुनः ।
उक्तोऽपि न शृणोत्येव कालपाशवशं गतः ॥ ४॥

मैंने बार बार उससे कहा था कि वैदेही सीता को राम के पास भेज दो। परन्तु यह कहने पर भी काल के वश हुए वह रावण ने मेरी बात नहीं सुनता ॥ ४ ॥

हन्तुं मां खड्गमादाय प्राद्रवद्राक्षसाधमः ।
ततोऽचिरेण सचिवैश्चतुर्भिः सहितो भयात् ॥ ५॥

त्वामेव भवमोक्षाय मुमुक्षुः शरणं गतः ।
विभीषणवचः श्रुत्वा सुग्रीवो वाक्यमब्रवीत् ॥ ६॥

इस समय खड्ग लेकर मारने के लिये वह राक्षसाधम दौड़ा। अत-एव भयवश अपने चार मन्त्रियों सहित मैं भवसागर से मुक्त होने के लिए मुमुक्षु की भावना से आपकी शरण में आया हूँ। विभीषण का यह वचन सुनकर सुग्रीव बोले ॥५-६॥

विश्वासार्हो न ते राम मायावी राक्षसाधमः ।
सीताहर्तुर्विशेषेण रावणस्यानुजो बली ॥ ७॥

हे राम! यह मायावी राक्षस आपके विश्वास योग्य नहीं है। विशेषरूप से यह तो सीताजी को हरण करने वाले रावण का भाई और अतिबली है ॥ ७॥

मन्त्रिभिः सायुधैरस्मान् विवरे निहनिष्यति ।
तदाज्ञापय मे देव वानरैर्हन्यतामयम् ॥ ८॥

देव ! यह अपने सशस्त्र मन्त्रियों के साथ एकान्त में हमें मार देगा। अत: आप मुझे आज्ञा दें, वानर इनका वध कर देंगे ! ८॥

ममैवं भाति मे राम बुद्ध्या किं निश्चितं वद ।
श्रुत्वा सुग्रीववचनं रामः सस्मितमब्रवीत् ॥ ९॥

हे राम ! मुझे तो यही उचित प्रतीत होता है; आपने स्वयं क्या निश्चित किया हैं ? सुग्रीव का यह कथन सुनकर भगवान् श्री राम मुस्कुराकर बोले ॥ ९॥

यदीच्छामि कपिश्रेष्ठ लोकान् सर्वान् सहेश्वरान् ।
निमिषार्धेन संहन्यां सृजामि निमिषार्धतः ॥ १०॥

अतो मयाऽभयं दत्तं शीघ्रमानय राक्षसम् ॥ ११॥

हे कपिश्रेष्ठ! मेरी यदि ईच्छा हो तो अर्द्धनिमेष मात्र में ही लोकपालों के सहित सम्पूर्ण लोकों का नाश कर सकता हूँ और आधे निमेष में ही सम्पूर्ण सृष्टि की रचना कर सकता हूँ। अत: इस राक्षस को मैं अभयदान देता हूँ; तुम शीघ्र इसे मेरे पास ले आओ ॥ १०-११॥

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥ १२॥

एकबार भी "मै आपका हूँ" यह कह कर जो मेरी शरण में आता है, उसे सम्पूर्ण भूतों से मैं अभय प्रदान करता हूँ, यह मेरा व्रत है ॥ १२॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा सुग्रीवो हृष्टमानसः ।
विभीषणमथानाय्य दर्शयामास राघवम् ॥ १३॥

राम का यह कथन सुनकर हर्षित होकर सुग्रीव ने विभीषण बुलाकर श्रीरघुनाथजी का दर्शन कराया ॥ १३ ॥

विभीषणस्तु साष्टाङ्गं प्रणिपत्य रघूत्तमम् ।
हर्षगद्गदया वाचा भक्त्या च परयान्वितः ॥ १४॥

रामं श्यामं विशालाक्षं प्रसन्नमुखपङ्कजम् ।
धनुर्बाणधरं शान्तं लक्ष्मणेन समन्वितम् ॥ १५॥

कृताञ्जलिपुटो भूत्वा स्तोतुं समुपचक्रमे ॥ १६॥

विभीषण ने भी श्रीरघुनाथजो को साष्टांग प्रणाम कर, हर्ष से गदगद होकर परम भक्त की भांति हाथ जोड़कर शान्तमूर्ति प्रसन्नमुखारविन्द, विशाल नयन, श्यामसुन्दर धनुर्बाणधारी भगवान श्रीरामचन्द्रजी की लक्ष्मणजी के सहित स्तुति करना प्रारम्भ किया ॥ १४-१६॥

विभीषण उवाच ।
नमस्ते राम राजेन्द्र नमः सीतामनोरम ।
नमस्ते चण्डकोदण्ड नमस्ते भक्तवत्सल ॥ १७॥

विभीषण बोले-हे राजेन्द्र श्रीराम ! आपको नमस्कार है। हे श्री सीताजी के मन में रमण करने वाले ! आपको नमस्कार है। हे प्रचण्ड धनुष को धारण करने वाले ! आपको नमस्कार है। हे भक्तवत्सल ! आपको नमस्कार है ॥ १७ ॥

नमोऽनन्ताय शान्ताय रामायामिततेजसे ।

सुग्रीवमित्राय च ते रघूणां पतये नमः ॥ १८॥

हे अनन्त, शान्त, अतुलतेजस्वी, सुग्रीव सखा, रघुनायक भगवान राम ! आपको नमस्कार है ॥ १८ ॥

जगदुत्पत्तिनाशानां कारणाय महात्मने ।
त्रैलोक्यगुरवहऽनादिगृहस्थाय नमो नमः ॥ १९॥

हे जगत् की उत्पत्ति तथा नाश के कारण, त्रैलोक्य के गुरु, अनादि गृहस्थ श्रीराम ! आपको नमस्कार है ॥ १९ ॥

त्वमादिर्जगतां राम त्वमेव स्थितिकारणम् ।
त्वमन्ते निधनस्थानं स्वेच्छाचारस्त्वमेव हि ॥ २०॥

हे राम! आप जगत् के आदि स्थिति और अन्त में लय स्थान हैं। आप अपनी ईच्छा से रमण करने वाले हैं ॥२०॥

चराचराणां भूतानां बहिरन्तश्च राघव ।
व्याप्यव्यापकरूपेण भवान् भाति जगन्मयः ॥२१॥

हे राघव ! चराचर जीवों को बाहर और भीतर व्यापक रूप से आप विश्वरूप भासित हो रहे हैं ॥२१॥

त्वन्मायया हृतज्ञाना नष्टात्मानो विचेतसः ।
गतागतं प्रपद्यन्ते पापपुण्यवशात्सदा ॥ २२॥

आपकी माया से हृत ज्ञान वाले, नष्टबुद्धि मूढ़ पुरुष अपने पाप-पुण्यकर्मों वश बारम्बार संसार चक्र के आवागमन में लगे रहते हैं ॥ २२ ॥

तावत्सत्यं जगद्भाति शुक्तिकारजतं यथा ।
यावन्न ज्ञायते ज्ञानं चेतसानन्यगामिना ॥२३॥

अनन्य गामी मन के द्वारा आपके स्वरूप का जबत क ज्ञान नहीं होता तब-तक ही सीप में रजत की भाँति यह जगत्सत्य प्रतीत होता है ॥ २३ ॥

त्वदज्ञानात्सदा युक्ताः पुत्रदारगृहादिषु ।
रमन्ते विषयान् सर्वानन्ते दुःखप्रदान् विभो ॥ २४॥

हे विभो ! आपके स्वरूप को नहीं जानने से ही प्राणी पुत्र, स्त्री, गृह आदि में आसक्त होकर अन्त में दुःख देने वाले इन सभी विषयों में रमण करते रहते हैं ॥ २४॥

त्वमिन्द्रोऽग्निर्यमो रक्षो वरुणश्च तथानिलः ।
कुबेरश्च तथा रुद्रस्त्वमेव पुरुषोत्तम ॥ २५॥

हे पुरुषोत्तम! आप ही इन्द्र, अग्नि, यम, निऋति, वरुण तथा वायु हैं और आप ही कुबेर तथा रूद्र भी हैं ॥२५॥

त्वमणोरप्यणीयांश्च स्थूलात् स्थूलतरः प्रभो ।
त्वं पिता सर्वलोकानां माता धाता त्वमेव हि ॥ २६॥

हे प्रभो! आप सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से भी महान हैं। आप ही सम्पूर्ण लोकों के माता-पिता और धारण-पोषण करने वाले हैं ॥२६॥

आदिमध्यान्तरहितः परिपूर्णोऽच्युतोऽव्ययः ।
त्वं पाणिपादरहितश्चक्षुःश्रोत्रविवर्जितः ॥ २७॥

आप आदि, मध्य और अन्य रहित सर्वत्र व्याप्त अच्युत और अविनाशी हैं। आप हस्त-पाद एवं कर्ण रहित हैं ॥ २७ ॥

श्रोता द्रष्टा ग्रहीता च जवनस्त्वं खरान्तक ।
कोशेभ्यो व्यतिरिक्तस्त्वं निर्गुणो निरुपाश्रयः ॥ २८॥

परन्तु हे खरान्तक ! आप सब कुछ द्रष्टा, श्रोता तथा ग्रहीता और अतिवेगवान हैं। हे प्रभो! आप अन्नमयदि पाँच कोशों से रहित निर्गुण और निराश्रय हैं ॥ २८॥

निर्विकल्पो निर्विकारो निराकारो निरीश्वरः ।
षड्भावरहितोऽनादिः पुरुषः प्रकृतेः परः ॥ २९॥

आप निर्विकल्प, निर्विकार, निराकार, निरीश्वर, षड्भावरहित, अनादि पुरुष और प्रकृति से परे हैं ॥ २९ ॥

मायया गृह्यमाणस्त्वं मनुष्य इव भाव्यसे ।
ज्ञात्वा त्वां निर्गुणमजं वैष्णवा मोक्षगामिनः ॥ ३०॥

आप माया से संयोग होने से ही मनुष्य जैसे प्रतीत हो रहे हैं। वैष्णव लोग आपको निर्गुण तथा अजन्मा समझकर मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥३०॥

अहं त्वत्पादसद्भक्तिनिःश्रेणीं प्राप्य राघव ।
इच्छामि ज्ञानयोगाख्यं सौधमारोढुमीश्वर ॥ ३१॥

हे राघव! हे प्रभो! मैं आपके चरणारविन्द की विशुद्ध भक्ति रूपी सीढ़ी पाकर ज्ञानयोग नामक राजभवन के शिखर पर आरूढ़ होना चाहता हूँ ॥३१ ॥

नमः सीतापते राम नमः कारुणिकोत्तम ।
रावणारे नमस्तुभ्यं त्राहि मां भवसागरात् ॥ ३२॥

हे कारूणिकोत्तम सीतापते श्रीराम ! आपको बारम्बार नमस्कार है। हे रावणारे ! आपका नमस्कार है। आप भवसागर से मेरी रक्षा करें ॥ ३२॥

ततः प्रसन्नः प्रोवाच श्रीरामो भक्तवत्सलः ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते वाञ्छितं वरदोऽस्म्यहम् ॥ ३३॥

तब भक्तवत्सल श्रीराम प्रसन्न होकर बोले-हे भद्र ! मैं तुझ पर प्रसन्न होकर वर देना चाहता हूँ । जो तुम्हारी इच्छा हो माँग लो। ॥ ३३ ॥

विभीषण उवाच ।
धन्योऽस्मि कृतकृत्योऽस्मि कृतकार्योऽस्मि राघव ।
त्वत्पाददर्शनादेव विमुक्तोऽस्मि न संशयः ॥ ३४॥

विभीषण ने कहा-हे रघुनन्दन ! मैं धन्य हूँ, आपके चरणारविन्द के दर्शन से ही मैं कृत-कृत्य हो गया और जो मुझे प्राप्त करना था, वह मिल गया। अब मैं मुक्त हूँ, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ३४ ॥

नास्ति मत्सदृशो धन्यो नास्ति मत्सदृशः शुचिः ।
नास्ति मत्सदृशो लोके राम त्वन्मूर्तिदर्शनात् ॥ ३५॥

हे राम! मैंने आपका दर्शन किया। अत: मेरे समान धन्य और पवित्र तीनों लोकों में कोई नहीं है।॥ ३५ ॥

कर्मबन्धविनाशाय त्वज्ज्ञानं भक्तिलक्षणम् ।
त्वद्ध्यानं परमार्थं च देहि मे रघुनन्दन ॥ ३६॥

हे रघुनन्दन ! कर्म बन्धन विनाश के लिये अपनी भक्ति से प्राप्त होने वाला ज्ञान और आपके परमार्थ स्वरूप को साक्षात कराने वाला ध्यान आप मुझे दीजिये ॥ ३६॥

न याचे राम राजेन्द्र सुखं विषयसम्भवम् ।
त्वत्पादकमले सक्ता भक्तिरेव सदास्तु मे ॥ ३७॥

हे राजेन्द्र ! मैं विषयों से उत्पन्न सुख को नहीं चाहता। आपके चरणारविन्द में सतत मेरी भक्ति हो, यह मैं चाहता हूँ ॥३७ ॥

ओमित्युक्त्वा पुनः प्रीतो रामः प्रोवाच राक्षसम् ।
शृणु वक्ष्यामि ते भद्रं रहस्यं मम निश्चितम् ॥ ३८॥

'ओम्' स्वीकारात्मक शब्द कहकर और प्रसन्न हो श्रीरामचन्द्रजी ने कहा- भद्र ! मैं अपना निश्चित रहस्य कहता हूँ, तुम सुनो ॥३८॥

मद्भक्तानां प्रशान्तानां योगिनां वीतरागिणाम् ।
हृदये सीतया नित्यं वसाम्यत्र न संशयः ॥ ३९॥

शान्त चित्त, विरक्त और योगनिष्ठ अपने भक्त के हृदय में सीताजी सहित मै हमेशा निःसन्देह रहता हूँ ॥३९॥

तस्मात्त्वं सर्वदा शान्तः सर्वकल्मषवर्जितः ।
मां ध्यात्वा मोक्ष्यसे नित्यं घोरसंसारसागरात् ॥ ४०॥

अत: सर्वदा शान्त और पाप रहित होकर मेरा ध्यान करने से तुम घोर सांसार-सागर को पार कर जाओगे॥ ४०॥

स्तोत्रमेतत्पठेद्यस्तु लिखेद्यः शृणुयादपि ।
मत्प्रीतये ममाभीष्टं सारूप्यं समवाप्नुयात् ॥ ४१॥

जो प्राणी इस स्तोत्र को पढ़े, लिखे अथवा श्रवण करे वह मेरा प्रिय सारूप्य पद प्राप्त करता है ॥ ४१ ॥

इत्युक्त्वा लक्ष्मणं प्राह श्रीरामो भक्तभक्तिमान् ।
पश्यत्विदानीमेवैष मम सन्दर्शने फलम् ॥ ४२॥

विभीषण से यह कहकर भक्तवत्सल श्रीरामचन्द्रजी ने लक्ष्मण से कहा-यह तत्क्षण मेरे दर्शन का फल प्राप्त करे ॥ ४२ ॥

लङ्काराज्येऽभिषेक्ष्यामि जलमानय सागरात् ।
यावच्चन्द्रश्च सूर्यश्च यावत्तिष्ठति मेदिनी ॥ ४३॥

यावन्मम कथा लोके तावद्राज्यं करोत्वसौ ।
इत्युक्त्वा लक्ष्मणेनाम्बु ह्यानाय्य कलशेन तम् ॥ ४४॥

लङ्काराज्याधिपत्यार्थमभिषेकं रमापतिः ।
कारयामास सचिवैर्लक्ष्मणेन विशेषतः ॥ ४५॥

तुम समुद्र से जल ले आओ; इसे मैं लंका के राज्य पर अभिषिक्त करता है। जब तक चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी और मेरी कथा लोक में प्रसिद्ध रहे, तब तक यह लंका पर राज्य करे। यह कहकर श्रीरमापति भगवान् श्रीराम ने लक्ष्मण जी से कलश में समुद्र का जल मॅगवाया ओर मन्त्रियों तथा विशेषरूप से लक्ष्मणजी से विभीषण को लंका के राज्यपद पर अभिषिक्त कराया ॥ ४३-४५॥

साधु साध्विति ते सर्वे वानरास्तुष्टुवुर्भृशम् ।
सुग्रीवोऽपि परिष्वज्य विभीषणमथाब्रवीत् ॥ ४६॥

प्रसन्न होकर साधु-साधु यह वानर गण कहने लगे। तब विभीषण को गले लगाकर सुग्रीव ने कहा ॥ ४६॥

विभीषण वयं सर्वे रामस्य परमात्मनः ।
किङ्करास्तत्र मुख्यस्त्वं भक्त्या रामपरिग्रहात् ।
रावणस्य विनाशे त्वं साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥ ४७॥

विभीषण ! हम सभी परमात्मा राम के दास हैं, परन्तु तुम हमलोगों में सबसे प्रधान हो; क्योंकि तुम केवल भक्ति से ही शरण में आये हो। अत: रावण का नाश करने में अब तुम्हें हम लोगों की मदद करनी चाहिए ॥४७॥

विभीषण उवाच ।
अहं कियान् सहायत्वे रामस्य परमात्मनः ।
किं तु दास्यं करिष्येऽहं भक्त्या शक्त्या ह्यमायया ॥ ४८॥

विभीषण बोले-मैं परमात्मा राम की सहायता ही क्या कर सकता हूँ, किन्तु अपनी शक्ति के अनुसार कपट रहित हो भक्ति पूर्वक उनकी सेवा करूँगा ॥ ४८॥

दशग्रीवहण सन्दिष्टः शुको नाम महासुरः ।
संस्थितो ह्यम्बरे वाक्यं सुग्रीवमिदमब्रवीत् ॥ ४९॥

इसी समयं दशग्रीव रावण द्वारा भेजा गया शुक नामक महासुर आकाश में स्थित होकर सुग्रीव से इस प्रकार कहने लगा ॥ ४९॥

त्वामाह रावणो राजा भ्रातरं राक्षसाधिपः ।
महाकुलप्रसूतस्त्वं राजासि वनचारिणाम् ॥ ५०॥

राक्षसाधिप रावण भाई के समान तुम्हें मानते हैं और तुमसे कह रहे हैं कि बड़े कुल में तुम उत्पन्न होकर वानरों के राजा बने हो ॥ ५०॥

मम भ्रातृसमानस्त्वं तव नास्त्यर्थविप्लवः ।
अहं यदहरं भार्यां राजपुत्रस्य किं तव ॥ ५१॥

तुम मेरे छोटे भाई के समान हो तथा तुम्हारा स्वार्थ हनन भी नहीं हुआ है; यदि मै राजकुमार की स्त्री का हरण किया भी है तो इससे तुम्हारा क्या प्रयोजन ? ॥ ५१ ॥

किष्किन्धां याहि हरिभिर्लङ्का शक्या न दैवतैः ।
प्राप्तुं किं मानवैरल्पसत्त्वैर्वानरयूथपैः ॥ ५२॥

अत: अपनी वानरी सेना को लेकर किष्किन्धा को लौट जाओ। लंका को तो देवता भी प्राप्त नहीं कर सकते। तब अल्पशक्ति वाले मनुष्य और वानरयूथों की क्या गणना है ? ॥ ५२ ॥

तं प्रापयन्तं वचनं तूर्णमुत्प्लुत्य वानराः ।
प्रापद्यन्त तदा क्षिप्रं निहन्तुं दृढमुष्टिभिः ॥ ५३॥

इस प्रकार सन्देश सुनाते हुए शुक को अपने दृढ़ मुष्टिका से मारने के लिये वानरगणों ने शीघ्र ही उछल कर पकड़ लिया ॥ ५३ ॥

वानरैर्हन्यमानस्तु शुको राममथाब्रवीत् ।
न दूतान् घ्नन्ति राजेन्द्र वानरान् वारय प्रभो ॥ ५४॥

वानरों के मारने पर श्रीरामचन्द्रजी से शुक कहा-हे राजेन्द्र ! दूतों को लोग नहीं मारते; अत: हे प्रभो ! आप वानरों को रोकिये ॥५४॥

रामः श्रुत्वा तदा वाक्यं शुकस्य परिदेवितम् ।
मा वधिष्टेति रामस्तान् वारयामास वानरान् ॥ ५५॥

शुक का करुणायुक्त यह कथन सुनकर श्रीरामचन्द्रजी ने इसे मत मारो, यह कहकर वानरों को रोक दिया ॥५५॥

पुनरम्बरमासाद्य शुकः सुग्रीवमब्रवीत् ।
ब्रूहि राजन् दशग्रीवं किं वक्ष्यामि व्रजाम्यहम् ॥ ५६॥

तत्पश्चात् पुनः आकाश में जाकर शुक सुग्रीव से बोला-हे राजन् ! मै दशग्रीव रावण से क्या कहूँगा ? यह आप कहिये, मैं जाता हूँ ॥ ५६ ॥

सुग्रीव उवाच ।
यथा वाली मम भ्राता तथा त्वं राक्षसाधम ।
हन्तव्यस्त्वं मया यत्नात्सपुत्रबलवाहनः ॥ ५७॥

सुग्रीव बोले-उससे कहना कि हे राक्षसाधम ! जिस प्रकार वाली मेरा भाई था, उसी प्रकार तू भी मेरा भाई है। जिस प्रकार मैंने वाली को मारा उसी प्रकार तुम भी पुत्र, सेना, वाहन आदि के सहित मेरे द्वारा मारे जाओगे ॥५७ ॥

ब्रूहि मे रामचन्द्रस्य भार्यां हृत्वा क्व यास्यसि ।
ततो रामाज्ञया धृत्वा शुकं बध्वान्वरक्षयत् ॥ ५८॥

तू हमारे श्रीरामचन्द्रजी की भार्या का अपहरण कर कहाँ जा सकते हो ? तब भगवान राम की आज्ञा से सुग्रीव ने शुक को पकड़कर बाँधकर वानरों को देख रेख में लगा दिया ॥ ५८ ॥

शार्दूलोऽपि ततः पूर्वं दृष्ट्वा कपिबलं महत् ।

यथावत्कथयामास रावणाय स राक्षसः ॥ ५९॥

शुक से पहले ही शार्दूल नामक दूत ने वानरों की महती सेना के विषय में रावण से यथावत् कह दिया था ॥ ५९॥

दीर्घचिन्तापरो भूत्वा निःश्वसन्नास मन्दिरे ।
ततः समुद्रमावहक्ष्य रामो रक्तान्तलोचनः ॥ ६०॥

तब दीर्घ निःश्वास लेता हुआ अति चिन्तामग्न हो कर रावण अपने महल में बैठा रहा। इसी समय क्रोध से लाल नेत्र कर समुद्र को देखकर भगवान् राम बोले ॥ ६० ॥

पश्य लक्ष्मण दुष्टोऽसौ वारिधिर्मामुपागतम् ।
नाभिनन्दति दुष्टात्मा दर्शनार्थं ममानघ ॥ ६१॥

लक्ष्मण ! देखो यह वारिघि कितना दुष्ट है? मै इसके पास आया हूँ और हे अनघ! यह दुष्टात्मा समुद्र मुझे देखकर भी मेरा अभिनन्दन नहीं करता ॥ ६१ ॥

जानाति मानुषोऽयं मे किं करिष्यति वानरैः ।
अद्य पश्य महाबाहो शोषयिष्यामि वारिधिम् ॥ ६२॥

यह समझता है कि यह साधारण मनुष्य ही तो हैं; वानरों के साथ यह मेरा क्या कर लेंगे। हे महाबाहो ! देखो, आज मैं इस समुद्र को सुखा देता हूँ ॥ ६२॥

पादेनैव गमिष्यन्ति वानरा विगतज्वराः ।

इत्युक्त्वा क्रोधताम्राक्ष आरोपितधर्नुर्धरः ॥ ६३॥

तूणीराद्बाणमादाय कालाग्निसदृशप्रभम् ।
सन्धाय चापमाकृष्य रामो वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ६४॥

वानरगण निश्चिन्त होकर पैदल ही समुद्र को पार कर जायेंगे। यह कहकर भगवान् श्रीराम ने क्रोध से आँखें लाल कर अपने धनुष को चढ़ाया और तूणीर से कालाग्नि के समान एक तेजोमय बाण को निकाल कर धनुष पर रखा और धनुष को खींचते हुए बोले ॥ ६३-६४ ॥

पश्यन्तु सर्वभूतानि रामस्य शरविक्रमम् ।
इदानीं भस्मसात्कुर्यां समुद्रं सरितां पतिम् ॥ ६५॥

सम्पूर्ण प्राणी आज राम के बाण का पराक्रम देखें; मैं इसी समय सरित् पति समुद्र को भस्म कर देता हूँ ॥६५॥

एवं ब्रुवति रामे तु सशैलवनकानना ।
चचाल वसुधा द्यौश्च दिशश्च तमसावृताः ॥ ६६॥

भगवान श्रीरामचन्द्र के यह कहते ही पर्वतादि सहित वन और सम्पूर्ण पृथ्वी कम्पायमान हो गयी और आकाश तथा दसों दिशाओं में अन्धकार छा गया ॥ ६६ ॥

चुक्षुभे सागरो वहलां भयाद्योजनमत्यगात् ।
तिमिनक्रझषा मीनाः प्रतप्ताः परितत्रसुः ॥ ६७॥

समुद्र क्षुभित हो गया तथा भय से अपना तट छोड़कर एक योजन आगे आ गया। बड़े-बड़े नक्र, मत्स्य, मकर, मछलियाँ सन्तप्त होकर त्रस्त हो गयीं ॥ ६७ ॥

एतस्मिन्नन्तरे साक्षात्सागरो दिव्यरूपधृक् ।
दिव्याभरणसम्पन्नः स्वभासा भासयन् दिशः ॥ ६८॥

स्वान्तःस्थदिव्यरत्नानि कराभ्यां परिगृह्य सः ।
पादयोः पुरतः क्षिप्त्वा रामस्योपायनं बहु ॥ ६९॥

दण्डवत्प्रणित्याह रामं रक्तान्तलोचनम् ।
त्राहि त्राहि जगन्नाथ राम त्रैलोक्यरक्षक ॥ ७०॥

इसी समय साक्षात् सागर दिव्य रूप धारण कर दिव्य आभूषण युक्त अपने प्रकाश से दिशाओं को पवित्र करता हुआ अपने हाथों में दिव्य रत्न लेकर स्वयं उपस्थित हुआ और भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के चरणों में विविध उपहार रखकर और क्रोध से रक्त नेत्रों के मध्यभाग वाले श्रीरघुनाथजी को साष्टाङ्ग दण्डवत् कर कहने लगा हे त्रैलोक्यरक्षक जगन्नाथ श्रीरामचन्द्रजी । मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये ॥ ६८-७०॥

जडोऽहं राम ते सृष्टः सृजता निखिलं जगत् ।
स्वभावमन्यथा कर्तुं कः शक्तो देवनिर्मितम् ॥ ७१॥

हे राम ! सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि करते समय आपने ही मुझे जड बनाया था तब आपके द्वारा निर्मित स्वभाव को कौन बदल सकता है ? ॥ ७१ ॥

स्थूलानि पञ्चभूतानि जडान्येव स्वभावतः ।
सृष्टानि भवतैतानि त्वदाज्ञां लङ्घयन्ति न ॥ ७२॥

आपने स्वभाव से स्थूल पञ्चभूतों को जड ही बनाया है; वह आपकी आज्ञा की अवहेलना नहीं कर सकते ॥७२॥

तामसादहमो राम भूतानि प्रभवन्ति हि ।
कारणानुगमात्तेषां जडत्वं तामसं स्वतः ॥ ७३॥

हे राम ! तामस अहंकार से पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं। अत: अपने कारण का अनुगमन करने से उनका स्वतः जडत्व सिद्ध होता है ॥ ७३ ॥

निर्गुणस्त्वं निराकारो यदा मायागुणान् प्रभो ।
लीलयाङ्गीकरोषि त्वं तदा वैराजनामवान् ॥ ७४॥

हे प्रभो! आप निर्गुण निराकार जब माया के गुणों को लीला से अंगीकार करते हैं तब आप 'वैराज' नाम वाले होते हैं ॥ ७४ ॥

गुणात्मनो विराजश्च सत्त्वाद्देवा बभूविरे ।
रजोगुणात्प्रजेशाद्या मन्योर्भूतपतिस्तव ॥ ७५॥

उस गुणमय विराट पुरुष के सात्विकांश से देवता गण, राजस अंश से प्रजापतिगण तथा तामस अंश से रुद्रगणों की उत्पत्ति होती है ॥ ७५ ॥

त्वामहं मायया छन्नं लीलया मानुषाकृतिम् ॥ ७६॥

जडबुद्धिर्जडो मूर्खः कथं जानामि निर्गुणम् ।
दण्ड एव हि मूर्खाणां सन्मार्गप्रापकः प्रभो ॥ ७७॥

भूतानाममरश्रेष्ठ पशूनां लगुडो यथा ।
शरणं ते व्रजामीशं शरण्यं भक्तवत्सल ।
अभयं देहि मे राम लङ्कामार्गं ददामि ते ॥ ७८॥

हे नाथ ! आपकी माया से मोहित होकर मैं लीला से मनुष्य रूप धारण किये हुए आप निर्गुण परमात्मा को जड बुद्धि मूर्ख कैसे जान सकता हूँ? हे अमर श्रेष्ठ प्रभो । दण्ड ही मूर्खों को सत् मार्ग पर ले चल सकता है, उसी प्रकार मेरे जैसे मूर्ख जीवों को दण्ड ही सन्मार्ग पर लाने वाला है। हे भक्तवत्सल भगवान् श्रीराम ! मुझ शरणागत की आप रक्षा कीजिए । आप मुझे अभयदान दीजिये, आपको लंका में जाने के लिये मै मार्ग दूंगा ॥ ७६-७८ ॥

श्रीराम उवाच ।
अमोघोऽयं महाबाणः कस्मिन् देशे निपात्यताम् ।
लक्ष्यं दर्शय मे शीघ्रं बाणस्यामोघपातिनः ॥ ७९॥

तब श्रीरामचन्द्रजी ने कहा-मेरा यह बाण अमोघ है, मैं इसे किस देश अथवा दिशा में छोड़ूँ, शीघ्र ही अमोघ बाण का लक्ष्य बताओ ॥ ७९॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा करे दृष्ट्वा महाशरम् ।
महोदधिर्महातेजा राघवं वाक्यमब्रवीत् ॥ ८०॥

श्रीरामचन्द्रजी का यह कथन सुनकर और उनके हाथ में महाबाण को देखकर महातेजस्वी समुद्र श्रीरघुनाथजी से बोला ॥८०॥

रामोत्तरप्रदेशे तु द्रुमकुल्य इति श्रुतः ।
प्रदेशस्तत्र बहवः पापात्मानो दिवानिशम् ॥ ८१॥

बाधन्ते मां रघुश्रेष्ठ तत्र ते पात्यतां शरः ।
रामेण सृष्टो बाणस्तु क्षणादाभीरमण्डलम् ॥ ८२॥

हत्वा पुनः समागत्य तूणीरे पूर्ववत्स्थितः ।
ततोऽब्रवीद्रघुश्रेष्ठं सागरो विनयान्वितः ॥ ८३॥

हे राम! उत्तर दिशा में मकुल्य नामक एक देश है। वहाँ बहुत पापी रहते हैं और अहर्निश मुझे पीड़ा पहुंचाते हैं। हे रघुश्रेष्ठ ! आप इस बाण को वहीं छोड़ दीजिए। तब श्रीराम के द्वारा छोड़ा गया वह बाण क्षणमात्र में ही आभीरमण्डल को मारकर पुनः आकर तरकस में पूर्ववत् स्थित हो गया। तत्पश्चात् अति विनयपूर्वक समुद्र श्रीरघुनाथजी से कहा ॥८१-८३॥

नलः सेतुं करोत्वस्मिन् जले मे विश्वकर्मणः ।
सुतो धीमान् समर्थोऽस्मिन् कार्ये लब्धवरो हरिः ॥ ८४॥

हे राम! विश्वकर्मा के पुत्र नल मेरे ऊपर सेतुका निर्माण करें। वह धीमान् वानर बर के प्रभाव से यह कार्य करने में समर्थ है ॥ ८४॥

कीर्तिं जानन्तु ते लोकाः सर्वलोकमलापहाम् ।
इत्युक्त्वा राघवं नत्वा ययौ सिन्धुरदृश्यताम् ॥ ८५॥

सर्वलोक मलापहारी कीर्ति को सभी लोग जान जाये। यह कह श्रीरघुनाथजी को प्रणाम कर सिन्धु अदृश्य हो गया ॥ ८५ ॥

ततो रामस्तु सुग्रीवलक्ष्मणाभ्यां समन्वितः ।
नलमाज्ञापयच्छीघ्रं वानरैः सेतुबन्धने ॥ ८६॥

तत्पश्चात् सुग्रीव और लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्रजी ने वानरों की सहायता से नल को शीघ्र सेतु निर्माण करने की आज्ञा दी ॥८६॥

ततोऽतिहृष्टः प्लवगेन्द्रयूथपैर्महानगेन्द्रप्रतिमैर्युतो नलः ।
बबन्ध सेतुं शतयोजनायतं सुविस्तृतं पर्वतपादपैर्दृढम् ॥ ८७॥

तब अतिर्षित होकर नल ने महापर्वत के समान वानर यथपतियों के साथ पर्वत तथा वृक्षादिकों से अति विस्तीर्ण एक सौ योजन लम्बा सुदृढ़ पुल बनाया ॥ ८७ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे युद्धकाण्डे
तृतीयः सर्गः ॥ ३॥

॥ चतुर्थः सर्गः ॥

समुद्र तरण, लङ्का नगरी का निरीक्षण और रावण-शुक संवाद

श्रीमहादेव उवाच ।
सेतुमारभमाणस्तु तत्र रामेश्वरं शिवम् ।
संस्थाप्य पूजयित्वाह रामो लोकहिताय च ॥ १॥

प्रणमेत्सेतुबन्धं यो दृष्ट्वा रामेश्वरं शिवम् ।
ब्रह्महत्यादिपापेभ्यो मुच्यते मदनुग्रहात् ॥ २॥

श्रीमहादेवजी बोले- समुद्र में पुल निर्माण प्रारम्भ होने पर भगवान श्रीरामचन्द्रजी ने रामेश्वर महादेव जी की स्थापना करने के पश्चात् उनका पूजन किया और संसार का हित करने के लिए कहा की जो प्राणी रामेश्वर महादेव का दर्शन कर सेतुबन्ध को प्रणाम करेगा, मेरी कृपा से वह ब्रह्महत्यादि पापों से मुक्त हो जाएगा ॥ १-२॥

सेतुबन्धे नरः स्नात्वा दृष्ट्वा रामेश्वरं हरम् ।
सङ्कल्पनियतो भूत्वा गत्वा वाराणसीं नरः ॥ ३॥

आनीय गङ्गासलिलं रामेशमभिषिच्य च ।
समुद्रे क्षिप्ततद्भारो ब्रह्म प्राप्नोत्यसंशयम् ॥ ४॥

जो पुरुष सेतुबन्ध में स्नान कर रामेश्वर महादेव का दर्शन कर और संकल्पपूर्वक वाराणसी से गंगाजल लाकर रामेश्वर महादेव का

अभिषेक करेगा और जलपात्र को समुद्र में फेंक देगा तो निःसन्देह वह ब्रह्मत्व को प्राप्त करेगा ॥ ३-४॥

कृतानि प्रथमेनाह्ना योजनानि चतुर्दश ।
द्वितीयेन तथा चाह्ना योजनानि तु विंशतिः ॥ ५॥

तृतीयेन तथा चाह्ना योजनान्येकविंशतिः ।
चतुर्थेन तथा चाह्ना द्वाविंशतिरिति श्रुतम् ॥ ६॥

पञ्चमेन त्रयोविंशद्योजनानि समन्ततः ।
बबन्ध सागरे सेतुं नलो वानरसत्तमः ॥ ७॥

यह जनश्रुति है कि वानरोत्तम सत्तम नल ने प्रथम दिन चौदह योजन, द्वितीय दिन बीस योजन, तृतीय दिन इक्कीस योजन, चतुर्थ दिन बाईस योजन और पञ्चम दिन तेईस योजन सेतु का निर्माण किया था ॥५-७॥

तेनैव जग्मुः कपयो योजनानां शतं द्रुतम् ।
असङ्ख्याताः सुवहलाद्रिं रुरुधुः प्लवगोत्तमाः ॥ ८॥

उसी सेतु से वानरगण शीघ्र ही सौ योजन विस्तृत समुद्र को पार कर गए थे। और असंख्य वानर वीरों ने सुवेलपर्वत को घेर लिया था ॥ ८॥

आरुह्य मारुतिं रामो लक्ष्मणोऽप्यङ्गदं तथा ।
दिदृक्षू राघवो लङ्कामारुरोहाचलं महत् ॥ ९॥

श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी हनुमान एवं अंगद के कन्धों पर बैठकर उस महान् पर्वत पर चढ़ गये॥९॥

दृष्ट्वा लङ्कां सुविस्तीर्णां नानाचित्रध्वजाकुलाम् ।
चित्रप्रासादसम्बाधां स्वर्णप्राकारतोरणाम् ॥ १०॥

और उन्होंने अतिविस्तीर्ण, अनेकों ध्वजाओं युक्त विचित्र प्रासादों तथा सुवर्ण निर्मित परकोटों और तोरणों से सुसज्जित लंका पुरी को देखा ॥ १०॥

परिखाभिः शतघ्नीभिः सङ्क्रमैश्च विराजिताम् ।
प्रासादोपरि विस्तीर्णप्रदेशे दशकन्धरः ॥११॥

मन्त्रिभिः सहितो वीरैः किरीटदशकोज्ज्वलः ।
नीलाद्रिशिखराकारः कालमेघसमप्रभः ॥१२॥

वह चारो ओर से खाइयों, शतघ्नियों तथा सक्रमों से सुशोभित है। उस लंका के एक राजभवन के ऊपर अति विस्तृत भाग में रावण अपने मन्त्रिगणों के साथ बैठा है। उसके दसों शिरों पर दस मुकुट सुशोभित हैं। वह काले मेघ की द्युति वाले नीलाद्रि शिखर के समान है ॥ ११-१२ ॥

रत्नदण्डैः सितच्छत्रैरनेकैः परिशोभितः ।
एतस्मिन्नन्तरे बद्धो मुक्तो रामेण वै शुकः ॥ १३॥

वानरैस्ताडितः सम्यग् दशाननमुपागतः ।
प्रहसन् रावणः प्राह पीडितः किं परैः शुक ॥१४॥

वह अनेक रत्नदण्ड तथा श्वेतछत्र से सुशोभित हैं; उसी समय भगवान श्रीराम के द्वारा छोड़ा हुआ शुकनाम का राक्षस वानरों से भली भाँति मार खाकर रावण के पास पहुंचा। उसे देखकर हँसते हुए रावण ने उससे पूछा-"शुक क्या शत्रुओं द्वारा तुझे कष्ट पहुँचाया गया है ? ॥ १३-१४ ॥

रावणस्य वचः श्रुत्वा शुको वचनमब्रवीत् ।
सागरस्योत्तरे तीरेऽब्रवं ते वचनं यथा ।
तत उत्प्लुत्य कपयो गृहीत्वा मां क्षणात्ततः ॥ १५॥

मुष्टिभिर्नखदन्तैश्च हन्तुं लोप्तुं प्रचक्रमुः ।
ततो मां राम रक्षेति क्रोशन्तं रघुपुङ्गवः ॥ १६॥

विसृज्यतामिति प्राह विसृष्टोऽहं कपीश्वरैः ।
ततोऽहमागतो भीत्या दृष्ट्वा तद्वानरं बलम् ॥ १७॥

रावण का यह कथन सुनकर शुक बोला-सागर के उत्तर तट पर जाकर आपका संदेश जैसे ही मैं सुनाने लगा तब क्षणभर में ही वानरगणों ने उछलकर मुझे पकड़ लिया और मुक्कों, नखों तथा दाँतों से मारने तथा लुप्त करने लगे। तत्पश्चात् हे 'राम ! मेरी रक्षा कीजिये ! यह मुझे पुकारते हुए सुनकर रघुश्रेष्ठ राम बोले कि 'इसे छोड़ दो' अत: उन वानरगणों ने मुझे छोड़ दिया। तदनन्तर वानरों की महती सेना देखकर अति भयभीत होकर मैं यहाँ आया हूँ ॥१५-१७॥

राक्षसानां बलौघस्य वानरेन्द्रबलस्य च ।
नैतयोर्विद्यते सन्धिर्देवदानवयोरिव ॥ १८॥

मेरे विचार से तो देव और दानवों के समान राक्षसों और वानरों की सेना में किसी प्रकार की तुलना नहीं हो सकती ॥ १८॥

पुरप्राकारमायान्ति क्षिप्रमेकतरं कुरु ।
सीतां वास्मै प्रयच्छाशु युद्धं वा दीयतां प्रभो ॥१९॥

हे प्रभो! शीघ्र ही वह नगर के परकोटे पर आने वाले हैं। आप या तो सीता को दे दीजिये या युद्ध करें इस दोनों में से एक कार्य आप करें ॥ १९ ॥

मामाह रामस्त्वं ब्रूहि रावणं मद्वचः शुक ।
यद्बलं च समाश्रित्य सीतां मे हृतवानसि ॥ २०॥

तद्दर्शय यथाकामं ससैन्यः सहबान्धवः ।
श्वःकाले नगरीं लङ्कां सप्राकारां सतोरणाम् ॥ २१॥

राक्षसं च बलं पश्य शरैर्विध्वंसितं मया ।
घोररोषमहं मोक्ष्ये बलं धारय रावण ॥ २२॥

श्रीराम ने मुझसे कहा है कि शुक! रावण को मेरा सन्देश सुनाना कि उसने जिस शक्ति के बल पर मेरी सीता का हरण किया है वह विधिवत् अपनी सेना और बन्धु-बान्धवों सहित मुझे दिखलायेगा। तू कल ही तोरणादि के सहित लंकापुरी और राक्षसी सेना को मेरे बाणों से विध्वस्त देखेगा। रावण ! मैं उस समय भयंकर क्रोध करूंगा; तू अपने पौरुष को स्थिर रखना ॥ २०-२२ ॥

इत्युक्त्वोपरराामाथ रामः कमललोचनः ।

एकस्थानगता यत्र चत्वारः पुरुषर्षभाः ॥ २३॥

श्रीरामो लक्ष्मणश्चैव सुग्रीवश्च विभीषणः ।
एत एव समर्थास्ते लङ्कां नाशयितुं प्रभो ॥ २४॥

यह कहकर कमलनयन भगवान राम चुप हो गये। हे प्रभो! वानरगण तो पृथक् ही रहें, एक स्थान पर श्रीराम, लक्ष्मण, सुग्रीव और विभीषण ये चार पुरुष रहें तो लंका को उखाड़कर भस्म और नष्ट करने के लिये पर्याप्त हैं। ॥२३-२४॥

उत्पाट्य भस्मीकरणे सर्वे तिष्ठन्तु वानराः ।
तस्य यादृग् बलं दृष्टं रूपं प्रहरणानि च ॥ २५॥

वधिष्यति पुरं सर्वमेकस्तिष्ठन्तु ते त्रयः ।
पश्य वानरसेनां तामसङ्ख्यातां प्रपूरिताम् ॥ २६॥

उनकी जैसी शक्ति मैंने देखी है, उससे प्रतीत होता है कि वह तीनों अलग भी रहें तो केवल अकेले राम ही समस्त नगर को नष्ट कर सकते हैं। चारो ओर फैली हुई असंख्य वानरों की सेना को आप देखिये ॥२३-२६ ॥

गर्जन्ति वानरास्तत्र पश्य पर्वतसन्निभाः ।
न शक्यास्ते गणयितुं प्राधान्येन ब्रवीमि ते ॥ २७॥

पर्वत के समान वानर यत्र-तत्र गर्जना कर रहे हैं, आप देखिये। उनकी गणना नहीं की जा सकती; अतएव प्रमुख वानरों को दिखलाता हूँ॥ २७ ॥

एष योऽभिमुखो लङ्कां नदंस्तिष्ठति वानरः ।
यूथपानां सहस्राणां शतेन परिवारितः ॥ २८॥

सुग्रीवसेनाधिपतिर्नीलो नामाग्निनन्दनः ।
एष पर्वतशृङ्गाभः पद्मकिञ्जल्कसन्निभः ॥ २९॥

स्फोटयत्यभिसंरब्धो लाङ्गूलं च पुनः पुनः ।
युवराजोऽङ्गदो नाम वालिपुत्रोऽतिवीर्यवान् ॥ ३०॥

यह जो सामने वानर लंका की ओर देखकर गर्जना कर रहा है वह एक लाख वानर यूथपतियों से घिरा हुआ है। वह अग्निनन्दन 'नील' कमल-केसर की कान्ति वाला पर्वत के समान विशालकाय वानरराज सुग्रीव का सेनापति है। वह जो क्रोध से बारम्बार अपनी पूंछ फटकार रहा है वह अति बलवान् बालिपुत्र युवराज अंगद है ॥ २८-३०॥

येन दृष्टा जनकजा रामस्यातीववल्लभा ।
हनूमानेष विख्यातो हतो येन तवात्मजः ॥ ३१॥

यह वानर जिसने राम की अति प्रिया जनक किशोरी सीताजी को देखा और आपके पुत्र का वध किया, वह विख्यात वीर हनुमान है।॥३१॥

श्वेतो रजतसङ्काशो महाबुद्धिपराक्रमः ।
तूर्णं सुग्रीवमागत्य पुनर्गच्छति वानरः ॥ ३२॥

यस्त्वेष सिंहसङ्काशः पश्यत्यतुलविक्रमः ।
रम्भो नाम महासत्त्वो लङ्कां नाशयितुं क्षमः ॥ ३३॥

चांदी के समान शुक्ल वर्ण की कान्ति वाला जो अति शीघ्रता से सुग्रीव के समीप आकर पुनः लौट कर जा रहा है, जो महाबुद्धिमान् पुरुषार्थी और सिंह के समान अतुलित बलशाली वानर इधर देख रहा है वह 'रम्भ' नामक वानर अकेला ही लंका को नष्ट करने में समर्थ है ॥ ३२-३३ ॥

एष पश्यति वै लङ्कां दिधक्षन्निव वानरः ।
शरभो नाम राजेन्द्र कोटियूथपनायकः ॥ ३४॥

हे राजेन्द्र। यह जो लंका को जलाने की भाँति इधर देख रहा है वह करोड़ यूथपतियों का नामक 'शरभ है ॥३॥

पनसश्च महावीर्यो मैन्दश्च द्विविदस्तथा ।
नलश्च सेतुकर्ताऽसौ विश्वकर्मसुतो बली ॥ ३५॥

इसके अतिरिक्त महाबलशाली पनस, मैन्द, द्विविद, और सेतु का निर्माण करने वाला विश्वकर्मा प्राक महाबलशाली नल हैं। ये सब प्रमुख योद्धा हैं ॥ ३५॥

वानराणां वर्णने वा सङ्ख्याने वा क ईश्वरः ।
शूराः सर्वे महाकायाः सर्वे युद्धाभिकाङ्क्षिणः ॥ ३६॥

वानरों का वर्णन करने अथवा संख्या जानने में कोई समर्थ नहीं है, यह सभी शूरवीर, महाकाय और युद्ध की इच्छा वाले हैं ॥ ३६॥

शक्ताः सर्वे चूर्णयितुं लङ्कां रक्षोगणैः सह ।

एतेषां बलसङ्ख्यानं प्रत्येकं वच्मि ते शृणु ॥३७॥

राक्षसों सहित लंका को चूर्ण करने में ये सभी समर्थ हैं। इन सभी के प्रत्येक का बल बर्णन मैं करता सुनिये ॥ ३७ ॥

एषां कोटिसहस्राणि नव पञ्च च सप्त च ।
तथा शङ्खसहस्राणि तथार्बुदशतानि च ॥ ३८॥

इनमें से प्रत्येक के आधिपत्य में इक्कीस हजार करोड, हजारों शंख, और सैकड़ों अरब सेना है ॥ ३८॥

सुग्रीवसचिवानां ते बलमेतत्प्रकीर्तितम् ।
अन्येषां तु बलं नाहं वक्तुं शक्तोऽस्मि रावण ॥३९॥

यह तो मैंने सुग्रीव के ही मन्त्रियों की सेना का ही वर्णन किया है। हे रावण! इनके अतिरिक्त अन्य सेना की गणना करने में मैं सर्वथा असमर्थ हूँ॥ ३९ ॥

रामो न मानुषः साक्षादादिनारायणः परः ।
सीता साक्षाज्जगद्धेतुश्चिच्छक्तिर्जगदात्मिका ॥ ४०॥

राम मनुष्य नहीं हैं अपितु साक्षात् आदि नारायण परमात्मा हैं और श्रीसीताजी जगत् की कारणशक्ति साक्षात् जगदात्मिका चित् शक्ति हैं ॥ ४०॥

ताभ्यामेव समुत्पन्नं जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
तस्माद्रामश्च सीताच जगतस्तस्थुषश्च तौ ॥ ४१॥

पितरौ पृथिवीपाल तयोर्वैरी कथं भवहत् ।
अजानता त्वयानीता जगन्मातैव जानकी ॥ ४२॥

इन दोनों से ही स्थावर जंगम संसार उत्पन्न होता है। अत: श्रीराम और सीता स्थावर जंगम इस जगत् के माता-पिता हैं। हे पृथिवीपाल ! कोई उनका शत्रु कैसे हो सकता है ? बिना जाने ही जगन्माता जानकीजी को आप ले आये हैं॥४१-४२॥

क्षणनाशिनि संसारे शरीरे क्षणभङ्गुरे ।
पञ्चभूतात्मके राजंश्चतुर्विंशतितत्त्वके ॥ ४३॥

मलमांसास्थिदुर्गन्धिभूयिष्ठेऽहङ्कृतालये ।
कैवास्था व्यतिरिक्तस्य काये तव जडात्मके ॥ ४४॥

हे राजन् ! क्षण भर में नष्ट हो जाने वाले संसार में चौबीस तत्वों वाला, क्षणभंगुर पञ्च भौतिक शरीर में मल, मांस, हड्डी आदि दुर्गन्धित पदार्थो की अधिकता है और जो अहंकार का आश्रय स्थान जडरूप है उसमें आप क्या विश्वास करते हैं? आप इससे तो सर्वथा भिन्न हैं ॥ ४३-४४॥

यत्कृते ब्रह्महत्यादिपातकानि कृतानि च ।
भोगभोक्ता तु यो देहः स देहोऽत्र पतिष्यति ॥ ४५॥

जिसके लिये आपने ब्रह्महत्यादि अनेकों पाप किये हैं वह सम्पूर्ण भोगों का भोक्ता शरीर यहीं पड़ा रह जायेगा ॥ ४५ ॥

पुण्यपापे समायातो जीवहन सुखदुःखयोः ।
कारणे देहयोगादिनाऽऽत्मनः कुरुतोऽनिशम् ॥४६॥

सुख-दुःख के कारण रूप पुण्य-पाप जीव के साथ ही जाते हैं तथा देह के सम्बन्ध आदि के द्वारा जीव को दिन-रात सुख-दुःख की प्राप्ति कराते हैं ॥ ४६ ॥

यावद्देहोऽस्मि कर्तास्मीत्यात्माहङ्कुरुतेऽवशः ।
अध्यासात्तावदेव स्याज्जन्मनाशादिसम्भवः ॥ ४७॥

अज्ञानजनित अध्यास से 'मैं देह हूँ' 'मैं कर्ता हूँ इस प्रकार का जब जीव अभिमान करता है तब उसके वश होकर जन्म-मृत्यु आदि भोगना पड़ता है ॥ ४७ ॥

तस्मात्त्वं त्यज देहादावभिमानं महामते ।
आत्मातिनिर्मलः शुद्धो विज्ञानात्माऽचलोऽव्ययः ॥ ४८॥

अत-एव हे महामते ! आप देहजनित अभिमान छोड़ दीजिये। आत्मा अत्यन्त निर्मल, शुद्धस्वरूप, विज्ञानमय, अविचल और अविकारी है ॥४८॥

स्वाज्ञानवशतो बन्धं प्रतिपद्य विमुह्यति ।
तस्मात्त्वं शुद्धभावहन ज्ञात्वात्मानं सदा स्मर ॥ ४९॥

अज्ञानवश आत्मा बन्धन में पड़कर मोह को प्राप्त करता है । अत-एव आत्मा को शुद्ध भाव से जानकर आप उसका नित्य स्मरण कीजिये ॥४९॥

विरतिं भज सर्वत्र पुत्रदारगृहादिषु ।
निरयेष्वपि भोगः स्याच्छ्वशूकरतनावपि ॥ ५०॥

भोग कुकर-शूकर आदि योनियों और नरकादि में भी प्राप्त हो सकते हैं। अत: पुत्र, स्त्री, गृह आदि सभी ऐश्वर्यों से आप विरत हो जाइये ॥५०॥

देहं लब्ध्वा विवहकाढ्यं द्विजत्वं च विशेषतः ।
तत्रापि भारते वर्षे कर्मभूमौ सुदुर्लभम् ॥ ५१ ॥

को विद्वानात्मसात्कृत्वा देहं भोगानुगो भवहत् ।
अतस्त्वं ब्राह्मणो भूत्वा पौलस्त्यतनयश्च सन् ॥ ५२॥

विवेक बुद्धि युक्त मानव शरीर उसमें भी विशेष रूप से द्विजत्व और अति दुर्लभ कर्मभूमि भारतवर्ष में जन्म प्राप्तकर वह कौन बुद्धिमान होगा जो देहादि में ही आत्मबुद्धि रखकर भोगों का सेवन करेगा ? अत: आप पुलस्त्य तनय विश्रवा के पुत्र हो ॥५१-५२॥

अज्ञानीव सदा भोगाननुधावसि किं मुधा ।
इतः परं वा त्यक्त्वा त्वं सर्वसङ्गं समाश्रय ॥ ५३॥

राममेव परात्मनं भक्तिभावहन सर्वदा ।
सीतां समर्प्य रामाय तत्पादानुचरो भव ॥ ५४॥

और ब्राह्मण शरीर प्राप्त करके भी अज्ञानी की भाँति इन भोगों के पीछे व्यर्थ ही दौड़ते रहते हैं ? अब आप आज से ही सबका संग

छोड़कर भक्तिपूर्वक परमात्मा राम का ही सदा आश्रय ग्रहण कीजिये और श्रीसीताजी को भगवान् श्रीराम को देकर उनके चरणारविन्द की सेवा कीजिये ॥ ५१-५४ ॥

विमुक्तः सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं प्रयास्यसि ।
नो चेद्गमिष्यसेऽधोऽधः पुनरावृत्तिवर्जितः ।
अङ्गीकुरुष्व मद्वाक्यं हितमेव वदामि ते ॥ ५५॥

यह करने पर आप सम्पूर्ण पापों से मुक्त होकर विष्णुलोक को प्राप्त होंगे, नहीं तो अर्ध्व गमन से रहित हो उत्तरोत्तर अधोलोक में ही जाते रहेंगे। आप मेरा कथन स्वीकार कीजिये, मैं आपके हित की बात कहता हूँ॥ ५५ ॥

सत्सङ्गतिं कुरु भजस्व हरिं शरण्यं
श्रीराघवं मरकतोपलकान्तिकान्तम् ।
सीतासमेतमनिशं धृतचापबाणं
सुग्रीवलक्ष्मणविभीषणसेविताङ्घ्रिम् ॥ ५६॥

हे रावण ! हमेशा आप सतसङ्ग कीजिये तथा मरकत मणि की कान्ति के समान शरीर वाले, सुग्रीव, लक्ष्मण और विभीषण जिनके चरणारविन्द के सेवा कर रहे हैं उन शरणागत वत्सल, धनुष बाण धारण करनेवाले श्रीसीताजी सहित श्रीरघुनाथजी का भजन कीजिये ॥५६॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे युद्धकाण्डे
चतुर्थः सर्गः ॥ ४॥

॥ पञ्चमः सर्गः ॥

शुक का पूर्वचरित्र, माल्यवान का रावण को समझाना तथा वानर-रावण-संग्राम

श्रीमहादेव उवाच ।
श्रुत्वा शुकमुखोद्गीतं वाक्यमज्ञाननाशनम् ।
रावणः क्रोधताम्राक्षो दहन्निव तमब्रवीत् ॥ १॥

श्रीमहादेवजी बोले - हे पार्वति ! शुक के मुख से कहे हुए अज्ञान नाशक इन वचनों को सुन कर क्रोध से जलते हुए आँखें लाल करता हुआ रावण बोला ॥ १॥

अनुजीव्य सुदुर्बुद्धे गुरुवद्भाषसे कथम् ।
शासिताहं त्रिजगतां त्वं मां शिक्षन्न लज्जसे ॥ २॥

रे दुर्बुद्ध ! मेरे द्वारा ही जीवित रहकर गुरुवत् तू मुझे उपदेश कैसे देता है ? त्रिलोकी का शासन करनेवाला मै हूँ; मुझे शिक्षा देने में तुझे लज्जा नहीं आती ? ॥२॥

इदानीमेव हन्मि त्वां किन्तु पूर्वकृतं तव ।
स्मरामि तेन रक्षामि त्वां यद्यपि वधोचितम् ॥ ३॥

मैं तुझे अभी मारने वाला हूँ, किन्तु तुम्हारे पूर्वकृत्यों को स्मरण कर मैं तुझे अभी छोड़ देता हूँ ॥३॥

इतो गच्छ विमूढ त्वमेवं श्रोतुं न मे क्षमम् ।
महाप्रसाद इत्युक्त्वा वहपमानो गृहं ययौ ॥ ४॥

रे मूढ़ ! तुम यहाँ से चले जाओ। इस तरह की बातों को मैं नहीं सुनना चाहता। यह महाप्रासाद है यह कहकर काँपता हुआ शुक अपने घर चला गया ॥४॥

शुकोऽपि ब्राह्मणः पूर्वं ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मवित्तमः ।
वानप्रस्थविधानेन वने तिष्ठन् स्वकर्मकृत् ॥ ५॥

पूर्वजन्म में शुक भी एक वेदज्ञ एवं ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण था और वानप्रस्थ विधि के अनुसार अपना कर्म करता हुआ वन में रहता था ॥५॥

देवानामभिवृद्ध्यर्थं विनाशाय सुरद्विषाम् ।
चकार यज्ञविततिमविच्छिन्नां महामतिः ॥ ६॥

उसने महामति देवताओं की वृद्धि और दैत्यों का नाश करने के लिये लगातार अनेक बड़े-बड़े यज्ञ किए ॥६॥

राक्षसानां विरोधोऽभूच्छुको देवहितोद्यतः ।
वज्रदंष्ट्र इति ख्यातस्तत्रैको राक्षसो महान् ॥ ७॥

अन्तरं प्रेप्सुरातिष्ठच्छुकापकरणोद्यतः ।
कदाचिदागतोऽगस्त्यस्तस्याश्रममपदं मुनेः ॥ ८॥

अत: देवताओं के हित में रहने से दैत्यों का शुक से विरोध हो गया। उस समय वज्रदंष्ट्र नामक एक महान् राक्षस शुक का अपकार करने हेतु समय की प्रतीक्षा करने लगा। एक समय महर्षि अगस्त्यजी मुनिवर शुक के आश्रम पर पधारे॥७-८॥

तेन सम्पूजितोऽगस्त्यो भोजनार्थं निमन्त्रितः ।
गते स्नातुं मुनौ कुम्भसम्भवह प्राप्य चान्तरम् ॥ ९॥

अगस्त्यरूपधृक् सोऽपि राक्षसः शुकमब्रवीत् ।
यदि दास्यसि मे ब्रह्मन् भोजनं देहि सामिषम् ॥ १०॥

तब अगस्त्यजी की पूजा कर मुनिवर शुकजी ने उन्हें भोजन के लिए आमन्त्रित किया। महर्षि अगस्त्यजी जब स्नान के लिए गए थे तब वज्रदंष्ट्र नामक राक्षस अगस्त्यजी का रूप धारण कर शुक के पास आकर बोला-ब्रह्मन्! आप मुझे यदि भोजन कराना चाहते हैं तो मांस युक्त अन्न खिलाइये ॥ ९-१०॥

बहुकालं न भुक्तं मे मांसं छागाङ्गसम्भवम् ।
तथेति कारयामास मांसभोज्यं सविस्तरम् ॥ ११॥

बहुत दिनों से मैने छाग (बकरे) का मांस नहीं खाया हूँ। जैसी आज्ञा, यह कहकर शुकजी ने विस्तार पूर्वक मांसयुक्त भोजन बनवाया ॥ ११॥

उपविष्टे मुनौ भोक्तुं राक्षसोऽतीव सुन्दरम् ।
शुकभार्यावपुर्धृत्वा तां चान्तर्मोहयन् खलः ॥ १२॥

नरमांसं ददौ तस्मै सुपक्कं बहुविस्तरम् ।
दत्त्वैवान्तर्दधे रक्षस्ततो दृष्ट्वा चुकोप सः ॥ १३॥

अमेध्यं मानुषं मांसमगस्त्यः शुकमब्रवीत् ।
अभक्ष्यं मानुषं मांसं दत्तवानसि दुर्मते ॥ १४॥

मह्यं त्वं राक्षसो भूत्वा तिष्ठ त्वं मानुषाशनः ।
इति शप्तः शुको भीत्या प्राहागस्त्यं मुने त्वया ॥ १५॥

इदानीं भाषितं मेऽद्य मांसं देहीति विस्तरम् ।
तथैव दत्तं भो देव किं मे शापं प्रदास्यसि ॥ १६॥

मुनिवर अगस्त्यजी के भोजन पर बैठने पर उस राक्षस ने शुक की पत्नी का अतिसुन्दर रूप धारण किया तथा शुक की स्त्री को आश्रम के भीतर मूर्छित कर विविध प्रकार से निर्मित नरमाँस भोजन के लिए मुनिवर को दे दिया। भोजन देकर वह राक्षस अंतर्ध्यान हो गया। तब अभक्ष्य नरमाँस को देखकर मुनिवर अगस्त्यजी अत्यंत क्रोधित होकर शुक से बोले-दुर्मते ! अभक्ष्य नरमाँस तुमने खाने हेतु मुझे दिया है; अत: तुम मनुष्य भोजी राक्षस हो जाओ। अगस्त्यजी का यह शाप सुनकर डरते-डरते शुक ने कहा-मुने! अभी आपने मुझे विविध प्रकार के मांस की व्यवस्था करने कहा है; हे देव ! आपके आज्ञानुसार ही मैंने आपको मांस खाने हेतु दिया है; फिर आप मुझे शाप क्यों दे रहे हैं । ॥ १२-१६ ॥

श्रुत्वा शुकस्य वचनं मुहूर्तं ध्यानमास्थितः ।
ज्ञात्वा रक्षःकृतं सर्वं ततः प्राह शुकं सुधीः ॥ १७॥

शुक का यह कथन सुन मुहूर्त्तमात्र ध्यानस्थ हो महामति अगस्त्यजी राक्षस के सब कृत्य को जानकर शुक से बोले ॥१७॥

तवापकारिणा सर्वं राक्षसेन कृतं त्विदम् ।
अविचार्यैव मे दत्तः शापस्ते मुनिसत्तम ॥ १८॥

हे मुनिसत्तम्! यह सब कुछ तुम्हारा अपकार करने वाला राक्षस किया है। बिना विचारे ही मैंने तुम्हें शाप दे दिया ॥ १८॥

तथापि मे वचोऽमोघमेवमेव भविष्यति ।
राक्षसं वपुरास्थाय रावणस्य सहायकृत् ॥ १९॥

तिष्ठ तावद्यदा रामो दशाननवधाय हि ।
आगमिष्यति लङ्कायाः समीपं वानरैः सह ॥ २०॥

परन्तु मेरा वचन व्यर्थ जाने वाला नहीं हैं। अत: ऐसा ही होगा। अत: तुम राक्षस का शरीर धारण कर तब तक रावण की सहायता करो जब तक उसका नाश करने हेतु श्रीरामचन्द्रजी वानरों की सेना के साथ लंका के समीप न आ जायें ॥ १९-२०॥

प्रेषितो रावणेन त्वं चारो भूत्वा रघूत्तमम् ।
दृष्ट्वा शापाद्विनिर्मुक्तो बोधयित्वा च रावणम् ॥ २१॥

तत्त्वज्ञानं ततो मुक्तः परं पदमवाप्स्यसि ।
इत्युक्तोऽगस्त्यमुनिना शुको ब्राह्मणसत्तमः ॥ २२॥

बभूव राक्षसः सद्यो रावणं प्राप्य संस्थितः ।

इदानीं चाररूपेण दृष्ट्वा रामं सहानुजम् ॥ २३॥

रावणं तत्त्वविज्ञानं बोधयित्वा पुनर्द्रुतम् ।
पूर्ववद्ब्राह्मणो भूत्वा स्थितो वैखानसैः सह ॥ २४॥

तदनन्तर रावण से प्रेषित हो रावण का दूत होकर तुम श्रीरामचन्द्रजी के पास जाओगे और उनका दर्शन कर शाप से मुक्त हो जाओगे। और रावण को तत्त्व ज्ञान का उपदेश देकर मुक्त होकर परमपद को प्राप्त करोगे। अगस्त्यजी के यह कहने पर वह ब्राह्मण राक्षस होकर रावण के पास आकर रहने लगा। इस समय दूत रूप में अनुज लक्ष्मण सहित भगवान श्रीराम का दर्शन कर तथा रावण को तत्त्व ज्ञान का उपदेश देकर शीघ्र ही पूर्ववत् ब्राह्मण का शरीर प्राप्तकर वानप्रस्थों के साथ रहने लगा ॥ २१-२४ ॥

ततः समागमद्वृद्धो माल्यवान् राक्षसो महान् ।
बुद्धिमान्नीतिनिपुणो राज्ञो मातुः प्रियः पिता ॥ २५॥

तत्पश्चात् राजा रावण की माता का प्रियपिता नीतिनिपुण, बुद्धिमान् माल्यवान् नामक वयोवृद्ध महा राक्षस वहाँ आया ॥ २५॥

प्राह तं राक्षसं वीरं प्रशान्तेनान्तरात्मना ।
शृणु राजन् वचो मेऽद्य श्रुत्वा कुरु यथेप्सितम् ॥ २६॥

वह प्रशान्तमन राक्षस वीर रावण से बोला-हे राजन् ! आप मेरा कथन सुनें; सुनकर जैसी आपकी इच्छा हो वैसा ही करें ॥ २६ ॥

यदा प्रविष्टा नगरीं जानकी रामवल्लभा ।

तदादि पुर्यां दृश्यन्ते निमित्तानि दशानन ॥ २७॥

घोराणि नाशहेतूनि तानि मे वदतः शृणु ।
खरस्तनितनिर्घोषा मेघा अतिभयङ्कराः ॥ २८॥

शोणितेनाभिवर्षन्ति लङ्कामुष्णेन सर्वदा ।
रुदन्ति देवलिङ्गानि स्विद्यन्ति प्रचलन्ति च ॥ २९॥

हे दशानन ! जबसे रामवल्लभा जानकी का लंकापुरी में प्रवेश हुआ है तब नगर में नाश हेतु अनेक विपरीत शकुन दिखायी दे रहे हैं; उन अपशकुनों को मैं कहता हूँ आप सुनें-अति भयंकर मेघ अति गरज के साथ गर्जते और लंका के ऊपर गर्म-गर्म रुधिर की वर्षा करते हैं। देवमूर्तियाँ रोतीं हैं। उनके शरीर में पसीना आ जाता है और अपने स्थान से वह स्खलित हो जाती हैं ॥ २७-२८॥

कालिका पाण्डुरैर्दन्तैः प्रहसत्यग्रतः स्थिता ।
खरा गोषु प्रजायन्ते मूषका नकुलैः सह ॥ ३०॥

मार्जारेण तु युद्धयन्ति पन्नगा गरुडेन तु ।
करालो विकटो मुण्डः पुरुषः कृष्णपिङ्गलः ॥ ३१॥

कालो गृहाणि सर्वेषां काले काले त्ववहक्षते ।
एतान्यन्यानि दृश्यन्ते निमित्तान्युद्भवन्ति च ॥ ३२॥

राक्षसों के सामने पीले-पीले दाँत निकालकर कालिका हँसती है; गौओं के गदहे पैदा हो रहे हैं और मूषक न्योला तथा मार्जार के साथ युद्ध कर रहे हैं; और सर्प गरुड़ के साथ युद्ध कर रहे हैं। कराल,

विकट, कृष्ण-पिङ्गल वर्ण, मुण्डितकेश कालपुरुष समय-समय पर सभी राक्षसों के घर दिखायी देता है। इसके अतिरिक्त अनेक अन्य अपशकुन भी हो रहे हैं ॥३०-३२॥

अतः कुलस्य रक्षार्थं शान्तिं कुरु दशानन ।
सीतां सत्कृत्य सधनां रामायाशु प्रयच्छ भोः ॥ ३३॥

अत एव हे दशानन ! अपने कुल की रक्षा हेतु इनकी शान्ति कीजिये और शीघ्र ही सत्कार पूर्वक विपुल धन के साथ सीता को रघुनाथजी को दे दीजिये ॥ ३३॥

रामं नारायणं विद्धि विद्वेषं त्यज राघवह ।
यत्पादपोतमाश्रित्य ज्ञानिनो भवसागरम् ॥ ३४॥

तरन्ति भक्तिपूतान्तास्ततो रामो न मानुषः ।
भजस्व भक्तिभावहन रामं सर्वहृदालयम् ॥ ३५॥

राम को साक्षात् आदि नारायण समझकर उनसे विद्वेष छोड़ दीजिये। उनके चरणारविन्द रूपी नौका का आश्रय लेकर ज्ञानी लोग भवसागर से पार हो जाते हैं। अत: श्री रामचन्द्र साधारण पुरुष नहीं हैं। सबके अन्तः करण में विद्यमान श्रीरामचन्द्रजी का भक्ति भाव से आप भजन कीजिये ॥ ३४-३५ ॥

यद्यपि त्वं दुराचारो भक्त्या पूतो भविष्यसि ।
मद्वाक्यं कुरु राजेन्द्र कुलकौशलहेतवह ॥ ३६॥

यद्यपि आप दुराचारी हैं परन्तु उनकी भक्ति से आप पवित्र हो जायेंगे। हे राजेन्द्र ! कुल की रक्षा के लिये आप मेरा वाक्य मान लीजिये ॥ ३६ ॥

तत्तु माल्यवतो वाक्यं हितमुक्तं दशाननः ।
न मर्षयति दुष्टात्मा कालस्य वशमागतः ॥ ३७॥

परन्तु रावण के लिये कहे गए माल्यवान का हितकर वचन, काल के वशीभूत दुष्टात्मा रावण को अच्छे नहीं लगे ॥३७ ॥

मानवं कृपणं राममेकं शाखामृगाश्रयम् ।
समर्थं मन्यसे केन हीनं पित्रा मुनिप्रियम् ॥ ३८॥

रावण बोला-मनुष्य राम जो कृपण है एवं जिसने बन्दरों का आश्रय लिया हुआ है, पिता द्वारा घर से निकाला गया है उसे किस प्रकार से सामर्थ्यवान मानते हो; वह मुनियों का प्रिय कैसे हो सकता है ॥ ३८ ॥

रामेण प्रेषितो नूनं भाषसे त्वमनर्गलम् ।
गच्छ वृद्धोऽसि बन्धुस्त्वं सोढं सर्वं त्वयोदितम् ॥ ३९॥

प्रतीत होता है तुझे राम ने ही भेजा है। इसलिए अनर्गल बोल रहा है। जाओ तुम वृद्ध और मेरे सम्बन्धी हो अत: तुम्हारे द्वारा कहे कहा गया मैं सबकुछ सहन कर लिया ॥ ३९ ॥

इतो मत्कर्णपदवीं दहत्येतद्वचस्तव ।
इत्युक्त्वा सर्वसचिवैः सहितः प्रस्थितस्तदा ॥ ४०॥

अब तुम्हारे वाक्य मेरे कानों को जला रहें हैं। यह कहकर अपने सभी मन्त्रियों के साथ वह चल दिया ॥ ४० ॥

प्रासादाग्रे समासीनः पश्यन् वानरसैनिकान् ।
युद्धायायोजयत्सर्वराक्षसान् समुपस्थितान् ॥ ४१॥

वह अपने महल के सर्वोच्च भवन में बैठकर वानर सैनिकों को देखता हुआ उपस्थित सभी राक्षसों को युद्ध के लिए नियुक्त करने लगा ॥४१॥

रामोऽपि धनुरादाय लक्ष्मणेन समाहृतम् ।
दृष्ट्वा रावणमासीनं कोपेन कलुषीकृतः ॥ ४२॥

किरीटिनं समासीनं मन्त्रिभिः परिवहष्टितम् ।
शशाङ्कार्धनिभेनैव बाणेनैकेन राघवः ॥ ४३॥

श्वेतच्छत्रसहस्राणि किरीटदशकं तथा ।
चिच्छेद निमिषार्धेन तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ४४॥

श्रीरामचन्द्रजी भी रावण को बैठा हुआ देखकर अति क्रोधित हो लक्ष्मण के द्वारा लाए हुआ धनुष उठाया। रावण अपने शिर पर अनेक मुकुट धारण कर मन्त्रियों से घिरा हुआ बैठा था। आधे निमेष में हो भगवान् श्रीराम अर्धचन्द्राकार बाण से हजारों श्वेत-छत्र तथा दसों मुकुट काट दिये, यह अति आश्चर्य की बात हुई ॥४२-४४ ॥

लज्जितो रावणस्तूर्णं विवहश भवनं स्वकम् ।

आहूय राक्षसान् सर्वान् प्रहस्तप्रमुखान् खलः ॥ ४५॥

वानरैः सह युद्धाय नोदयामास सत्वरः ।
ततो भेरीमृदङ्गाद्यैः पणवानकगोमुखैः ॥ ४६॥

तदनन्तर लज्जित होकर रावण अपने घर में प्रवेश किया और वह खल प्रहस्तादि प्रमुख राक्षसों को बुलाकर वानरों के साथ शीघ्र ही युद्ध के लिये आज्ञा दे दिया। तब भेरी, मृदङ्ग, पणव, आनक और गोमुख आदि बाद्यों के साथ ॥ ४५-४६ ॥

महिषोष्ट्रैः खरैः सिंहैर्द्वीपिभिः कृतवाहनाः ।
खड्गशूलधनुःपाशयष्टितोमरशक्तिभिः ॥४७॥

लक्षिताः सर्वतो लङ्कां प्रतिद्वारमुपाययुः ।
तत्पूर्वमेव रामेण नोदिता वानरर्षभाः ॥ ४८॥

भैसों, ऊँटों, गदहों और सिहों तथा व्याघ्रों पर चढ़कर खड्ग, शूल, धनुष, पाश, यष्टि, तोमर, शक्ति आदि अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर राक्षस गण लंका के प्रत्येक द्वार पर आ गये। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी वानरों को पहले ही युद्ध के लिये आज्ञा दी थी ॥ ४७-४८ ॥

उद्यम्य गिरिशृङ्गाणि शिखराणि महान्ति च ।
तरूंश्चोत्पाट्य विविधान् युद्धाय हरियूथपाः ॥ ४९॥

प्रेक्षमाणा रावणस्य तान्यनीकानि भागशः ।
राघवप्रियकामार्थं लङ्कामारुरुहुस्तदा ॥ ५०॥

बड़े बड़े भारी पर्वतों के शिखरों को हाथ में लिए हुए और वृक्षों को उखाड़ कर हाथो में लिए हुए युद्ध की लिए उत्सुक वानर यूथपति अपने अपने स्थोने पर स्थित होते हुए रावण की सेना की राह देखने लगे और श्री राम की आगया अनुसार लंका पर चढ़ाई करने लगे ॥ ५९-५०॥

ते द्रुमैः पर्वताग्रैश्च मुष्टिभिश्च प्लवङ्गमाः ।
ततः सहस्त्रयूथाश्च कोटियूथाश्च यूथपाः ॥ ५१॥

कोटीशतयुताश्चान्ये रुरुधुर्नगरं भृशम् ।
आप्लवन्तः प्लवन्तश्च गर्जन्तश्च प्लवङ्गमाः ॥ ५२॥

उन वानरों ने उछलते-कूदते और गर्जते हुए वृक्ष, पर्वत शिखर तथा मुष्ठियाँ तान कर नगर को चारो ओर से घेर लिया। इनमें कोई सहस्त्रयूथपति, कोई कोटियूथपति और कोई शत कोटि यूथपति थे ॥ ५१-५२॥

रामो जयत्यतिबलो लक्ष्मणश्च महाबलः ।
राजा जयति सुग्रीवो राघवहणानुपालितः ॥ ५३॥

अतिबली श्रीराम और महाबली लक्ष्मण की जय हो, श्रीरघुनाथजी से आरक्षित राजा सुग्रीव की जय हो ॥५३॥

इत्येवं घोषयन्तश्च समं युयुधिरेऽरिभिः ।
हनूमानङ्गदश्चैव कुमुदो नील एव च ॥ ५४॥

नलश्च शरभश्चैव मैन्दो द्विविद एव च ।
जाम्बवान् दधिवक्त्रश्च केसरी तार एव च ॥ ५५॥

अन्ये च बलिनः सर्वे यूथपाश्च प्लवङ्गमाः ।
द्वाराण्युत्प्लुत्य लङ्कायाः सर्वतो रुरुधुर्भृशम् ।
तदा वृक्षैर्महाकायाः पर्वताग्रैश्च वानराः ॥ ५६॥

इस प्रकार कहते हुए वे शत्रुओं से लड़ने लगे। हनुमान, अङ्गद, कुमुद, नील, नल, शरभ, मैन्द, द्विविद, जाम्बवान् , दधिमुख, केसरी, तार तथा अन्य सभी बलवान् वानर और यूथपतिगण उछल-कूदकर लङ्का के सभी द्वारों को चारो ओर से घेर लिये। तदनन्तर महाकाय वानरगण वृक्ष, पर्वतशिखर, ॥५४-५६॥

निजघ्नुस्तानि रक्षांसि नखैर्दन्तैश्च वहगिताः ।
राक्षसाश्च तदा भीमा द्वारेभ्यः सर्वतो रुषा ॥ ५७॥

निर्गत्य भिन्दिपालैश्च खड्गैः शूलैः परश्वधैः ।
निजघ्नुर्वानरानीकं महाकाया महाबलाः ॥ ५८॥

नख और दाँतों से अति शीघ्रता से उन राक्षसों को मारने लगे। तब भीमपराक्रम महाबली, विशाल शरीर वाले राक्षसगण अतिक्रोधित होकर समस्त द्वारों से निकलकर भिन्दिपाल, खड्ग, शूल, परशु आदि विविध अस्त्र-शास्त्रों से वानरी सेना पर प्रहार करने लगे।५४-५८॥

राक्षसांश्च तथा जघ्नुर्वानरा जितकाशिनः ।
तदा बभूव समरो मांसशोणितकर्दमः ॥ ५९॥

रक्षसां वानराणां च सम्बभूवाद्भुतोपमः ।
ते हयैश्च गजैश्चैव रथैः काञ्चनसन्निभैः ॥ ६०॥

रक्षोव्याघ्रा युयुधिरे नादयन्तो दिशो दश ।
राक्षसाश्च कपीन्द्राश्च परस्परजयैषिणः ॥ ६१॥

इसी समय विजयी वानरवीर भी राक्षसों को मारने लगे। उस समय राक्षसों और वानरों का अद्भूत युद्ध हुआ। उस समराङ्गण में मांस और खून से कीचड़ हो गया। व्याघ्र के समान वीर राक्षस घोड़ों, हाथियों और सवर्णमय रथों पर चढ़कर दसों दिशाओं को शब्दायमान करते हुए लड़ रहे थे। राक्षस और वानरवीर एक दूसरे को जीतने की इच्छा रखने वाले थे ॥ ५९-६१ ॥

राक्षसान् वानरा जघ्नुर्वानरांश्चैव राक्षसाः ।
रामेण विष्णुना दृष्टा हरयो दिविजांशजाः ॥ ६२॥

बभूवुर्बलिनो हृष्टास्तदा पीतामृता इव ।
सीताभिमर्शपापेन रावणेनाभिपालितान् ॥ ६३॥

हतश्रीकान् हतबलान् राक्षसान् जघ्नुरोजसा ।
चतुर्थांशावशेषेण निहतं राक्षसं बलम् ॥ ६४॥

वानरगण राक्षसों को मारने लगे और राक्षसगण भी वानरों को मारने लगे। विष्णु भगवान रूपी श्रीरामजी की दृष्टि पड़ने से सभी देवताओं के अंश वानरगण अमृतपान की भाँति हर्षित होकर अति बलशाली हो गए और सीता को हरण के समय स्पर्श करने के कारण महापापी

रावण से पालित होने के कारण तेज रहित हुए बलहीन राक्षसों को मारने लगे। धीरे धीरे नष्ट होकर राक्षसों की सेना केवल चौथाई ही रह गई ॥ ६२-६४ ॥

स्वसैन्यं निहतं दृष्ट्वा मेघनादोऽथ दुष्टधीः ।
ब्रह्मदत्तवरः श्रीमानन्तर्धानं गतोऽसुरः ॥ ६५॥

तब दुष्ट दुद्धि वाला राक्षस मेघनाद अपनी सेना का नाश देखकर ब्रह्मा के वरदान से प्राप्त श्रीवाला अन्तर्धान हो गया ॥६५॥

सर्वास्त्रकुशलो व्योम्नि ब्रह्मास्त्रेण समन्ततः ।
नानाविधानि शस्त्राणि वानरानीकमर्दयन् ॥ ६६॥

ववर्ष शरजालानि तदद्भुतमिवाभवत् ।
रामोऽपि मानयन् ब्राह्ममस्त्रमस्त्रविदां वरः ॥ ६७॥

सर्व अन्न विशारद वह दैत्य आकाश में स्थित हो चारो ओर से ब्रह्मास्त्र द्वारा वानरों की सेना को दलित करता हुआ अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र वरसाने लगा। यह एक अद्भुत ही हुआ।

क्षणं तूष्णीमुवासाथ ददर्श पतितं बलम् ।
वानराणां रघुश्रेष्ठश्चुकोपानलसन्निभः ॥ ६८॥

चापमानय सौमित्रे ब्रह्मास्त्रेणासुरं क्षणात् ।
भस्मीकरोमि मे पश्य बलमद्य रघूत्तम ॥ ६९॥

ब्रहम वेत्ताओं में श्रेष्ठ भगवान् श्रीराम ब्रह्मास्त्र की मर्यादा रखने के लिए क्षण मात्र चुप होकर वानरी सेना का पतन देखते रहे। तब कोप से अग्नि के समान प्रज्ज्वलित रघुश्रेष्ठ बोले-लक्ष्मण ! धनुष लाओ, ब्रह्मास्त्र से मैं इस असुर को अभी भस्म कर देता हूँ। रघुश्रेष्ठ ! मेरा पराक्रम देखो ॥६६-६९॥

मेघनादोऽपि तच्छ्रुत्वा रामवाक्यमतन्द्रितः ।
तूर्णं जगाम नगरं मायया मायिकोऽसुरः ॥ ७०॥

अतन्द्रित महामायावी, दैत्य मेघनाद श्रीरामचन्द्रजी का यह कथन सुनकर मायापूर्वक शीघ्र अपने नगर को चला गया।॥ ७० ॥

पतितं वानरानीकं दृष्ट्वा रामोऽतिदुःखितः ।
उवाच मारुतिं शीघ्रं गत्वा क्षीरमहोदधिम् ॥ ७१॥

तत्र द्रोणगिरिर्नाम दिव्यौषधिसमुद्भवः ।
तमानय द्रुतं गत्वा सञ्जीवय महामते ॥ ७२॥

वानरौघान् महासत्त्वान् कीर्तिस्ते सुस्थिरा भवहत् ।
आज्ञाप्रमाणमित्युक्त्वा जगामानिलनन्दनः ॥ ७३॥

वानरी सेना का पतन देख अतिदुःखित होकर श्रीरामचन्द्रजी हनुमान से कहा -हनुमान् ! शीघ्र ही क्षीर सागर पर जाओ वहाँ पर द्रोणगिरि नामक पर्वत पर दिव्य औषधियाँ उत्पन्न होती हैं। महामते! उन्हें शीघ्र लाकर महापराक्रमी वानरयूथों को जीवित करो। इससे तुम्हारी अविचल कीर्ति होगी। 'जैसी आपकी इच्छा ति' यह कह पवनसुत हनुमानजी चल दिये ॥ ७१-७३ ॥

आनीय च गिरिं सर्वान् वानरान् वानरर्षभः ।
जीवयित्वा पुनस्तत्र स्थापयित्वाऽऽययौ द्रुतम् ॥ ७४॥

और शीघ्र उस पर्वत को लाकर सभी वानरों को जीवित कर उसे पुनः वहीं रख आए ॥ ७४ ॥

पूर्ववद्भैरवं नादं वानराणां बलौघतः ।
श्रुत्वा विस्मयमापन्नो रावणो वाक्यमब्रवीत् ॥ ७५॥

तदनन्तर पूर्ववत् वानरी सेना का भयानक शब्द सुनकर अति विस्मित होकर रावण कहने लगा ॥ ७५॥

राघवो मे महान् शत्रुः प्राप्तो देवविनिर्मितः ।
हन्तुं तं समरे शीघ्रं गच्छन्तु मम यूथपाः ॥ ७६॥

मन्त्रिणो बान्धवाः शूरा यह च मत्प्रियकाङ्क्षिणः ।
सर्वे गच्छन्तु युद्धाय त्वरितं मम शासनात् ॥ ७७॥

देवताओं द्वारा निर्मित यह राम मेरा महान् शत्रु है। उसे युद्ध में मारने के लिये मेरे सेनापति, मन्त्री, बन्धुगण और मेरा प्रिय चाहने वाले शूरवीर मेरी आज्ञा से शीघ्र जायें ॥ ७६-७७ ॥

यह न गच्छन्ति युद्धाय भीरवः प्राणविप्लवात् ।
तान् हनिष्याम्यहं सर्वान् मच्छासनपराङ्मुखान् ॥ ७८॥

जो भीरू अथवा प्राणों के भय से युद्ध के लिये नहीं जायेंगे, मेरी आज्ञा न मानने वाले उन्हें मैं ही मार दूंगा ॥ ७८ ॥

तच्छ्रुत्वा भयसन्त्रस्ता निर्जग्मू रणकोविदाः ।
अतिकायः प्रहस्तश्च महानादमहोदरौ ॥ ७९॥

देवशत्रुर्निकुम्भश्च देवान्तकनरान्तकौ ।
अपरे बलिनः सर्वे ययुर्युद्धाय वानरैः ॥ ८०॥

रावण का यह कथन सुनकर अतिकाय, प्रहस्त, महानाद, महोदर, देवशत्रु, निकुम्भ, देवान्तक और नरान्तक आदि रणकुशल शूरवीर और सभी बलवान् योद्धा भय से वानरों के साथ युद्ध करने के लिए चल दिये ॥ ७९-८० ॥

एते चान्ये च बहवः शूराः शतसहस्रशः ।
प्रविश्य वानरं सैन्यं ममन्थुर्बलदर्पिताः ॥ ८१॥

यह और अनेकों शूरवीर अपने बल के गर्व से उन्मत्त होकर वानरों की सेना में प्रवेश कर वानरों की सेना को दलित करने लगे ॥८१॥

भुशुण्डीभिन्दिपालैश्च बाणैः खड्गैः परश्वधैः ।
अन्यैश्च विविधैरस्त्रैर्निजघ्नुर्हरियूथपान् ॥ ८२॥

भुशुण्डी, भिन्दिपाल, बाण, खड्ग, परशु आदि विविध आयुधों से वह वानर यूथपतियों पर प्रहार करने लगे॥ ८२॥

ते पादपैः पर्वताग्रैर्नखदंष्ट्रैश्च मुष्टिभिः ।

प्राणैर्विमोचयामासुः सर्वराक्षसयूथपान् ॥ ८३॥

वानरवीर भी वृक्ष, पर्वत, शिला, नख, दाँत तथा घूसों से सभी राक्षस यूथपतियों को प्राणहीन करने लगे ॥ ८३ ॥

रामेण निहताः केचित्सुग्रीवहण तथापरे ।
हनूमता चाङ्गदेन लक्ष्मणेन महात्मना ।
यूथपैर्वानराणां ते निहताः सर्वराक्षसाः ॥ ८४॥

कोई राक्षस श्रीराम के द्वारा, कोई सुग्रीव के द्वारा, कोई हनुमान तथा कोई अङ्गद और कोई महामना लक्ष्मण के द्वारा मारे गए और कोई अन्यान्य वानर यूथपतियों के द्वारा मारे गये। इस प्रकार सभी राक्षस मारे गये ॥ ८४॥

रामतेजः समाविश्य वानरा बलिनोऽभवन् ।
रामशक्तिविहीनानामेवं शक्तिः कुतो भवहत् ॥ ८५॥

श्रीरामचन्द्रजी का तेज समाविष्ट होने से सभी वानरगण अति प्रबल हो रहे थे। श्रीरामचन्द्रजी की शक्ति से रहित होने पर इस प्रकार की शक्ति इन्हें कैसे हो सकती थी ॥८५॥

सर्वेश्वरः सर्वमयो विधाता मायामनुष्यत्वविडम्बनेन ।
सदा चिदानन्दमयोऽपि रामो युद्धादिलीलां वितनोति मायाम् ॥८६॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी सर्वेश्वर, सर्वमय, विधाता और सदा चिदानन्दस्वरूप हैं; तथापि माया के द्वारा मनुष्य रूप का अनुसरण

करते हुए वह अपनी माया से युद्धादि की लीला विस्तार पूर्वक करते थे॥८६॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे युद्धकाण्डे
पञ्चमः सर्गः ॥ ५॥

॥षष्ठः सर्गः ॥

लक्ष्मण की मूर्च्छा, राम-रावण संग्राम, हनुमानजी का औषधि लेने के लिये प्रस्थान और रावण-कालनेमि का संवाद

श्रीमहादेव उवाच ।
श्रुत्वा युद्धे बलं नष्टमतिकायमुखं महत् ।
रावणो दुःखसन्तप्तः क्रोधेन महताऽऽवृतः ॥ १॥

श्री महादेवजी बोले- युद्ध में अतिकाय प्रमुख राक्षसों की महती सेना का नष्ट होना सुनकर रावण अति दुखी होकर महान् क्रोध से भर गया ॥ १ ॥

निधायेन्द्रजितं लङ्कारक्षणार्थं महाद्युतिः ।
स्वयं जगाम युद्धाय रामेण सह राक्षसः ॥ २॥

इन्द्रजित को लंका की रक्षा हेतु आज्ञा देकर वह महातेजस्वी राक्षस स्वयं श्रीरामचन्द्रजी से युद्ध के लिये चला ॥२॥

दिव्यं स्यन्दनमारुह्य सर्वशस्त्रास्त्रसंयुतम् ।
राममेवाभिदुद्राव राक्षसेन्द्रो महाबलः ॥ ३॥

वह महाबली राक्षसेन्द्र सम्पूर्ण शस्त्रास्त्र से सुसज्जित होकर एक दिव्यरथ पर सवार होकर श्रीरामचन्द्रजी की और तेजी से बढ़ा ॥३॥

वानरान् बहुशो हत्वा बाणैराशीविषोपमैः ।
पातयामास सुग्रीवप्रमुखान् यूथनायकान् ॥ ४॥

सर्प के समान अपने विषले बाणों से मारकर सुग्रीवादि प्रमुख यूथपतियों को गिरा दिया ॥४॥

गदापाणिं महासत्त्वं तत्र दृष्ट्वा विभीषणम् ।
उत्ससर्ज महाशक्तिं मयदत्तां विभीषणे ॥ ५॥

वहाँ पर महापराक्रमी हाथ में गदा लिये हुए विभीषण को देखकर उसने मयदानव द्वारा प्रदत्त महाशक्ति को छोड़ा ॥५॥

तामापतन्तीमालोक्य विभीषणविघातिनीम् ।
दत्ताभयोऽयं रामेण वधार्हो नायमासुरः ॥ ६॥

इत्युक्त्वा लक्ष्मणो भीमं चापमादाय वीर्यवान् ।
विभीषणस्य पुरतः स्थितोऽकम्प इवाचलः ॥ ७॥

उस महशक्ति को विभीषण का नाश करने के लिये आते हुए देखकर यह श्रीरामचन्द्रजी के द्वारा अभय प्रदत्त है, अत: यह असुर वध योग्य नहीं है; यह कहते हुए महावीर्यवान् लक्ष्मण अपना प्रचण्ड धनुष लेकर विभीषण के सामने पर्वत के समान अचल होकर स्थित हो गये ॥६-७॥

सा शक्तिर्लक्ष्मणतनुं विवहशामोघशक्तितः ।
यावन्त्यः शक्तयो लोके मायायाः सम्भवन्ति हि ॥ ८॥

तासामाधारभूतस्य लक्ष्मणस्य महात्मनः ।
मायाशक्त्या भवहत्किं वा शेषांशस्य हरेस्तनोः ॥ ९॥

वह शक्ति अमोघ होने के कारण लक्ष्मणजी के शरीर में प्रवेश कर गयी। माया से संसार में जितनी शक्तियाँ होती हैं उन सबके आधार भूत महात्मा लक्ष्मणजी का उनसे क्या अनिष्ट हो सकता है, क्योंकि लक्ष्मणजी भगवान् श्री हरि के स्वरूप शेषनाग के अंशावतार हैं ॥ ८-९॥

तथापि मानुषं भावमापन्नस्तदनुव्रतः ।
मूर्च्छितः पतितो भूमौ तमादातुं दशाननः ॥ १०॥

हस्तैस्तोलयितुं शक्तो न बभूवातिविस्मितः ।
सर्वस्य जगतः सारं विराजं परमेश्वरम् ॥ ११॥

कथं लोकाश्रयं विष्णुं तोलयेल्लघुराक्षसः ।
ग्रहीतुकामं सौमित्रिं रावणं वीक्ष्य मारुतिः ॥ १२॥

आजघानोरसि क्रुद्धो वज्रकल्पेन मुष्टिना ।
तेन मुष्टिप्रहारेण जानुभ्यामपतद्भुवि ॥ १३॥

परन्तु मनुष्य भाव का अनुसरण करने के कारण वह उस शक्ति के लगने पर मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। उन्हें उठा कर ले जाने के लिये रावण अपने हाथों से उठाने में समर्थ नहीं होने पर अतिविस्मित हुआ। सम्पूर्ण संसार के सारतत्त्व परमेश्वर विराट पुरुष अखिल लोकाधार विष्णु को एक क्षुद्र राक्षस किस प्रकार उठा सकता है। रावण लक्ष्मणजी को उठा कर ले जाना चाहता है यह देखकर हनुमान जी ने अति क्रोधित होकर रावण की छाती में वज्र के समान

एक मुक्के से मारा। उसके आघात से रावण घुटने के बल पृथ्वी पर गिर पड़ा ॥ १०-१३॥

आस्यैश्च नेत्रश्रवणैरुद्वमन् रुधिरं बहु ।
विघूर्णमाननयनो रथोपस्थ उपाविशत् ॥ १४॥

वह अपने मुख नेत्र तथा कानों से अत्यधिक रुधिर वमन करता हुआ चकराती हुई आँखों से अपने रथ के पिछले भाग में बैठ गया ॥ १४ ॥

अथ लक्ष्मणमादाय हनूमान् रावणार्दितम् ।
आनयद्रामसामीप्यं बाहुभ्यां परिगृह्य तम् ॥ १५॥

तब रावण द्वारा आहत लक्ष्मणजी को अपनी भुजाओं पर उठाकर श्री हनुमानजी श्रीरघुनाथजी के पास ले गए ॥ १५॥

हनूमतः सुहृत्त्वेन भक्त्या च परमेश्वरः ।
लघुत्वमगमद्देवो गुरूणां गुरुरप्यजः ॥ १६॥

अजन्मा और प्रकाश स्वरूप परमेश्वर लक्ष्मणजी गुरुतम होने पर भी सौहार्द्र और भक्ति सम्पन्न होने के कारण श्रीहनुमानजी के लिये हल्का से हल्का हो गए ॥ १६ ॥

सा शक्तिरपि तं त्यक्त्वा ज्ञात्वा नारायणांशजम् ।
रावणस्य रथं प्रागाद्रावणोऽपि शनैस्ततः ॥ १७॥

सञ्ज्ञामवाप्य जग्राह बाणासनमथो रुषा ।

राममेवाभिदुद्राव दृष्ट्वा रामोऽपि तं क्रुधा ॥ १८॥

आरुह्य जगतां नाथो हनूमन्तं महाबलम् ।
रथस्थं रावणं दृष्ट्वा अभिदुद्राव राघवः ॥ १९॥

श्रीलक्ष्मण जी को साक्षात् नारायण का अंश समझ कर वह शक्ति पुनः रावण के पास लौट गयी। रावण को धीरे धीरे जब होश आया तो वह अति क्रोधित होकर वह अपना धनुष उठाकर श्रीरामचन्द्रजी की ओर तीव्र गति से आया। उसे अपने तरफ आता हुआ देखकर जगत्पति भगवान श्रीरामचन्द्रजी अति क्रोधित होकर महाबली हनुमानजी के कन्धे पर चढ़कर रथ में रावण को बैठा हुआ देखकर रावण के ओर गए ॥ १७-१९॥

ज्याशब्दमकरोत्तीव्रं वज्रनिष्पेषनिष्ठुरम् ।
रामो गम्भीरया वाचा राक्षसेन्द्रमुवाच ह ॥ २०॥

वज्र को भी चूर्ण करने वाले भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ने अपने धनुष की प्रत्यञ्चा से कठोर शब्द किया और अतिगम्भीर वाणी से राक्षसेन्द्र रावण से बोला ॥ २०॥

राक्षसाधम तिष्ठाद्य क्व गमिष्यसि मे पुरः ।
कृत्वापराधमेवं मे सर्वत्र समदर्शिनः ॥ २१॥

रे राक्षसाधम ! सर्वत्र समदर्शी का इस प्रकार का अपराध करने ने पश्च्यात तू कहाँ जा सकता है ॥२१॥

येन बाणेन निहता राक्षसास्ते जनालये ।

तेनैव त्वां हनिष्यामि तिष्ठाद्य मम गोचरे ॥ २२॥

अरे! तू मेरे सामने खड़ा रह, जिस बाण से मैंने जन स्थान में स्थित तेरे सभी राक्षसों को मारा था, उसी बाण से मैं आज तुझे मार डालूँगा ॥ २२॥

श्रीरामस्य वचः श्रुत्वा रावणो मारुतात्मजम् ।
वहन्तं राघवं सङ्ख्ये शरैस्तीक्ष्णैरताडयत् ॥ २३॥

वह श्रीरामचन्द्रजी का यह कथन सुनकर रावण ने उन्हें ले चलने वाले हनुमानजी पर अति तीव्र बाण से आघात किया ॥ २३ ॥

हतस्यापि शरैस्तीक्ष्णैर्वायुसूनोः स्वतेजसा ।
व्यवर्धत पुनस्तेजो ननर्द च महाकपिः ॥ २४॥

परन्तु रावण के तीव्र बाणों के लगने पर भी मारुतात्मज हनुमान जी अपने तेज के प्रभाव से आगे बढ़ते ही गये और अति जोर से गर्जना करने लगे ॥ २४ ॥

ततो दृष्ट्वा हनूमन्तं सव्रणं रघुसत्तमः ।
क्रोधमाहारयामास कालरुद्र इवापरः ॥ २५॥

हनुमानजी को क्षत-विक्षत देखकर श्रीरघुनाथजी ने दूसरे काल रूद्र के समान भयंकर क्रोध धारण किया ॥ २५ ॥

साश्वं रथं ध्वजं सूतं शस्त्रौघं धनुरञ्जसा ।
छत्रं पताकां तरसा चिच्छेद शितसायकैः ॥ २६॥

और पर्वतों पर इन्द्र के आक्रमण की भाँति अपने वज्रतुल्य महाबाण से रावण को वेध दिया ॥ २७ ॥

उन्होंने अपने तीक्ष्ण बाणों से अति शीघ्र सुगमता पूर्वक रावण के घोड़ों सहित रथ, ध्वजा, सारथी, शस्त्रसमूह, धनुष, छत्र-पताका आदि को काट दिया ॥२६॥

ततो महाशरेणाशु रावणं रघुसत्तमः ।
विव्याध वज्रकल्पेन पाकारिरिव पर्वतम् ॥ २७॥

रामबाणहतो वीरश्चचाल च मुमोह च ।
हस्तान्निपतितश्चापस्तं समीक्ष्य रघूत्तमः ॥ २८॥

अर्धचन्द्रेण चिच्छेद तत्किरीटं रविप्रभम् ।
अनुजानामि गच्छ त्वमिदानीं बाणपीडितः ॥ २९॥

श्रीरघुनाथजी का बाण लगते ही वह विचलित होकर मूर्छित हो गया और उसके हाथ से धनुष छूट गया। उसकी यह दशा देखकर श्रीरघुनाथजी ने एक अर्धचन्द्राकार बाण से सूर्य के समान तेजस्वी उसके मुकुट को काट दिया और बोले-रावण! मेरे बाण से तू व्यथित हो गया है, अत: एव मेरी आज्ञा से तुम जा सकते हो ॥ २८-२९॥

प्रविश्य लङ्कामाश्वास्य श्वः पश्यसि बलं मम ।
रामबाणेन संविद्धो हतदर्पोऽथ रावणः ॥ ३०॥

लंका में आज जाकर विश्राम करो और कल पुनः मेरा पराक्रम देखना । तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजी के बाणों से विद्ध होने से रावण का सारा घमण्ड चूर्ण हो गया ॥३०॥

महत्या लज्जया युक्तो लङ्कां प्राविशदातुरः ।
रामोऽपि लक्ष्मणं दृष्ट्वा मूर्च्छितं पतितं भुवि ॥ ३१॥

मानुषत्वमुपाश्रित्य लीलयानुशुशोच ह ।
ततः प्राह हनूमन्तं वत्स जीवय लक्ष्मणम् ॥ ३२॥

और लज्जित तथा व्याकुल होकर उसने लंका में प्रवेश किया। श्रीरामचन्द्रजी भी मूर्छित होकर पृथ्वी पर पड़े लक्ष्मणजी को देखकर मनुष्य भाव से शोक करने लगे और हनुमानजी से बोले-वत्स ! ॥३१-३२॥

महौषधीः समानीय पूर्ववद्वानरानपि ।
तथेति रघवहणोक्तो जगामाशु महाकपिः ॥ ३३॥

हनूमान् वायुवहगेन क्षणात्तीर्त्वा महोदधिम् ।
एतस्मिन्नन्तरे चारा रावणाय न्यवहदयन् ॥ ३४॥

पूर्ववत् द्रोणाचल से महौषधि लाकर लक्ष्मण और वानरों को जीवित करो। इस प्रकार श्रीरघुनाथजी के कहने पर महाकपि हनुमानजी 'जैसी आपकी इच्छा' यह कहकर क्षणभर में ही महासागर को पार कर वायुवेग से चल पड़े। इसी समय रावण के गुप्तचर रावण से बोले ॥३३-३४ ॥

रामेण प्रेषितो देव हनूमान् क्षीरसागरम् ।
गतो नेतुं लक्ष्मणस्य जीवनार्थं महौषधीः ॥ ३५॥

स्वामिन् ! राम ने महौषधि लाने हेतु हनुमान को क्षीर समुद्र के पार भेजा है और वह लक्ष्मण को जीवित करने हेतु महौषधि लाने के लिये गया है ॥ ३५॥

श्रुत्वा तच्चारवचनं राजा चिन्तापरोऽभवत् ।
जगाम रात्रावहकाकी कालनेमिगृहं क्षणात् ॥ ३६॥

गुप्तचर का यह कथन सुनकर राक्षसाधिप रावण अति चिन्तित होकर कालनेमि के घर गया ॥ ३६ ॥

गृहागतं समालोक्य रावणं विस्मयान्वितः ।
कालनेमिरुवाचेदं प्राञ्जलिर्भयविह्वलः ।
अर्घ्यादिकं ततः कृत्वा रावणस्याग्रतः स्थितः ॥ ३७॥

किं ते करोमि राजेन्द्र किमागमनकारणम् ।
कालनेमिमुवाचेदं रावणो दुःखपीडितः ॥ ३८॥

अपने घर में रावण को आया हुआ देख कर वह अति विस्मित हुआ और अर्घ्य, पाद आदि से उसकी पूजाकर रावण के सामने खड़ा होकर भयभीत होकर हाथ जोड़कर रावण से बोला-हे राजेन्द्र ! आपका आगमन कैसे हआ? मै आपका कौन सा कार्य करूँ ? तब दुःख से पीड़ित होकर रावण कालनेमि से बोला ॥३७- ३८॥

ममापि कालवशतः कष्टमेतदुपस्थितम् ।

मया शक्त्या हतो वीरो लक्ष्मणः पतितो भुवि ॥ ३९॥

काल के वश से मुझ पर भी यह कष्ट उपस्थित हो गया है। मेरे शक्ति से आहत होकर वीर लक्ष्मण पृथ्वी पर पड़ा है ॥ ३९ ॥

तं जीवयितुमानेतुमोषधीर्हनुमान् गतः ।
यथा तस्य भवहद्विघ्नस्तथा कुरु महामते ॥ ४०॥

उसे जीवित करने हेतु महौषधि लाने के लिए हनुमान गया है। हे महामते! जिस प्रकार उसकी यात्रा में विघ्न हो वह यत्न तुम करो ॥ ४०॥

मायया मुनिवहषेण मोहयस्व महाकपिम् ।
कालात्ययो यथा भूयात्तथा कृत्वैहि मन्दिरे ॥ ४१॥

तुम मुनि का वेष धारण कर उस महाकपि को मोहित करना और समय व्यतीत हो जाने पर पुनः तुम अपने घर चले आना ॥४१॥

रावणस्य वचः श्रुत्वा कालनेमिरुवाच तम् ।
रावणेश वचो मेऽद्य शृणु धारय तत्त्वतः ॥ ४२॥

रावण का यह कथन सुनकर कालनेमि रावण से बोला--महाराज रावण ! मेरा कथन सुनकर और तत्त्वपूर्वक समझकर उसे धारण कीजिये ॥ ४२॥

प्रियं ते करवाण्येव न प्राणान् धारयाम्यहम् ।
मारीचस्य यथारण्ये पुराभून्मृगरूपिणः ॥ ४३॥

तथैव मे न सन्देहो भविष्यति दशानन ।
हताः पुत्राश्च पौत्राश्च बान्धवा राक्षसाश्च ते ॥ ४४॥

घातयित्वाऽसुरकुलं जीवितेनापि किं तव ।
राज्येन वा सीतया वा किं देहेन जडात्मना ॥ ४५॥

मैं अपना प्राण देकर भी आपका प्रिय करूँगा, परन्तु हे दशानन! दण्डकारण्य में मृगरूप धारी मारीच का जो हाल हुआ निःसन्देह मेरा भी वही होगा। आपके पुत्र-पौत्र, बन्धु-बान्धव आदि राक्षस मारे गये। अपने असुर कुल का नाशकर जीवन, राज्य, सीता अथवा जड शरीर से ही क्या लाभ ? ॥४३-४५॥

सीतां प्रयच्छ रामाय राज्यं देहि विभीषणे ।
वनं याहि महाबाहो रम्यं मुनिगणाश्रयम् ॥ ४६॥

हे महाबाहो! आप श्रीरामचन्द्रजी को सीता और विभीषण को राज्य देकर मुनिजन सेवित सुरम्य तपोवन में जाइये ॥ ४६ ॥

स्नात्वा प्रातः शुभजले कृत्वा सन्ध्यादिकाः क्रियाः ।
तत एकान्तमाश्रित्य सुखासनपरिग्रहः ॥ ४७॥

वहाँ पर प्रातः काल शुद्ध जल से स्नान और सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्मों से निवृत्त हो एकान्त में सुखमय आसन पर बैठिये ॥४७॥

विसृज्य सर्वतः सङ्गमितरान् विषयान् बहिः ।
बहिःप्रवृत्ताक्षगणं शनैः प्रत्यक् प्रवाहय ॥ ४८॥

सर्वसंग रहित होकर, बाह्यविषयों को त्याग कर, बाह्यवृत्ति वाली इन्द्रियों को अन्तर्मुख कीजिये ॥४८॥

प्रकृतेर्भिन्नमात्मानं विचारय सदानघ ।
चराचरं जगत्कृत्स्नं देहबुद्धीन्द्रियादिकम् ॥ ४९॥

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं दृश्यते श्रूयते च यत् ।
सैषा प्रकृतिरित्युक्ता सैव मायेति कीर्तिता ॥ ५०॥

हे अनघ ! सदा अपने आत्मा को प्रकृत्ति से भिन्न विचार कीजिये। देह, बुद्धि, इन्द्रियादि युक्त सम्पूर्ण चराचर विश्व ब्रह्म से लेकर कीट पर्यन्त दृश्य और सुनायी पड़ने वाला सब प्रकृति ही है। वही प्रकृति माया भी कही जाती है ॥ ४९-५० ॥

सर्गस्थितिविनाशानां जगद्वृक्षस्य कारणम् ।
लोहितश्वेतकृष्णादि प्रजाः सृजति सर्वदा ॥ ५१॥

वह माया जगवृक्ष के निरन्तर उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का कारण रूप श्वेत (सात्त्विक), लोहित (राजस), कृष्ण (तामस) प्रजा उत्पन्न करती है ॥५१॥

कामक्रोधादिपुत्राद्यान् हिंसातृष्णादिकन्यकाः ।
मोहयन्त्यनिशं देवमात्मानं स्वैर्गुणैर्विभुम् ॥ ५२॥

तथा वह माया अपने गुणों से निरन्तर सर्वव्यापक आत्मा को मोहित कर काम, क्रोध आदि पुत्रों, हिंसा-तृष्णा आदि कन्याओं को उत्पन्न करती है ॥५२॥

कर्तृत्वभोक्तृत्वमुखान् स्वगुणानात्मनीश्वरे ।
आरोप्य स्ववशं कृत्वा तेन क्रीडति सर्वदा ॥ ५३॥

वह अपने ईश्वर आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अपने गुणों को आरोपित कर अपने वशीभूत कर हमेशा उससे क्रीडा करती है ॥५३॥

शुद्धोऽप्यात्मा यया युक्तः पश्यतीव सदा बहिः ।
विस्मृत्य च स्वमात्मानं मायागुणविमोहितः ॥ ५४॥

माया से युक्त होकर ही आत्मा माया के गुणों से मोहित होकर अपने स्वरूप को भूल जाता है और नित्य शुद्ध होता हुआ भी हमेशा बाह्य विषयों को ही देखता रहता है ॥ ५४॥

यदा सद्गुरुणा युक्तो बोध्यते बोधरूपिणा ।
निवृत्तदृष्टिरात्मानं पश्यत्येव सदा स्फुटम् ॥ ५५॥

जब सद्गुरु से साक्षात्कार होता है तब गुरु अपनी निर्मल ज्ञानदृष्टि से जीव को जाग्रत करते हैं। तब वह बाह्यविषयों से अपनी दृष्टि को हटाकर अपने को स्पष्ट देखता है ॥५५॥

जीवन्मुक्तः सदा देही मुच्यते प्राकृतैर्गुणैः ।
त्वमप्येवं सदात्मानं विचार्य नियतेन्द्रियः ॥ ५६॥

तथा यह देह धारी जीवन्मुक्त होकर प्रकृति के गुणों से मुक्त हो जाता है। हे रावण ! आप संयत होकर इसी प्रकार अपने वास्तविक आत्मस्वरूप का चिन्तन कीजिये ॥५६॥

प्रकृतेरन्यमात्मानं ज्ञात्वा मुक्तो भविष्यसि ।
ध्यातुं यद्यसमर्थोऽसि सगुणं देवमाश्रय ॥ ५७॥

इस प्रकार आप प्रकृति से पृथक् आत्मा को समझकर मुक्त हो जायेंगे और आप इस प्रकार ध्यान करने में असमर्थ हों तो सगुण ब्रह्म का आश्रय लीजिये ॥ ५७ ॥

हृत्पद्मकर्णिके स्वर्णपीठे मणिगणान्विते ।
मृदुश्लक्ष्णतरे तत्र जानक्या सह संस्थितम् ॥ ५८॥

वीरासनं विशालाक्षं विद्युत्पुञ्जनिभाम्बरम् ।
किरीटहारकेयूरकौस्तुभादिभिरन्वितम् ॥ ५९॥

नूपुरैः कटकैर्भान्तं तथैव वनमालया ।
लक्ष्मणेन धनुर्द्वन्द्वकरेण परिसेवितम् ॥ ६०॥

एवं ध्यात्वा सदात्मानं रामं सर्वहृदि स्थितम् ।
भक्त्या परमया युक्तो मुच्यते नात्र संशयः ॥ ६१॥

सगुण ब्रह्म के उपासना की विधिनिम्नाङ्कित है हृत्कमल की कणिकाओं में मणिमय अतिमृदुल और स्वच्छ सुवर्ण सिंहासन पर जो श्रीजानकीजी सहित विराजमान हैं तथा वीरासन से बैठे हैं और

जिनके नेत्र अतिविशाल तथा वस्त्र विद्युल्लता की भाँति तेजोमय हैं तथा जो किरीट, हार, केयूर एवं कौस्तुभमणि धारण किये हुए हैं और नूपुर, कटक, वनमाला आदि से अपूर्व शोभा पा रहे हैं तथा लक्ष्मणजी अपने हाथों में धनुष धारणकर जिनकी सेवा में तत्पर हैं, सर्व हृदय स्थित अपने आत्मस्वरूप उन भगवान् श्रीराम का अतिभक्तिपूर्वक आप निरन्तर ध्यान करने से निःसन्देह मुक्त हो जायेंगे ॥ ५८-६१ ॥

शृणु वै चरितं तस्य भक्तैर्नित्यमनन्यधीः ।
एवं चेत्कृतपूर्वाणि पापानि च महान्त्यपि ।
क्षणादेव विनश्यन्ति यथाग्नेस्तूलराशयः ॥ ६२॥

अनन्यबुद्धि से हमेशा उनके भक्तों से उनके पवित्र चरित्र का श्रवण कीजिये। यह करने पर अग्नि से स्थूल समह भस्म होने की भाँति पूर्वकृत् महान् पाप क्षणमात्र में भस्म हो जायेंगे ॥६२॥

भजस्व रामं परिपूर्णमेकं विहाय वैरं निजभक्तियुक्तः ।
हृदा सदा भावितभावरूपं अनामरूपं पुरुषं पुराणम् ॥ ६३॥

सर्वत्र परिपूर्ण अद्वितीय भगवान् श्रीराम के साथ वरभाव का त्याग कर आत्मप्रेम से नामरूप रहित पुराण पुरूष उनकी आप अपने हृदय में सगुण भाव से हमेशा भजन कीजिये ॥ ६३ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे युद्धकाण्डे षष्ठः सर्गः ॥ ६॥

॥सप्तमः सर्गः ॥

कालनेमि का कपट करना, हनुमानजी द्वारा कालनेमि का वध, लक्ष्मणजी का सचेत होना तथा रावण द्वारा कुम्भकर्ण को जगाना

श्रीमहादेव उवाच ।
कालनेमिवचः श्रुत्वा रावणोऽमृतसन्निभम् ।
जज्वाल क्रोधताम्राक्षः सर्पिरद्भिरिवाग्निमत् ॥ १॥

श्री महादेवजी बोले-अमृत के समान कालनेमि का कथन सुनकर रावण अग्नि से तपाये हुए घी में जल डालने की भाँति क्रोध से जल उठा और उसके आँखें लाल हो गयीं ॥१॥

निहन्मि त्वां दुरात्मानं मच्छासनपराङ्मुखम् ।
परैः किञ्चिद्गृहीत्वा त्वं भाषसे रामकिङ्करः ॥ २॥

रावण कालनेमि से बोला -रे दुरात्मा ! मेरी आज्ञा के विपरीत आचरण वाले तुझ दुष्ट को मैं अभी मारता हूँ। प्रतीत होता है शत्रु से कुछ लेकर राम के दास की भाँति तू बोल रहा है ॥२॥

कालनेमिरुवाचेदं रावणं देव किं क्रुधा ।
न रोचते मे वचनं यदि गत्वा करोमि तत् ॥ ३॥

तदनन्तर कालनेमि ने रावण से कहा देव! क्रोधित होने से क्या ? यदि मेरा कथन उचित नही प्रतीत होता, तो मैं जाकर आपके कथनानुसार करता हूँ॥३॥

इत्युक्त्वा प्रययौ शीघ्रं कालनेमिर्महासुरः ।
नोदितो रावणेनैव हनूमद्विघ्नकारणात् ॥ ४॥

यह कहकर वह महादैत्य कालनेमि रावण के कथनानुसार श्रीहनुमानजी के कार्य में विघ्न उपस्थित करने के लिये शीघ्र ही चल दिया ॥ ४॥

स गत्वा हिमवत्पार्श्वं तपोवनमकल्पयत् ।
तत्र शिष्यैः परिवृतो मुनिवहषधरः खलः ॥ ५॥

गच्छतो मार्गमासाद्य वायुसूनोर्महात्मनः ।
ततो गत्वा ददर्शाथ हनूमानाश्रमं शुभम् ॥ ६॥

हिमवान् पर्वत के समीप जाकर पवनतनय महात्मा हनुमानजी के मार्ग में उसने एक तपोवन बनाया और वह दुष्ट वहाँ पर मुनि का वेष धारण कर शिष्यों द्वारा घिरकर बैठ गया। तब वहाँ आकर हनुमान जी ने उस सुन्दर आश्रम को देखा ॥५-६॥

चिन्तयामास मनसा श्रीमान् पवननन्दनः ।
पुरा न दृष्टमेतन्मे मुनिमण्डलमुत्तमम् ॥ ७॥

श्रीमान् पवननन्दन हनुमान जी उसे देखकर मन ही मन सोचने लगे कि मैंने पहले तो इस उत्तम मुनिमण्डल को नहीं देखा था ॥७॥

मार्गो विभ्रंशितो वा मे भ्रमो वा चित्तसम्भवः ।
यद्वाऽऽविश्याश्रमपदं दृष्ट्वा मुनिमशेषतः ॥ ८॥

पीत्वा जलं ततो यामि द्रोणाचलमनुत्तमम् ।
इत्युक्त्वा प्रविवहशाथ सर्वतो योजनायतम् ॥ ९॥

आश्रमं कदलीशालखर्जूरपनसादिभिः ।
समावृतं पक्वफलैर्नम्रशाखैश्च पादपैः ॥ १०॥

मैं या तो मार्ग भूल गया हूँ अथवा मेरा चित्त भ्रमित हो गया है ? जो भी हो मैं इस आश्रम में जाकर मुनिगण का दर्शन एवं जलपान करूंगा और उसके पश्च्यात पुनः द्रोणाचल पर जाऊँगा। यह विचार करने के पश्च्यात हनुमान जी उस आश्रम में गए। वह आश्रम चारों ओर से एक योजन विस्तृत था। वह आश्रम चारों ओर से कदली, शाल, खजूर, पनस आदि से परिपूर्ण और पके हुए फलों से झुके हुए वृक्ष की शाखाओं से युक्त था ॥ ८-१०॥

वैरभावविनिर्मुक्तं शुद्धं निर्मललक्षणम् ।
तस्मिन्महाश्रमे रम्ये कालनेमिः स राक्षसः ॥ ११॥

इन्द्रयोगं समास्थाय चकार शिवपूजनम् ।
हनूमानभिवाद्याह गौरवहण महासुरम् ॥ १२॥

वैरभाव रहित शुद्ध और निर्मल उस रम्य आश्रम में राक्षस कालनेमि इन्द्रजाल विद्या का सहारा लेकर श्रीशिवजी का पूजन करता था।

श्रीहनुमानजी गौर पूर्वक उस महासुर का अभिवादन करके बोले ॥ ११-१२ ॥

भगवन् रामदूतोऽहं हनूमान्नाम नामतः ।
रामकार्येण महता क्षीराब्धिं गन्तुमुद्यतः ॥ १३॥

भगवन् ! हनुमान् नाम का मैं श्रीरामचन्द्रजी का दूत हूँ। मैं श्रीरामचन्द्रजी के कार्य के लिये क्षीर सागर में जाने के लिये उद्यत हूँ॥ १३ ॥

तृषा मां बाधते ब्रह्मन्नुदकं कुत्र विद्यते ।
यथेच्छं पातुमिच्छामि कथ्यतां मे मुनीश्वर ॥ १४॥

ब्रह्मन् मुझे प्यास सता रही है, मैं यथेच्छ जलपान करना चाहता हूँ। हे मुनीश्वर ! आप मुझे बताएं कि जल कहाँ है ? ॥ १४ ॥

तच्छ्रुत्वा मारुतेर्वाक्यं कालनेमिस्तमब्रवीत् ।
कमण्डलुगतं तोयं मम त्वं पातुमर्हसि ॥ १५॥

हनुमानजी का यह कथन सुनकर कालनेमि बोला-मेरे कमण्डल का जल तुम पी सकते हो ॥ १५॥

भुङ्क्ष्व चेमानि पक्वानि फलानि तदनन्तरम् ।
निवसस्व सुखेनात्र निद्रामेहि त्वरास्तु मा ॥ १६॥

यह सुपक्व फलों को खाकर सुखपूर्वक शयन करो, शीघ्रता मत करो ॥ १६ ॥

भूतं भव्यं भविष्यं च जानामि तपसा स्वयम् ।
उत्थितो लक्ष्मणः सर्वे वानरा रामवीक्षिताः ॥ १७॥

मैं अपनी तपस्या से भूत, भविष्य और वर्तमान सब कुछ जानता हूँ। श्रीरामचन्द्र जी के देखने मात्र से लक्ष्मणजी एवं सभी वानर गण उठ गये हैं ॥ १७ ॥

तच्छ्रुत्वा हनुमानाह कमण्डलुजलेन मे ।
न शाम्यत्यधिका तृष्णा ततो दर्शय मे जलम् ॥ १८॥

यह सुनकर हमुमानजी बोले मुझे अधिक प्यास लगी है। अत: इस कमण्डल के जल से मेरी तृष्णा नहीं जायेगी। अत: आप मुझे जलाशय दिखला दें॥१८॥

तथेत्याज्ञापयामास वटुं मायाविकल्पितम् ।
वटो दर्शय विस्तीर्णं वायुसूनोर्जलाशयम् ॥ १९॥

'जैसी तुम्हारी इच्छा' यह कहकर वह माया के ब्रह्मचारी को आज्ञा दी कि तू तुम हनुमानजी को वह विस्तृत जलाशय दिखला दो ॥१९॥

निमील्य चाक्षिणी तोयं पीत्वागच्छ ममान्तिकम् ।
उपदेक्ष्यामि ते मन्त्रं येन द्रक्ष्यसि चौषधीः ॥ २०॥

तब वह हनुमानजी से बोला-तुम नेत्र बन्दकर जलपान करना और शीघ्र मेरे समीप आकर मुझसे मन्त्र का उपदेश लेना जिससे तुम औषधि को देख सकोगे ॥ २०॥

तथेति दर्शितं शीघ्रं वटुना सलिलाशयम् ।
प्रविश्य हनुमांस्तोयमपिबन्मीलितेक्षणः ॥ २१॥

जैसी आज्ञा' यह कहकर ब्रह्मचारी ने शीघ्र ही हनुमानजी को जलाशय दिखा दिया। उसमें प्रवेश कर हनुमानजी नेत्र बन्द कर जलपान करने लगे ॥ २१॥

ततश्चागत्य मकरी महामाया महाकपिम् ।
अग्रसत्तं महावहगान्मारुतिं घोररूपिणी ॥ २२॥

तब वहाँ आकर एक महामायाविनी मकडी हनुमानजी को निगलने लगी ॥ २२ ॥

ततो ददर्श हनुमान् ग्रसन्तीं मकरीं रुषा ।
दारयामास हस्ताभ्यां वदनं सा ममार ह ॥ २३॥

उस मकडी को अपने को निगलते हुए देखकर हनुमानजी ने अति क्रोधित होकर अपने हाथों से उसका मुख फाड़ दिया जिससे वह तत्क्षण मर गयी ॥ २३ ॥

ततोऽन्तरिक्षे ददृशे दिव्यरूपधराङ्गना ।
धान्यमालीति विख्याता हनूमन्तमथाब्रवीत् ॥ २४॥

तब अन्तरिक्ष में दिव्य रूप धारिणी स्त्री ने हनुमानजी को दिखाई दी। धान्यमाली नाम से विख्यात वह स्त्री हनुमान जी से बोली-॥२४॥

त्वत्प्रसादादहं शापाद्विमुक्तास्मि कपीश्वर ।
शप्ताहं मुनिना पूर्वमप्सरा कारणान्तरे ॥ २५॥

हे कपीश्वर ! आपकी कृपा से मैं शाप से विमुक्त हो गयी। पूर्वसमय में मैं एक अप्सरा थी। किसी कारणवश एक मुनीश्वर ने मुझे शाप दे दिया ॥ २५॥

आश्रमे यस्तु ते दृष्टः कालनेमिर्महासुरः ।
रावणप्रहितो मार्गे विघ्नं कर्तुं तवानघ ॥ २६॥

इस आश्रम में जिसे आपने देखा है, वह कालनेमि नामक महासुर है। वह रावण के द्वारा प्रेषित आपके मार्ग में विघ्न उत्पन्न करने के लिये आया है। ॥२६॥

मुनिवहषधरो नासौ मुनिर्विप्रविहिंसकः ।
जहि दुष्टं गच्छ शीघ्रं द्रोणाचलमनुत्तमम् ॥ २७॥

मुनिवेषधारी यह मुनि नहीं बल्कि विप्र हिंसक है। इस दुष्ट को मारकर शीघ्र आप द्रोणाचल पर्वत पर जाइये ॥ २७॥

गच्छाम्यहं ब्रह्मलोकं त्वत्स्पर्शाद्धतकल्मषा ।
इत्युक्त्वा सा ययौ स्वर्गं हनूमानप्यथाश्रमम् ॥ २८॥

आपके स्पर्श से निष्पाप मैं ब्रह्मलोक को जा रही हूँ। यह कहकर वह स्वर्गलोक चली गयी और हनुमानजी आश्रम के लिए वापस चल पड़े ॥ २८॥

आगतं तं समालोक्य कालनेमिरभाषत ।
किं विलम्बेन महता तव वानरसत्तम ॥ २९॥

हनुमानजी को आते देखकर कालनेमि बोला कि हे वानर सत्तम ! अति विलम्ब से क्या लाभ ? ॥ २९॥

गृहाण मत्तो मन्त्रांस्त्वं देहि मे गुरुदक्षिणाम् ।
इत्युक्तो हनुमान्मुष्टिं दृढं बद्ध्वाह राक्षसम् ॥ ३०॥

गृहाण दक्षिणामेतामित्युक्त्वा निजघान तम् ।
विसृज्य मुनिवहर्षं स कालनेमिर्महासुरः ॥ ३१॥

युयुधे वायुपुत्रेण नानामायाविधानतः ।
महामायिकदूतोऽसौ हनूमान्मायिनां रिपुः ॥ ३२॥

मुझसे मन्त्र ग्रहण कर गुरु दक्षिणा दो। उसे इस प्रकार कहने पर हनुमानजी दृढ़ता पूर्वक मुठ्ठी बाँधकर राक्षस से बोले-'यह गुरु दक्षिणा लो' यह कहकर हनुमानजी ने उसे एक मुक्का मारा, उसके आघात से वह महादैत्य कालनेमि तत्क्षण मुनिवेष त्यागकर विविध भाँति मायाओं से पवनपुत्र के साथ लड़ने लगा। परञ्च मायापति भगवान् श्रीराम के दूत श्रीहनुमानजी इन तुच्छ मायावी राक्षसों के शत्रु थे; उनपर माया को प्रभाव ही क्या हो सकता है। ॥३०-३२॥

जघान मुष्टिना शीर्ष्णि भग्नमूर्धा ममार सः ।
ततः क्षीरनिधिं गत्वा दृष्ट्वा द्रोणं महागिरिम् ॥ ३३॥

अदृष्ट्वा चौषधीस्तत्र गिरिमुत्पाट्य सत्वरः ।

गृहीत्वा वायुवहगेन गत्वा रामस्य सन्निधिम् ॥ ३४॥

उवाच हनुमान् राममानीतोऽयं महागिरिः ।
यद्युक्तं कुरु देवहश विलम्बो नात्र युज्यते ॥ ३५॥

हनुमानजी कालनेमि के शिर में मुष्टि से प्रहार किया, जिससे उसका मस्तक फट गया और वह तत्क्षण मर गया। तत्पश्चात् हनुमानजी क्षीर सागर पर पहुँचे और द्रोणाचल पर्वत को देखा। परन्तु उन्हें औषधि न मिली। अत: तत्क्षण उन्होंने पर्वत को उखाड़कर वायुवेग से श्रीरामचन्द्रजी के पास ले जाकर उनसे कहा हे देवेश! मैं इस महापर्वत को लाया हूँ, जो उचित हो वह आप करें; इसमें विलम्ब उचित नहीं है ॥ ३३-३५ ॥

श्रुत्वा हनूमतो वाक्यं रामः सन्तुष्टमानसः ।
गृहीत्वा चौषधीः शीघ्रं सुषेणेन महामतिः ॥ ३६॥

चिकित्सां कारयामास लक्ष्मणाय महात्मने ।
ततः सुप्तोत्थित इव बुद्ध्वा प्रोवाच लक्ष्मणः ॥ ३७॥

हनुमानजी का यह कथन सुनकर महामति श्रीरघुनाथ जी ने हर्षित होकर शीघ्र ही औषधि लाकर सुषेण से महात्मा लक्ष्मणजी की चिकित्सा करवाई। तब सोकर जागने के समान सचेत होकर लक्ष्मणजी ने कहा ॥३६-३७॥

तिष्ठ तिष्ठ क्व गन्तासि हन्मीदानीं दशानन ।
इति ब्रुवन्तमालोक्य मूर्ध्न्यवघ्राय राघवः ॥ ३८॥

मारुतिं प्राह वत्साद्य त्वत्प्रसादान्महाकपे ।
निरामयं प्रपश्यामि लक्ष्मणं भ्रातरं मम ॥ ३९॥

रे दशानन ! ठहरो ! ठहरो !! कहाँ जा रहे हो ? अभी मैं तुझे मारता हूँ। उन्हें यह कहते हुए देखकर श्रीरघुनाथजी लक्ष्मणजी का सिर ऊपर कर हनुमानजी से कहा -हे वत्स ! हे महाकपे! आज तुम्हारे प्रसाद से अपने भाई लक्ष्मण को सकुशल देख रहा हूँ ॥ ३७-३९ ॥

इत्युक्त्वा वानरैः सार्धं सुग्रीवहण समन्वितः ।
विभीषणमतेनैव युद्धाय समवस्थितः ॥ ४०॥

श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार हनुमानजी से कहकर सुग्रीव तथा अन्य वानरों के साथ विभीषण की सम्मति से युद्ध की तैयारी करने लगे॥ ४०॥

पाषाणैः पादपैश्चैव पर्वताग्रैश्च वानराः ।
युद्धायाभिमुखा भूत्वा ययुः सर्वे युयुत्सवः ॥ ४१॥

तदनन्तर युद्ध के लिये उत्सुक वानरगण पाषाण, वृक्ष और पर्वत खण्ड लेकर युद्ध करने के लिये चल पड़े ॥४१॥

रावणो विव्यथे रामबाणैर्विद्धो महासुरः ।
मातङ्ग इव सिंहेन गरुडेनेव पन्नगः ॥ ४२॥

अभिभूतोऽगमद्राजा राघवहण महात्मना ।
सिंहासने समाविश्य राक्षसानिदमब्रवीत् ॥ ४३॥

युद्ध में श्रीरामचन्द्रजी के वाणों से बिद्ध होकर रावण उसी प्रकार व्यथित हो रहा था जैसे सिंह से हाथी और गरुड़ से सर्प व्यथित हो जाते हैं। अत: वह राजा महात्मा श्रीरामचन्द्रजी से पराजित होकर लंका नगरी में जाकर अपने राज सिंहासन पर स्थित होकर राक्षसों से यह कहने लगा ॥ ४२-४३ ॥

मानुषेणैव मे मृत्युमाह पूर्वं पितामहः ।
मानुषो हि न मां हन्तुं शक्तोऽस्ति भुवि कश्चन ॥ ४४॥

पूर्व समय में पितामह श्री ब्रह्माजी ने मनुष्य के हाथ से मेरी मृत्यु निश्चित की थी। परन्तु पृथ्वी पर कोई भी मनुष्य मुझे मारने में समर्थ नहीं है ॥४४॥

ततो नारायणः साक्षान्मानुषोऽभून्न संशयः ।
रामो दाशरथिर्भूत्वा मां हन्तुं समुपस्थितः ॥ ४५॥

निःसन्देह साक्षात् नारायण ही दशरथनन्दन श्रीराम के रूप में मनुष्य का अवतार लेकर मुझे मारने के लिए आए हैं ॥४५॥

अनरण्येन यत्पूर्वं शप्तोऽहं राक्षसेश्वर ।
उत्पत्स्यते च मद्वंशे परमात्मा सनातनः ॥ ४६॥

तेन त्वं पुत्रपौत्रैश्च बान्धवैश्च समन्वितः ।
हनिष्यसे न सन्देह इत्युक्त्वा मां दिवं गतः ॥ ४७॥

स एव रामः सञ्जातो मदर्थे मां हनिष्यति ।
कुम्भकर्णस्तु मूढात्मा सदा निद्रावशं गतः ॥ ४८॥

मैं राक्षसाधिप पूर्व समय में अनरण्य के द्वारा शापित था। अनरण्य ने मुझे शाप दिया था कि मेरे वंश में सनातन पुरुष परमात्मा अवतार लेंगे और उन्हीं के द्वारा तू अपने पुत्र, पौत्र, बन्धु बान्धवों सहित मारा जायगा, यह कहकर वह स्वर्गलोक को चला गया। अतः वही श्रीराम मेरे लिये अवतरित हुए हैं और निःसन्देह मुझे मारेंगे। कुम्भकर्ण तो महामूढ़ है। वह निरन्तर निद्रा के ही वशीभूत रहता है ॥४६-४८॥

तं विबोध्य महासत्त्वमानयन्तु ममान्तिकम् ।
इत्युक्तास्ते महाकायास्तूर्णं गत्वा तु यत्नतः ॥ ४९॥

विबोध्य कुम्भश्रवणं निन्यू रावणसन्निधिम् ।
नमस्कृत्य स राजानमासनोपरि संस्थितः ॥ ५०॥

उस महापराक्रमी को जगाकर मेरे समीप ले आओ। रावण का यह आदेश सुनकर वह महाकाय राक्षसगण अतिशीघ्र प्रयत्नपूर्वक कुम्भकर्ण को जगाकर रावण के समीप ले आये। वहाँ पहुँचकर वह राजा को प्रणाम कर आसन पर बैठ गया ॥४९-५०॥

तमाह रावणो राजा भ्रातरं दीनया गिरा ।
कुम्भकर्ण निबोध त्वं महत्कष्टमुपस्थितम् ॥ ५१॥

तदनन्तर राजा रावण अपने भाई से दीन वाणी से कहा-कुम्भकर्ण! मेरे ऊपर महत्कष्ट उपस्थित है, इसे तुम समझो ॥ ५१ ॥

रामेण निहताः शूराः पुत्राः प्रौत्राश्च बान्धवाः ।
किं कर्तव्यमिदानीं मे मृत्युकाल उपस्थिते ॥ ५२॥

राम के द्वारा मेरे शूरवीर, पुत्र-पौत्र और बान्धव मार दिये गये हैं। इस मृत्युकाल उपस्थित होने पर इस समय मुझे क्या करना चाहिये ॥ ५२॥

एष दाशरथी रामः सुग्रीवसहितो बली ।
समुद्रं सबलस्तीर्त्वा मूलं नः परिकृन्तति ॥ ५३॥

यह बली दशरथ नन्दन राम सुग्रीव के साथ सागर को पारकर मेरा मूल नष्ट कर रहा है। ॥५३॥

यह राक्षसा मुख्यतमास्ते हता वानरैर्युधि ।
वानराणां क्षयं युद्धे न पश्यामि कदाचन ॥ ५४॥

हमारे मुख्य राक्षसगण वानरों के द्वारा युद्ध में मार दिए गए हैं, परन्तु कभी भी मैं वानरों का क्षय होना नहीं देखा ॥ ५४॥

नाशयस्व महाबाहो यदर्थं परिबोधितः ।
भ्रातुरर्थे महासत्त्व कुरु कर्म सुदुष्करम् ॥ ५५॥

हे महाबाहो ! मैंने तुम्हें इसलिये जगाया है कि तुम इनका नाश करो। हे महावीर ! अपने भाई के लिये इस सुदुष्कर कार्य को पूर्ण करो ॥ ५५ ॥

श्रुत्वा तद्रावणेन्द्रस्य वचनं परिदेवितम् ।
कुम्भकर्णो जहासोच्चैर्वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ५६॥

पुरा मन्त्रविचारे ते गदितं यन्मया नृप ।
तदद्य त्वामुपगतं फलं पापस्य कर्मणः ॥ ५७॥

वह रावण के द्वारा यह दुःखमय बात सुनकर जोर से हँसा और यह कहने लगा-राजन ! पूर्व समय में मन्त्रणा के समय मैं जो कहा था वह आपके पाप का फल आज उपस्थित हो गया ॥५७॥

पूर्वमेव मया प्रोक्तो रामो नारायणः परः ।
सीता च योगमायेति बोधितोऽपि न बुध्यसे ॥ ५८॥

पूर्व समय में ही मैंने कहा था कि श्रीराम साक्षात् नारायण और श्रीसीताजी योगमाया हैं, परन्तु आपको समझाने पर भी आप नहीं समझे ॥ ५८॥

एकदाहं वने सानौ विशालायां स्थितो निशि ।
दृष्टो मया मुनिः साक्षान्नारदो दिव्यदर्शनः ॥ ५९॥

एक समय वन में मैं पर्वत शिखर पर रात्रिकाल में बैठा था। उस समय दिव्य मूर्ती साक्षात् नारदजी को मैंने देखा ॥ ५९॥

तमब्रवं महाभाग कुतो गन्तासि मे वद ।
इत्युक्तो नारदः प्राह देवानां मन्त्रणे स्थितः ॥ ६०॥

उन्हें देखकर मैंने उनसे पूछा- हे महाभाग! आप मुझसे बताइये, आप कहाँ जा रहें हैं ? यह पूछने पर नारदजी ने मुझे बताया कि मैं देवताओं की गोष्ठी में था ॥ ६० ॥

तत्रोत्पन्नमुदन्तं ते वक्ष्यामि शृणु तत्त्वतः ।
युवाभ्यां पीडिता देवाः सर्वे विष्णुमुपागताः ॥ ६१॥

वहाँ पर जो विचार हुआ उसे मैं तुम्हें सुनाता हूँ, सावधान होकर सुनो- तुम दोनों से पीड़ित होकर देवगण विष्णु भगवान के पास गये थे ॥६१ ॥

ऊचुस्ते देवदेवहशं स्तुत्वा भक्त्या समाहिताः ।
जहि रावणमक्षोभ्यं देव त्रैलोक्यकण्टकम् ॥ ६२॥

वे देवगण एकाग्रचित्त हो भक्तिपूर्वक देव देवेश की स्तुति करने लगे हे देव ! त्रैलोक्य कण्टक रावण का आप शीघ्र संहार कीजिये ॥ ६२ ॥

मानुषेण मृतिस्तस्य कल्पिता ब्रह्मणा पुरा ।
अतस्त्वं मानुषो भूत्वा जहि रावणकण्टकम् ॥ ६३॥

पूर्व समय में मनुष्य के द्वारा उसकी मृत्यु ब्रह्माजी ने निश्चित की थी। अत: आप मनुष्य रूप धारण कर इस रावणरूपी कण्टक का संहार कीजिये ॥ ६३॥

तथेत्याह महाविष्णुः सत्यसङ्कल्प ईश्वरः ।
जातो रघुकुले देवो राम इत्यभिविश्रुतः ॥ ६४॥

तदनन्तर सत्यसङ्कल्प भगवान् महाविष्णु ने 'ऐसा ही होगा' यह कहा। इस समय वह रघुकूल में अवतरित होकर राम नाम से विख्यात हैं ॥ ६४ ॥

स हनिष्यति वः सर्वानित्युक्त्वा प्रययौ मुनिः ।

अतो जानीहि रामं त्वं परं ब्रह्म सनातनम् ॥ ६५॥

वह तुम लोगों को मारेंगे। यह कह कर वह नारद मुनि चले गये। अत: आप राम को सनातन परमब्रह्म समझिये ॥ ६५ ॥

त्यज वैरं भजस्वाद्य मायामानुषविग्रहम् ।
भजतो भक्तिभावहन प्रसीदति रघूत्तमः ॥ ६६॥

आप वैर को त्यागकर उन माया मनुष्यधारी भगवान श्रीरघुनाथजी का भजन कीजिए। भक्ति भाव पूर्वक भजन करने वाले पर वह प्रसन्न हो जाते हैं ॥६६ ॥

भक्तिर्जनित्री ज्ञानस्य भक्तिर्मोक्षप्रदायिनी ।
भक्तिहीनेन यत्किञ्चित्कृतं सर्वमसत्समम् ॥ ६७॥

भक्ति ज्ञान की जननी और मोक्ष प्रदायिनी है। भक्ति हीन प्राणी के द्वारा जो कुछ किया जाता है वह असत् के समान है ॥ ६७ ॥

अवताराः सुबहवो विष्णोर्लीलानुकारिणः ।
तेषां सहस्रसदृशो रामो ज्ञानमयः शिवः ॥ ६८॥

लीलानुकारी भगवान् विष्णु के अनेकों अवतार हुए हैं, परन्तु उन हजारों अवतारों के तुल्य ज्ञानमय शिव स्वरूप रामावतार है॥६८॥

रामं भजन्ति निपुणा मनसा वचसाऽनिशम् ।
अनायासेन संसारं तीर्त्वा यान्ति हरेः पदम् ॥ ६९॥

जो व्यक्ति अहर्निश मन वाणी से भगवान् श्रीराम का भली-भाँति भजन करते हैं वह अनायास ही संसार-सागर को पार कर भगवान् के परमपद को प्राप्त करते हैं ॥ ६९ ॥

यह राममेव सततं भुवि शुद्धसत्त्वा
ध्यायन्ति तस्य चरितानि पठन्ति सन्तः ।
मुक्तास्त एव भवभोगमहाहिपाशैः
सीतापतेः पदमनन्तसुखं प्रयान्ति ॥ ७०॥

जो सन्त प्राणी शुद्ध मन से इस भूमण्डल पर सदा भगवान् श्रीराम का ध्यान करते हैं और उनके चरित्र का पाठ करते हैं वह सांसारिक भोग रूप महा नाग पाश से मुक्त होकर श्री सीतापति के अनन्त सुखमय परम पद को प्राप्त करते हैं ॥ ७०॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे युद्धकाण्डे सप्तमः सर्गः ॥ ७॥

॥अष्टमः सर्गः ॥

कुम्भकर्भ का वध

श्रीमहादेव उवाच ।
कुम्भकर्णवचः श्रुत्वा भ्रुकुटीविकटाननः ।
दशग्रीवो जगादेदमासनादुत्पतन्निव ॥ १॥

श्रीमहादेवजी बोले- कुम्भकर्ण का यह कथन सुनकर रावण के मुख और भृकुटि विकराल हो गए और उसने आसन से उछलते हुए इस प्रकार कहा ॥ १॥

त्वमानीतो न मे ज्ञानबोधनाय सुबुद्धिमान् ।
मया कृतं समीकृत्य युध्यस्व यदि रोचते ॥ २॥

तुम अति बुद्धिमान् हो, किन्तु मैंने तुम्हें ज्ञानोपदेश के लिये नहीं बुलाया है। यही तुम्हें उचित प्रतीत हो तो मेरे कृत्य को उचित समझकर युद्ध करो॥२॥

नो चेद्गच्छ सुषुप्त्यर्थं निद्रा त्वां बाधतेऽधुना ।
रावणस्य वचः श्रुत्वा कुम्भकर्णो महाबलः ॥ ३॥

रुष्टोऽयमिति विज्ञाय तूर्णं युद्धाय निर्ययौ ।
स लङ्घयित्वा प्राकारं महापर्वतसन्निभः ॥ ४॥

निर्ययौ नगरात्तूर्णं भीषयन् हरिसैनिकान् ।
स ननाद महानादं समुद्रमभिनादयन् ॥ ५॥

नहीं तो तुम शयन करने के लिये जाओ, क्योंकि तुम्हे निद्रा सता रही होगी। रावण का यह कथन सुनकर महावली कुम्भकर्ण रावण को रुष्ट समझकर विशाल पर्वत के समान नगर के परकोटे को पारकर बाहर आया और सम्पूर्ण वानर सैनिकों को भयभीत करते हुए उसने अतिघोर शब्द किया। उसके घोर शब्द से समुद्र भी शब्दायमान हो उठा ॥ ३-५॥

वानरान् कालयामास बाहुभ्यां भक्षयन् रुषा ।
कुम्भकर्णं तदा दृष्ट्वा सपक्षमिव पर्वतम् ॥ ६॥

दुद्रुवुर्वानराः सर्वे कालान्तकमिवाखिलाः ।
भ्रमन्तं हरिवाहिन्यां मुद्गरेण महाबलम् ॥ ७॥

कालयन्तं हरीन् वहगाद्भक्षयन्तं समन्ततः ।
चूर्णयन्तं मुद्गरेण पाणिपादैरनेकधा ॥ ८॥

कुम्भकर्णं तदा दृष्ट्वा गदापाणिर्विभीषणः ।
ननाम चरणं तस्य भ्रातुर्ज्येष्ठस्य बुद्धिमान् ॥ ९॥

तब वह अति क्रुद्ध होकर अपनी भुजाओं से वानरों को निगल-निगल कर नष्ट करने लगा। तदनन्तर यमराज को देखने से जिस प्रकार प्राणी भागते हैं, उसी प्रकार पक्षी युक्त पर्वत के समान विशाल शरीर वाले कुम्भकर्ण को देखकर सभी वानर गण भागने लगे। तब महाबली कुम्भकर्ण को मुद्गर लिए वानरी सेना में घूमते तथा जगह-

जगह पर वानरों को मारते और अति वेग से भक्षण करते हुए अपने मुद्गर तथा लात-घूसों से विविध भाँति कुचलते देखकर परम बुद्धिमान् गदापाणि विभीषण ने अपने ज्येष्ठ भाई कुम्भकर्ण के चरणों में प्रणाम किया ॥६-९॥

विभीषणोऽहं भ्रातुर्मे दयां कुरु महामते ।
रावणस्तु मया भ्रातर्बहुधा परिबोधितः ॥ १०॥

सीतां देहीति रामाय रामः साक्षाज्जनार्दनः ।
न शृणोति च मां हन्तुं खड्गमुद्यम्य चोक्तवान् ॥ ११॥

धिक् त्वां गच्छेति मां हत्वा पदा पापिभिरावृतः ।
चतुर्भिर्मन्त्रिभिः सार्धं रामं शरणमागतः ॥ १२॥

वह बोले-हे महामते ! मैं आपका भाई विभीषण हूँ। आप मेरे ऊपर दया करें। हे भ्रातः ! मैंने बारम्बार रावण को समझाया कि श्रीरामचन्द्र साक्षात् विष्णुभगवान् हैं, तुम सीताजी को उन्हें समर्पित कर दो, परन्तु उसने मेरी बात को नहीं मानी और मुझे मारने के लिये तलवार खींचकर अपने पापी मन्त्रियों से घिरे हुए मुझसे कहा कि तुझे धिक्कार है। तुम यहाँ से चले जाओ। यह कहकर उसने मुझे लात मारी। तदनन्तर मैं अपने चार मन्त्रियों के साथ भगवान श्रीराम के शरण में चला आया ॥ १०-१२ ॥

तच्छ्रुत्वा कुम्भकर्णोऽपि ज्ञात्वा भ्रातरमागतम् ।
समालिङ्ग्य च वत्स त्वं जीव रामपदाश्रयात् ॥ १३॥

कुलसंरक्षणार्थाय राक्षसानां हिताय च ।

महाभागवतोऽसि त्वं पुरा मे नारदाच्छ्रुतम् ॥ १४॥

यह सुनकर अपने भाई को यहाँ आया समझकर कुम्भकर्ण ने अपने भाई को हृदय से लगाया और बोला-वत्स ! भगवान् श्रीराम के चरणों का आश्रय प्राप्तकर तुमने अपने कुल की रक्षा की है और राक्षसों के कल्याण के लिये चिरकाल तक जीवित रहो हो। नारदजी से मैंने पूर्व समय में सुना था कि तुम अति भगवद्भक्त हो ॥१३-१४॥

गच्छ तात ममेदानीं दृश्यते न च किञ्चन ।
मदीयो वा परो वापि मदमत्तविलोचनः ॥ १५॥

भाई ! तुम जाओ; मेरे नेत्र मद से विह्वल हो रहे हैं। मुझे कुछ भी अपना अथवा दूसरे का प्रतीत नहीं होता ॥ १५॥

इत्युक्तोऽश्रुमुखो भ्रातुश्चरणावभिवन्द्य सः ।
रामपार्श्वमुपागत्य चिन्तापर उपस्थितः ॥ १६॥

भाई कुम्भकर्ण का यह कथन सुनकर विभीषण के नेत्रों में जलभर आया और वे अपने भाई कुम्भकर्ण के चरणों में प्रणाम कर चिन्तित हो भगवान श्रीराम के पास आकर खड़े हो गये ॥१६॥

कुम्भकर्णोऽपि हस्ताभ्यां पादाभ्यां पेषयन् हरीन् ।
चचार वानरीं सेनां कालयन् गन्धहस्तिवत् ॥ १७॥

कुम्भकर्ण भी मदमत्त गजराज के समान अपने हाथ और पैरों से वानरों को कुचलता हुआ समस्त वानरी सेना में घूमने लगा ॥१७॥

दृष्ट्वा तं राघवः क्रुद्धो वायव्यं शस्त्रमादरात् ।
चिक्षेप कुम्भकर्णाय तेन चिच्छेद रक्षसः ॥ १८॥

समुद्गरं दक्षहस्तं तेन घोरं ननाद सः ।
स हस्तः पतितो भूमावनेकानर्दयन् कपीन् ॥ १९॥

कुम्भकर्ण को देखकर अतिक्रुद्ध हो श्रीरघुनाथजी वायव्यास्त्र चढ़ाकर सावधानी से कुम्भकर्ण की तरफ छोड़ दिया। उस अस्त्र से उन्होंने उस राक्षस का मुद्गर सहित दाहिना हाथ काट दिया, इससे वह महाभयंकर गर्जना करने लगा। उसका कटा हुआ हाथ अनेकों वानरों को रौंदता-कुचलता हुआ पृथ्वी पर गिर पड़ा ॥ १८-१९ ॥

पर्यन्तमाश्रिताः सर्वे वानरा भयवहपिताः ।
रामराक्षसयोर्युद्धं पश्यन्तः पर्यवस्थिताः ॥ २०॥

तदनन्तर पृथक् खड़े सभी वानरगण भयभीत हो काँपते हुए भगवान श्रीराम और राक्षस कुम्भकर्ण का युद्ध देखने लगे ॥ २०॥

कुम्भकर्णश्छिन्नहस्तः शालमुद्यम्य वहगतः ।
समरे राघवं हन्तुं दुद्राव तमथोऽच्छिनत् ॥ २१॥

शालेन सहितं वामहस्तमैन्द्रेण राघवः ।
छिन्नबाहुमथायान्तं नर्दन्तं वीक्ष्य राघवः ॥ २२॥

द्वावर्धचन्द्रौ निशितावादायास्य पदद्वयम् ।
चिच्छेद पतितौ पादौ लङ्काद्वारि महास्वनौ ॥ २३॥

अपना दाहिना हाथ कटने के बाद कुम्भकर्ण युद्ध में श्रीरघुनाथजी को मारने के लिये शाल का एक विशाल वृक्ष उठाकर अतिवेग पूर्वक दौड़ा, परन्तु श्रीरघुनाथजी ने ऐन्द्र शस्त्र से शाल के सहित उसकी बाएँ भुजा को भी काट दिया। अपनी दोनों भुजाओं के कट जाने पर अति गर्जना करते हुए उसे अपने ओर आते हुए देखकर श्रीरामचन्द्रजी ने अति तीक्ष्ण अर्द्धचन्द्राकार बाण चढ़ाकर उसके दोनों पैर भी काट दिए। कुम्भकर्ण के दोनों पैर अति शब्द करते हुए लंका के द्वार पर जा गिरे ॥ २१-२३ ॥

निकृत्तपाणिपादोऽपि कुम्भकर्णोऽतिभीषणः ।
वडवामुखवद्वक्त्रं व्यादाय रघुनन्दनम् ॥ २४॥

अभिदुद्राव निनदन् राहुश्चन्द्रमसं यथा ।
अपूरयच्छिताग्रैश्च सायकैस्तद्रघूत्तमः ॥ २५॥

अपना हाथ-पाँव कट जाने पर अति भयानक रूप वाला कुम्भकर्ण चन्द्रमा की तरफ राहु का पीछा करने की भाँति घोड़े जैसा मुख फैलाकर चिंघाड़ता हुआ श्रीरामचन्द्रजी की तरफ दौड़ा; परन्तु भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ने अतितीक्ष्ण बाणों से उसका मुख भर दिया ॥ २४-२५॥

शरपूरितवक्त्रोऽसौ चुक्रोशातिभयङ्करः ।
अथ सूर्यप्रतीकाशमैन्द्रं शरमनुत्तमम् ॥ २६॥

वज्राशनिसमं रामश्चिक्षेपासुरमृत्यवह ।
स तत्पर्वतसङ्काशं स्फुरत्कुण्डलदंष्ट्रकम् ॥ २७॥

चकर्त रक्षोऽधिपतेः शिरो वृत्रमिवाशनिः ।
तच्छिरः पतितं लङ्काद्वारि कायो महोदधौ ॥ २८॥

बाणों से मुख भर जाने पर वह महाराक्षस चिघाड़ने लगा। तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजी ने सूर्य के समान देदीप्यमान अत्युत्तम ऐन्द्रबाण चढ़ाकर वज्र के समान कठोर उस बाण को कुम्भकर्ण का वध करने के लिये छोड़ दिया। जिस प्रकार इन्द्र के वज्र ने वृत्रासुर का सिर काटा था, उसी प्रकार भगवान का वह बाण कुण्डल और दाढे चमकने वाले कुम्भकर्ण के पर्वत समान सिर को काट डाला। कुम्भकर्ण का मस्तक लंका के द्वार पर और उसका शरीर समुद्र में जा गिरा ॥ २६-२८॥

शिरोऽस्य रोधयद्द्वारं कायो नक्राद्यचूर्णयत् ।
ततो देवाः सऋषयो गन्धर्वाः पन्नगाः खगाः ॥ २९॥

सिद्धा यक्षा गुह्यकाश्च अप्सरोभिश्च राघवम् ।
ईडिरे कुसुमासारैर्वर्षन्तश्चाभिनन्दिताः ॥ ३०॥

कुम्भकर्ण के मस्तक ने लंका के द्वार को रोक लिया और उसके धड़ ने अनेक मगर तथा जलजन्तुओं को कुचल दिया। कुम्भकर्ण का इस प्रकार वध होने पर ऋषियों सहित देवगण तथा अप्सराओं सहित गन्धर्व नाग, पक्षी, सिद्ध, यक्ष तथा गुह्यक आदि अति आनन्दित हो श्रीरघुनाथजी के ऊपर पुष्प की वर्षा करते हुए उनकी स्तुति करने लगे ॥२९-३० ॥

आजगाम तदा रामं द्रष्टुं देवमुनीश्वरः ।
नारदो गगनात्तुर्णं स्वभासा भासयन् दिशः ॥ ३१॥

तत्क्षण ही अपनी आभा से सभी दिशाओं को प्रकाशित करते हुए देवर्षि नारदजी भगवान श्रीराम का दर्शन करने के लिये आकशमार्ग से आए ॥ ३१॥

रामामिन्दीवरश्याममुदाराङ्गं धनुर्धरम् ।
ईषत्ताम्रविशालाक्षमैन्द्रास्त्राञ्चितबाहुकम् ॥ ३२॥

दयार्द्रदृष्ट्या पश्यन्तं वानराञ्छरपीडितान् ।
दृष्ट्वा गद्गदया वाचा भक्त्या स्तोतुं प्रचक्रमे ॥ ३३॥

नील कमल के समान श्यामवर्ण, मनोहर मूर्ति, धनुषधारी, इषत् अरूण, विशाल नेत्र, ऐन्द्रास्त्र से सुशोभित भुजा तथा बाणों से पीड़ित वानरों को अपनी दयामयी दृष्टि से देखने वाले भगवान् श्रीराम का दर्शन कर भक्ति से गद्गद् कण्ठ हो नारदजी इस प्रकार स्तुति करने लगे॥ ३२-३३

नारद उवाच ।
देवदेव जगन्नाथ परमात्मन् सनातन ।
नारायणाखिलाधार विश्वसाक्षिन्नमोऽस्तु ते ॥ ३४॥

नारदजी बोले-हे देव ! हे जगन्नाथ ! हे परमात्मन् ! हे सनातन ! हे नारायण ! हे अखिलेश्वर ! हे विश्व साक्षिन् ! आपको नमस्कार है ॥ ३४ ॥

विशुद्धज्ञानरूपोऽपि त्वं लोकानतिवञ्चयन् ।
मायया मनुजाकारः सुखदुःखादिमानिव ॥ ३५॥

विशुद्ध ज्ञानस्वरूप होने पर भी आप लोकों को वञ्चना करने के लिये अपनी माया से मनुष्य रूप धारण कर सुखी और दुःखी प्रतीत होते हैं ॥ ३५ ॥

त्वं मायया गुह्यमानः सर्वेषां हृदि संस्थितः ।
स्वयञ्ज्योतिः स्वभावस्त्वं व्यक्त एवामलात्मनाम् ॥ ३६॥

आप अपनी माया से आवृत्त होकर सबके हृदय में स्थित हैं। स्वभाव से ही आप स्वयं प्रकाश हैं और शुद्ध अन्तरात्मा वालों के लिये आप व्यक्त है ॥ ३६ ॥

उन्मीलयन् सृजस्येतन्नेत्रे राम जगत्त्रयम् ।
उपसंह्रियते सर्वं त्वया चक्षुर्निमीलनात् ॥ ३७॥

हे राम! आप नेत्रों के खोलने मात्र से त्रिलोकी की सृष्टि करते हैं और अपने काल नेत्र बन्द करते ही त्रिलोकी का लय हो जाता है ॥ ३७ ॥

यस्मिन् सर्वमिदं भाति यतश्चैतच्चराचरम् ।
यस्मान्न किञ्चिल्लोकेऽस्मिंस्तस्मै ते ब्रह्मणे नमः ॥ ३८॥

जिसमें यह चराचर जगत् भासित हो रहा है। जिसमें इस चराचर जगत् की उत्पत्ति हुई है तथा जिसके अतिरिक्त इस लोक में कुछ भी नहीं है। उस परब्रह्म आपको नमस्कार है ॥ ३८॥

प्रकृतिं पुरुषं कालं व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणम् ।
यं जानन्ति मुनिश्रेष्ठास्तस्मै रामाय ते नमः ॥ ३९॥

प्रकृति पुरुष, काल, तथा व्यक्त-अव्यक्त स्वरूप जिन्हें मुनिश्रेष्ठ जानते हैं, उस श्रीरामरूप आपको नमस्कार है ॥ ३९ ॥

विकाररहितं शुद्धं ज्ञानरूपं श्रुतिर्जगौ ।
त्वां सर्वजगदाकारमूर्तिं चाप्याह सा श्रुतिः ॥ ४०॥

विरोधो दृश्यते देव वैदिको वहदवादिनाम् ।
निश्चयं नाधिगच्छन्ति त्वत्प्रसादं विना बुधाः ॥ ४१॥

आपको श्रुतियाँ विकार रहित, शुद्ध तथा ज्ञानस्वरूप कहती हैं। आपको ही श्रुतियाँ सम्पूर्ण जगद् स्वरूप भी कहती हैं। हे देव! इस तरह वेदवादियों को वैदिक वाक्यों का विरोध दिखाई देता है; परन्तु आपकी कृपा के विना विज्ञजन किसी भी निश्चय को प्राप्त नहीं करते ॥ ४०-४१॥

मायया क्रीडतो देव न विरोधो मनागपि ।
रश्मिजालं रवहर्यद्वद्दृश्यते जलवद् भ्रमात् ॥ ४२॥

भ्रान्तिज्ञानात्तथा राम त्वयि सर्वं प्रकल्प्यते ।
मनसोऽविषयो देव रूपं ते निर्गुणं परम् ॥ ४३॥

हे देव ! आप अपनी माया से ही लीला करते हैं । अत: इन वैदिक वाक्यों में किञ्चिद भी विरोध नहीं है। जैसे सूर्य की किरण ही भ्रम से जलवत् भासित होती है, उसी प्रकार हे राम! यह सम्पूर्ण जगत् अज्ञानता से ही आप में कल्पित हुआ है। वस्तुतः आपका निर्गुण स्वरुप मन का विषय नहीं है ॥ ४२-४३ ॥

कथं दृश्यं भवहद्देव दृश्याभावह भजेत्कथम् ।
अतस्तवावतारेषु रूपाणि निपुणा भुवि ॥ ४४॥

भजन्ति बुद्धिसम्पन्नास्तरन्त्येव भवार्णवम् ।
कामक्रोधादयस्तत्र बहवः परिपन्थिनः ॥ ४५॥

हे देव ! आपका वह स्वरूप किस प्रकार दिखायी पड़ सकता है और दिखायी न पड़ने पर कोई उसका भजन कैसे कर सकता है? अत एव बुद्धिमान् और निपुण लोग पृथ्वी पर आपके अवतारों के रूपों का ही भजन कर ज्ञान सम्पन्न हो भवसागर पार कर लेते हैं। भक्तिमार्ग में कामक्रोधादि अनेक विघ्न भी होते हैं॥४४-४५॥

भीषयन्ति सदा चेतो मार्जारा मूषकं यथा ।
त्वन्नाम स्मरतां नित्यं त्वद्रूपमपि मानसे ॥ ४६॥

त्वत्पूजानिरतानां ते कथामृतपरात्मनाम् ।
त्वद्भक्तसङ्गिनां राम संसारो गोष्पदायते ॥ ४७॥

वह मन को उसी प्रकार भयभीत करते रहते हैं, जिस प्रकार चूहे को बिल्ली भयभीत करती है। हे राम! आपके नाम का नित्य स्मरण एवं अपने मन में आपके स्वरूप का ध्यान तथा आपकी पूजा में तत्पर और आपके कथामृत का पान एवं आपके भक्तों का संग जो करते हैं, उनके लिये यह भवसागर गोखुर के समान है ॥ ४६-४७॥

अतस्ते सगुणं रूपं ध्यात्वाहं सर्वदा हृदि ।
मुक्तश्चरामि लोकेषु पूज्योऽहं सर्वदैवतैः ॥ ४८॥

अत: मैं अपने हृदय में हमेशा आपके सगुण स्वरूप का ध्यान करता हुआ जीवन मुक्त होकर विविध लोकों में विचरण करता हुआ सभी देवताओं से पूजित होता हूँ ॥४८॥

राम त्वया महत्कार्यं कृतं देवहितेच्छया ।
कुम्भकर्णवधेनाद्य भूभारोऽयं गतः प्रभो ॥ ४९॥

हे राम ! आपने देवताओं के हित के लिए यह बहुत बड़ा काम किया है। हे प्रभो ! कुम्भकर्ण के वध से पृथ्वी का भार आज कम हो गया।॥४९॥

श्वो हनिष्यति सौमित्रिरिन्द्रजेतारमाहवह ।
हनिष्यसेऽथ राम त्वं परश्वो दशकन्धरम् ॥ ५०॥

श्री लक्ष्मण जी कल इन्द्रजीत को युद्ध में मारेंगे और परसों आप रावण का वध करेंगे॥ ५० ॥

पश्यामि सर्वं देवहश सिद्धैः सह नभोगतः ।
अनुगृह्णीष्व मां देव गमिष्यामि सुरालयम् ॥ ५१॥

हे देवेश ! सिद्धों के साथ आकाश में स्थित होकर आपके सम्पूर्ण चरित्रों को मैं देखता हूँ। हे देव ! आप मुझपर अनुग्रह करें, मै स्वर्गलोक को जाता हूँ ॥ ५१ ॥

इत्युक्त्वा राममामन्त्र्य नारदो भगवानृषिः ।
ययौ देवैः पूज्यमानो ब्रह्मलोकमकल्मषम् ॥ ५२॥

यह कहकर मुनिप्रवर नारदजी श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा लेकर देवताओं द्वारा पूजित हो कल्मषहीन ब्रह्मलोक में चले गये ॥ ५२ ॥

भ्रातरं निहतं श्रुत्वा कुम्भकर्णं महाबलम् ।
रावणः शोकसन्तप्तो रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ ५३॥

मूर्च्छितः पतितो भूमावुत्थाय विललाप ह ।
पितृव्यं निहतं श्रुत्वा पितरं चातिविह्वलम् ॥ ५४॥

इन्द्रजित्प्राह शोकार्तं त्यज शोकं महामते ।
व्येतु ते दुःखमखिलं स्वस्थो भव महीपते ॥ ५६॥

विना प्रयास ही श्रीरामचन्द्र के द्वारा भाई कुम्भकर्ण का वध सुनकर शोक सन्तप्त होकर रावण मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा, तथा मूर्छा टूटने के बाद उठकर विलाप करने लगा। तदनन्तर इन्द्रजित ने अपने चाचा का वध और पिता को अति विह्वल जानकार अपने शोकाकुल पिता से कहा - हे महामते ! आप शोक दूर कीजिए। हे राजेन्द्र ! मुझ महाबली मेघनाद को जीवित रहते शोक करने का आपको स्थान ही कहाँ है ? हे देवान्तक! हे महामते ! हे महीपते ! आप सभी दुःखों को छोड़कर स्वस्थ हो जाइये ॥ ५३-५६ ॥

सर्वं समीकरिष्यामि हनिष्यामि च वै रिपून् ।
गत्वा निकुम्भिलां सद्यस्तर्पयित्वा हुताशनम् ॥ ५७॥

लब्ध्वा रथादिकं तस्मादजेयोऽहं भवाम्यरेः ।
इत्युक्त्वा त्वरितं गत्वा निर्दिष्टं हवनस्थलम् ॥ ५८॥

मैं सबकुछ ठीक करूँगा और शत्रुओं को मार दूंगा। निकुम्भला में जाकर अग्नि को तृप्त कर रथादिकों को प्राप्त करूँगा और शत्रुओं के लिये अजेय हो जाऊँगा ॥ यह कह कर वह उस यज्ञ स्थल पर गया ॥ ५७-५८॥

रक्तमाल्याम्बरधरो रक्तगन्धानुलेपनः ।
निकुम्भिलास्थले मौनी हवनायोपचक्रमे ॥ ५९॥

उस निकुम्भला देवी के स्थान में रक्तवस्त्र, रक्त पुष्पों की माला और रक्तचन्दन का लेप लगाकर उसने हवन करना प्रारम्भ किया ॥ ५९॥

विभीषणोऽथ तच्छ्रुत्वा मेघनादस्य चेष्टितम् ।
प्राह रामाय सकलं होमारम्भं दुरात्मनः ॥ ६०॥

मेघनाद का यह कृत्य सुनकर विभीषण ने उस दुरात्मा के होमारम्भ का सम्पूर्ण वृत्त श्रीरामचन्द्रजी को सुनाया ॥ ६०॥

समाप्यते चेद्धोमोऽयं मेघनादस्य दुर्मतेः ।
तदाजेयो भवहद्राम मेघनादः सुरासुरैः ॥ ६१॥

विभीषण ने कहा-हे राम! दुरात्मा मेघनाद का यह होम निर्विघ्न समाप्त होने पर वह देव या असुर किसी से भी जीता नहीं जायेगा ॥ ६१ ॥

अतः शीघ्रं लक्ष्मणेन घातयिष्यामि रावणिम् ।
आज्ञापय मया सार्धं लक्ष्मणं बलिनां वरम् ।

हनिष्यति न सन्देहो मेघनादं तवानुजः ॥ ६२॥

अतः शीघ्र ही मैं लक्ष्मणजी के साथ उस रावण कुमार का वध करवाता हूँ। बलवानों में श्रेष्ठ लक्ष्मणजी को आप मेरे साथ भेजिये। निःसन्देह आपके अनुज लक्ष्मणजी मेघनाद का वध करेंगे ॥३२॥

श्रीरामचन्द्र उवाच ।
अहमेवागमिष्यामि हन्तुमिन्द्रजितं रिपुम् ।
आग्नेयेन महास्त्रेण सर्वराक्षसघातिना ॥ ६३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा मैं स्वयं ही सभी राक्षसों का वध करने वाले के लिए महान् आग्नेय अस्त्र से अपने शत्रु इन्द्रजित् का वध करने के लिये आऊँगा ॥ ६३ ॥

विभीषणोऽपि तं प्राह नासावन्यैर्निहन्यते ।
यस्तु द्वादश वर्षाणि निद्राहारविवर्जितः ॥ ६४॥

तेनैव मृत्युर्निर्दिष्टो ब्रह्मणास्य दुरात्मनः ।
लक्ष्मणस्तु अयोध्याया निर्गम्यायात्त्वया सह ॥ ६५॥

तदादि निद्राहारादीन्न जानाति रघूत्तम ।
सेवार्थं तव राजेन्द्र ज्ञातं सर्वमिदं मया ॥ ६६॥

तदनन्तर विभीषण बोले-यह राक्षस दूसरों के द्वारा नहीं मारा जा सकता। जिस व्यक्ति ने बारह वर्षों तक निद्रा और आहार को छोड़ दिया हो, उसी के हाथों ब्रह्माजी ने इसकी मृत्यु निश्चित की हैं। हे रघूत्तम ! लक्ष्मणजी जब से अयोध्या से आपके साथ आए हैं, तब से

आपकी सेवा में तल्लीन रहने के कारण निद्रा और आहरादि को जानते ही नहीं हैं। हे राजेन्द्र ! यह सब कुछ मैं जानता हूँ ॥६४-६६॥

तदाज्ञापय देवहश लक्ष्मणं त्वरया मया ।
हनिष्यति न सन्देहः शेषः साक्षाद्धराधरः ॥ ६७॥

अत: हे देवेश ! आप शीघ्र ही मेरे साथ लक्ष्मणजी को जाने की आप आज्ञा दीजिये। यह साक्षात् पृथ्वी को धारण करने वाले शेष नाग हैं; निःसन्देह यह अवश्य ही उस राक्षस को मार देंगे॥ ६७॥

त्वमेव साक्षाज्जगतामधीशो नारायणो लक्ष्मण एव शेषः ।
युवां धराभारनिवारणार्थं जातौ जगन्नाटकसूत्रधारौ ॥ ६८॥

साक्षात् जगत्पति नारायण आप हैं और लक्ष्मण जी ही शेषनाग हैं। इस संसार रूपी नाटक के आप दोनों सूत्रधार हैं और पृथ्वी का भार हरण करने के लिए ही आपने अवतार लिये हैं ॥ ६८ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे युद्धकाण्डे अष्टमः सर्गः ॥ ८॥

॥नवमः सर्गः ॥

मेघनाद का वध

श्रीमहादेव उवाच ।
विभीषणवचः श्रुत्वा रामो वाक्यमथाब्रवीत् ।
जानामि तस्य रौद्रस्य मायां कृत्स्नां विभीषण ॥ १॥

श्रीमहादेवजी बोले- विभीषण का यह कथन सुनकर श्रीरघुनाथजी बोले-विभीषण! उस रौद्र दैत्य की मैं सम्पूर्ण माया को जानता हूँ ॥१॥

स हि ब्रह्मास्त्रविच्छूरो मायावी च महाबलः ।
जानामि लक्ष्मणस्यापि स्वरूपं मम सेवनम् ॥ २॥

वह ब्रह्मास्त्र का ज्ञाता, महाबली, मायावी और शूरवीर है। मेरी सेवा लक्ष्मण किस प्रकार करते हैं, उससे उनका स्वरूप भी मैं जानता हूँ॥२॥

ज्ञात्वैवासमहं तूष्णीं भविष्यत्कार्यगौरवात् ।
इत्युक्त्वा लक्ष्मणं प्राह रामो ज्ञानवतां वरः ॥ ३॥

भविष्य की कार्य कठिनता को जानकर ही मै अभी तक मौन हूँ। इस प्रकार विभीषण से कहकर ज्ञानियों में श्रेष्ठ भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ने लक्ष्मण से कहा ॥ ३॥

गच्छ लक्ष्मण सैन्येन महता जहि रावणिम् ।

हनूमत्प्रमुखैः सर्वैर्यूथपैः सह लक्ष्मण ॥ ४॥

लक्ष्मण ! हनुमान आदि प्रमुख यूथपतियों और विशाल सेना के साथ जाओ और मेघनाद का वध करो।॥ ४॥

जाम्बवानृक्षराजोऽयं सह सैन्येन संवृतः ।
विभीषणश्च सचिवैः सह त्वामभियास्यति ॥ ५॥

ऋक्षराज जाम्बवान अपनी सेना के साथ और मन्त्रियों सहित विभीषण तुम्हारे साथ जायेंगे ॥५॥

अभिज्ञस्तस्य देशस्य जानाति विवराणि सः ।
रामस्य वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणः सविभीषणः ॥ ६॥

जग्राह कार्मुकं श्रेष्ठमन्यद्भीमपराक्रमः ।
रामपादाम्बुजं स्पृष्ट्वा हृष्टः सौमित्रिरब्रवीत् ॥ ७॥

उसके सम्पूर्ण छिपने के स्थान को विभीषण जानते हैं। श्रीरामचन्द्रजी का यह कथन सुनकर महा पराक्रमी लक्ष्मणजी ने एक दूसरे श्रेष्ठ धनुष को उठा कर और विभीषण को साथ लेकर प्रसन्नता से भगवान् श्रीराम के चरणारविन्द का स्पर्श कर बोले ॥६-७॥

अद्य मत्कार्मुकान्मुक्ताः शरा निर्भिद्य रावणिम् ।
गमिष्यन्ति हि पातालं स्नातुं भोगवतीजले ॥ ८॥

भगवन ! आज मेरे धनुष से छूटे हुए बाण मेघनाद के शरीर को भेदकर पाताल गंगा के जल में स्नान करने के लिये पाताल में जायेंगे ॥ ८॥

एवमुक्त्वा स सौमित्रिः परिक्रम्य प्रणम्य तम् ।
इन्द्रजिन्निधनाकाङ्क्षी ययौ त्वरितविक्रमः ॥ ९॥

इस प्रकार भगवान् श्रीरामजी से कहकर लक्ष्मणजी ने उनकी परिक्रमा की तथा इन्द्रजित् को मारने के लिये अति शीघ्रता से चल दिए ॥ ९॥

वानरैर्बहुसाहस्रैर्हनूमान् पृष्ठतोऽन्वगात् ।
विभीषणश्च सहितो मन्त्रिभिस्त्वरितं ययौ ॥ १०॥

हजारों वानरों सहित हनुमानजी तथा मन्त्रियों के सहित विभीषणजी भी शीघ्रता पूर्वक चल दिये ॥ १०॥

जाम्बवत्प्रमुखा ऋक्षाः सौमित्रिं त्वरयान्वयुः ।
गत्वा निकुम्भिलादेशं लक्ष्मणो वानरैः सह ॥ ११॥

अपश्यद्बलसङ्घातं दूराद्राक्षससङ्‌कुलम् ।
धनुरायम्य सौमित्रिर्यत्तोऽभूद्‌भूरिविक्रमः ॥ १२॥

जाम्बवान आदि प्रमुख रीछ तुरत ही लक्ष्मणजी के साथ चल दिये। निकुम्भ्ला के स्थानपर वानरों सहित लक्ष्मण जी ने जाकर दूर से ही राक्षसों की विशाल सेना को देखा और महापराक्रमी लक्ष्मण जी धनुष पर बाण चढ़ाकर सावधान हो गए ॥ ११-१२ ॥

अङ्गदेन च वीरेण जाम्बवान् राक्षसाधिपः ।
तदा विभीषणः प्राह सौमित्रिं पश्य राक्षसान् ॥ १३॥

यदेतद्राक्षसानीकं मेघश्यामं विलोक्यते ।
अस्यानीकस्य महतो भेदने यत्नवान् भव ॥ १४॥

लक्ष्मणजी के साथ ही वीरप्रवर अंगद और जाम्बवान् भी सावधान हो गये। तब राक्षसाधिप विभीषण राक्षसों को देखकर लक्ष्मणजी से बोले लक्ष्मणजी! यह जो मेघ के समान श्यामवर्ण राक्षसों की सेना दिखायी पड़ रही है उस प्रबल सेना का भेदन करने के लिये प्रयत्न कीजिए ॥ १३-१४ ॥

राक्षसेन्द्रसुतोऽप्यस्मिन् भिन्ने दृश्यो भविष्यति ।
अभिद्रवाशु यावद्वै नैतत्कर्म समाप्यते ॥ १५॥

इस महती सेना का संहार हो जाने पर राक्षसाधिप रावण का पुत्र इन्द्रजीत भी दिखायी पड़ने लगेगा। इसकी समाप्ति के अनन्तर शीघ्र ही आप आक्रमण कर दीजियेगा ॥ १५ ॥

जही वीर दुरात्मानं हिंसापरमधार्मिकम् ।
विभीषणवचः श्रुत्वा लक्ष्मणः शुभलक्ष्मणः ॥ १६॥

ववर्ष शरवर्षाणि राक्षसेन्द्रसुतं प्रति ।
पाषाणैः पर्वताग्रैश्च वृक्षैश्च हरियूथपाः ॥ १७॥

निर्जघ्नुः सर्वतो दैत्यांस्तेऽपि वानरयूथपान् ।

परश्वधैः शितैर्बाणैरसिभिर्यष्टितोमरैः ॥ १८॥

निर्जघ्नुर्वानरानीकं तदा शब्दो महानभूत् ।
स सम्प्रहारस्तुमुलः सञ्जज्ञे हरिरक्षसाम् ॥ १९॥

हे वीर ! इस हिंसक दुरात्मा पापी को शीघ्र मार दीजिये। विभीषण का यह कथन सुनकर शुभलक्षण श्रीलक्ष्मणजी राक्षसतनय मेघनाद की ओर बाणों की वर्षा करने लगे और वानर सेनापति भी चारो ओर से पत्थर, पर्वतशिखर तथा वृक्षादिकों से राक्षसों पर प्रहार करने लगे। इसी तरह राक्षसवर्ग भी वानर सेनापतियों और वानर सेना पर परशु तीक्ष्ण-बाण, खड्ग, यष्टि तथा तोमर आदि शास्त्रों से आक्रमण किया। तदनन्तर उस स्थान पर अति कोलाहल हुआ और राक्षस तथा वानरों में अति घमासान युद्ध प्रारम्भ हो गया ॥ १६-१९॥

इन्द्रजित्स्वबलं सर्वमर्द्यमानं विलोक्य सः ।
निकुम्भिलां च होमं च त्यक्त्वा शीघ्रं विनिर्गतः ॥ २०॥

इन्द्रजित् अपनी सेना को इस प्रकार नष्ट होता देखकर निकुम्भला और होम को छोड़कर बाहर आया ॥२०॥

रथमारुह्य सधनुः क्रोधेन महतागमत् ।
समाह्वयन् स सौमित्रिं युद्धाय रणमूर्धनि ॥ २१॥

वह शीघ्र ही रथ पर सवार होकर अति क्रोधित हुआ तथा हाथ में धनुष लेकर रणक्षेत्र में सामने उपस्थित हुआ और क्रोधित होकर लक्ष्मण जी को युद्ध के लिये ललकारते हुआ बोला ॥ २१ ॥

सौमित्रे मेघनादोऽहं मया जीवन्न मोक्ष्यसे ।
तत्र दृष्ट्वा पितृव्यं स प्राह निष्ठुरभाषणम् ॥ २२॥

लक्ष्मण ! मैं मेघनाद हूँ , अब तुम मुझसे जीवित नहीं बच सकते। तदनन्तर अपने चाचा विभीषण को वहाँ उपस्थित देखकर निष्ठुरता पूर्वक कहने लगा ॥ २२॥

इहैव जातः संवृद्धः साक्षाद् भ्राता पितुर्मम ।
यस्त्वं स्वजनमुत्सृज्य परभृत्यत्वमागतः ॥ २३॥

तुम यहीं पर उत्पन्न और यहां पर बड़े हुए हो, तथा साक्षात् मेरे पिता के सगे भाई हो, परन्तु तुम अपने बन्धुओं को छोड़कर शत्रुओं का दास को गए हो ॥ २३ ॥

कथं द्रुह्यसि पुत्राय पापीयानसि दुर्मतिः ।
इत्युक्त्वा लक्ष्मणं दृष्ट्वा हनूमत्पृष्ठतः स्थितम् ॥ २४॥

मुझ पुत्र के प्रति तुम कैसे द्रोह करते हो, तुम अत्यन्त पापी और दुरात्मा हो। यह कहकर उसने हनुमानजी के पृष्ठ पर स्थित लक्ष्मणजी को देखा ॥२४॥

उद्यदायुधनिस्त्रिंशे रथे महति संस्थितः ।
महाप्रमाणमुद्यम्य घोरं विस्फारयन् धनुः ॥ २५॥

अनेक तीक्ष्ण शस्त्रों वाले महान् रथ में बैठे उस दैत्य ने अति लम्बा धनुष उठाकर भयंकर टंकार किया ॥ २५॥

अद्य वो मामका बाणाः प्राणान् पास्यन्ति वानराः ।
ततः शरं दाशरथिः सन्धायामित्रकर्षणः ॥ २६॥

ससर्ज राक्षसेन्द्राय क्रुद्धः सर्प इव श्वसन् ।
इन्द्रजिद्रक्तनयनो लक्ष्मणं समुदैक्षत ॥ २७॥

वह बोला-वानरों ! आज मेरे बाण तुम्हारे प्राणों का पान करेंगे। तदनन्तर क्रोध से सर्प की भाँति फुफकारते हुए शत्रुओं का संहार करने वाले लक्ष्मणजी ने अपने धनुष पर एक बाण चढ़ाकर मेघनाद पर छोड़ा; इन्द्रजित ने भी क्रोध से आखों को लाल कर लक्ष्मण को देखा ॥ २६-२७ ॥

शक्राशनिसमस्पर्शैर्लक्ष्मणेनाहतः शरैः ।
मुहूर्तमभवन्मूढः पुनः प्रत्याहृतेन्द्रियः ॥ २८॥

ददर्शावस्थितं वीरं वीरो दशरथात्मजम् ।
सोऽभिचक्राम सौमित्रिं क्रोधसंरक्तलोचनः ॥ २९॥

इन्द्र के वज्र के समान लक्ष्मणजी द्वारा छोड़े हुए महा कठोर बाणों बाणों के लगते ही वह मुहूर्त मात्र के लिये अचेत हो गया। पुनः होश में आने पर वह उसने सामने उपस्थित वीरवर लक्ष्मण जी को देखा। लक्ष्मणजी को देखकर वह राक्षस क्रोध से आखें लालकर उनकी ओर दौड़ा ॥ २८-२९ ॥

शरान् धनुषि सन्धाय लक्ष्मणं चेदमब्रवीत् ।
यदि ते प्रथमे युद्धे न दृष्टो मे पराक्रमः ॥ ३०॥

अद्य त्वां दर्शयिष्यामि तिष्ठेदानीं व्यवस्थितः ।
इत्युक्त्वा सप्तभिर्बाणैरभिविव्याध लक्ष्मणम् ॥ ३१॥

दशभिश्च हनूमन्तं तीक्ष्णधारैः शरोत्तमैः ।
ततः शरशतेनैव सम्प्रयुक्तेन वीर्यवान् ॥ ३२॥

क्रोधद्विगुणसंरब्धो निर्बिभेद विभीषणम् ।
लक्ष्मणोऽपि तथा शत्रुं शरवर्षैरवाकिरत् ॥ ३३॥

और धनुष पर बाण चढ़ाकर यह कहने लगा- यदि पहले तुमने युद्ध में मेरे पराक्रम को नहीं देखा तो मैं अभी तुझे अपना पराक्रम दिखाता हूँ; व्यवस्थित होकर खड़े रहो। यह कहकर उस महाबली ने सात बाणों से लक्ष्मणजी तथा तीक्ष्ण धार वाले दस बाणों से हनुमानजी और क्रोधपूर्वक दूने उत्साह से विभीषण को बेध दिया । लक्ष्मणजी भी वर्षा के समान शत्रु पर बाणों की वर्षा करने लगे। ३०-३३॥

तस्य बाणैः सुसंविद्धं कवचं काञ्चनप्रभम् ।
व्यशीर्यत रथोपस्थे तिलशः पतितं भुवि ॥ ३४॥

लक्ष्मणजी की बाणों से मेघनाद का सुवर्ण की कान्ति का कवच तिल के समान टुकड़े-टुकड़े होकर रथ के पिछले भाग में और पृथ्वी पर गिर पड़ा ॥ ३४॥

ततः शरसहस्रेण सङ्क्रुद्धो रावणात्मजः ।
बिभेद समरे वीरं लक्ष्मणं भीमविक्रमम् ॥ ३५॥

तब अति क्रोधित होकर रावणात्मज मेघनाद ने संग्राम में भीमविक्रम वीरवर लक्ष्मणजी को हजार बाणों से वेध दिया ॥ ३५॥

व्यशीर्यतापतद्दिव्यं कवचं लक्ष्मणस्य च ।
कृतप्रतिकृतान्योन्यं बभूवतुरभिद्रुतौ ॥ ३६॥

लक्ष्मणजी का दिव्यकवच भी टुकड़े-टुकड़े होकर गिर पड़ा। वह दोनों एक दूसरे की क्रिया का प्रतिकार करते हुए लड़ने लगे ॥३६॥

अभीक्ष्णं निःश्वसन्तौ तौ युध्येतां तुमुलं पुनः ।
शरसंवृतसर्वाङ्गौ सर्वतो रुधिरोक्षितौ ॥ ३७॥

वह दोनों बारम्वार दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए आपस में घमासान युद्ध करने लगे। उनके शरीर के सभी अंग बाणों से छिन्न-भिन्न होने के कारण शरीर रूधिर से लथ-पथ हो गया ॥ ३७॥

सुदीर्घकालं तौ वीरावन्योन्यं निशितैः शरैः ।
अयुध्येतां महासत्त्वौ जयाजयविवर्जितौ ॥ ३८॥

महा पराक्रमी वह दोनों वीर बहुत देर तक एक दूसरे पर तीक्ष्ण बाणों की वर्षा करते हुए लड़ाई करते रहे। उन दोनों में से किसी की भी जय-पराजय नहीं हुई ॥ ३८॥

एतस्मिन्नन्तरे वीरो लक्ष्मणः पञ्चभिः शरैः ।
रावणेः सारथिं साश्वं रथं च समचूर्णयत् ॥ ३९॥

तब लक्ष्मणजी ने पाँच बाणों से इन्द्रजित के सारथि, रथ और घोड़ों सहित रथ को चूर्ण कर दिया ॥ ३९ ॥

चिच्छेद कार्मुकं तस्य दर्शयन् हस्तलाघवम् ।
सोऽन्यत्तु कार्मुकं भद्रं सज्यं चक्रे त्वरान्वितः ॥ ४०॥

तच्चापमपि चिच्छेद लक्ष्मणस्त्रिभिराशुगैः ।
तमेव छिन्नधन्वानं विव्याधानेकसायकैः ॥ ४१॥

तथा अपने हस्त कौशल से उसके धनुष को भी काट दिये । तब शीघ्र ही मेघनाद ने एक दूसरा उत्तम धनुष चढ़ाया जिसे लक्ष्मणजी ने अपने तीन बाणों से काट दिया, और धनुष विहीन उस राक्षस को अनेक बाणों से वेध दिया ॥ ४०-४१॥

पुनरन्यत्समादाय कार्मुकं भीमविक्रमः ।
इन्द्रजिल्लक्ष्मणं बाणैः शितैरादित्यसन्निभैः ॥ ४२॥

बिभेद वानरान् सर्वान् बाणैरापूरयन् दिशः ।
तत ऐन्द्रं समादाय लक्ष्मणो रावणिं प्रति ॥ ४३॥

सन्धायाकृष्य कर्णान्तं कार्मुकं दृढनिष्ठुरम् ।
उवाच लक्ष्मणो वीरः स्मरन् रामपदाम्बुजम् ॥ ४४॥

धर्मात्मा सत्यसन्धश्च रामो दाशरथिर्यदि ।
त्रिलोक्यामप्रतिद्वन्द्वस्तदेनं जहि रावणिम् ॥ ४५॥

तब महापराक्रमी इन्द्रजित ने दूसरा धनुष लेकर सूर्य की कान्ति वाले तेज बाणों से सम्पूर्ण दिशाओं को व्याप्त करते हुए लक्ष्मणजी सहित सभी वानरों को वेध दिया। तत्पश्चात्, लक्ष्मणजी ने ऐन्द्र बाण निकाला और मेघनाद को लक्ष्यकर धनुष पर चढ़ाया तथा उस कठोर धनुष को कान-तक खींचकर हृदय में भगवान श्रीरामचन्द्रजी के चरणारविन्द का स्मरण करते हुए बोले- यदि दाशरथि भगवान् श्रीराम धर्मात्मा, सत्य की मर्यादा रखने वाले और त्रिलोकी में प्रतिद्वन्दी रहित हों तो हे बाण ! इस रावण तनय को तुम मार दो ॥४२-४५॥

इत्युक्त्वा बाणमाकर्णाद्विकृष्य तमजिम्हगम् ।
लक्ष्मणः समरे वीरः ससर्जेन्द्रजितं प्रति ॥ ४६॥

यह कहकर उस सीधे जाने वाले बाण को कर्णपर्यन्त खींचकर लक्ष्मणजी ने समरांगन में इन्द्रजित पर छोड़ दिया ॥ ४६॥

स शरः सशिरस्त्राणं श्रीमज्ज्वलितकुण्डलम् ।
प्रमथ्येन्द्रजितः कायात्पातयामास भूतले ॥ ४७॥

उस बाण ने शीर्षत्राण सहित उज्ज्वल कुण्डलों से सुशोभित इन्द्रजित के कान्तिमान मस्तक को काटकर धड़ से पृथ्वी पर गिरा दिया ॥ ४७ ॥

ततः प्रमुदिता देवाः कीर्तयन्तो रघूत्तमम् ।
ववर्षुः पुष्पवर्षाणि स्तुवन्तश्च मुहुर्मुहुः ॥ ४८॥

इन्द्रजित का वध हो जाने पर प्रमुदित होकर देवगण रघुश्रेष्ठ श्रीलक्ष्मणजी की प्रशंसा कर पुष्प की वर्षा करने लगे ॥४८॥

जहर्ष शक्रो भगवान् सह देवैर्महर्षिभिः ।
आकाशेऽपि च देवानां शुश्रुवह दुन्दुभिस्वनः ॥ ४९॥

देवता और महर्षियों के सहित इन्द्रभगवान् भी अति हर्षित हुए। उस समय देवताओं के नगाड़ों का शब्द आकाश मण्डल में सुनायी देने लगा ॥४९॥

विमलं गगनं चासीत्स्थिराभूद्विश्वधारिणी ।
निहतं रावणिं दृष्ट्वा जयजल्पसमन्वितः ॥ ५०॥

रावण तनय मेघनाद का वध देखकर सर्वत्र जय ध्वनि गूंज उठी। आकाश निर्मल हो गया और पृथ्वी स्थिर हो गयी ॥ ५० ॥

गतश्रमः स सौमित्रिः शङ्खमापूरयद्रणे ।
सिंहनादं ततः कृत्वा ज्याशब्दमकरोद्विभुः ॥ ५१॥

श्रम दूर हो जाने पर लक्ष्मणजी शंख बजाय जिससे रणभूमि गूंज उठी। और उन्होंने भयंकर सिंहनाद कर धनुष की टंकार की ॥ ५१ ॥

तेन नादेन संहृष्टा वानराश्च गतश्रमाः ।
वानरेन्द्रैश्च सहितः स्तुवद्भिर्हृष्टमानसैः ॥ ५२॥

लक्ष्मणः परितुष्टात्मा ददर्शाभ्येत्य राघवम् ।

हनूमद्राक्षसाभ्यां च सहितो विनयान्वितः ॥ ५३॥

ववन्दे भ्रातरं रामं ज्येष्ठं नारायणं विभुम् ।
त्वत्प्रसादाद्रघुश्रेष्ठ हतो रावणिराहवह ॥ ५४॥

उस सिंहनाद से सभी वानरगण प्रसन्न और श्रमरहित हो गये। और प्रसन्न मन वीर वानरों से प्रशंसित श्रीलक्ष्मणजी ने उनके साथ श्रीरघुनाथजी के पास आकर उनका दर्शन किया। हनुमान और विभीषण सहित लक्ष्मणजी साक्षात् नारायण स्वरूप अपने बड़े भाई भगवान् श्रीराम को प्रणाम कर बोले-हे रघुश्रेष्ठ! आपकी कृपा से इन्द्रजित् युद्ध में मारा गया ॥५२-५४॥

श्रुत्वा तल्लक्ष्मणाद्भक्त्या तमालिङ्ग्य रघूत्तमः ।
मूर्ध्न्यवघ्राय मुदितः सस्नेहमिदमब्रवीत् ॥ ५५॥

भक्तिपूर्वक लक्ष्मणजी का यह कथन सुनकर श्रीरामचन्द्रजी ने अति प्रसन्न होकर उनका आलिंगन किया और प्रेम पूर्वक सिर को सूंघ बोले ॥ ५५ ॥

साधु लक्ष्मण तुष्टोऽस्मि कर्म ते दुष्करं कृतम् ।
मेघनादस्य निधने जितं सर्वमरिन्दम ॥ ५६॥

लक्ष्मण! तुम्हे साधुवाद है। तुमने अति दुष्कर कार्य किया है। हे अरिन्दम ! मेघनाद की मृत्यु से हमने सब कुछ जीत लिया है॥ ५६ ॥

अहोरात्रैस्त्रिभिर्वीरः कथञ्चिद्विनिपातितः ।
निःसपत्नः कृतोऽस्म्यद्य निर्यास्यति हि रावणः ॥ ५७॥

पुत्रशोकान्मया योद्धुं तं हनिष्यामि रावणम् ॥ ५८॥

तीन दिन और तीन रात्रि तक निरन्तर युद्ध करने के पश्च्यात किसी प्रकार तुमने उस महान् योद्धा को मार दिया। अत: आज तुम मुझे शत्रु रहित कर दिया। पुत्र शोकादि से व्याकुल हुआ रावण अब यदि मुझसे लड़ने आयेगा तो मैं उसे मार दूंगा ॥ ५७-५८ ॥

मेघनादं हतं श्रुत्वा लक्ष्मणेन महाबलम् ।
रावणः पतितो भुमौ मूर्च्छितः पुनरुत्थितः ।
विललापातिदीनात्मा पुत्रशोकेन रावणः ॥ ५९॥

लक्ष्मणजी द्वारा महाबली मेघनाद का मारा गया सुनकर रावण मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा और मूर्छा टूटने पर पुत्र-शोक से अत्यन्त दुःखी होकर विलाप करने लगा ॥५९ ॥

पुत्रस्य गुणकर्माणि संस्मरन् पर्यदेवयत् ।
अद्य देवगणाः सर्वे लोकपाला महर्षयः ॥ ६०॥

हतमिन्द्रजितं ज्ञात्वा सुखं स्वप्स्यन्ति निर्भयाः ।
इत्यादि बहुशः पुत्रलालसो विललाप ह ॥ ६१॥

पुत्र का गुण और कर्मों का स्मरण कर वह अत्यन्त शोक करने लगा। आज सभी देवगण, लोकपाल और महर्षिगण इन्द्रजित् का निधन सुनकर निर्भय हो सुख से शयन करेंगे, इस प्रकार पुत्र में आसक्ति होने के कारण वह विविध प्रकार से विलाप करने लगा। ६०-६१ ॥

ततः परमसङ्क्रुद्धो रावणो राक्षसाधिपः ।
उवाच राक्षसान् सर्वान्निनाशयिषुराहवह ॥ ६२॥

तब राक्षसाधिप रावण ने अति क्रोधित होकर शत्रुओं का नाश करने की इच्छा से सभी राक्षसों से बातचित करने लगा॥ ६२॥

स पुत्रवधसन्तप्तः शूरः क्रोधवशं गतः ।
संवीक्ष्य रावणो बुद्ध्या हन्तुं सीतां प्रदुद्रुवह ॥ ६३॥

पुनः शूरवीर रावण पुत्र-शोक से कुछ सोच समझकर क्रोधित हो सीताजी को मारने के लिये दौड़ा ॥ ६३ ॥

खड्गपाणिमथायान्तं क्रुद्धं दृष्ट्वा दशाननम् ।
राक्षसीमध्यगा सीता भयशोकाकुलाभवत् ॥ ६४॥

राक्षसियों के मध्य बैठी हुई सीताजी हाथ में खग लेकर क्रोधपूर्वक रावण को अपनी ओर आते हुए देखकर भयभीत हो गयीं ॥ ६४ ॥

एतस्मिन्नन्तरे तस्य सचिवो बुद्धिमान् शुचिः ।
सुपार्श्वो नाम मेधावी रावणं वाक्यमब्रवीत् ॥ ६५॥

तत्क्षण ही परमबुद्धिमान, शुद्ध हृदय और विचारवान् रावण का सुपार्श्व नामक मन्त्री रावण से बोला ॥६५॥

ननु नाम दशग्रीव साक्षाद्वैश्रवणानुजः ।
वहदविद्याव्रतस्नातः स्वकर्मपरिनिष्ठितः ॥ ६६॥

दशानन! आप यह क्या कर रहे हैं ? आप साक्षात् विश्रवानन्दन कुबेर जी के छोटे भाई और वेदविद्या में निपुण तथा यज्ञान्त में स्नान करने वाले एवं स्वधर्मपरायण हैं ॥ ६६ ॥

अनेकगुणसम्पन्नः कथं स्त्रीवधमिच्छसि ।
अस्माभिः सहितो युद्धे हत्वा रामं च लक्ष्मणम् ।
प्राप्स्यसे जानकीं शीघ्रमित्युक्तः स न्यवर्तत ॥ ६७॥

आप अनेक गुण सम्पन्न होकर भी स्त्री-वध किस प्रकार करना चाहते हैं ? हमलोगों के साथ आप राम और लक्ष्मण को युद्ध में मारकर अतिशीघ्र जानकी जी को प्राप्त कर लेंगे। इस प्रकार सुपार्श्व के समझाने पर रावण लौट आया ॥६७ ॥

ततो दुरात्मा सुहृदा निवहदितं वचः सुधर्म्यं प्रतिगृह्य रावणः ।
गृहं जगामाशु शुचा विमूढधीः पुनः सभां च प्रययौ सुहृद्वृतः ॥६८॥

तब दुरात्मा रावण अपने सुहृद् के द्वारा कहे हुए धर्मानुकूल वाक्यों को मानकर शोक से मूढ़ बुद्धि हो शीघ्र अपने घर गया और दूसरे दिन अपने सभाषदों के साथ सभा मण्डप में आया ॥ ६८ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे युद्धकाण्डे नवमः सर्गः ॥ ९॥

॥दशमः सर्गः ॥

दशम सर्ग

रावण का यज्ञ विध्वंस तथा रावण द्वारा मन्दोदरी को समझाना

श्रीमहादेव उवाच ।
स विचार्य सभामध्ये राक्षसैः सह मन्त्रिभिः ।
निर्ययौ यहऽवशिष्टास्तै राक्षसैः सह राघवम् ॥ १॥

शलभः शलभैर्युक्तः प्रज्वलन्तमिवानलम् ।
ततो रामेण निहताः सर्वे ते राक्षसा युधि ॥ २॥

श्रीमहादेवजी बोले- वह राक्षस मन्त्रियों के साथ सभा में विचार-विमर्श करता हुआ अन्य पतंगों के साथ पतंगों को अग्नि पर गिरने की भाँति अवशिष्ट राक्षसों को लेकर रघुनाथजी के समीप चला; परन्तु उन सभी राक्षसों को श्रीरामचन्द्रजी ने युद्ध में मार दिया ॥ १-२॥

स्वयं रामेण निहतस्तीक्ष्णबाणेन वक्षसि ।
व्यथितस्त्वरितं लङ्कां प्रविवहश दशाननः ॥ ३॥

स्वयं भी वह श्रीरामचन्द्रजी के तीक्ष्ण बाण को हृदय में लगने से व्यथित होकर शीघ्र ही लंका में लौट आया ॥३॥

दृष्ट्वा रामस्य बहुशः पौरुषं चाप्यमानुषम् ।
रावणो मारुतेश्चैव शीघ्रं शुक्रान्तिकं ययौ ॥ ४॥

श्रीरामचन्द्रजी और हनुमानजी द्वारा मानव से न होने योग्य अनेक कार्य करते हुए देखकर वह अतिशीघ्र शुक्राचार्य के पास गया ॥४॥

नमस्कृत्य दशग्रीवः शुक्रं प्राञ्जलिरब्रवीत् ।
भगवन् राघवहणैवं लङ्का राक्षसयुथपैः ॥ ५॥

विनाशिता महादैत्या निहताः पुत्रबान्धवाः ।
कथं मे दुःखसन्दोहस्त्वयि तिष्ठति सद्गुरौ ॥ ६॥

वह शुक्राचार्य को नमस्कार कर हाथ जोड़कर कहने लगा-भगवन् ! राम के द्वारा राक्षस यूथपतियों सहित लंका नष्ट कर दी गयी और सभी महादैत्य तथा मेरे पुत्र बन्धु आदि मार दिये गये। आप जैसे सद्गुरु के रहते हुए भी मुझपर महान दुःख क्यों आ पड़ा ॥ ५-६ ॥

इति विज्ञापितो दैत्यगुरुः प्राह दशाननम् ।
होमं कुरु प्रयत्नेन रहसि त्वं दशानन ॥ ७॥

इस प्रकार दशानन के कहने पर दैत्य गुरु शुक्राचार्य बोले कि हे दशानन! तुम प्रयत्न पूर्वक एकान्त स्थान में हवन करो ॥ ७॥

यदि विघ्नो न चेद्धोमे तर्हि होमानलोत्थितः ॥ ८॥

महान् रथश्च वाहाश्च चापतूणीरसायकाः ।
सम्भविष्यन्ति तैर्युक्तस्त्वमजेयो भविष्यसि ॥ ९॥

यदि हवन निर्विघ्न पूर्ण हो गया तो उस होम की अग्नि से एक महान् रथ, घोड़े, धनुष, तरकश और बाण उत्पन्न होंगे। उसे पाकर तुम अजेय हो जाओगे ॥८-९॥

गृहाण मन्त्रान् मद्दत्तान् गच्छ होमं कुरु द्रुतम् ।
इत्युक्तस्त्वरितं गत्वा रावणो राक्षसाधिपः ॥ १०॥

गुहां पातालसदृशीं मन्दिरे स्वे चकार ह ।
लङ्काद्वारकपाटादि बद्ध्वा सर्वत्र यत्नतः ॥ ११॥

तुम मेरे बताए मन्त्र को ग्रहण करो और जाकर शीघ्र होम करो। शुक्राचार्य जी के यह कहने पर राक्षसाधिप रावण शीघ्र ही जाकर अपने महल में पाताल के समान एक गुफा बनवाई और यत्न पूर्वक लंका के सभी कपाटों को उसने बन्द करवा दिया ॥ १०-११॥

होमद्रव्याणि सम्पाद्य यान्युक्तान्याभिचारिके ।
गुहां प्रविश्य चैकान्ते मौनी होमं प्रचक्रमे ॥ १२॥

अभिचार के लिये प्रयुक्त होने वाले सभी हवन पदार्थ को तैयार कर गुफा में प्रविष्ट हुआ तथा मौन रहकर हवं करने लगा ॥ १२॥

उत्थितं धूममालोक्य महान्तं रावणानुजः ।
रामाय दर्शयामास होमधूमं भयाकुलः ॥ १३॥

तत्पश्चात् अत्यधिक धूंआ उठते हुए देखकर रावणानुज विभीषण के भयभीत हो श्रीरामचन्द्रजी को हवन का धूआँ दिखलाया॥१३॥

पश्य राम दशग्रीवो होमं कर्तुं समारभत् ।
यदि होमः समाप्तः स्यात्तदाऽजेयो भविष्यति ॥ १४॥

हे राम ! आप देखिये, दशग्रीव ने हवन करना प्रारम्भ कर दिया है। यदि यह हवन पूर्ण हो जायगा तो वह वह अजेय हो जायगा ॥१४॥

अतो विघ्नाय होमस्य प्रेषयाशु हरीश्वरान् ।
तथेति रामः सुग्रीवसम्मतेनाङ्गदं कपिम् ॥ १५॥

हनूमत्प्रमुखान् वीरानादिदेश महाबलान् ।
प्राकारं लङ्घयित्वा ते गत्वा रावणमन्दिरम् ॥ १६॥

अत एव हवन में विघ्न करने हेतु वानर सेनापतियों को भेजिये। 'जैसी तुम्हारी इच्छा' यह कहकर सुग्रीव की सम्मति से कपिवर अंगद तथा हनुमान ने महाबली प्रमुख वानरों को आज्ञा दी। वह सभी नगर के घेरे को पारकर रावण के महल में पहुँच गए ॥ १६॥

दशकोट्यः प्लवङ्गानां गत्वा मन्दिररक्षकान् ।
चूर्णयामासुरश्वांश्च गजांश्च न्यहनन् क्षणात् ॥ १७॥

दशकरोड़ वानरवीरों ने नगर में जाकर महल की रक्षा करने वाले राक्षसों को चूर्ण कर दिया और क्षणमात्र में ही हाथियों और घोड़ों का नाश कर दिये ॥ १७ ॥

ततश्च सरमा नाम प्रभाते हस्तसञ्ज्ञया ।
विभीषणस्य भार्या सा होमस्थानमसूचयत् ॥ १८॥

तब प्रातः काल सरमा नामक विभीषण की भार्या ने हाथ के संकेत से हवन स्थान का पता बता दिया ॥ १८॥

गुहापिधानपाषाणमङ्गदः पादघट्टनैः ।
चूर्णयित्वा महासत्त्वः प्रविवहश महागुहाम् ॥ १९॥

उस गुफा के मुखपर रखे हुए पत्थर के ढक्कन को अंगद ने अपने पैर से ठोकर मारकर चूर्ण-चूर्ण कर दिया तथा महा गुफा में घुस गए ॥१९॥

दृष्ट्वा दशाननं तत्र मीलिताक्षं दृढासनम् ।
ततोऽङ्गदाज्ञया सर्वे वानरा विविशुर्द्रुतम् ॥ २०॥

उस गुफा में नेत्र बन्द और दृढ़ासन लगाकर बैठे रावण को उन्होंने देखा। तब अंगद जी की आज्ञा से सभी वानर उस गुफा में घुस गए ॥ २० ॥

तत्र कोलाहलं चक्रुस्ताडयन्तश्च सेवकान् ।
सम्भारांश्चिक्षिपुस्तस्य होमकुण्डे समन्ततः ॥ २१॥

गुफा में प्रविष्ट होकर वानरगण रक्षकों को मारने एवं अधिक कोलाहल करने लगे और उन्होंने यत्र-तत्र रखी हुई यज्ञ सामग्री को हवन कुण्ड में डाल दिया ॥ २१॥

स्रुवमाच्छिद्य हस्ताच्च रावणस्य बलाद्रुषा ।
तेनैव सञ्जघानाशु हनूमान् प्लवगाग्रणीः ॥ २२॥

तत्पश्चात् वानराग्रणी हनुमान जी ने बलपूर्वक रावण के हाथ से सुर्वा को छीनकर उसी से रावण को मारा ॥ २२॥

घ्नन्ति दन्तैश्च काष्ठैश्च वानरास्तमितस्ततः ।
न जहौ रावणो ध्यानं हतोऽपि विजिगीषया ॥ २३॥

वानरगण भी यत्र-तत्र से रावण को दाँतों से काटने लगे और लकड़ियों से प्रहार करने लगे, परन्तु अपने विजय की इच्छा से रावण ने समस्त आघात सहते हुए भी ध्यान नहीं छोड़ा ॥ २३ ॥

प्रविश्यान्तःपुरे वहश्मन्यङ्गदो वहगवत्तरः ।
समानयत्केशबन्धे धृत्वा मन्दोदरीं शुभाम् ॥। २४॥

रावणस्यैव पुरतो विलपन्तीमनाथवत् ।
विददाराङ्गदस्तस्याः कञ्चुकं रत्नभूषितम् ॥ २५॥

तब वेगवान अंगद जी रावण के अन्त:पुर में जाकर शुभलक्षणा मन्दोदरी की चोटी पकड़कर ले आए और रावण के सामने ही अनाथा की भाँति विलाप करती हुई उस मन्दोदरी की रत्न जटित कञ्चुकी को फाड़ दिये ॥ २५॥

मुक्ता विमुक्ताः पतिताः समन्ताद्रत्नसञ्चयैः ।
श्रोणिसूत्रं निपतितं त्रुटितं रत्नचित्रितम् ॥ २६॥

उस चोली के रत्नसहित मोती टूट-टूटकर चारो ओर बिखर गए। मन्दोदरी की रत्न-जटित करधनी भी पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ २६ ॥

कटिप्रदेशाद्विस्रस्ता नीवी तस्यैव पश्यतः ।
भूषणानि च सर्वाणि पतितानि समन्ततः ॥ २७॥

उसके देखते-देखते ही मन्दोदरी के वस्त्र कटि प्रदेश से खिसक गया और उसके सभी आभूषण यत्र-तत्र बिखर गये ॥२७ ॥

देवगन्धर्वकन्याश्च नीता हृष्टैः प्लवङ्गमैः ।
मन्दोदरी रुरोदाथ रावणस्याग्रतो भृशम् ॥ २८॥

इसी प्रकार अन्य वानरगण कुतूहल से अन्य रावण की पत्नियाँ देव-गन्धर्व आदि की कन्याओं को पकड़कर ले आए। तदनन्तर रावण के सामने मन्दोदरी विलाप करने लगी ॥ २८ ॥

क्रोशन्ती करुणं दीना जगाद दशकन्धरम् ।
निर्लज्जोऽसि परैरेवं केशपाशे विकृष्यते ॥ २९॥

भार्या तवैव पुरतः किं जुहोषि न लज्जसे ।
हन्यते पश्यतो यस्य भार्या पापैश्च शत्रुभिः ॥ ३०॥

मर्तव्यं तेन तत्रैव जीवितान्मरणं वरम् ।
हा मेघनाद ते माता क्लिश्यते बत वानरैः ॥ ३१॥

मन्दोदरी दीन होकर करुणावश रावण के सामने रुदन कर कहने लगी। तुम निर्लज्ज हो, तुम्हारे सामने ही तुम्हारे शत्रु इस प्रकार तुम्हारी भार्या को केश-पाश खींच रहे हैं, इस प्रकार तुम्हें लज्जा नहीं आती ? जिसकी भार्या को उसके देखते हुए भी पापी शत्रु गण मारते हों, उसे तो मर ही जाना चाहिये। उसके लिए तो जीने से मरना ही

श्रेष्ठ है। हा मेघनाद ! तुम्हारी माता वानरों द्वारा पीडित हो रही है ॥ २९-३१॥

त्वयि जीवति मे दुःखमीदृशं च कथं भवहत् ।
भार्या लज्जा च सन्त्यक्ता भर्त्रा मे जीविताशया ॥ ३२॥

तुम्हारे जीवित रहते हुए मुझे इस प्रकार का दुःख कैसे होता ? मेरे पति ने अपने जीवन की इच्छा से अपनी स्त्री और लज्जा को भी छोड़ दिया है ॥ ३२ ॥

श्रुत्वा तद्देवितं राजा मन्दोदर्या दशाननः ।
उत्तस्थौ खड्गमादाय त्यज देवीमिति ब्रुवन् ॥ ३३॥

तब रावण मन्दोदरी का यह विलाप सुनकर देवी को छोड़ दो यह कहता हुआ हाथ में खड्ग लेकर उठा ॥ ३३ ॥

जघानाङ्गदमव्यग्रः कटिदेशे दशाननः ।
तदोत्सृज्य ययुः सर्वे विध्वंस्य हवनं महत् ॥ ३४॥

वह उठते ही अंगद जी ने उसकी कमर पर प्रहार किया। और सभी वानरगण उस महान हवन को विध्वंस करके वहाँ से चल पड़े ॥३४॥

रामपार्श्वमुपागम्य तस्थुः सर्वे प्रहर्षिताः ॥ ३५॥

रावणस्तु ततो भार्यामुवाच परिसान्त्वयन् ।
दैवाधीनमिदं भद्रे जीवता किं न दृश्यते ।
त्यज शोकं विशालाक्षि ज्ञानमालम्ब्य निश्चितम् ॥ ३६॥

सभी वानरगण अति हर्षित होकर श्रीरामचन्द्रजी के समीप उपस्थित हुए। और रावण अपनी भार्या को सान्त्वना देता हुआ बोला। हे भद्रे! सुख-दुःखादि दैवाधीन हैं। जीता हुआ व्यक्ति क्या नहीं देखता ? अतएव हे विशालाक्षि निश्चत ज्ञान का अवलम्बन कर शोक का तुम त्याग करो॥ ३५-३६ ॥

अज्ञानप्रभवः शोकः शोको ज्ञानविनाशकृत् ।
अज्ञानप्रभवाहन्धीः शरीरादिष्वनात्मसु ॥ ३७॥

शोक अज्ञान से उत्पन्न और ज्ञान का नाश करने वाला होता है। शरीरादि अनात्मवस्तु में अहं बुद्धि अज्ञान से ही होती है ॥ ३७॥

तन्मूलः पुत्रदारादिसम्बन्धः संसृतिस्ततः ।
हर्षशोकभयक्रोधलोभमोहस्पृहादयः ॥ ३८॥

मिथ्या-अहंकार से ही पुत्र, स्त्री आदि का संबन्ध होता है और संबन्ध में बुद्धि होने से हर्ष, शोक, भय, क्रोध लोभ, मोह, स्पृहा आदि होते हैं ॥ ३८ ॥

अज्ञानप्रभवा ह्येते जन्ममृत्युजरादयः ।
आत्मा तु केवलं शुद्धो व्यतिरिक्तो ह्यलेपकः ॥ ३९॥

जन्म-मृत्यु-जरा आदि अज्ञान से ही होते हैं। आत्मा तो केवल शुद्ध सबसे पृथक और निर्लेपक है ॥ ३९ ॥

आनन्दरूपो ज्ञानात्मा सर्वभावविवर्जितः ।

न संयोगो वियोगो वा विद्यते केनचित्सतः ॥ ४०॥

आत्मा आनन्द स्वरूप, ज्ञानमय और सर्वभाव रहित है। उसका किसी के साथ कभी भी संयोग अथवा वियोग नहीं होता ॥ ४०॥

एवं ज्ञात्वा स्वमात्मानं त्यज शोकमनिन्दिते ।
इदानीमेव गच्छामि हत्वा रामं सलक्ष्मणम् ॥ ४१॥

आगमिष्यामि नो चेन्मां दारयिष्यति सायकैः ।
श्रीरामो वज्रकल्पैश्च ततो गच्छामि तत्पदम् ॥ ४२॥

हे अनिन्दिते ! आत्मा को इस प्रकार जानकर शोक छोड़ दो। अभी मैं जाता हूँ, तथा राम और लक्ष्मण को मारकर आता हूँ'; अथवा श्रीराम वज्र के समान अपने बाणों से मुझे विदीर्ण कर देंगे, जिससे मैं उनके पद को प्राप्त करूँगा ॥४१-४२ ।

तदा त्वया मे कर्तव्या क्रिया मच्छासनात्प्रिये ।
सीतां हत्वा मया सार्धं त्वं प्रवहक्ष्यसि पावकम् ॥ ४३॥

तदनन्तर हे प्रिये ! मेरे लिये तुम एक कार्य करना कि सीता को मारकर मेरे शव के साथ अग्नि में प्रवेश कर जाना ॥४३॥

एवं श्रुत्वा वचस्तस्य रावणस्यातिदुःखिता ।
उवाच नाथ मे वाक्यं शृणु सत्यं तथा कुरु ॥ ४४॥

इस प्रकार रावण का वचन सुनकर अति दुःखित हो मन्दोदरी बोली- प्रभो! आप मेरा निवेदन सुनिये और सुनकर जैसी इच्छा कीजिये ॥४४॥!

शक्यो न राघवो जेतुं त्वया चान्यैः कदाचन ।
रामो देववरः साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वरः ॥ ४५॥

आप अथवा अन्य कोई भी किसी प्रकार श्रीरघुनाथजी को नहीं जीत सकता। श्रीराम साक्षात् देवेश प्रधान पुरुषेश्वर हैं ॥४५॥

मत्स्यो भूत्वा पुरा कल्पे मनुं वैवस्वतं प्रभुः ।
ररक्ष सकलापद्भ्यो राघवो भक्तवत्सलः ॥ ४६॥

भक्तवत्सल श्रीरघुनाथजी के कल्पारम्भ में मत्स्यावतार लेकर वैवस्वत मनु की समस्त आपत्तियों से रक्षा की थी । ४६ ॥

रामः कूर्मोऽभवत्पूर्वं लक्षयोजनविस्तृतः ।
समुद्रमथने पृष्ठे दधार कनकाचलम् ॥ ४७॥

भगवान् श्रीरामचन्द्र ने ही पूर्व समय में लक्ष योजन विस्तृत कूर्म रूप धारण किया था ॥४७॥

हिरण्याक्षोऽतिदुर्वृत्तो हतोऽनेन महात्मना ।
क्रोडरूपेण वपुषा क्षोणीमुद्धरता क्वचित् ॥ ४८॥

किसी समय वराह रूप धारण कर पृथ्वी का उद्धार करते समय इन्ही महात्मा ने दुराचारी हिरण्याक्ष का वध किया थे ॥४८॥

त्रिलोककण्टकं दैत्यं हिरण्यकशिपुं पुरा ।
हतवान्नारसिंहेन वपुषा रघुनन्दनः ॥ ४९॥

इन्ही रघुनन्दन ने नरसिंह रूप धारणकर त्रैलोक्य कण्टक हिरण्यकशिपु को मारा था ॥ ४९ ॥

विक्रमैस्त्रिभिरेवासौ बलिं बद्ध्वा जगत्त्रयम् ।
आक्रम्यादात्सुरेन्द्राय भृत्याय रघुसत्तमः ॥ ५०॥

इन्ही रघुश्रेष्ठ ने तीन पग में ही त्रिलोकी को मापकर बलि को बाँधकर अपने सेवक इन्द्र को त्रैलोक्य दे दिया था। ॥ ५०॥

राक्षसाः क्षत्रियाकारा जाता भूमेर्भरावहाः ।
तान् हत्वा बहुशो रामो भुवं जित्वा ह्यदान्मुनेः ॥ ५१॥

क्षत्रिय रूप धारण कर राक्षसगण जब पृथ्वी पर भार स्वरुप हो गए थे, तब इन्होने ही परशुराम रूप धारण कर अनेकों बार क्षत्रियों का संहार किया था और पृथ्वी को जीतकर उसे कश्यप मुनि को दे दिया था ॥५१॥

स एव साम्प्रतं जातो रघुवंशे परात्परः ।
भवदर्थे रघुश्रेष्ठो मानुषत्वमुपागतः ॥ ५२॥

वही परात्पर प्रभु इस समय रघुकूल में रामरूप से अवतीर्ण होकर आपके लिये मनुष्य रूप धारण करके आये हैं ॥ ५२ ॥

तस्य भार्या किमर्थं वा हृता सीता वनाद्बलात् ।
मम पुत्रविनाशार्थं स्वस्यापि निधनाय च ॥ ५३॥

मेरे पुत्र के नाश और अपनी मृत्यु को आमंत्रित करने के लिए बलपूर्वक उनकी स्त्री सीता को आप क्यों हरण कर लाये ? ॥ ५३॥

इतः परं वा वैदेहीं प्रेषयस्व रघूत्तमे ।
विभीषणाय राज्यं तु दत्त्वा गच्छामहे वनम् ॥ ५४॥

अभी भी आप श्रीजानकी को रघुनाथजी के समीप भेज दीजिये और विभीषण को राज्य सौंप कर हम वन में चलेंगे॥५४॥

मन्दोदरीवचः श्रुत्वा रावणो वाक्यमब्रवीत् ।
कथं भद्रे रणे पुत्रान् भ्रातृन् राक्षसमण्डलम् ॥ ५५॥

घातयित्वा राघवहण जीवामि वनगोचरः ।
रामेण सह योत्स्यामि रामबाणैः सुशीघ्रगैः ॥ ५६॥

विदार्यमाणो यास्यामि तद्विष्णोः परमं पदम् ।
जानामि राघवं विष्णुं लक्ष्मीं जानामि जानकीम् ।
ज्ञात्वैव जानकी सीता मयानीता वनाद्बलात् ॥ ५७॥

रामेण निधनं प्राप्य यास्यामीति परं पदम् ।
विमुच्य त्वां तु संसाराद्गमिष्यामि सह प्रिये ॥ ५८॥

मन्दोदरी का यह कथन सुनकर रावण बोला-भद्रे! मैं युद्ध में अपने पुत्र, भ्राता और राक्षसों का नाश कराकर वनवासी होकर किस प्रकार

जीवन व्यतीत कर सकता हूँ ? निश्चय ही मैं अब राम के साथ युद्ध करूँगा और शीघ्रगामी बाणों से आहत हो उन भगवान् विष्णु के परमधाम को जाऊँगा। मैं राम को साक्षात् विष्णु भगवान् और जानकी को भगवती लक्ष्मी समझता हूँ। यह समझकर ही मैं राम के हाथों से मरकर उनका परमपद प्राप्त करूँगा। मैं जनकनन्दिनी सीता को बल पूर्वक तपोवन से लाया था। हे प्रिये ! अब तुम्हें छोड़कर अपने अन्य राक्षस वीरों के साथ संसार से प्रस्थान करूँगा ॥ ५५-५८॥

परानन्दमयी शुद्धा सेव्यते या मुमुक्षुभिः ।
तां गतिं तु गमिष्यामि हतो रामेण संयुगे ॥ ५९॥

मुमुक्षुलोग जिस परानन्दमयी शुद्ध गति का सेवन करते हैं, भगवान् श्रीराम के हाथों से मरकर मैं उस गति को प्राप्त करूंगा ॥ ५९॥

प्रक्षाल्य कल्मषाणीह मुक्तिं यास्यामि दुर्लभाम् ॥ ६०॥

मैं अपने संपूर्ण पापों का प्रक्षालन कर दुर्लभ मोक्ष पद प्राप्त करूँगा ॥ ६० ॥

क्लेशादिपञ्चकतरङ्गयुतं भ्रमाढ्यं दारात्मजाप्तधनबन्धुझषाभियुक्तम् ।
और्वानलाभनिजरोषमनङ्गजालं
संसारसागरमतीत्य हरिं व्रजामि ॥ ६१॥

जिसमें अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि पाँच क्लेश तरंगे, भ्रम ही भँवर, स्त्री, पुत्र, स्वजन, विभव और बन्धु आदि मत्स्य,

और अपना क्रोध ही बड़वानल है और जिसके भीतर कामरूपी जाल फैला हुआ है, उस संसार-सागर को पारकर मैं अब श्रीहरि के समीप जाऊँगा ॥ ६१ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे युद्धकाण्डे दशमः सर्गः ॥ १०॥

॥एकादशः सर्गः ॥

राम-रावण संग्राम और रावण-वध

श्रीमहादेव उवाच ।
इत्युक्त्वा वचनं प्रेम्णा राज्ञीं मन्दोदरीं तदा ।
रावणः प्रययौ योद्धुं रामेण सह संयुगे ॥ १॥

श्रीमहादेवजी बोले - रावण इस प्रकार प्रेमपूर्वक महारानी मन्दोदरी को समझाकर श्रीरामचन्द्रजी के साथ युद्ध करने के लिए रणभूमि की ओर चल पड़ा ॥१॥

दृढं स्यन्दनमास्थाय वृतो घोरैर्निशाचरैः ।
चक्रैः षोडशभिर्युक्तं सवरूथं सकूबरम् ॥ २॥

वह महाभयंकर राक्षसों से चारो ओर से घिरा हुआ एक सुदृढ़ रथ पर सवार हुआ। उसके रथ में सोलह पहिए तथा वरुण और कुबेर लगे हुए थे ॥२॥

पिशाचवदनैर्घोरैः खरैर्युक्तं भयावहम् ।
सर्वास्त्रशस्त्रसहितं सर्वोपस्करसंयुतम् ॥ ३॥

पिशाच के समान मुखवाले गदहों के रथ में जुते रहने के कारण वह महा भयानक प्रतीत हो रहा था, तथा सभी प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित एवं सभी युद्ध सामग्रियों से सम्पन्न था ॥३॥

निश्चक्रामाथ सहसा रावणो भीषणाकृतिः ।
आयान्तं रावणं दृष्ट्वा भीषणं रणकर्कशम् ॥ ४॥

सन्त्रस्ताभूत्तदा सेना वानरी रामपालिता ॥ ५॥

इस प्रकार वह महाभयंकर राक्षसराज रावण लंका पुरी से निकला। युद्ध में अति निष्ठुर भीषण आकृति वाले रावण को आता हुआ देखकर भगवान् राम से सुरक्षित वानरी सेना भयभीत हो गयी ॥ ४-५ ॥

हनूमानथ चोत्प्लुत्य रावणं योद्धुमाययौ ।
आगत्य हनुमान् रक्षोवक्षस्यतुलविक्रमः ॥ ६॥

मुष्टिबन्धं दृढं बद्ध्वा ताडयामास वहगतः ।
तेन मुष्टिप्रहारेण जानुभ्यामपतद्रथे ॥ ७॥

तदनन्तर हनुमानजी रावण से युद्ध करने के लिए उछल कर रावण के सामने आये। वहाँ आते ही अतुलित पराक्रमी पवनकुमार ने कसकर मुट्ठी बाँध कर बड़े वेग से उस राक्षस रावण की छाती में प्रहार किया। हनुमानजी का मुक्का लगते ही वह रथ में घुटनों के बल गिर गया ॥ ६-७॥

मूर्च्छितोऽथ मुहूर्तेन रावणः पुनरुत्थितः ।
उवाच च हनूमन्तं शूरोऽसि मम सम्मतः ॥ ८॥

मुहूर्त मात्र मूर्छित रहने के बाद रावण पुनः सचेत हुआ। और वह हनुमान जी से बोला-यह मैं मानता हूँ कि तू वास्तव में अति शूरवीर है ॥८॥

हनूमानाह तं धिङ्गां यस्त्वं जीवसि रावण ।
त्वं तावन्मुष्टिना वक्षो मम ताडय रावण ॥ ९॥

हनुमानजी बोले-रे रावण ! मुझे धिक्कार है कि मेरा मुक्का लगने के बाद भी तू जीवित रह गया; अब तुम मेरी छाती में मुक्का घुसा मारो ॥ ९॥

पश्चान्मया हतः प्राणान्मोक्ष्यसे नात्र संशयः ।
तथेति मुष्टिना वक्षो रावणेनापि ताडितः ॥ १०॥

इसके पश्च्यात मेरा मुक्का लगने पर निःसन्देह तू प्राण छोड़ देगा। 'जैसी तुम्हारी इच्छा' यह कहकर रावण ने उसकी छाती में मुक्का मारा ॥ १० ॥

विघूर्णमाननयनः किञ्चित्कश्मलमाययौ ।
सन्ज्ञामवाप्य कपिराड् रावणं हन्तुमुद्यतः ॥ ११॥

रावण का मुक्का लगने के कारण हनुमानजी के, नेत्र घूमने लगे और वह कुछ विचलित हो गए। पुनः चेतना प्राप्त होने पर कपिवर हनुमानजी रावण को मारने के लिये तैयार हुए ॥ ११ ।

ततोऽन्यत्र गतो भीत्या रावणो राक्षसाधिपः ।
हनूमानङ्गदश्चैव नलो नीलस्तथैव च ॥ १२॥

चत्वारः समवहत्याग्रे दृष्ट्वा राक्षसपुङ्गवान् ।
अग्निवर्णं तथा सर्परोमाणं खड्गरोमकम् ॥ १३॥

तथा वृश्चिकरोमाणं निर्जघ्नुः क्रमशोऽसुरान् ।
चत्वारश्चतुरो हत्वा राक्षसान् भीमविक्रमान् ।
सिंहनादं पृथक् कृत्वा रामपार्श्वमुपागताः ॥ १४॥

तदनन्तर राक्षसाधिप रावण भयभीत होकर कहीं दूसरे जगह चला गया। हनुमान् , अंगद, नल और नील इन सभी ने एकत्र होकर अपने सामने अग्निपर्ण, सर्परोमा, खारोमा और वृश्चिकरोमा नामक चार राक्षसों को खड़े देखे। तदनन्तर उन चारो ने क्रमशः इन महाक्रमी राक्षसों को मार दिया और पुनः अलग-अलग गर्जना करते हुए श्रीरघुनाथजी के पास आकर खड़े हो गए ॥ १२-१४ ॥

ततः क्रुद्धो दशग्रीवः सन्दश्य दशनच्छदम् ॥ १५॥

विवृत्य नयने क्रूरो राममेवान्वधावत ।
दशग्रीवो रथस्थस्तु रामं वज्रोपमैः शरैः ॥ १६॥

आजघान महाघोरैर्धाराभिरिव तोयदः ।
रामस्य पुरतः सर्वान् वानरानपि विव्यधे ॥ १७॥

तब अति कर रावण क्रोधित होकर दाँतों से होंठ काटता हुआ आँखें फाड़कर श्रीरामचन्द्रजी की ओर तीव्र गति से आया। रावण उस रथ पर आरूढ होकर, जिस प्रकार मेघ जल की वर्षा करते हैं उसी प्रकार वह महाभयंकर वज्र के समान बाणों से श्रीरामचन्द्रजी पर

प्रहार करने लगा और भगवान् श्रीराम के सामने उसने सभी वानरों को व्यथित कर दिया ॥ १५-१७ ॥

ततः पावकसङ्काशैः शरैः काञ्चनभूषणैः ।
अभ्यवर्षद्रणे रामो दशग्रीवं समाहितः ॥ १८॥

रथस्थं रावणं दृष्ट्वा भूमिष्ठं रघुनन्दनम् ।
आहूय मातलिं शक्रो वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १९॥

तत्पश्चात् भगवान् श्रीरामचन्द्र जी ने सावधान होकर रणभूमि में अग्नि के समान तेजस्वी सुवर्ण भूषित बाणों की वर्षा रावण के ऊपर करने लगे। रावण को रथ पर आरूढ़ होकर और श्रीरामचन्द्रजी को पृथ्वी पर खड़ा करके इन्द्र अपने सारथि मातलि को बुलाकर बोले ॥१८-१९ ॥

रथेन मम भूमिष्ठं शीघ्रं याहि रघूत्तमम् ।
त्वरितं भूतलं गत्वा कुरु कार्यं ममानघ ॥ २०॥

हे अनघ ! देखो, श्रीरघुनाथजी पृथ्वी पर स्थित हैं। शीघ्र तुम मेरा रथ लेकर उनके पास भूलोक में जाओ, यह मेरा कार्य करो॥२०॥

एवमुक्तोऽथ तं नत्वा मातलिर्देवसारथिः ।
ततो हयैश्च संयोज्य हरितैः स्यन्दनोत्तमम् ॥ २१॥

स्वर्गाज्जयार्थं रामस्य ह्युपचक्राम मातलिः ।
प्राञ्जलिर्देवराजेन प्रेषितोऽस्मि रघूत्तम ॥ २२॥

देवराज इन्द्र की यह आज्ञा पाकर देवसारथि मातलि ने उन्हें नमस्कार करके उनके उत्तम रथ में हरे रंग के घोड़े को जोतकर भगवान् श्रीराम के विजय की कामना से स्वर्गलोक से चलकर उनके पास आया और हाथ जोड़कर बोला-हे रघुश्रेष्ठ ! देवराज इन्द्र ने मुझे आपके पास भेजा है ॥ २१-२२ ॥

रथोऽयं देवराजस्य विजयाय तव प्रभो ।
प्रेषितश्च महाराज धनुरैन्द्रं च भूषितम् ॥ २३॥

अभेद्यं कवचं खड्गं दिव्यतूणीयुगं तथा ।
आरुह्य च रथं राम रावणं जहि राक्षसम् ॥ २४॥

हे प्रभो! यह इन्द्र का रथ है। जिसको उन्होंने आपकी विजय के लिये आपके पास भेजा है। हे महाराज! यह अति शोभायमान ऐन्द्र धनुष, अभेद्य कवच, खड्ग और दो दिव्य तूणीर भी उन्होंने आपके लिए भेजा है। हे राम! जिस प्रकार इन्द्र ने मुझ सारथि के साथ वृत्रासुर का वध किया था, उसी प्रकार आप इस रथ पर चढ़कर राक्षस रावण का वध कीजिये। मातलि का यह कथन सुनकर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी उस रथ की परिक्रमा कर नमस्कार किया ॥ २३-२४ ॥

मया सारथिना देव वृत्रं देवपतिर्यथा ।
इत्युक्तस्तं परिक्रम्य नमस्कृत्य रथोत्तमम् ॥ २५॥

आरुरोह रथं रामो लोकाल्लक्ष्म्या नियोजयन् ।
ततोऽभवन्महायुद्धं भैरवं रोमहर्षणम् ॥ २६॥

महात्मनो राघवस्य रावणस्य च धीमतः ।

आग्नेयेन च आग्नेयं दैवं दैवहन राघवः ॥ २७॥

अस्त्रं राक्षसराजस्य जघान परमास्त्रवित् ।
ततस्तु ससृजे घोरं राक्षसं चास्त्रमस्त्रवित् ।
क्रोधेन महताविष्टो रामस्योपरि रावणः ॥ २८॥

श्री राम सम्पूर्ण लोकों को लक्ष्मी से विभूषित करते हुए उस रथ पर सवार हुए। पुनः महात्मा राम और बुद्धिमान रावण का अति भयानक और रोमाञ्चकारी घमासान युद्ध होने लगा। अस्त्र विद्या में निपुण भगवान श्रीरामचन्द्रजी ने रावण के द्वारा छोड़े गये आग्नेयास्त्र को आग्नेयास्त्र से और देवास्त्र को देवास्त्र से काट दिया। तब अति क्रोधित होकर अस्त्र विद्या विशारद रावण श्रीरामचन्द्रजी के ऊपर महाभयंकर राक्षसास्त्र को छोड़ा ॥ २५-२८॥

रावणस्य धनुर्मुक्ताः सर्पा भूत्वा महाविषाः ।
शराः काञ्चनपुङ्खाभा राघवं परितोऽपतन् ॥ २९॥

सुवर्ण पंख की कान्ति वाले रावण के धनुष से छूटे हुए बाण महा विषधर व्याल सर्प होकर श्रीरघुनाथजी के चारो ओर गिरने लगे ॥ २९ ॥

तैः शरैः सर्पवदनैर्वमद्भिरनलं मुखैः ।
दिशश्च विदिशश्चैव व्याप्तास्तत्र तदाभवन् ॥ ३०॥

उन बाणों के मुख से अग्नि की ज्वालाएँ निकल रही थीं। रावण द्वारा छोड़े गये सर्पमुख बाणों से सभी दिशायें एवं विदिशायें व्याप्त हो गयीं ॥३०॥

रामः सर्पांस्ततो दृष्ट्वा समन्तात्परिपूरितान् ।
सौपर्णमस्त्रं तद्घोरं पुरः प्रावर्तयद्रणे ॥ ३१॥

रणक्षेत्र में चतुर्दिक् सर्पों को व्याप्त देखकर श्रीरामचन्द्रजी ने गरुडास्त्र छोडा ॥३१॥

रामेण मुक्तास्ते बाणा भूत्वा गरुडरूपिणः ।
चिच्छिदुः सर्पबाणांस्तान् समन्तात् सर्पशत्रवः ॥ ३२॥

श्रीरामचन्द्रजी के बाण सर्पों के शत्रु गरुड़ होकर सर्परूप बाणों को जहाँ के तहाँ ही काटने लगे ॥३२॥

अस्त्रे प्रतिहते युद्धे रामेण दशकन्धरः ।
अभ्यवर्षत्ततो रामं घोराभिः शरवृष्टिभिः ॥ ३३॥

भगवान् श्रीराम के द्वारा अपने अस्त्रों को इस प्रकार नष्ट हुआ देखकर रावण उनके ऊपर भयंकर बाणों की वर्षा करने लगा ॥३३॥

ततः पुनः शरानीकै राममक्लिष्टकारिणम् ।
अर्दयित्वा तु घोरेण मातलिं प्रत्यविध्यत ॥ ३४॥

तदनन्तर लीला विहारी भगवान श्रीराम को बाणों से व्यथित कर उसने मातलि को वेध दिया ॥३४॥

पातयित्वा रथोपस्थे रथकेतुं च काञ्चनम् ।
ऐन्द्रानश्वानभ्यहनद्रावणः क्रोधमूर्च्छितः ॥ ३५॥

क्रोध से उन्मत्त रावण रथ की सुवर्ण मयी ध्वजा को काटकर उसके पृष्ठ भाग में गिरा दिया और इन्द्र के घोड़ों को भी आहत कर दिया ॥३५॥

विषेदुर्देवगन्धर्वाश्चारणाः पितरस्तथा ।
आर्त्ताकारं हरिं दृष्ट्वा व्यथिताश्च महर्षयः ॥ ३६॥

इस प्रकार भगवान् श्रीरामचन्द्रजी को आपत्ति में पड़ा हुआ देखकर देवता, गन्धर्व, चारण और पितर आदि दुःखित हो गये और महर्षिगण मन ही मन दुःखी होने लगे। ३६ ॥

व्यथिता वानरेन्द्राश्च बभूवुः सविभीषणाः ।
दशास्यो विंशतिभुजः प्रगृहीतशरासनः ॥ ३७॥

ददृशे रावणस्तत्र मैनाक इव पर्वतः ।
रामस्तु भ्रुकुटिं बद्ध्वा क्रोधसंरक्तलोचनः ॥ ३८॥

कोपं चकार सदृशं निर्दहन्निव राक्षसम् ।
धनुरादाय देवहन्द्रधनुराकारमद्भुतम् ॥ ३९॥

गृहीत्वा पाणिना बाणं कालानलसमप्रभम् ।
निर्दहन्निव चक्षुर्भ्यां ददृशे रिपुमन्तिके ॥ ४०॥

विभीषण सहित सभी वानर यूथ पति गण अति चिन्तित हुए। हाथ में धनुष-बाण धारण किया हुए दशमुख और बीस भुजाओं वाला रावण उस समय मैनाक पर्वत की भाँति दिखायी पड़ रहा था। तब भगवान

श्रीराम के नेत्र क्रोध से लाल हो गए और उनकी भौहें चढ़ गयीं तथा उस राक्षस को जला देने के समान क्रोध करते हुए वह इन्द्र-धनुष के समान एक विचित्र धनुष उठाया और कालग्नि सदृश एक तेजोमय बाण हाथ में लेकर अपने नेत्रों से सामने स्थित शत्रु को भस्म करने की भाँति देखा ॥३७-४०॥

पराक्रमं दर्शयितुं तेजसा प्रज्वलन्निव ।
प्रचक्रमे कालरूपी सर्वलोकस्य पश्यतः ॥ ४१॥

कालरूपी भगवान श्रीराम ने अपने तेज से सम्पूर्ण लोकों के सामने अपना पराक्रम दिखलाना आरम्भ किया ॥४१॥

विकृष्य चापं रामस्तु रावणं प्रतिविध्य च ।
हर्षयन् वानरानीकं कालान्तक इवाबभौ ॥ ४२॥

उन्होंने अपना धनुष खींचकर रावण को वेध दिया और सभी वानरी सेना को आनन्दित करते हुए लोक का अन्त करने वाले काल के समान सुशोभित होने लगे॥ ४२ ॥

क्रुद्धं रामस्य वदनं दृष्ट्वा शत्रुं प्रधावतः ।
तत्रसुः सर्वभूतानि चचाल च वसुन्धरा ॥ ४३॥

शत्रु पर आक्रमण करते हुए भगवान् श्रीरामका क्रोधयुक्त मुख देखकर सभी प्राणी भयभीत हो गये और पृथ्वी डगमगाने लगी ॥ ४३ ॥

रामं दृष्ट्वा महारौद्रमुत्पातांश्च सुदारुणान् ।

त्रस्तानि सर्वभूतानि रावणं चाविशद्भयम् ॥ ४४॥

श्रीराम का महारौद्र रूप और दारुण उत्पातों को देखकर समस्त जीव भी संत्रस्त हो गए और रावण के हृदय में भी भय उत्पन्न हो गया ॥४४॥

विमानस्था सुरगणाः सिद्धगन्धर्वकिन्नराः ।
ददृशुः सुमहायुद्धं लोकसंवर्तकोपमम् ।
ऐन्द्रमस्त्रं समादाय रावणस्य शिरोऽच्छिनत् ॥ ४५॥

उस समय देवता सिद्ध, गन्धर्व, किन्नर आदि विमानों पर चढ़कर संसार के महाप्रलय के समान इस घोर युद्ध को देख रहे थे। तब भगवान् श्रीरामचन्द्र जी ने ऐन्द्रास्त्र छोड़कर रावण के सिर को काट दिया ॥४५॥

मूर्धानो रावणस्याथ बहवो रुधिरोक्षिताः ।
गगनात्प्रपतन्ति स्म तालादिव फलानि हि ॥ ४६॥

तब तालवृक्ष से उसके फल गिरने की भाँति रावण का सिर रूधिर से लथ पथ होकर आकाश से गिरने लगा ॥४६॥

न दिनं न च वै रात्रिर्न सन्ध्यां न दिशोऽपि वा ।
प्रकाशन्ते न तद्रूपं दृश्यते तत्र सङ्गरे ॥ ४७॥

उस समय स्पष्ट रूप से दिन, रात्रि, सन्ध्या अथवा दिशाएँ कुछ भी प्रतीत नहीं हो रही थीं और उस संग्राम भूमि में रावण भी दिखायी नहीं पड़ता था ॥४७ ॥

ततो रामो बभूवाथ विस्मयाविष्टमानसः ।
शतमेकोत्तरं छिन्नं शिरसां चैकवर्चसाम् ॥ ४८॥

न चैव रावणः शान्तो दृश्यते जीवितक्षयात् ।
ततः सर्वास्त्रविद्धीरः कौसल्यानन्दवर्धनः ॥ ४९॥

अस्त्रैश्च बहुभिर्युक्तश्चिन्तयामास राघवः ।
यैर्यैर्बाणैर्हता दैत्या महासत्त्वपराक्रमाः ॥ ५०॥

त एते निष्फलं याता रावणस्य निपातने ।
इति चिन्ताकुले रामे समीपस्थो विभीषणः ॥ ५१॥

उवाच राघवं वाक्यं ब्रह्मदत्तवरो ह्यसौ ।
विच्छिन्ना बाहवोऽप्यस्य विच्छिन्नानि शिरांसि च ॥ ५२॥

उत्पत्स्यन्ति पुनः शीघ्रमित्याह भगवानजः ।
नाभिदेशेऽमृतं तस्य कुण्डलाकारसंस्थितम् ॥ ५३॥

तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजी अतिविस्मित हुए। वह चिन्तित होकर सोचने लगे कि समान वर्चस्व वाले एक सौ एक सिरों को मैंने काटा, किन्तु इस पर भी रावण प्राण रहित शान्त दिखायी नहीं पड़ता। तब अनेक अस्त्रों वाले सर्वास्त्र विशारद धीर-वीर कौसल्यानन्दन भगवान श्रीराम सोचने लगे कि जिन बाणों से मैने बड़े बड़े तेजस्वी वीरों और पराक्रमी दैत्यों को मारा था। वह सभी इस रावण को मारने में असमर्थ हो गये। इस प्रकार भगवान् श्रीराम को चिन्तित देखकर उनके समीप स्थित विभीषण ने कहा कि भगवन् ! रावण को ब्रह्माजी ने वर दिया था कि

इसकी भुजाएँ और सिर अनेकों बार काटने पर भी शीघ्र नए उत्पन्न हो जायेंगे। इसकी नाभि में कुण्डलाकार रूप में अमृत स्थित है॥ ४८-५३ ॥

तच्छोषयानलास्त्रेण तस्य मृत्युस्ततो भवहत् ।
विभीषणवचः श्रुत्वा रामः शीघ्रपराक्रमः ॥ ५४॥

पावकास्त्रेण संयोज्य नाभिं विव्याध रक्षसः ।
अनन्तरं च चिच्छेद शिरांसि च महाबलः ॥ ५५॥

बाहूनपि च संरब्धो रावणस्य रघूत्तमः ।
ततो घोरां महाशक्तिमादाय दशकन्धरः ॥ ५६॥

विभीषणवधार्थाय चिक्षेप क्रोधविह्वलः ।
चिच्छेद राघवो बाणैस्तां शितैर्हेमभूषितैः ॥ ५७॥

आग्नेयास्त्र द्वारा उस अमत को आप सखा दीजिये। तब रावण की मृत्यु हो जायेगी। विभीषण का यह कथन सुनकर तीव्र गामी भगवान श्रीराम अपने धनुष पर आग्नेयास्त्र चढ़ाकर उस राक्षस की नाभि में बाण मारे और महाबलो रघुनाथजी क्रोधित हो उसके शिर और भुजाएँ काट दिये। तदनन्तर रावण अति क्रोधित हो विभीषण को मारने के लिये महाभयानक शक्ति छोड़ा, परन्तु भगवान् श्रीराम शीघ्र ही अपने सुवर्ण से सुशोभित तीक्ष्ण बागों से उस शक्ति को काट दिये ॥ ५४-५७ ॥

दशग्रीवशिरश्छेदात्तदा तेजो विनिर्गतम् ।
म्लानरूपो बभूवाथ छिन्नैः शीर्षैर्भयङ्करैः ॥ ५८॥

रावण का शिर कट जानेपर वह निस्तेज हो गया और शिरों के न रहने से वह विरूप दिखायी पड़ने लगा ॥५८॥

एकेन मुख्यशिरसा बाहुभ्यां रावणो बभौ ।
रावणस्तु पुनः क्रुद्धो नानाशस्त्रास्त्रवृष्टिभिः ॥ ५९॥

ववर्ष रामं तं रामस्तथा बाणैर्ववर्ष च ।
ततो युद्धमभूद्घोरं तुमुलं लोमहर्षणम् ॥ ६०॥

तदनन्तर रावण का एक मुख शिर और दो भुजाएँ अवशिष्ट रह गयीं। तब रावण भी अति क्रोधित होकर भगवान् श्रीराम पर विविध प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा करने लगा। भगवान श्रीराम भी इसी प्रकार रावण पर भयंकर बाणों की वर्षा करने लगे तदनन्तर उन दोनों के मध्य घमासान युद्ध होने लगा ॥५९-६०॥

अथ संस्मारयामास मातली राघवं तदा ।
विसृजास्त्रं वधायास्य ब्राह्मं शीघ्रं रघूत्तम ॥ ६१॥

तदनन्तर मातलि ने भगवान् श्रीराम को स्मरण दिलाया कि हे रघुश्रेष्ठ ! रावण का वध करने के लिये शीघ्र ही आप ब्रह्मास्त्र छोड़िये ॥६१॥

विनाशकालः प्रथितो यः सुरैः सोऽद्य वर्तते ।
उत्तमाङ्गं न चैतस्य छेत्तव्यं राघव त्वया ॥ ६२॥

इसके नाश का देवताओं द्वारा निश्चित किया गया समय आ गया है। हे रघुनन्दन! आप इसका मस्तक मत काटिएगा ॥ ६२॥

नैव शीर्ष्णि प्रभो वध्यो वध्य एव हि मर्मणि ।
ततः संस्मारितो रामस्तेन वाक्येन मातलेः ॥ ६३॥

जग्राह स शरं दीप्तं निःश्वसन्तमिवोरगम् ।
यस्य पार्श्वे तु पवनः फले भास्करपावकौ ॥ ६४॥

शरीरमाकाशमयं गौरवह मेरुमन्दरौ ।
पर्वस्वपि च विन्यस्ता लोकपाला महौजसः ॥ ६५॥

हे प्रभो! यह सिर काटने से नहीं मरेगा। इसका मर्मस्थान विद्ध होने पर ही यह मर सकता है। मातलि द्वारा यह कहने पर भगवान् श्रीराम फुफकारते हुए सर्प की भाँति परमतेजस्वी एक बाण निकाला। उस बाण के पार्श्वभाग में पवन, अग्रभाग पर सूर्य और अग्नि, गुरुता में सुमेरू और मन्दराचल तथा गाँठों में महातेजस्वी लोकपालों की स्थापना की गयी थी और वह बाण स्वरूप में आकाशमय था॥६३-६५॥

जाज्वल्यमानं वपुषा भातं भास्करवर्चसा ।
तमुग्रमस्त्रं लोकानां भयनाशनमद्भुतम् ॥ ६६॥

अभिमन्त्र्य ततो रामस्तं महेषुं महाभुजः ।
वहदप्रोक्तेन विधिना सन्दधे कार्मुके बली ॥ ६७॥

अति देदीप्यमान होने से वह सूर्य के समान प्रकाशित था। महाबाहु भगवान् श्रीराम सम्पूर्ण लोक पालों के भय को दूर करने वाले अति

उग्र उस अद्भुत पंख को धनुर्वेद की विधि से अभिमन्त्रित कर अपने धनुष पर चढ़ाया ॥ ६६-६७ ॥

तस्मिन् सन्धीयमाने तु राघवहण शरोत्तमे ।
सर्वभूतानि वित्रेसुश्चचाल च वसुन्धरा ॥ ६८॥

भगवान् श्रीराम द्वारा उस उत्तम बाण के चढ़ाये जाने से सभी प्राणी भयभीत हो गये और और समस्त पृथ्वी काँपने लगी॥ ६८॥

स रावणाय सङ्क्रुद्धो भृशमानम्य कार्मुकम् ।
चिक्षेप परमायत्तस्तमस्त्रं मर्मघातिनम् ॥ ६९॥

तत्क्षण ही अति सावधानी से मर्मघातक उस बाण को विधिवत् खींचकर रावण पर छोड़ दिया ॥ ६९॥

स वज्र इव दुर्धर्षो वज्रपाणिविसर्जितः ।
कृतान्त इव घोरास्यो न्यपतद्रावणोरसि ॥ ७०॥

काल के समान भयंकर मुख वाले इन्द्र के द्वारा छोड़े हुए वज्र के समान असह्य वह बाण रावण के हृदय में लगा ॥ ७० ॥

स निमग्नो महाघोरः शरीरान्तकरः परः ।
बिभेद हृदयं तूर्णं रावणस्य महात्मनः ॥ ७१॥

शरीर का अन्त करने वाला वह महाभयङ्कर बाण ने उस विशाल शरीर वाले रावण के शरीर में प्रवेश किया और शीघ्र ही उसने रावण का हृदय विदीर्ण कर दिया ॥७१ ॥

रावणस्याहरत्प्राणान् विवहश धरणितले ।
स शरो रावणं हत्वा रामतूणीरमाविशत् ॥ ७२॥

वह रावण के प्राणों का अन्तकर पृथ्वी में प्रवेश कर गया। इस प्रकार रावण का वध हो जाने के बाद पुनः वह भगवान् श्रीराम के तरकस में प्रविष्ट हो गया ॥ ७२ ॥

तस्य हस्तात्पपाताशु सशरं कार्मुकं महत् ।
गतासुर्भ्रमिवहगेन राक्षसेन्द्रोऽपतद्भुवि ॥ ७३॥

बाण लगते ही रावण का विशाल धनुष, बाण सहित शीघ्र ही उसके हाथ से गिर गया और वह राक्षसराज रावण प्राण रहित घूमता हुआ पृथ्वी पर गिर पड़ा॥७३॥

तं दृष्ट्वा पतितं भूमौ हतशेषाश्च राक्षसाः ।
हतनाथा भयत्रस्ता दुद्रुवुः सर्वतोदिशम् ॥ ७४॥

उसे पृथ्वीपर गिरा हुआ देखकर मरने से बचे हुए सभी राक्षस अनाथ होने से भयभीत होकर चारो ओर भाग गये ॥ ७४ ॥

दशग्रीवस्य निधनं विजयं राघवस्य च ।
ततो विनेदुः संहृष्टा वानरा जितकाशिनः ॥ ७५॥

वदन्तो रामविजयं रावणस्य च तद्वधम् ।
अथान्तरिक्षे व्यनदत्सौम्यस्त्रिदशदुन्दुभिः ॥ ७६॥

तत्पश्चात् विजयी वानरगण अति प्रसन्न होकर श्रीरामचन्द्रजी की जय और रावण की पराजय का वर्णन करते हुए "भगवान् श्रीराम की जय और रावण का क्षय" शब्द करने लगे तथा आकाश मण्डल में दिव्य दुन्दुभियों का गम्भीर शब्दनाद होने लगा ॥ ७५-७६ ॥

पपात पुष्पवृष्टिश्च समन्ताद्राघवोपरि ।
तुष्टुवुर्मुनयः सिद्धाश्चारणाश्च दिवौकसः ॥ ७७॥

भगवान श्रीराम पर चारो ओर से फूलों की वर्षा होने लगी तथा मुनि, सिद्ध, चारण और देवगण उनकी स्तुति करने लगे॥ ७७ ॥

अथान्तरिक्षे ननृतुः सर्वतोऽप्सरसो मुदा ।
रावणस्य च देहोत्थं ज्योतिरादित्यवत्स्फुरत् ॥ ७८॥

प्रविवहश रघुश्रेष्ठं देवानां पश्यतां सताम् ।
देवा ऊचुरहो भाग्यं रावणस्य महात्मनः ॥ ७९॥

तदनन्तर प्रसन्नता पूर्वक सब ओर अप्सराएँ आकाश में नृत्य करने लगीं। तत्क्षण ही रावण के शरीर से सूर्य के समान प्रकाशमान एक तेज निकला और वह देवताओं के देखते-देखते श्रीरघुनाथजी में समाविष्ट हो गया। यह देखकर देवगण कहने लगे-महात्मा रावण अति भाग्यशाली है ॥ ७८-७९॥

वयं तु सात्त्विका देवा विष्णोः कारुण्यभाजनाः ।
भयदुःखादिभिर्व्याप्ताः संसारे परिवर्तिनः ॥ ८०॥

सत्त्वगुण प्रधान हम देवगण हैं और भगवान् विष्णु के कृपा पात्र हैं, परन्तु हम भय तथा दुःख से व्याप्त होकर संसार में भटकते हैं ॥ ८०॥

अयं तु राक्षसः क्रूरो ब्रह्महाऽतीव तामसः ।
परदाररतो विष्णुद्वेषी तापसहिंसकः ॥ ८१॥

पश्यत्सु सर्वभूतेषु राममेव प्रविष्टवान् ।
एवं ब्रुवत्सु देवहषु नारदः प्राह सुस्मितः ॥ ८२॥

यह रावण महाकर राक्षस, ब्रह्मघाती, अति तमोगुणी, परस्त्री परायण, भगवद् विरोधी और तपस्वियों को पीड़ा देने वाला है। परन्तु सबके देखते-देखते यह भगवान् में लीन हो गया। इस प्रकार देवताओं के कहने पर मुस्कुराते हुए नारदजी ने कहा ॥ ८१-८२ ॥

शृणुतात्र सुरा यूयं धर्मतत्त्वविचक्षणाः ।
रावणो राघवद्वेषादनिशं हृदि भावयन् ॥ ८३॥

भृत्यैः सह सदा रामचरितं द्वेषसंयुतः ।
श्रुत्वा रामात्स्वनिधनं भयात्सर्वत्र राघवम् ॥ ८४॥

पश्यन्ननुदिनं स्वप्ने राममेवानुपश्यति ।
क्रोधोऽपि रावणस्याशु गुरुबोधाधिकोऽभवत् ॥ ८५॥

देवगण ! आप लोग धर्म तत्त्व के विधिवत् ज्ञाता हैं। अत: मेरा कथन सुनिये। श्रीरघुनाथजी से द्वेष करने के कारण रावण अहर्निश अपने सेवकों सहित सदा द्वेष पूर्वक अपने हृदय में श्रीरामचन्द्रजी के चरित्र

की ही भावना रखता था, तथा श्रीराम चन्द्रजी के द्वारा अपना वध सुनकर स्वप्न एवं सर्वत्र श्रीराम को ही देखता था। रावण का क्रोध भी इसप्रकार कहीं गुरु से अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ ॥८३-८५॥

रामेण निहतश्चान्ते निर्धूताशेषकल्मषः ।
रामसायुज्यमेवाप रावणो मुक्तबन्धनः ॥ ८६॥

भगवान् श्रीराम के द्वारा स्वयं मारे जाने से उसके सभी पाप धुल गये थे और बन्धन रहित होने के कारण उसने श्रीराम के सायुज्य पद को प्राप्त किया ॥ ८६ ॥

पापिष्ठो वा दुरात्मा परधनपरदारेषु सक्तो यदि स्या-
न्नित्यं स्नेहाद्भयाद्वा रघुकुलतिलकं भावयन् सम्परेतः ।
भूत्वा शुद्धान्तरङ्गो भवशतजनितानेकदोषैर्विमुक्तः
सद्यो रामस्य विष्णोः सुरवरविनुतं याति वैकुण्ठमाद्यम् ॥ ८७॥

पूर्व समय का महापापी, दुराचारी परधन और परस्त्री लम्पट, यदि कोई भी हो तो भी अहर्निश प्रेम अथवा भय से रघुकुल तिलक भगवान श्रीराम का स्मरण करता हुआ प्राण त्याग करने पर शुद्ध चित्त होकर सैकड़ों जन्मों के उपार्जित विविध दुःखों से निवृत्त होकर शीघ्र ही विष्णु स्वरूप भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के देवेन्द्रवन्दित आदि स्थान वैकुण्ठ में चला जाता है॥ ८७ ॥

हत्वा युद्धे दशास्यं त्रिभुवनविषमं वामहस्तेन चापं
भुमौ विष्टभ्य तिष्ठन्नितरकरधृतं भ्रामयन् बाणमेकम् ।
आरक्तोपान्तनेत्रः शरदलितवपुः सूर्यकोटिप्रकाशो
वीरश्रीबन्धुराङ्गस्त्रिदशपतिनुतः पातु मां वीररामः ॥ ८८॥

जो त्रिलोकी के कण्टक स्वरूप रावण को युद्ध में मारकर बाये-हाथ से धनुष को पृथ्वी पर अवलम्बित कर खड़े और दाहिने हाथ में एक बाण लेकर उसे मार रहे हैं तथा जिनके नेत्रों के उपान्त प्रदेश इषत् अरुण हो रहे हैं और बाणों से छिन्न-भिन्न हुआ उनका शरीर कोटि सूर्य के समान प्रकाशित हो रहा है। तथा उन्नत शरीर वाले वीरश्री से सुशोभित और देवराज इन्द्र द्वारा वन्दित वीरवर भगवान् श्रीराम मेरी रक्षा करें ॥ ८८ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे युद्धकाण्डे
एकादशः सर्गः ॥ ११॥

॥द्वादशः सर्गः ॥

विभीषण को लङ्का का राज्याभिषेक और सीताजी की अग्नि परीक्षा

श्रीमहादेव उवाच ।
रामो विभीषणं दृष्ट्वा हनूमन्तं तथाङ्गदम् ।
लक्ष्मणं कपिराजं च जाम्बवन्तं तथा परान् ॥ १॥

परितुष्टेन मनसा सर्वानेवाब्रवीद्वचः ।
भवतां बाहुवीर्येण निहतो रावणो मया ॥ २॥

श्रीमहादेवजी बोले-विभीषण, हनुमान , अंगद, लक्ष्मण, वानरराज सुग्रीव, जाम्बवान् तथा अपर वीरों को देखकर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ने प्रसन्न मन सबसे कहा-आप लोगों के पराक्रम से मैंने आज रावण को मार दिया ॥ १-२॥

कीर्तिः स्थास्यति वः पुण्या यावच्चन्द्रदिवाकरौ
कीर्तयिष्यन्ति भवतां कथां त्रैलोक्यपावनीम् ॥ ३॥

मयोपेतां कलिहरां यास्यन्ति परमां गतिम् ।
एतस्मिन्नन्तरे दृष्ट्वा रावणं पतितं भुवि ॥ ४॥

मन्दोदरीमुखाः सर्वाः स्त्रियो रावणपालिताः ।
पतिता रावणस्याग्रे शोचन्त्यः पर्यदेवयन् ॥ ५॥

जब तक सूर्य और चन्द्र विद्यमान रहेंगे, तबतक आप लोगों की पवित्र कीर्ति स्थिर रहेगी और जो प्राणी मेरे सहित आपलोगों की कलि कलुष नाशिनी त्रैलोक्य पावनी पवित्र कथा का संकीर्तन करेंगे। वह परम-पद को प्राप्त करेंगे। इसी समय ही रावण को पृथ्वी पर पड़ा देखकर रावण के द्वारा पालित मन्दोदरी आदि स्त्रियाँ उसके समीप गिर गयीं और शोक पूर्वक विलाप करने लगीं ॥ ३-५॥

विभीषणः शुशोचार्तः शोकेन महतावृतः ।
पतितो रावणस्याग्रे बहुधा पर्यदेवयत् ॥ ६॥

विभीषण महान् शोकाकुल और आर्त होकर अति चिन्तित हुए और रावण के समीप गिरकर विविध भाँति विलाप करने लगे ॥६॥

रामस्तु लक्ष्मणं प्राह बोधयस्व विभीषणम् ।
करोतु भ्रातृसंस्कारं किं विलम्बेन मानद ॥ ७॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मण से बोले-हे मानद ! विभीषण को समझाओ, वह भाई का संस्कार करे; विलम्ब करने से क्या लाभ १॥ ७ ॥

स्त्रियो मन्दोदरीमुख्याः पतिता विलपन्ति च ।
निवारयतु ताः सर्वा राक्षसी रावणप्रियाः ॥ ८॥

तथा मन्दोदरी आदि स्त्रियाँ गिरती हुई विलाप करती हैं; उन रावण की प्रेयसियों को समझा कर रोके ॥ ८॥

एवमुक्तोऽथ रामेण लक्ष्मणोऽगाद्विभीषणम् ।

उवाच मृतकोपान्ते पतितं मृतकोपमम् ॥ ९॥

श्रीरघुनाथजी के यह कहने पर लक्ष्मणजी रावण के मृतक शरीर के पास मृतक को भाँति पड़े हुए विभीषण के समीप आये और विभीषण से बोले ॥ ९॥

शोकेन महताविष्टं सौमित्रिरिदमब्रवीत् ।
यं शोचसि त्वं दुःखेन कोऽयं तव विभीषण ॥ १०॥

महान् शोकाकुल विभीषण से लक्ष्मणजी बोले कि विभीषण ! यह तुम्हारा कौन है, जिसके लिये तुम दुःखी होकर शोकाकुल हो ? ॥ १० ॥

त्वं वास्य कतमः सृष्टेः पुरेदानीमतः परम् ।
यद्वत्तोयौघपतिताः सिकता यान्ति तद्वशाः ॥ ११॥

संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते तथा कालेन देहिनः ।
यथा धानासु वै धाना भवन्ति न भवन्ति च ॥ १२॥

एवं भूतेषु भूतानि प्रेरितानीशमायया ।
त्वं चेमे वयमन्ये च तुल्याः कालवशोद्भवाः ॥ १३॥

तथा तुम अपने जन्म से पूर्व, इस समय अथवा इससे आगे इसका क्या हो? जल के प्रवाह में पड़ी हुई बालू जिस प्रकार प्रवाह के अधीन हो आती-जाती रहती है, उसी प्रकार शरीरी प्राणी काल के वशीभूत होकर संयोग अथवा वियोग को प्राप्त करता है। जिस प्रकार बीजों से दूसरे बीज उत्पन्न होते हैं और नष्ट भी हो जाते हैं, उसी प्रकार

भगवान् की माया से प्रेरित होकर सभी प्राणी दूसरे प्राणियों से उत्पन्न होते हैं और मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं। तुम, यह सब और हमसब काल के वशीभूत होकर उत्पन्न हुए है ॥११-१३॥

जन्ममृत्यू यदा यस्मात्तदा तस्माद्भविष्यतः ।
ईश्वरः सर्वभूतानि भूतैः सृजति हन्त्यजः ॥ १४॥

आत्मसृष्टैरस्वतन्त्रैर्निरपेक्षोऽपि बालवत् ।
देहेन देहिनो जीवा देहाद्देहोऽभिजायते ॥ १५॥

बीजादेव यथा बीजं देहान्य इव शाश्वतः ।
देहिदेहविभागोऽयमविवहककृतः पुरा ॥ १६॥

जिस प्रकार जन्म-मृत्यु होना निश्चित है, उसी प्रकार उसी से ही यह होंगे; किसी प्रकार की इच्छा न रहते हुए भी अजन्मा ईश्वर बालक की भाँति स्वनिर्मित परतन्त्र प्राणियों से सभी प्राणियों को उत्पन्न करता है और उन्हें समाप्त कर देता है। देह के संयोग के कारण ही जीव देही कहा जाता है। जिस प्रकार एक बीज से दूसरा बीज उत्पन्न होता है, उसी प्रकार देह अन्य देह उत्पन्न होता है। सनातन आत्मा देह से पृथक् है। देह और देही का विभाग तो वास्तव में अविवेक का कारण ही है ॥ १४-१६ ॥

नानात्वं जन्म नाशश्च क्षयो वृद्धिः क्रियाफलम् ।
द्रष्टुराभान्त्यतद्धर्मा यथाग्नेर्दारुविक्रियाः ॥ १७॥

अग्नि में लकड़ी के विकार जिस प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं, उसी प्रकार साक्षी आत्मा में भिन्नता, जन्म, मरण, क्षय, वृद्धि, कर्म और कर्मों के फल प्रतीत होते हैं; परन्तु ये वास्तव में उसके धर्म नहीं हैं ॥ १७ ॥

त इमे देहसंयोगादात्मना भान्त्यसद्ग्रहात् ।
यथा यथा तथा चान्यद्ध्यायतोऽसत्सदाग्रहात् ॥ १८॥

मिथ्या भ्रान्ति से ही आत्मा के साथ देह का संयोग मानने से सम्पूर्ण धर्म जिस प्रकार सत्य जैसा भासित होता है, उसी प्रकार सत्य आत्मा का निश्चय ही देह से सम्बन्ध है यह ध्यान करने से असत्य भासित होने लगता है ॥ १८॥

प्रसुप्तस्यानहम्भावात्तदा भाति न संसृतिः ।
जीवतोऽपि तथा तद्वद्विमुक्तस्यानहङ्कृतेः ॥ १९॥

प्रगाढ़ निद्रा में शयन किये व्यक्ति को अहंकार का अभाव होने से अखिल प्रपञ्च की प्रतीति नहीं होती, उसी प्रकार जीवित रहते हुए भी अहङ्कार रहित मुक्त पुरुष को प्रपञ्च की प्रतीति नहीं होती ॥१९॥

तस्मान्मायामनोधर्मं जह्यहम्ममताभ्रमम् ।
रामभद्रे भगवति मनो धेह्यात्मनीश्वरे ॥ २०॥

सर्वभूतात्मनि परे मायामानुषरूपिणि ।
बाह्येन्द्रियार्थसम्बन्धात्त्याजयित्वा मनः शनैः ॥ २१॥

अत: तुम अहंकार, ममता एवं भ्रमरूप माया मय मन के धर्मों का त्याग करो और इन्द्रियों के बाह्य विषयों से अपने मन का सम्बन्ध

त्याग कर अपने आत्मस्वरूप, सर्वान्तर्यामी परमेश्वर माया-मानव रूप भगवान् श्रीराम में अपना मन स्थिर करो ॥२०-२१ ॥

तत्र दोषान् दर्शयित्वा रामानन्दे नियोजय ।
देहबुद्ध्या भवहद्भ्राता पिता माता सुहृत्प्रियः ॥ २२॥

बाह्य विषयों में दोष चिन्तन कर मन को रामानन्द में लीन करो; माता, पिता, भाई, सुहृद् सम्बन्धी आदि देह-बुद्धि से ही होते हैं ॥ २२॥

विलक्षणं यदा देहाज्ज्ञानात्यात्मानमात्मना ।
तदा कः कस्य वा बन्धुर्भ्राता माता पिता सुहृत् ॥ २३॥

अपने विशुद्ध अन्तः करण से मनुष्य जिस प्रकार आत्मा को देह से पृथक् समझ लेता है, उसी प्रकार कौन व्यक्ति किसका माता, पिता, भ्राता, बन्धु अथवा सुहृद् है ? ॥२३॥

मिथ्याज्ञानवशाज्जाता दारागारादयः सदा ।
शब्दादयश्च विषया विविधाश्चैव सम्पदः ॥ २४॥

बलं कोशो भृत्यवर्गो राज्यं भूमिः सुतादयः ।
अज्ञानजत्वात्सर्वे ते क्षणसङ्गमभङ्गुराः ॥ २५॥

स्त्री, गृह आदि तथा शब्द के विषयीभूत वस्तु, विविध संपत्तियां, बल, कोष, सेवक, राज्य, पृथ्वी, पुत्र आदि सभी मिथ्या ज्ञान से ही हैं और अज्ञान जन्य होने से क्षण भंगुर हैं ॥ २४-२५॥

अथोत्तिष्ठ हृदा रामं भावयन् भक्तिभावितम् ।

अनुवर्तस्व राज्यादि भुञ्जन् प्रारब्धमन्वहम् ॥ २६॥

अत: अब खड़े हो जाओ और हृदय में भक्ति भावित भगवान् श्रीराम का स्मरण करते हुए निरन्तर प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त हुए भोगों में तत्पर होकर राज्यादि का पालन करो ॥ २६ ॥

भूतं भविष्यदभजन् वर्तमानमथाचरन् ।
विहरस्व यथान्यायं भवदोषैर्न लिप्यसे ॥ २७॥

भूत और भविष्य की चिन्ता न करते हुए वर्तमान का अनुगमन करते हुए न्यायोचित आचरण करो। ऐसा करने से तुम संसारिक दोषों से लिप्त नहीं होंगे ॥ २७ ॥

आज्ञापयति रामस्त्वां यद्भ्रातुः साम्परायिकम् ।
तत्कुरुष्व यथाशास्त्रं रुदतीश्चापि योषितः ॥ २८॥

निवारय महाबुद्धे लङ्कां गच्छन्तु मा चिरम् ।
श्रुत्वा यथावद्वचनं लक्ष्मणस्य विभीषणः ॥ २९॥

हे महाबुद्धे! तुम्हें भगवान श्रीराम आज्ञा देते हैं कि अपने भाई का दैहिक संस्कार शास्त्रा नुसार करो और रोती हुई इन स्त्रियों को यहाँ से पृथक करो, ये लङ्कापुरी में जाय; इस कार्य में विलम्ब न हो, इस प्रकार लक्ष्मणजी का यथार्थ कथन सुनकर ॥ २८-२९ ॥

त्यक्त्वा शोकं च मोहं च रामपार्श्वमुपागमत् ।
विमृश्य बुद्ध्या धर्मज्ञो धर्मार्थसहितं वचः ॥ ३०॥

रामस्यैवानुवृत्त्यर्थमुत्तरं पर्यभाषत ।
नृशंसमनृतं क्रूरं त्यक्तधर्मव्रतं प्रभो ॥ ३१॥

शोक और मोह रहित हो विभीषण भगवान् श्रीराम के पास आये। अपने मन में सोच विचार कर धर्मज्ञ विभीषण ने श्रीरामचन्द्रजी की अनुवृत्ति करने के लिये धर्मार्थ सहित उत्तर दिया-प्रभो! यह नृशंस, अनृत, कर, धर्मब्रत का त्याग करने वाला और पर स्त्री लम्पट है। ॥३०-३१॥

नार्होऽस्मि देव संस्कर्तुं परदाराभिमर्शिनम् ।
श्रुत्वा तद्वचनं प्रीतो रामो वचनमब्रवीत् ॥ ३२॥

मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम् ।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव ॥ ३३॥

अत: इसका अन्य संस्कार करने में मै असमर्थ हूँ। विभीषण का यह कथन सुनकर श्रीरामचन्द्रजी ने प्रसन्न होकर कहा-वैर तो मरण काल तक ही होता है। अब हम लोगों का कार्य सिद्ध हो गया, यह जिस प्रकार यह आपका है उसी प्रकार अब मेरा भी है। अत: इसका और्व दैहिक संस्कार सम्पन्न करो ॥ २८-३३॥

रामाज्ञां शिरसा धृत्वा शीघ्रमेव विभीषणः ।
सान्त्ववाक्यैर्महाबुद्धिं राज्ञीं मन्दोदरीं तदा ॥ ३४॥

सान्त्वयामास धर्मात्मा धर्मबुद्धिर्विभीषणः ।
त्वरयामास धर्मज्ञः संस्कारार्थं स्वबान्धवान् ॥ ३५॥

चित्यां निवहश्य विधिवत्पितृमेधविधानतः ।
आहिताग्नेर्यथा कार्यं रावणस्य विभीषणः ॥ ३६॥

तथैव सर्वमकरोद्बन्धुभिः सह मन्त्रिभिः ।
ददौ च पावकं तस्य विधियुक्तं विभीषणः ॥ ३७॥

पितृमेध की विधि से विधिवत शव को चिता पर रखकर अग्निहोत्र की विधि से अपने बन्धु बान्धवों और मन्त्रियों सहित उन्होंने रावण का अन्त्येष्टि संस्कार सम्पन्न किया। तथा विधिवत् रूप से विभीषण ने अग्नि दान दिया ॥ ३६-३७ ॥

स्नात्वा चैवार्द्रवस्त्रेण तिलान् दर्भाभिमिश्रितान् ।
उदकेन च सम्मिश्रान् प्रदाय विधिपूर्वकम् ॥ ३८॥

तत्पश्चात् स्नान कर भीगे वस्त्र से ही तिल और दूर्वा मिश्रितजल से विधिपूर्वक तिलाञ्जली दिये ॥ ३८॥

प्रदाय चोदकं तस्मै मुर्ध्ना चैनं प्रणम्य च ।
ताः स्त्रियोऽनुनयामास सान्त्वमुक्त्वा पुनः पुनः ॥ ३९॥

जलांजलि देने के पश्च्यात पृथ्वी पर सिर रखकर उसे प्रणाम किया और स्त्रियों को बारम्बार सांत्वना प्रदान की ॥ ३९ ॥

गम्यतामिति ताः सर्वा विविशुर्नगरं तदा ।
प्रविष्टासु च सर्वासु राक्षसीषु विभीषणः ॥ ४०॥

रामपार्श्वमुपागत्य तदातिष्ठद्विनीतवत् ।

रामोऽपि सह सैन्येन ससुग्रीवः सलक्ष्मणः ॥ ४१॥

हर्षं लेभे रिपून् हत्वा यथा वृत्रं शतक्रतुः ।
मातलिश्च तदा रामं परिक्रम्याभिवन्द्य च ॥ ४२॥

अनुज्ञातश्च रामेण ययौ स्वर्गं विहायसा ।
ततो हृष्टमना रामो लक्ष्मणं चेदमब्रवीत् ॥ ४३॥

'अब तुम सब जाओ' यह कहने पर वह समस्त स्त्रियाँ लंका पुरी में चली गयीं। सभी स्त्रियों के लंका में जाने के अनन्तर विभीषण अति विनम्रभाव से भगवान श्रीराम के सामने खड़े हो गये । जिस प्रकार वृत्रासुर का नाश करने पर इन्द्र को आनन्द हुआथा, उसी प्रकार शत्रुओं का नाश करने के अनन्तर सेना, सुग्रीव तथा लक्ष्मण सहित भगवान् श्रीराम सबको अत्यंत आनन्द हुआ। तत्पश्चात् भगवान् श्रीरामचन्द्रजी की परिक्रमा और उन्हें प्रणाम कर मातलि आकाशमार्ग से स्वर्गलोक को चला गया। तत्पश्चात् प्रसन्न मन से श्रीरघुनाथजी लक्ष्मणजी से बोले ॥४३-४३ ॥

विभीषणाय मे लङ्काराज्यं दत्तं पुरैव हि ।
इदानीमपि गत्वा त्वं लङ्कामध्ये विभीषणम् ॥ ४४॥

अभिषेचय विप्रैश्च मन्त्रवद्विधिपूर्वकम् ।
इत्युक्तो लक्ष्मणस्तूर्णं जगाम सह वानरैः ॥ ४५॥

लङ्कां सुवर्णकलशैः समुद्रजलसंयुतैः ।
अभिषेकं शुभं चक्रे राक्षसेन्द्रस्य धीमतः ॥ ४६॥

विभीषण को तो लंका का राज्य हमने पहले ही दे दिया है, किन्तु अब तुम लंका में जाकर ब्राह्मणों द्वारा मन्त्रपाठ पूर्वक विधिवत् विभीषण का राज्याभिषेक कराओ ; भगवान् श्रीरामचन्द्रजी की यह आज्ञा प्राप्तकर लक्ष्मणजी शीघ्र ही लंकापुरी में गये और समुद्र के जल से पूरित सुवर्ण कलशों से महाबुद्धिमान् राक्षसाधिप विभीषण का राज्याभिषेक किया ॥ ४४-४६ ॥

ततः पौरजनैः सार्धं नानोपायनपाणिभिः ।
विभीषणः ससौमित्रिरुपायनपुरस्कृतः ॥ ४७॥

दण्डप्रणाममकरोद्रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।
रामो विभीषणं दृष्ट्वा प्राप्तराज्यं मुदान्वितः ॥ ४८॥

कृतकृत्यमिवात्मानममन्यत सहानुजः ।
सुग्रीवं च समालिङ्ग्य रामो वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ४९॥

तदनन्तर नगर निवासियों सहित हाथों में विविध उपहार सामग्रियों को लिये लक्ष्मणजी के साथ विभीषण जी ने लीलाविहारी भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के आगे बहुत भेंट सामग्री सामने रखकर दण्डवत प्रणाम किया। विभीषण का राज्य प्राप्त होना देखकर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अति प्रसन्न हुए और अनुज लक्ष्मण सहित अपने को कृत-कृत्य मानने लगे। तब भगवान् श्रीरामचन्द्रजी सुग्रीव को हृदय से लगाकर कहने लगे॥४७-४९॥

सहायेन त्वया वीर जितो मे रावणो महान् ।
विभीषणोऽपि लङ्कायामभिषिक्तो मयानघ ॥ ५०॥

हे वीर ! तुम्हारी सहायता से ही हमने महाबली रावण पर विजय प्राप्त की है और हे अनघ ! उसी से ही विभीषण को लंका का राज्य प्राप्त हुआ हैं ॥५०॥

ततः प्राह हनूमन्तं पार्श्वस्थं विनयान्वितम् ।
विभीषणस्यानुमतेर्गच्छ त्वं रावणालयम् ॥ ५१॥

जानक्यै सर्वमाख्याहि रावणस्य वधादिकम् ।
जानक्याः प्रतिवाक्यं मे शीघ्रमेव निवहदय ॥ ५२॥

तदनन्तर श्री राम ने अति विनीत भाव से समीप में ही खड़े हनुमान जी से कहा-विभीषण की सम्मति से तुम रावण के महल में जाओ और रावण वध का सम्पूर्ण वृत्तान्त जानकी जी को सुनाओ। और वह जो उत्तर दें मुझसे कहना ॥५१-५२ ॥

एवमाज्ञापितो धीमान् रामेण पवनात्मजः ।
प्रविवहश पुरीं लङ्कां पूज्यमानो निशाचरैः ॥ ५३॥

इस प्रकार भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के कहने पर बुद्धिमान पवनात्मज हनुमानजी राक्षसों द्वारा पूजित होकर लंकापुरी में प्रवेश किया ॥ ५३॥

प्रविश्य रावणगृहं शिंशपामूलमाश्रिताम् ।
ददर्श जानकीं तत्र कृशां दीनामनिन्दिताम् ॥ ५४॥

और रावण के महल में जाकर शिंशपावृक्ष के जड़ के समीप बैठी हुई अतिकृश वदना, दीना और अनिन्दिता जानकी को देखा ॥५४॥

राक्षसीभिः परिवृतां ध्यायन्तीं राममेव हि ।
विनयावनतो भूत्वा प्रणम्य पवनात्मजः ॥ ५५॥

वे राक्षसियों से चारो ओर से घिरी हुई थीं और श्रीरामचन्द्रजी का ही ध्यान करती थीं। पवनन्दन हनुमानजी अति विनय भाव हो उन्हें प्रणाम किया ॥ ५५ ॥

कृताञ्जलिपुटो भूत्वा प्रह्वो भक्त्याऽग्रतः स्थितः ।
तं दृष्ट्वा जानकी तूष्णीं स्थित्वा पूर्वस्मृतिं ययौ ॥ ५६॥

और वह अति विनम्रपूर्वक भक्ति सहित हाथ जोड़कर सामने खड़े हो गये। हनुमानजी को देखकर जानकीजी मौन रहीं और उन्हे पूर्व की स्मृति हो गयी ॥ ५६ ॥

ज्ञात्वा तं रामदूतं सा हर्षात्सौम्यमुखी बभौ ।
स तां सौम्यमुखीं दृष्ट्वा तस्यै पवननन्दनः ।
रामस्य भाषितं सर्वमाख्यातुमुपचक्रमे ॥ ५७॥

तब हनुमानजी को भगवान श्रीराम का दूत समझकर उनका मुख प्रसन्नता से खिल गया। उन्हें प्रसन्न मुख देखकर हनुमानजी श्रीरामचन्द्रजी का सस्पूर्ण संदेश कहना प्रारम्भ किये ॥५७ ॥

देवि रामः ससुग्रीवो विभीषणसहायवान् ।
कुशली वानराणां च सैन्यैश्च सहलक्ष्मणः ॥ ५८॥

हनुमानजी बोले कि देवि ! जिनके सहायक विभीषण हैं, वह श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मण, सुग्रीव और वानरी सेना सहित सकुशल हैं ॥ ५८ ॥

रावणं ससुतं हत्वा सबलं सह मन्त्रिभिः ।
त्वामाह कुशलं रामो राज्ये कृत्वा विभीषणम् ॥ ५९॥

भगवान् श्रीरामचन्द्र जी ने सेना और मन्त्रियों सहित रावण को मार कर लंका का राज्य विभीषण को देकर अपना कुशल संदेश आपके पास भेजा है। ५९ ॥

श्रुत्वा भर्तुः प्रियं वाक्यं हर्षगद्गदया गिरा ।
किं ते प्रियं करोम्यद्य न पश्यामि जगत्त्रये ॥ ६०॥

समं ते प्रियवाक्यस्य रत्नान्याभरणानि च ।
एवमुक्तस्तु वैदेह्या प्रत्युवाच प्लवङ्गमः ॥ ६१॥

पति का यह प्रिय संदेश सुनकर श्रीसीताजी अति हर्षित होकर गद्गद वाणी से बोलीं-तुम्हारा कौन सा प्रिय कार्य मैं करूँ? त्रिलोकी में मुझे कोई भी रत्न आभूषणादि तुम्हारे प्रिय वाक्यों के समान दिखायी नहीं पड़ते जिन्हें तुम्हें देकर मैं तुमसे उऋण हो सकूं। जानकीजी का यह कथन सुनकर कपिवर हनुमानजी बोले ॥ ६०-६१ ॥

रत्नौघाद्विविधाद्वापि देवराज्याद्विशिष्यते ।
हतशत्रुं विजयिनं रामं पश्यामि सुस्थिरम् ॥ ६२॥

शत्रु के नष्ट होनेपर स्वस्थ-चित्त से विराजमान विजयी भगवान् श्रीराम का मैं दर्शन करता हूँ , मेरे लिये यह विविध रत्न-समूह और देवराज्य से भी अधिक है ॥ ६२ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा मैथिली प्राह मारुतिम् ।
सर्वे सौम्या गुणा सौम्य त्वय्येव परिनिष्ठिताः ॥ ६३॥

उनका यह कथन सुनकर श्रीजानकीजी हनुमानजी से बोली-हे सौम्य ! सम्पूर्ण शुभ गुण तुम में ही विद्यमान हैं ॥ ६३ ॥

रामं द्रक्ष्यामि शीघ्रं मामाज्ञापयतु राघवः ।
तथेति तां नमस्कृत्य ययौ द्रष्टुं रघूत्तमम् ॥ ६४॥

अब मैं श्रीरघुनाथजी का दर्शन करूँगी, शीघ्र मुझे वे आज्ञा दें। 'तथा इति' यह कहकर हनुमानजी उन्हें प्रणामकर श्रीरघुनाथजी का दर्शन करने के लिये चल दिये ॥ ६४॥

जानक्या भाषितं सर्वं रामस्याग्रे न्यवहदयत् ।
यन्निमित्तोऽयमारम्भः कर्मणां च फलोदयः ॥ ६५॥

तां देवीं शोकसन्तप्तां द्रष्टुमर्हसि मैथिलीम् ।
एवमुक्तो हनुमता रामो ज्ञानवतां वरः ॥ ६६॥

मायासीतां परित्यक्तुं जानकीमनले स्थिताम् ।
आदातुं मनसा ध्यात्वा रामः प्राह विभीषणम् ॥ ६७॥

श्रीराम चन्द्रजी के पास जाकर हनुमानजी श्रीजानकीजी का सारा सम्भाषण भगवान् श्रीरामजी से निवेदन किये। वे बोले कि भगवन् ! यह युद्धादि सम्पूर्ण कर्म जिनके लिये आरम्भ हुए थे और जो सभी कर्मों के फल स्वरूपा हैं, उन शोक सन्तप्ता मैथिली श्रीजानकी देवी को अब आप देखिये। हनुमानजी द्वारा इस प्रकार कहने पर ज्ञानियों में श्रेष्ठ भगवान् श्रीरामचन्द्रजी माया सीता को त्यागने एवं अग्नि में स्थित श्रीजानकीजी को ग्रहण करने के लिये विचार करते हुए विभीषण से बोले ॥ ६५-६७ ॥

गच्छ राजन् जनकजामानयाशु ममान्तिकम् ।
स्नातां विरजवस्त्राढ्यां सर्वाभरणभूषिताम् ॥ ६८॥

राजन् ! तुम शीघ्र जाओ और जानकीजी को स्नान करा कर शुद्ध निर्मल वस्त्र पहना कर आभूषणों से विभूषित कर मेरे पास ले आओ ॥ ६८ ॥

विभीषणोऽपि तच्छ्रुत्वा जगाम सहमारुतिः ।
राक्षसीभिः सुवृद्धाभिः स्नापयित्वा तु मैथिलीम् ॥ ६९॥

सर्वाभरणसम्पन्नामारोप्य शिबिकोत्तमे ।
याष्टीकैर्बहुभिर्गुप्तां कञ्चुकोष्णीषिभिः शुभाम् ॥ ७०॥

भगवान श्रीरामचन्द्रजी का यह कथन सुनकर विभीषण हनुमानजी को साथ लेकर शीघ्र ही चले और कुशल वृद्ध राक्षसियों द्वारा शुभलक्षणा जानकीजी को स्नान कराकर सभी वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होने पर एक सुन्दर पालकी में चढ़ाकर अनेक सुसज्जित

रक्षकों से सुरक्षित कर भगवान श्रीराम के समीप ले चले ॥ ६९-७० ॥

तां द्रष्टुमागताः सर्वे वानरा जनकात्मजाम् ।
तान् वारयन्तो बहवः सर्वतो वहत्रपाणयः ॥ ७१॥

कोलाहलं प्रकुर्वन्तो रामपार्श्वमुपाययुः ।
दृष्ट्वा तां शिबिकारूढां दूरादथ रघूत्तमः ॥ ७२॥

विभीषण किमर्थं ते वानरान् वारयन्ति हि ।
पश्यन्तु वानराः सर्वे मैथिलीं मातरं यथा ॥ ७३॥

सीताजी को देखने के लिये उस समय सभी वानरगण दौड़ पड़े। वानरों को चारो ओर से रोकते हुए रक्षक सीताजी को श्रीरामचन्द्रजी के पास ले आये। दूर से ही सीताजी को पालकी पर चढ़े देखकर भगवान् बोले कि विभीषण ! तुम्हारे ये रक्षक वानरों को क्यों रोक रहें हैं ? सभी वानरगण श्रीजानकी के माता के समान दर्शन करें ॥ ७१-७३ ॥

पादचारेण साऽऽयातु जानकी मम सन्निधिम् ।
श्रुत्वा तद्रामवचनं शिबिकादवरुह्य सा ॥ ७४॥

पादचारेण शनकैरागता रामसन्निधिम् ।
रामोऽपि दृष्ट्वा तां मायासीतां कार्यार्थनिर्मिताम् ॥ ७५॥

अवाच्यवादान् बहुशः प्राह तां रघुनन्दनः ।
अमृष्यमाणा सा सीता वचनं राघवोदितम् ॥ ७६॥

लक्ष्मणं प्राह मे शीघ्रं प्रज्वालय हुताशनम् ।
विश्वासार्थं हि रामस्य लोकानां प्रत्ययाय च ॥ ७७॥

जानकीजी हमारे पास पैदल ही आएं । श्रीरामचन्द्रजी का यह कथन सुनकर सीताजी पालकी से उतर गयीं और धीरे-धीरे पैदल ही भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के पास आयीं। कार्यवश निर्मित माया सीता को देखकर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ने बहुत सी न कहने योग्य बातें भी कहीं। भगवान् श्रीरघुनाथजी द्वारा कथित उन वाक्यों को सहन न करने से सीताजी लक्ष्मण से बोली-भगवान् श्रीरामचन्द्रजी को विश्वास और संसार की प्रतीति के लिये शीघ्र ही तुम मेरे लिये अग्नि प्रज्वलित करो। ७४-७७ ॥

राघवस्य मतं ज्ञात्वा लक्ष्मणोऽपि तदैव हि ।
महाकाष्ठचयं कृत्वा ज्वालयित्वा हुताशनम् ॥ ७८॥

रामपार्श्वमुपागम्य तस्थौ तूष्णीमरिन्दमः ।
ततः सीता परिक्रम्य राघवं भक्तिसंयुता ॥ ७९॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी की सम्मति जानकर लक्ष्मणजी तत्क्षण अत्यधिक काष्ठ समूह एकत्रित कर अग्नि प्रज्वलित किये और मौन हो श्रीरामचन्द्रजी के समीप आकर खड़े हो गये। तदनन्तर सीताजी भक्तिपूर्वक श्रीरघुनाथजी की परिक्रमा की ॥७८-७९॥

पश्यतां सर्वलोकानां देवराक्षसयोषिताम् ।
प्रणम्य देवताभ्यश्च ब्राह्मणेभ्यश्च मैथिली ॥ ८०॥

बद्धाञ्जलिपुटा चेदमुवाचाग्निसमीपगा ।
यथा मे हृदयं नित्यं नापसर्पति राघवात् ॥ ८१॥

तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः ।
एवमुक्त्वा तदा सीता परिक्रम्य हुताशनम् ॥ ८२॥

विवहश ज्वलनं दीप्तं निर्भयेन हृदा सती ॥ ८३॥

और राक्षसों की स्त्रियों के देखते-देखते ब्राह्मणों और देवताओं को प्रणामकर अग्नि के समीप जाकर हाथ जोड़कर कहने लगीं-"मेरा हृदय श्रीरघुनाथजी को छोड़कर कभी भी अन्यत्र कहीं यदि नहीं जाता हो तो समस्त लोकसाक्षी अग्निदेव सब ओर से मेरी रक्षा करें। यह कहकर सती शिरोमणि श्रीसीताजी ने अग्नि की परिक्रमा कर निर्भय मन से उस प्रज्वलित अग्नि में प्रवेश कर गयीं ॥ ७८-८३ ॥

दृष्ट्वा ततो भूतगणाः ससिद्धाः
सीतां महावह्निगतां भृशार्ताः ।
परस्परं प्राहुरहो स सीतां
रामः श्रियं स्वां कथमत्यजज्ज्ञः ॥ ८४॥

महाप्रचण्ड अग्नि में सीताजी को प्रविष्ट हुए देखकर उस समय सभी सिद्ध और भूतगण अति व्याकुल होकर आपस में कहने लगे-अहो! श्रीरामचन्द्रजी ने सब कुछ जानते हुए भी अपनी लक्ष्मी सीता को कैसे छोड़ दिया ॥ ८४ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे युद्धकाण्डे
द्वादशः सर्गः ॥ १२॥

॥त्रयोदशः सर्गः ॥

देवताओं द्वारा भगवान् श्रीराम की स्तुति करना, सीताजी सहित अग्निदेव का प्रकट होना तथा अयोध्या के लिये प्रस्थान ।

श्रीमहादेव उवाच ।
ततः शक्रः सहस्राक्षो यमश्च वरुणस्तथा ।
कुबेरश्च महातेजाः पिनाकी वृषवाहनः ॥ १॥

ब्रह्मा ब्रह्मविदां श्रेष्ठो मुनिभिः सिद्धचारणैः ।
ऋषयः पितरः साध्या गन्धर्वाप्सरसोरगाः ॥ २॥

एते चान्ये विमानाग्र्यैराजग्मुर्यत्र राघवः ।
अब्रुवन् परमात्मानं रामं प्राञ्जलयश्च ते ॥ ३॥

श्रीमहादेवजी ने कहा- तदनन्तर सहस्राक्ष इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर, महातेजस्वी वृषभ वाहन वाले महादेवजी, मुनि, सिद्ध तथा चारणों सहित ब्रह्मविदों में श्रेष्ट ब्रह्माजी, पितृगण, ऋषि, साध्य गन्धर्व, अप्सराएँ और नागगण तथा अन्य देवगण श्रेष्ठ विमानों पर अरूढ़ हो श्रीरघुनाथजी के समीप आये और वह सभी हाथ जोड़कर परमात्मा श्रीरघुनाथजी से बोले ॥१-३॥

कर्ता त्वं सर्वलोकानां साक्षी विज्ञानविग्रहः ।
वसूनामष्टमोऽसि त्वं रुद्राणां शङ्करो भवान् ॥ ४॥

आप सभी लोकों के कर्ता, सबके साक्षी और विज्ञान विग्रह हैं। वसुओं में अष्टम वसु और रुद्रों में महादेवजी आप ही हैं ॥४॥

आदिकर्तासि लोकानां ब्रह्मा त्वं चतुराननः ।
अश्विनौ घ्राणभूतौ ते चक्षुषी चन्द्रभास्करौ ॥ ५॥

सम्पूर्ण लोकों के आदि कर्ता चतुर्मुख ब्रह्माजी आप ही हैं; अश्विनी कुमार आपकी घ्राणेन्द्रियाँ और सूर्य चन्द्र आपके नेत्र हैं॥५॥

लोकानामादिरन्तोऽसि नित्य एकः सदोदितः ।
सदा शुद्धः सदा बुद्धः सदा मुक्तोऽगुणोऽद्वयः ॥ ६॥

सम्पूर्ण लोकों के आदि और अन्त (लयस्थान) आप ही हैं। आप नित्य स्वरूप, एक, जन्म-मृत्यु रहित नित्यप्रकाश स्वरूप, नित्य शुद्ध, नित्य बुद्ध, नित्यमुक्त, निर्गुण और अद्वितीय हैं ॥ ६॥

त्वन्मायासंवृतानां त्वं भासि मानुषविग्रहः ।
त्वन्नाम स्मरतां राम सदा भासि चिदात्मकः ॥ ७॥

हे राम ! आपकी माया से जो लोग आच्छादित हैं, आप उन्हें मनुष्य जैसा प्रतीत होते हैं, परन्तु आपके नामों का स्मरण जो लोग करते हैं, आप उन्हें हमेशा चैतन्य स्वरूप प्रतीत होते हैं ॥ ७ ॥

रावणेन हृतं स्थानमस्माकं तेजसा सह ।
त्वयाद्य निहतो दुष्टः पुनः प्राप्तं पदं स्वकम् ॥ ८॥

हमारे तेज के साथ हमारा स्थान भी रावण नी छीन लिया था, वह दुष्ट आज आपके हाथों मारा गया और हमें अपना पद पुन: प्राप्त हो गया है ॥८॥

एवं स्तुवत्सु देवहषु ब्रह्मा साक्षात्पितामहः ।
अब्रवीत्प्रणतो भूत्वा रामं सत्यपथे स्थितम् ॥ ९॥

इस प्रकार देवताओं द्वारा स्तुति करने पर साक्षात पितामह ब्रह्माजी ने अति विनम्र होकर सत्य पथ पर स्थित भगवान् श्री रामचन्द्रजी से बोले ॥ ९॥

ब्रह्मोवाच
वन्दे देवं विष्णुमशेषस्थितिहेतुं
त्वामध्यात्मज्ञानिभिरन्तर्हृदि भाव्यम् ।
हेयाहेयद्वन्द्वविहीनं परमेकं
सत्तामात्रं सर्वहृदिस्थं दृशिरूपम् ॥ १०॥

ब्रह्माजी ने कहा-हे राम ! सम्पूर्ण जीवों की स्थिति ने कारण, आत्मतत्त्व ज्ञानियों द्वारा हृदय में ध्येय, त्याज्य और ग्राह्य द्वन्द्व रहित, सबसे परे, अद्वितीय, सत्तामात्र, सबके हृदय में विराजमान, साक्षी स्वरूप आप विष्णु भगवान् को मैं प्रणाम करता हूँ॥ १०॥

प्राणापानौ निश्चयबुद्ध्या हृदि रुद्ध्वा
छित्वा सर्वं संशयबन्धं विषयौघान् ।
पश्यन्तीशं यं गतमोहा यतयस्तं
वन्दे रामं रत्नकिरीटं रविभासम् ॥ ११॥

मोह रहित यति (सन्यासी) लोग निश्चय बुद्धि से प्राण और अपान वायु को रोककर, सर्वसंशय बन्धन और विषय-वासना समूहों का

छेदन कर जिस ईश्वर का दर्शन करते हैं, उन रत्नकिरीटधारी, रवि की कान्ति वाले श्रीरामचन्द्रजी की मैं वन्दना करता हूँ॥ ११॥

मायातीतं माधवमाद्यं जगदादिं
मानातीतं मोहविनाशं मुनिवन्द्यम् ।
योगिध्येयं योगविधानं परिपूर्णं
वन्दे रामं रञ्जितलोकं रमणीयम् ॥ १२॥

जो मायातीत, माधव, चराचर जगत् के आदि कारण, जगत् के उत्पत्ति स्थान, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परे, मोह विनाशक, मुनियों द्वारा वन्दनीय, योगियों के द्वारा ध्येय, योगमार्ग प्रवर्तक, परिपूर्ण और सम्पूर्ण लोकों को आनन्दित करने वाले हैं उन रमणीय भगवान् श्रीरामचन्द्रजी की मैं वन्दना करता हूँ॥ १२ ॥

भावाभावप्रत्ययहीनं भवमुख्यैः
योगासक्तैरर्चितपादाम्बुजयुग्मम् ।
नित्यं शुद्धं बुद्धमनन्तं प्रणवाख्यं
वन्दे रामं वीरमशेषासुरदावम् ॥ १३॥

जो भाव-अभाव प्रतीति रहित हैं, तथा जिनके दोनों पादारविन्दों का योग में आसक्त रहने वाले शंकर आदि प्रमुख देव पूजन करते हैं, जो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, अनन्त हैं, जो सम्पूर्ण राक्षसों के लिये दावानल तुल्य है, उन ओंकार स्वरूप वीरवर भगवान् श्रीराम की मैं वन्दना करता हूँ ॥ १३॥

त्वं मे नाथो नाथितकार्याखिलकारी
मानातीतो माधवरूपोऽखिलधारी ।

भक्त्या गम्यो भावितरूपो भवहारी
योगाभ्यासैर्भावितचेतःसहचारी ॥ १४॥

हे राम! आप मेरे प्रभु हैं; आप मेरे द्वारा प्रार्थना किये हुए सम्पूर्ण कार्यों को पूर्ण करने वाले हैं, आप देश काल-परिमाण आदि से रहित, नारायण स्वरूप, सम्पूर्ण विश्व को धारण करने वाले, भक्ति के द्वारा प्राप्य, स्वस्वरूप का ध्यान करने पर भय को दूर करने वाले और योगाभ्यास के द्वारा शुद्ध चित्त में विहार करने वाले हैं।॥ १४॥

त्वामाद्यन्तं लोकततीनां परमीशं
लोकानां नो लौकिकमानैरधिगम्यम् ।
भक्तिश्रद्धाभावसमेतैर्भजनीयं
वन्दे रामं सुन्दरमिन्दीवरनीलम् ॥ १५॥

इस लोक-परम्परा की उत्पत्ति और प्रलय के स्थान आप ही हैं। आप सम्पूर्ण लोकों के महेश्वर हैं। आप लौकिक प्रमाणों के द्वारा अगम्य हैं । आप भक्ति और श्रद्धावाले प्राणियों द्वारा भजन करने योग्य हैं। इस प्रकार के नील कमल के समान श्यामसुन्दर श्रीरामचन्द्रजी आपको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १५ ॥

को वा ज्ञातुं त्वामतिमानं गतमानं
मायासक्तो माधव शक्तो मुनिमान्यम् ।
वृन्दारण्ये वन्दितवृन्दारकवृन्दं
वन्दे रामं भवमुखवन्द्यं सुखकन्दम् ॥ १६॥

हे लक्ष्मीपते ! प्रत्यक्षादि प्रमाणों से आप परे और मान रहित हैं। तब आसक्त प्राणी आपको जानने में किस प्रकार समर्थ हो सकता है ?

आप मुनियों द्वारा मान्य तथा वृन्दावन में अखिल देव समूह की वन्दना करते हुए भी श्रीराम रूप से शिव आदि देवताओं के द्वारा स्वयं वन्दनीय हैं, ऐसे आनन्दधन स्वरूप भगवान् श्रीराम आप की मै वन्दना करता हूँ ॥ १६ ॥

नानाशास्त्रैर्वेदकदम्बैः प्रतिपाद्यं
नित्यानन्दं निर्विषयज्ञानमनादिम् ।
मत्सेवार्थं मानुषभावं प्रतिपन्नं
वन्दे रामं मरकतवर्णं मथुरेशम् ॥ १७॥

जो विविध शास्त्रों और वेदादि से प्रतिपादित नित्य आनन्द स्वरूप, निर्विकल्प ज्ञानस्वरूप और अनादि हैं और जिन्होंने हमारे कार्य हेतु मनुष्य रूप धारण किया है, उन मरकत मणि के समान नीलवर्ण मथुरानाथ भगवान् श्रीराम की मै वन्दना करता हूँ ॥ १७ ॥

श्रद्धायुक्तो यः पठतीमं स्तवमाद्यं
ब्राह्मं ब्रह्मज्ञानविधानं भुवि मर्त्यः ।
रामं श्यामं कामितकामप्रदमीशं
ध्यात्वा ध्याता पातकजालैर्विगतः स्यात् ॥ १८॥

जो कामना करने वालों की सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाले श्यामवर्ण स्वरूप भगवान् श्रीराम का ध्यान करता हुआ ब्रह्माजी द्वारा किया गया ब्रह्मज्ञान विधायक इस स्तोत्र का श्रद्धापूर्वक पाठ करेगा वह ध्यान शील प्राणी सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जायगा ॥ १८ ॥

श्रुत्वा स्तुतिं लोकगुरोर्विभावसुः
स्वाङ्के समादाय विदेहपुत्रिकाम् ।

विभ्राजमानां विमलारुणद्‍युतिं
रक्ताम्बरां दिव्यविभूषणान्विताम् ॥ १९॥

प्रोवाच साक्षी जगतां रघूत्तमं
प्रपन्नसर्वार्तिहरं हुताशनः ।
गृहाण देवीं रघुनाथ जानकीं
पुरा त्वया मय्यवरोपितां वने ॥ २०॥

लोकगुरु ब्रह्माजी की यह स्तुति सुनकर लोकसाक्षी अग्निदेव अरुण कान्ति से सशोभित और अरुण वस्त्र तथा दिव्य आभूषणों से विभूषित विदेहनन्दिनी श्रीजानकीजी को अपनी गोद में लेकर प्रकट हुए और शरणागत दुखहारी श्रीरघुनाथजी से कहा -हे रघुवीर ! तपोवन में मुझे पहले सौंपी हुई देवी जानकीजी को अब आप ग्रहण कीजिये ॥ १९-२० ॥

विधाय मायाजनकात्मजां हरे
दशाननप्राणविनाशनाय च ।
हतो दशास्यः सह पुत्रबान्धवै-
र्निराकृतोऽनेन भरो भुवः प्रभो ॥ २१॥

हे हरे! आपने रावण को मारने के लिये अपनी मायामयी सीता की रचना कर पुत्र, बन्धु बान्धवों आदि सहित रावण का नाश कर दिया । हे प्रभो ! यह कार्य कर सम्पूर्ण कर आपने पृथ्वी का भार उतार दिया है ॥२१॥

तिरोहिता सा प्रतिबिम्बरूपिणी
कृता यदर्थं कृतकृत्यतां गता ।

ततोऽतिहृष्टां परिगृह्य जानकीं
रामः प्रहृष्टः प्रतिपूज्य पावकम् ॥ २२॥

प्रतिबिम्बरूपिणी माया की सीता जिस कार्य हेतु निर्मित थी, उसे पूर्ण कर अब अदृश्य हो गयी है। अग्निदेव का यह कथन सुनकर अति प्रसन्न हो श्रीरघुनाथजी अग्निदेव का पूजन किया और प्रसन्न वदना श्रीजानकीजी को अङ्गीकार कर लिया ॥ २२॥

स्वाङ्के समावहश्य सदाऽनपायिनीं
श्रियं त्रिलोकीजननीं श्रियः पतिः ।
दृष्ट्वाथ रामं जनकात्मजायुतं
श्रिया स्फुरन्तं सुरनायको मुदा ।
भक्त्या गिरा गद्गदया समेत्य
कृताञ्जलिः स्तोतुमथोपचक्रमे ॥ २३॥

पुनः लक्ष्मीपति भगवान् श्रीराम कभी भी अपने से पृथक न होने वाली जगज्जननी जानकीजी को अपनी गोद में बैठा लिया। उस समय जनकात्मजा सीताजी सहित भगवान् श्रीरामचन्द्रजी को कान्ति से सुशोभित देखकर देवराज इन्द्र अति प्रसन्नता से भक्ति पूर्वक गद्गद् वाणी से हाथ जोड़कर उनकी स्तुति करने लगे॥ २३॥

इन्द्र उवाच ।
भजेऽहं सदा राममिन्दीवराभं भवारण्यदावानलाभाभिधानम् ।
भवानीहृदा भावितानन्दरूपं भवाभावहेतुं भवादिप्रपन्नम् ॥२४॥

इन्द्र बोले-जो नील कमल की कान्ति वाले हैं, जिनका नाम संसार रूप वन के लिये दावानल के समान है, जिनके आनन्द रूप का

श्रीपार्वतीजी अपने हृदय में ध्यान करती हैं, जो जन्म मरण रूप संसार से छुड़ाने वाले हैं और शंकर आदि देवताओं के आश्रय स्थान हैं, उन भगवान् श्रीराम का मैं भजन करता हूँ॥ २४ ॥

सुरानीकदुःखौघनाशैकहेतुं नराकारदेहं निराकारमीड्यम् ।
परेशं परानन्दरूपं वरेण्यं हरिं राममीशं भजे भारनाशम् ॥ २५॥

देवताओं के दुःख समूहों का नाश करने के एकमात्र कारण मनुष्यरूपधारी, आकार रहित, स्तुत्य, भूमि भार हरण करने वाले परमेश्वर परानन्द स्वरूप पूजनीय भगवान् श्रीरामका मै भजन करता हूँ ॥ २५ ॥

प्रपन्नाखिलानन्ददोहं प्रपन्नं प्रपन्नार्तिनिःशेषनाशाभिधानम् ।
तपोयोगयोगीशभावाभिभाव्यं कपीशादिमित्रं भजे राममित्रम् ॥२६॥

सदा भोगभाजां सुदूरे विभान्तं सदा योगभाजामदूरे विभान्तम् ।
चिदानन्दकन्दं सदा राघवहशं विदेहात्मजानन्दरूपं प्रपद्ये ॥२७॥

जो शरणागतों के सम्पूर्ण आनन्द के दाता, आश्रय स्थान तथा जिनका नाम स्मरण शरणागत भक्तवृन्दों के अखिल दुःख नाशक और तप, योग एवं योगीश्वरों के भावों द्वारा चिन्तनीय, सग्रीवादि के सखा मित्र रूप भगवान श्रीराम का मै शरणागत हूँ॥ २७ ॥

महायोगमायाविशेषानुयुक्तो विभासीश लीलानराकारवृत्तिः ।
त्वदानन्दलीलाकथापूर्णकर्णाः सदानन्दरूपा भवन्तीह लोके ॥२८॥

हे ईश! आप अपनी महा योगमाया के गुणों से युक्त होकर लीला से मनुष्य प्रतीत हो रहे हैं। आपकी इन आनन्दमयी लीला कथामृत के पान से जिनके कर्ण पूरित होते हैं वह संसार में नित्यानन्द स्वरूप हो जाते हैं ॥ २८॥

अहं मानपानाभिमत्तप्रमत्तो न वहदाखिलेशाभिमानाभिमानः ।
इदानीं भवत्पादपद्मप्रसादात् त्रिलोकाधिपत्याभिमानो विनष्टः ॥२९॥

मैं मान और सोमपान के मद से प्रमत्त होकर अखिलेश्वर के अभिमान में था; अब आपके चरणारविन्द की कृपा से त्रिलोकाधिपतित्व का अभिमान नष्ट हो गया है ॥ २९॥

स्फुरद्रत्नकेयूरहाराभिरामं धराभारभूतासुरानीकदावम् ।
शरच्चन्द्रवक्त्रं लसत्पद्मनेत्रं दुरावारपारं भजे राघवहशम् ॥ ३०॥

जो चमकते हुए रत्नजटित केयूर और हारों से सुशोभित और पृथ्वी पर भार स्वरूप राक्षसों के लिये दावानल के समान हैं, जिनका मुख शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान तथा कमल के समान अतिमनोहर नेत्र और जिनका आदि अन्त जानना कठिन है उन श्रीरघुनाथजी का मैं भजन करता हूँ॥३०॥

सुराधीशनीलाभ्रनीलाङ्गकान्तिं
विराधादिरक्षोवधाल्लोकशान्तिम् ।
किरीटादिशोभं पुरारातिलाभं
भजे रामचन्द्रं रघूणामधीशम् ॥ ३१॥

जिनके शरीर की कान्ति इन्द्रनील मणि और मेघ के समान श्याम वर्ण की है,जिन्होंने विराध आदि राक्षसों को मारकर सभी लोकों में शान्ति स्थापित की हैं, किरीटादि से सुशोभित श्रीशंकरजी के परम धाम उन रघुकुलेश्वर श्रीरामचन्द्रजी का मैं भजन करता हूँ ॥ ३१॥

लसच्चन्द्रकोटिप्रकाशादिपीठे समासीनमङ्के समाधाय सीताम् ।
स्फुरद्धेमवर्णां तडित्पुञ्जभासां भजे रामचन्द्रं निवृत्तार्तितन्द्रम् ॥३२॥

कोटि चन्द्रमा की कान्ति के समान कान्ति वाले सिंहासन पर जो सुवर्ण जैसी और बिजली के समान कान्ति वाली श्रीजानकीजी को गोद में लिये बैठे हैं; उन दुःख एवं आलस्यहीन भगवान् श्रीरामचन्द्र जी का मैं भजन करता हूँ ॥ ३२॥

ततः प्रोवाच भगवान् भवान्या सहितो भवः ।
रामं कमलपत्राक्षं विमानस्थो नभःस्थले ॥ ३३॥

आगमिष्याम्ययोध्यायां द्रष्टुं त्वां राज्यसत्कृतम् ।
इदानीं पश्य पितरमस्य देहस्य राघव ॥ ३४॥

तदनन्तर भवानी सहित श्री शंकरजी ने विमान पर आकाश में स्थित होकर भगवान श्रीरामचन्द्र जी से कहा -हे रघुनन्दन ! मैं आपका राज्याभिषेक देखने के लिये अयोध्यापुरी में आऊँगा, अब आप अपने इस शरीर के पिता राजा दशरथ का दर्शन कीजिये ॥ ३३-३४ ॥

ततोऽपश्यद्विमानस्थं रामो दशरथं पुरः ।
ननाम शिरसा पादौ मुदा भक्त्या सहानुजः ॥ ३५॥

तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजी अपने सामने विमान पर स्थित महाराज दशरथ को देखा। उन्होंने प्रसन्न होकर भाई लक्ष्मण के साथ भक्ति पूर्वक उनके चरणारविन्द पर सिर रखकर प्रणाम किया ॥ ३५॥

आलिङ्ग्य मूर्ध्न्यवघ्राय रामं दशरथोऽब्रवीत् ।
तारितोऽस्मि त्वया वत्स संसाराद्दुःखसागरात् ॥ ३६॥

तब दशरथ जी ने श्रीरामचन्द्रजी को हृदय से लगाकर उनका शरीर सूंघा और बोले-वत्स ! तुम मुझे दु.ख रूपी संसार सागर से मुक्त कर दिए हो ॥ ३६॥

इत्युक्त्वा पुनरालिङ्ग्य ययौ रामेण पूजितः ।
रामोऽपि देवराजं तं दृष्ट्वा प्राह कृताञ्जलिम् ॥ ३७॥

मत्कृते निहतान् सङ्ख्ये वानरान् पतितान् भुवि ।
जीवयाशु सुधावृष्ट्या सहस्राक्ष ममाज्ञया ॥ ३८॥

यह कहकर उन्होंने पुनः श्रीरामजी को हृदय से लगा लिया और भगवान् श्रीराम के द्वारा पूजित होकर चले गए । तदनन्तर अपने सामने हाथ जोड़कर खड़े इन्द्र को देखकर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी बोले-हे सहस्राक्ष ! मेरी आज्ञा से अमृत की वर्षा करो तथा मेरे लिये युद्ध में मृत्यु प्राप्त पृथ्वी पर पड़े वानर वीरों को शीघ्र जीवित करो ॥३७-३८ ॥

तथेत्यमृतवृष्ट्या तान् जीवयामास वानरान् ।
यह यह मृता मृधे पूर्वं ते ते सुप्तोत्थिता इव ।
पूर्ववद्बलिनो हृष्टा रामपार्श्वमुपाययुः ॥ ३९॥

'जैसी आपकी आज्ञा" कहकर देवेन्द्र ने अमृत की वर्षा करके वानरों को पुनर्जीवित कर दिया। युद्ध में मारे गये वानर सोकर उठने की भाँति पहले जैसे ही बलवान् और प्रसन्न होकर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के पास चले आये ॥ ३९ ।

नोत्थिता राक्षसास्तत्र पीयूषस्पर्शनादपि ।
विभीषणस्तु साष्टाङ्गं प्रणिपत्याब्रवीद्वचः ॥ ४०॥

परन्तु मरे हुए राक्षसगण अमृत का स्पर्श होने पर भी जीवित नहीं हुए। तब विभीषण साष्टाङ्ग प्रणाम करके बोले ॥४०॥

देव मामनुगृह्णीष्व मयि भक्तिर्यदा तव ।
मङ्गलस्नानमद्य त्वं कुरु सीतासमन्वितः ॥ ४१॥

भगवान् ! मुझपर आपकी अत्यन्त प्रीति है। अत एव आप यह कृपा करें कि श्रीसीताजी सहित आप मंगल स्नान करें ॥४१॥

अलङ्कृत्य सह भ्रात्रा श्वो गमिष्यामहे वयम् ।
विभीषणवचः श्रुत्वा प्रत्युवाच रघूत्तमः ॥ ४२॥

सुकुमारोऽतिभक्तो मे भरतो मामवहक्षते ।
जटावल्कलधारी स शब्दब्रह्मसमाहितः ॥ ४३॥

पुनः अनुज लक्ष्मण सहित कल वस्त्रालङ्कारों से विभूषित होकर, हम सब चलेंगे। विभीषण का यह कथन सुनकर रघुश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी बोले-अति सुकुमार मेरा भक्त भाई भरत जटा और बल्कल धारण

कर भगवन्नाम में तत्पर हो मेरे आने की राह देख रहा होगा ॥ ४२-४३ ॥

कथं तेन विना स्नानमलङ्कारादिकं मम ।
अतः सुग्रीवमुख्यांस्त्वं पूजयाशु विशेषतः ॥ ४४॥

उससे मिले विना मैं मंगल स्नान और अलङ्कारादि धारण कैसे कर सकता हूँ ? अत एव सग्रीवादि का तुम विशेष सत्कार करो। ॥४४॥

पूजितेषु कपीन्द्रेषु पूजितोऽहं न संशयः ।
इत्युक्तो राघवहणाशु स्वर्णरत्नाम्बराणि च ॥ ४५॥

कपीन्द्रों का सत्कार हो जाने पर निःसन्देह मेरा सत्कार ही होगा। श्रीरघुनाथजी की यह आज्ञा पाकर विभीषण वानरों की अपनी-अपनी इच्छानुसार बहुत से रत्न-वस्त्र आदि । ॥४५॥

ववर्ष राक्षसश्रेष्ठो यथाकामं यथारुचि ।
ततस्तान् पूजितान् दृष्ट्वा रामो रत्नैश्च यूथपान् ॥ ४६॥

मुक्त हस्त से कपीन्द्रों की इच्छा और रूचि के अनुसार दिए, इस प्रकार वानर यूथपतियों को रत्नादि से सत्कृत देखकर ॥४६॥

अभिनन्द्य यथान्यायं विससर्ज हरीश्वरान् ।
विभीषणसमानीतं पुष्पकं सूर्यवर्चसम् ॥ ४७॥

आरुरोह ततो रामस्तद्विमानमनुत्तमम् ।
अङ्के निधाय वैदेहीं लज्जमानां यशस्विनीम् ॥ ४८॥

श्रीरामचन्द्रजी ने उनकी यथायोग्य बड़ाई की और उनको विदा करने के पश्च्यात विभीषण के द्वारा लाये हुए सूर्य के समान तेजस्वी पुष्पक विमान पर लज्जा करती हुई यशश्विनी जानकीजी को गोद में बैठा कर ॥४७-४८॥

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा विक्रान्तेन धनुष्मता ।
अब्रवीच्च विमानस्थः श्रीरामः सर्ववानरान् ॥ ४९॥

सुग्रीवं हरिराजं च अङ्गदं च विभीषणम् ।
मित्रकार्यं कृतं सर्वं भवद्भिः सह वानरैः ॥ ५०॥

महापराक्रमी धनुषधारी अनुज लक्ष्मण सहित विमान पर आरुढ होकर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी वानरराज सुग्रीव, अंगद, विभीषण और सभी वानरवीरों से कहा कि आप सभी ने वानर-वीरों सहित मित्र का कर्तव्य भली-भाँति पूर्ण किया ॥ ४९-५० ॥

अनुज्ञाता मया सर्वे यथेष्टं गन्तुमर्हथ ।
सुग्रीव प्रतियाह्याशु किष्किन्धां सर्वसैनिकैः ॥ ५१॥

मेरी अज्ञा से आपलोग अपने मनोनुकूल स्थानों पर जा सकते हैं । सुग्रीव ! आप अपने सभी सैनिकों के साथ शीघ्र किष्किन्धापुरी में जाइये ॥ ५१ ॥

स्वराज्ये वस लङ्कायां मम भक्तो विभीषण ।
न त्वां धर्षयितुं शक्ताः सेन्द्रा अपि दिवौकसः ॥ ५२॥

विभीषण! आप मेरी भक्ति में तत्पर होकर अपने राज्य लंका में ही रहो। इन्द्र सहित देवगण भी अब तुम्हारा कुछ अनिष्ट नहीं कर सकते ॥ ५२ ॥

अयोध्यां गन्तुमिच्छामि राजधानीं पितुर्मम ।
एवमुक्तास्तु रामेण वानरास्ते महाबलाः ॥ ५३॥

ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे राक्षसश्च विभीषणः ।
अयोध्यां गन्तुमिच्छामस्त्वया सह रघूत्तम ॥ ५४॥

मैं अब अपने पिता जी की राजधानी अयोध्यापुरी को जाना चाहता हूँ। भगवान् श्रीरामचन्द्र जी के कहने पर सभी महाबली वानरवीर तथा राक्षसाधिप विभिषण हाथ जोड़कर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी से बोले-हे रघुश्रेष्ठ! हमलोग आपके साथ अयोध्या चलना चाहते हैं ॥५३-५४ ॥

दृष्ट्वा त्वामभिषिक्तं तु कौसल्यामभिवाद्य च ।
पश्चाद्वृणीमहे राज्यमनुज्ञां देहि नः प्रभो ॥ ५५॥

प्रभो! हम आपका राज्याभिषेक और माता कौसल्या की वन्दना करके पुनः अपना राज्य ग्रहण करेंगे, आप अपने साथ चलने के लिये हमें आज्ञा दीजिये ॥ ५५ ॥

रामस्तथेति सुग्रीव वानरैः सविभीषणः ।
पुष्पकं सहनूमांश्च शीघ्रमारोह साम्प्रतम् ॥ ५६॥

बहुत अच्छा, सुग्रीव तुम वानरों सहित शीघ्र ही विभीषण और हनुमान को साथ लेकर विमान पर चढ़ जाओ ॥ ५६ ॥

ततस्तु पुष्पकं दिव्यं सुग्रीवः सह सेनया ।
विभीषणश्च सामात्यः सर्वे चारुरुहुर्द्रुतम् ॥ ५७॥

भगवना श्रीरामचन्द्रजी के यह कहने पर सेना सहित सुग्रीव और मन्त्रियों सहित विभीषण अति शीघ्र पुष्पक विमान पर आरुढ़ हुए ॥ ५७ ॥

तेष्वारूढेषु सर्वेषु कौबेरं परमासनम् ।
राघवहणाभ्यनुज्ञातमुत्पपात विहायसा ॥ ५८॥

उन सबके विमान पर आरुढ़ हो जाने पर भगवान् श्रीराम की आज्ञा से कुबेर का परम यान् अकाश मार्ग से उड़कर चल दिया ॥ ५८ ॥

बभौ तेन विमानेन हंसयुक्तेन भास्वता ।
प्रहृष्टश्च तदा रामश्चतुर्मुख इवापरः ॥ ५९॥

उस तेजस्वी विमान पर जाते हुए भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अति प्रसन्न हुए और हंस पर आरूढ़ ब्रह्माजी की भाँति सुशोभित हुए। ॥५९ ॥

ततो बभौ भास्करबिम्बतुल्यं
कुबेरयानं तपसानुलब्धम् ।
रामेण शोभां नितरां प्रपेदे
सीतासमेतेन सहानुजेन ॥ ६०॥

तपस्या के द्वारा प्राप्त कुबेर का वह विमान सूर्य विम्ब के समान उस समय सुशोभित हो रहा था और सीताजी तथा अनुज लक्ष्मण सहित भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के आरूढ़ होने से उसकी शोभा और भी अधिक हो गयी थी॥६०॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे युद्धकाण्डे
त्रयोदशः सर्गः ॥ १३॥

॥चतुर्दशः सर्गः ॥

अयोध्या-यात्रा, श्रीभरद्वाज मुनि का आतिथ्य सत्कार तथा भरत मिलाप

श्रीमहादेव उवाच ।
पातयित्वा ततश्चक्षुः सर्वतो रघुनन्दनः ।
अब्रवीन्मैथिलीं सीतां रामः शशिनिभाननाम् ॥ १॥

श्रीमहादेवजी बोले- तत्पश्चात् श्रीरघुनाथजी चारो ओर देखकर मिथिलेश नन्दिनी सीता से बोले ॥१॥

त्रिकूटशिखराग्रस्थां पश्य लङ्कां महाप्रभाम् ।
एतां रणभुवं पश्य मांसकर्दमपङ्किलाम् ॥ २॥

त्रिकूटपर्वत के शिखरपर स्थित परम प्रकाशमयी इस लंका पुरी को देखो और माँसमयी कीचड़ से परिपूरित इस रणभूमि को देखो ॥ २॥

असुराणां प्लवङ्गानामत्र वैशसनं महत् ।
अत्र मे निहतः शेते रावणो राक्षसेश्वरः ॥ ३॥

यहाँ पर राक्षसों और वानरों का अत्यधिक संहार हुआ है। मेरे हाथ से मरकर राक्षसराज रावण यहीं गिरा था।॥ ३॥

कुम्भकर्णेन्द्रजिन्मुख्याः सर्वे चात्र निपातिताः ।
एष सेतुर्मया बद्धः सागरे सलिलाशये ॥ ४॥

यहीं कुम्भकर्ण, इन्द्रजित आदि सभी राक्षस वीर मारे गये हैं और जलनिधि समुद्र पर यह हमने पुल बाँधा था ॥४॥

एतच्च दृश्यते तीर्थं सागरस्य महात्मनः ।
सेतुबन्धमिति ख्यातं त्रैलोक्येन च पूजितम् ॥ ५॥

यह देखो, इस विशाल समुद्र पर सेतुबन्ध नाम से विख्यात यह तीर्थ दिखायी पड़ रहा है, जो तीनों लोकों में पूजनीय है।॥५॥

एतत्पवित्रं परमं दर्शनात्पातकापहम् ।
अत्र रामेश्वरो देवो मया शम्भुः प्रतिष्ठितः ॥ ६॥

यह अतिपवित्र और दर्शन से ही सम्पूर्ण पापों को नष्ट करने वाला है। श्रीरामेश्वर महादेवजी की यहाँ हमने स्थापना की है ॥६॥

अत्र मां शरणं प्राप्तो मन्त्रिभिश्च विभीषणः ।
एषा सुग्रीवनगरी किष्किन्धा चित्रकानना ॥ ७॥

मन्त्रियों सहित विभीषण यहीं मेरी शरण में आया था। विचित्र उपवनों से सुशोभित यह किष्किन्धापुरी सुग्रीव की राजधानी है ॥ ७॥

तत्र रामाज्ञया ताराप्रमुखा हरियोषितः ।
आनयामास सुग्रीवः सीतायाः प्रियकाम्यया ॥ ८॥

किष्किन्धापुरी में पहुंचने पर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा से सीताजी को प्रसन्न करने के लिये सुग्रीव तारा आदि अपनी स्त्रियों को ले आये ॥८॥

ताभिः सहोत्थितं शीघ्रं विमानं प्रेक्ष्य राघवः ।
प्राह चाद्रिमृष्यमूकं पश्य वाल्यत्र मे हतः ॥ ९॥

उन सब को शीघ्र ही साथ लेकर चलते हुए विमान को देखकर श्री राम सीताजी से कहने लगे-देखो, यहाँ ऋष्यमूक पर्वत है। यहाँ हमने बाली को मारा था ॥९॥

एषा पञ्चवटी नाम राक्षसा यत्र मे हताः ।
अगस्त्यस्य सुतीक्ष्णस्य पश्याश्रमपदे शुभे ॥ १०॥

यह पञ्चवटी है, जहाँ हमने खर दूषणादि राक्षसों को मारा था, यह अगस्त्य और सुतीक्ष्ण का शुभाश्रम है, देखो । १०॥

एते ते तापसाः सर्वे दृश्यन्ते वरवर्णिनि ।
असौ शैलवरो देवि चित्रकूटः प्रकाशते ॥ ११॥

हे सुन्दर वर्ण वाली ! ये वे सब तपस्वी लोग दिखलायी दे रहे हैं। हे देवि ! यह पर्वतों में श्रेष्ठ चित्रकूट सुशोभित हो रहा है ॥ ११॥

अत्र मां कैकयीपुत्रः प्रसादयितुमागतः ।
भरद्वाजाश्रमं पश्य दृश्यते यमुनातटे ॥ १२॥

यहीं पर मुझे मनाने के लिये कैकेयीनन्दन भरत आये थे। यह यमुना के तटपर भारद्वाज मुनि का आश्रम दिखायी दे रहा है ॥ १२॥

एषा भागीरथी गङ्गा दृश्यते लोकपावनी ।
एषा सा दृश्यते सीते सरयूयूपमालिनी ॥ १३॥

यह त्रिलोक पावनी गंगा जी दिखायी पड़ रही हैं। हे सीते ! यज्ञस्तम्भों से युक्त यह सरयू नदी दिखलायी दे रहीं हैं ॥ १३॥

एषा सा दृश्यतेऽयोध्या प्रणामं कुरु भामिनि ।
एवं क्रमेण सम्प्राप्तो भरद्वाजाश्रमं हरिः ॥ १४॥

हे सुन्दरि! यह देखो, यह अयोध्यापुरी दिखलायी दे रही है, उस पुरी को प्रणाम करो, इस प्रकार भगवान् श्रीरामचन्द्रजी क्रमपूर्वक श्री भारद्वाज ऋषि के आश्रम पर पहुंचे ॥ १४ ॥

पूर्णे चतुर्दशे वर्षे पञ्चम्यां रघुनन्दनः ।
भरद्वाजं मुनिं दृष्ट्वा ववन्दे सानुजः प्रभुः ॥ १५॥

चतुर्दश वर्ष पूर्ण होने पर पञ्चमी तिथि को श्रीरघुनाथजी ने अनुज लक्ष्णण सहित मुनिवर भरद्वाज ऋषि को प्रणाम किया ॥१५॥

पप्रच्छ मुनिमासीनं विनयेन रघूत्तमः ।
शृणोषि कच्चिद्भरतः कुशल्यास्ते सहानुजः ॥ १६॥

पुनः आसन पर आसीन मुनिवर से विनय पूर्वक श्रीरघुनाथजी ने पूछा -आपने कुछ सुना है, अनुज शत्रुध्न सहित भरत कुशल से तो हैं ? ॥ १६ ॥

सुभिक्षा वर्ततेऽयोध्या जीवन्ति च हि मातरः ।
श्रुत्वा रामस्य वचनं भरद्वाजः प्रहृष्टधीः ॥ १७॥

अयोध्या में सुभीक्ष तो है? तथा हमारी माताएँ जीवित तो हैं? भगवान श्रीरामचन्द्रजी का कथन सुनकर प्रहृष्टमन मुनिवर भरद्वाज जी ने कहा-॥१७॥

प्राह सर्वे कुशलिनो भरतस्तु महामनाः ।
फलमूलकृताहारो जटावल्कलधारकः ॥ १८॥

पादुके सकलं न्यस्य राज्यं त्वां सुप्रतीक्षते ।
यद्यत्कृतं त्वया कर्म दण्डके रघुनन्दन ॥ १९॥

राक्षसानां विनाशं च सीताहरणपूर्वकम् ।
सर्वं ज्ञातं मया राम तपसा ते प्रसादतः ॥ २०॥

सब कुशल है, महामना भरत जटावल्कल धारण और फल-मूलादि आहार कर राज्य का सम्पूर्ण कार्यभार आपकी पादुकाओं को समर्पित कर आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। हे रघुनन्दन ! दण्डकारण्य में आपने जो कार्य किये हैं और सीता हरण के अनन्तर जिस प्रकार आपने राक्षसों का वध किया है, वह सभी आपकी कृपा से तपोबल के द्वारा मुझे ज्ञात हो गये हैं ॥ १८-२०॥

त्वं ब्रह्म परमं साक्षादादिमध्यान्तवर्जितः ।
त्वमग्रे सलिलं सृष्ट्वा तत्र सुप्तोऽसि भूतकृत् ॥ २१॥

नारायणोऽसि विश्वात्मन्नराणामन्तरात्मकः ।
त्वन्नाभिकमलोत्पन्नो ब्रह्मा लोकपितामहः ॥ २२॥

आदि, मध्य और अन्त्य रहित आप साक्षात् परब्रह्म हैं। सभी प्राणियों के स्रष्टा आप हैं। सर्व प्रथम जल की सृष्टिकर आपने उसमें शयन किया था। हे विश्वात्मन् ! आप सम्पूर्ण प्राणियों की अन्तरात्मा हैं, अत: आप नारायण हैं। आपके ही नाभिकमल से उत्पन्न हुए ब्रह्माजी सम्पर्ण लोकों के पितामह हैं ॥ २१-२२॥

अतस्त्वं जगतामीशः सर्वलोकनमस्कृतः ।
त्वं विष्णुर्जानकी लक्ष्मीः शेषोऽयं लक्ष्मणाभिधः ॥ २३॥

अत: आप समस्त लोकों के वन्दनीय और सम्पूर्ण जगत् के स्वामी हैं। आप साक्षात् विष्णु भगवान् हैं, जानकीजी लक्ष्मी और लक्ष्मणजी शेषनाग हैं ॥ २३ ॥

आत्मना सृजसीदं त्वमात्मन्येवात्ममायया ।
न सज्जसे नभोवत्त्वं चिच्छक्त्या सर्वसाक्षिकः ॥ २४॥

अधिष्ठान रूप से आप अपने में ही अपनी माया से इस जगत् की सृष्टि करते हैं, परन्तु आकाश के समान आप किसी से लिप्त नहीं होते। अपनी चित् शक्ति से आप सबके साक्षी हैं ॥ २४ ॥

बहिरन्तश्च भूतानां त्वमेव रघुनन्दन ।
पूर्णोऽपि मूढदृष्टीनां विच्छिन्न इव लक्ष्यसे ॥ २५॥

हे रघनन्दन! आप समस्त प्राणियों में बाहर और भीतर व्याप्त हैं, पूर्ण होने पर भी आप मुद बुद्धि वालों को परिच्छिन्न एक देश में विद्यमान् प्रतीत होते हैं ॥ २५ ॥

जगत्त्वं जगदाधारस्त्वमेव परिपालकः ।
त्वमेव सर्वभूतानां भोक्ता भोज्यं जगत्पते ॥ २६॥

हे जगत्पते ! आप ही जगत्, के आधार, परिपालक, और समस्त प्राणियों के कालरूप से भोक्ता तथा अन्नरूप से भोज्य हैं ॥ २६॥

दृश्यते श्रूयते यद्यत्स्मर्यते वा रघूत्तम ।
त्वमेव सर्वमखिलं त्वद्विनान्यन्न किञ्चन ॥ २७॥

हे रघश्रेष्ठ ! जो भी दृष्टिगोचर हो रहा है तथा जो भी सुनाई पड़ता और स्मरण किया जाता है, वह सब आप ही हैं। आपके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है ॥ २७ ॥

माया सृजति लोकांश्च स्वगुणैरहमादिभिः ।
त्वच्छक्तिप्रेरिता राम तस्मात्त्वय्युपचर्यते ॥ २८॥

हे राम! आपकी शक्ति से प्रेरित होकर ही माया अपने अहंकारादि गुणों से अखिल लोकों की सृष्टि करती है। अत: इन सबकी सृष्टि का आप में ही आरोप किया जाता है ॥ २८ ॥

यथा चुम्बकसान्निध्याच्चलन्त्येवायसादयः ।
जडास्तथा त्वया दृष्टा माया सृजति वै जगत् ॥ २९॥

चुम्बक के समीप आने से जड पदार्थ लोहा जिस प्रकार चलायमान हो जाता है, उसी प्रकार आपकी दृष्टि से माया अखिल ब्रह्माण्ड की सृष्टि करती है ॥ २६ ॥

देहद्वयमदेहस्य तव विश्वं रिरक्षिषोः ।
विराट् स्थूलं शरीरं ते सूत्रं सूक्ष्ममुदाहृतम् ॥ ३०॥

विश्व की रक्षा करने की इच्छा वाले आप देह रहित होकर भी शरीरी हैं। आपका स्थूल शरीर विराट् नाम से विख्यात और सूक्ष्म शरीर सूत्र संज्ञक है ॥ ३० ॥

विराजः सम्भवन्त्येते अवताराः सहस्रशः ।
कार्यान्ते प्रविशन्त्येव विराजं रघुनन्दन ॥ ३१॥

हे रघुनन्दन! आपके विराट् शरीर से सहस्रों अवतार उत्पन्न होते हैं और अपना कार्य पूर्ण कर फिर उसी में लीन हो जाते हैं ॥ ३१॥

अवतारकथां लोके यह गायन्ति गृणन्ति च ।
अनन्यमनसो मुक्तिस्तेषामेव रघूत्तम ॥ ३२॥

हे रघूत्तम! जो प्राणी संसार में अनन्य मन होकर आपके अवतारों की कथा का गान करते और सुनते हैं, अवश्य ही उनकी मुक्ति हो जाती है ॥ ३२॥

त्वं ब्रह्मणा पुरा भूमेर्भारहाराय राघव ।
प्रार्थितस्तपसा तुष्टस्त्वं जातोऽसि रघोः कुले ॥ ३३॥

हे राघव ! पूर्व समय में पृथ्वी का भार हरण करने के लिये ब्रह्माजी ने आप से प्रार्थना की थे। उनकी प्रार्थना से संतुष्ट होकर आपने ही रघुकुल में अवतार लिया है ॥ ३३ ॥

देवकार्यमशेषेण कृतं ते राम दुष्करम् ।
बहुवर्षसहस्राणि मानुषं देहमाश्रितः ॥ ३४॥

कुर्वन् दुष्करकर्माणि लोकद्वयहिताय च ।
पापहारीणि भुवनं यशसा पूरयिष्यसि ॥ ३५॥

हे राम ! देवताओं का जो अत्यन्त दुष्कर कार्य था उसे आपने पूर्ण कर दिया। अब सहस्रों वर्षों तक मनुष्य रूप से स्थित रहकर दोनों लोकों के कल्याण के लिये अनेक कठिन और पापनाशक कार्यों को करते हुए आप सम्पूर्ण लोकों को अपने सुयश से परिपूर्ण करेंगे ॥३४-३५॥

प्रार्थयामि जगन्नाथ पवित्रं कुरु मे गृहम् ।
स्थित्वाद्य भुक्त्वा सबलः श्वो गमिष्यसि पत्तनम् ॥ ३६॥

हे जगन्नाथ ! मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप आज सेना सहित मेरे यहाँ रूककर भोजन कीजिये और मेरा आश्रम पवित्र कीजिये । कल आप अपनी राजधानी में चले जाना ॥ ३६॥

तथेति राघवोऽतिष्ठत्तस्मिन्नाश्रम उत्तमे ।
ससैन्यः पूजितस्तेन सीतया लक्ष्मणेन च ॥ ३७॥

तत्पश्चात् श्रीरघनाथजी ने 'जैसी आपकी आज्ञा' यह कह कर भरद्वाज मुनि द्वारा सत्कृत हो सेना, सीताजी और लक्ष्मणजी सहित उस उत्तम आश्रम में विश्राम किया ॥३७॥

ततो रामश्चिन्तयित्वा मुहूर्तं प्राह मारुतिम् ।
इतो गच्छ हनूमंस्त्वमयोध्यां प्रति सत्वरः ॥ ३८॥

इस समय मुहूर्त्तमात्र कुछ सोचकर भगवान श्रीरामचन्द्रजी ने पवनकुमार श्रीहनुमानजी से कहा हनुमान ! यहाँ से तुम शीघ्र ही अयोध्या जाओ ॥ ३८ ॥

जानीहि कुशली कच्चिज्जनो नृपतिमन्दिरे ।
शृङ्गवहरपुरं गत्वा ब्रूहि मित्रं गुहं मम ॥ ३९॥

वहाँ पता करो कि राजमन्दिर में सभी कुशल सहित तो हैं ? और शृङ्गवेर पुर में जाकर मेरे मित्र गुह से बातचीत करना ॥ ३९॥

जानकीलक्ष्मणोपेतमागतं मां निवहदय ।
नन्दिग्रामं ततो गत्वा भ्रातरं भरतं मम ॥ ४०॥

जानकी और लक्ष्मण सहित मेरे आने की सूचना उसे देना। तदनन्तर नन्दिग्राम में जाकर मेरे भाई भरत से मिलना ॥ ४०॥

दृष्ट्वा ब्रूहि सभार्यस्य सभ्रातुः कुशलं मम ।
सीतापहरणादीनि रावणस्य वधादिकम् ॥ ४१॥

ब्रूहि क्रमेण मे भ्रातुः सर्वं तत्र विचेष्टितम् ।

हत्वा शत्रुगणान् सर्वान् सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥ ४२॥

उपयाति समृद्धार्थः सह ऋक्षहरीश्वरैः ।
इत्युक्त्वा तत्र वृत्तान्तं भरतस्य विचेष्टितम् ॥ ४३॥

और उन्हें भार्या और अनुज सहित मेरा कुशल सुनाना। सीता हरण से लेकर रावण वध पर्यन्त समस्त लीलाओं को क्रमपूर्वक सुनाना और यह कहना कि श्रीरामचन्द्रजी सभी शत्रुओं को मारकर मनोरथ पूर्ण हो, भार्या और लक्ष्मण तथा रीछ और वानरों के सहित आ रहें हैं। ॥ ४१-४३॥

सर्वं ज्ञात्वा पुनः शीघ्रमागच्छ मम सन्निधिम् ।
तथेति हनुमांस्तत्र मानुषं वपुरास्थितः ॥ ४४॥

नन्दिग्रामं ययौ तूर्णं वायुवहगेन मारुतिः ।
गरुत्मानिव वहगेन जिघृक्षन् भुजगोत्तमम् ॥ ४५॥

यह सब सुनाकर भरत की सभी चेष्टाओं को जानकर शीघ्र ही मेरे पास लौट आना। 'तथा इति' यह कहकर हनुमानजी शीघ्र मनुष्य शरीर धारण कर वायुवेग से नन्दिग्राम की ओर उस भाँति चले जैसे किसी अच्छे सर्प को पकड़ने के लिए गरूड़जी जा रहे हों।४४-४५॥

शृङ्गवहरपुरं प्राप्य गुहमासाद्य मारुतिः ।
उवाचा मधुरं वाक्यं प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ ४६॥

शृङ्गवेर पुर में गुह के समीप जाकर हनुमानजी अति प्रसन्न मन मधुर वाक्य गुह से बोले ॥ ४६॥

रामो दाशरथिः श्रीमान् सखा ते सह सीतया ।
सलक्ष्मणस्त्वां धर्मात्मा क्षेमी कुशलमब्रवीत् ॥ ४७॥

तुम्हारे मित्र परम धार्मिक दशरथ नन्दन श्रीमान् रामचन्द्रजी ने सीताजी एवं लक्ष्मण सहित अपनी कुशलता तुम्हारे पास भेजी है ॥४७॥

अनुज्ञातोऽद्य मुनिना भरद्वाजेन राघवः ।
आगमिष्यति तं देवं द्रक्ष्यसि त्वं रघूत्तमम् ॥ ४८॥

मुनिवर भरद्वाजजी की आज्ञा लेकर आज श्रीरामचन्द्र जी आयेंगे। तत्पश्चात् उन रघुश्रेष्ठ भगवान् श्रीराम का तुम्हें भी दर्शन होगा ॥४८॥

एवमुक्त्वा महातेजाः सम्प्रहृष्टतनूरुहम् ।
उत्पपात महावहगो वायुवहगेन मारुतिः ॥ ४९॥

गुह से यह कहकर हर्ष से रोमाञ्चित शरीर वाले महातेजस्वी, अतिवेगशाली हनुमानजी पुनः वायुवेग से उड़ चले ॥ ४९ ॥

सोऽपश्यद्रामतीर्थं च सरयूं च महानदीम् ।
तामतिक्रम्य हनुमान्नन्दिग्रामं ययौ मुदा ॥ ५०॥

उन्होंने रामतीर्थ अयोध्यापुरी और महानदी सरयूजी का दर्शन किया। उसे पारकर अति प्रसन्न मन से हनुमानजी नन्दिग्राम चल दिये ॥५०॥

क्रोशमात्रे त्वयोध्यायाश्चीरकृष्णाजिनाम्बरम् ।
ददर्श भरतं दीनं कृशमाश्रमवासिनम् ॥ ५१॥

मलपङ्कविदिग्धाङ्गं जटिलं वल्कलाम्बरम् ।
फलमूलकृताहारं रामचिन्तापरायणम् ॥ ५२॥

अयोध्या से एक कोस की दूरी पर अति दीन तथा दुर्बल चीर वस्त्र और मृगचर्म धारण किये भरतजी को आश्रम में निवास करते हुए हनुमान जी ने देखा, शरीर में भस्म रमाये जटाजूट और वल्कलवस्त्र धारण किये, फल मूलादि आहार पूर्वक भगवान श्रीराम के ध्यान में तत्पर होकर ॥ ५१-५२ ॥

पादुके ते पुरस्कृत्य शासयन्तं वसुन्धराम् ।
मन्त्रिभिः पौरमुख्यैश्च काषायाम्बरधारिभिः ॥ ५३॥

वृतदेहं मूर्तिमन्तं साक्षाद्धर्ममिव स्थितम् ।
उवाच प्राञ्जलिर्वाक्यं हनूमान्मारुतात्मजः ॥ ५४॥

श्रीरामचन्द्रजी की दोनों पादुकाओं को सामने रखकर पृथ्वी का शासन करते तथा काषाय वस्त्रधारी मन्त्रियों और मुख्य-मुख्य नगर निवासियों से घिरे हुए साक्षात् मूर्तिमान धर्म के समान देखकर पवनकुमार हनुमानजी हाथ जोड़कर बोले ॥ ५३-५४ ॥

यं त्वं चिन्तयसे रामं तापसं दण्डके स्थितम् ।
अनुशोचसि काकुत्स्थः स त्वां कुशलमब्रवीत् ॥ ५५॥

भरतजी ! जिन दण्डकारण्य निवासी तपोनिष्ठ भगवान श्रीरामका आप चिन्तन करते है, तथा जिनके लिये आप इतनी तपस्या करते हैं;

उन काकुत्स्थनन्दन श्रीराम ने आपके पास अपनी कुशलता भेजी है ॥५॥

प्रियमाख्यामि ते देव शोकं त्यज सुदारुणम् ।
अस्मिन्मुहूर्ते भ्रात्रा त्वं रामेण सह सङ्गतः ॥ ५६॥

हे देव ! आप इस दारून शोक का त्याग कीजिये। मैं आपको अतिप्रिय समाचार सुनाता हूँ कि इसी मुहर्त में आप अपने भाई श्रीरामजी से मिलेंगे ॥५६॥

समरे रावणं हत्वा रामः सीतामवाप्य च ।
उपयाति समृद्धार्थः ससीतः सहलक्ष्मणः ॥ ५७॥

भगवान् श्रीराम युद्ध में रावण को मार कर सफल मनोरथ होकर श्रीसीताजी और अनुज लक्ष्मण सहित आ रहे हैं ॥ ५७ ॥

एवमुक्तो महातेजा भरतो हर्षमूर्च्छितः ।
पपात भुवि चास्वस्थः कैकयीप्रियनन्दनः ॥ ५८॥

महातेजस्वी श्रीहनुमानजी का यह कथन सुनकर कैकेयी के प्रिय पुत्र भरतजी हर्ष से मूर्छित होकर अपनी सुध-बुध खोकर पृथिवी पर गिर पड़े ॥ ५८ ॥

आलिङ्ग्य भरतः शीघ्रं मारुतिं प्रियवादिनम् ।
आनन्दजैरश्रुजलैः सिषेच भरतः कपिम् ॥ ५९॥

और फिर भरतजी ने सचेत होकर शीघ्र ही प्रियवादी हनुमानजी को हृदय से लगा लिया और आनन्दान जल से उन वानरश्रेष्ठ हनुमानजी को सींचने लगे॥ ५९॥

देवो वा मानुषो वा त्वमनुक्रोशादिहागतः ।
प्रियाख्यानस्य ते सौम्य ददामि ब्रुवतः प्रियम् ॥ ६०॥

गवां शतसहस्रं च ग्रामाणां च शतं वरम् ।
सर्वाभरणसम्पन्ना मुग्धाः कन्यास्तु षोडश ॥ ६१॥

वह बोले-भैय्या ! आप कोई देवता अथवा मनुष्य कौन हैं, जो आप दया पूर्वक यहाँ आये हैं ? हे सौम्य ! इस प्रिय समाचार को सुनाने के लिये आपको एक लक्ष गौ उत्तमोत्तम सौ ग्राम तथा सभी आभूषणों से सुसज्जित सोलह कन्याएँ देता हूँ ॥ ६०-६१॥

एवमुक्त्वा पुनः प्राह भरतो मारुतात्मजम् ।
बहूनीमानि वर्षाणि गतस्य सुमहद्वनम् ॥ ६२॥

शृणोम्यहं प्रीतिकरं मम नाथस्य कीर्तनम् ।
कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति मे ॥ ६३॥

यह कहकर पुनः श्रीभरतजी हनुमानजी से बोले भयंकर वन में जाने के बहुत वर्ष बीत गये, आज अपने प्रभु का यह प्रिय समाचार मै सुन रहा हूँ। कल्याण कारिणी लौकिक कहावत् आज मुझे चरितार्थ प्रतीत हो रही है ॥ ६२-६३॥

एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि ।

राघवस्य हरीणां च कथमासीत्समागमः ॥ ६४॥

तत्त्वमाख्याहि भद्रं ते विश्वसेयं वचस्तव ।
एवमुक्तोऽथ हनुमान् भरतेन महात्मना ॥ ६५॥

आचचक्षेऽथ रामस्य चरितं कृत्स्नशः क्रमात् ।
श्रुत्वा तु परमानन्दं भरतो मारुतात्मजात् ॥ ६६॥

कि जीवित रहने पर सौ वर्षों में भी मनुष्य आनन्द प्राप्त कर सकता है। आपका कल्याण हो, आप सही-सही यह बतलावें कि श्रीरघुनाथजी के साथ वानरों का समागम कैसे हुआ, जिससे आपके वचनों पर मैं पूर्ण विश्वास करूँ। महात्मा भरतजी के इस प्रकार कहने पर हनुमानजी क्रमशः श्रीरघुनाथजी का चरित्र वर्णन किये। हनुमानजी द्वारा भगवान् का वह चरित्र सुनकर श्रीभरतजी को अति आनन्द हुआ ॥ ६४-६६ ॥

आज्ञापयच्छत्रुहणं मुदा युक्तं मुदान्वितः ।
दैवतानि च यावन्ति नगरे रघुनन्दन ॥ ६७॥

नानोपहारबलिभिः पूजयन्तु महाधियः ।
सूता वैतालिकाश्चैव वन्दिनः स्तुतिपाठकाः ॥ ६८॥

वारमुख्याश्च शतशो निर्यान्त्वद्यैव सङ्घशः ।
राजदारास्तथामात्याः सेना हस्त्यश्वपत्तयः ॥ ६९॥

ब्राह्मणाश्च तथा पौरा राजानो यह समागताः ।
निर्यान्तु राघवस्याद्य द्रष्टुं शशिनिभाननम् ॥ ७०॥

अति प्रसन्न हो आनन्दमग्न वे शत्रुघ्नजी को आज्ञा दिये कि हे रघुनन्दन ! नगर में जितने देवगण हैं, सब प्रकार की पूजन सामग्री एवं बलि से पण्डित लोग उनकी पूजा करें। सूत, वैतालिक, स्तुतिगान करने वाले वन्दीजन तथा मुख्य-मुख्य वाराङ्गनाएँ सैकड़ों की संख्या में आज टोली बनाकर नगर के बाहर निकलें। राजमहिलाएँ, मन्त्रिगण, हाथी-घोड़े और पदाति सेना, ब्राह्मण गण, पुरवासी तथा आगत सभी राजा लोग श्रीरघुनाथजी के मुखचन्द्र का अवलोकन करने के लिये नगर के बाहर चलें ॥ ६७-७० ॥

भरतस्य वचः श्रुत्वा शत्रुघ्नपरिचोदिताः ।
अलञ्चक्रुश्च नगरीं मुक्तारत्नमयोज्ज्वलैः ॥ ७१॥

तोरणैश्च पताकाभिर्विचित्राभिरनेकधा ।
अलङ्कुर्वन्ति वहश्मानि नानाबलिविचक्षणाः ॥ ७२॥

भरतजी की आज्ञा सुनकर शत्रुघ्नजी की प्रेरणा से विविध प्रकार की रचनाओं में कुशल पुरवासीयों ने अपने-अपने घरों को सुसज्जित करना प्रारम्भ कर दिया किये और विविध भाँति के उज्ज्वल मोतियों और रत्नों के वन्दनवारों एवं विचित्र पताकाओं से अयोध्यापुरी सजा दी गयी ॥७१-७२॥

निर्यान्ति वृन्दशः सर्वे रामदर्शनलालसाः ।
हयानां शतसाहस्रं गजानामयुतं तथा ॥ ७३॥

रथानां दशसाहस्रं स्वर्णसूत्रविभूषितम् ।
पारमेष्ठीन्युपादाय द्रव्याण्युच्चावचानि च ॥ ७४॥

तत्पश्चात् भगवान् श्रीराम के दर्शन की अभिलाषा से सभी लोग अनेक टोलियाँ बनाकर भेंट के लिये एक लाख घोड़े, दस हजार हाथी और सुनहरी बागडोरों से विभूषित दस सहन रथ आदि अनेक ऐश्वर्य सूचक छोटी-बड़ी वस्तुओं को लेकर नगर से बाहर निकलने लगे ॥ ७३-७४ ॥

ततस्तु शिबिकारूढा निर्ययू राजयोषितः ।
भरतः पादुके न्यस्य शिरस्येव कृताञ्जलिः ॥ ७५॥

शत्रुघ्नसहितो रामं पादचारेण निर्ययौ ।
तदैव दृश्यते दूराद्विमानं चन्द्रसन्निभम् ॥ ७६॥

उनके पीछे पालकी पर चढ़कर राज महिलाएँ चलीं, पुनः श्रीरघुनाथजी से मिलने के लिये भाई शत्रुघ्न सहित भरतजी अपने शिरपर भगवान श्रीरामचन्द्रजी की पादुकाएँ रखकर हाथ जोड़े हुए पैदल चले। इसी समय ब्रह्माजी के मन से निर्मित चन्द्रमा के समान कान्तिमान ॥ ७५-७६ ॥

पुष्पकं सूर्यसङ्काशं मनसा ब्रह्मनिर्मितम् ।
एतस्मिन् भ्रातरौ वीरौ वैदेह्या रामलक्ष्मणौ ॥ ७७॥

सुग्रीवश्च कपिश्रेष्ठो मन्त्रिभिश्च विभीषणः ।
दृश्यते पश्यत जना इत्याह पवनात्मजः ॥ ७८॥

और सूर्य के समान तेजस्वी पुष्पक विमान दूर से ही दिखायी पड़ा। विमान को देखकर हनुमानजी ने कहा- पुरवासियों इस विमान पर

वैदेही श्रीजानकी जी सहित वीरवर दोनों भाई राम और लक्ष्मण तथा कपिश्रेष्ठ सुग्रीव और मन्त्रियों सहित विभीषण दिखाई दे रहें हैं ॥ ७५-७८ ॥

ततो हर्षसमुद्भूतो निःस्वनो दिवमस्पृशत् ।
स्त्रीबालयुववृद्धानां रामोऽयमिति कीर्तनात् ॥ ७९॥

तदनन्तर यह श्रीराम हैं, कहने से स्त्री, बालक, युवा और वृद्धों के हर्ष ध्वनि के कारण हुए शब्द से आकाश गुंजायमान हो गया ॥ ७९ ॥

रथकुञ्जरवाजिस्था अवतीर्य महीं गताः ।
ददृशुस्ते विमानस्थं जनाः सोममिवाम्बरे ॥ ८०॥

रथ, हाथी, घोड़े आदि पर सवार हुए व्यक्ति उतर कर पृथ्वी पर खड़े हो गये। उस समय वह लोग विमान पर चढ़े हुए भगवान् श्रीराम को आकाश में चन्द्रमा के समान देखने लगे ॥ ८० ॥

प्राञ्जलिर्भरतो भूत्वा प्रहृष्टो राघवोन्मुखः ।
ततो विमानाग्रगतं भरतो राघवं मुदा ॥ ८१॥

ववन्दे प्रणतो रामं मेरुस्थमिव भास्करम् ।
ततो रामाभ्यनुज्ञातं विमानमपतद्भुवि ॥ ८२॥

तब प्रसन्न मन से भरतजी ने विमान पर बैठे हुए श्रीरघुनाथजी के सम्मुख होकर उन्हें सुमेरु पर्वत पर प्रकट हुए सूर्य के समान अति विनीत भाव से हर्ष पूर्वक प्रणाम किया। तदनन्तर भगवान श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा से विमान पृथ्वी पर उतरा ॥ ८१-८२ ॥

आरोपितो विमानं तद्भरतः सानुजस्तदा ।
राममासाद्य मुदितः पुनरेवाभ्यवादयत् ॥ ८३॥

तब श्रीरामचन्द्रजी ने भाई शत्रुधन सहित भरतजी को विमान पर चढ़ा लिया। श्रीरामचन्द्रजी के समीप पहुँच कर भरतजी अति आनन्दित हुए और उन्होंने प्रणाम किया ॥ ८३ ॥

समुत्थाय चिराद्दृष्टं भरतं रघुनन्दनः ।
भ्रातरं स्वाङ्कमारोप्य मुदा तं परिषस्वजे ॥ ८४॥

तदनन्तर बहुत दिनों के बाद देखे हुए भाई भरत को रघुनाथजी शीघ्रता से उठाकर प्रसन्नता से गोद में बैठाकर उनका आलिंगन किया ॥ ८४ ॥

ततो लक्ष्मणमासाद्य वैदेहीं नाम कीर्तयन् ।
अभ्यवादयत प्रीतो भरतः प्रेमविह्वलः ॥ ८५॥

और प्रेम से विह्वल भरतजी ने लक्ष्मण से मिलकर अपना नामोच्चारण पूर्वक श्रीसीताजी को प्रणाम किया ॥ ८५॥

सुग्रीवं जाम्बवन्तं च युवराजं तथाङ्गदम् ।
मैन्दद्विविदनीलांश्च ऋषभं चैव सस्वजे ॥ ८६॥

सुषेणं च नलं चैव गवाक्षं गन्धमादनम् ।
शरभं पनसं चैव भरतः परिषस्वजे ॥ ८७॥

और उसके पश्च्यात भरतजी ने सुग्रीव, जाम्बवान् , युवराज अंगद, मैन्द, द्विविद, नील ऋषभ, सुषेण, नल, गवाक्ष, गन्धमादन, शरभ और पनस आदि को हृदय से लगाया ॥८६-८७॥

सर्वे ते मानुषं रूपं कृत्वा भरतमादृताः ।
पप्रच्छुः कुशलं सौम्याः प्रहृष्टाश्च प्लवङ्गमाः ॥ ८८॥

श्रीभरतजी द्वारा इस प्रकार सत्कृत होकर सौम्य वानरगणों ने मनुष्य रूप धारण कर उनकी कुशलता पूछी ॥ ८८॥

ततः सुग्रीवमालिङ्ग्य भरतः प्राह भक्तितः ।
त्वत्सहायेन रामस्य जयोऽभूद्रावणो हतः ॥ ८९॥

तब सुग्रीव को हृदय से लगाकर प्रेम पूर्वक श्रीभरतजी ने कहा- ॥ ८९ ॥

त्वमस्माकं चतुर्णां तु भ्राता सुग्रीव पञ्चमः ।
शत्रुघ्नश्च तदा राममभिवाद्य सलक्ष्मणम् ॥ ९०॥

सीतायाश्चरणौ पश्चाद्ववन्दे विनयान्वितः ।
रामो मातरमासाद्य विवर्णां शोकविह्वलाम् ॥ ९१॥

जग्राह प्रणतः पादौ मनो मातुः प्रसादयन् ।
कैकेयीं च सुमित्रां च ननामेतरमातरौ ॥ ९२॥

सुग्रीव ! आपकी सहायता से ही श्रीरामचन्द्रजी की विजय हुई और रावण मारा गया। अतः चारो भाइयों के आप पाँचवें भाई हैं। तब

लक्ष्मणजी सहित भगवान् श्रीरामचन्द्रजी को शत्रुध्नजी प्रणाम कर अति विनीत भाव से श्रीसीताजी के चरणों की वन्दना की। तदान्तर श्रीरामचन्द्रजी के शोक में अति व्याकुल और कृश हुई माता कौसल्या के पास जाकर अति विनय पूर्वक श्रीरामचन्द्रजी ने उनके चरण छुए और उनके मन को प्रसन्न किया तथा अपनी अन्य दुसरी माता कैकेयी और सुमित्रा को भी प्रणाम किया ॥ ८९-९२ ॥

भरतः पादुके ते तु राघवस्य सुपूजिते ।
योजयामास रामस्य पादयोर्भक्तिसंयुतः ॥ ९३॥

तत्पश्चात् भरतजी ने श्रीरघुनाथजी की भक्ति पूर्वक पूजा की और उनके चरणों में पादुकाओं को अति भक्ति भाव से पहना दिया ॥९३॥

राज्यमेतन्न्यासभूतं मया निर्यातितं तव ।
अद्य मे सफलं जन्म फलितो मे मनोरथः ॥ ९४॥

यत्पश्यामि समायातमयोध्यां त्वामहं प्रभो ।
कोष्ठागारं बलं कोशं कृतं दशगुणं मया ॥ ९५॥

भारत जी बोले-प्रभो! धरोहर रूप में सौंपे हुए इस राज्य को मैं आपको पुन: समर्पित करता हूँ ; आज आपको अयोध्या में वापस आये हुए देख कर मेरा जन्म सफल हो गया और मेरी सभी कामनाएँ पूर्ण हो गयीं। हे जगन्नाथ ! आपके प्रताप से अयोध्या राज्य का अन्न-भण्डार; सेना, कोश आदि दस गुणा हो गए हैं। ॥९४-९५॥

त्वत्तेजसा जगन्नाथ पालयस्व पुरं स्वकम् ।
इति ब्रुवाणं भरतं दृष्ट्वा सर्वे कपीश्वराः ॥ ९६॥

मुमुचुर्नेत्रजं तोयं प्रशशंसुर्मुदान्विताः ।
ततो रामः प्रहृष्टात्मा भरतं स्वाङ्कगं मुदा ॥ ९७॥

ययौ तेन विमानेन भरतस्याश्रमं तदा ।
अवरुह्य तदा रामो विमानाग्र्यान्महीतलम् ॥ ९८॥

अब्रवीत्पुष्पकं देवो गच्छ वैश्रवणं वह ।
अनुगच्छानुजानामि कुबेरं धनपालकम् ॥ ९९॥

अब स्वयं आप अपने नगर का पालन कीजिये। इस प्रकार भरतजी के कहते हुए देखकर सभी प्रमुख वानरगण हर्ष से अश्रु प्रवाह करते हुए भरतजी की प्रशंसा करने लगे। तत्पश्चात् अति हर्ष पूर्वक भरतजी को गोद में लेकर श्रीरामचन्द्रजी विमान पर आरूढ़ हो भरतजी के आश्रम में गये। वहाँ पर विमान श्रेष्ठ पुष्पक से वह लोग नीचे पृथ्वी पर उतरे और भगवान श्रीरामचन्द्रजी ने पुष्पक से कहा -मैं आज्ञा देता हूँ, तुम जाओ; तुम अब धनपति कुबेर का अनुसरण करते हुए उन्हें ही वहन करो ॥ ९४-९९ ॥

रामो वसिष्ठस्य गुरोः पदाम्बुजं नत्वा यथा देवगुरोः शतक्रतुः ।
दत्त्वा महार्हासनमुत्तमं गुरोरुपाविवहशाथ गुरोः समीपतः ॥१००॥

जिस प्रकार इन्द्र बृहस्पति की वन्दना करते हैं, उसी प्रकार भगवान श्रीरामचन्द्रजी के चरणारविन्दों की वन्दना कर उन्हें अति सुन्दर आसन देकर स्वयं भी उनके समीप ही बैठ गये ॥ १००॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे युद्धकाण्डे चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

॥पञ्चदशः सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्रजी का राज्याभिषेक

श्रीमहादेव उवाच ।
ततस्तु कैकयीपुत्रो भरतो भक्तिसंयुतः ।
शिरस्यञ्जलिमाधाय ज्येष्ठं भ्रातरमब्रवीत् ॥ १॥

श्रीमहादेवजी बोले- कैकेयी नन्दन श्रीभरतजी ने भक्तिपूर्वक हाथ जोड़कर सिर पर अंजलि बाँध कर ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामचन्द्रजी से कहा ॥ १॥

माता मे सत्कृता राम दत्तं राज्यं त्वया मम ।
ददामि तत्ते च पुनर्यथा त्वमददा मम ॥ २॥

हे राम ! आपने मुझे राज्य अर्पित किया था, इससे मेरी माता का सत्कार हो गया। वह राज्य मैं पुनः आपको समर्पित करता हूँ ॥२॥

इत्युक्त्वा पादयोर्भक्त्या साष्टाङ्गं प्रणिपत्य च ।
बहुधा प्रार्थयामास कैकेय्या गुरुणा सह ॥ ३॥

यह कहकर भक्ति पूर्वक उन्होंने भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के चरणों में साष्टांग प्रणाम किया और कैकेयी तथा गुरुवर सहित अनेक प्रकार से श्री राम चन्द्र से प्रार्थना की ॥३॥

तथेति प्रतिजग्राह भरताद्राज्यमीश्वरः ।

मायामाश्रित्य सकलां नरचेष्टामुपागतः ॥ ४॥

तब अपनी माया को आश्रय कर मनुष्य वत् विविध लीलाओं में प्रवृत हुए भगवान श्रीराम 'जैसी तुम्हारी इच्छा' यह कह भरतजी से राज्य ले लिया ॥ ४॥

स्वाराज्यानुभवो यस्य सुखज्ञानैकरूपिणः ।
निरस्तातिशयानन्दरूपिणः परमात्मनः ॥ ५॥

मानुषेण तु राज्येन किं तस्य जगदीशितुः ।
यस्य भ्रूभङ्गमात्रेण त्रिलोकी नश्यति क्षणात् ॥ ६॥

यस्यानुग्रहमात्रेण भवन्त्याखण्डलश्रियः ।
लीलासृष्टमहासृष्टेः कियदेतद्रमापतेः ॥ ७॥

सर्वदा स्वर्गीय राज्य का अनुभव वाले, एकमात्र सत्य ज्ञानस्वरूप, समस्त विषयानन्द रहित, परमानन्द मूर्ति, परमात्मा, जगदीश्वर श्रीराम को तुच्छ मानव के राज्य से क्या प्रयोजन ? जिनकी भृकुटिविलास मात्र से क्षणमात्र में तीनों लोक नष्ट हो जाते हैं, जिनकी कृपा से इंद्र को राज्य लक्ष्मी प्राप्त होती हैं तथा जो लीला से इस महान् सृष्टि की रचना करते हैं, उन लक्ष्मीपति भगवान् श्रीराम के लिये यह राज्य कितना है ?॥५-७ ॥

तथापि भजतां नित्यं कामपूरविधित्सया ।
लीलामानुषदेहेन सर्वमप्यनुवर्तते ॥ ८॥

फिर भी वह अपने भक्तों की इच्छा को हमेशा पूर्ण करने के लिए माया-मानव होकर हमेशा सब कुछ अभिनय करते हैं ॥८॥

ततः शत्रुघ्नवचनान्निपुणः श्मश्रुकृन्तकः
सम्भाराश्चाभिषेकार्थमानीता राघवस्य हि ॥ ९॥

तदनन्तर शत्रुघ्नजी की आज्ञा से कुशल क्षौर कर्म कर्ता को बुलाया गया और श्रीरामचन्द्रजी के अभिषेक के लिये सामग्री एकत्रित की गयी ॥९॥

पूर्वं तु भरते स्नाते लक्ष्मणे च महात्मनि ।
सुग्रीवह वानरेन्द्रे च राक्षसेन्द्रे विभीषणे ॥ १०॥

सर्वप्रथम भरतजी ने स्नान किया और उनके पश्च्यात लक्ष्मणजी स्नान किया। तब वानरराज सुग्रीव और राक्षस राज विभीषण ने स्नान किया ॥ १० ॥

विशोधितजटः स्नातश्चित्रमाल्यानुलेपनः ।
महार्हवसनोपेतस्तस्थौ तत्र श्रिया ज्वलन् ॥ ११॥

फिर जटा-जूट कट जाने पर श्रीरघुनाथजी ने स्नान किया और चित्र-विचित्र मालाओं, अंगरागों तथा बहुमूल्य वस्त्रों से सुसज्जित होकर वह अपनी कान्ति से प्रकाशित होकर स्थित हुए ॥ ११॥

प्रतिकर्म च रामस्य लक्ष्मणश्च महामतिः ।
कारयामास भरतः सीताया राजयोषितः ॥ १२॥

महामति लक्ष्मण और भरतजी ने श्रीरामचन्द्रजी को विभूषित किया और राजमहिलाओं ने श्रीसीताजी का शृङ्गार किया।॥१२॥

महार्हवस्त्राभरणैरलञ्चक्रुः सुमध्यमाम् ।
ततो वानरपत्नीनां सर्वासामेव शोभना ॥ १३॥

अकारयत कौसल्या प्रहृष्टा पुत्रवत्सला ।
ततः स्यन्दनमादाय शत्रुघ्नवचनात्सुधीः ॥ १४॥

सुमन्त्रः सूर्यसङ्काशं योजयित्वाग्रतः स्थितः ।
आरुरोह रथं रामः सत्यधर्मपरायणः ॥ १५॥

उन्होंने सुन्दरी सीता जी को विविध भाँति बहुमूल्य वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित किया और सीता जी के पश्च्यात वानरपत्नियों ने शृङ्गार कराया। इसी समय बुद्धिमान सुमन्तजी शत्रुध्नजी की आज्ञा से सूर्य के समान एक तेजस्वी रथ सजाकर सामने लाकर खड़ा कर दिया। तब सत्यधर्म परायण भगवान् श्रीराम उस रथ पर सवार हुए ॥१३-१५॥

सुग्रीवो युवराजश्च हनुमांश्च विभीषणः ।
स्नात्वा दिव्याम्बरधरा दिव्याभरणभूषिताः ॥ १६॥

राममन्वीयुरग्रे च रथाश्वगजवाहनाः ।
सुग्रीवपत्न्यः सीता च ययुर्यानैः पुरं महत् ॥ १७॥

सुग्रीव, युवराज अङ्गद, हनुमान और विभीषण भी स्नानकर दिव्य वस्त्र और दिव्य आभूषणों से सुसज्जित होकर रथ, घोड़े तथा हाथी

आदि वाहनों पर चढ़कर भगवान् श्रीरामचन्द्र जी के आगे-पीछे चले। सुग्रीव की पत्नियाँ और श्रीसीताजी सुन्दर पालकियों पर चढ़कर महती अयोध्यानगरी को चली ॥ १६-१७ ॥

वज्रपाणिर्यथा देवैर्हरिताश्वरथे स्थितः ।
प्रययौ रथमास्थाय तथा रामो महत्पुरम् ॥ १८॥

हरितवर्ण के घोड़ों वाले रथपर चढ़कर वज्रपाणि इन्द्र जिस प्रकार देवताओं के साथ चलते हैं, उसी प्रकार रथ पर आरुढ़ हो भगवान् श्रीराम महापुरी अयोध्या को चले ॥ १८ ॥

सारथ्यं भरतश्चक्रे रत्नदण्डं महाद्युतिः ।
श्वेतातपत्रं शत्रुघ्नो लक्ष्मणो व्यजनं दधे ॥ १९॥

उस समय महातेजस्वी भरतजी ने सारथी बनकर कर रथ चलाया, शत्रुघ्नजी ने रत्नजटित दण्डयुक्त श्वेत छत्र से छाया की और लक्ष्मणजी ने व्यजन (पंखा) धारण किया ॥ १९ ॥

चामरं च समीपस्थो न्यवीजयदरिन्दमः ।
शशिप्रकाशं त्वपरं जग्राहासुरनायकः ॥ २०॥

समीप ही स्थित होकर एक तरफ से शत्रु दमन सुग्रीव ने और दूसरी तरफ से राक्षसाधिप विभीषण ने चन्द्रकान्तिवाले चँवर डुलाये ॥२०॥

दिविजैः सिद्धसङ्घैश्च ऋषिभिर्दिव्यदर्शनैः ।
स्तूयमानस्य रामस्य शुश्रुवह मधुरध्वनिः ॥ २१॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी की स्तुति करते हुए उस समय दिव्यदर्शन करने के लिए उत्सुक देवगण सिद्धों और ऋषियों की सुमधुर ध्वनियाँ सुनायी पड़ने लगीं ॥२१॥

मानुषं रूपमास्थाय वानरा गजवाहनाः ।
भेरीशङ्खनिनादैश्च मृदङ्गपणवानकैः ॥ २२॥

प्रययौ राघवश्रेष्ठस्तां पुरीं समलङ्कृताम् ।
ददृशुस्ते समायान्तं राघवं पुरवासिनः ॥ २३॥

वानरगण मनुष्य रूप धारण कर हाथियों पर चढ़े। इस प्रकार भेरी, शंख, मृदंग, पणव, आनक आदि वाद्यों से विधिवत् सजायी गयी अयोध्यापुरी में भगवान् श्रीराम गए । पुरवासीगण उस समय आते हुए भगवान् श्रीराम का दर्शन करने लगे ॥ २२-२३ ॥

दूर्वादलश्यामतनुं महार्हकिरीटरत्नाभरणाञ्चिताङ्गम् ।
आरक्तकञ्जायतलोचनान्तं दृष्ट्वा ययुर्मोदमतीव पुण्याः ॥ २४॥

विचित्ररत्नाञ्चितसूत्रनद्धपीताम्बरं पीनभुजान्तरालम् ।
अनर्घ्यमुक्ताफलदिव्यहारैः विरोचमानं रघुनन्दनं प्रजाः ॥ २५॥

सुग्रीवमुख्यैर्हरिभिः प्रशान्तैः निषेव्यमाणं रवितुल्यभासम् ।
कस्तूरिकाचन्दनलिप्तगात्रं निवीतकल्पद्रुमपुष्पमालम् ॥ २६॥

दूर्वादल के समान श्याम शरीर, बहुमुल्य मुकुट और रत्नजटित आभूषणों से विभूषित, कमल के समान इषत् अरुण वर्ण विशाल नेत्रों वाले, विचित्र रत्नों को धारण किए, सुवर्णसूत्र से सुसन्ति पीताम्बर

धारण किये, विशालवक्षः स्थल वाले, वहुमूल्य मोतियों के हारों से सुसज्जित, शान्तस्वभाव वाले सुग्रीव आदि वानरों से सेवित, सूर्य के समान तेजस्वी, अंगों में कस्तूरी और चन्दन का लेप किए और कल्पवृक्ष के पुष्पों की माला धारण किए श्रीरघुनाथजी को देखकर महाभाग पुरवासी गण परमानन्दित हुए ॥ २४-२६ ॥

श्रुत्वा स्त्रियो राममुपागतं मुदा प्रहर्षवहगोत्कलिताननश्रियः ।
अपास्य सर्वं गृहकार्यमाहितं हर्म्याणि चैवारुरुहुः स्वलङ्कृताः
॥२७॥

भगवान् श्रीराम का आगमन सुनकर स्त्रियों के मुख की कान्ति उज्ज्वल हो गयी और वह जिस कार्य को कर रहीं थीं उसे छोड़कर विधिवत्‌ सज-धज कर अपने-अपने घरों के छत पर चढ़ गयीं ॥२७॥

दृष्ट्वा हरिं सर्वदृगुत्सवाकृतिं पुष्पैः किरन्त्यः स्मितशोभिताननाः ।
दृग्भिः पुनर्नेत्रमनोरसायनं स्वानन्दमूर्तिं मनसाभिरेभिरे ॥ २८॥

सुमधर मुस्कान से मनोहर मुख वाली नगर की अङ्गनाएँ, सबके नयनानन्द स्वरूप भगवान् श्रीराम को देखकर फूलों की वर्षा करने लगी और उन सभी ने नेत्र और मन को प्रिय लगने वाली भगवान श्रीराम की उस आनन्दमयी मूर्ति को अपने नेत्रों द्वारा हृदय में ले जाकर मन से आलिंगन किया ॥ २८॥

रामः स्मितस्निग्धदृशा प्रजास्तथा पश्यन् प्रजानाथ इवापरः प्रभुः ।
शनैर्जगामाथ पितुः स्वलङ्कृतं गृहं महेन्द्रालयसन्निभं हरिः ॥२९॥

इस प्रकार विष्णुस्वरूप भगवान् श्रीरामचन्द्रजी दूसरे प्रजापति के समान मुस्कुराते हुए मनोहर दृष्टि से अपनी प्रजा को देखते हुए धीरे-धीरे विधिवत् सजाये हुए इन्द्रभवन के समान अपने पिता के महल में गये ॥ २९ ॥

प्रविश्य वहश्मान्तरसंस्थितो मुदा रामो ववन्दे चरणौ स्वमातुः ।
क्रमेण सर्वाः पितृयोषितः प्रभुः ननाम भक्त्या रघुवंशकेतुः ॥३०॥

राजमहल के भीतर जाकर अति प्रसन्नचित् भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ने अपनी माता कौसल्या के चरणारविन्द की वन्दना की और फिर रघुवंशकेतु प्रभु श्रीराम ने क्रमशः सभी अन्य माताओं को भक्ति पूर्वक प्रणाम किया ॥ ३०॥

ततो भरतमाहेदं रामः सत्यपराक्रमः ।
सर्वसम्पत्समायुक्तं मम मन्दिरमुत्तमम् ॥ ३१॥

मित्राय वानरेन्द्राय सुग्रीवाय प्रदीयताम् ।
सर्वेभ्यः सुखवासार्थं मन्दिराणि प्रकल्पय ॥ ३२॥

तत्पश्चात् सत्यपराक्रमी भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ने भरतजी से कहा - सर्वसम्पति युक्त मेरा श्रेष्ठमहल मित्र वानर राज सुग्रीव को दो और सबके लिए भी सुख पूर्वक रहने योग्य महल दो ॥३१-३२ ॥

रामेणैवं समादिष्टो भरतश्च तथाकरोत् ।
उवाच च महातेजाः सुग्रीवं राघवानुजः ॥ ३३॥

श्रीरघुनाथजी की आज्ञा के अनुसार ही भरतजी ने प्रबन्ध किया और महातेजस्वी भरतजी ने सुग्रीव से कहा ॥ ३३ ॥

राघवस्याभिषेकार्थं चतुःसिन्धुजलं शुभम् ।
आनेतुं प्रेषयस्वाशु दूतांस्त्वरितविक्रमान् ॥ ३४॥

श्रीरामचन्द्रजी के अभिषेक के लिये चारो समुद्रों के मंगल जल लाने हेतु शीघ्र ही शीघ्रगामी दूतों को आप भेजिये ॥ ३४ ॥

प्रेषयामास सुग्रीवो जाम्बवन्तं मरुत्सुतम् ।
अङ्गदं च सुषेणं च ते गत्वा वायुवहगतः ॥ ३५॥

जलपूर्णान् शातकुम्भकलशांश्च समानयन् ।
आनीतं तीर्थसलिलं शत्रुघ्नो मन्त्रिभिः सह ॥ ३६॥

तब सुग्रीव ने जाम्बवान् , हनुमान , अङ्गद और सुषेण को जल लाने हेतु भेजा। वे शीघ्र ही वायुवेग से जाकर सुवर्ण कलशों में जल भरकर ले आये। उनके लाये हुए तीर्थ जलों को श्रीराम चन्दजी के अभिषेक के लिये मन्त्रियों के सहित शत्रुघ्नजी ने ॥३५-३६॥

राघवस्याभिषेकार्थं वसिष्ठाय न्यवहदयत् ।
ततस्तु प्रयतो वृद्धो वसिष्ठो ब्राह्मणैः सह ॥ ३७॥

रामं रत्नमये पीठे ससीतं संन्यवहशयत् ।
वसिष्ठो वामदेवश्च जाबालिर्गौतमस्तथा ॥ ३८॥

वाल्मीकिश्च तथा चक्रुः सर्वे रामाभिषेचनम् ।

कुशाग्रतुलसीयुक्तपुण्यगन्धजलैर्मुदा ॥ ३९॥

गुरुवर वसिष्ठजी से श्री राम चन्द्र जी के राज्याभिषेक के लिए निवेदन किया। तत्पश्चात् ब्राह्मणों सहित जितेन्द्रिय वयोवृद्ध वसिष्ठजी सीताजी के सहित श्रीरामचन्द्रजी को रत्नसिहासन पर बैठाया और पुनः वसिष्ठ, वामदेव, जाबालि, गौतम तथा वाल्मीकि आदि सभी महर्षि गणों ने अति प्रसन्न होकर कुश और तुलसी सहित पवित्र गन्धयुक्त जल से श्रीरामचन्द्रजी का अभिषेक किया ॥ ३७-३९ ॥

अभ्यषिञ्चन् रघुश्रेष्ठं वासवं वसवो यथा ।
ऋत्विग्भिर्ब्राह्मणैः श्रेष्ठैः कन्याभिः सह मन्त्रिभिः ॥ ४०॥

सर्वौषधिरसैश्चैव दैवतैर्नभसि स्थितैः ।
चतुर्भिर्लोकपालैश्च स्तुवद्भिः सगणैस्तथा ॥ ४१॥

ऋत्विकों, श्रेष्ठब्राह्मणों, कन्याओं और मन्त्रियों सहित उन महर्षि गणों ने आकाश मण्डल में स्थित देवताओं तथा गण सहित लोकपालों की स्तुति करते हुए सर्वौषधि के रसों से वसुओं के द्वारा इन्द्र के किये हुए अभिषेक की भाँति भगवान् श्रीरामचन्द्रजी का अभिषेक किया ॥ ४०-४१॥

छत्रं च तस्य जग्राह शत्रुघ्नः पाण्डुरं शुभम् ।
सुग्रीवराक्षसेन्द्रौ तौ दधतुः श्वेतचामरे ॥ ४२॥

उस समय भगवान श्रीरामचन्द्रजी के ऊपर शत्रुघ्नजी अति सुन्दर श्वेत- छत्र लगाये और सुग्रीव तथा विभीषण ने श्वेत चामर धारण किया ॥४२॥

मालां च काञ्चनीं वायुर्ददौ वासवचोदितः ।
सर्वरत्नसमायुक्तं मणिकाञ्चनभूषितम् ॥ ४३॥

ददौ हारं नरेन्द्राय स्वयं शक्रस्तु भक्तितः ।
प्रजगुर्देवगन्धर्वा ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥ ४४॥

इन्द्र की प्रेरणा से वायुदेव ने सुवर्णमयी माला प्रदान की और स्वयं इन्द्र ने भी सम्पूर्ण रत्नों और मणि तथा सुवर्णों से विभूषित एक सुन्दर हार अतिभक्तिपूर्वक भगवान श्रीरामचन्द्रजी को दिया। तत्पश्चात् देवगण और गन्धर्व गणों ने गान आरम्भ किया तथा अप्सराएँ नृत्य करने लगी ॥४३-४४॥

देवदुन्दुभयो नेदुः पुष्पवृष्टिः पपात खात् ।
नवदूर्वादलश्यामं पद्मपत्रायतेक्षणम् ॥ ४५॥

रविकोटिप्रभायुक्तकिरीटेन विराजितम् ।
कोटिकन्दर्पलावण्यं पीताम्बरसमावृतम् ॥ ४६॥

आकाश मण्डल से देव दुन्दुभियों के वाद्य के साथ पुष्पों की वर्षा होने लगी। पुनः नवदूर्वादल के समान श्यामवर्ण कमलदल के समान विशाल नेत्र और करोड़ों कामदेवों के समान कमनीय, पीताम्बर धारी ॥४५-४६॥

दिव्याभरणसम्पन्नं दिव्यचन्दनलेपनम् ।
अयुतादित्यसङ्काशं द्विभुजं रघुनन्दनम् ॥ ४७॥

वामभागे समासीनां सीतां काञ्चनसन्निभाम् ।
सर्वाभरणसम्पन्नां वामाङ्के समुपस्थिताम् ॥ ४८॥

रक्तोत्पलकराम्भोजां वामेनालिङ्ग्य संस्थितम् ।
सर्वातिशयशोभाढ्यं दृष्ट्वा भक्तिसमन्वितः ॥ ४९॥

उमया सहितो देवः शङ्करो रघुनन्दनम् ।
सर्वदेवगणैर्युक्तः स्तोतुं समुपचक्रमे ॥ ५०॥

सूर्य के समान तेजस्वी; सबसे अधिक सुन्दर दो भुजा वाले श्रीरघुनाथजी अपने वामभाग में करकमल में अरुण कमल धारण कर बैठी हुई सर्वालङ्कार सुसज्जिता सुवर्ण की कान्ति वाली सीताजी को अपनी बायें भुजा से आलिङ्गन किये देख पार्वती सहित भगवान् श्रीशकरजी भक्तिपूर्वक सभी देवताओं के सहित स्तुति करने लगे। ४७-५० ॥

श्रीमहादेव उवाच ।
नमोऽस्तु रामाय सशक्तिकाय नीलोत्पलश्यामलकोमलाय ।
किरीटहाराङ्गदभूषणाय सिंहासनस्थाय महाप्रभाय ॥ ५१॥

श्रीमहादेवजी ने कहा-नील कमल के समान कोमल श्यामवर्ण, किरीट, हार, भुजबन्धादि आभूषणों से विभूषित, अपनी शक्ति श्रीसीता जी सहित सिंहासन पर विराजमान महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी को नमस्कार है ॥५१ ॥

त्वमादिमध्यान्तविहीन एकः सृजस्यवस्यत्सि च लोकजातम् ।
स्वमायया तेन न लिप्यसे त्वं यत्स्वे सुखेऽजस्ररतोऽनवद्यः ॥५२॥

आप आदि, मध्य और अन्त्य रहित अद्वितीय हैं। आप ही अपनी माया से लोकों की रचना, पालन एवं संहार करते हैं, परन्तु निरन्तर अप स्वात्मानन्दमग्न और अनिन्द्य होने से उसमें लिप्त नहीं होते ॥५२॥

लीलां विधत्से गुणसंवृतस्त्वं प्रपन्नभक्तानुविधानहेतोः ।
नानावतारैः सुरमानुषाद्यैः प्रतीयसे ज्ञानिभिरेव नित्यम् ॥ ५३॥

आप अपनी माया के गुणों से आवृत होकर प्रपन्न भक्तों को मार्ग निर्देश देने के लिए देव, मनुष्य आदि विविध भाँति अवतार लेकर विचित्र लीलाएँ करते हैं। ज्ञानीजन ही उस समय आपको वास्तविक रूप से जान पाते हैं ॥५३॥

स्वांशेन लोकं सकलं विधाय तं बिभर्षि च त्वं तदधः फणीश्वरः ।
उपर्यधो भान्वनिलोडुपौषधिप्रवर्षरूपोऽवसि नैकधा जगत् ॥५४॥

अपने अंश रूप अखिल लोकों की सृष्टि कर शेष रूप होकर आप नीचे से उन्हें धारण करते हैं और सूर्य, वायु, चन्द्र, औषधि तथा वृष्टि रूप होकर विविध भाँति ऊपर से उनका पालन करते हैं। ५४ ॥

त्वमिह देहभृतां शिखिरूपः पचसि भुक्तमशेषमजस्रम् ।
पवनपञ्चकरूपसहायो जगदखण्डमनेन बिभर्षि ॥ ५५॥

आप जठराग्नि रूप से पाँच की सहायता से प्राणियों द्वारा किये हुए भोजन को पचाकर उससे सम्पूर्ण जगत् का निरन्तर पालन करते हैं ॥ ५५ ॥

चन्द्रसूर्यशिखिमध्यगतं यत्तेज ईश चिदशेषतनूनाम् ।
प्राभवत्तनुभृतामिव धैर्यं शौर्यमायुरखिलं तव सत्त्वम् ॥ ५६॥

हे ईश! चन्द्र, सूर्य और अग्नि का तेज, सम्पूर्ण प्राणियों का चेतनांश तथा शरीरी प्राणियों का धैर्य, शौर्य, आयु, बल आदि सब आपके ही सत्त्व हैं ॥ ५६ ॥

त्वं विरिञ्चिशिवविष्णुविभेदात् कालकर्मशशिसूर्यविभागात् ।
वादिनां पृथगिवहश विभासि ब्रह्म निश्चितमनन्यदिहैकम् ॥ ५७॥

आप ही विभिन्न ईश्वर वादियों को ब्रह्मा, महादेव, विष्णु, काल, कर्म, चन्द्रमा, सूर्य आदि भेद से पृथक्-पृथक् भासित होते हैं, परन्तु वास्तव में निःसन्देह आप एक अद्वितीय ब्रह्म ही हैं ॥५७ ॥

मत्स्यादिरूपेण यथा त्वमेकः श्रुतौ पुराणेषु च लोकसिद्धः ।
तथैव सर्वं सदसद्विभागस्त्वमेव नान्यद्भवतो विभाति ॥ ५८॥

आप एक होते हुए भी जिस प्रकार आप वेद, पुराण और लोक में मत्स्यादि विविध रूपों से प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार संसार में सत्, असत् आदि जो कुछ भी विभाग हैं,वह सभी आप ही हैं, आपसे पृथक् कुछ भी नहीं है।५८ ॥

यद्यत्समुत्पन्नमनन्तसृष्टावुत्पत्स्यते यच्च भवच्च यच्च ।
न दृश्यते स्थावरजङ्गमादौ त्वया विनातःपरतः परस्त्वम् ॥ ५९॥

इस अनन्त सृष्टि में उत्पन्न हुआ, उत्पन्न होने वाला और उत्पन्न हो रहा स्थावर जङ्गमादि अखिल प्रपञ्च आपके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। अत: आप प्रकृति-बुद्धि आदि से भी परे हैं ॥ ५९॥

तत्त्वं न जानन्ति परात्मनस्ते जनाः समस्तास्तव माययातः ।
त्वद्भक्तसेवाऽमलमानसानां विभाति तत्त्वं परमेकमैशम् ॥ ६०॥

माया से मोहित होने के कारण सभी लोग आपके परमात्मा स्वरूप के तत्त्व को नहीं जानते। आपके भक्तों की सेवा के प्रभाव से निर्मल हुए अन्तः करण वाले को ही आपका अद्वितीय ईश्वर स्वरूप का दर्शन होता है। ॥६०॥

ब्रह्मादयस्ते न विदुः स्वरूपं चिदात्मतत्त्वं बहिरर्थभावाः ।
ततो बुधस्त्वामिदमेव रूपं भक्त्या भजन्मुक्तिमुपैत्यदुःखः ॥६१॥

बाह्य पदार्थों में सत्त्व बुद्धि वाले ब्रह्मादि भी आपके चित्स्वरूप को नहीं जानते तो अन्य की तो बात ही क्या है? अत: बुद्धिमान् पुरुष आपके इस श्यामसुन्दर स्वरूप का ही भक्ति पूर्वक भजन कर दुखों को पार कर लेता है ॥ ६१॥

अहं भवन्नाम गृणन् कृतार्थो वसामि काश्यामनिशं भवान्या ।
मुमूर्षमाणस्य विमुक्तयेऽहं दिशामि मन्त्रं तव राम नाम ॥ ६२॥

मैं आपके नाम मन्त्र जप से कृतार्थ होकर अहर्निश भवानी पार्वती सहित काशी में रहता हूँ और मरणासन्न व्यक्ति की मुक्ति के लिये आपका तारकमन्त्र 'राम' नाम का उपदेश करता हूँ॥ ६२॥

इमं स्तवं नित्यमनन्यभक्त्या शृण्वन्ति गायन्ति लिखन्ति यह वै ।
ते सर्वसौख्यं परमं च लब्ध्वा भवत्पदं यान्तु भवत्प्रसादात् ॥ ६३॥

आप से प्रार्थना है कि इस स्तोत्र को अनन्य भक्ति से जो श्रवण करें, कीर्तन करें अथवा लिखें वह आपकी कृपा से सर्व सौख्य परमानन्द प्राप्तकर आपके परमपद को प्राप्त करें ॥ ६३ ॥

इन्द्र उवाच :

रक्षोऽधिपेनाखिलदेव सौख्यं हृतं च मे ब्रह्मवरेण देव ।
पुनश्च सर्वं भवतः प्रसादात् प्राप्तं हतो राक्षसदुष्टशत्रुः ॥ ६४॥

इन्द्र बोले हे देव ! ब्रह्माजी के वरदान से राक्षसाधिप रावण ने मेरा सम्पूर्ण देवोचित सुख छीन लिया था। उस दुष्ट शत्रु राक्षसराज को मारे जाने पर पुनः वह सब सुख मुझे प्राप्त हो गए ॥ ६४॥

देवा ऊचुः

हृता यज्ञभागा धरादेवदत्ता मुरारे खलेनादिदैत्येन विष्णो ।
हतोऽद्य त्वया नो वितानेषु भागाः पुरावद्भविष्यन्ति युष्मत्प्रसादात् ॥
६५॥

देवगण बोले-हे मुरारे ! हे विष्णो! यह दुष्ट आदि दैत्य ने ब्राह्मणों द्वारा हमें दिये गये यज्ञ भागों को छीन लिया था, अब आपके द्वारा असके वध के पश्च्यात आपकी कृपा से पुनः पूर्ववत् हमें यज्ञों में भाग मिलने लगेंगे ॥६५॥

पितर ऊचुः
हतोऽद्य त्वया दुष्टदैत्यो महात्मन् गयादौ नरैर्दत्तपिण्डादिकान्नः ।
बलादत्ति हत्वा गृहीत्वा समस्ता निदानीं पुनर्लब्धसत्त्वा भवामः
॥६६॥

पितृगण बोले हे महात्मन् ! आपने दुष्ट दैत्य को मार दिया; यह गया आदि पुण्य क्षेत्रों में मनुष्यों द्वारा हम लोगों के लिये दिये गये पिण्डोदक बलात्, छीन कर खा जाता था। इसकी मृत्यु के बाद अब पुनः हम अपना भाग प्राप्त कर शक्ति प्राप्त कर लेंगे ॥६६॥

यक्षा ऊचुः
सदा विष्टिकर्मण्यनेनाभियुक्ता
वहामो दशास्यं बलाद्दुःखयुक्ताः ।
दुरात्मा हतो रावणो राघवहश
त्वया ते वयं दुःखजाताद्विमुक्ताः ॥ ६७॥

यक्ष बोले-हे राघवेश! यह दुरात्मा बलात् हमें विष्टि कर्मों अर्थात पालकी आदि ढोने के कार्य में लगा देता था। इसके पालकी में जुतकर अत्यन्त दुःखी होकर हम इसे लेकर चलते थे। आपने आज इस दुरात्मा रावण को मार कर अनेक दुःखों से हमें मुक्त कर दिया ॥६७॥

गन्धर्वा ऊचुः
वयं सङ्गीतनिपुणा गायन्तस्ते कथामृतम् ।
आनन्दामृतसन्दोहयुक्ताः पूर्णाः स्थिताः पुरा ॥ ६८॥

पश्चाद्दुरात्मना राम रावणेनाभिविद्रुताः ।
तमेव गायमानाश्च तदाराधनतत्पराः ॥ ६९॥

गन्धर्व बोले-हे प्रभो! हमलोग संगीत में निपुण आपके कथामृत का गान करते हुए पहले आनन्दामृत समूह से युक्त होकर पूर्ण रहते थे परन्तु बाद में दुरात्मा रावण से पीड़ित हो हम उसी के गुणगान और उसकी सेवा करने लगे। ॥६८-६९॥

स्थितास्त्वया परित्राता हतोऽयं दुष्टराक्षसः ।
एवं महोरगाः सिद्धाः किन्नरा मरुतस्तथा ॥ ७०॥

वसवो मुनयो गावो गुह्यकाश्च पतत्त्रिणः ।
सप्रजापतयश्चैते तथा चाप्सरसां गणाः ॥ ७१॥

सर्वे रामं समासाद्य दृष्ट्वा नेत्रमहोत्सवम् ।
स्तुत्वा पृथक् पृथक् सर्वे राघवहणाभिवन्दिताः ॥ ७२॥

इस दुष्ट राक्षस को मारकर आप हमारी रक्षा कर लिये। इसी प्रकार महानाग, सिद्ध, किन्नर, मरुत, वसु, मुनि, गौ, गुह्यक, पक्षी, प्रजापति तथा अप्सराओं के समूह भी पृथ्वी लोक में भगवान् श्रीराम के पास आये और नयनानन्द वर्धन उन प्रभु का दर्शन कर पृथक्-पृथक् उनका स्तुति गान किया ॥७०-७२॥

ययुः स्वं स्वं पदं सर्वे ब्रह्मरुद्रादयस्तथा ।
प्रशंसन्तो मुदा रामं गायन्तस्तस्य चेष्टितम् ॥ ७३॥

ध्यायन्तस्त्वभिषेकार्द्रं सीतालक्ष्मणसंयुतम् ।

सिंहासनस्थं राजेन्द्रं ययुः सर्वे हृदि स्थितम् ॥ ७४॥

तथा उनसे प्रशंसित हो अपने-अपने लोकों में चले गए तत्पश्चात् ब्रह्मा और महादेव आदि देवगण भी आनन्द पूर्वक भगवान् श्रीराम की प्रशंसा करते हुए, उनकी लीलाओं का गान करते तथा सिहासनस्थ अभिषेक से आई राजेन्द्र श्रीरामचन्द्रजी का सीताजी और अनुज लक्ष्मण सहित हृदय में ध्यान करते हुए वहाँ से प्रस्थान कर गए ॥ ६८-७४ ॥

खे वाद्येषु ध्वनत्सु प्रमुदितहृदयैर्देववृन्दैः स्तुवद्भिः
वर्षद्भिःपुष्पवृष्टिं दिवि मुनिनिकरैरीड्यमानः समन्तात् ।
रामः श्यामः प्रसन्नस्मितरुचिरमुखः सूर्यकोटिप्रकाशः
सीतासौमित्रिवातात्मजमुनिहरिभिः सेव्यमानो विभाति ॥ ७५॥

आकाश में बाजे बज रहे थे, देववृन्द स्वर्ग में प्रमुदित मन स्तुति करते हुआ पुष्प वृष्टि कर रहे थे, महर्षिमण्डल चारो ओर से स्तुति कर रहा था, उस समय करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमान प्रसन्न मुख सीता, लक्ष्मण हनुमान आदि से सेवित परमानन्द दायक श्यामसुंदर श्री राम चन्द्र जी रत्न सिंहासन पर प्रकाशित हो रहे थे ॥ ७५॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे युद्धकाण्डे
पञ्चदशः सर्गः ॥ १५॥

॥षोडशः सर्गः ॥

वानरों की विदा करना तथा अन्य प्रशंसा

श्रीमहादेव उवाच ।
रामेऽभिषिक्ते राजेन्द्रे सर्वलोकसुखावहे ।
वसुधा सस्यसम्पन्ना फलवन्तो महीरुहाः ॥ १॥

श्रीमहादेवजी बोले - सर्वलोक सुखदायक राजेन्द्र भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के राज्याभिषिक्त होने पर पृथ्वी धन-धान्य सम्पन्न हो गयी और वृक्ष फलयुक्त हो गये ॥१॥

गन्धहीनानि पुष्पाणि गन्धवन्ति चकाशिरे ।
सहस्रशतमश्वानां धेनूनां च गवां तथा ॥ २॥

ददौ शतवृषान् पूर्वं द्विजेभ्यो रघुनन्दनः ।
त्रिंशत्कोटिं सुवर्णस्य ब्राह्मणेभ्यो ददौ पुनः ॥ ३॥

जो पुष्प गन्धरहित थे वे सभी सुगन्ध युक्त हो शोभा पाने लगे। राज्याभिषिक्त होकर श्रीरामचन्द्रजी ने एक लाख घोड़े, एक लाख दूध देने वाली गौएँ और सैकड़ों बैल (वृषभ) ब्राह्मणों को दान दिये और उन्हे तीस करोड़ सुवर्ण मुद्राएँ भी दान दीं ॥२-३॥

वस्त्राभरणरत्नानि ब्राह्मणेभ्यो मुदा तथा ।
सूर्यकान्तिसमप्रख्यां सर्वरत्नमयीं स्रजम् ॥ ४॥

सुग्रीवाय ददौ प्रीत्या राघवो भक्तवत्सलः ।

अङ्गदाय ददौ दिव्ये ह्यङ्गदे रघुनन्दनः ॥ ५॥

तदनन्तर उन्होंने प्रसन्न होकर विविध प्रकार के वस्त्र आभूषण और रत्नादि भी ब्राह्मणों को दान दिए। और भक्तवत्सल श्रीरामचन्द्रजी ने सभी के रत्नों से युक्त सूर्य की कान्ति के समान सुशोभित एक माला प्रीतिपूर्वक सुग्रीव को दी और अंगद को दो दिव्य भुजबन्ध दिये ॥४-५॥

चन्द्रकोटिप्रतीकाशं मणिरत्नविभूषितम् ।
सीतायै प्रददौ हारं प्रीत्या रघुकुलोत्तमः ॥ ६॥

तत्पश्चात् रघुकूल तिलक श्रीरामचन्द्रजी ने अति प्रेम पूर्वक कोटि चन्द्र के समान प्रकाशमान अमूल्य मणि और रत्नों से विभूषित एक हार श्रीजानकी को दिया ॥६॥

अवमुच्यात्मनः कण्ठाद्धारं जनकनन्दिनी ।
अवैक्षत हरीन् सर्वान् भर्तारं च मुहुर्मुहुः ॥ ७॥

श्रीजानकी जी उस हार को अपने गले से निकाल कर बारम्बार अपने पतिदेव और वानरों के तरफ देखने लगीं ॥ ७ ॥

रामस्तामाह वैदेहीमिङ्गितज्ञो विलोकयन् ।
वैदेहि यस्य तुष्टासि देहि तस्मै वरानने ॥ ८॥

श्रीरामचन्द्रजी सीताजी का संकेत समझकर उनकी ओर देखते हुए बोले- हे सुमुखि ! वैदेहि ! तुम जिस पर प्रसन्न हो, यह हार उसे दे दो ॥८॥

हनूमते ददौ हारं पश्यतो राघवस्य च ।
तेन हारेण शुशुभे मारुतिर्गौरवहण च ॥ ९॥

तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजी के सामने ही वह हार सीताजी हनुमानजी को दे दिया । उस हार को पहन अति गौरवान्वित हो श्रीहनुमानजी अति सुशोभित हुए ॥ ९॥

रामोऽपि मारुतिं दृष्ट्वा कृताञ्जलिमुपस्थितम् ।
भक्त्या परमया तुष्ट इदं वचनमब्रवीत् ॥ १०॥

हनूमंस्ते प्रसन्नोऽस्मि वरं वरय काङ्क्षितम् ।
दास्यामि देवैरपि यद्दुर्लभं भुवनत्रये ॥ ११॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी सामने हाथ जोड़कर खड़े हुए हनुमानजी से उनकी भक्ति से अति प्रसन्न होकर कहे-हनुमान् ! तुमसे मैं अति प्रसन्न हूँ अपनी इच्छा के अनुसार वर माँग लो; त्रिलोकी में देवताओं को भी प्राप्त न होने योग्य भी वरदान मैं तुम्हें दूंगा ॥ ११॥

हनूमानपि तं प्राह नत्वा रामं प्रहृष्टधीः ।
त्वन्नाम स्मरतो राम न तृप्यति मनो मम ॥ १२॥

तब अति हर्षित होकर हनुमानजी श्रीरघुनाथजी से कहे-हे श्रीरामचन्द्रजी ! आपका नाम स्मरण करते हुए मेरा मन कभी भी तृप्त नहीं होता ॥ १२ ॥

अतस्त्वन्नाम सततं स्मरन् स्थास्यामि भूतले ।

यावत्स्थास्यति ते नाम लोके तावत्कलेवरम् ॥ १३॥

मम तिष्ठतु राजेन्द्र वरोऽयं मेऽभिकाङ्क्षितः ।
रामस्तथेति तं प्राह मुक्तस्तिष्ठ यथासुखम् ॥ १४॥

अत: निरन्तर आपका नाम स्मरण करता हुआ मैं पृथ्वी पर रहूँ। हे राजेन्द्र ! मेरा यह अभिलषित वर है कि आपका नाम जब तक संसार में रहे तब तक मेरा शरीर स्थित रहे। तथास्तु यह कहकर श्रीरामचन्द्रजी ने कहा कि तुम जीवन्मुक्त होकर सुख पूर्वक संसार में रहो॥ १३-१४॥

कल्पान्ते मम सायूज्यं प्राप्स्यसे नात्र संशयः ।
तमाह जानकी प्रीता यत्र कुत्रापि मारुते ॥ १५॥

स्थितं त्वामनुयास्यन्ति भोगाः सर्वे ममाज्ञया ।
इत्युक्तो मारुतिस्ताभ्यामीश्वराभ्यां प्रहृष्टधीः ॥ १६॥

कल्पान्त में निःसन्देह तुम मेरा सायुज्य प्राप्त करोगे। पुनः श्रीजानकी जी ने कहा हे मारुते ! तुम जहाँ कही भी रहोगे, मेरी आज्ञा से तुम्हारे पास सभी भोग सामग्री उपस्थित हो जाएगी। अपने प्रभु भगवान् श्रीरामचन्द्रजी का यह कथन सुनकर महामति हनुमानजी अति प्रसन्न हुए ॥ १५-१६॥

आनन्दाश्रुपरीताक्षो भूयो भूयः प्रणम्य तौ ।
कृच्छ्राद्ययौ तपस्तप्तुं हिमवन्तं महामतिः ॥ १७॥

और वह अपने नेत्रों में आनन्द अश्रु भर कर पुनः पुनः प्रणाम कर अति कठिनता पूर्वक हिमालय पर तपस्या करने के लिये चले गये ॥ १७ ॥

ततो गुहं समासाद्य रामः प्राञ्जलिमब्रवीत् ।
सखे गच्छ पुरं रम्यं शृङ्गवहरमनुत्तमम् ॥ १८॥

तत्पश्चात् हाथ जोड़कर खड़े हुए गुह के पास जाकर श्रीरामचन्द्रजी ने कहा -मित्र! अब तुम अपने परमरमणीय ग्राम शृङ्गवेर पुर में जाओ ॥ १८॥

मामेव चिन्तयन्नित्यं भुङ्क्ष्व भोगान्निजार्जितान् ।
अन्ते ममैव सारूप्यं प्राप्स्यसे त्वं न संशयः ॥ १९॥

तुम वहाँ मेरा चिन्तन करते हुए प्रारब्ध भोगों का भोग करो, निःसन्देह तुम मेरा सारूप्य प्राप्त करोगे ॥ १९ ॥

इत्युक्त्वा प्रददौ तस्मै दिव्यान्याभरणानि च ।
राज्यं च विपुलं दत्त्वा विज्ञानं च ददौ विभुः ॥ २०॥

यह कहकर भगवान् श्रीरामचन्द्र जी ने गुह को दिव्य आभूषण, बहुत से राज्य और तत्त्व ज्ञान का उपदेश दिया ॥ २०॥

रामेणालिङ्गितो हृष्टो ययौ स्वभवनं गुहः ।
यह चान्ये वानराः श्रेष्ठा अयोध्यां समुपागताः ॥ २१॥

अमूल्याभरणैर्वस्त्रैः पूजयामास राघवः ।

सुग्रीवप्रमुखाः सर्वे वानराः सविभीषणाः ॥ २२॥

यथार्हं पूजितास्तेन रामेण परमात्मना ।
प्रहृष्टमनसः सर्वे जग्मुरेव यथागतम् ॥ २३॥

पुनः श्रीरघुनाथजी से आलिङ्गित होकर प्रसन्न मन गुह अपने घर चला गया। जितने श्रेष्ठ वानरगण अयोध्या में आये थे, उन सबका श्रीरामचन्द्रजी ने अमूल्य वस्त्र और आभूषणों से सत्कार किया । विभीषण सहित सुग्रीवादि सभी वानरगण श्रीरामचन्द्रजी द्वारा यथोचित सत्कार प्राप्तकर अपने अपने स्थान पर चले गये ॥ २१-२३॥

सुग्रीवप्रमुखाः सर्वे किष्किन्धां प्रययुर्मुदा ।
विभीषणस्तु सम्प्राप्य राज्यं निहतकण्टकम् ॥ २४॥

रामेणः पूजितः प्रीत्या ययौ लङ्कामनिन्दितः ।
राघवो राज्यमखिलं शशासाखिलवत्सलः ॥ २५॥

सुग्रीवादि सभी वानरगण भी प्रसन्नमन से किष्किन्धापुरी में गए और भगवान् श्रीरामचन्द्रजी से सत्कार प्राप्तकर आनन्द पूर्वक विभीषण निष्कण्टक अपना राज्य प्राप्त कर प्रीतिपूर्वक लंका में चले गये। सभी प्राणियों पर दया करने वाले भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अपने सम्पूर्ण राज्य का शासन करने लगे। ॥२४-२५॥

अनिच्छन्नपि रामेण यौवराज्येऽभिषेचितः ।
लक्ष्मणः परया भक्त्या रामसेवापरोऽभवत् ॥ २६॥

लक्ष्मणजी की इच्छा न होने पर भी भगवान् श्रीरामचन्द्रजी उन्हें युवराज पद पर अभिषिक्त किया और लक्ष्मणजी भी भक्ति पूर्वक भगवान् श्रीरामचन्द्रजी की सेवा में तत्पर रहने लगे ॥२६॥

रामस्तु परमात्मापि कर्माध्यक्षोऽपि निर्मलः ।
कर्तृत्वादि विहीनोऽपि निर्विकारोऽपि सर्वदा ॥ २७॥

स्वानन्देनापि तुष्टः सन् लोकानामुपदेशकृत् ।
अश्वमेधादियज्ञैश्च सर्वैर्विपुलदक्षिणैः ॥ २८॥

भगवान् श्रीराम ने परमात्मा होने पर भी सभी कर्मों के साक्षी, निर्मल स्वरूप, कर्तृत्वादि भाव रहित, निर्विकार, सर्वदा स्वात्मानन्द में तृप्त होकर सम्पूर्ण लोकों का उपदेश करने के लिये मनुष्यरूप से अवतरित अत्यधिक दक्षिणाओं वाले अश्वमेधादि सभी यज्ञों का अनुष्ठान किया ॥२९-३०॥

अयजत्परमानन्दो मानुषं वपुराश्रितः ।
न पर्यदेवन् विधवा न च व्यालकृतं भयम् ॥ २९॥

न व्याधिजं भयं चासीद्रामे राज्यं प्रशासति ।
लोके दस्युभयं नासीदनर्थो नास्ति कश्चन ॥ ३०॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के शासन काल में विधवाओं का कभी रुदन नहीं होता था अर्थात् किसी भी स्त्री के जीवित रहते उसका पति नहीं मरता था इसी प्रकार, व्याधियों और चोरों का भय नहीं था; तथा उनके राज्य में कभी अनर्थ नहीं होता था ॥२९-३०॥

वृद्धेषु सत्सु बालानां नासीन्मृत्युभयं तथा ।
रामपूजापराः सर्वे सर्वे राघवचिन्तकाः ॥ ३१॥

वृद्धों के जीवित रहते बालकों की मृत्यु का भय नहीं था और सभी लोग भगवान् श्रीरामचन्द्रजी की पूजा और उनका नाम स्मरण करने वाले थे॥३१॥

ववर्षुर्जलदास्तोयं यथाकालं यथारुचि ।
प्रजाः स्वधर्मनिरता वर्णाश्रमगुणान्विताः ॥ ३२॥

यथा समय अवश्यकतानुसार मेघ यथेष्ट जलवर्षा करते थे, प्रजा अपने धर्म में निरत और वर्णाश्रमधर्म के गुणों से युक्त थी ३२॥

औरसानिव रामोऽपि जुगोप पितृवत्प्रजाः ।
सर्वलक्षणसंयुक्तः सर्वधर्मपरायणः ॥ ३३॥

दशवर्षसहस्राणि रामो राज्यमुपास्त सः ॥ ३४॥

श्रीरामचन्द्र जी सगे पुत्र की भाँति अपनी प्रजा का पालन करते थे। सर्व लक्षण सम्पन्न सर्वधर्म परायण भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ने दस हजार वर्ष राज्य शासन किये ॥३३-३४ ॥

इदं रहस्यं धनधान्यऋद्धिम द्दीर्घायुरारोग्यकरं सुपुण्यदम् ।
पवित्रमाध्यात्मिकसञ्ज्ञितं पुरा रामायणं भाषितमादिशम्भुना ॥३५॥

श्री आदि महादेवजी धन-धान्यादि समृद्धि देने वाले तथा दीर्घायु, आरोग्य और पुण्य की वृद्धि करने वाले अध्यात्मरामायण नामक इस

परमपवित्र और गोपनीय रहस्य को पूर्व समय में पार्वतीजी को सुनाया था ॥ ३५॥

शृणोति भक्त्या मनुजः समाहितो भक्त्या पठेद्वा परितुष्टमानसः ।
सर्वाः समाप्नोति मनोगताशिषो विमुच्यते पातककोटिभिः क्षणात् ॥
३६॥

भक्ति पूर्वक एकाग्रमन से जो प्राणी इसे सुनता अथवा भक्तिपूर्वक पढ़ता है, वह अपने सम्पूर्ण मनोभिलषित कामनाओं को प्राप्त करता है और क्षण भर में ही करोड़ों पापों से मुक्त हो जाता है ॥ ३६॥

रामाभिषेकं प्रयतः शृणोति यो धनाभिलाषी लभते महद्धनम् ।
पुत्राभिलाषी सुतमार्यसम्मतं प्राप्नोति रामायणमादितः पठन् ॥३७॥

धन की ईच्छा रखने वाला पुरुष एकाग्रमन होकर इस रामचन्द्र जी के अभिषेक कथा का श्रवण करता है तो वह विपुल सम्पत्ति प्राप्त करता है और पुत्र की कामनावाले आरम्भ से इसका पाठ करें तो वह सत्पुरुषों द्वारा सम्मान प्राप्त करने योग्य पुत्र प्राप्त करता है ॥ ३७ ॥

शृणोति योऽध्यात्मिकरामसंहितां
प्राप्नोति राजा भुवमृद्धसम्पदम् ।
शत्रून् विजित्यारिभिरप्रधर्षितो
व्यपेतदुःखो विजयी भवहन्नृपः ॥ ३८॥

जो राजा इस अध्यात्मरामायण का श्रवण करता है, वह धन-धान्य सम्पन्न पृथ्वी प्राप्त करता है और शत्रुओं से अपमानित नहीं होता

तथा सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त होकर विजय प्राप्त करता है ॥ ३८ ॥

स्त्रियोऽपि शृण्वन्त्यधिरामसंहितां
भवन्ति ता जीविसुताश्च पूजिताः ।
वन्ध्यापि पुत्रं लभते सुरूपिणं
कथामिमां भक्तियुता शृणोति या ॥ ३९॥

जो स्त्रियाँ इस अध्यात्मिक राम संहिता को सुनती हैं तो उनकी दीर्घजीवी सन्तान होती है, और वह स्वयं उस सन्तान से होती हैं। वन्ध्या स्त्री भक्ति पूर्वक इस कथा का श्रवण कर सुन्दर रूपवान् पुत्र प्राप्त करती है ॥ ३९॥

श्रद्धान्वितो यः शृणुयात्पठेन्नरो विजित्य कोपं च तथा विमत्सरः ।
दुर्गाणि सर्वाणि विजित्य निर्भयो भवहत्सुखी राघवभक्तिसंयुतः
॥४०॥

क्रोध को जीतकर ईर्ष्या रहित होकर जो पुरुष श्रद्धापूर्वक इसका श्रवण करता है, वह सभी अवगुणों को जीतकर निर्भय, सुखी और रामभक्ति से सम्पन्न हो जाता है॥४०॥

सुराः समस्ता अपि यान्ति तुष्टतां
विघ्नाः समस्ता अपयान्ति शृण्वताम् ।
अध्यात्मरामायणमादितो नृणां
भवन्ति सर्वा अपि सम्पदः पराः ॥ ४१॥

आरम्भ से अध्यात्म रामायण का श्रवण करने वाले पुरुषों से सभी देवगण प्रसन्न हो जाते हैं और सभी विघ्न समाप्त होकर सम्पूर्ण उत्तम सम्पतियाँ प्राप्त होती हैं ॥४१॥

रजस्वला वा यदि रामतत्परा
शृणोति रामायणमेतदादितः ।
पुत्रं प्रसूते ऋषभं चिरायुषं
पतिव्रता लोकसुपूजिता भवहत् ॥ ४२॥

रजस्वलास्त्री यदि भगवान् श्रीरामचन्द्र का स्मरण करती हुई प्रारम्भ से इस अध्यात्मरामायण का श्रवण करे तो वह अत्युत्तम दीर्घायु पुत्र उत्पन्न करती है, और लोक में सम्मान प्राप्त करने वाली पतिव्रता होती है॥४२॥

पूजयित्वा तु यह भक्त्या नमस्कुर्वन्ति नित्यशः ।
सर्वैः पापैर्विनिर्मुक्ता विष्णोर्यान्ति परं पदम् ॥ ४३॥

नित्यप्रति पूजन कर जो लोग इसे नमस्कार करते हैं, वह सम्पूर्ण पापों से मुक्त होकर भगवान् विष्णु के परमपद को प्राप्त करते हैं ॥ ४३ ॥

अध्यात्मरामचरितं कृत्स्नं शृण्वन्ति भक्तितः ।
पठन्ति वा स्वयं वक्त्रात्तेषां रामः प्रसीदति ॥ ४४॥

जो प्राणी भक्ति पूर्वक इस सम्पूर्ण अध्यात्मरामायण को सुनते अथवा स्वयं अपने ही मुख से पढ़ते हैं, उनसे भगवान् श्रीरामचन्द्रजी प्रसन्न होते हैं ॥ ४४॥

राम एव परं ब्रह्म तस्मिंस्तुष्टेऽखिलात्मनि ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां यद्यदिच्छति तद्भवहत् ॥ ४५॥

भगवान् श्रीराम ही परं ब्रह्म हैं। अतएव उन सर्वात्मा भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के प्रसन्न होने पर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इनमें से जिसकी इच्छा हो वह प्राप्त हो सकता है ॥४५॥

श्रोतव्यं नियमेनैतद्रामायणमखण्डितम् ।
आयुष्यमारोग्यकरं कल्पकोट्यघनाशनम् ॥ ४६॥

अत: आयु और आरोग्य देने वाली, करोड़ों कल्पों के पापों को नाश करने वाली इस रामायण का नित्यप्रति निरन्तर नियमपूर्वक श्रवण करना चाहिए ॥ ४६॥

देवाश्च सर्वे तुष्यन्ति ग्रहाः सर्वे महर्षयः ।
रामायणस्य श्रवणे तृप्यन्ति पितरस्तथा ॥ ४७॥

रामायण की कथा श्रवण करने से सभी देवगण, सभी ग्रह तथा महर्षिगण प्रसन्न होते हैं और पितृगण तृप्त होते हैं ॥ ४७ ॥

अध्यात्मरामायणमेतदद्भुतं
वैराग्यविज्ञानयुतं पुरातनम् ।
पठन्ति शृण्वन्ति लिखन्ति यह नराः
तेषां भवहऽस्मिन्न पुनर्भवो भवहत् ॥ ४८॥

जो प्राणी ज्ञान वैराग्य युक्त अति अद्‌भुत प्राचीन अध्यात्मरामायण को पढ़ते, लिखते अथवा श्रवण करते हैं, वे पुनः इस संसार में जन्म नहीं लेते ॥४८॥

आलोड्याखिलवहदराशिमसकृद्यत्तारकं ब्रह्म तद्-
रामो विष्णुरहस्यमूर्तिरिति यो विज्ञाय भूतेश्वरः ।
उद्‌धृत्याखिलसारसङ्ग्रहमिदं सङ्क्षेपतः प्रस्फुटं
श्रीरामस्य निगूढतत्त्वमखिलं प्राह प्रियायै भवः ॥ ४९॥

भूतेश्वर भगवान् शंकरजी ने बारम्बार समस्त वेदराशि का मन्थन करके निश्चय किया कि तारक मन्त्र "राम" भगवान् विष्णु की गुप्त मूर्ति है। अतएव सभी वेदों के सार तत्त्वों उपनिषद् का संग्रह रूप भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के सम्पूर्ण गुप्त तत्त्व अध्यात्मरामायण को भगवान् शंकरजी ने अपनी प्रिया पार्वतीजी को सुनाया ॥४९॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे युद्धकाण्डे षोडशः सर्गः ॥ १६॥

॥ समाप्तमिदं युद्धकाण्डम् ॥

॥श्रीगणेशाय नमः॥
॥ ॐ परब्रह्मणे नमः॥

॥ अध्यात्मरामायण ॥

उत्तरकाण्डम्

॥ प्रथमः सर्गः ॥

भगवान् श्रीराम के समीप अगस्त्यादि मुनीश्वरों का आना और रावणादि राक्षसों का पूर्वचरित्र सुनाना

श्रीमहादेव उवाच ।
जयति रघुवंशतिलकः कौसल्याहृदयनन्दनो रामः ।
दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥ १॥

श्री कौसल्याजी के हृदय को आनन्दित करने वाले, दशानन रावण को मारने वाले, रघुवंशतिलक दशरथनन्दन कमलनयन भगवान श्रीराम का जय हो ॥१॥

पार्वत्युवाच ।
अथ रामः किमकरोत्कौसल्यानन्दवर्धनः ।
हत्वा मृधे रावणादीन् राक्षसान् भीमविक्रमः ॥ २॥

अभिषिक्तस्त्वयोध्यायां सीतया सह राघवः ।
मायामानुषतां प्राप्य कति वर्षाणि भूतले ॥ ३॥

स्थितवान् लीलया देवः परमात्मा सनातनः ।
अत्यजन्मानुषं लोकं कथमन्ते रघूद्वहः ॥ ४॥

श्रीपार्वतीजी के आनन्द की वृद्धि करने वाले महापराक्रमी श्रीरामचन्द्रजी ने युद्ध में रावणादि राक्षसों को मारकर अयोध्यापुरी में सीताजी के सहित राज्यपद पर अभिषिक्त होने के बाद क्या कार्य किए? लीला से माया-मानव रूप धारण कर सनातन परमात्मा भूतल पर कितने वर्ष रहे, और अन्त में उन रघुनन्दन ने किस प्रकार इस मर्त्यलोक का त्याग किया ? ॥ २-४॥

एतदाख्याहि भगवन् श्रद्दधत्या मम प्रभो ।
कथापीयुषमास्वाद्य तृष्णा मेऽतीव वर्धते ।
रामचन्द्रस्य भगवन् ब्रूहि विस्तरशः कथाम् ॥ ५॥

हे प्रभो! मुझे श्रद्धायुक्त होकर आप यह समस्त वृतान्त सुनाइये! हे भगवान्। श्रीराम कथा रूपी अमृत का आस्वादन करने से मेरी तृष्णा अत्यधिक बढ़ रही है। अत: आप मुझसे श्रीरामचन्द्रजी की कथा विस्तार पूर्वक कहिये ॥५॥

श्रीमहादेव उवाच ।
राक्षसानां वधं कृत्वा राज्ये राम उपस्थिते ।
आययुर्मुनयः सर्वे श्रीराममभिवन्दितुम् ॥ ६॥

श्रीमहादेवजी बोले- राक्षसों को मारकर भगवान् श्रीराम के राज्य पद पर आसीन होने पर समस्त मुनिजन उनका अभिवादन करने के लिये आए॥६॥

विश्वामित्रोऽसितः कण्वो दुर्वासा भृगुरङ्गिराः ।
कश्यपो वामदेवोऽत्रिस्तथा सप्तर्षयोऽमलाः ॥ ७॥

अगस्त्यः सह शिष्यैश्च मुनिभिः सहितोऽभ्यगात् ।
द्वारमासाद्य रामस्य द्वारपालमथाब्रवीत् ॥ ८॥

उस समय विश्वामित्र, असित, कण्व, दुर्वासा, भृगु, अङ्गिरा, कश्यप, वामदेव, अत्रि तथा शुद्ध स्वभाव वाले सप्तर्षिगण तथा अपने शिष्यों सहित अन्य मुनिगण के सहित अगस्त्यमुनिजी आये। श्रीअगस्त्यजी ने भगवान् श्रीराम के द्वारपर आकर द्वार पाल से कहा ॥ ७-८ ॥

ब्रूहि रामाय मुनयः समागत्य बहिःस्थिताः ।
अगस्त्यप्रमुखाः सर्वे आशीर्भिरभिनन्दितुम् ॥ ९॥

तुम श्रीराम से कहो कि अपने शुभ आशीष वचनों से आपका अभिनन्दन करने के लिये अगस्त्यादि सभी मुनिगण बाहर खड़े हैं ॥९॥

प्रतीहारस्ततो राममगस्त्यवचनाद् द्रुतम् ।
नमस्कृत्याब्रवीद्वाक्यं विनयावनतः प्रभुम् ॥ १०॥

अगस्त्यजी के कहने पर द्वारपाल शीघ्र ही भगवान् श्रीराम को नमस्कार कर अति विनय पूर्वक उनसे बोला ॥ १०॥

कृताञ्जलिरुवाचेदमगस्त्यो मुनिभिः सह ।
देव त्वद्दर्शनार्थाय प्राप्तो बहिरुपस्थितः ॥ ११॥

द्वारपाल हाथ जोड़कर भगवान् श्रीराम से बोला-देव! आपके दर्शन के लिए मुनि मण्डलि के साथ आकर अगस्त्यजी बाहर खड़े हैं ॥ ११॥

तमुवाच द्वारपालं प्रवहशय यथासुखम् ।
पूजिता विविशुर्वेश्म नानारत्नविभूषितम् ॥ १२॥

भगवान श्रीराम द्वारपाल से बोले-आनन्दपूर्वक उन्हे अन्दर ले आओ। तत्पश्चात् विधिवत् पूजित होकर मुनिगणों ने अनेक प्रकार के रत्नों से विभूषित महल में प्रवेश किया ॥ १२ ॥

दृष्ट्वा रामो मुनीन् शीघ्रं प्रत्युत्थाय कृताञ्जलिः ।
पाद्यार्घ्यादिभिरापूज्य गां निवहद्य यथाविधि ॥ १३॥

भगवान् श्रीराम उन्हें देखते ही शीघ्र हाथ जोड़कर खड़े हो गये और अर्घ्य-पाद्यादि से विधिवत् उनकी पूजा करने के पश्च्यात एक-एक गौ का दान दिया ॥ १३ ॥

नत्वा तेभ्यो ददौ दिव्यान्यासनानि यथार्हतः ।
उपविष्टा प्रहृष्टाश्च मुनयो रामपूजिताः ॥ १४॥

और उन मुनिगणों को नमस्कार कर दिव्य आसन प्रदान किए। भगवान् श्रीराम से पूजित होकर मुनिगण हर्षित होकर उस पर विराजमान हुए ॥ १४ ॥

सम्पृष्टकुशलाः सर्वे रामं कुशलमब्रुवन् ।
कुशलं ते महाबाहो सर्वत्र रघुनन्दन ॥ १५॥

श्रीरामचन्द्रजी द्वारा कुशल क्षेम पूछने पर मुनिगण अपना कुशल समाचार सुनाकर उनसे बोले-हे रघुनन्दन ! हे महाबाहो! तुम्हारे राज्य में सर्वत्र कुशल तो है ॥ १५॥

दिष्ट्येदानीं प्रपश्यामो हतशत्रुमरिन्दम ।
न हि भारः स ते राम रावणो राक्षसेश्वरः ॥ १६॥

हे शत्रुदमन! बड़े भाग्य से ही आज हम आपको शत्रहीन देख रहें हैं। हे राम! राक्षसराज रावण का मारना आपके लिये कोई कठिन नहीं था॥१६॥

सधनुस्त्वं हि लोकांस्त्रीन् विजेतुं शक्त एव हि ।
दिष्ट्या त्वया हताः सर्वे राक्षसा रावणादयः ॥ १७॥

धनुष धारण कर लेने पर तो आप त्रैलोक्य को जीतने में समर्थ हैं। हमलोगों के सौभाग्य से ही आपने रावणादि सभी राक्षसों को मार दिया है ॥ १७ ॥

सह्यमेतन्महाबाहो रावणस्य निबर्हणम् ।
असह्यमेतत्सम्प्राप्तं रावणेर्यन्निषूदनम् ॥ १८॥

हे महाबाहो ! रावण का वध करना तो सुगम भी था, किन्तु रावण के पुत्र मेघनाद का वध करना अति दुष्कर कार्य था ॥ १८॥

अन्तकप्रतिमाः सर्वे कुम्भकर्णादयो मृधे ।
अन्तकप्रतिमैर्बाणैर्हतास्ते रघुसत्तम ॥ १९॥

कुम्भकर्णादि सभी राक्षस तो युद्ध में काल के समान थे। हे रघुश्रेष्ठ! आपके काल के समान विकराल बाणों से वह सब राक्षसगण मारे गये ॥ १९ ॥

दत्ता चेयं त्वयास्माकं पुरा ह्यभयदक्षिणा ।
हत्वा रक्षोगणान् सङ्ख्ये कृतकृत्योऽद्य जीवसि ॥ २०॥

आप हमलोगों को तो आपने पहले ही अभयदान दे दिया था और स्वयं अब युद्ध में राक्षसों को मारकर कृत्य-कृत्य होकर जीवित हैं ॥२०॥

श्रुत्वा तु भाषितं तेषां मुनीनां भावितात्मनाम् ।
विस्मयं परमं गत्वा रामः प्राञ्जलिरब्रवीत् ॥ २१॥

उन मुनिश्वरों का कथन सुनकर अति विस्मित हो श्रीरामचन्द्रजी हाथ जोड़कर उनसे पूछा ॥२१॥

रावणादीनतिक्रम्य कुम्भकर्णादिराक्षसान् ।
त्रिलोकजयिनो हित्वा किं प्रशंसथ रावणिम् ॥ २२॥

आपलोग त्रिलोक विजयी रावण और कुम्भकर्णादि राक्षसों को छोड़कर उसके पुत्र मेघनाद की ही प्रशंसा क्यों करते हैं ? ॥२२॥

ततस्तद्वचनं श्रुत्वा राघवस्य महात्मनः ।
कुम्भयोनिर्महातेजा रामं प्रीत्या वचोऽब्रवीत् ॥ २३॥

महात्मा श्रीरघुनाथजी का यह कथन सुनकर परमतेजस्वी मुनिवर अगस्त्य जी ने अति प्रीति-पूर्वक उनसे कहा ॥ २३ ॥

शृणु राम यथा वृत्तं रावणे रावणस्य च ।
जन्म कर्म वरादानं सङ्क्षेपाद्वदतो मम ॥ २४॥

हे राम! रावण और उसके पुत्र के जन्म, कर्म तथा वर प्राप्ति का वृत्तान्त आप मुझसे सुनिए, मैं संक्षेप में वर्णन करता हूँ॥ २४॥

पुरा कृतयुगे राम पुलस्त्यो ब्रह्मणः सुतः ।
तपस्तप्तुं गतो विद्वान् मेरोः पार्श्वं महामतिः ॥ २५॥

हे राम! पूर्व समय में सतयुग में ब्रह्मा जी के पुत्र महामति विद्वान पुलस्त्यजी तप करने हेतु समेरु पर्वत पर गये ॥ २५॥

तृणबिन्दोराश्रमेऽसौ न्यवसन्मुनिपुङ्गवः ।
तपस्तेपे महातेजाः स्वाध्यायनिरतः सदा ॥ २६॥

महातेजस्वी मुनिपुङ्गव तृणविन्दुजी के आश्रम पर वह रहने लगे और स्वाध्याय में रत हो तप करने लगे ॥ २६ ॥

तत्राश्रमे महारम्ये देवगन्धर्वकन्यकाः ।
गायन्त्यो ननृतुस्तत्र हसन्त्यो वादयन्ति च ॥ २७॥

पुलस्त्यस्य तपोविघ्नं चक्रुः सर्वा अनिन्दिताः ।
ततः क्रुद्धो महातेजा व्याजहार वचो महत् ॥ २८॥

महारमणीय उस आश्रम में देवता और गन्धर्वों की कन्याएँ गीतवाद्य और हँसी पूर्वक नृत्य कर पुलस्त्यजी के तप में विघ्न उपस्थित करने लगीं। तत्पश्चात महातेजस्वी पुलस्त्यजी अति क्रोधित होकर बोले-॥ २७-२८॥

या मे दृष्टिपथं गच्छेत्सा गर्भं धारयिष्यति ।
ताः सर्वाः शापसंविग्ना न तं देशं प्रचक्रमुः ॥ २९॥

जिस कन्या पर मेरी दृष्टि पड़ेगी, वही गर्भवती हो जायेगी। तत्पश्चात् उनके शाप के भय से भयभीत हो कोई भी कन्या उस स्थान पर नहीं आयी ॥२९॥

तृणबिन्दोस्तु राजर्षेः कन्या तन्नाशृणोद्वचः ।
विचचार मुनेरग्रे निर्भया तं प्रपश्यती ॥ ३०॥

राजर्षि तृणविन्दुजी की कन्या ने इस वाक्य को नहीं सुना था। अतः वह मुनिश्वर पुलस्त्यजी के सामने निर्भय हो उन्हें देखती हुई भ्रमण करती रही ॥ ३० ॥

बभूव पाण्डुरतनुर्व्यञ्जितान्तःशरीरजा ।
दृष्ट्वा सा देहवैवर्ण्यं भीता पितरमन्वगात् ॥ ३१॥

इसलिये वह गर्भवती होकर पीली पड़ गयी तथा उसके स्तन स्थूल होकर प्रकट होने लगे। इस प्रकार अपने शरीर को विवर्ण देखकर वह डरती हुई अपने पिता के पास गयी ॥ ३१॥

तृणबिन्दुश्च तां दृष्ट्वा राजर्षिरमितद्‌युतिः ।
ध्यात्वा मुनिकृतं सर्वमवैद्विज्ञानचक्षुषा ॥ ३२॥

तां कन्यां मुनिवर्याय पुलस्त्याय ददौ पिता ।
तां प्रगृह्याब्रवीत्कन्यां बाढमित्येव स द्विजः ॥ ३३॥

महातेजस्वी राजर्षि तृणविन्दु जी जब उस कन्या को देखा तो ध्यान द्वारा ज्ञान दृष्टि से मुनिवर पुलस्त्यजी का कृत्य समझ गए और "बहुत अच्छा" यह कह कर पिता तृणविन्दु ने उस कन्या को मुनिवर पुलस्त्य को दे दिये ॥ ३२-३३॥

शुश्रूषणपरां दृष्ट्वा मुनिः प्रीतोऽब्रवीद्वचः ।
दास्यामि पुत्रमेकं ते उभयोर्वंशवर्धनम् ॥ ३४॥

अत्यन्त शुश्रूषा परायण उस कन्या को देखकर मुनिवर पुलस्त्य जी प्रसन्न होकर बोले-मैं दोनों कुल (मातृ पक्ष और पितृपक्ष) को बढ़ाने वाला एक पुत्र तुम्हे दूंगा ॥ ३४॥

ततः प्रासूत सा पुत्रं पुलस्त्याल्लोकविश्रुतम् ।
विश्रवा इति विख्यातः पौलस्त्यो ब्रह्मविन्मुनिः ॥ ३५॥

उस कन्या ने पुलस्त्यजी से एक त्रिलोक विख्यात पुत्र को जन्म दिया, जो ब्रह्मवेता मुनिवर विश्रवा के नाम से विख्यात हुआ ॥ ३५॥

तस्य शीलादिकं दृष्ट्वा भरद्वाजो महामुनिः ।
भार्यार्थं स्वां दुहितरं ददौ विश्रवसे मुदा ॥ ३६॥

महामुनि भरद्वाजजी ने विश्रवा का शील स्वभाव इत्यादि को देखकर अपनी पुत्री से उनका विवाह कर दिया ॥ ३६॥

तस्यां तु पुत्रः सञ्जज्ञे पौलस्त्याल्लोकसम्मतः ।
पितृतुल्यो वैश्रवणो ब्रह्मणा चानुमोदितः ॥ ३७॥

उस कन्या से पुलस्त्य नन्दन विश्रवा ने त्रिलोकी में विख्यात एक पुत्र उत्पन्न किया। वह विश्रवा का पुत्र अपने पिता के समान तेजस्वी था। ब्रह्माजी ने भी उसकी प्रशंसा की थी ॥३७ ॥

ददौ तत्तपसा तुष्टो ब्रह्मा तस्मै वरं शुभम् ।
मनोऽभिलषितं तस्य धनेशत्वमखण्डितम् ॥ ३८॥

उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्माजी ने उसे मनोवाञ्छित वर देकर अखण्डित धनराशि प्रदान की ॥ ३८॥

ततो लब्धवरः सोऽपि पितरं द्रष्टुमागतः ।
पुष्पकेण धनाध्यक्षो ब्रह्मदत्तेन भास्वता ॥ ३९॥

ब्रह्माजी के वरदान से धनेश होकर उनके द्वारा किये हुए महातेजस्वी पुष्पक विमान पर चढ़कर अपने पिता विश्रवा से मिलने वह आया ॥ ३९ ॥

नमस्कृत्याथ पितरं निवह्य तपसः फलम् ।
प्राह मे भगवान् ब्रह्मा दत्त्वा वरमनिन्दितम् ॥ ४०॥

उन्हें अपने तप का फल निवेदन कर प्रणामकर वह बोला--भगवन् ! ब्रह्माजी ने मुझे अत्युत्तम वर दिया है ॥ ४० ॥

निवासाय न मे स्थानं दत्तवान् परमेश्वरः ।
ब्रूहि मे नियतं स्थानं हिंसा यत्र न कस्यचित् ॥ ४१॥

परन्तु उन परमेश्वर ने मुझे रहने के लिए कोई स्थान नहीं दिया है। अत: आप मुझे कोई ऐसा स्थान बताइए जहाँ रहने पर किसी की भी हिंसा नहीं हो ॥ ४१॥

विश्रवा अपि तं प्राह लङ्कानाम पुरी शुभा ।
राक्षसानां निवासाय निर्मिता विश्वकर्मणा ॥ ४२॥

तत्पश्चात् विश्रवा बोले-राक्षसों को रहने के लिये एक सुन्दर पुरी का निर्माण विश्वकर्मा ने किया है।॥ ४२ ॥

त्यक्त्वा विष्णुभयाद्दैत्या विविशुस्ते रसातलम् ।
सा पुरी दुष्प्रधर्षान्यैर्मध्येसागरमास्थिता ॥ ४३॥

परन्तु भगवान् विष्णु के भय से दैत्य लोग उस पुरी को छोड़कर रसातल में चले गयेहैं। वह पुरी समुद्र के मध्य में स्थित है। अत: किसी शत्रु का उस पर आक्रमण करना अत्यन्त कठिन है ॥४३॥

तत्र वासाय गच्छ त्वं नान्यैः साधिष्ठिता पुरा ।
पित्रादिष्टस्त्वसौ गत्वा तां पुरीं धनदोऽविशत् ॥ ४४॥

उस पुरी पर इससे पहले किसी का अधिकार नहीं हुआ है, तुम वहीँ जाकर रहो। तब धनेश कुबेर ने अपने पिता की आज्ञा से उस पुरी में प्रवेश किया ॥४४॥

स तत्र सुचिरं कालमुवास पितृसम्मतः ।
कस्यचित्त्वथ कालस्य सुमाली नाम राक्षसः ॥ ४५॥

रसातलान्मर्त्यलोकं चचार पिशिताशनः ।
गृहीत्वा तनयां कन्यां साक्षाद्देवीमिव श्रियम् ॥ ४६॥

अपने पिता की सम्मति से उस स्थान पर अधिक समय तक उन्होंने निवास किया। किसी समय सुमाली नाम का माँस भोजी एक राक्षस साक्षात् लक्ष्मी के समान अपनी अविवाहित कन्या को साथ लेकर रसातल से पृथ्वी पर घूम रहा था । ४५-४६ ॥

अपश्यद्धनदं देवं चरन्तं पुष्पकेण सः ।
हिताय चिन्तयामास राक्षसानां महामनाः ॥ ४७॥

भगवान् कुबेर को उसने पुष्पक विमान पर चढ़कर विचरण करते देखा। तब महामति सुमाली राक्षसों की भलाई के लिये सोचने लगा॥४७॥

उवाच तनयां तत्र कैकसीं नाम नामतः ।
वत्से विवाहकालस्ते यौवनं चातिवर्तते ॥ ४८॥

वह कैकसी नामक अपनी कन्या से बोल-बेटी ! तुम्हारे विवाह का समय और यौवन काल व्यतीत हो रहा है ॥ ४८ ॥

प्रत्याख्यानाच्च भीतैस्त्वं न वरैर्गृह्यसे शुभे ।
सा त्वं वरय भद्रं ते मुनिं ब्रह्मकुलोद्भवम् ॥ ४९॥

स्वयमेव ततः पुत्रा भविष्यन्ति महाबलाः ।
ईदृशाः सर्वशोभाढ्या धनदेन समाः शुभे ॥ ५०॥

परश्च हे सुन्दरि ! "तुम छोड़ दोगी" इस भय से तुम्हारे साथ कोई विवाह नहीं करता। अत: तुम्हारा कल्याण हो, तुम स्वयं जाकर ब्रह्मा जी के कुल में उत्पन्न मुनिवर विश्रवा का वरण करो। हे शुभे! कुबेर के समान सर्वशोभा सम्पन्न महाबलशाली पुत्र इनसे तुझे उत्पन्न होंगे ॥ ४९-५० ॥

तथेति साऽऽश्रमं गत्वा मुनेरग्रे व्यवस्थिता ।
लिखन्ती भुवमग्रेण पादेनाधोमुखी स्थिता ॥ ५१॥

"बहुत अच्छा" यह कहकर मुनीश्वर के आश्रम पर वह गयी और अधोमुखी खड़ी हो वह अपने पैर नख से पृथ्वी को खोदने लगी ॥ ५१॥

तामपृच्छन्मुनिः का त्वं कन्याऽसि वरवर्णिनि ।
साब्रवीत्प्राञ्जलिर्ब्रह्मन् ध्यानेन ज्ञातुमर्हसि ॥ ५२॥

ततो ध्यात्वा मुनिः सर्वं ज्ञात्वा तां प्रत्यभाषत ।
ज्ञातं तवाभिलषितं मत्तः पुत्रानभीप्ससि ॥ ५३॥

मुनीश्वर उससे पूछे-हे सुन्दर वर्ण वाली! तू किसकी कन्या और कौन हो ? तब केकसी हाथ जोड़कर बोली-ब्रह्मन् ! ध्यान द्वारा आप सबकुछ जान सकते हैं। तत्पश्चात् मुनिवर ध्यान द्वारा सबकुछ जानकर उससे बोले-मैं तेरी अभिलाषा को समझ गया। मुझसे तू पुत्रों की इच्छा करती है ॥५२-५३॥

दारुणायां तु वहलायामागतासि सुमध्यमे ।
अतस्ते दारुणौ पुत्रौ राक्षसौ सम्भविष्यतः ॥ ५४॥

परन्तु हे सुन्दरि ! इस दारुणकाल में तू आयी है। अत: तुम्हें दो महाभयंकर राक्षस पुत्र उत्पन्न होंगे ॥५४॥

साब्रवीन्मुनिशार्दूल त्वत्तोऽप्येवंविधौ सुतौ ।
तामाह पश्चिमो यस्ते भविष्यति महामतिः ॥ ५५॥

महाभागवतः श्रीमान् रामभक्त्येकतत्परः ।
इत्युक्ता सा तथा काले सुषुवह दशकन्धरम् ॥ ५६॥

रावणं विंशतिभुजं दशशीर्षं सुदारुणम् ।
तद्रक्षोजातमात्रेण चचाल च वसुन्धरा ॥ ५७॥

तब वह कैकसी राक्षसी बोली की हे मुनिश्रेष्ठ क्या आपसे भी भी ऐसे पुत्र होना योग्य है तो मुनि ने कहा की तुम्हे जो तीसरा पुत्र प्राप्त होगा वह श्री राम की भक्ति से परिपूर्ण, धर्मात्मा स्वरुप महाभागवत तथा श्रेष्ठ बुद्धि से युक्त होगा। मुनिश्रेष्ठ के ऐसा कहने पर पुत्रौत्पत्ति के समय कैकसी ने दस सिर और बीस भुजाओं वाला घोर राक्षस रावण को जन्म दिया। उस बालके के उत्पन्न होते ही पृथ्वी चलायमान हो गयी ॥५५-५७॥

बभूवुर्नाशहेतूनि निमित्तान्यखिलान्यपि ।
कुम्भकर्णस्ततो जातो महापर्वतसन्निभः ॥ ५८॥

वह बोली-हे मुनिश्रेष्ठ ! आपके द्वारा भी क्या इसी संसार के नाश के सभी कारण उपस्थित हो गए तत्पश्चात् महापर्वत के समान कुम्भकर्ण उत्पन्न हुआ ॥ ५८ ॥

ततः शूर्पणखा नाम जाता रावणसोदरी ।
ततो विभीषणो जातः शान्तात्मा सौम्यदर्शनः ॥ ५९॥

उसके बाद रावण की बहन शूर्पणखा का जन्म हुआ और उसके बाद अति शान्तचित्त सौम्यमूर्ति विभीषण का जन्म हुआ ॥५९॥

स्वाध्यायी नियताहारो नित्यकर्मपरायणः ।
कुम्भकर्णस्तु दुष्टात्मा द्विजान् सन्तुष्टचेतसः ॥ ६०॥

भक्षयन्नृषिसङ्घांश्च विचचारातिदारुणः ।
रावणोऽपि महासत्त्वो लोकानां भयदायकः ।
ववृधे लोकनाशाय ह्यामयो देहिनामिव ॥ ६१॥

वह अति स्वाध्याय शील, मिताहारी और नित्यकर्म परायण था। अति दारुण दुष्टात्मा कुम्भकर्ण सन्तुष्टचित्त ब्राह्मण और ऋषियों के समूहों को भक्षण करता हुआ पृथ्वी पर घूमने लगा तथा सम्पूर्ण लोकों को भयभीत करने वाला महाबली रावण भी प्राणियों के नाश करने वाला रोग के समान त्रिलोकी को नष्ट करने हेतु बढ़ने लगा ॥ ५९-६१॥

राम त्वं सकलान्तरस्थमभितो जानासि विज्ञानदृक्
साक्षी सर्वहृदि स्थितो हि परमो नित्योदितो निर्मलः ।
त्वं लीलामनुजाकृतिः स्वमहिमन् मायागुणैर्नाज्यसे
लीलार्थं प्रतिचोदितोऽद्य भवता वक्ष्यामि रक्षोद्भवम् ॥ ६२॥

हे राम! सबके अन्तः करण में आप विराजमान हैं और साक्षी रूप से अपनी ज्ञानदृष्टि से सबके हृदय के भावों को अच्छी प्रकार जानते हैं। आप परमश्रेष्ठ, नित्य-प्रबुद्ध और निर्मल हैं। अपनी महिमा में स्थित परमेश्वर ! आप लीला से मानव रूप धारण किया हुआ है, परन्तु आप माया के गुणों से लिप्त नहीं होते। लीला से ही आप मुझसे पूछ रहे हैं । अत: राक्षसों का जन्मवृत्तान्त हम आपको सुना रहे हैं ॥ ६२ ॥

जानामि केवलमनन्तमचिन्त्यशक्तिं
चिन्मात्रमक्षरमजं विदितात्मतत्त्वम् ।
त्वां राम गूढनिजरूपमनुप्रवृत्तो

मूढोऽप्यहं भवदनुग्रहतश्चरामि ॥ ६३॥

हे राम! मैं आपको एकमात्र, अनन्त, अचिन्त्य, चिन्मात्र-अक्षर, अजन्मा और आत्मबोध स्वरूप जानता हूँ तथा च अपने स्वरूप को गुप्त रखने वाले आपमें परायण होकर मैं मूढ भी आपकी कृपा से स्वच्छन्द विचरण करता हूँ। ६३ ॥

एवं वदन्तमिनवंशपवित्रकीर्तिः
कुम्भोद्भवं रघुपतिः प्रहसन् बभाषे ।
मायाश्रितं सकलमेतदनन्यकत्वात्
मत्कीर्तनं जगति पापहरं निबोध ॥ ६४॥

इस प्रकार अगस्त्यजी के कहने पर सूर्यवंश के सुयशस्वरूप श्रीरघुनाथजी ने अगस्त्यजी से हँसकर कहां -यह सम्पूर्ण संसार माया मय है; वास्तव में तो यह मुझसे पृथक् नहीं है। हे मुनिवर ! आप इस संसार में सम्पूर्ण पापों का नाश करने वाले मेरे गुण-कीर्तन को ही समझिए ॥६४॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे उत्तरकाण्डे
प्रथमः सर्गः ॥ १॥

॥ द्वितीय सर्गः ॥

राक्षसों का राज्यस्थापन-विवरण

श्रीमहादेव उवाच ।

श्रीरामवचनं श्रुत्वा परमानन्दनिर्भरः ।
मुनिः प्रोवाच सदसि सर्वेषां तत्र शृण्वताम् ॥ १॥

श्रीमहादेवजी बोले - श्रीरघुनाथजी का यह कथन सुनकर अगस्त्य मुनि अति आनन्दित हुए और उस सभा में सभी लोगों के सुनते हुए कहने लगे ॥ १॥

अथ वित्तेश्वरो देवस्तत्र कालेन केनचित् ।
आययौ पुष्पकारूढः पितरं द्रष्टुमञ्जसा ॥ २॥

हे राम! अकस्मात् किसी समय कुबेरजी पुष्पक विमान पर चढ़कर अपने पिता से मिलने के लिए आये ॥२॥

दृष्ट्वा तं कैकसी तत्र भ्राजमानं महौजसम् ।
राक्षसी पुत्रसामीप्यं गत्वा रावणमब्रवीत् ॥ ३॥

कैकसी राक्षसी ने महातेजस्वी कुबेर को जब अपने पिता के पास स्थित देखा तो अपने पुत्र रावण के समीप जाकर बोली ॥३॥

पुत्र पश्य धनाध्यक्षं ज्वलन्तं स्वेन तेजसा ।

त्वमप्येवं यथा भूयास्तथा यत्नं कुरु प्रभो ॥ ४॥

बेटा! अपने प्रकाश से देदीप्यमान इस धनेश कुबेर को देखो और तुम भी ऐसा प्रयत्न करो कि इस कुबेर के समान हो जाओ ॥४॥

तच्छ्रुत्वा रावणो रोषात् प्रतिज्ञामकरोद्द्रुतम् ।
धनदेन समो वापि ह्यधिको वाचिरेण तु ॥ ५॥

भविष्याम्यम्ब मां पश्य सन्तापं त्यज सुव्रते ।
इत्युक्त्वा दुष्करं कर्तुं तपः स दशकन्धरः ॥ ६॥

माता का यह कथन सुनकर रावण रोष से प्रतिज्ञा किया कि हे सुव्रते ! तू खेद न करो, अम्ब ! मैं शीघ्र ही कुबेर के तुल्य अथवा इससे भी अधिक हो जाऊँगा। ॥५-६॥

अगमत्फलसिद्ध्यर्थं गोकर्णं तु सहानुजः ।
स्वं स्वं नियममास्थाय भ्रातरस्ते तपो महत् ॥ ७॥

आस्थिता दुष्करं घोरं सर्वलोकैकतापनम् ।
दशवर्षसहस्राणि कुम्भकर्णोऽकरोत्तपः ॥ ८॥

यह कहकर भाइयों के सहित रावण अभिलषित फल प्राप्ति हेतु गोकर्ण क्षेत्र में दुष्कर तपस्या करने चला गया। उस स्थान पर तीनों भाई अपने-अपने व्रत में नियमपूर्वक स्थित हो सर्वलोक तापक अति महान् तप करने लगे। उन तीनों में से कुम्भकर्ण ने दस हजार वर्षों तक तप किया ॥७-८॥

विभीषणोऽपि धर्मात्मा सत्यधर्मपरायणः ।
पञ्चवर्षसहस्राणि पादेनैकेन तस्थिवान् ॥ ९॥

पाँच हजार वर्ष तक सत्यधर्मपरायण विभीषण एक पैर पर खड़े रहे।॥९॥

दिव्यवर्षसहस्रं तु निराहारो दशाननः ।
पूर्णे वर्षसहस्रे तु शीर्षमग्नौ जुहाव सः ।
एवं वर्षसहस्राणि नव तस्यातिचक्रमुः ॥ १०॥

रावण ने एक हजार दिव्य वर्ष तक निराहार रहकर तपस्या की और एक हजार दिव्य वर्ष पूर्ण होने पर उसने अपना एक मस्तक की अग्नि में आहुति दे दी। इस प्रकार रावण को तपस्या करते हुए नौ हजार दिव्यवर्ष व्यतीत हो गए ॥ १०॥

अथ वर्षसहस्रं तु दशमे दशमं शिरः ।
छेत्तुकामस्य धर्मात्मा प्राप्तश्चाथ प्रजापतिः ।
वत्स वत्स दशग्रीव प्रीतोऽस्मीत्यभ्यभाषत ॥ ११॥

दस हजार वर्ष तपस्या के पूर्ण होने ही वाले थे कि रावण अपना दसवें सिर को काटने के लिये तैयार हुआ, यह देखकर धर्मात्मा ब्रह्माजी प्रकट होकर बोले-वत्स दशग्रीव ! मैं प्रसन्न हूँ॥ ११॥

वरं वरय दास्यामि यत्ते मनसि काङ्क्षितम् ।
दशग्रीवोऽपि तच्छ्रुत्वा प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ १२॥

तुम्हारे मन में जो इच्छा हो वह वर माँग लो उसे मैं पूर्ण करूँगा। यह सुनकर अति प्रसन्न हो रावण बोला ॥ १२॥

अमरत्वं वृणोमीश वरदो यदि मे भवान् ।
सुपर्णनागयक्षाणां देवतानां तथासुरैः ।
अवध्यत्वं तु मे देहि तृणभूता हि मानुषाः ॥ १३॥

हे ईश! यदि आप मुझे वर देना चाहते हैं तो मैं अमर हो जाऊँ, यह वर दें। गरुड, सर्प, यक्ष, देव और दानव आदि कोई मुझे मार न सके। मनुष्य तो तृण के समान ही हैं॥ १३॥

तथास्त्विति प्रजाध्यक्षः पुनराह दशाननम् ।
अग्नौ हुतानि शीर्षाणि यानि तेऽसुरपुङ्गव ॥ १४॥

भविष्यन्ति यथापूर्वमक्षयाणि च सत्तम ॥ १५॥

ब्रह्माजी "तथाऽस्तु" यह रावण से कहकर बोले-हे असुरपुंगव ! जिन सिरों को तुमने अग्नि में हवन कर दिया है वह भी पूर्ववत् हो जाय, तथा हे साधुसत्तम! उनका कभी नाश भी नहीं होगा ॥ १४-१५॥

एवमुक्त्वा ततो राम दशग्रीवं प्रजापतिः ।
विभीषणमुवाचेदं प्रणतं भक्तवत्सलः ॥ १६॥

विभीषण त्वया वत्स कृतं धर्मार्थमुत्तमम् ।
तपस्ततो वरं वत्स वृणीष्वाभिमतं हितम् ॥ १७॥

हे राम ! रावण को यह वरदान देकर ब्रह्माजी भक्तवत्सल विभीषण से कहा – हे वत्स विभीषण ! तुमने इस उत्तम तप को धर्म के लिए किया है। अतएव तुम अपना अभिलषित वर माँग लो॥१६-१७ ॥

विभीषणोऽपि तं नत्वा प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ।
देव मे सर्वदा बुद्धिर्धर्मे तिष्ठतु शाश्वती ।
मा रोचयत्वधर्मं मे बुद्धिः सर्वत्र सर्वदा ॥ १८॥

तत्पश्चात् हाथ जोड़कर ब्रह्माजी ने विभीषण ने कहा-भगवन् ! हमेशा मेरी बुद्धि धर्म में स्थित रहे कभी भी अधर्म में रूचि न हो ॥ १८ ॥

ततः प्रजापतिः प्रीतो विभीषणमथाब्रवीत् ।
वत्स त्वं धर्मशीलोऽसि तथैव च भविष्यसि ॥ १९॥

अयाचितोऽपि ते दास्ये ह्यमरत्वं विभीषण ।
कुम्भकर्णमथोवाच वरं वरय सुव्रत ॥ २०॥

तब प्रसन्न होकर ब्रह्माजी विभीषण से बोले-वत्स विभीषण! तुम धर्मशील हो। तुम भी अमरत्व को प्राप्त करोगे। तत्पश्चात् वह कुम्भकर्ण से बोले-हे सुव्रत ! तुम वर माँगो॥१९-२०॥

वाण्या व्याप्तोऽथ तं प्राह कुम्भकर्णः पितामहम् ।
स्वप्स्यामि देव षण्मासान् दिनमेकं तु भोजनम् ॥ २१॥

तब देवी सरस्वती की माया से मोहित हो कुम्भकर्ण बोला-हे देव! मैं छः महीनों तक शयन करूँ और एक दिन भोजन करूँ ॥२१॥

एवमस्त्विति तं प्राह ब्रह्मा दृष्ट्वा दिवौकसः ।
सरस्वती च तद्वक्त्रान्निर्गता प्रययौ दिवम् ॥ २२॥

देवताओं के तरफ देखते हुए ब्रह्माजी ने कुम्भकर्ण से कहा- "तथाऽस्तु" ब्रह्माजी के यह कहते ही कुम्भकर्ण के मुख से निकलकर देवी सरस्वती स्वर्ग लोक को चली गयीं ॥ २२ ॥

कुम्भकर्णस्तु दुष्टात्मा चिन्तयामास दुःखितः ।
अनभिप्रेतमेवास्यात्किं निर्गतमहो विधिः ॥ २३॥

तदनन्तर दुरात्मा कुम्भकर्ण दुःखित हो सोचने लगा-जिसकी मुझे इच्छा नहीं है, ऐसी बात मेरे मुख से निकल गयी ; अहो! देवी गति विचित्र है ॥ २३ ॥

सुमाली वरलब्धांस्तान् ज्ञात्वा पौत्रान् निशाचरान् ।
पातालान्निर्भयः प्रायात् प्रहस्तादिभिरन्वितः ॥ २४॥

अपने तीनों नाती राक्षसों को वर प्राप्त होने का समाचार सुनकर प्रहस्तादि राक्षसों सहित सुमाली निर्भयतापूर्वक पाताल से आया ॥२४॥

दशग्रीवं परिष्वज्य वचनं चेदमब्रवीत् ।
दिष्ट्या ते पुत्र संवृत्तो वाञ्छितो मे मनोरथः ॥ २५॥

तब रावण को आलिङ्गन कर बोला-वत्स! अति प्रसन्नता की बात है कि मेरा मनोवाञ्छित पूर्ण हो गया ॥ २५॥

यद्भयाच्च वयं लङ्कां त्यक्त्वा याता रसातलम् ।
तद्गतं नो महाबाहो महद्विष्णुकृतं भयम् ॥ २६॥

हमलोग लंका पुरी को छोड़कर जिसके भय से पाताल लोक चले गये थे, हे महाबाहो ! आज हममोगों का विष्णु से भय समाप्त हो गया है ॥ २६ ॥

अस्माभिः पूर्वमुषिता लङ्केयं धनदेन ते ।
भ्रात्राक्रान्तामिदानीं त्वं प्रत्यानेतुमिहार्हसि ॥ २७॥

साम्ना वाथ बलेनापि राज्ञां बन्धुः कुतः सुहृत् ।
इत्युक्तो रावणः प्राह नार्हस्येवं प्रभाषितुम् ॥ २८॥

यह लंकापुरी जो वर्तमान में कुबेर के अधिकार में है, यहाँ पहले हमलोग रहते थे। भाई से अधिकृत इस लकापुरी को तुम्हें सामनीति अथवा बलपूर्वक लौटा लेना चाहिये ; क्योंकि राजाओं के मित्र और बन्धु कब हितैषी हुए हैं ? सुमाली के यह कहने पर रावण बोला- आपको इस प्रकार की बाते नहीं कहनी चाहिये ॥ २७-२८॥

वित्तेशो गुरुरस्माकमेवं श्रुत्वा तमब्रवीत् ।
प्रहस्तः प्रश्रितं वाक्यं रावणं दशकन्धरम् ॥ २९॥

धनपति कुबेर हमारे बड़े भाई हैं। यह सुनकर अति नम्रता से प्रहस्त रावण से बोला-॥ २९ ॥

शृणु रावण यत्नेन नैवं त्वं वक्तुमर्हसि ।
नाधीता राजधर्मास्ते नीतिशास्त्रं तथैव च ॥ ३०॥

रे रावण! तुम राजधर्म और नीतिशास्त्र का अध्ययन नहीं किया है अतः तुम्हें यह नहीं कहना चाहिये ॥ ३०॥

शूराणां न हि सौभ्रात्रं शृणु मे वदतः प्रभो ।
कश्यपस्य सुता देवा राक्षसाश्च महाबलाः ॥ ३१॥

शूरों में भ्रातृत्व प्रेम नहीं होता। हे प्रभू ! जो मैं कहता हूँ उसे सुनो। देवता और राक्षस दोनों ही शूरवीर महर्षि कश्यप के सन्तान थे ॥३१॥

परस्परमयुध्यन्त त्यक्त्वा सौहृदमायुधैः ।
नैवहदानीन्तनं राजन् वैरं देवैरनुष्ठितम् ॥ ३२॥

आपसी सौहार्द्र को छोड़कर वे आयुधों से परस्पर लड़ने लगे। हे राजन् ! देवताओं से बैर हमलोगों के लिए नवीन नहीं है ॥३२॥

प्रहस्तस्य वचः श्रुत्वा दशग्रीवो दुरात्मनः ।
तथेति क्रोधताम्राक्षस्त्रिकूटाचलमन्वगात् ॥ ३३॥

दुरात्मा प्रहस्त का यह कथन सुनकर "बहुत अच्छा" कहकर रावण क्रोध से रक्तनेत्र होकर शीघ्र ही त्रिकूट पर्वत पर गया ॥ ३३॥

दूतं प्रहस्तं सम्प्रेष्य निष्कास्य धनदेश्वरम् ।
लङ्कामाक्रम्य सचिवै राक्षसैः सुखमास्थितः ॥ ३४॥

प्रहस्त को दूत भेजकर उसने कुबेर को लंकापुरी से बाहर निकाल कर उस पर अपना अधिकार स्थापित करके राक्षस मन्त्रियों के साथ सुख पूर्वक रहने लगा ॥ ३४ ॥

धनदः पितृवाक्येन त्यक्त्वा लङ्कां महायशाः ।
गत्वा कैलासशिखरं तपसातोषयच्छिवम् ॥ ३५॥

महायशश्वी कुबेर ने लंका को छोड़कर अपने पिता की आज्ञा से कैलाशपर्वत पर तपस्या कर श्रीमहादेवजी को प्रसन्न किया ॥ ३५॥

तेन सख्यमनुप्राप्य तेनैव परिपालितः ।
अलकां नगरीं तत्र निर्ममे विश्वकर्मणा ॥ ३६॥

उनसे मित्रता कर उनसे सुरक्षित होकर कुबेर ने कैलाश पर्वत पर विश्वकर्मा द्वारा अलका नाम की नगरी बनवाई ॥३६॥

दिक्पालत्वं चकारात्र शिवहन परिपालितः ।
रावणो राक्षसैः सार्धमभिषिक्तः सहानुजैः ॥ ३७॥

राज्यं चकारासुराणां त्रिलोकीं बाधयन् खलः ।
भगिनीं कालखञ्जाय ददौ विकटरूपिणीम् ॥ ३८॥

विद्युज्जिह्वाय नाम्नासौ महामायी निशाचरः ।
ततो मयो विश्वकर्मा राक्षसानां दितेः सुतः ॥ ३९॥

सुतां मन्दोदरीं नाम्ना ददौ लोकैकसुन्दरीम् ।
रावणाय पुनः शक्तिममोघां प्रीतमानसः ॥ ४०॥

उस स्थान पर भगवान् शंकरजी से सुरक्षित होकर कुबेर ने दिक्पालत्व प्राप्त किया । रावण भी राक्षसों का राजा होकर अपने

भाइयों के साथ तीनों लोकों को कष्ट देता हुआ राक्षसों का राज्य भोग करने लगा। वह महामायावी रावण कालखा के वंश में उत्पन्न विद्युज्जिह्व राक्षस से अपनी विकराल वदना वहन का विवाह किया। तत्पश्चात् राक्षसों के विश्वकर्मादिति सुत मय त्रैलोक्यसुन्दरी अपनी कन्या मन्दोदरी से रावण का विवाह कर दिया और प्रसन्नमन रावण को एक अमोघ शक्ति भी भेंट में दी ॥ ३७-४०॥

वैरोचनस्य दौहित्रीं वृत्रज्वालेति विश्रुताम् ।
स्वयन्दत्तामुदवहत्कुम्भकर्णाय रावणः ॥ ४१॥

तब रावण ने बैरोचन की दुहिता वृत्रज्वाला को स्वयं लाकर कुम्भकर्ण का विवाह किया।॥४१॥

गन्धर्वराजस्य सुतां शैलूषस्य महात्मनः ।
विभीषणस्य भार्यार्थे धर्मज्ञां समुदावहत् ॥ ४२॥

सरमां नाम सुभगां सर्वलक्षणसंयुताम् ।
ततो मन्दोदरी पुत्रं मेघनादमजीजनत् ॥ ४३॥

तथा गन्धर्वराज महात्मा शैलूष की अतिसुन्दरी, सर्वसुलक्षण सम्पन्ना, धर्मज्ञा कन्या सरमा से विभीषण का विवाह किया। तब मन्दोदरी से मेघनाद नामक पुत्र पैदा हुआ ॥ ४२-४३ ॥

जातमात्रस्तु यो नादं मेघवत्प्रमुमोच ह ।
ततः सर्वेऽब्रुवन्मेघनादोऽयमिति चासकृत् ॥ ४४॥

उत्पन्न होते ही वह मेघ के समान शब्द किया। अतएव सभी लोग बारम्बार उसे "मेघनाद" कहने लगे॥४४॥

कुम्भकर्णस्ततः प्राह निद्रा मां बाधते प्रभो ।
ततश्च कारयामास गुहां दीर्घां सुविस्तराम् ॥ ४५॥

तब कुम्भकर्ण बोला-प्रभो! मुझे निद्रा व्यथित कर रही है। यह कहकर कुम्भकर्ण ने एक विशाल गुफा बनवाई ॥४५॥

तत्र सुष्वाप मूढात्मा कुम्भकर्णो विघूर्णितः ।
निद्रिते कुम्भकर्णे तु रावणो लोकरावणः ॥ ४६॥

ब्राह्मणान् ऋषिमुख्यांश्च देवदानवकिन्नरान् ।
देवश्रियो मनुष्यांश्च निजघ्ने समहोरगान् ॥ ४७॥

उस स्थान पर मूढात्मा कुम्भकर्ण गहरी नीद सो गया। कुम्भकर्ण के सो जाने पर त्रैलोक्य को रूलाने वाले रावण ने ब्राह्मण, प्रमुख ऋषिगण, देव, दानव, किन्नर, सर्प, मनुष्य आदि सभी का वध किया और देवताओं की सम्पत्ति को नष्ट कर दिया ॥४६-४७॥

धनदोऽपि ततः श्रुत्वा रावणस्याक्रमं प्रभुः ।
अधर्मं मा कुरुष्वेति दूतवाक्यैर्न्यवारयत् ॥ ४८॥

रावण का दुराचार सुनकर भगवान् कुबेर ने "अधर्म मत करो' यह सन्देश दूत के द्वारा रावण को भेजवाकर उसे अधर्म करने से रोका ॥४८॥

ततः क्रुद्धो दशग्रीवो जगाम धनदालयम् ।
विनिर्जित्य धनाध्यक्षं जहारोत्तमपुष्पकम् ॥ ४९॥

इस पर क्रोधित होकर रावण कुबेर की नगरी अलकापुरी पर आक्रमण किया और कुबेर को परास्तकर उनके अति उत्तम पुष्पक विमान का हरण कर लिया ॥४९॥

ततो यमं च वरुणं निर्जित्य समरेऽसुरः ।
स्वर्गलोकमगात्तुर्णं देवराजजिघांसया ॥ ५०॥

तब उसने राक्षस यम और वरुण को युद्ध में जीतकर इन्द्र को मारने की इच्छा से शीघ्र ही स्वर्गलोक पर चढ़ाई की ॥५०॥

ततोऽभवन्महद्‌युद्धमिन्द्रेण सह दैवतैः ।
ततो रावणमभ्येत्य बबन्ध त्रिदशेश्वरः ॥ ५१॥

वहाँ पर इन्द्र तथा अन्य देवताओं के साथ घोर युद्ध हुआ। इस युद्ध में देवराज इन्द्र ने रावण को बाँध लिया॥ ५१ ॥

तच्छ्रुत्वा सहसागत्य मेघनादः प्रतापवन् ।
कृत्वा घोरं महद्‌युद्धं जित्वा त्रिदशपुङ्गवान् ॥ ५२॥

इन्द्रं गृहीत्वा बध्वासौ मेघनादो महाबलः ।
मोचयित्वा तु पितरं गृहीत्वेन्द्रं ययौ पुरम् ॥ ५३॥

महाप्रतापी मेघनाद ने यह समाचार सुनकर अकस्मात् देवताओं पर चढ़ाई करके घोर युद्ध किया और देवताओं को जीतकर इन्द्र को बाँध लिया। तब महाबली मेघनाद अपने पिता को मुक्तकर इन्द्र को अपने साथ लेकर लंकापुरी में लौट आया ॥ ५२-५३॥

ब्रह्मा तु मोचयामास देवहन्द्रं मेघनादतः ।
दत्त्वा वरान् बहूंस्तस्मै ब्रह्मा स्वभवनं ययौ ॥ ५४॥

तत्पश्चात् ब्रह्माजी ने मेघनाद से इन्द्र को छुड़ाया और मेघनाद को अनेक वर देकर अपने लोक को चले गये ॥५४ ॥

रावणो विजयी लोकान् सर्वान् जित्वा क्रमेण तु ।
कैलासं तोलयामास बाहुभिः परिघोपमैः ॥ ५५॥

विजयी रावण ने क्रम पूर्वक सभी लोकों को जीतकर परिघ के समान अपनी विशाल भुजाओं से कैलाश पर्वत को उठा लिया ॥ ५५॥

तत्र नन्दीश्वरेणैवं शप्तोऽयं राक्षसेश्वरः ।
वानरैर्मानुषैश्चैव नाशं गच्छेति कोपिना ॥ ५६॥

तब क्रोधित होकर भगवान् नन्दीश्वर राक्षसराज रावण को शाप दिये कि मनुष्य और वानरों के हाथ तुम मारे जाओगे ॥५६ ॥

शप्तोऽप्यगणयन् वाक्यं ययौ हैहयपत्तनम् ।
तेन बद्धो दशग्रीवः पुलस्त्येन विमोचितः ॥ ५७॥

परन्तु इस शाप की कुछ भी परवाह न करता हुआ वह रावण हैहयराज-सहस्त्रार्जुन की राजधानी को गया। वहाँ पर सहस्त्रार्जुन ने रावण को बाँध लिया, जिससे पुलस्त्यजी ने रावण को छुड़वाया ॥ ५७ ॥

ततोऽतिबलमासाद्य जिघांसुर्हरिपुङ्गवम् ।
धृतस्तेनैव कक्षेण वालिना दशकन्धरः ॥ ५८॥

उसके पश्च्यात रावण अत्यन्त बलवान वानरराज बाली को मारने के लिये तत्पर हुआ; परन्तु उसने शीघ्र ही रावण को अपनी काँख में दबा लिया ॥ ५८॥

भ्रामयित्वा तु चतुरः समुद्रान् रावणं हरिः ।
विसर्जयामास ततस्तेन सख्यं चकार सः ॥ ५९॥

और चारों समुद्रों को घुमाकर उसे छोड़ दिया। तत्पश्चात् रावण ने वाली से मित्रता कर ली ॥ ५९॥

रावणः परमप्रीत एवं लोकान् महाबलः ।
चकार स्ववशे राम बुभुजे स्वयमेव तान् ॥ ६०॥

हे राम! महाबली रावण इस तरह सम्पूर्ण लोकों पर अपना अधिपत्य स्थापित कर आनन्दपूर्वक भोग करने लगा॥६० ॥

एवम्प्रभावो राजेन्द्र दशग्रीवः सहेन्द्रजित् ।
त्वया विनिहतः सङ्ख्ये रावणो लोकरावणः ॥ ६१॥

मेघनादश्च निहतो लक्ष्मणेन महात्मना ।

कुम्भकर्णश्च निहतस्त्वया पर्वतसन्निभः ॥ ६२॥

हे राजेन्द्र! इस प्रकार पराक्रमी रावण और मेघनाद थे। लोकों को रुलाने वाला रावण का आपने वध किया और महात्मा लक्ष्मणजी ने मेघनाद का वध किया। पर्वताकार दीर्घकाय कुम्भकर्ण का भी आपने वध किया ॥६१-६२॥

भवान्नारायणः साक्षाज्जगतामादिकृद्विभुः ।
त्वत्स्वरूपमिदं सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥ ६३॥

आप जगत् के आदिकारण, स्रष्टा सर्वव्यापक, साक्षात् नारायण देव हैं। यह सम्पूर्ण चराचर विश्व आपका ही स्वरूप है ॥ ६३ ॥

त्वन्नाभिकमलोत्पन्नो ब्रह्मा लोकपितामहः ।
अग्निस्ते मुखतो जातो वाचा सह रघूत्तम ॥ ६४॥

लोक पितामह ब्रह्माजी आपके नाभि से समुद्भुत हैं। तथा हे रघश्रेष्ठ! वाणी सहित अग्निदेव भी आपके मुख से उत्पन्न हैं ॥ ६४॥

बाहुभ्यां लोकपालौघाश्चक्षुर्भ्यां चन्द्रभास्करौ ।
दिशश्च विदिशश्चैव कर्णाभ्यां ते समुत्थिताः ॥ ६५॥

आपकी भुजाओं से समस्त लोकपाल, नेत्रों से चन्द्रमा और सूर्य तथा कानों से दिशा विदिशाएँ उत्पन्न हुई हैं ॥ ६५॥

घ्राणात्प्राणः समुत्पन्नश्चाश्विनौ देवसत्तमौ ।
जङ्घाजानूरुजघनाद्भुवर्लोकादयोऽभवन् ॥ ६६॥

इसी प्रकार आपकी नासिका से प्राण और देवताओं में श्रेष्ठ अश्विनी कुमार प्रकट हुए हैं। आपकी जंघा , जानु, उरु और जघनादि अंगों से भूर्भुवादि सभी लोक उत्पन्न हुए हैं ॥ ६६ ॥

कुक्षिदेशात्समुत्पन्नाश्चत्वारः सागरा हरे ।
स्तनाभ्यामिन्द्रवरुणौ वालखिल्याश्च रेतसः ॥ ६७॥

हे हरे ! आपकी कुक्षि से चार समुद्र, स्तनों से इन्द्र और वरुण तथा आपके वीर्य से बाल्यखिल्यादि मुनीश्वर प्रकट हुए हैं ॥ ६७॥

मेढ्राद्यमो गुदान्मृत्युर्मन्यो रुद्रस्त्रिलोचनः ।
अस्थिभ्यः पर्वता जाताः केशेभ्यो मेघसंहतिः ॥ ६८॥

ओषध्यस्तव रोमेभ्यो नखेभ्यश्च खरादयः ।
त्वं विश्वरूपः पुरुषो मायाशक्तिसमन्वितः ॥ ६९॥

आपकी उपस्थेन्द्रिय से यम, गुदा से मृत्यु, क्रोध से त्रिनयन महादेवजी अस्थियों से पर्वत समूह, केशों से मेघ, रोमों से औषधियाँ, नखों से गधे आदि उत्पन्न हुए। अपनी माया शक्ति से समन्वित आप विश्वरूप परमपुरुष हैं ॥ ६८-६९ ॥

नानारूप इवाभासि गुणव्यतिकरे सति ।
त्वामाश्रित्यैव विबुधाः पिबन्त्यमृतमध्वरे ॥ ७०॥

आप प्रकृति के गुणों से युक्त होकर अनेक प्रकार से दिखायी देते हैं। आपके आश्रय से ही देवगण यज्ञों में अमृतपान करते हैं ॥ ७० ॥

त्वया सृष्टमिदं सर्वं विश्वं स्थावरजङ्गमम् ।
त्वामाश्रित्यैव जीवन्ति सर्वे स्थावरजङ्गमाः ॥ ७१॥

स्थावर-जंगम आदि सम्पूर्ण जगत् आपकी ही सृष्टि है और सम्पूर्ण स्थावर जगम आपके आश्रय से ही जीवित हैं ॥ ७१ ॥

त्वद्युक्तमखिलं वस्तु व्यवहारेऽपि राघव ।
क्षीरमध्यगतं सर्पिर्यथा व्याप्याखिलं पयः ॥ ७२॥

हे रघुनाथजी ! दूध में सर्वत्र घी व्याप्त रहने की भाँति व्यवहार काल में भी सम्पूर्ण वस्तुएँ आप में ही व्याप्त रहती हैं ॥ ७२॥

त्वद्भासा भासतेऽर्कादि न त्वं तेनावभाससे ।
सर्वगं नित्यमेकं त्वां ज्ञानचक्षुर्विलोकयेत् ॥ ७३॥

आपके प्रकाश से ही सूर्य-चन्द्र आदि सभी प्रकाशित होते हैं परन्तु आप उनके द्वारा प्रकाशित नहीं होते। आप सर्वगत, नित्य और एक हैं। आत्मज्ञान दृष्टि प्राप्त पुरुष ही आपको देख सकते हैं । ७३ ॥

नाज्ञानचक्षुस्त्वां पश्येदन्धदृग् भास्करं यथा ।
योगिनस्त्वां विचिन्वन्ति स्वदेहे परमेश्वरम् ॥ ७४॥

अतन्निरसनमुखैर्वेदशीर्षैरहर्निशम् ।
त्वत्पादभक्तिलेशेन गृहीता यदि योगिनः ॥ ७५॥

विचिन्वन्तो हि पश्यन्ति चिन्मात्रं त्वां न चान्यथा ।

मया प्रलपितं किञ्चित्सर्वज्ञस्य तवाग्रतः ।
क्षन्तुमर्हसि देवहश तवानुग्रहभागहम् ॥ ७६॥

अन्धे प्राणि को जिस प्रकार सूर्य का दर्शन नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानरूपी नेत्र से रहित प्राणी आपका दर्शन नहीं कर सकते, योगिजन उपनिषदों के निषेध वाक्यों द्वारा आप परमात्मा को अहर्निश अपने शरीर में खोजते हैं। आपके चरणारविन्द की लेश मात्र की भक्ति प्राप्त होने से चिन्तन करते-करते चिन्मात्र स्वरूप आपका दर्शन योगिजन कर पाते हैं अन्य किसी प्रकार से आपका दर्शन संभव नहीं है। आप सर्वज्ञ के सामने मैंने जो भी कुछ प्रलाप किया है, उसे आप क्षमा करें। क्योंकि हे देवेश्वर ! मैं आपका कृपापात्र हूँ॥ ७४-७६ ॥

दिग्देशकालपरिहीनमनन्यमेकं
चिन्मात्रमक्षरमजं चलनादिहीनम् ।
सर्वज्ञमीश्वरमनन्तगुणं व्युदस्त-
मायं भजे रघुपतिं भजतामभिन्नम् ॥ ७७॥

दिग्देश-काल से रहित अनन्य, एक चिन्मात्र, अक्षर, अजन्मा, चलनादि क्रिया रहित, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, अनन्य, गुण सम्पन्न, माया रहित और अपने भक्तों से अभिन्न आप रघुनाथजी का मैं भजन करता हूँ ॥ ७७ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे उत्तरकाण्डे द्वितीयः सर्गः ॥ २॥

॥ तृतीय सर्गः ॥

वाली और सुग्रीव का पूर्वजन्म का वृत्तान्त और रावण तथा सनत्कुमार संवाद

श्रीराम उवाच ।

वालिसुग्रीवयोर्जन्म श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।
रवीन्द्रौ वानराकारौ जज्ञाताविति नः श्रुतम् ॥ १॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा-मैं बाली और सुग्रीव के जन्म का यथार्थ वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ। मैं सुना हूँ कि यह दोनों सूर्य और इन्द्र ही वानररूप से अवतरित थे ॥ १॥

अगस्त्य उवाच ।
मेरोः स्वर्णमयस्याद्रेर्मध्यशृङ्गे मणिप्रभे ।
तस्मिन् सभाऽऽस्ते विस्तीर्णा ब्रह्मणः शतयोजना ॥ २॥

अगस्त्य जी ने कहा-हे राम ! मणि प्रभायुक्त सुवर्णमय मेरुपर्वत के मध्य शिखर पर शतयोजन विस्तृत ब्रह्माजी की सभा है ॥२॥

तस्यां चतुर्मुखः साक्षात्कदाचिद्योगमास्थितः ।
नेत्राभ्यां पतितं दिव्यमानन्दसलिलं बहु ॥ ३॥

किसी समय उस सभा में वह योगस्थ होकर बठे थे, उस समय उनके नेत्रों से बहुत से दिव्य आनन्दअश्रु गिरे ॥ ३॥

तद्गृहीत्वा करे ब्रह्मा ध्यात्वा किञ्चित्तदत्यजत् ।
भूमौ पतितमात्रेण तस्माज्जातो महाकपिः ॥ ४॥

उन आनन्दाश्रुओं को ब्रह्माजी ने अपने हाथ में लेकर कुछ चिन्तन करने के पश्च्यात पृथ्वी पर डाल दिया। उनके पृथ्वी पर गिरते ही एक महाकपि उत्पन्न हुआ ॥ ४॥

तमाह द्रुहिणो वत्स किञ्चित्कालं वसात्र मे ।
समीपे सर्वशोभाढ्ये ततः श्रेयो भविष्यति ॥ ५॥

उससे ब्रह्माजी बोले-वत्स ! कुछ समय तक तुम यही मेरे पास सर्वशोभा सम्पन्न इस स्थान पर रहो, इससे तुम्हारा कल्याण होगा ॥५॥

इत्युक्तो न्यवसत्तत्र ब्रह्मणा वानरोत्तमः ।
एवं बहुतिथे काले गते ऋक्षाधिपः सुधीः ॥ ६॥

कदाचित्पर्यटन्नद्रौ फलमूलार्थमुद्यतः ।
अपश्यद्दिव्यसलिलां वापीं मणिशिलान्विताम् ॥ ७॥

ब्रह्माजी के द्वारा इस प्रकार कहने पर वह वानरश्रेष्ठ वही रहने लगा। इस प्रकार अधिक समय व्यतीत होने पर इस ऋक्षराज नामक वानर ने एक दिन फल-मूलादि की इच्छा से भ्रमण करते करते समय

रत्नजटित शिलाओं से सुशोभित दिव्य जल पूर्ण एक बावड़ी देखी ॥६-७॥

पानीयं पातुमागच्छत्तत्र छायामयं कपिम् ।
दृष्ट्वा प्रतिकपिं मत्वा निपपात जलान्तरे ॥ ८॥

वह पानी पीने के लिये जब जल के समीप राया तो उस जल में छायामय एक वानर को देखा। उस वानर को अपना प्रतिद्वन्दी समझ कर वह जल में कूद पड़ा॥ ८॥

तत्राट्दृष्ट्वा हरिं शीघ्रं पुनरुत्प्लुत्य वानरः ।
अपश्यत्सुन्दरीं रामामात्मानं विस्मयं गतः ॥ ९॥

जल में कोई वानर न देख शीघ्र ही उछलकर वह वाहर आ गया और एक दिव्य रमणी के रूप में अपने को देखकर अति आश्चर्य चकित हुआ ॥९॥

ततः सुरेशो देवहशं पूजयित्वा चतुर्मुखम् ।
गच्छन् मध्याह्नसमये दृष्ट्वा नारीं मनोरमाम् ॥ १०॥

कन्दर्पशरविद्धाङ्गस्त्यक्तवान् वीर्यमुत्तमम् ।
तामप्राप्यैव तद्बीजं वालदेशेऽपतद्भुवि ॥ ११॥

उस समय मध्याह में ब्रह्माजी की पूजाकर देवेश इन्द्र लौट रहे थे। उस रमणीय सुन्दरी को देख काम कुसुमशरविद्ध इन्द्र का उत्तमवीर्य स्खलित हो गया। वह वीर्य उस स्त्री को प्राप्त न होकर उसके बालों को स्पर्श करता हुआ भमि पर गिर गया ॥१०-११॥

वाली समभवत्तत्र शक्रतुल्यपराक्रमः ।
तस्य दत्त्वा सुरेशानः स्वर्णमालां दिवं गतः ॥ १२॥

उस वीर्य से इन्द्र के समान पराक्रमी वाली उत्पन्न हुआ। देवेश इन्द्र उसे सुवर्ण की एक माला देकर स्वर्गलोक को चले गये ॥ १२ ।

भानुरप्यागतस्तत्र तदानीमेव भामिनीम् ।
दृष्ट्वा कामवशो भूत्वा ग्रीवादेशेऽसृजन्महत् ॥ १३॥

बीजं तस्यास्ततः सद्यो महाकायोऽभवद्धरिः ।
तस्य दत्त्वा हनूमन्तं सहायार्थं गतो रविः ॥ १४॥

भगवान् सूर्यदेव भी उसी समय वहाँ आये। उन्होंने भी उस रमणी को देखा और कामातुर होकर उसकी ग्रीवा पर अपना उग्र वीर्य छोड़े। उसके प्रभाव से तत्क्षण अति विशाल काय एक वानर उत्पन्न हुआ। सूर्यदेव उस बालक की सहायता के लिये हनुमानजी को देकर चले गये ॥ १३-१४॥

पुत्रद्वयं समादाय गत्वा सा निद्रिता क्वचित् ।
प्रभातेऽपश्यदात्मानं पूर्ववद्वानराकृतिम् ॥ १५॥

उन दोनों पुत्रों के साथ किसी स्थान पर जाकर वह स्त्री सो गयी। दुसरे दिन प्रातः काल उसने अपने को वानर रूप में ही पाया ॥ १५॥

फलमूलादिभिः सार्धं पुत्राभ्यां सहितः कपिः ।

नत्वा चतुर्मुखस्याग्रे ऋक्षराजः स्थितः सुधीः ॥ १६॥

तब परम बुद्धिमान् ऋक्षराज अपने पुत्रों के सहित फल-मूलादि लेकर ब्रह्माजी की सभा में आए और नमस्कार कर उनके सामने खड़ा हो गया ॥ १६ ॥

ततोऽब्रवीत्समाश्वास्य बहुशः कपिकुञ्जरम् ।
तत्रैकं देवतादूतमाहूयामरसन्निभम् ॥ १७॥

गच्छ दूत मयादिष्टो गृहीत्वा वानरोत्तमम् ।
किष्किन्धां दिव्यनगरीं निर्मितां विश्वकर्मणा ॥ १८॥

उस वानरवीर को ब्रह्माजी बहुत समझा बुझाकर एक देवदूत को बुलाया और देवदूत से बोले-दूत ! मेरी आज्ञा से इस वानर श्रेष्ठ के साथ विश्वकर्मा द्वारा निर्मित किष्किन्धापुरी में तुम जाओ ॥१७-१८॥

सर्वसौभाग्यवलितां देवैरपि दुरासदाम् ।
तस्यां सिंहासने वीरं राजानमभिषेचय ॥ १९॥

सम्पूर्ण ऐश्वर्य सम्पन्न वह देवताओं के लिये भी दुर्जेय है। उस किष्किन्धापुरी के सिंहासन पर इस वीर का राज्याभिषेक कर दो॥ १९॥

सप्तद्वीपगता यह यह वानराः सन्ति दुर्जयाः ।
सर्वे ते ऋक्षराजस्य भविष्यन्ति वशेऽनुगाः ॥ २०॥

सातों द्विपों के दुर्जेय वानरवीर इस ऋक्षराज के अधीन रहेंगे ॥२०॥

यदा नारायणः साक्षाद्रामो भूत्वा सनातनः ।
भूभारासुरनाशाय सम्भविष्यति भूतले ॥ २१॥

तदा सर्वे सहायार्थे तस्य गच्छन्तु वानराः ।
इत्युक्तो ब्रह्मणा दूतो देवानां स महामतिः ॥ २२॥

यथाऽऽज्ञप्तस्तथा चक्रे ब्रह्मणा तं हरीश्वरम् ।
देवदूतस्ततो गत्वा ब्रह्मणे तन्न्यवहदयत् ॥ २३॥

तदादि वानराणां सा किष्किन्धाऽभून्नृपाश्रयः ॥ २४॥

जिस समय भूभारहरण करने के लिये साक्षात् सनातन पुरुष नारायण देव अवतार लेंगे, उस समय सभी वानरगण उनकी सहायता करने के लिये जायें। इस प्रकार ब्रह्माजी के कहने पर महाबुद्धिमान् उस देवदूत ने उनकी आज्ञा के अनुसार उस वानर राज की समस्त व्यवस्था कर दी और पुनः ब्रह्माजी के पास जाकर सब कुछ सुना दिया। उसी समय से किष्किन्धापुरी वानरों की राजधानी हुई ॥ २१-२४ ॥

सर्वेश्वरस्त्वमेवासीरिदानीं ब्रह्मणार्थितः ।
भूमेर्भारो हृतः कृत्स्नस्त्वया लीलानृदेहिना ।
सर्वभूतान्तरस्थस्य नित्यमुक्तचिदात्मनः ॥ २५॥

अखण्डानन्तरूपस्य कियानेष पराक्रमः ।
तथापि वर्ण्यते सद्भिर्लीलामानुषरूपिणः ॥ २६॥

यशस्ते सर्वलोकानां पापहत्यै सुखाय च ।
य इदं कीर्तयेन्मर्त्यो वालिसुग्रीवयोर्महत् ॥ २७॥

जन्म त्वदाश्रयत्वात्स मुच्यते सर्वपातकैः ॥ २८॥

आप सर्वेश्वर हैं, इस समय ब्रह्माजी की प्रार्थना से आप भूमि का भारहरण किये। सभी भूतों के अन्दर विद्यमान नित्यमुक्त और चेतनस्वरूप, अखण्ड, अनन्त आपके लिये यह कौन सा बड़ा पराक्रम है ? परन्तु सम्पूर्ण संसार के पापों का नाश करने हेतु और उन्हें सुख देने के लिये माया से मनुष्य रूप धारण करने वाले आपका यश कीर्तन साधु लोग करते ही हैं। जो प्राणी वाली और सुग्रीव कश्यप चरित का कीर्तन करेगा वह सभी पापों से मुक्त हो जायेगा ॥ २५-२८॥

अथान्यां सम्प्रवक्ष्यामि कथां राम त्वदाश्रयाम् ।
सीता हृता यदर्थं सा रावणेन दुरात्मना ॥ २९॥

हे राम! आपकी आश्रयिणी उस कथा को मैं सुनाता हूँ, जिस कारण दुरात्मा रावण ने सीताजी का हरण किया था ॥ २९॥

पुरा कृतयुगे राम प्रजापतिसुतं विभुम् ।
सनत्कुमारमेकान्ते समासीनं दशाननः ।
विनयावनतो भूत्वा ह्यभिवाद्येदमब्रवीत् ॥ ३०॥

एक समय एकान्त में बैठा हुआ रावण ने ब्रह्माजी के पुत्र श्री सनत्कुमारजी से अति नम्रता पूर्वक प्रणाम कर पूछा ॥ ३० ॥

को न्वस्मिन् प्रवरो लोके देवानां बलवत्तरः ।
देवाश्च यं समाश्रित्य युद्धे शत्रुं जयन्ति हि ॥ ३१॥

इस संसार में सभी देवताओं में श्रेष्ठ और बलवान् कौन से देव हैं, जिनके आश्रय से देवगण युद्ध में शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं ? ॥ ३१॥

कं यजन्ति द्विजा नित्यं कं ध्यायन्ति च योगिनः ।
एतन्मे शंस भगवन् प्रश्नं प्रश्नविदांवर ॥ ३२॥

ब्राह्मण लोग नित्य किसका पूजन करते हैं और योगीजन किसका ध्यान करते हैं ? हे भगवन् ! आप सभी प्रश्नों के उत्तर जानने वालों में श्रेष्ठ हैं। अत: मेरे इस प्रश्न का उत्तर बतलाइये ॥ ३२ ॥

ज्ञात्वा तस्य हृदिस्थं यत्तदशेषेण योगदृक् ।
दशाननमुवाचेदं शृणु वक्ष्यामि पुत्रक ॥ ३३॥

भगवान् सनत्कुमार ने अपनी योग दृष्टि से रावण के हृदय की बात जानकर उससे बोले-हे पुत्र! तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर कहता हूँ, सुनो ॥ ३३ ॥

भर्ता यो जगतां नित्यं यस्य जन्मादिकं न हि ।
सुरासुरैर्नुतो नित्यं हरिर्नारायणोऽव्ययः ॥ ३४॥

जो नित्य अखिल ब्राह्माण्ड का भरण-पोषण करते हैं, जो जन्म-मरणादि रहित हैं, जो नित्य देव और दैत्यों से हमेशा वन्दित हैं, वे अविनाशी नारायण श्रीहरि हैं ॥ ३४ ॥

यन्नाभिपङ्कजाज्जातो ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः ।
सृष्टं येनैव सकलं जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥ ३५॥

तं समाश्रित्य विबुधा जयन्ति समरे रिपून् ।
योगिनो ध्यानयोगेन तमेवानुजपन्ति हि ॥ ३६॥

सृष्टि कर्ताओं के स्वामी ब्रह्माजी भी जिनके नाभि कमल से प्रादुर्भूत हैं; तथा जिन्होंने स्थावर-जङ्गमरूप इस संसार की सृष्टि की है , उन्हीं के आश्रय से देवता लोग युद्ध में शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं, तथा च योगिजन भी ध्यान योग से उन्हीं का जप करते हैं ॥ ३५-३६ ॥

महर्षेर्वचनं श्रुत्वा प्रत्युवाच दशाननः ।
दैत्यदानवरक्षांसि विष्णुना निहतानि च ॥ ३७॥

कां वा गतिं प्रपद्यन्ते प्रेत्य ते मुनिपुङ्गव ।
तमुवाच मुनिश्रेष्ठो रावणं राक्षसाधिपम् ॥ ३८॥

दैवतैर्निहता नित्यं गत्वा स्वर्गमनुत्तमम् ।
भोगक्षये पुनस्तस्माद्भ्रष्टा भूमौ भवन्ति ते ॥ ३९॥

महर्षि का यह कथन सुनकर दशानन बोला-हे मुनिपुङ्गव ! भगवान् विष्णु के द्वारा मारे गये दैत्य दानव और राक्षस किस गति को प्राप्त करते हैं। तब राक्षसाधिप रावण से मुनि श्रेष्ठ बोले देवताओं के द्वारा मारे जाने पर तो वह सभी उत्तमस्वर्ग को प्राप्त कर प्रारब्धवश भोग क्षीण होने पर वहाँ से गिरकर पुनः भूर्लोक में जन्म ग्रहण करते हैं ॥३७-३९॥

पूर्वार्जितैः पुण्यपापैर्म्रियन्ते चोद्भवन्ति च ।
विष्णुना यह हतास्ते तु प्राप्नुवन्ति हरेर्गतिम् ॥ ४०॥

और पूर्वजन्मार्जित पाप-पुण्यवश उनका जन्म-मरण होता रहता है; परन्तु भगवान् विष्णु के द्वारा मारे गये प्राणी तो विष्णुपद को ही प्राप्त करते हैं ॥४०॥

श्रुत्वा मुनिमुखात्सर्वं रावणो हृष्टमानसः ।
योत्स्येऽहं हरिणा सार्धमिति चिन्तापरोऽभवत् ॥ ४१॥

महर्षि के मुखारविन्द से ये सभी बातें सुन रावण हर्षित मन से यह सोचने लगा कि अवश्य मैं भगवान् श्री हरि के साथ युद्ध करूँगा ॥ ४१॥

मनःस्थितं परिज्ञाय रावणस्य महामुनिः ।
उवाच वत्स तेऽभीष्टं भविष्यति न संशयः ॥ ४२॥

उन महर्षि ने रावण के मन की बात समझकर कहा कि वत्स! निःसन्देह तुम्हारी इच्छा अवश्य पूर्ण होगी ॥४२॥

कञ्चित्कालं प्रतीक्षस्व सुखी भव दशानन ।
एवमुक्त्वा महाबाहो मुनिः पुनरुवाच तम् ॥ ४३॥

हे दशानन ! कुछ समय तक सुख पूर्वक रहो और थोड़े समय तक प्रतीक्षा करो। हे महाबाहो ! रावण से इस प्रकार कहकर उन ऋषि वर ने पुनः रावण से कहा ॥४३॥

तस्य स्वरूपं वक्ष्यामि ह्यरूपस्यापि मायिनः ।
स्थावरेषु च सर्वेषु नदेषु च नदीषु च ॥ ४४॥

रावण! वह रूपरहित हैं, फिर भी मैं उन माया से रूप धारण करने वाले का रूप बतलाता हूँ ॥४४॥

ओङ्कारश्चैव सत्यं च सावित्री पृथिवी च सः ।
समस्तजगदाधारः शेषरूपधरो हि सः ॥ ४५॥

ओंकार, सत्य, सावित्री, पृथ्वी तथा सम्पूर्ण जगदाधार शेषनागजी भी वह ही हैं ॥४५॥

सर्वे देवाः समुद्राश्च कालः सूर्यश्च चन्द्रमाः ।
सूर्योदयो दिवारात्री यमश्चैव तथानिलः ॥ ४६॥

अग्निरिन्द्रस्तथा मृत्युः पर्जन्यो वसवस्तथा ।
ब्रह्मा रुद्रादयश्चैव यह चान्ये देवदानवाः ॥ ४७॥

देवगण, समुद्र, काल, सूर्य-चन्द्र, सूर्योदय, दिन, रात्रि, यम, वायु, अग्नि, इन्द्र, मृत्यु, मेघ, वसुगण, ब्रह्मा तथा रुद्र आदि और समस्त देव-दानव भी उन्हीं के रूप हैं।४६-४७!

विद्योतते ज्वलत्येष पाति चात्तीति विश्वकृत् ।
क्रीडां करोत्यव्ययात्मा सोऽयं विष्णुः सनातनः ॥ ४८॥

सम्पूर्ण विश्व स्रष्टा सनातन भगवान् श्रीविष्णु निर्विकार होकर भी अपनी माया से अनेक प्रकार की लीलाएँ करते हैं। वह विद्युत रूप से चमकते हैं, अग्निरूप से प्रज्वलित होते हैं, विष्णु रूप से रक्षा करते हैं और रुद्र रूप से सबका संहार करते हैं ॥४८॥

तेन सर्वमिदं व्याप्तं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
नीलोत्पलदलश्यामो विद्युद्वर्णाम्बरावृतः ॥ ४९॥

उन्हीं से चराचर अखिल ब्रह्माण्ड व्याप्त है। वह नील कमलदल के समान श्यामवर्ण हैं और विद्युत् कान्ति के समान पीताम्बर धारण किए हुए हैं॥४९॥

शुद्धजाम्बूनदप्रख्यां श्रियं वामाङ्कसंस्थिताम् ।
सदानपायिनीं देवीं पश्यन्नालिङ्ग्य तिष्ठति ॥ ५०॥

वह अपने वामभाग में स्थित शुद्ध सुवर्ण की कान्ति वाली सदा अनपयिनी देवी लक्ष्मी जी की तरफ देखते हुए उन्हें आलिङ्गन किए हुए विराजमान हैं।॥ ५० ॥

द्रष्टुं न शक्यते कैश्चिद्देवदानवपन्नगैः ।
यस्य प्रसादं कुरुते स चैनं द्रष्टुमर्हति ॥ ५१॥

कोई भी देव, दानव अथवा नाग उन्हें देख नहीं सकते, जिनपर कृपा करते हैं वही उनका दर्शन कर सकता है ॥ ५१॥

न च यज्ञतपोभिर्वा न दानाध्ययनादिभिः ।
शक्यते भगवान् द्रष्टुमुपायैरितरैरपि ॥ ५२॥

वह सनातन भगवान् यज्ञ, तप, दान अध्ययन अथवा किसी भी उपाय से नहीं देखे जा सकते ॥५२॥

तद्भक्तैस्तद्गतप्राणैस्तच्चित्तैर्धूतकल्मषैः ।
शक्यते भगवान् विष्णुर्वेदान्तामलदृष्टिभिः ॥ ५३॥

भगवान् विष्णु में जिनके मन और प्राण लगे हैं, जो उनके भक्त हैं और वेदान्त आदि के महा वाक्यों से जिसका चित्त निर्मल हो गया है। ऐसे भक्तों को भगवान विष्णु का दर्शन होता है ॥ ५३ ॥

अथवा द्रष्टुमिच्छा ते शृणु त्वं परमेश्वरम् ।
त्रेतायुगे स देवहशो भविता नृपविग्रहः ॥ ५४॥

हितार्थं देवमर्त्यानामिक्ष्वाकूणां कुले हरिः ।
रामो दाशरथिर्भूत्वा महासत्त्वपराक्रमः ॥ ५५॥

यदि तुझे भी उस परमेश्वर के दर्शन की ईच्छा है तो सुनो-त्रेतायुग में देव और मनुष्यों के हित के लिये इक्ष्वाकुवंश में राजकुमार रूप से राजा दशरथ के पुत्र अति बली और महापराक्रमी श्रीराम अवतरित होंगे॥५४-५५ ॥

पितुर्नियोगात्स भ्रात्रा भार्यया दण्डके वने ।
विचरिष्यति धर्मात्मा जगन्मात्रा स्वमायया ॥ ५६॥

वह परम धार्मिक श्रीरघुनाथजी अपने पिता की आज्ञा से अनुज लक्ष्मण और जगज्जनी माया सीता के सहित दण्डकारण्य में विचरण करेंगे ॥ ५६ ॥

एवं ते सर्वमाख्यातं मया रावण विस्तरात् ।
भजस्व भक्तिभावहन सदा रामं श्रिया युतम् ॥ ५७॥

हे रावण! इस प्रकार मैंने विस्तार पूर्वक सभी बातों को तुम्हे बता दिया है। तुम भक्ति भाव से श्रीलक्ष्मीजी सहित भगवान् श्रीराम का भक्ति पूर्वक सदा भजन करो ॥ ५७ ॥

अगस्त्य उवाच ।
एवं श्रुत्वासुराध्यक्षो ध्यात्वा किञ्चिद्विचार्य च ।
त्वया सह विरोधेप्सुर्मुमुदे रावणो महान् ॥ ५८॥

अगस्त्यजी बोले-हे राम ! यह सुनकर राक्षसाधिप रावण कुछ सोच-विचार कर आपके साथ विरोध करना सोचकर मन ही मन अति प्रसन्न हुआ ॥ ५८ ॥'

युद्धार्थी सर्वतो लोकान् पर्यटन् समवस्थितः ।
एतदर्थं महाराज रावणोऽतीव बुद्धिमान् ।
हृतवान् जानकीं देवीं त्वयात्मवधकाङ्क्षया ॥ ५९॥

युद्ध की इच्छा से वह सम्पूर्ण लोकों में भ्रमण करने लगा। हे महाराज! आपके हाथों से मारे जाने की इच्छा से ही अति बुद्धिमान् रावण ने देवी श्रीजानकी जी का अपहरण किया था। ॥५९॥

इमां कथां यः शृणुयात्पठेद्वा संश्रावयेद्वा श्रवणार्थिनां सदा ।

आयुष्यमारोग्यमनन्तसौख्यं प्राप्नोति लाभं धनमक्षयं च ॥ ६०॥

जो प्राणी इस कथा का श्रवण करेगा अथवा पाठ करेगा अथवा श्रोताओं को सुनायेगा वह दीर्घायु, आरोग्य, अनन्तसुख, मनोभिलषित लाभ और अक्षय धन प्राप्त करेगा ॥ ६०॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे उत्तरकाण्डे
तृतीयः सर्गः ॥ ३॥

॥ चतुर्थ सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्रजी के राज्य का वर्णन और श्रीसीताजी का वनवास

श्रीमहादेव उवाच ।

एकदा ब्रह्मणो लोकादायान्तं नारदं मुनिम् ।
पर्यटन् रावणो लोकान् दृष्ट्वा नत्वाब्रवीद्वचः ॥ १॥

श्रीमहादेवजी बोले - एक समय विविध लोकों में घूमते हुए रावण ने ब्रह्मलोक से नारदजी को आते हुए देखकर उन्हें नमस्कार कर पूछा ॥१॥

भगवन् ब्रूहि मे योद्धुं कुत्र सन्ति महाबलाः ।
योद्धुमिच्छामि बलिभिस्त्वं ज्ञातासि जगत्त्रयम् ॥ २॥

भगवन् ! मै बलवानों के साथ युद्ध करना चाहता हूँ। आप तीनों लोकों के ज्ञाता हैं। अत: कृपापूर्वक मुझे बतलाइये कि मेरे साथ युद्ध करने वाले महाबली योद्धा कहाँ हैं ? ॥२॥

मुनिर्ध्याऽऽत्वाह सुचिरं श्वेतद्वीपनिवासिनः ।
महाबला महाकायास्तत्र याहि महामते ॥ ३॥

कुछ समय तक ध्यानकर मुनीश्वर ने कहा-हे महामते ! श्वेतद्वीप निवासी महाबली और विशालकाय हैं, तुम वहीं जाओ ॥३॥

विष्णुपूजारता यह वै विष्णुना निहताश्च यह ।

त एव तत्र सञ्जाता अजेयाश्च सुरासुरैः ॥ ४॥

जो भगवान् विष्णु की पूजा में संलग्न अथवा जो भगवान् विष्णु द्वारा मारे गये हैं, वही वहाँ उत्पन्न हुए है और वह देव-दानवों द्वारा अजेय हैं ॥४॥

श्रुत्वा तद्रावणो वहगान्मन्त्रिभिः पुष्पकेण तान् ।
योद्धुकामः समागत्य श्वेतद्वीपसमीपतः ॥ ५॥

यह सुनकर रावण अति शीघ्रता से मन्त्रियों सहित पुष्पक विमान पर आरूढ़ हुआ तथा उनके साथ युद्ध की इच्छा से श्वेत द्वीप के समीप गया ॥५॥

तत्प्रभाहततेजस्कं पुष्पकं नाचलत्ततः ।
त्यक्त्वा विमानं प्रययौ मन्त्रिणश्च दशाननः ॥ ६॥

उस द्वीप के तेज से प्रभाहीन होने से पुष्पक विमान आगे नहीं बढ़ सका। तब विमान और मन्त्रियों का छोड़कर रावण स्वयं ही चला ॥६॥

प्रविशन्नेव तद् द्वीपं धृतो हस्तेन योषिता ।
पृष्टश्च त्वं कुतः कोऽसि प्रेषितः केन वा वद ॥ ७॥

उस द्वीप में प्रवेश करते ही एक स्त्री उसका हाथ पकड़कर पूछा तुम कौन हो ? कहाँ से आये हो ? और तुम्हे किसने भेजा है ? ॥ ७॥

इत्युक्तो लीलया स्त्रीभिर्हसन्तीभिः पुनः पुनः ।

कृच्छ्राद्धस्ताद्विनिर्मुक्तस्तासां स्त्रीणां दशाननः ॥ ८॥

इस प्रकार अनेक स्त्रियों ने लीलापूर्वक हँसते-हँसते उससे यही प्रश्न पूछा, बड़ी कठिनाई से उन स्त्रियों से रावण को छुटकारा मिला ॥८॥

आश्चर्यमतुलं लब्ध्वा चिन्तयामास दुर्मतिः ।
विष्णुना निहतो यामि वैकुण्ठमिति निश्चितः ॥ ९॥

इसे देख रावण को महान् आश्चर्य हुआ और वह दुबुद्धि सोचने लगा कि निःसन्देह ही विष्णु भगवान् के हाथों से मरकर मैं वैकुण्ठ को जाऊँगा ॥९॥

मयि विष्णुर्यथा कुप्येत्तथा कार्यं करोम्यहम् ।
इति निश्चित्य वैदेहीं जहार विपिनेऽसुरः ॥ १०॥

अत: मुझपर भगवान् विष्णु जिस प्रकार कुपित हों मैं वही कार्य करूँगा। यह सोचकर उस असुर ने वन में जाकर श्रीजानकी जी का अपहरण किया ॥ १०॥

जानन्नेव परात्मानं स जहारावनीसुताम् ।
मातृवत्पालयामास त्वत्तः काङ्क्षन् वधं स्वकम् ॥ ११॥

हे राम ! आपके द्वारा मारे जाने की इच्छा से ही रावण ने आपको परमात्मा समझकर श्रीजानकी जी का अपहरण किया और माता के समान उनका पालन किया ॥११॥

राम त्वं परमेश्वरोऽसि सकलं जानासि विज्ञानदृग्

भूतं भव्यमिदं त्रिकालकलनासाक्षी विकल्पोज्झितः ।
भक्तानामनुवर्तनाय सकलां कुर्वन् क्रियासंहतिं
त्वं शृण्वन्मनुजाकृतिर्मुनिवचो भासीश लोकार्चितः ॥ १२॥

हे राम! आप परमेश्वर हैं, आप ज्ञान दृष्टि से भूत भविष्य और वर्तमान आदि त्रिकालदर्शी हैं। हे स्वामिन् ! अपने भक्तों का पथ प्रदर्शन करने हेतु सम्पूर्ण लीलाएँ करते हैं और आप सम्पूर्ण लोकों से पूजित होकर भी मनुष्य रूप होकर हमलोग जैसे मुनियों के वचन सुनते हुए भासित होते हैं ॥ १२॥

स्तुत्वैवं राघवं तेन पूजितः कुम्भसम्भवः ।
स्वाश्रमं मुनिभिः सार्धं प्रययौ हृष्टमानसः ॥ १३॥

इस प्रकार श्रीरघुनाथजी की स्तुति कर, उनसे पूजित होकर मुनि प्रवर अगस्त्यजी अन्य मुनियों के साथ प्रसन्नमन अपने आश्रम को चले गये ॥ १३ ॥

रामस्तु सीतया सार्धं भ्रातृभिः सह मन्त्रिभिः ।
संसारीव रमानाथो रममाणोऽवसद्गृहे ॥ १४॥

रमानाथ भगवान श्रीराम सीताजी, भाइयों मन्त्रिवर्ग और परिवार के साथ संसारी पुरुष की भाँति आचरण करते हुए घर में रहने लगे॥ १४ ॥

अनासक्तोऽपि विषयान् बुभुजे प्रियया सह ।
हनुमत्प्रमुखैः सद्भिर्वानरैः परिवहष्टितः ॥ १५॥

अनासक्त होकर भी अपनी प्रिया के साथ उन्होंने विषयों का भोग किया। हनुमान् आदि प्रमुख श्रेष्ठ वानरों से वह सदा घिरे रहते थे॥५॥

पुष्पकं चागमद्राममेकदा पूर्ववत्प्रभुम् ।
प्राह देव कुबेरेण प्रेषितं त्वामहं ततः ॥ १६॥

एक समय पूर्ववत् पुष्पक विमान भगवान् श्रीराम के समीप आकर बोला-भगवन्! अपने यहाँ से कुबेर जी ने पुन: आपके पास मुझे भेजा हैं । १६ ॥

जितं त्वं रावणेनादौ पश्चाद्रामेण निर्जितम् ।
अतस्त्वं राघवं नित्यं वह यावद्वसेद्भुवि ॥ १७॥

और कहा है कि रावण ने मुझसे तुमको जीत लिया था और रावण से श्रीरामचन्द्रजी ने तुम्हे जीत लिया। अत: वह जब तक धराधाम पर विराजमान रहें। तब तक तुम उन्हीं के पास रहो ॥ १७ ॥

यदा गच्छेद्रघुश्रेष्ठो वैकुण्ठं याहि मां तदा ।
तच्छ्रुत्वा राघवः प्राह पुष्पकं सूर्यसन्निभम् ॥ १८॥

जब भगवान् श्रीरघुनाथजी वैकुण्ठ को जाएं तब तुम मेरे पास आ जाना। यह सुनकर श्रीरघुनाथजी सूर्य के समान तेजस्वी पुष्पकविमान से बोले-॥ १८॥

यदा स्मरामि भद्रं ते तदागच्छ ममान्तिकम् ।
तिष्ठान्तर्धाय सर्वत्र गच्छेदानीं ममाज्ञया ॥ १९॥

तुम्हारा कल्याण हो, मैं जब तुम्हारा स्मरण करूँ, तब मेरे पास आ जाना। मेरी आज्ञा से इस समय तुम जाओ और अन्तर्ध्यान होकर सर्वत्र स्थित रहो ॥ १९॥

इत्युक्त्वा रामचन्द्रोऽपि पौरकार्याणि सर्वशः ।
भ्रातृभिर्मन्त्रिभिः सार्धं यथान्यायं चकार सः ॥ २०॥

यह आज्ञा देकर श्रीरामचन्द्रजी भाई और मन्त्रियों के साथ नगरवासियों के सभी काम यथा रीति करने लगे ॥२०॥

राघवह शासति भुवं लोकनाथे रमापतौ ।
वसुधा सस्यसम्पन्ना फलवन्तश्च भूरुहाः ॥ २१॥

त्रिलोकीनाथ रमापति भगवान् श्रीरघुनाथजी के शासन काल में पृथ्वी धन धान्य सम्पन्न थी और वृक्ष फलों से परिपूर्ण थे ॥ २१॥

जना धर्मपराः सर्वे पतिभक्तिपराः स्त्रियः ।
नापश्यत्पुत्रमरणं कश्चिद्राजनि राघवह ॥ २२॥

श्रीरघुनाथजी के राज्य में सभी लोग धर्मपरायण थे, स्त्रियाँ पति सेवा परायण थीं, और किसी को अपने पुत्र का मरण नहीं देखना पड़ता था ॥ २२ ॥

समारुह्य विमानाग्र्यं राघवः सीतया सह ।
वानरैर्भ्रातृभिः सार्धं सञ्चचारावनिं प्रभुः ॥ २३॥

भगवान् श्रीराम सीताजी, भाइयों और वानरों के साथ विमान पर चढ़कर पृथ्वी पर भ्रमण करते रहते थे ॥ २३ ॥

अमानुषाणि कार्याणि चकार बहुशो भुवि ।
ब्राह्मणस्य सुतं दृष्ट्वा बालं मृतमकालतः ॥ २४॥

शोचन्तं ब्राह्मणं चापि ज्ञात्वा रामो महामतिः ।
तपस्यन्तं वने शूद्रं हत्वा ब्राह्मणबालकम् ॥ २५॥

जीवयामास शूद्रस्य ददौ स्वर्गमनुत्तमम् ।
लोकानामुपदेशार्थं परमात्मा रघूत्तमः ॥ २६॥

कोटिशः स्थापयामास शिवलिङ्गानि सर्वशः ।
सीतां च रमयामास सर्वभोगैरमानुषैः ॥ २७॥

उन्होंने पृथ्वी पर अनेक अमानवीय लीलाएं की। एक समय एक ब्राह्मण के पुत्र को बाल्यकाल में ही असमय मरा हुआ देखकर और उस ब्राह्मण को अति शोकाकुल देखकर रघुश्रेष्ठ परमात्मा महामति श्रीराम वन में तप करते हुए शुद्ध को अत्युत्तम स्वर्ग लोक प्रदान किया। लोगों को उपदेश देने के लिये विभिन्न स्थानों पर करोड़ों शिवलिंगों की स्थापना की और सीताजी का सब प्रकार के अलौकिक भोगों से अनुरञ्जन किये ॥ २४-२७॥

शशास रामो धर्मेण राज्यं परमधर्मवित् ।
कथां संस्थापयामास सर्वलोकमलापहाम् ॥ २८॥

इसतरह परमधर्मवित् भगवान् श्रीराम धर्मपूर्वक राज्य शासन करते थे और सम्पूर्ण लोकों के पापों को दूर करने वाली अपनी पवित्र कथा को उन्होंने संसार में स्थापित किया ॥ २८ ॥

दशवर्षसहस्राणि मायामानुषविग्रहः ।
चकार राज्यं विधिवल्लोकवन्द्यपदाम्बुजः ॥ २९॥

त्रैलोक्यवन्धचरणारविन्द माया मानव भगवान् श्रीराम ने विधिवत् दस हजार वर्ष राज्य किया ॥ २९ ॥

एकपत्नीव्रतो रामो राजर्षिः सर्वदा शुचिः ।
गृहमेधीयमखिलमाचरन् शिक्षयन् जनान् ॥ ३०॥

राजर्षि श्रीरामचन्द्रजी सदा एक पत्नीव्रत वाले थे। पवित्र चरित्र श्रीरामचन्द्रजी प्राणियों को शिक्षा देते हुए गृहास्थाश्रम के सभी धर्मों का पालन करते रहे ॥३०॥

सीता प्रेम्णानुवृत्त्या च प्रश्रयेण दमेन च ।
भर्तुर्मनोहरा साध्वी भावज्ञा सा ह्रिया भिया ॥ ३१॥

साध्वी सीताजी भी भगवान के मनो भाव को जानने वाली थी। वह प्रेम, आज्ञा का पालन, नम्रता, इन्द्रिय संयम, लज्जा, भीरुता आदि सभी गुणों से अपने पति का मन हर ली थी ॥ ३१॥

एकदाक्रीडविपिने सर्वभोगसमन्विते ।
एकान्ते दिव्यभवने सुखासीनं रघूत्तमम् ॥ ३२॥

एक समय श्रीरघुनाथजी सर्वभोगसम्पन्न अपने क्रीडावन के एकान्त दिव्य भवन में सुखपूर्वक बैठे थे ॥ ३२ ॥

नीलमाणिक्यसङ्काशं दिव्याभरणभूषितम् ।
प्रसन्नवदनं शान्तं विद्युत्पुञ्जनिभाम्बरम् ॥ ३३॥

वह नीलमणि की कान्तिवाले दिव्याभरणविभूषित, प्रसन्नमुख, शान्त तथा विद्युत्पुंज रज के समान थे तथा उन्होंने पीताम्बर धारण किया हुआ था ॥ ३३॥

सीता कमलपत्राक्षी सर्वाभरणभूषिता ।
राममाह कराभ्यां सा लालयन्ती पदाम्बुजे ॥ ३४॥

सर्वालंकार विभूषिता, कमल के पत्तों के समान नेत्रोंवाली श्रीसीताजी ने उस समय अपने कर कमलों द्वारा भगवान् श्रीरघुनाथजी के चरणों की सेवा करते हुए उनसे पूछा ॥ ३४॥

देवदेव जगन्नाथ परमात्मन् सनातन ।
चिदानन्दादिमध्यान्तरहिताशेषकारण ॥ ३५॥

देव देवाः समासाद्य मामेकान्तेऽब्रुवन्वचः ।
बहुशोऽर्थ्यमानास्ते वैकुण्ठागमनं प्रति ॥ ३६॥

हे देवाधिदेव ! हे जगन्नाथ ! हे सनातन परमात्मन् ! हे चिदानन्दमय ! हे आदि मध्यान्त रहित ! हे जगत् के अशेष कारण! हे देव ! देवगणों ने मुझसे एकान्त में अनेक प्रकार से प्रार्थना करते हुए आपको वैकुण्ठ में पधारने के लिये प्रार्थना की है ॥ ३५-३६ ॥

त्वया समेतश्चिच्छक्त्या रामस्तिष्ठति भूतले ।
विसृज्यास्मान् स्वकं धाम वैकुण्ठं च सनातनम् ॥ ३७॥

उनका कहना है कि आपमें चित् शक्ति से युक्त होकर भगवान् श्रीराम अपना सनातन स्थान वैकुण्ठ धाम और हमलोगों को छोड़कर पृथ्वी पर रह रहे हैं ॥३७॥

आस्ते त्वया जगद्धात्रि रामः कमललोचनः ।
अग्रतो याहि वैकुण्ठं त्वं तथा चेद्रघूत्तमः ॥ ३८॥

आगमिष्यति वैकुण्ठं सनाथान्नः करिष्यति ।
इति विज्ञापिताहं तैर्मया विज्ञापितो भवान् ॥ ३९॥

हे जगद्धात्रि! कमललोचन श्रीराम हलेशा आपके साथ रहते हैं। आप यदि पहले वैकुण्ठ चली जायेंगी तो श्रीरघुनाथजी भी वहाँ आकर हमलोगों को सनाथ करेंगे। इस प्रकार उन्होंने मुझसे निवेदन किया है जिसे मैंने आपसे कहा है ॥ ३८-३९॥

यद्युक्तं तत्कुरुष्वाद्य नाहमाज्ञापये प्रभो ।
सीतायास्तद्वचः श्रुत्वा रामो ध्यात्वाब्रवीत्क्षणम् ॥ ४०॥

हे प्रभो! आप जैसा चाहें वैसा करें, इसमें कोई मेरी आज्ञा नहीं है। श्रीसीताजी का यह कथन सुनकर क्षणभर सोचकर श्रीरघुनाथजी ने कहा ॥ ४० ॥

देवि जानामि सकलं तत्रोपायं वदामि ते ।

कल्पयित्वा मिषं देवि लोकवादं त्वदाशयम् ॥ ४१॥

त्यजामि त्वां वने लोकवादाद्भीत इवापरः ।
भविष्यतः कुमारौ द्वौ वाल्मीकेराश्रमान्तिके ॥ ४२॥

देवि ! मैं सबकुछ जानता हूँ। मैं इसके लिये तुम्हें उपाय बतलाता हूँ। तुमसे सम्बन्धित लोकापवाद के कारण लोकनिन्दा से भयमानने वाले अन्य पुरुषों के समान तुम्हें मैं वन में छोड़ दूंगा। वहाँ पर श्रीवाल्मीकिजी के आश्रम के समीप तुम्हें दो बालक उत्पन्न होंगे ॥ ४१-४२ ॥

इदानीं दृश्यते गर्भः पुनरागत्य मेऽन्तिकम् ।
लोकानां प्रत्ययार्थं त्वं कृत्वा शपथमादरात् ॥ ४३॥

भूमेर्विवरमात्रेण वैकुण्ठं यास्यसि द्रुतम् ।
पश्चादहं गमिष्यामि एष एव सुनिश्चयः ॥ ४४॥

इस समय तुम्हे गर्भलक्षण दिखायी दे रहे हैं। बालकों के जन्म के बाद तुम वापस मेरे पास आओगी और संसार के विश्वास के लिये आदर पूर्वक शपथ कर शीघ ही पृथ्वी के छिद्र से तुम वैकुण्ठ को चली जाओगी। इसके पश्च्यात मैं वहाँ आ जाऊँगा, यही सुनिश्चय है ॥ ४३-५४॥

इत्युक्त्वा तां विसृज्याथ रामो ज्ञानैकलक्षणः ।
मन्त्रिभिर्मन्त्रतत्त्वज्ञैर्बलमुख्यैश्च संवृतः ॥ ४५॥

तत्रोपविष्टं श्रीरामं सुहृदः पर्युपासत ।

हास्यप्रौढकथासुज्ञा हासयन्तः स्थिता हरिम् ॥ ४६॥

इस प्रकार एक मात्रज्ञान स्वरूप भगवान् श्रीराम ने सीताजी को यह कहकर अन्तःपुर में भेज दिया और स्वयं अपने नीतिशास्त्रज्ञ मन्त्रियों और प्रमुख सेनापतियों से घिर कर वहाँ विराजमान हुए। वहाँ बैठकर सुहृद्गण श्रीरामचन्द्रजी की सेवा करते थे और विदुषक गण उनकक मनोरंजन कर रहे थे ॥ ४५-४६॥

कथाप्रसङ्गात्पप्रच्छ रामो विजयनामकम् ।
पौरा जानपदा मे किं वदन्तीह शुभाशुभम् ॥ ४७॥

सीतां वा मातरं वा मे भ्रातॄन्वा कैकयीमथ ।
न भेतव्यं त्वया ब्रूहि शापितोऽसि ममोपरि ॥ ४८॥

कथा के प्रसङ्ग में श्रीराम ने विजय नामक दूत से पूछा-मेरे विषय में, सीता, मेरी माता, भाईयों अथवा कैकेयी के विषय में नगरवासियों की कैसी धारणा है ? शपथ पूर्वक तुझसे मैं पूछता हूँ तुम डर न मानकर सच-सच कहो ॥ ४७-४८ ॥

इत्युक्तः प्राह विजयो देव सर्वे वदन्ति ते ।
कृतं सुदुष्करं सर्वं रामेण विदितात्मना ॥ ४९॥

यह पूछने पर विजय ने कहा-देव! सभी पुरवासी यह कहते हैं कि आत्मज्ञानी श्रीरामचन्द्रजी ने अति दुष्कर कार्य किया हैं ॥४९॥

किन्तु हत्वा दशग्रीवं सीतामाहृत्य राघवः ।
अमर्षं पृष्ठतः कृत्वा स्वं वहश्म प्रत्यपादयत् ॥ ५०॥

परन्तु उन्होंने रावण को मारकर बिना किसी प्रकार का सन्देह किये सीता को अपने साथ लाकर घर पर रख लिया ॥ ५० ॥

कीदृशं हृदये तस्य सीतासम्भोगजं सुखम् ।
या हृता विजनेऽरण्ये रावणेन दुरात्मना ॥ ५१॥

जिस रावण ने निर्जन वन में सीता का हरण किया, पता नहीं सीता के साथ भोग का क्या सुख उन्हें मिलता है ? ॥५१॥

अस्माकमपि दुष्कर्म योषितां मर्षणं भवहत् ।
यादृग्भवति वै राजा तादृश्यो नियतं प्रजाः ॥ ५२॥

हमलोगों को भी अपनी स्त्रियों के दुष्कर्म को सहन करना पड़ेगा, क्योंकि राजा जैसा होता है, उसी प्रकार की प्रजा भी होती है ॥५२॥

श्रुत्वा तद्वचनं रामः स्वजनान् पर्यपृच्छत ।
तेऽपि नत्वाब्रुवन् राममेवमेतन्न संशयः ॥ ५३॥

विजय नामक दूत के यह कहने पर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अपने आत्मीयजनों से भी पूछा। उन्होंने भी श्रीराम को प्रणाम कर कहा निःसन्देह यह बात सत्य है ॥५३॥

ततो विसृज्य सचिवान् विजयं सुहृदस्तथा ।
आहूय लक्ष्मणं रामो वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ५४॥

लोकापवादस्तु महान् सीतामाश्रित्य मेऽभवत् ।

सीतां प्रातः समानीय वाल्मीकेराश्रमान्तिके ॥ ५५॥

त्यक्त्वा शीघ्रं रथेन त्वं पुनरायाहि लक्ष्मण ।
वक्ष्यसे यदि वा किञ्चित्तदा मां हतवानसि ॥ ५६॥

तत्पश्चात् मन्त्रीगण, विजय और सुहृदों को विदाकर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ने अनुज लक्ष्मण को बुलाया और उनसे कहने लगे-लक्ष्मण! सीता के कारण लोक में बड़ी निन्दा हो रही है। अतएव कल प्रातः तुम सीता को रथ पर चढ़ाकर वाल्मीकि मुनि के आश्रम के समीप छोड़ आओ इस विषय में यदि तुम कुछ कहोगे तो मेरी हत्या ही करोगे ॥५४-५६ ॥

इत्युक्तो लक्ष्मणो भीत्या प्रातरुत्थाय जानकीम् ।
सुमन्त्रेण रथे कृत्वा जगाम सहसा वनम् ॥ ५७॥

भगवान् की यह आज्ञा सुनकर लक्ष्मणजी डर गये और प्रातः काल उठते ही सुमन्त्र से रथ मँगवाकर जानकी जी को रथ पर चढ़ाये और वन को चल दिये ॥५७ ॥

वाल्मीकेराश्रमस्यान्ते त्यक्त्वा सीतामुवाच सः ।
लोकापवादभीत्या त्वां त्यक्तवान् राघवो वने ॥ ५८॥

महर्षि वाल्मीकि के आश्रम के समीप सीता को रथ से उतार कर उनसे बोले-लोकनिन्दा के डर से श्रीरघुनाथजी ने आपका त्याग कर दिया है ॥ ५८ ॥

दोषो न कश्चिन्मे मातर्गच्छाश्रमपदं मुनेः ।

इत्युक्त्वा लक्ष्मणः शीघ्रं गतवान् रामसन्निधिम् ॥ ५९॥

हे मातः! इसमें मेरा कोई दोष नहीं है। आप मुनीश्वर के आश्रम में चली जायें। लक्ष्मणजी इस प्रकार श्रीसीताजी से कहकर शीघ्र श्रीरामचन्द्रजी के पास चले आये ॥ ५९॥

सीतापि दुःखसन्तप्ता विललापातिमुग्धवत् ।
शिष्यैः श्रुत्वा च वाल्मीकिः सीतां ज्ञात्वा स दिव्यदृक् ॥ ६०॥

अर्घ्यादिभिः पूजयित्वा समाश्वास्य च जानकीम् ।
ज्ञात्वा भविष्यं सकलमार्पयन् मुनियोषिताम् ॥ ६१॥

सीताजी भी दुःख से सन्तप्त होकर, लोक स्त्रियों की भाँति विलाप करने लगीं। महर्षि वाल्मीकिजी ने अपने शिष्यों से यह बात सुनकर अपनी दिव्य दृष्टि से उन्हें सीता समझकर अर्द्धय, पाद्य आदि से उनकी पूजा की और उन्हें आश्वासन दिया। सम्पूर्ण भविष्य को जानकर महर्षि वाल्मिकिजी ने श्रीसीताजी को मुनिपत्नियों को सौंप दिया ॥६०-६१ ॥

तास्तां सम्पूजयन्ति स्म सीतां भक्त्या दिने दिने ।
ज्ञात्वा परात्मनो लक्ष्मीं मुनिवाक्येन योषितः ।
सेवां चक्रुः सदा तस्या विनयादिभिरादरात् ॥ ६२॥

मुनिवर की आज्ञा से मुनिपत्नियाँ उन्हें साक्षात् परमात्मा की भार्या श्रीलक्ष्मीजी समझकर नित्यप्रति भक्ति पूर्वक उनकी पूजा करती थीं और सदा ही अति आदरपूर्वक नम्रता से उनकी सेवा करती थीं॥ ६२ ॥

रामोऽपि सीतारहितः परात्मा विज्ञानदृक्केवल आदिदेवः ।
सन्त्यज्य भोगानखिलान् विरक्तो मुनिव्रतोऽभून्मुनिसेविताङ्घ्रिः ॥
६३॥

जिनके चरणारविन्द की मुनिजन सेवा करते हैं; वह विज्ञान चक्षु, अद्वितीय, आदि देव परमात्मा श्रीरामचन्द्रजी श्रीसीताजी का त्याग करने के बाद सम्पूर्ण भोगों को छोड़कर वैराग्यपूर्वक मुनियों के समान रहने लगे ॥ ६३॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे उत्तरकाण्डे
चतुर्थः सर्गः ॥ ४॥

॥ पञ्चम सर्गः ॥

श्रीरामगीता

श्रीमहादेव उवाच ।

ततो जगन्मङ्गलमङ्गलात्मना विधाय रामायणकीर्तिमुत्तमाम् ।
चचार पूर्वाचरितं रघूत्तमो राजर्षिवर्यैरभिसेवितं यथा ॥ १॥

श्रीमहादेवजी बोले- तत्पश्चात् रघुश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी संसारकी मङ्गल कामना से धारण किये अपने दिव्यमाल शरीर से रामायण रूपी कीर्ति की स्थापना कर पूर्व समय में राजर्षि जैसा श्रेष्ठ आचरण करते थे, वैसा आचरण स्वयं करने लगे॥१॥

सौमित्रिणा पृष्ट उदारबुद्धिना रामः कथाः प्राह पुरातनीः शुभाः ।
राज्ञः प्रमत्तस्य नृगस्य शापतो द्विजस्य तिर्यक्त्वमथाह राघवः ॥२॥

उदारबुद्धि वाले लक्ष्मणजी के पूछने पर श्रीरामचन्द्रजी प्राचीन उत्तम कथायें सुनते थे। उन्होंने राजा नृग को प्रमाद से ब्राह्मण के शाप से तिर्यक् योनि प्राप्त करने की कथा सुनाई ॥२॥

कदाचिदेकान्त उपस्थितं प्रभुं रामं रमालालितपादपङ्कजम् ।
सौमित्रिरासादितशुद्धभावनः प्रणम्य भक्त्या विनयान्वितोऽब्रवीत् ॥ ३॥

जिनके चरणारविन्द की सेवा लक्ष्मीजी करती हैं, वे प्रभु किसी समय एकान्त में बैठे थे। शुद्ध भावना वाले लक्ष्मणजी ने उनके पास जाकर भक्ति पूर्वक प्रणामकर अति विनीत भाव से कहा ॥३॥

त्वं शुद्धबोधोऽसि हि सर्वदेहिना
मात्मास्यधीशोऽसि निराकृतिः स्वयम् ।
प्रतीयसे ज्ञानदृशां महामते
पादाब्जभृङ्गाहितसङ्गसङ्गिनाम् ॥ ४॥

हे महामते ! आप शुद्ध ज्ञानस्वरूप, सम्पूर्ण देहधारियों के आत्मा, सबका स्वामी और स्वयं निराकार हैं। आपके चरणारविन्द के जो भ्रमर हैं, उन भागवतों के साथ रहने वालों को आप ज्ञान की दृष्टि से दिखायी देते हैं ॥ ४॥

अहं प्रपन्नोऽस्मि पदाम्बुजं प्रभो भवापवर्गं तव योगिभावितम् ।
यथाञ्जसाऽज्ञानमपारवारिधिं सुखं तरिष्यामि तथानुशाधि माम् ॥५॥

हे प्रभो! मैं आपके भव भय हरने वाले उन चरणारविन्द का दास हूँ जिनका योगीजन निरन्तर चिन्तन करते हैं। आप मुझे इस प्रकार का उपदेश दीजिए कि मैं सुगमता से ज्ञानरूपी अपार सागर से पार हो जाऊँ ॥५॥

श्रुत्वाथ सौमित्रिवचोऽखिलं तदा प्राह प्रपन्नार्तिहरः प्रसन्नधीः ।
विज्ञानमज्ञानतमःप्रशान्तये श्रुतिप्रपन्नं क्षितिपालभूषणः ॥ ६॥

तब श्रीलक्ष्मणजी का यह वचन सुनकर शरणागतवत्सल भूपाल चूडामणि भगवान् श्रीराम चन्द्रजी सुनने के लिये शरणागत लक्ष्मण

का अज्ञानान्धकार नाश करने के लिये प्रसन्न होकर ज्ञानोपदेश करने लगे ॥६॥

आदौ स्ववर्णाश्रमवर्णिताः क्रियाः कृत्वा समासादितशुद्धमानसः ।
समाप्य तत्पूर्वमुपात्तसाधनः समाश्रयेत्सद्‌गुरुमात्मलब्धये ॥ ७॥

श्री भगवान् बोले- सर्व प्रथम शास्त्रोक्त वर्णाश्रम धर्म का यथाविधि पालन कर चित्त शुद्ध हो जाने पर वर्णाश्रम धर्म के कर्मों का त्याग कर शम-दम आदि साधन सम्पन्न होकर आत्मज्ञान प्राप्ति के लिये सद् गुरु की शरण में जाना चाहिये ॥७॥

क्रिया शरीरोद्भवहेतुरादृता प्रियाप्रियौ तौ भवतः सुरागिणः ।
धर्मेतरौ तत्र पुनः शरीरकं पुनः क्रिया चक्रवदीर्यते भवः ॥८॥

क्रिया देहान्तर की प्राप्ति के लिये ही स्वीकृत है। उनमें लिप्त रहने वाले पुरुषों से इष्ट और अनिष्ट दोनों प्रकार की क्रियाएँ होती हैं। इससे धर्म और अधर्म दोनों ही होते हैं और इससे शरीर की प्राप्ति होती है और पुनः इससे कर्म होते हैं। इसी प्रकार यह संसार चक्रवत् परिवर्तित होता रहता है ॥८॥

अज्ञानमेवास्य हि मूलकारणं तद्धानमेवात्र विधौ विधीयते ।
विद्यैव तन्नाशविधौ पटीयसी न कर्म तज्जं सविरोधमीरितम् ॥९॥

इस संसार का मूल कारण अज्ञान ही है और विधि वाक्यों द्वारा उस अज्ञान का नाश ही संसार से मुक्त होने का उपाय बतलाया गया है। ज्ञान ही इस अज्ञान का नाश करने में समर्थ है। अज्ञान से उत्पन्न उसका विरोधी नहीं हो सकता ॥ ९॥

नाज्ञानहानिर्न च रागसङ्क्षयो भवहत्ततः कर्म सदोषमुद्भवहत् ।
ततः पुनः संसृतिरप्यवारिता तस्माद्बुधो ज्ञानविचारवान् भवहत् ॥
१०॥

काम कर्म करने से अज्ञान का नाश नहीं होता अथवा राग का नाश भी नहीं हो सकता है। सकाम कर्म से तो अन्य सदोष कर्म की उत्पत्ति होती है और उसका फल भोगने हेतु पुनः संसार में आवागमन अनिवार्य है। अत: बुद्धिमान् को ज्ञान-विचार वान होना चाहिये ॥१०॥

ननु क्रिया वहदमुखेन चोदिता तथैव विद्या पुरुषार्थसाधनम् ।
कर्तव्यता प्राणभृतः प्रचोदिता विद्यासहायत्वमुपैति सा पुनः ॥११॥

कर्माकृतौ दोषमपि श्रुतिर्जगौ तस्मात्सदा कार्यमिदं मुमुक्षुणा ।
ननु स्वतन्त्रा ध्रुवकार्यकारिणी विद्या न किञ्चिन्मनसाप्यपेक्षते ॥१२॥

न सत्यकार्योऽपि हि यद्वदध्वरः
प्रकाङ्क्षतेऽन्यानपि कारकादिकान् ।
तथैव विद्या विधितः प्रकाशितैः
विशिष्यते कर्मभिरेव मुक्तये ॥ १३॥

केचिद्वदन्तीति वितर्कवादिनस्तदप्यसद्दृष्टविरोधकारणात् ।
देहाभिमानादभिवर्धते क्रिया विद्या गताहङ्कृतितः प्रसिद्ध्यति
॥१४॥

विपक्षवादी कुछ लोग कहते हैं कि जिस प्रकार कर्म वेद प्रतिपादित हैं उसी प्रकार ज्ञान पुरुषार्थ साधक है। प्रणियों को कर्म करने का

विधान भी है। अत: वह कर्म ज्ञान के सहकारी हो जाते हैं। परंतु कर्म न करने में अति दोष भी प्रतिपादित होते हैं। अत: मुमुक्षु प्राणी को हमेशा कर्मों को करते रहना चाहिये। किसी का कथन है कि ज्ञान स्वतन्त्र है और निश्चय ही फल देने वाला है; उसे मन से भी किसी की सहायता नहीं चाहता तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि वेदोक्त यज्ञ सत्य कर्म होने पर भी अन्य सिद्धान्तवादी इस प्रकार यदि कोई कुतर्क करे तो उनके कथन में प्रत्यक्ष विरोध होने के कारण वह ठीक नहीं है, क्योंकि कर्म देहाभिमान से होते हैं और ज्ञान अहंकार का नाश होने पर होता है ॥११-१४ ॥

विशुद्धविज्ञानविरोचनाञ्चिता विद्यात्मवृत्तिश्चरमेति भण्यते ।
उदेति कर्माखिलकारकादिभिः निहन्ति विद्याखिलकारकादिकम् ॥
१५॥

वेदान्त वाक्यों के विचार के द्वारा विशुद्ध विज्ञान के प्रकाश से उद्भासित चरम आत्मवृत्ति को विद्या अर्थात आत्मज्ञान कहते हैं। इससे पृथक् कर्म सम्पूर्ण कारक आदि की सहायता से हाते हैं, परन्तु विद्या समस्त कारकादिका अनित्य होने से नाश कर देती है ॥ १५॥

तस्मात्त्यजेत्कार्यमशेषतः सुधीः विद्याविरोधान्न समुच्चयो भवहत्।
आत्मानुसन्धानपरायणः सदा निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्तिगोचरः ॥ १६॥

अत: सभी इन्द्रियों के विषयों से निवृत्त होकर सतत् आत्मानुसंधान में प्रवृत्त बुद्धिमान् पुरुष को अखिल कर्मों का त्याग कर देना चाहिये, क्योंकि विद्या विरोधी होने से कर्म का उसके साथ समुच्चय नहीं हो सकता है ॥ १६॥

यावच्छरीरादिषु माययात्मधीस्तावद्विधेयो विधिवादकर्मणाम् ।
नेतीति वाक्यैरखिलं निषिध्य तत् ज्ञात्वा परात्मानमथ त्यजेत्क्रियाः ॥
१७॥

मनुष्य का माया से मोहित रहने से जब तक शरीरादि में आत्मबुद्धि रहती है, तभी तक विधि प्रतिपादित कर्म करना चाहिये। तब तक ही विधिवाक्य नेति-नेति वाक्यों द्वारा अनात्म वस्तुओं का निषेध कर अपने परमात्मस्वरूप का ज्ञान होने पर प्राणी को समस्त कर्मों को छोड़ देना चाहिये ॥ १७ ॥

यदा परात्मात्मविभेदभेदकं विज्ञानमात्मन्यवभाति भास्वरम् ।
तदैव माया प्रविलीयतेऽञ्जसा सकारका कारणमात्मसंसृतेः ॥१८॥

जब परमात्मा और आत्मा के भेद को दूर करने वाला प्रकाशमय विज्ञान अपने अन्तःकरण में भासित होता है, तब आत्मा के लिये संसार-बन्धन का कारण माया अनायास ही कारकादि समस्त भूतों के साथ नष्ट हो जाती है ॥ १८ ॥

श्रुतिप्रमाणाभिविनाशिता च सा कथं भविष्यत्यपि कार्यकारिणी ।
विज्ञानमात्रादमलाद्वितीयतस्तस्मादविद्या न पुनर्भविष्यति ॥ १९॥

श्रुति वाक्यों से नष्ट हो जाने पर पुनः वह अपना कार्य करने में समर्थ भी कैसे हो सकेगी ? क्योंकि परमात्मतत्त्व एकमात्र विज्ञान स्वरूप निर्मल और अद्वितीय है। अत: उसका ज्ञान हो जाने पर अविद्या पुनः उत्पन्न नहीं होगी।॥ १९ ॥

यदि स्म नष्टा न पुनः प्रसूयते कर्ताहमस्येति मतिः कथं भवहत् ।

तस्मात्स्वतन्त्रा न किमप्यपेक्षते विद्या विमोक्षाय विभाति केवला ॥
२०॥

नष्ट हुई वह अविद्या पुनः उत्पन्न ही नहीं हो सकती तो 'मैं कर्त्ता हूँ, इस प्रकार की बुद्धि किस प्रकार उत्पन्न हो सकती है। अत: ज्ञान स्वतन्त्र है तथा उसे जीव को मोक्ष के लिये अन्य किसी कर्मों की अपेक्षा नहीं है, ज्ञान तो स्वयं ही एक और मुक्ति के लिये समर्थ है ॥२०॥

सा तैत्तिरीयश्रुतिराह सादरं न्यासं प्रशस्ताखिलकर्मणां स्फुटम् ।
एतावदित्याह च वाजिनां श्रुतिः ज्ञानं विमोक्षाय न कर्म साधनम्
॥२१॥

तैत्तिरीय' श्रुति आग्रहपूर्वक स्पष्ट कहती है कि अखिल कर्मों का त्याग करना ही प्रशस्त है, और वाजसनेयी शाखा की श्रुति 'एतावत्" इत्यादि द्वारा भी कहती है कि ज्ञान ही मोक्ष का साधन है, कर्म नहीं ॥ २१ ॥

विद्यासमत्वेन तु दर्शितस्त्वया क्रतुर्न दृष्टान्त उदाहृतः समः ।
फलैः पृथक्त्वाद्बहुकारकैः क्रतुः संसाध्यते ज्ञानमतो विपर्ययम् ॥२२॥

सप्रत्यवायो ह्यहमित्यनात्मधी रज्ञप्रसिद्धा न तु तत्त्वदर्शिनः ।
तस्माद्बुधैस्त्याज्यमविक्रियात्मभिः विधानतः कर्म विधिप्रकाशितम्
॥ २३॥

तुम्हारे द्वारा ज्ञान की समानता में यज्ञादि का दृष्टान्त दिया गया, दोनों के फल पृथक्-पृथक होने से वह ठीक नहीं है। यज्ञ तो अनेक

कारकों अर्थात होता, ऋत्विक, यज्ञमान, सामग्री आदि से सिद्ध होते हैं और ज्ञान इसके विपरीत है। अज्ञानियों में “मुझे निश्चय ही प्रायश्चित भोगना पड़ेगा" ऐसी अनात्म बुद्धि हुआ करती है, तत्त्वज्ञानी पुरुष में नहीं। अत: विकार से रहित बुद्धिवाले बोधवान पुरुष को विधिपूर्वक विहित कर्मों का त्याग कर देना चाहिए ॥२२-२३॥

श्रद्धान्वितस्तत्त्वमसीति वाक्यतो गुरोः प्रसादादपि शुद्धमानसः ।
विज्ञाय चैकात्म्यमथात्मजीवयोः सुखी भवहन्मेरुरिवाप्रकम्पनः
॥२४॥

शुद्ध मन से श्रद्धापूर्वक गुरु कृपा से 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से परमात्मा एवं जीवात्मा को एक समझकर सुमेरु के समान निश्चल एवं सुखी हो जाना चाहिए ॥२४॥

आदौ पदार्थावगतिर्हि कारणं वाक्यार्थविज्ञानविधौ विधानतः ।
तत्त्वम्पदार्थौ परमात्मजीवकावसीति चैकात्म्यमथानयोर्भवहत् ॥२५॥

वाक्यार्थ ज्ञान के लिये पदार्थ ज्ञान ही कारण है। तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के तत् पद परमात्मा और त्वम् पद जीवात्मा वाचक हैं और असि पद उन दोनों वाक्यों की एकता करता है ॥ २५॥

प्रत्यक्परोक्षादिविरोधमात्मनोः विहाय सङ्गृह्य तयोश्चिदात्मताम्।
संशोधितां लक्षणया च लक्षितां ज्ञात्वा स्वमात्मानमथाद्वयो भवहत् ॥
२६॥

जीवात्मा और परमात्मा में जीवात्मा अन्तःकरण का साक्षी और परमात्मा इन्द्रियातीत है। इस विरोध को छोड़कर और लक्षणा वृत्ति

से लक्षित उनकी शुद्ध चेतनता को ग्रहण कर उसे ही अपना आत्मा समझो और इस प्रकार इनकी एकता समझ कर स्थित हो जाओ ॥२६॥

एकात्मकत्वाज्जहती न सम्भवहत् तथाऽजहल्लक्षणता विरोधतः।
सोऽयम्पदार्थाविव भागलक्षणा युज्येत तत्त्वम्पदयोरदोषतः ॥२७॥

तत् और त्वम् पदों में ऐक्य होने से जहल्लक्षणा नहीं हो सकती और परस्पर विरुद्ध होने से अजहल्लक्षणा भी नहीं हो सकती। अत एव "सोऽयम्" इन दोनों पदों के अर्थ की भाँति 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों में भागल्यागलक्षणा ही निर्दोषता से हो सकती है ॥ २७ ॥

रसादिपञ्चीकृतभूतसम्भवं भोगालयं दुःखसुखादिकर्मणाम् ।
शरीरमाद्यन्तवदादिकर्मजं मायामयं स्थूलमुपाधिमात्मनः ॥ २८॥

सूक्ष्मं मनोबुद्धिदशेन्द्रियैर्युतं प्राणैरपञ्चीकृतभूतसम्भवम् ।
भोक्तुः सुखादेरनुसाधनं भवहत् शरीरमन्यद्विदुरात्मनो बुधाः ॥२९॥

पृथिव्यादि पञ्चमहाभूतों के भूतों से उत्पन्न सुख दुःखादि कर्म-भोगों के आश्रय और पूर्वोपार्जित कर्मफल से प्राप्त होने वाले मायामय इस आदि अन्त वाले शरीर को विज्ञप्राणी आत्मा की स्थूल उपाधि मानते हैं और मन, बुद्धि, दशेन्द्रिय और से युक्त अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों से उत्पन्न सूक्ष्मशरीर को जो भोक्ता के सुखादि अनुभव का साधन है, आत्मा का द्वितीय शरीर मानते हैं ॥२८-२९॥

अनाद्यनिर्वाच्यमपीह कारणं मायाप्रधानं तु परं शरीरकम् ।

उपाधिभेदात्तु यतः पृथक् स्थितं स्वात्मानमात्मन्यवधारयेत्क्रमात् ॥
३०॥

अनादि और अनिर्वाच्य माया प्रधान कारण शरीर जीव का तृतीय शरीर है। उपाधियों के भेद से पृथक् स्थित अपने आत्म स्वरूप को अपने हृदय में धारण करे ॥ ३०॥

कोशेष्वयं तेषु तु तत्तदाकृतिः
विभाति सङ्गात् स्फटिकोपलो यथा ।
असङ्गरूपोऽयमजो यतोऽद्वयो
विज्ञायतेऽस्मिन् परितो विचारिते ॥ ३१॥

स्फटिक मणि के समान यह आत्मा अन्नमयादि विभिन्न कोशों के संग से उन्हीं की आकृति के समान भासित होता है, किन्तु विधिवत् विचार करने पर यह अद्वितीय होने से असङ्गरूप और जन्म न लेने वाला निश्चित होता है ॥३१॥

बुद्धेस्त्रिधा वृत्तिरपीह दृश्यते स्वप्नादिभेदेन गुणत्रयात्मनः ।
अन्योन्यतोऽस्मिन् व्यभिचारतो मृषा नित्ये परे ब्रह्मणि केवले शिवह
॥ ३२॥

त्रिगुणात्मिका बुद्धि की तीन वृत्तियाँ जाग्रत् , स्वप्न, सुषुप्ति दिखायी देती हैं, परन्तु इन वृत्तियों में से प्रत्येक के एक दूसरी वृत्ति में व्यभिचार होने से यह तीनों केवल कल्याणस्वरूप नित्य परब्रह्म में मिथ्या हैं ॥ ३२ ॥

देहेन्द्रियप्राणमनश्चिदात्मनां सङ्घादजस्रं परिवर्तते धियः ।

वृत्तिस्तमोमूलतयाज्ञलक्षणा यावद्भवहत्तावदसौ भवोद्भवः ॥ ३३॥

शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन और चेतन आत्मा के संघात से बुद्धि की ही वृत्ति निरन्तर परिवर्तित होती रहती है। यह वृत्ति तमो गुणात्मिका होने से अज्ञान रूपा है, तथा जब-तक यह विद्यमान रहती है तब तक ही संसार में उत्पत्ति होती है ॥ ३३ ॥

नेतिप्रमाणेन निराकृताखिलो हृदा समास्वादितचिद्घनामृतः ।
त्यजेदशेषं जगदात्तसद्रसं पीत्वा यथाम्भः प्रजहाति तत्फलम् ॥३४॥

नेति-नेति इस श्रुति प्रमाण से अखिल पदार्थ को बाँध कर हृदय में चिद्घनामृत का आस्वादन कर सारतत्त्व रूप सत् ब्रह्म को ही ग्रहण कर सम्पूर्ण जगत् को त्याग देना चाहिए जिस प्रकार नारियल का जल पीकर प्राणी उसके फल को फेंक देता है ॥३४॥

कदाचिदात्मा न मृतो न जायते न क्षीयते नापि विवर्धतेऽनवः ।
निरस्तसर्वातिशयः सुखात्मकः स्वयम्प्रभः सर्वगतोऽयमद्वयः ॥३५॥

आत्मा न कभी मरता है और न कभी जन्म लेता है, न वह कभी क्षीण होता है और न कभी बढ़ता है। आत्मा तो पुरातन, सम्पूर्ण उपाधियों से रहित, सुखस्वरूप, स्वयं प्रकाशमान, सर्वगत और अद्वितीय है ॥ ३५॥

एवंविधे ज्ञानमये सुखात्मके कथं भवो दुःखमयः प्रतीयते ।
अज्ञानतोऽध्यासवशात्प्रकाशते ज्ञाने विलीयेत विरोधतः क्षणात्
॥३६॥

इस प्रकार ज्ञानमय सुखात्मक आत्मा में दुखमय संसार की प्रतीति ही कैसे हो सकती है ? यह अध्यास के कारण अज्ञान से प्रतीत होता है। ज्ञान से यह तो क्षणमात्र में ही लीन हो जाता है, क्योंकि ज्ञान और अज्ञान दोनों का परस्पर विरोध है ॥३६॥

यदन्यदन्यत्र विभाव्यते भ्रमादध्यासमित्याहुरमुं विपश्चितः ।
असर्पभूतेऽहिविभावनं यथा रज्ज्वादिके तद्वदपीश्वरे जगत् ॥३७॥

किसी दूसरे वस्तु की भ्रमवश प्रतीति को ही विज्ञजन अध्यास कहते हैं। जिस प्रकार रस्सी में सर्प न रहने पर भी भ्रमवश रस्सी में सर्प की प्रतीति होती है उसी प्रकार ईश्वर में संसार की प्रतीति होती है ॥३७॥

विकल्पमायारहिते चिदात्मकेऽहङ्कार एष प्रथमः प्रकल्पितः ।
अध्यास एवात्मनि सर्वकारणे निरामये ब्रह्मणि केवले परे ॥ ३८॥

विकल्प और माया से रहित सर्वकारण निरामय, अद्वितीय, चित्स्वरूप परमात्मा ब्रह्म में सर्व प्रथम अहंकार रूपी अध्यास की कल्पना होती है ॥ ३८ ॥

इच्छादिरागादिसुखादिधर्मिकाः सदा धियः संसृतिहेतवः परे ।
यस्मात्प्रसुप्तौ तदभावतः परः सुखस्वरूपेण विभाव्यते हि नः ॥३९॥

आत्मा में इच्छा, अनिच्छा, राग-द्वेष और सुखादि रूप बुद्धि की वृत्तियाँ ही जन्म-मरण रूप संसार का कारण है। क्योंकि सुषुप्ति में इनका अभाव हो जाने पर आत्मा का आभास सुख रूप से होता है ॥ ३९ ॥

अनाद्यविद्योद्भवबुद्धिबिम्बितो जीवः प्रकाशोऽयमितीर्यते चितः ।
आत्मा धियः साक्षितया पृथक् स्थितो बुद्ध्यापरिच्छिन्नपरः स एव हि
॥ ४०॥

अनादि अविद्या से उत्पन्न बुद्धि में प्रतिबिम्बित चेतन का प्रकाश "जीव" कहा जाता है। बुद्धि के साक्षि रूप से आत्मा पृथक् स्थित है। वह परमात्मा तो बुद्ध्यादि से अपरिच्छिन्न है ॥ ४०॥

चिद्बिम्बसाक्ष्यात्मधियां प्रसङ्गतस्त्वेकत्र वासादनलाक्तलोहवत् ।
अन्योन्यमध्यासवशात्प्रतीयते जडाजडत्वं च चिदात्मचेतसोः ॥४१॥

अग्नि से तप्त लौह की भाँति चिदाभास, साक्षी आत्मा और बुद्धि के एकत्र रहने से अन्योन्याध्यास परस्पर होने से क्रमशः उनकी चेतनता और जड़ता प्रतीत होती है अर्थात् अग्नि से तप्त लौह में अग्नि और लोहे का तादात्म्य सम्बन्ध हो जाता है और अग्नि लौहमय और लोहा अग्निमय दिखायी पड़ता है। उसी प्रकार बुद्धि और आत्मा का तादात्म्य सम्बन्ध हो जाने से आत्मा की चेतनता बुद्धि आदि में प्रतीत होती है और बुद्धि आदि की जड़ता आत्मा में प्रतीत होती है। अतएव अध्यास बुद्धि से लेकर शरीर पर्यन्त अनात्म वस्तु को ही प्राणी आत्मा मानने लगता है ॥४१॥

गुरोः सकाशादपि वहदवाक्यतः सञ्जातविद्यानुभवो निरीक्ष्य तम्।
स्वात्मानमात्मस्थमुपाधिवर्जितं त्यजेदशेषं जडमात्मगोचरम् ॥४२॥

गुरु के सामीप्य और वेद वाक्यों के द्वारा आत्मज्ञान का अनुभव होने पर अन्तःस्थ उपाधि रहित आत्मा का अनुभव कर आत्मारूप से

प्रतीत होने वाले सभी देहादि जड पदार्थों का त्याग कर देना चाहिये ॥ ४२ ॥

प्रकाशरूपोऽहमजोऽहमद्वयोऽसकृद्विभातोऽहमतीव निर्मलः ।
विशुद्ध विज्ञानघनो निरामयः सम्पूर्ण आनन्दमयोऽहमक्रियः ॥४३॥

मैं प्रकाशरूप अज, अद्वितीय, निरन्तर भासमान, अतिनिर्मल, विशुद्ध विज्ञानघन, निरामय, क्रियारहित और सम्पूर्ण आनन्दस्वरूप हूँ॥ ४३ ॥

सदैव मुक्तोऽहमचिन्त्यशक्तिमान् अतीन्द्रियज्ञानमविक्रियात्मकः।
अनन्तपारोऽहमहर्निशं बुधैः
विभावितोऽहं हृदि वहदवादिभिः ॥ ४४॥

मैं सदैव मुक्त, अचिन्त्य शक्तिमान् अतीन्द्रिय, ज्ञानस्वरूप, अविकृत रूप और अनन्तपार हूँ। वेदवादी विज्ञजन अहर्निश मेरा हृदय में ध्यान करते हैं॥४४॥

एवं सदात्मानमखण्डितात्मना विचारमाणस्य विशुद्धभावना ।
हन्यादविद्यामचिरेण कारकै रसायनं यद्वदुपासितं रुजः ॥ ४५॥

जिस प्रकार नियमपूर्वक सेवन की हुई औषधि रोग को नष्ट कर देती है, उसी प्रकार आत्मा का हमेशा अखण्डवृत्ति से चिन्तन करने वाले पुरुष के अन्तःकरण में उत्पन्न विशुद्ध भावना शीघ्र ही सम्पूर्ण कारकादि सहित अविद्या का नाश कर देती है ॥४५॥

विविक्त आसीन उपारतेन्द्रियो विनिर्जितात्मा विमलान्तराशयः ।

विभावयेदेकमनन्यसाधनो विज्ञानदृक्केवल आत्मसंस्थितः ॥४६॥

एकान्त स्थान में स्थित होकर इन्द्रियों को उनके विषय से हटाकर अपने मन को वश में करें और आत्मा में स्थित होकर बिना किसी अन्य के आश्रय के शुद्ध मन से केवल ज्ञानदृष्टि से ही आत्मा की भावना रखे ॥ ४६ ॥

विश्वं यदेतत्परमात्मदर्शनं विलापयेदात्मनि सर्वकारणे ।
पूर्णश्चिदानन्दमयोऽवतिष्ठते न वहद बाह्यं न च किञ्चिदान्तरम्
॥४७॥

यह विश्व परमात्म स्वरूप है, यह समझकर सबके कारण रूप आत्मा में अपने को लीन करें। इस प्रकार पूर्ण चिदानन्द स्वरूप होने वाले को बाह्य अथवा आभ्यन्तरिक किसी अन्य वस्तु का ज्ञान नहीं रहता ॥४७॥

पूर्वं समाधेरखिलं विचिन्तयेदोङ्कारमात्रं सचराचरं जगत् ।
तदेव वाच्यं प्रणवो हि वाचको विभाव्यतेऽज्ञानवशान्न बोधतः ॥४८॥

समाधि होने से पूर्व इस सम्पूर्ण चराचर जगत् को ओंकारमय चिन्तन करें। यह संसार वाच्य और ओंकार वाचक है। अज्ञानवश इसकी प्रतीति होती है। ज्ञान होने पर संसार का कुछ भी अविशिष्ट नहीं रहता ॥ ४८ ॥

अकारसञ्ज्ञः पुरुषो हि विश्वको ह्युकारकस्तैजस ईर्यते क्रमात्।
प्राज्ञो मकारः परिपठ्यतेऽखिलैः समाधिपूर्वं न तु तत्त्वतो भवहत् ॥
४९॥

अकार विश्व (जागृति का अभिमानी) का वाचक, उकार तैजस (स्वप्नाभिमानी) वाचक और मकार प्राज्ञ (सुषुत्यभिमानी) वाचक कहा जाता है। समधिप्राप्त से पूर्व की यह व्यवस्थायें हैं। वस्तुतः तात्त्विक दृष्टि से इस प्रकार का कोई भेद नहीं है ॥ ४९॥

विश्वं त्वकारं पुरुषं विलापये दुकारमध्ये बहुधा व्यवस्थितम् ।
ततो मकारे प्रविलाप्य तैजसं द्वितीयवर्णं प्रणवस्य चान्तिमे ॥५०॥

विश्वपुरुष अकार को उकार में और प्रणव के द्वितीय तैजस रूप उकार को प्रणव के अन्तिम वर्ण मकार में लीन करे ॥५०॥

मकारमप्यात्मनि चिद्घने परे
विलापयेद्प्राज्ञमपीह कारणम् ।
सोऽहं परं ब्रह्म सदा विमुक्तिम-
द्विज्ञानदृङ्मुक्त उपाधितोऽमलः ॥ ५१॥

और कारणात्मा प्राज्ञरूप मकार को चिद्घन स्वरूप परमात्मा में विलीन कर दे। मैं नित्यमुक्त विज्ञानस्वरूप उपाधिरहित निर्मल परब्रह्म ही हूँ केवल यही भावना रखे ॥५१॥

एवं सदा जातपरात्मभावनः स्वानन्दतुष्टः परिविस्मृताखिलः ।
आस्ते स नित्यात्मसुखप्रकाशकः साक्षाद्विमुक्तोऽचलवारिसिन्धुवत् ॥ ५२॥

मैं परब्रह्म ही हूँ, इस प्रकार की भावना करते-करते आत्मानन्द में जो मग्न हो गया है और जिसे सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च विस्मृत हो गया है,

तरंगरहित समुद्र के समान वह आत्मानन्द का अनुभव करने वाला जीवन्मुक्त योगी साक्षात् मुक्तस्वरूप हो जाता है ॥५२॥

एवं सदाभ्यस्तसमाधियोगिनो निवृत्तसर्वेन्द्रियगोचरस्य हि ।
विनिर्जिताशेषरिपोरहं सदा दृश्यो भवहयं जितषड्गुणात्मनः ॥५३॥

निरन्तर समाधियोग के अभ्यास से इन्द्रियों के विषयों से जिसका मन अन्तर्मुख हो गया है और काम-क्रोध आदि सम्पूर्ण शत्रुओं पर जो विजय प्राप्त कर ली हो उन इन्द्रियजीत महात्मा को निरन्तर मेरा साक्षात्कार होता है ॥५३॥

ध्यात्वैवमात्मानमहर्निशं मुनिस्तिष्ठेत्सदा मुक्तसमस्तबन्धनः ।
प्रारब्धमश्नन्नभिमानवर्जितो मय्येव साक्षात्प्रविलीयते ततः ॥ ५४॥

इस प्रकार आत्मा का, निरन्तर ध्यान करता हुआ मुनि सर्वदा सर्व बन्धन मुक्त हो स्थित रहे और अपने को कर्त्ता-भोक्ता आदि का अभिमान छोड़कर प्रारब्ध का फल भोगता रहे। इस प्रकार अन्त में वह साक्षात् मुझमें विलीन हो जाता है ॥ ५४॥

आदौ च मध्ये च तथैव चान्ततो भवं विदित्वा भयशोककारणम् ।
हित्वा समस्तं विधिवादचोदितं भजेत्स्वमात्मानमथाखिलात्मनाम् ॥
५५॥

आदि मध्य और अंत सर्वदा इस संसार में सब प्रकार का भय और शोक ही है यह जानकर वेद विहित सम्पूर्ण कर्मों को त्यागकर सम्पूर्ण जीवों के अन्तरात्मा रूप अपने ही आत्मा का चिन्तन करे ॥ ५५ ॥

आत्मन्यभेदेन विभावयन्निदं भवत्यभेदेन मयात्मना तदा ।
यथा जलं वारिनिधौ यथा पयः क्षीरे वियद्व्योम्न्यनिले यथानिलः ॥५६॥

इस सम्पूर्ण जगत् को अपने आत्मा के साथ अभिन्न रूप से चिन्तन करने से जीव मुझ परमात्मा के साथ अभिन्न रूप से उसी प्रकार एक हो जाता है जैसे समुद्र में मिलकर जल, दूध में मिलकर दूध, आकाश में मिलकर आकाश और हवा में मिलकर हवा एक हो जाते हैं ॥ ५६ ॥

इत्थं यदीक्षेत हि लोकसंस्थितो जगन्मृषैवहति विभावयन्मुनिः ।
निराकृतत्वाच्छ्रुतियुक्तिमानतो यथेन्दुभेदो दिशि दिग्भ्रमादयः ॥५७॥

श्रुति, तर्क एवं प्रमाण से बाधित होने से चन्द्रभेद और दिशाओं में होने वाले दिग्भ्रम के समान यह संसार मिथ्या है, यह भावना करता हुआ मुनियों के व्यवहार में स्थित रहना चाहिये ॥ ५७॥

यावन्न पश्येदखिलं मदात्मकं तावन्मदाराधनतत्परो भवहत् ।
श्रद्धालुरत्यूर्जितभक्तिलक्षणो यस्तस्य दृश्योऽहमहर्निशं हृदि ॥५८॥

संपूर्ण संसार मेरा रूप जब तक प्रतीत न हो तब तक मेरी आराधना करता हुआ स्थित रहे। श्रद्धालु और उत्कट भक्त को अपने हृदय में मेरा ही साक्षात्कार होता है ॥ ५८ ॥

रहस्यमेतच्छ्रुतिसारसङ्ग्रहं मया विनिश्चित्य तवोदितं प्रिय ।
यस्त्वेतदालोचयतीह बुद्धिमान् स मुच्यते पातकराशिभिः क्षणात् ॥
५९॥

हे प्रिय ! मैंने निश्चय ही सम्पूर्ण श्रुतियों के सारतत्त्व इस गुप्त रहस्य को तुमसे कहा हूँ। जो बुद्धिमान् इसका भजन करेगा वह तत्क्षण सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जायगा ॥ ५९॥

भ्रातर्यदीदं परिदृश्यते जगन्मायैव सर्वं परिहृत्य चेतसा ।
मद्भावनाभावितशुद्धमानसः सुखी भवानन्दमयो निरामयः ॥६०॥

हे भाई! यह सम्पूर्ण दृश्य जगत् माया ही है। इस सम्पूर्ण मायामय संसार की नित्यता को अपने हृदय से दूरकर मेरी भावना से शुद्ध मन और सुखी होकर आनन्दपूर्ण और क्लेश शून्य हो जाओ ॥ ६०॥

यः सेवते मामगुणं गुणात्परं हृदा कदा वा यदि वा गुणात्मकम् ।
सोऽहं स्वपादाञ्चितरेणुभिः स्पृशन् पुनाति लोकत्रितयं यथा रविः ॥ ६१॥

जो पुरुष अपने अन्तःकरण में मुझ गुणातीत, निर्गुण अथवा यदा-कदा मेरे सगुणरूप का सेवन करता है, वह प्राणी मेरा ही रूप है। वह सूर्य के समान ही अपने चरणारविन्द से सम्पूर्ण त्रिलोकी को पवित्र कर देता है ॥ ६१ ॥

विज्ञानमेतदखिलं श्रुतिसारमेकं
वहदान्तवहद्यचरणेन मयैव गीतम् ।
यः श्रद्धया परिपठेद् गुरुभक्तियुक्तो
मद्रूपमेति यदि मद्वचनेषु भक्तिः ॥ ६२॥

सम्पूर्ण श्रुतियों का साररूप यह अद्वितीय ज्ञान है। वेदान्तवेद्यचरणारविन्द साक्षात् मुझसे यह कथित है। जो गुरुभक्त

श्रद्धापूर्वक इसका पाठ करेगा, यदि मेरे वचनों में उसे प्रीति होगी तो वह मेरा ही रूप हो जायगा ॥ ६२ ॥।

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे उत्तरकाण्डे पञ्चमः सर्गः ॥ ५॥

॥ षष्ठः सर्गः ॥

लवण-वध, भगवान् श्रीराम के यज्ञ में लव-कुश के साथ महर्षि वाल्मीकि का आगमन एव कुश को परमार्थ का उपदेश करना

श्रीमहादेव उवाच ।
एकदा मुनयः सर्वे यमुनातीरवासिनः ।
आजग्मू राघवं द्रष्टुं भयाल्लवणरक्षसः ॥ १॥

श्रीमहादेवजी बोले- एकदिन यमुना नदी के किनारे रहने वाले सभी मुनिगण लवणासुर से भयभीत होकर श्रीरामचन्द्रजी का दर्शन करने के लिये आये ॥ १॥

कृत्वाग्रे तु मुनिश्रेष्ठं भार्गवं च्यवनं द्विजाः ।
असङ्ख्याताः समायाता रामादभयकाङ्क्षिणः ॥ २॥

वह असंख्य मुनिगण मुनियों में श्रेष्ठ भार्गव च्यवन ऋषि को आगे करके भगवान श्रीरामचन्द्रजी से अभय की इच्छा से उनके पास आए ॥२॥

तान् पूजयित्वा परया भक्त्या रघुकुलोत्तमः ।
उवाच मधुरं वाक्यं हर्षयन् मुनिमण्डलम् ॥ ३॥

रघुकुल शिरोमणि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ने उन मुनीश्वरों का अति भक्तिपूर्वक पूजन कर उन्हें प्रसन्न करते हुए अति मधुर वचन बोले ॥ ३॥

करवाणि मुनिश्रेष्ठाः किमागमनकारणम् ।
धन्योऽस्मि यदि यूयं मां प्रीत्या द्रष्टुमिहागताः ॥ ४॥

दुष्करं चापि यत्कार्यं भवतां तत्करोम्यहम् ।
आज्ञापयन्तु मां भृत्यं ब्राह्मणा दैवतं हि मे ॥ ५॥

हे मुनिश्रेष्ठ! मैं धन्य हूँ, जो आप प्रीतिपूर्वक मुझे देखने के लिये यहाँ आये हैं। आपलोगों के पधारने का क्या प्रयोजन है? आपकी जैसी आज्ञा होगी,मैं वह पूर्ण करूँगा, आप मुझ सेवक को आज्ञा दीजिये ॥४-५॥

तच्छ्रुत्वा सहसा हृष्टश्च्यवनो वाक्यमब्रवीत् ।
मधुनामा महादैत्यः पुरा कृतयुगे प्रभो ॥ ६॥

आसीदतीव धर्मात्मा देवब्राह्मणपूजकः ।
तस्य तुष्टो महादेवो ददौ शूलमनुत्तमम् ॥ ७॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी का यह कथन सुनकर महर्षि च्यवनजी सहसा प्रहर्षित होकर बोले प्रभो ! सत्ययुग में पहले अति धर्मात्मा, एवं देवता तथा ब्राह्मणों का भक्त मधुनामक एक महादेत्य था। उस दैत्य से प्रसन्न होकर श्रीमहादेवजी उसे एक अत्युत्तम त्रिशूल दिया था ॥६-७॥

प्राह चानेन यं हंसि स तु भस्मीभविष्यति ।
रावणस्यानुजा भार्या तस्य कुम्भीनसी श्रुता ॥ ८॥

श्री महादेव जी ने यह वरदान दिया था कि इस त्रिशूल से तुम प्रहार करोगे, वह भस्मीभूत हो जायगा। यह किंवदन्ती है कि रावण की छोटी बहन कुम्भीनसी उसकी स्त्री थी॥ ८॥

तस्यां तु लवणो नाम राक्षसो भीमविक्रमः ।
आसीद्दुरात्मा दुर्धर्षो देवब्राह्मणहिंसकः ॥ ९॥

उस स्त्री से उसके यहाँ लवण नामक एक महापराक्रमी, दुष्टबुद्धिवाला, दुर्जेय और देव तथा ब्राह्मणों को दुःख देने वाले राक्षस ने जन्म लिया ॥ ९॥

पीडितास्तेन राजेन्द्र वयं त्वां शरणं गताः ।
तच्छ्रुत्वा राघवोऽप्याह मा भीर्वो मुनिपुङ्गवाः ॥ १०॥

लवणं नाशयिष्यामि गच्छन्तु विगतज्वराः ।
इत्युक्त्वा प्राह रामोऽपि भ्रातॄन् को वा हनिष्यति ॥ ११॥

लवणं राक्षसं दद्यात् ब्राह्मणेभ्योऽभयं महत् ।
तच्छ्रुत्वा प्राञ्जलिः प्राह भरतो राघवाय वै ॥ १२॥

हे राजेन्द्र ! उससे अति पीडित होकर हम आपकी शरण में आए हैं। यह सुनकर श्रीरघुनाथजी ने कहा -मुनिश्रेष्ठ! आप भय रहित होकर निश्चिन्त होकर जाइए, मैं अवश्य ही लवण का वध करूँगा। मुनीश्वरों को यह कहकर भगवान श्रीरामचन्द्रजी अपने भाइयों से पूछे-आप

लोगों में से कौन लवण को मारकर ब्राह्मणों को महान अभयदान देगा? यह सुनकर श्रीभरत जी ने हाथ जोड़कर श्रीरघुनाथजी से कहा ॥ १०-१२ ॥

अहमेव हनिष्यामि देवाज्ञापय मां प्रभो ।
ततो रामं नमस्कृत्य शत्रुघ्नो वाक्यमब्रवीत् ॥ १३॥

लक्ष्मणेन महत्कार्यं कृतं राघव संयुगे ।
नन्दिग्रामे महाबुद्धिर्भरतो दुःखमन्वभूत् ॥ १४॥

अहमेव गमिष्यामि लवणस्य वधाय च ।
त्वत्प्रसादाद्रघुश्रेष्ठ हन्यां तं राक्षसं युधि ॥ १५॥

हे देव ! मैं लवण को मारूँगा! प्रभो! इस कार्य हेतु आप मुझे आज्ञा दीजिये। और शत्रुघन जी भी श्रीरामचन्द्रजी को प्रणाम कर बोले कि हे रघुश्रेष्ठ ! लक्ष्मणजी युद्ध में बहुत बड़ा कार्य कर चुके हैं, महामति भरतजी भी ने भी नन्दिग्राम में अत्यधिक कष्ट सहन किया है । अत: लवण का वध करने के लिये मैं ही जाऊँगा। हे रघुश्रेष्ठ! मैं आपकी कृपा से युद्ध में उस राक्षस का अवश्य वध कर दूंगा ॥ १३-१५ ॥

तच्छ्रुत्वा स्वाङ्कमारोप्य शत्रुघ्नं शत्रुसूदनः ।
प्राहाद्यैवाभिषेक्ष्यामि मथुराराज्यकारणात् ॥ १६॥

शत्रुघ्न का यह कथन सुनकर शत्रुदमन श्रीरामचन्द्रजी ने शत्रुध्नजी को अपने गोद में उठा लिया और कहा कि मैं आज ही लवण की राजधानी मथुरा के राज्यपर तुम्हारा अभिषेक करूँगा ॥ १६ ॥

आनाय्य च सुसम्भारान् लक्ष्मणेनाभिषेचने ।
अनिच्छन्तमपि स्नेहादभिषेकमकारयत् ॥ १७॥

यह कहकर लक्ष्मणजी द्वारा अभिषेक की सामग्री एकत्रित करवाकर शत्रुघ्नजी की इच्छा न रहते हुए भी प्रीतिपूर्वक उनका अभिषेक कर दिया ॥ १७ ॥

दत्त्वा तस्मै शरं दिव्यं रामः शत्रुघ्नमब्रवीत् ।
अनेन जहि बाणेन लवणं लोककण्टकम् ॥ १८॥

और शत्रधनजी को दिव्य बाण देकर बोले-संसार के कण्टकरूप लवण को इस बाण से तुम मार देना ॥१८॥

स तु सम्पूज्य तच्छूलं गेहे गच्छति काननम् ।
भक्षणार्थं तु जन्तूनां नानाप्राणिवधाय च ॥ १९॥

राक्षस लवण उस त्रिशूल की पूजा अपने घर में ही करने के बाद विविध जीवों को मारने एवं खाने के लिये वन में जाता है ॥ १९ ॥

स तु नायाति सदनं यावद्वनचरो भवहत् ।
तावदेव पुरद्वारि तिष्ठ त्वं धृतकार्मुकः ॥ २०॥

अतएव वह जब तक वन से लौटकर घर न आए, अर्थात् वन में ही रहे; तभी तुम नगर के द्वार पर धनुष-बाण धारण कर खड़े हो जाना ॥ २०॥

योत्स्यते स त्वया क्रुद्धस्तदा वध्यो भविष्यति ।

तं हत्वा लवणं क्रूरं तद्वनं मधुसञ्ज्ञितम् ॥ २१॥

निवहश्य नगरं तत्र तिष्ठ त्वं मेऽनुशासनात् ।
अश्वानां पञ्चसाहस्रं रथानां च तदर्धकम् ॥ २२॥

गजानां षट् शतानीह पत्तीनामयुतत्रयम् ।
आगमिष्यति पश्चात्त्वमग्रे साधय राक्षसम् ॥ २३॥

वह घर लौटते समय क्रोधपूर्वक तुमसे लड़ेगा और उसी समय मारा जायेगा। उस महाकर लवणासुर का वध करके उसके मधुवन में नगर वसाकर मेरी आज्ञा से तुम वहीं रहो। तुम आगे चलकर उस राक्षस का लक्ष्य करो, और तुम्हारे पीछे पाँच हजार घोड़े, ढाई हजार रथ, छः सौ हाथी और तीस हजार पैदल सैनिक जायेंगे ॥२१-२३ ॥

इत्युक्त्वा मूर्ध्न्यवघ्राय प्रेषयामास राघवः ।
शत्रुघ्नं मुनिभिः सार्धमाशीर्भिरभिनन्द्य च ॥ २४॥

यह कहकर श्री रामचन्द्रजी ने शत्रुघ्न का सिर सूंघा और मुनीश्वरों सहित आशीर्वाद देकर उनका अभिनन्दन करके उन्हें विदा किया ॥२४॥

शत्रुघ्नोऽपि तथा चक्रे यथा रामेण चोदितः ।
हत्वा मधुसुतं युद्धे मथुरामकरोत्पुरीम् ॥ २५॥

स्फीतां जनपदां चक्रे मथुरां दानमानतः ।
सीतापि सुषुवह पुत्रौ द्वौ वाल्मीकेरथाश्रमे ॥ २६॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी की जैसी आज्ञा थी श्री शत्रुघ्न जी भी वैसा ही किया। उन्होंने मधुपुत्र लवणासुर का वध करके मथुरापुरी बसाई और दान-सम्मान के द्वारा मथुरा को एक समृद्धशाली नगर बना दिया। इसी बीच वाल्मीकि मुनि के आश्रम पर श्रीसीताजी के दो पुत्र उत्पन्न हुए ॥ २५-२६ ॥

मुनिस्तयोर्नाम चक्रे कुशो ज्येष्ठोऽनुजो लवः ।
क्रमेण विद्यासम्पन्नौ सीतापुत्रौ बभूवतुः ॥ २७॥

मुनिवर वाल्मीकिजी ने बड़े का नाम लव और छोटे का नाम कुश रखा ॥ २७ ॥

उपनीतौ च मुनिना वहदाध्ययनतत्परौ ।
कृत्स्नं रामायणं प्राह काव्यं बालकयोर्मुनिः ॥ २८॥

सीताजी के वह दोनों पुत्र धीरे-धीरे विद्या सम्पन्न हो गये ॥ २८॥

शङ्करेण पुरा प्रोक्तं पार्वत्यै पुरहारिणा ।
वहदोपबृंहनार्थाय तावग्राहयत प्रभुः ॥ २९॥

मुनिवर द्वारा उपनयन संस्कार करने के अनन्तर वह दोनों वेदाध्ययन में तत्पर हुए। महर्षि वाल्मीकिजी ने उन दोनों बालकों को सम्पूर्ण रामायण काव्य पढ़ा दिया ॥ २९ ॥

कुमारौ स्वरसम्पन्नौ सुन्दरावश्विनाविव ।
तन्त्रीतालसमायुक्तौ गायन्तौ चेरतुर्वने ॥ ३०॥

अश्विनी कुमार के समान अति सुन्दर वह दोनों कुमार वीणा बजाकर स्वर सहित रामायण गाते हुए वन में भ्रमण करते रहते थे ॥ ३०॥

तत्र तत्र मुनीनां तौ समाजे सुररूपिणौ ।
गायन्तावभितो दृष्ट्वा विस्मिता मुनयोऽब्रुवन् ॥ ३१॥

देवस्वरूप उन बालकों को यत्र-तत्र मुनियों के समाज में गाते हुए देखकर मनुजन अति विस्मित होकर आपस में कहने लगते थे ॥३१॥

गन्धर्वेष्विव किन्नरेषु भुवि वा देवहषु देवालये
पातालेष्वथवा चतुर्मुखगृहे लोकेषु सर्वेषु च ।
अस्माभिश्चिरजीविभिश्चिरतरं दृष्ट्वा दिशः सर्वतो
नाज्ञायीदृशगीतवाद्यगरिमा नादर्शि नाश्रावि च ॥ ३२॥

हम दीर्घजीवि लोगों ने सभी दिशायें देखीं हैं, परन्तु गन्धर्व, किन्नर, भूर्लोक, देवलोक, देवालय, पाताल अथवा ब्रह्मलोक आदि में कहीं भी गान एवं वाद्य में ऐसे कुशल बालकों को न हमने देखा है, न ही सुना हैं ॥ ३२॥

एवं स्तुवद्भिरखिलैर्मुनिभिः प्रतिवासरम् ।
आसाते सुखमेकान्ते वाल्मीकेराश्रमे चिरम् ॥ ३३॥

प्रतिदिन इस प्रकार प्रशंसा करनेवाले सभी मुनियों को साथ लेकर उन दोनों बालकों ने बहुत दिनों तक श्रीवाल्मीकिजी के एकान्त आश्रम में सुख पूर्वक निवास किया ॥ ३३ ॥

अथ रामोऽश्वमेधादींश्चकार बहुदक्षिणान् ।

यज्ञान् स्वर्णमयीं सीतां विधाय विपुलद्युतिः ॥ ३४॥

परमतेजस्वी श्रीरामचन्द्रजी ने भी अयोध्या में सवर्ण की सीता बनाकर अत्यधिक दक्षिणाओं वाले अश्वमेध आदि यज्ञ किए ॥ ३४॥

तस्मिन् विताने ऋषयः सर्वे राजर्षयस्तथा ।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः समाजग्मुर्दिदृक्षवः ॥ ३५॥

उस यज्ञशाला में यज्ञ का उत्सव देखने के लिये उत्सुकता से सभी ऋषि, राजर्षि, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य आदि आये थे॥ ३५॥

वाल्मीकिरपि सङ्गृह्य गायन्तौ तौ कुशीलवौ ।
जगाम ऋषिवाटस्य समीपं मुनिपुङ्गवः ॥ ३६॥

मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकिजी भी गान करते हुए लव-कुश को साथ लेकर वहाँ आये और मुनियों के ठहरने के स्थान पर वह रूके ॥ ३६ ॥

तत्रैकान्ते स्थितं शान्तं समाधिविरमे मुनिम् ।
कुशः पप्रच्छ वाल्मीकिं ज्ञानशास्त्रं कथान्तरे ॥ ३७॥

एक दिन उस स्थान पर शान्तभाव से एकान्त में बैठे हुए वाल्मीकि मुनि की समाधि खुलने पर कुश ने कथा के मध्य में ही उनसे ज्ञान शास्त्र के बारे में पूछा ॥३७ ॥

भगवन् श्रोतुमिच्छामि सङ्क्षेपाद्भवतोऽखिलम् ।
देहिनः संसृतिर्बन्धः कथमुत्पद्यते दृढः ॥ ३८॥

कुश ने कहा- भगवन् ! जीव को यह सुदृढ़ संसार बन्धन किस प्रकार प्राप्त होता है ? यह संक्षेप में मैं आपके मुखारविन्द से सुनना चाहता हूँ ॥ ३८॥

कथं विमुच्यते देही दृढबन्धाद्भवाभिधात् ।
वक्तुमर्हसि सर्वज्ञ मह्यं शिष्याय ते मुने ॥ ३९॥

और इस दृढ़ संसार बन्धन से जीव की मुक्ति कैसे होती है ? हे मुने! मुझ शिष्य को आप सबकुछ बतलाइये, आप सर्वज्ञ हैं ॥ ३९॥

वाल्मीकिरुवाच ।
शृणु वक्ष्यामि ते सर्वं सङ्क्षेपाद्बन्धमोक्षयोः ।
स्वरूपं साधनं चापि मत्तः श्रुत्वा यथोदितम् ॥ ४०॥

तथैवाचर भद्रं ते जीवन्मुक्तो भविष्यसि ।
देह एव महागेहमदेहस्य चिदात्मनः ॥ ४१॥

महर्षि वाल्मीकिजी बोले-संक्षेप में मैं बन्ध और मोक्ष का साधन बतला रहा हूँ ; सावधान होकर सुनो। जिस प्रकार मैं कहूँ; सुनकर वैसा ही आचरण करना। इससे तुम्हारा कल्याण होगा और तुम जीवन्मुक्त हो जाओगे। देह रहित चेतन आत्मा का यह शरीर ही महान् घर है। ॥ ४०-४१॥

तस्याहङ्कार एवास्मिन्मन्त्री तेनैव कल्पितः ।
देहगेहाभिमानं स्वं समारोप्य चिदात्मनि ॥ ४२॥

तेन तादात्म्यमापन्नः स्वचेष्टितमशेषतः ।
विदधाति चिदानन्दे तद्वासितवपुः स्वयम् ॥ ४३॥

तेन सङ्कल्पितो देही सङ्कल्पनिगडावृतः ।
पुत्रदारगृहादीनि सङ्कल्पयति चानिशम् ॥ ४४॥

इस घर में उसने अहंकार को अपना मन्त्री कल्पित किया है। यह अहंकार मन्त्री देहगेहाभिमान रूप में अपने को चेतन आत्मा में आरोपित कर उससे एकता प्राप्त कर अपने सम्पूर्ण कर्मों का उस चेतन आत्मा में आरोप करता है। ॥ ४२-४४ ॥

सङ्कल्पयन् स्वयं देही परिशोचति सर्वदा ।
त्रयस्तस्याहमो देहा अधमोत्तममध्यमाः ॥ ४५॥

अपने को ही देही संकल्प करने से जीव स्वयं ही सदा शोक करता है। ॥४५॥

तमः सत्त्वरजः सञ्ज्ञा जगतः कारणं स्थितेः ।
तमोरूपाद्धि सङ्कल्पान्नित्यं तामसचेष्टया ॥ ४६॥

अत्यन्तं तामसो भूत्वा कृमिकीटत्वमाप्नुयात् ।
सत्त्वरूपो हि सङ्कल्पो धर्मज्ञानपरायणः ॥ ४७॥

इस अहंकार के भी सत्त्व, रज, तम नामक उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकार के शरीर हैं। ये तीनों ही संसार की स्थिति के हेतु हैं । इन तीनों में से तामस संकल्प के द्वारा नित्य तामसिक चेष्टायें करने से जीव अति तमोगुणी होकर कीट-पतङ्ग आदि तिर्यक् योनियों को प्राप्त करता है। सात्त्विक संकल्प करने वाला धर्म और ज्ञान में ही तत्पर रहने से ॥ ४६-४७॥

अदूरमोक्षसाम्राज्यः सुखरूपो हि तिष्ठति ।
रजोरूपो हि सङ्कल्पो लोके स व्यवहारवान् ॥ ४८॥

परितिष्ठति संसारे पुत्रदारानुरञ्जितः ।
त्रिविधं तु परित्यज्य रूपमेतन्महामते ॥ ४९॥

सङ्कल्पं परमाप्नोति पदमात्मपरिक्षये ।
दृष्टीः सर्वाः परित्यज्य नियम्य मनसा मनः ॥ ५०॥

मोक्षसाम्राज्य के समीप ही सुख पूर्वक रहता है। राजस संकल्प करने वाला सांसारिक कार्यों को करता हुआ पुत्र, स्त्री, आदि में लिप्त रहता है। हे महामते! तीनों प्रकार के संकल्पों को छोड़ने वाला अपना चित्त के लीन होने के अनन्तर परमपद को प्राप्त करता है। अत एव सम्पूर्ण संकल्पों का त्याग कर अपने मन के द्वारा ही मन का संयम कर ॥४८-५०॥

सबाह्याभ्यन्तरार्थस्य सङ्कल्पस्य क्षयं कुरु ।
यदि वर्षसहस्राणि तपश्चरसि दारुणम् ॥ ५१॥

पातालस्थस्य भूस्थस्य स्वर्गस्थस्यापि तेऽनघ ।
नान्यः कश्चिदुपायोऽस्ति सङ्कल्पोपशमादृते ॥ ५२॥

बाह्य एवं आभ्यन्तर के सम्पूर्ण सङ्कल्पों का क्षय कर दो। हे अनघ ! पाताल, पृथ्वी अथवा स्वर्ग आदि में कहीं भी स्थित होकर यदि तुम हजारों वर्ष कठोर तपस्या करो फिर भी तुम्हारे लिये संकल्प नाश के अतिरिक्त मुक्त होने का कोई अन्य उपाय नहीं है ॥ ४५-५२ ॥

अनाबाधेऽविकारे स्वे सुखे परमपावने ।

सङ्कल्पोपशमे यत्नं पौरुषेण परं कुरु ॥ ५३॥

अत: जो दुःखहीन, विकार रहित, स्वानन्दस्वरूप और परम-पवित्र है, उस संकल्प शान्ति के लिये पुरुषार्थपूर्वक यत्न करो॥५३॥

सङ्कल्पतन्तौ निखिला भावाः प्रोताः किलानघ ।
छिन्ने तन्तौ न जानीमः क्व यान्ति विभवाः पराः ॥ ५४॥

हे अनघ! जितने भाव पदार्थ हैं। वह सभी संकल्प रूपी धागे में गूंथे हुए हैं। अत: जिस समय वह धागा टूट जाता है, उस समय यह विदित भी नहीं होता कि संसार के सभी परम वैभव कहाँ चले गये ॥ ५४॥

निःसङ्कल्पो यथाप्राप्तव्यवहारपरो भव ।
क्षये सङ्कल्पजालस्य जीवो ब्रह्मत्वमाप्नुयात् ॥ ५५॥

अत: संकल्प विकल्प का त्याग करके प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त हुए व्यवहार में तत्पर रहो। संकल्प जाल समाप्त होने पर जीव को ब्रह्मत्व की प्राप्ति होती है ॥ ५५॥

अधिगतपरमार्थतामुपेत्य प्रसभमपास्य विकल्पजालमुच्चैः ।
अधिगमय पदं तदद्वितीयं विततसुखाय सुषुप्तचित्तवृत्तिः ॥ ५६॥

परमार्थ ज्ञान युक्त होकर तू हठात् विकल्पों का त्याग करो और पूर्ण आनन्द की प्राप्ति करने के लिये चित्तवृत्ति को लीन कर उस अद्वितीय परम पद को प्राप्त करो ॥५५-५६ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे उत्तरकाण्डे षष्ठः

सर्गः ॥ ६॥

॥ सप्तम सर्गः ॥

भगवान् श्रीराम के यज्ञ में लव और कुश का गान, श्रीसीताजी का पृथिवी में प्रवेश तथा श्रीरामचन्द्र जी का माता को उपदेश

श्रीमहादेव उवाच ।

वाल्मीकिना बोधितोऽसौ कुशः सद्योगतभ्रमः ।
अन्तर्मुक्तो बहिः सर्वमनुकुर्वंश्चकार सः ॥ १॥

श्रीमहादेवजी बोले- वाल्मीकि मुनि के इस प्रकार ज्ञान देने पर कुश का भ्रम दूर हो गया और वह अन्तर्मुख होकर बाहर से सम्पूर्ण क्रियाओं को करता हुआ विचरण करने लगा ॥१॥

वाल्मीकिरपि तौ प्राह सीतापुत्रौ महाधियौ ।
तत्र तत्र च गायन्तौ पुरे वीथिषु सर्वतः ॥ २॥

वाल्मीकि मुनि ने उन महाबुद्धिमान् सीताजी के उन दोनों पुत्रों से कहा -तुमलोग यत्र-तत्र सभी जगह अयोध्या की गलियों में रामायण का गान करते हुए भ्रमण करो ॥ २॥

रामस्याग्रे प्रगायेतं शुश्रूषुर्यदि राघवः ।
न ग्राह्यं वै युवाभ्यां तद्यदि किञ्चित्प्रदास्यति ॥ ३॥

भगवान् श्रीराम के सामने भी तुम रामायण का गान करना, किन्तु यदि वह कुछ देने लगे तो मत लेना ॥ २-३ ॥

इति तौ चोदितौ तत्र गायमानौ विचेरतुः ।
यथोक्तमृषिणा पूर्वं तत्र तत्राभ्यगायताम् ॥ ४॥

मुनि के इस प्रकार कहने पर लव और कुश रामायण का गान करते हुए विचरण करने लगे। जहाँ जहाँ महर्षि वाल्मीकिजी ने रामायण गान करने को कहा था उन स्थानों पर वे दोनों गान करने लगे। ॥४॥

तां स शुश्राव काकुत्स्थः पूर्वचर्यां ततस्ततः ।
अपूर्वपाठजातिं च गेयेन समभिप्लुताम् ॥ ५॥
बालयो राघवः श्रुत्वा कौतूहलमुपेयिवान् ।
अथ कर्मान्तरे राजा समाहूय महामुनीन् ॥ ६॥

राज्ञश्चैव नरव्याघ्रः पण्डितांश्चैव नैगमान् ।
पौराणिकान् शब्दविदो यह च वृद्धा द्विजातयः ॥ ७॥

तदनन्तर काकुत्स्थनन्दन श्रीरामचन्द्रजी ने यत्र -तत्र अपने पूर्वचरित्र को गाये जाने का समाचार सुना। उन दोनों बालकों की संगीतकला निराली और ताल-स्वर सम्पन्न है यह सुनकर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी का अति कुतूहल हुआ। अत: नरेन्द्र महाराज श्रीरामचन्द्रजी यज्ञकर्म विश्राम के समय सम्पूर्ण मुनिश्वरों, पण्डितों, शास्त्रज्ञों पौराणिको शब्दशास्त्र विशारदों एवं वयोवृद्धवर्ग तथा द्विजवर्गको बुलाये ॥४-७॥

एतान् सर्वान् समाहूय गायकौ समवहशयत् ।

ते सर्वे हृष्टमनसो राजानो ब्राह्मणादयः ॥ ८॥

रामं तौ दारकौ दृष्ट्वा विस्मिताः ह्यनिमेषणाः ।
अवोचन् सर्व एवैते परस्परमथागताः ॥ ९॥

सबको बुलाने के अनन्तर वेगाने वाले दोनों बालकों को बुलाये। सभी राजा और ब्राह्मण आदि सभी प्रसन्न मन महाराज श्रीरामचन्द्रजी एवं उन दोनों बालकों को देखकर आश्चर्य चकित हो गये और वे निर्निमेष देखते ही रहे। तत्पश्चात् उस स्थान पर एकत्रित सभी व्यक्ति आपस में कहने लगे ॥८-९॥

इमौ रामस्य सदृशौ बिम्बाद्बिम्बमिवोदितौ ।
जटिलौ यदि न स्यातां न च वल्कलधारिणौ ॥ १०॥

कि ये दोनों बालक तो बिम्ब से उत्पन्न हुए प्रति बिम्ब के समान श्रीरामचन्द्रजी के जैसे ही दिखायी देते हैं। ये दोनों बालक जटाजूट और वल्कल न धारण किये रहते ॥ १०॥

विशेषं नाधिगच्छामो राघवस्यानयोस्तदा ।
एवं संवदतां तेषां विस्मितानां परस्परम् ॥ ११॥

उपचक्रमतुर्गातुं तावुभौ मुनिदारकौ ।
ततः प्रवृत्तं मधुरं गान्धर्वमतिमानुषम् ॥ १२॥

तो श्रीरामचन्द्रजी और इन दोनों में कोई अन्तर ही प्रतीत नहीं होता। सभी लोग आश्चर्यचकित हो आपस में इस प्रकार बात कर रहे थे कि

उन दोनों मुनिकुमारों ने रामायण गाने की तैयारी प्रारम्भ की और वहाँ अति मधुर और अलौकिक गान होने लगा ॥ ८-१२ ॥

श्रुत्वा तन्मधुरं गीतमपराह्ले रघूत्तमः ।
उवाच भरतं चाभ्यां दीयतामयुतं वसु ॥ १३॥

उस मधुर गीत को सुनकर श्रीरघुनाथजी ने में भरतजी से कहा कि इन्हें दशसहस्र सुवर्ण मुद्रायें दे दो ॥ १३ ॥

दीयमानं सुवर्णं तु न तज्जगृहतुस्तदा ।
किमनेन सुवर्णेन राजन्नौ वन्यभोजनौ ॥ १४॥

इति सन्त्यज्य सन्दत्तं जग्मतुर्मुनिसन्निधिम् ।
एवं श्रुत्वा तु चरितं रामः स्वस्यैव विस्मितः ॥ १५॥

हे राजन् ! हम वन के कन्द-मूल-फलादि भोजन करने वाले हैं, इसे लेकर हम क्या करेंगे' ! यह कहकर उन्होंने उस पारितोषिक को ग्रहण नहीं किया और उसे वहीं छोड़कर मुनिवर के समीप चले गये। इस प्रकार भगवान् श्रीराम अपना इतिहास सुनकर विस्मित हो गये ॥ १४-१५ ॥

ज्ञात्वा सीताकुमारौ तौ शत्रुघ्नं चेदमब्रवीत् ।
हनूमन्तं सुषेणं च विभीषणमथाङ्गदम् ॥ १६॥

उन दोनों बालकों को सीता पुत्र समझकर शत्रुध्न, हनुमान, सुषेण, विभीषण तथा अंगदादि से कहा ॥ १६ ॥

भगवन्तं महात्मानं वाल्मीकिं मुनिसत्तमम् ।
आनयध्वं मुनिवरं ससीतं देवसम्मितम् ॥ १७॥

देवतुल्य महात्मा मुनिसत्तम भगवान् श्रीवाल्मीकि मुनि को सीता सहित यहाँ ले आओ। ॥१७॥

अस्यास्तु पर्षदो मध्ये प्रत्ययं जनकात्मजा ।
करोतु शपथं सर्वे जानन्तु गतकल्मषाम् ॥ १८॥

सीतां तद्वचनं श्रुत्वा गताः सर्वेऽतिविस्मिताः ।
ऊचुर्यथोक्तं रामेण वाल्मीकिं रामपार्षदाः ॥ १९॥

इस सभा में जानकी सबको विश्वास दिलाने के लिये शपथ करें जिससे सभी लोग सीता को निष्कलंक समझ लें। भगवान् श्रीराम का यह कथन सुनकर वह सभी अति आश्चर्य चकित होकर महर्षि वाल्मीकि मुनि के पास गए और श्रीरामचन्द्रजी के कथनानुसार उनसे समस्त वृतांत सूना दिया ॥ १८-१९॥

रामस्य हृद्गतं सर्वं ज्ञात्वा वाल्मीकिरब्रवीत् ।
श्वः करिष्यति वै सीता शपथं जनसंसदि ॥ २०॥

तब भगवान् का आशय समझकर महर्षि वाल्मीकिजी ने कहा कि सीताजी कल जनसभा में शपथ करेंगी ॥ २०॥

योषितां परमं दैवं पतिरेव न संशयः ।
तच्छ्रुत्वा सहसा गत्वा सर्वे प्रोचुर्मुनेर्वचः ॥ २१॥

निःसन्देह स्त्रियों के लिये पति सबसे बड़ा देवता होता है। मुनिवर का यह कथन सुनकर उन सभी ने सहसा जाकर मुनिवर का संदेश श्रीरघुनाथजी से कह दिया ॥ २१॥

राघवस्यापि रामोऽपि श्रुत्वा मुनिवचस्तथा ।
राजानो मुनयः सर्वे शृणुध्वमिति चाब्रवीत् ॥ २२॥

सीतायाः शपथं लोका विजानन्तु शुभाशुभम् ।
इत्युक्ता राघवहणाथ लोकाः सर्वे दिद्दक्षवः ॥ २३॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव महर्षयः ।
वानराश्च समाजग्मुः कौतूहलसमन्विताः ॥ २४॥

तदनन्तर मुनिवर का संदेश सुनकर श्रीरघुनाथ जी ने कहा-हे नृपतिगण तथा मुनिगण ! आप सभी सीताजी की शपथ सुनें और शपथ से शुभाशुभ समझिये। भगवान श्रीराम को यह कहने पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, महर्षि और वानर आदि सभी लोग कुतूहलवश सीताजी की शपथ सुनने के लिये आये ॥२२-२४ ॥

ततो मुनिवरस्तूर्णं ससीतः समुपागमत् ।
अग्रतस्तमृषिं कृत्वाऽऽयान्ती किञ्चिदवाङ्मुखी ॥ २५॥

कृताञ्जलिर्बाष्पकण्ठा सीता यज्ञं विवहश तम् ।
द्दष्ट्वा लक्ष्मीमिवायान्तीं ब्रह्माणमनुयायिनीम् ॥ २६॥

तदनन्तर शीघ्र ही सीताजी के साथ मुनीश्वर वाल्मीकिजी भी पधारे। महर्षि वाल्मीकि मुनि को आगे कर उनके पीछे-पीछे अपना मुख

नीचे की ओर किये और हाथ जोड़कर गद्गद् कण्ठ यज्ञशाला में सीताजी प्रवेश की। ब्रह्माजी के पीछे आती हुई लक्ष्मी के समान ॥२५-२६ ॥

वाल्मीकेः पृष्ठतः सीतां साधुवादो महानभूत् ।
तदा मध्ये जनौघस्य प्रविश्य मुनिपुङ्गवः ॥ २७॥

सीतासहायो वाल्मीकिरिति प्राह च राघवम् ।
इयं दाशरथे सीता सुव्रता धर्मचारिणी ॥ २८॥

अपापा ते पुरा त्यक्ता ममाश्रमसमीपतः ।
लोकापवादभीतेन त्वया राम महावने ॥ २९॥

वाल्मीकि मुनि के पीछे-पीछे सीताजी को आते हुए देखकर उस जन सभा में अत्यधिक साधुवाद होने लगा। तदनन्तर सीताजी के सहित मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकिजी ने उस जन समूह में जाकर श्रीरघुनाथजी से कहा -हे दाशरथि ! इस प्रतिव्रता धर्मपरायण निष्कलंका सीता को लोकापवाद के भय से कुछ समय पहले तुम मेरे आश्रम के निकट भयंकर वन में छोड़ दिया था ॥ २७-२९॥

प्रत्ययं दास्यते सीता तदनुज्ञातुमर्हसि ।
इमौ तु सीतातनयाविमौ यमलजातकौ ॥ ३०॥

इस समय वह विश्वास दिलाना चाहती है, आप आज्ञा दीजिये। यह दोनों लव-कुश सीता के पुत्र हैं ॥ ३०॥

सुतौ तु तव दुर्धर्षौ तथ्यमेतद्ब्रवीमि ते ।

प्रचेतसोऽहं दशमः पुत्रो रघुकुलोद्वह ॥ ३१॥

मैं सत्य कहता हूँ कि ये दोनों दुर्जय वीर आपकी ही संतान हैं। हे राघव! मैं प्रजापति प्रचेता का दसवाँ पुत्र हूँ ॥३१॥

अनृतं न स्मराम्युक्तं तथेमौ तव पुत्रकौ ।
बहून् वर्षगणान् सम्यक् तपश्चर्या मया कृता ॥ ३२॥

आज तक मैंने कभी भी मिथ्या भाषण किया हो वह मुझे स्मरण नहीं है; मैं आपसे कहता हूँ कि ये दोनों बालक आपके ही पुत्र हैं। अनेक वर्षों तक मैंने भी अति तपस्या की है ॥ ३२ ॥

नोपाश्नीयां फलं तस्या दुष्टेयं यदि मैथिली ।
वाल्मीकिनैवमुक्तस्तु राघवः प्रत्यभाषत ॥ ३३॥

इस मिथिलेश कुमारी में यदि कोई दोष हो तो उस तपस्या का कुछ भी फल मुझे प्राप्त नहीं हो। महर्षि वाल्मीकिजी का यह कथन सुनकर श्रीरघुनाथजी बोले ॥ ३३॥

एवमेतन्महाप्राज्ञ यथा वदसि सुव्रत ।
प्रत्ययो जनितो मह्यं तव वाक्यैरकिल्बिषैः ॥ ३४॥

हे महाप्राज्ञ ! हे सुव्रत! जैसा आप कहते हैं, वैसी ही बात है। आपके निर्दोष वाक्यों से ही मुझे विश्वास हो गया ॥ ३४ ॥

लङ्कायामपि दत्तो मे वैदेह्या प्रत्ययो महान् ।
देवानां पुरतस्तेन मन्दिरे सम्प्रवहशिता ॥ ३५॥

देवताओं के सामने लंका में भी जानकी जी ने अति विकट परीक्षा दी थी। अत: मैंने इनका वरण कर अपने घर में रख लिया था ॥ ३५॥

सेयं लोकभयाद्ब्रह्मन्नपापाऽपि सती पुरा ।
सीता मया परित्यक्ता भवांस्तत्क्षन्तुमर्हति ॥ ३६॥

परन्तु हे ब्रह्मन् ! सती सीताजी को सर्वथा दोष रहित होते हुए भी लोकापवाद के डर से कुछ दिन पहले मैंने छोड़ दिया था; आप मेरा यह अपराध क्षमा करें ॥ ३६ ॥

ममैव जातौ जानामि पुत्रावहतौ कुशीलवौ ।
शुद्धायां जगतीमध्ये सीतायां प्रीतिरस्तु मे ॥ ३७॥

मैं यह जानता हूँ कि ये दोनों लव-कुश मेरे ही पुत्र हैं। संसार में परम साध्वी सती सीता में मेरी प्रीति है ॥ ३७ ॥

देवाः सर्वे परिज्ञाय रामाभिप्रायमुत्सुकाः ।
ब्रह्माणमग्रतः कृत्वा समाजग्मुः सहस्रशः ॥ ३८॥

उस समय रामजी का अभिप्राय समझकर सभी देवगण अति उत्सुकता से ब्रह्माजी को आगे करके हजारों की संख्या में वहाँ आए ॥ ३८ ॥

प्रजाः समागमन् हृष्टाः सीता कौशेयवासिनी ।
उदङ्मुखी ह्यधोदृष्टिः प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ ३९॥

प्रजाजन भी बहुतों की संख्या में वहाँ एकत्रित हो गए। तत्पश्चात् रेशमी वस्त्र धारण किये हुए उत्तर दिशा की ओर नीचे पृथिवी की ओर मुख और नेत्र किये खड़ी सीताजी हाथ जोड़कर बोली ॥ ३९॥

रामादन्यं यथाहं वै मनसापि न चिन्तये ।
तथा मे धरणी देवी विवरं दातुमर्हति ॥ ४०॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के अतिरिक्त यदि मैंने अन्य किसी पुरुष का मन से भी चिन्तन नहीं करती तो हे पृथिवी देवि ! आप मुझे आश्रय दीजिये ॥ ४० ।

तथा शपन्त्याः सीतायाः प्रादुरासीन्महाद्भुतम् ।
भूतलाद्दिव्यमत्यर्थं सिंहासनमनुत्तमम् ॥ ४१॥

इस प्रकार श्रीसीताजी द्वारा शपथ ग्रहण ही पृथिवी तल से एक अति अद्भुत परम दिव्य और अतिश्रेष्ठ सिहासन प्रकट हुआ ॥४१॥

नागेन्द्रैर्ध्रियमाणं च दिव्यदेहै रविप्रभम् ।
भूदेवी जानकीं दोर्भ्यां गृहीत्वा स्नेहसंयुता ॥ ४२॥

स्वागतं तामुवाचैनामासने संन्यवहशयत् ।
सिंहासनस्थां वैदेहीं प्रविशन्तीं रसातलम् ॥ ४३॥

निरन्तरा पुष्पवृष्टिर्दिव्या सीतामवाकिरत् ।
साधुवादश्च सुमहान् देवानां परमाद्भुतः ॥ ४४॥

सूर्य के समान तेजस्वी वह सिहासन दिव्यशरीर धारण करने वाले नागराजों द्वारा धारण किया गया था। तत्पश्चात् पृथ्वी देवी जानकीजी को अपने दोनों भुजाओं से प्रेमपूर्वक अपनाकर उनका स्वागत किया और सीताजी को आसन पर बैठा लिया सिंहासन पर बैठाकर जब सीताजी रसातल को जाने लगी तब उनके ऊपर दिव्य पुष्पों की निरन्तर वर्षा होने लगी और देवगण द्वारा साधुवाद का अति अद्भुत और महान् शब्द होने लगे ॥ ४२-४४॥

ऊचुश्च बहुधा वाचो ह्यन्तरिक्षगताः सुराः ।
अन्तरिक्षे च भूमौ च सर्वे स्थावरजङ्गमाः ॥ ४५॥

वानराश्च महाकायाः सीताशपथकारणात् ।
केचिच्चिन्तापरास्तस्य केचिद्ध्यानपरायणाः ॥ ४६॥

केचिद्रामं निरीक्षन्तः केचित्सीतामचेतसः ।
मुहूर्तमात्रं तत्सर्वं तूष्णीम्भूतमचेतनम् ॥ ४७॥

सीताजी की शपथ से आकाश, पृथ्वी आदि के सभी स्थावर-जंगम प्राणी और विशालकाय सुडौल शरीर वाले वानरों में से कोई चिन्ता करने लगे और कोई ध्यानस्थ हो गये और कोई श्रीरामचन्द्रजी और कोई सीताजी देखकर चेतना शून्य हो गये। एक मुहूर्त के लिये वह सम्पूर्ण समाज स्तब्ध और चेतना हीन हो गया ॥ ४५-४७॥

सीताप्रवहशनं दृष्ट्वा सर्वं सम्मोहितं जगत् ।
रामस्तु सर्वं ज्ञात्वैव भविष्यत्कार्यगौरवम् ॥ ४८॥

अजानन्निव दुःखेन शुशोच जनकात्मजाम् ।

ब्रह्मणा ऋषिभिः सार्धं बोधितो रघुनन्दनः ॥ ४९॥

सीताजी का पृथिवी में प्रवेश देखकर सारा संसार मोहित हो गया। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी भविष्य में सिद्ध होने वाले कार्य के महत्त्व को जानते हुए भी अज्ञ की भाँति सीताजी के लिये शोक करने लगे। तदनन्तर ब्रह्माजी ने ऋषियों सहित श्रीरघुनाथजी को समझाया ॥ ४८-४९॥

प्रतिबुद्ध इव स्वप्नाच्चकारानन्तराः क्रियाः ।
विससर्ज ऋषीन् सर्वानृत्विजो यह समागताः ॥ ५०॥

तान् सर्वान् धनरत्नाद्यैस्तोषयामास भूरिशः ।
उपादाय कुमारौ तावयोध्यामगमत्प्रभुः ॥ ५१॥

तब सोकर उठे हुए की भाँति श्रीरामजी ने यज्ञ का अवशेष कार्य पूर्ण किया और यज्ञ में ऋत्विक के रूप में सम्मिलित हुए सभी ऋषिगणों को रत्न, धन आदि से विधिवत् सन्तुष्ट कर विदा किया। और प्रभु श्रीरामचन्द्रजी उन दोनों कुमारों को लेकर अयोध्यापुरी में आये ॥ ५०-५१ ॥

तदादि निःस्पृहो रामः सर्वभोगेषु सर्वदा ।
आत्मचिन्तापरो नित्यमेकान्ते समुपस्थितः ॥ ५२॥

तब से श्रीरामचन्द्रजी सम्पूर्ण भोगों से विरक्त होकर निरन्तर आत्मचिन्तन करते हुए एकान्त में रहने लगे ॥ ५२ ॥

एकान्ते ध्याननिरते एकदा राघवह सति ।

ज्ञात्वा नारायणं साक्षात्कौसल्या प्रियवादिनी ॥ ५३॥

भक्त्यागत्य प्रसन्नं तं प्रणता प्राह हृष्टधीः ।
राम त्वं जगतामादिरादिमध्यान्तवर्जितः ॥ ५४॥

एक समय एकान्त में ध्यानमग्न श्रीरघुनाथजी स्थित थे; प्रियभाषिणी कौसल्याजी ने उन्हें साक्षात् नारायण जान अति भक्तिपूर्वक उनके पास जाकर उन्हें प्रसन्न जानकर अति हर्ष से विनय पूर्वक बोली हे राम! तुम संसार के आदि कारण और स्वयं आदि, मध्य तथा अन्त रहित हो ॥ ५३-५४ ॥

परमात्मा परानन्दः पूर्णः पुरुष ईश्वरः ।
जातोऽसि मे गर्भगृहे मम पुण्यातिरेकतः ॥ ५५॥

तुम परमात्मा, परानन्दस्वरूप, पूर्ण पुरुष ईश्वर हो; मेरे प्रबल पुण्योदय होने से ही तुम मेरे गर्भ से उत्पन्न हो ॥ ५५॥

अवसाने ममाप्यद्य समयोऽभूद्रघूत्तम ।
नाद्याप्यबोधजः कृत्स्नो भवबन्धो निवर्तते ॥ ५६॥

हे रघुश्रेष्ठ! अन्त में आज मुझे समय मिला है; अभी तक मेरा अज्ञानजन्य संसार-बन्धन नहीं टूटा ॥५६॥

इदानीमपि मे ज्ञानं भवबन्धनिवर्तकम् ।
यथा सङ्क्षेपतो भूयात्तथा बोधय मां विभो ॥ ५७॥

हे प्रभो! संक्षेप में ऐसा उपदेश दीजिये जिससे अभी भी भव-बन्धन दूर करने वाला ज्ञान मुझे प्राप्त हो जाय ॥ ५७॥

निर्वेदवादिनीमेवं मातरं मातृवत्सलः ।
दयालुः प्राह धर्मात्मा जराजर्जरितां शुभाम् ॥ ५८॥

तत्पश्चात् मातृभक्त, दयामय, धर्मपरायण भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ने इस प्रकार वैराग्यपूर्ण वचन कहने वाली जरा से जर्जरित शुभलक्षणा अपनी माता से कहा ॥ ५८ ॥

मार्गास्त्रयो मया प्रोक्ताः पुरा मोक्षाप्तिसाधकाः ।
कर्मयोगो ज्ञानयोगो भक्तियोगश्च शाश्वतः ॥ ५९॥

पूर्व समय में मोक्ष प्राप्ति के लिये साधन स्वरूप कर्मयोग, ज्ञानयोग और सनातन भक्तियोग यह तीन मार्ग मैंने बताए हैं ॥ ५९॥

भक्तिर्विभिद्यते मातस्त्रिविधा गुणभेदतः ।
स्वभावो यस्य यस्तेन तस्य भक्तिर्विभिद्यते ॥ ६०॥

हे मातः! गुणभेद से भक्ति के भी तीन भेद हैं। जिसका जो स्वभाव होता है उसकी उसी प्रकार की भक्ति होती है ॥ ६॥

यस्तु हिंसां समुद्दिश्य दम्भं मात्सर्यमेव वा ।
भेददृष्टिश्च संरम्भी भक्तो मे तामसः स्मृतः ॥ ६१॥

जो हिंसा, दम्भ अथवा मात्सर्य के उद्देश्य से मेरी भक्ति करता है तथा भेद दृष्टि वाला और क्रोधी होता है वह तामस भक्त कहा गया है ॥ ६१॥

फलाभिसन्धिर्भोगार्थी धनकामो यशस्तथा ।
अर्चादौ भेदबुद्ध्या मां पूजयेत्स तु राजसः ॥ ६२॥

जो भक्त फल की इच्छा रखने वाला, भोग चाहने वाला तथा धन और यश की कामना वाला और भेदबुद्धि से मेरी पूजा करता है वह रजोगुणी भक्त है ॥ ६२॥

परस्मिन्नर्पितं यस्तु कर्मनिर्हरणाय वा ।
कर्तव्यमिति वा कुर्याद्भेदबुद्ध्या स सात्त्विकः ॥ ६३॥

जो भक्त परमात्मा को समर्पण किए हुए कर्म को सम्पादित करने के लिए या कार्य करना चाहिये, यह समझकर भेदबुद्धि पूर्वक कर्म करता है वह सात्विक भक्त कहा गया है ॥६३॥

मद्गुणाश्रयणादेव मय्यनन्तगुणालये ।
अविच्छिन्ना मनोवृत्तिर्यथा गङ्गाम्बुनोऽम्बुधौ ॥ ६४॥

तदेव भक्तियोगस्य लक्षणं निर्गुणस्य हि ।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिर्मयि जायते ॥ ६५॥

सा मे सालोक्यसामीप्यसार्ष्टिसायुज्यमेव वा ।
ददात्यपि न गृह्णन्ति भक्ता मत्सेवनं विना ॥ ६६॥

गंगा जल समुद्र में जिस प्रकार लीन हो जाता है उसी प्रकार प्राणी की मनोवृत्ति मेरे गुणों के आश्रय से अनन्त गुणधाम मुझमें अविच्छिन्न रूप से लगी रहे तो वह ही मेरे निर्गुण भक्तियोग का लक्षण है। मुझमें निष्काम और अखण्ड भक्ति साधक को सालोक्य, सामीप्य, सार्ष्टि और सायुज्य चार प्रकार की मुक्ति देती है; परन्तु उसके देने पर भी मेरे भक्तजन मेरी सेवा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी ग्रहण नहीं करते ॥ ६४-६६ ॥

स एवात्यन्तिको योगो भक्तिमार्गस्य भामिनि ।
मद्भावं प्राप्नुयात्तेन अतिक्रम्य गुणत्रयम् ॥ ६७॥

हे मातः! यही भक्ति योग का आत्यन्तिक योग है। इससे तीनों गुणों को पारकर भक्तजन मेरा ही स्वरूप हो जाते हैं ॥ ६७ ॥

महता कामहीनेन स्वधर्माचरणेन च ।
कर्मयोगेन शस्तेन वर्जितेन विहिंसनात् ॥ ६८॥

मद्दर्शनस्तुतिमहापूजाभिः स्मृतिवन्दनैः ।
भूतेषु मद्भावनया सङ्गेनासत्यवर्जनैः ॥ ६९॥

बहुमानेन महतां दुःखिनामनुकम्पया ।
स्वसमानेषु मैत्र्या च यमादीनां निषेवया ॥ ७०॥

वहदान्तवाक्यश्रवणान्मम नामानुकीर्तनात् ।
सत्सङ्गेनार्जवहनैव ह्यहमः परिवर्जनात् ॥ ७१॥

काङ्क्षया मम धर्मस्य परिशुद्धान्तरो जनः ।

मद्गुणश्रवणादेव याति मामञ्जसा जनः ॥ ७२॥

निर्गुण भक्ति का साधन इस प्रकार है- अत्यन्त निष्काम भाव, अपने धर्म का आचरण करना, अत्युत्तम हिंसा हीन कर्मयोग, मेरे दर्शन, स्तुति, महापूजा, मेरा स्मरण-वन्दन, प्राणियों में मेरी भावना करना असत्य त्याग, सत्संग, महापुरुषों का अतिसम्मान, दुःखियों पर दया, अपने जैसे प्राणियों से मैत्री, यमः नियमादि का पालन, वेदान्त वाक्यों का श्रवण, मेरा नाम संकीर्तन, सत्संग और कोमलता तथा अहङ्कार त्याग और मेरे भागवत धर्मों की इच्छा करने से शुद्ध चित्त वाले जो पुरुष हैं; वह मेरे गुणों का श्रवण करते रहने से अति सुगमता से मुझे प्राप्त कर लेते हैं ॥ ६८-७२॥

यथा वायुवशाद्गन्धः स्वाश्रयाद्घ्राणमाविशेत् ।
योगाभ्यासरतं चित्तमेवमात्मानमाविशेत् ॥ ७३॥

वायु के द्वारा गन्ध अपने आश्रय स्थान को छोड़कर जिस प्रकार घ्राणेन्द्रिय में प्रवेश कर जाता है, उसी प्रकार योगाभ्यास में लगा हुआ मन आत्मा में लीन हो जाता है ॥७३॥

सर्वेषु प्राणिजातेषु ह्यहमात्मा व्यवस्थितः ।
तमज्ञात्वा विमूढात्मा कुरुते केवलं बहिः ॥ ७४॥

सभी प्राणियों में आत्मारूप से मैं ही विद्यमान हूँ, यह न जानकर मूढ़ पुरुष केवल बाह्य भावना ही करता है ॥ ७४॥

क्रियोत्पन्नैर्नैकभेदैर्द्रव्यैर्मे नाम्ब तोषणम् ।
भूतावमानिनार्चायामर्चितोऽहं न पूजितः ॥ ७५॥

परन्तु हे अम्ब ! क्रिया द्वारा उत्पन्न अनेक पदार्थों से भी मैं सन्तुष्ट नहीं होता। अन्य जीवों का तिरस्कार करने वाले प्राणियों द्वारा प्रतिमा में किये गये मेरी पूजा से भी मैं यथार्थतः पूजित नहीं होता ॥७॥

तावन्मामर्चयेद्देवं प्रतिमादौ स्वकर्मभिः ।
यावत्सर्वेषु भूतेषु स्थितं चात्मनि न स्मरेत् ॥ ७६॥

पुरुष जब तक समस्त प्राणियों एवं अपने आप में मुझे परमात्म देव को स्थित नहीं जानता तभी तक अपने कर्मों द्वारा प्रतिमा में मेरी पूजा करनी चाहिये ॥ ७६ ॥

यस्तु भेदं प्रकुरुते स्वात्मनश्च परस्य च ।
भिन्नदृष्टेर्भयं मृत्युस्तस्य कुर्यान्न संशयः ॥ ७७॥

अपने आत्मा और परमात्मा में भेद बुद्धि रखने वाले भेददर्शी पुरुष को ही निःसन्देह मृत्यु भय उत्पन्न करती है ॥ ७७ ॥

मामतः सर्वभूतेषु परिच्छिन्नेषु संस्थितम् ।
एकं ज्ञानेन मानेन मैत्र्या चार्चेदभिन्नधीः ॥ ७८॥

अत: अभेद दृष्टि वाले भक्त ज्ञान, मान और मैत्री भाव आदि से सर्वभूतों में स्थित एक मात्र परमात्मा मेरा पूजन करें ॥ ७८ ॥

चेतसैवानिशं सर्वभूतानि प्रणमेत्सुधीः ।
ज्ञात्वा मां चेतनं शुद्धं जीवरूपेण संस्थितम् ॥ ७९॥

मुझ शुद्ध चेतन को ही सम्पूर्ण जीवों में स्थित समझ कर बुद्धिमान् पुरुष अहर्निश सब प्राणियों को मन से प्रणाम करे ॥ ७९ ॥

तस्मात्कदाचिन्नेक्षेत भेदमीश्वरजीवयोः ।
भक्तियोगो ज्ञानयोगो मया मातरुदीरितः ॥ ८०॥

अत: कभी भी जीव और ईश्वर का भेद न देखे। हे मातः ! मैंने तुमसे भक्ति और ज्ञानयोग का वर्णन किया ॥ ८०॥

आलम्ब्यैकतरं वापि पुरुषः शुभमृच्छति ।
ततो मां भक्तियोगेन मातः सर्वहृदि स्थितम् ॥ ८१॥

पुत्ररूपेण वा नित्यं स्मृत्वा शान्तिमवाप्स्यसि ।
श्रुत्वा रामस्य वचनं कौसल्याऽऽनन्दसंयुता ॥ ८२॥

इन दोनों में से एक का भी प्राणी अवलम्बन करे तो आत्यन्तिक शुभ फल प्राप्त कर लेता है। अत: हे मातः ! सब प्राणियों के अन्तः करण में मुझे स्थित समझते हुए या पुत्र रूप से भक्ति योग से नित्य मेरा स्मरण करते रहने से आपको शान्ति प्राप्त होगी। भगवान श्रीराम का यह कथन सुनकर माता कौसल्या आनन्दमग्न हो गयीं ॥ ८१-८२ ॥

रामं सदा हृदि ध्यात्वा छित्त्वा संसारबन्धनम् ।
अतिक्रम्य गतीस्तिस्रोऽप्यवाप परमां गतिम् ॥ ८३॥

वह निरन्तर अपने हृदय में श्रीरामचन्द्रजी का ध्यान करती हुई भव बन्धन को काट कर तीनों गतियों को पारकर परमपद को प्राप्त हुई। ८३ ॥

कैकेयी चापि योगं रघुपतिगदितं पूर्वमेवाधिगम्य
श्रद्धाभक्तिप्रशान्ता हृदि रघुतिलकं भावयन्ती गतासुः ।
गत्वा स्वर्गं स्फुरन्ती दशरथसहिता मोदमानावतस्थे
माता श्रीलक्ष्मणस्याप्यतिविमलमतिः प्राप भर्तुः समीपम् ॥ ८४॥

श्रीरघुनाथजी द्वारा पहले चित्रकूट में कहे हुए योग को हृदय में स्थित करके कैकेयी भी श्रद्धा-भक्ति से शान्ति पूर्वक अपने हृदय में रघकूल तिलक भगवान् श्रीरामचन्द्रजी का ध्यान करते हुए प्राणत्याग कर स्वर्गलोक में जाकर श्रीदशरथजी के साथ सुशोभित हो आनन्दपूर्वक रहने लगीं। इसी प्रकार लक्ष्मणजी की माता सुमित्रा भी अपने पति के समीप्य प्राप्त की ॥ ८४ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे उत्तरकाण्डे सप्तमः सर्गः ॥ ७॥

॥ अष्टम सर्गः ॥

काल का आगमन, श्रीलक्ष्मणजी का परित्याग एवं उनका स्वर्गारोहण

श्रीमहादेव उवाच ।

अथ काले गते कस्मिन् भरतो भीमविक्रमः ।
युधाजिता मातुलेन ह्याहूतोऽगात्ससैनिकः ॥ १॥

रामाज्ञया गतस्तत्र हत्वा गन्धर्वनायकान् ।
तिस्रः कोटीः पुरे द्वे तु निवहश्य रघुनन्दनः ॥ २॥

श्रीमहादेवजी बोले - कुछ समय व्यतीत होने पर उग्र पराक्रमी भरतजी अपने मामा यधाजित् के बुलाये जाने पर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी से आज्ञालेकर सेना सहित उनके यहाँ चले गए। वहाँ जाकर रघुकुलनन्दन भरतजी तीन करोड़ प्रमुख गन्धर्वो को मारकर दो नगर बसाये ॥ १-२॥

पुष्करं पुष्करावत्यां तक्षं तक्षशिलाह्वये ।
अभिषिच्य सुतौ तत्र धनधान्यसुहृद्वृतौ ॥ ३॥

पुनरागत्य भरतो रामसेवापरोऽभवत् ।
ततः प्रीतो रघुश्रेष्ठो लक्ष्मणं प्राह सादरम् ॥ ४॥

वे पुष्करावती में अपने पुत्र पुष्कर तथा तक्षशिला में अपने पुत्र तक्ष को अभिषिक्त कर उन्हें धन-धान्य, मित्र मण्डल आदि से सम्पन्न कर

वह घर लौट आये और भगवान श्रीरामचन्द्रजी की सेवा में तत्पर हुए ॥ ३-४ ॥

उभौ कुमारौ सौमित्रे गृहीत्वा पश्चिमां दिशम् ।
तत्र भिल्लान् विनिर्जित्य दुष्टान् सर्वापकारिणः ॥ ५॥

अङ्गदश्चित्रकेतुश्च महासत्त्वपराक्रमौ ।
द्वयोर्द्वे नगरे कृत्वा गजाश्वधनरत्नकैः ॥ ६॥

अभिषिच्य सुतौ तत्र शीघ्रमागच्छ मां पुनः ।
रामस्याज्ञां पुरस्कृत्य गजाश्वबलवाहनः ॥ ७॥

गत्वा हत्वा रिपून् सर्वान् स्थापयित्वा कुमारकौ ।
सौमित्रिः पुनरागत्य रामसेवापरोऽभवत् ॥ ८॥

तत्पश्चात् प्रसन्न होकर रघुश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी ने सादर पूर्वक लक्षण को बुलाकर कहे कि हे सौमित्र ! तुम अपने दोनों पुत्रों को साथ लेकर पश्चिम दिशा में जाओ, सबका अपकार करने वाले दुष्ट भीलों को जीतकर दोनों कुमारों के लिये नगर वसा कर उनमें महाबली और पराक्रमी अंगद तथा चित्रकेतु के हाथी, घोड़े, धन-रत्नादि सामग्रियों से राजतिलक कर पुनः शीघ ही मेरे पास लौट आओ। भगवान श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा से हाथी-घोड़े आदि दल-बल के साथ लक्ष्मणजी गये और सभी शत्रओं को मारकर दोनों राजकुमारों को राजपद पर अभिषिक्त कर लौट आये और श्रीरामचन्द्रजी की सेवा में तत्पर हो गये ॥ ५-८ ॥

ततस्तु काले महति प्रयाते रामं सदा धर्मपथे स्थितं हरिम् ।

द्रष्टुं समागादृषिविहषधारी कालस्ततो लक्ष्मणमित्युवाच ॥ ९॥

तत्पश्चात् बहुत काल व्यतीत होनेपर सर्वदा धर्मावलम्बी भगवान श्रीरामचन्द्रजी का दर्शन करने के लिये ऋषि वेष धारण कर काल आया और लक्ष्मणजी से बोला ॥९॥

निवहदयस्वातिबलस्य दूतं मां द्रष्टुकामं पुरुषोत्तमाय ।
रामाय विज्ञापनमस्ति तस्य महर्षिमुख्यस्य चिराय धीमन् ॥ १०॥

हे बुद्धिमान् ! पुरुषोत्तम महाराज राम से निवेदन करो कि आपका दर्शन करने के लिये महर्षि अतिबल का दूत है। मुझे बहुत देरतक महर्षिश्रेष्ठ का संदेश उन्हें सुनाना है ॥ १०॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सौमित्रिस्त्वरयान्वितः ।
आचचक्षेऽथ रामाय स सम्प्राप्तं तपोधनम् ॥ ११॥

उनका यह कथन सुनकर अतिशीघ्रता पूर्वक लक्ष्मणजी श्रीरामचन्द्रजी को उन तपोधन को आने की सूचना दिये ॥ ११ ॥

एवं ब्रुवन्तं प्रोवाच लक्ष्मणं राघवो वचः ।
शीघ्रं प्रवहश्यतां तात मुनिः सत्कारपूर्वकम् ॥ १२॥

महर्षि के आगमन का संदेश लक्ष्मणजी को कहने पर श्रीरघुनाथजी उनसे कहे-भाई ! शीघ्र ही अति सत्कार पूर्वक मुनिवर को अन्दर ले आओ ॥ १२ ॥

लक्ष्मणस्तु तथेत्युक्त्वा प्रावहशयत तापसम् ।

स्वतेजसा ज्वलन्तं तं घृतसिक्तं यथानलम् ॥ १३॥

'जैसी आज्ञा' यह कहकर घृत की आहुति से प्रज्वलित अग्नि के समान अपने तप से देदीप्यमान उन तपस्वी को लक्ष्मणजी भीतर ले आये ॥ १३ ॥

सोऽभिगम्य रघुश्रेष्ठं दीप्यमानः स्वतेजसा ।
मुनिर्मधुरवाक्येन वर्धस्वेत्याह राघवम् ॥ १४॥

भगवान् श्रीराम के समीप पहुँच कर अपने कान्ति से प्रकाशमान वे मुनिवर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी से अति मधुर वाणी में कहे कि "आपका अभ्युदय हो" ॥ १४ ॥

तस्मै स मुनये रामः पूजां कृत्वा यथाविधि ।
पृष्ट्वानामयमव्यग्रो रामः पृष्टोऽथ तेन सः ॥ १५॥

तदनन्तर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ने विधिवत् मुनिवर की पूजा की और शान्तभाव से उन दोनों ने आपस में कुशल-क्षेम पूछा ॥ १५॥

दिव्यासने समासीनो रामः प्रोवाच तापसम् ।
यदर्थमागतोऽसि त्वमिह तत्प्रापयस्व मे ॥ १६॥

और दिव्य आसन पर विराजमान महाराज श्रीरामचन्द्रजी ने मुनिवर से उनके पधारने का कारण पूछा ॥१६॥

वाक्येन चोदितस्तेन रामेणाह मुनिर्वचः ।
द्वन्द्वमेव प्रयोक्तव्यमनालक्ष्यं तु तद्वचः ॥ १७॥

भगवान श्रीरामचन्द्रजी के पूछने पर मुनिवर ने कहा कि यह बात अन्य किसी दूसरे से प्रकट न करते हुए हम दोनों के बीच ही कहने योग्य है ॥ १७ ॥

नान्येन चैतच्छ्रोतव्यं नाख्यातव्यं च कस्यचित् ।
शृणुयाद्वा निरीक्षेद्वा यः स वध्यस्त्वया प्रभो ॥ १८॥

इसे अन्य न कोई सुने और न अन्य किसी से यह बात कही जाय। इस कथन को कोई सुने अथवा देखे तो हे प्रभो! उसे आपको मारना होगा ॥ १८॥

तथेति च प्रतिज्ञाय रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
तिष्ठ त्वं द्वारि सौमित्रे नायात्वत्र जनो रहः ॥ १९॥

'जैसी इच्छा' यह कहकर भगवान श्रीरामचन्द्रजी ने लक्ष्मणजी से कहा कि तुम द्वार पर रहो, मैं एकांत चाहता हूँ और इस एकान्त में कोई भी मेरे पास न आने पाए ॥ १९॥

यद्यागच्छति को वापि स वध्यो मे न संशयः ।
ततः प्राह मुनिं रामो येन वा त्वं विसर्जितः ॥ २०॥

यदि यहाँ कोई आएगा तो निःसन्देह वह मेरे हाथों मारा जायगा। पुनः रामचन्द्रजी मुनिवर से कहे-आपको जिसने भेजा है और आपके मन में जो बात है, वह आप मुझसे कहिए ॥ २०॥

यत्ते मनीषितं वाक्यं तद्वदस्व ममाग्रतः ।

ततः प्राह मुनिर्वाक्यं शृणु राम यथातथम् ॥ २१॥

ब्रह्मणा प्रेषितोऽस्मीश कार्यार्थे तेऽन्तिकं प्रभो ।
अहं हि पूर्वजो देव तव पुत्रः परन्तप ॥ २२॥

तत्पश्चात् मुनिवर ने कहा-हे राम! वास्तविक बात आप सुनिये। हे ईश! हे प्रभो! ब्रह्माजी ने एक कार्य के लिये मुझे आपके पास भेजा हैं। हे देव ! हे शत्रु दमन ! मैं आपका ज्येष्ठ पुत्र हूँ॥२१-२२ ॥

मायासङ्गमजो वीर कालः सर्वहरः स्मृतः ।
ब्रह्मा त्वामाह भगवान् सर्वदेवर्षिपूजितः ॥ २३॥

रक्षितुं स्वर्गलोकस्य समयस्ते महामते ।
पुरा त्वमेक एवासीर्लोकान् संहृत्य मायया ॥ २४॥

हे वीर! माया के साथ आपका संगम होने पर मैं प्रकट हुआ था। 'काल' नाम से प्रसिद्ध मैं सबका नाश करने वाला हूँ। समस्त देवर्षियों से पूजित ब्रह्माजी ने आपके पास सन्देश भेजा है कि हे महामते ! स्वर्गलोक की रक्षा करने का अब आपका समय हो गया है। पूर्व समय में समस्त लोकों का संहार करने के पश्च्यात केवल आप ही शेष रह गये थे ॥ २३-२४ ॥

भार्यया सहितस्त्वं मामादौ पुत्रमजीजनः ।
तथा भोगवतं नागमनन्तमुदकेशयम् ॥ २५॥

और अपनी भार्या माया के साथ संयोग होने से सर्वप्रथम अपने पुत्र मुझको एवं जलशयी अनन्त नामक फणधारी शेषनाग की आपने रचना की थी ॥ २५ ॥

मायया जनयित्वा त्वं द्वौ ससत्त्वौ महाबलौ ।
मधुकैटभकौ दैत्यौ हत्वा मेदोऽस्थिसञ्चयम् ॥ २६॥

इमां पर्वतसम्बद्धां मेदिनीं पुरुषर्षभ ।
पद्मे दिव्यार्कसङ्काशे नाभ्यामुत्पाद्य मामपि ॥ २७॥

मां विधाय प्रजाध्यक्षं मयि सर्वं न्यवहदयत् ।
सोऽहं संयुक्तसम्भारस्त्वामवोचं जगत्पते ॥ २८॥

आप माया से हमें उत्पन्न कर मधु और कैटभ नामक दो महाबली और शूरवीर दैत्यों को मारा और उनके मेदा तथा अस्थियों के समूह रूप इस पर्वतादि से युक्त पृथिवी को रचा। हे पुरुषोत्तम ! आपने सूर्य के समान देदीप्यमान अपने नाभिकमल से मुझे उत्पन्न कर मुझे प्रजापति बनाया और सृष्टि का सम्पूर्ण भार मुझे सौंप दिया। हे जगत्पते ! मैंने कार्यभार ग्रहण करने के पश्च्यात आपसे कहा था ॥ २६-२८॥

रक्षां विधत्स्व भूतेभ्यो यह मे वीर्यापहारिणः ।
ततस्त्वं कश्यपाज्जातो विष्णुर्वामनरूपधृक् ॥ २९॥

जो मेरे वीर्य का नाश करने वाले हैं उनसे आप मेरी रक्षा कीजिये। तब आप विष्णु भगवान् कश्यपजी के यहाँ वामनरूप धारण कर प्रकट हुए ॥ २९॥

हृतवानसि भूभारं वधाद्रक्षोगणस्य च ।
सर्वासूत्सार्यमाणासु प्रजासु धरणीधर ॥ ३०॥

रावणस्य वधाकाङ्क्षी मर्त्यलोकमुपागतः ।
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ॥ ३१॥

कृत्वा वासस्य समयं त्रिदशेष्वात्मनः पुरा ।
स ते मनोरथः पूर्णः पूर्णे चायुषि ते नृषु ॥ ३२॥

तत्पश्चात् आपने राक्षसों का नाश कर पृथिवी के भार का हरण किया। हे धरणीधर ! इस समय आप सभी प्रजाओं को उच्छिन्न होते हुए देखकर रावण के वध की इच्छा से मर्त्यलोक में अवतरित हुए हैं। पूर्व समय में आप देवमण्डली में यहाँ रहने का समय ग्यारह सहस्र वर्ष निश्चित किये थे; वह मानव-शरीर आपकी आयु पूर्ण हो गयी और आपका मनोरथ भी पूर्ण हो गया है ॥ ३०-३२ ॥

कालस्तापसरूपेण त्वत्समीपमुपागमत् ।
ततो भूयश्च ते बुद्धिर्यदि राज्यमुपासितुम् ॥ ३३॥

तत्तथा भव भद्रं ते एवमाह पितामहः ।
यदि ते गमने बुद्धिर्देवलोकं जितेन्द्रिय ॥ ३४॥

सनाथा विष्णुना देवा भजन्तु विगतज्वराः ।
चतुर्मुखस्य तद्वाक्यं श्रुत्वा कालेन भाषितम् ॥ ३५॥

हसन् रामस्तदा वाक्यं कृत्स्नस्यान्तकमब्रवीत् ।

श्रुतं तव वचो मेऽद्य ममापीष्टतरं तु तत् ॥ ३६॥

अब तापसरूप धारण कर आपके पास काल आया है। यदि पुनः राज्य शासन की अभी आपकी इच्छा हो तो आप कुछ दिन और राज्य कीजिये, आपका मंगल हो; इस प्रकार ब्रह्माजी ने निवेदन किया है। हे जितेन्द्रिय ! आपका विचार यदि देवलोक को सनाथ करने का हो तो आप विष्णु भगवान से सनाथ होकर देवगण चिन्ता रहित हो जायें। काल के द्वारा ब्रह्माजी का सम्पूर्ण कथन सुनकर श्रीरामचन्द्रजी हँसे और सबका अन्त करनेवाले काल से बोले-तुम्हारा समस्त कथन मैंने सुन लिया ; मुझे भी यही अभिष्ट हैं ॥ ३३-३६ ॥

सन्तोषः परमो ज्ञेयस्त्वदागमनकारणात् ।
त्रयाणामपि लोकानां कार्यार्थं मम सम्भवः ॥ ३७॥

भद्रं तेऽस्त्वागमिष्यामि यत एवाहमागतः ।
मनोरथस्तु सम्प्राप्तो न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥ ३८॥

तुम्हारे आने से मुझे अति सन्तोष हुआ। तीनों लोकों का कार्य करने के लिये मेरा अवतार होता है। तुम्हारा कल्याण हो, जहाँ से मैं आया था वहीं पुन: चला जाऊंगा। मेरा सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण हो गया है। अब मुझे कुछ विचार करना अवशेष नहीं रह गया है ॥ ३७-३८ ॥

मत्सेवकानां देवानां सर्वकार्येषु वै मया ।
स्थातव्यं मायया पुत्र यथा चाह प्रजापतिः ॥ ३९॥

हे पुत्र ! देवगण मेरे सेवक हैं, प्रजापति ब्रह्माजी जैसा कहे हैं, उनके कार्यों में माया से मुझे अवश्य तत्पर रहना चाहिए ॥ ३९॥

एवं तयोः कथयतोर्दुर्वासा मुनिरभ्यगात् ।
राजद्वारं राघवस्य दर्शनापेक्षया द्रुतम् ॥ ४०॥

काल से इस प्रकार वार्तालाप करते समय ही श्रीरघुनाथजी का दर्शन करने की इच्छा से अतिशीघ्रतापूर्वक मुनिवर दुर्वासाजी राजद्वार पर पहुँचे ॥ ४० ॥

मुनिर्लक्ष्मणमासाद्य दुर्वासा वाक्यमब्रवीत् ।
शीघ्रं दर्शय रामं मे कार्यं मेऽत्यन्तमाहितम् ॥ ४१॥

दुर्वासा मुनि द्वार पर आकर लक्ष्मणजी से कहा- शीघ्र ही मुझे महाराज राम से मिलाओ, उनसे मेरा अतिआवश्यक कार्य आ गया है। ४१ ।

तच्छ्रुत्वा प्राह सौमित्रिर्मुनिं ज्वलनतेजसम् ।
रामेण कार्यं किं तेऽद्य किं तेऽभीष्टं करोम्यहम् ॥ ४२॥

उनका यह कथन सुनकर अग्नि के समान तेजस्वी मुनिवर दुर्वासाजी से लक्ष्मणजी ने कहा इस समय महाराज श्रीराम से आपको क्या काम है ? आपकी क्या इच्छा है, उसे अवश्य मैं पूर्ण करूँगा ॥ ४२ ॥

राजा कार्यान्तरे व्यग्रो मुहूर्तं सम्प्रतीक्ष्यताम् ।
तच्छ्रुत्वा क्रोधसन्तप्तो मुनिः सौमित्रिमब्रवीत् ॥ ४३॥

अस्मिन् क्षणे तु सौमित्रे न दर्शयसि चेद्विभुम् ।
रामं सविषयं वंशं भस्मीकुर्यां न संशयः ॥ ४४॥

महाराज श्रीराम इस समय एक अन्य कार्य में लगे हैं, आप कुछ देर रुकिये। लक्ष्मणजी का यह कथन सुनते ही दुर्वासाजी क्रोध से व्याकुल होकर लक्ष्मणजी से कहे कि लक्ष्मण ! इसी क्षण यदि तुमने भगवान् राम से मुझे नहीं मिलाया तो निःसन्देह देश सहित तुम्हारे वंश को अभी भस्म कर दूंगा ॥ ४३-४४॥

श्रुत्वा तद्वचनं घोरमृषेर्दुर्वाससो भृशम् ।
स्वरूपं तस्य वाक्यस्य चिन्तयित्वा स लक्ष्मणः ॥ ४५॥

सर्वनाशाद्वरं मेऽद्य नाशो ह्येकस्य कारणात् ।
निश्चित्यैवं ततो गत्वा रामाय प्राह लक्ष्मणः ॥ ४६॥

लक्ष्मणजी ने दुर्वासा ऋषि का यह भयंकर वाक्य सुना तथा उनके स्वरूप का भली-भाँति विचार कर सोचा कि एक का नाश न हो इसके लिये सबका नाश हो जाय, इससे तो मेरा ही नष्ट होना अच्छा है, यह विचार कर उन्होंने श्रीरामचन्द्रजी के पास जाकर सम्पूर्ण वृत्तान्त भगवान् श्रीराम से निवेदन किया ॥ ४५-४६॥

सौमित्रेर्वचनं श्रुत्वा रामः कालं व्यसर्जयत् ।
शीघ्रं निर्गम्य रामोऽपि ददर्शात्रेः सुतं मुनिम् ॥ ४७॥

लक्ष्मणजी का कथन सुनकर श्रीरामचन्द्रजी ने काल को विदा किये और बाहर आकर दुर्वासाजी से मिले ॥४७॥

रामोऽभिवाद्य सम्प्रीतो मुनिं पप्रच्छ सादरम् ।
किं कार्यं ते करोमीति मुनिमाह रघूत्तमः ॥ ४८॥

रघुश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी मुनिवर को प्रणाम कर प्रसन्न मन आदरपूर्वक उनसे पूछा -हे मुने ! मैं आपका कौन सा प्रिय कार्य करूँ ? ॥४८॥

तच्छ्रुत्वा रामवचनं दुर्वासा राममब्रवीत् ।
अद्य वर्षसहस्राणामुपवाससमापनम् ॥ ४९॥

श्रीरामचन्द्रजी का यह वचन सुनकर मुनिवर दुर्वासाजी ने कहा -एक हजार वर्ष का उपवास व्रत आज मेरा पूर्ण हुआ है ॥ ४९ ॥

अतो भोजनमिच्छामि सिद्धं यत्ते रघूत्तम ।
रामो मुनिवचः श्रुत्वा सन्तोषेण समन्वितः ॥ ५०॥

स सिद्धमन्नं मुनये यथावत्समुपाहरत् ।
मुनिर्भुक्त्वान्नममृतं सन्तुष्टः पुनरभ्यगात् ॥ ५१॥

अत: हे रघुश्रेष्ठ! आपके यहाँ जो भोजन तैयार हो मुझे उसकी ही इच्छा है। मुनिवर का यह कथन सुनकर श्रीरामचन्द्र जी ने सन्तुष्ट हो विधिवत् सिद्ध अन्न उन्हें भेंट किया और उस अमृततुल्य अन्न को खाकर वह तृप्त होकर चले गये ॥५०-५१॥

स्वमाश्रमं गते तस्मिन् रामः सस्मार भाषितम् ।
कालेन शोकदुःखार्तो विमनाश्चातिविह्वलः ॥ ५२॥

महर्षि दुर्वासा को अपने आश्रम पर चले जाने के अनन्तर काल के द्वारा कथित वाक्यों का भगवान् श्रीरामचन्द्रजी को स्मरण हुआ, इससे

श्रीरामचन्द्रजी शोकसन्तप्त और दुख से आर्त एवं अति उदास तथा व्याकुल हो गये ॥५२॥

अवाङ्मुखो दीनमना न शशाकाभिभाषितुम् ।
मनसा लक्ष्मणं ज्ञात्वा हतप्रायं रघूद्वहः ॥ ५३॥

रघुकुलभूषण श्रीरामचन्द्रजी मन ही मन लक्ष्मण को मरे हुए के समान मान लिया था, किन्तु दीनचित्त होकर मुख नीचा करके वह बैठे रहे और लक्ष्मण से कुछ न कह सके ॥ ५३ ॥

अवाङ्मुखो बभूवाथ तूष्णीमेवाखिलेश्वरः ।
ततो रामं विलोक्याह सौमित्रिर्दुःखसम्प्लुतम् ॥ ५४॥

तूष्णीम्भूतं चिन्तयन्तं गर्हन्तं स्नेहबन्धनम् ।
मत्कृते त्यज सन्तापं जहि मां रघुनन्दन ॥ ५५॥

सर्वेश्वर भगवान श्रीराम का नीचा मुख, चुपचाप मौन रहना, अत्यन्त दुःखातुर, चिन्तित और स्नेहबन्धन की निन्दा करते हुए लक्ष्मणजी ने कहा-हे रघुनन्दन ! मेरे लिए आप सन्ताप मत कीजिये, आप शीघ्र मुझे मार दीजिये ॥ ५४-५५॥

गतिः कालस्य कलिता पूर्वमेवहद्दशी प्रभो ।
त्वयि हीनप्रतिज्ञे तु नरको मे ध्रुवं भवहत् ॥ ५६॥

प्रभो पहले ही मैं निश्चय कर चुका हूँ, काल की गति इसी प्रकार ही है। प्रतिज्ञा भंग करने पर तो अवश्य ही मुझे भी नरक भोगना पड़ेगा ॥ ५६ ॥

मयि प्रीतिर्यदि भवहद्यद्यनुग्राह्यता तव ।
त्यक्त्वा शङ्कां जहि प्राज्ञ मा मा धर्मं त्यज प्रभो ॥ ५७॥

अत: यदि आपकी मुझ पर प्रीति हो और मैं यदि अनुग्रह करने योग्य हूँ तो हे मूर्तिमान् श्रीरामचन्द्रजी ! निःशङ्क हो आप मुझे मार दीजिये। प्रभो! आप धर्म का त्याग मत कीजिये ॥५७ ॥

सौमित्रिणोक्तं तच्छ्रुत्वा रामश्चलितमानसः ।
आहूय मन्त्रिणः सर्वान् वसिष्ठं चेदमब्रवीत् ॥ ५८॥

मुनेरागमनं यत्तु कालस्यापि हि भाषितम् ।
प्रतिज्ञामात्मनश्चैव सर्वमावहदयत्प्रभुः ॥ ५९॥

श्रीलक्ष्मणजी का यह कथन सुनकर श्रीरघुनाथजी का चित्त चञ्चल हो गया। सब मन्त्रियों को बुलाकर सम्पूर्ण वृतान्त उन्होंने वसिष्ठजी को सुनाया। प्रभु श्रीरामचन्द्रजी ने मुनिवर दुर्वासा का आगमन, काल का भाषण और अपनी प्रतिज्ञा आदि सभी बातों को वसिष्ठजी से कह दिया ॥ ५८-५९ ॥

श्रुत्वा रामस्य वचनं मन्त्रिणः सपुरोहिताः ।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे राममक्लिष्टकारिणम् ॥ ६०॥

पूर्वमेव हि निर्दिष्टं तव भूभारहारिणः ।
लक्ष्मणेन वियोगस्ते ज्ञातो विज्ञानचक्षुषा ॥ ६१॥

भगवान श्रीरामचन्द्रजी का यह कथन सुनकर पुरोहित वसिष्ठजी सहित सभी मन्त्रिगण अनायास ही सब कार्य करने वाले भगवान् श्रीरामचन्द्रजी से हाथ जोड़कर कहने लगे प्रभो ! पृथ्वी का भार हरण करने वाले आपका लक्ष्मणजी से पहले वियोग होना निश्चित है; यह ज्ञान दृष्टि से हम जान लिये हैं ॥ ६०-६१ ॥

त्यजाशु लक्ष्मणं राम मा प्रतिज्ञां त्यज प्रभो ।
प्रतिज्ञाते परित्यक्ते धर्मो भवति निष्फलः ॥ ६२॥

अत: हे राम! शीघ्र ही आप लक्ष्मणजी को त्याग दीजिये। प्रभो! आप अपनी प्रतिज्ञा भंग न करें, क्योंकि प्रतिज्ञा-भंग करने पर सारा धर्म निष्फल हो जाता है ॥ ६२ ॥

धर्मे नष्टेऽखिले राम त्रैलोक्यं नश्यति ध्रुवम् ।
त्वं तु सर्वस्य लोकस्य पालकोऽसि रघूत्तम ॥ ६३॥

हे राम ! सम्पूर्ण धर्म का नाश हो जानेपर निश्चय ही त्रिलोकी का नाश हो जाता है। हे रघुश्रेष्ठ ! आप सम्पूर्ण लोकों के रक्षक हैं ॥ ६३ ॥

त्यक्त्वा लक्ष्मणमेवैकं त्रैलोक्यं त्रातुमर्हसि ।
रामो धर्मार्थसहितं वाक्यं तेषामनिन्दितम् ॥ ६४॥

सभामध्ये समाश्रुत्य प्राह सौमित्रिमञ्जसा ।
यथेष्टं गच्छ सौमित्रे मा भूद्धर्मस्य संशयः ॥ ६५॥

अत: केवल लक्ष्मणजी को त्यागकर त्रिलोकी का आपको रक्षा करनी चाहिये । सभा में उन लोगों द्वारा धर्मार्थयुक्त और निर्दोष वचन

सुनकर श्रीरामचन्द्रजी शीघ्र ही लक्ष्मणजी से कहे-लक्ष्मण! जहाँ इच्छा हो वहाँ तुम चले जाओ, जिससे धर्म में संशय उपस्थित न हो सके ॥ ६४-६५ ॥

परित्यागो वधो वापि सतामेवोभयं समम् ।
एवमुक्ते रघुश्रेष्ठे दुःखव्याकुलितेक्षणः ॥ ६६॥

रामं प्रणम्य सौमित्रिः शीघ्रं गृहमगात्स्वकम् ।
ततोऽगात्सरयूतीरमाचम्य स कृताञ्जलिः ॥ ६७॥

सत्पुरुषों के लिये त्याग और वध दोनों ही समान हैं। रघुश्रेष्ठ भगवान् श्रीरामजी का यह कथन सनकर लक्ष्मणजी की आँखें दुःखाश्र से डबडबा गयीं और वे शीघ्र ही उन्हें प्रणाम कर अपने घर आये। वहाँ से वे सरयू नदी के तट पर आये और आचमन कर वे हाथ जोड़कर ॥ ६५-६६॥

नव द्वाराणि संयम्य मूर्ध्नि प्राणमधारयत् ।
यदक्षरं परं ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम् ॥ ६८॥

पदं तत्परमं धाम चेतसा सोऽभ्यचिन्तयत् ।
वायुरोधेन संयुक्तं सर्वे देवाः सहर्षयः ॥ ६९॥

साग्नयो लक्ष्मणं पुष्पैस्तुष्टुवुश्च समाकिरन् ।
अदृश्यं विबुधैः कैश्चित्सशरीरं च वासवः ॥ ७०॥

गृहीत्वा लक्ष्मणं शक्रः स्वर्गलोकमथागमत् ।
ततो विष्णोश्चतुर्भागं तं देवं सुरसत्तमाः ।
सर्वे देवर्षयो दृष्ट्वा लक्ष्मणं समपूजयन् ॥ ७१॥

अपने नव-इन्द्रिय गोलकों और प्राण को ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर किया और वासुदेव नामक अव्यय और अविनाशी परब्रह्मपद का चित्त में ध्यान किया। इस प्रकार प्राण निरोध करने पर ऋषिवर्ग और अग्नि सहित सभी देवगणों ने लक्ष्मणजी पर पुष्पों की वर्षा की और उनकी स्तुति की। इसी समय देवराज इन्द्र सभी देवताओं से अदृश्य होकर लक्ष्मणजी को सशरीर लेकर स्वर्गलोक में चले आये। तदनन्तर विष्णु भगवान् के चतुर्थांश रूप लक्ष्मणदेवजी को देखकर सभी देवगण और महर्षि जनों ने उनका पूजन किया ॥ ६६-७१ ॥

लक्ष्मणे हि दिवमागते हरौ सिद्धलोकगतयोगिनस्तदा ।
ब्रह्मणा सह समागमन्मुदा द्रष्टुमाहितमहाहिरूपकम् ॥ ७२॥

भगवान् लक्ष्मणजी के स्वर्ग पधारने पर ब्रह्माजी सहित सिद्धलोक निवासी सभी योगिजन अति प्रसन्न होकर महासर्प शेषजी रूपधारी श्रीलक्ष्मणजी का दर्शन करने के लिये आये ॥ ७२ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे उत्तरकाण्डे अष्टमः सर्गः ॥ ८॥

॥ नवम सर्गः ॥

महाप्रयाण

श्री महादेव उवाच ।

लक्ष्मणं तु परित्यज्य रामो दुःखसमन्वितः ।
मन्त्रिणो नैगमांश्चैव वसिष्ठं चेदमब्रवीत् ॥ १॥

अभिषेक्ष्यामि भरतमधिराज्ये महामतिम् ।
अद्य चाहं गमिष्यामि लक्ष्मणस्य पदानुगः ॥ २॥

श्रीमहादेवजी बोले-लक्ष्मणजी को त्यागने के अनन्तर अति दुःखी हो श्रीरघुनाथजी ने मन्त्रियों, वेदविदों और वसिष्ठजी से कहा कि आज महामति भरतजी को राजतिलक करके मैं भी लक्ष्मणजी के मार्ग का अनुसरण करूंगा॥१-२॥

एवमुक्ते रघुश्रेष्ठे पौरजानपदास्तदा ।
द्रुमा इवच्छिन्नमूला दुःखार्ताः पतिता भुवि ॥ ३॥

श्रीरघुनाथजी का यह कथन सुनकर पुरवासी तथा देशवासी सभी लोग दुःखातुर हो जड़ से कटे हुए वृक्ष की भाँति पृथिवी पर गिर पड़े ॥ ३॥

मूर्च्छितो भरतो वापि श्रुत्वा रामाभिभाषितम् ।
गर्हयामास राज्यं स प्राहेदं रामसन्निधौ ॥ ४॥

सत्येन च शपे नाहं त्वां विना दिवि वा भुवि ।
काङ्क्षे राज्यं रघुश्रेष्ठ शपे त्वत्पादयोः प्रभो ॥ ५॥

श्रीरघुनाथजी का कथन सुनकर भरतजी भी मूर्छित हो गये। और वह श्रीरघुनाथजी के समीप राज्य की निन्दा करते हुए कहने लगे कि हे रघुश्रेष्ठ! मैं सत्य की शपथ कर कहता हूँ कि हे प्रभो! आपके चरणों की मुझे सौगन्ध है, आपके विना मैं स्वर्गलोक अथवा भूर्लोक कहीं भी राज्य की इच्छा नहीं करता ॥४-५॥

इमौ कुशलवौ राजन्नभिषिञ्चस्व राघव ।
कोसलेषु कुशं वीरमुत्तरेषु लवं तथा ॥ ६॥

हे महाराज राम ! आप कुश और लव को ही राजतिलक कीजिये। अवध में वीरवर कुश को तथा उत्तर में लव को राजा बनाइये ॥६॥

गच्छन्तु दूतास्त्वरितं शत्रुघ्नानयनाय हि ।
अस्माकमेतद्गमनं स्वर्वासाय शृणोतु सः ॥ ७॥

शत्रुघ्न को शीघ्र बुलाने के लिए दूत भेजा जाने चाहिये; जिससे वह भी हमारे स्वर्गलोक जाने का वृत्तान्त सुन सके ॥७॥

भरतेनोदितं श्रुत्वा पतितास्ताः समीक्ष्य तम् ।
प्रजाश्च भयसंविग्ना रामविश्लेषकातराः ॥ ८॥

उनका यह कथन सुनकर भरतजी की ओर देखकर सारी प्रजा भयभीत हुई तथा श्रीरामचन्द्रजी के वियोग से व्याकुल होकर पृथिवी पर गिर पड़ी॥८॥

वसिष्ठो भगवान् राममुवाच सदयं वचः ।
पश्य तातादरात्सर्वाः पतिता भूतले प्रजाः ॥ ९॥

तदनन्तर भगवान् वसिष्ठजी ने श्रीरघुनाथजी से कल्याण युक्त वाक्य कहा -हे तात! सारी प्रजा पृथिवी पर पड़ी हुई है। उसे आप कृपा दृष्टि से देखिये ॥ ९॥

तासां भावानुगं राम प्रसादं कर्तुमर्हसि ।
श्रुत्वा वसिष्ठवचनं ताः समुत्थाप्य पूज्य च ॥ १०॥

सस्नेहो रघुनाथस्ताः किं करोमीति चाब्रवीत् ।
ततः प्राञ्जलयः प्रोचुः प्रजा भक्त्या रघूद्वहम् ॥ ११॥

हे राम ! इनके प्रेम-भाव के अनुसार आपको भी इन पर कृपा करनी चाहिये। वसिष्ठजी का यह कथन सुनकर श्रीरामचन्द्रजी ने सबको उठाया और सत्कार कर उनसे प्रेमपूर्वक पूछा -आपलोग बताइये, मैं आपके लिये क्या करूँ ? तब प्रजागण हाथ जोड़ कर श्रीरघुनाथजी से भक्तिपूर्वक कहने लगे ॥१०-११॥

गन्तुमिच्छसि यत्र त्वमनुगच्छामहे वयम् ।
अस्माकमेषा परमा प्रीतिर्धर्मोऽयमक्षयः ॥ १२॥

आप जहाँ जाना चाहते हैं हमलोग भी आपका अनुगमन करेंगे। हमलोगों की सबसे बड़ी प्रसन्नता और अक्षय्य धर्म यही है ॥ १२॥

तवानुगमने राम हृद्गता नो दृढा मतिः ।
पुत्रदारादिभिः सार्धमनुयामोऽद्य सर्वथा ॥ १३॥

तपोवनं वा स्वर्गं वा पुरं वा रघुनन्दन ।
ज्ञात्वा तेषां मनोदार्ढ्यं कालस्य वचनं तथा ॥ १४॥

हे राम! आपका अनुगमन करने का हमारे हृदय में दृढ़ इच्छा है। अत-एव हे रघुनन्दन ! आप तपोवन, नगर, स्वर्ग आदि कहीं भी जाय, अब हम स्त्री पुत्रादि, सहित सर्वथा आपका अनुगमन करेंगे। उनके मन की दृढ़ता और काल का वचन समझ कर ॥ १३-१४॥

भक्तं पौरजनं चैव बाढमित्याह राघवः ।
कृत्वैव निश्चयं रामस्तस्मिन्नेवाहनि प्रभुः ॥ १५॥

प्रस्थापयामास च तौ रामभद्रः कुशीलवौ ।
अष्टौ रथसहस्राणि सहस्रं चैव दन्तिनाम् ॥ १६॥

षष्टिं चाश्वसहस्राणामेकैकस्मै ददौ बलम् ।
बहुरत्नौ बहुधनौ हृष्टपुष्टजनावृतौ ॥ १७॥

श्रीरघुनाथजी ने बहुत अच्छा यह कहा और यह निश्चय कर श्रीरामचन्द्रजी उसी दिन कुश और लव प्रत्येक को आठ हजार रथ, एक हजार हाथी, साठ हजार घोड़े तथा बहुत से रत्न, धन और हृष्ट-

पुष्ट बलिष्ठ मनुष्यों को साथ देकर अपने अपने राज्य पर भेज दिये ॥ १५-१७ ॥

अभिवाद्य गतौ रामं कृच्छ्रेण तु कुशीलवौ ।
शत्रुघ्नानयने दूतान् प्रेषयामास राघवः ॥ १८॥

कुश और लव श्रीरामचन्द्रजी को प्रणाम कर बड़ी कठिनाई से अपने-अपने राज्य की ओर चले। इसी समय श्रीरघुनाथजी ने शत्रुघ्न को बुलाने के लिये दूत भेजा ॥ १८॥

ते दूतास्त्वरितं गत्वा शत्रुघ्नाय न्यवहदयन् ।
कालस्यागमनं पश्चादत्रिपुत्रस्य चेष्टितम् ॥ १९॥

लक्ष्मणस्य च निर्याणं प्रतिज्ञां राघवस्य च ।
पुत्राभिषेचनं चैव सर्वं रामचिकीर्षितम् ॥ २०॥

दूतगण शीघ्र ही जाकर काल का आगमन, दुर्वासाजी का इतिवृत्त, लक्ष्मणजी का महाप्रयाण, श्रीरघुनाथजी की प्रतिज्ञा, पुत्रों का राज्याभिषेक और श्रीरघुनाथजी का अग्रिम कृत्य सब कुछ शत्रुघ्नजी से कह दिया ॥ १९-२० ॥

श्रुत्वा तद्दूतवचनं श्त्रुघ्नः कुलनाशनम् ।
व्यथितोऽपि धृतिं लब्ध्वा पुत्रावाहूय सत्वरः ।
अभिषिच्य सुबाहुं वै मथुरायां महाबलः ॥ २१॥

यूपकेतुं च विदिशानगरे शत्रुसूदनः ।
अयोध्यां त्वरितं प्रागात्स्वयं रामदिदृक्षया ॥ २२॥

दूतों के मुख से इस प्रकार अपने कुल के नाश का समाचार सुनकर शत्रुघ्नजी अति व्याकुल हुए, परन्तु धैर्य धारण कर शीघ्र अपने दोनों पुत्रों को बुलाकर महाबली सुबाहु को मथुरा और यूपकेतु को विदिशा नगरी के राज्य पर अभिषिक्त कर स्वयं बड़ी शीघ्रता से श्रीरघुनाथजी के दर्शन के लिये अयोध्या को चल दिए ॥२१-२२॥

ददर्श च महात्मानं तेजसा ज्वलनप्रभम् ।
दुकूलयुगसंवीतं ऋषिभिश्चाक्षयैर्वृतम् ॥ २३॥

वहाँ पहुँच कर उन्होंने अग्नि के समान तेजस्वी महात्मा राम को दो वस्त्र धारण किये और चिरंजीवी महर्षियों से घिरे हुए देखा ॥२३॥

अभिवाद्य रमानाथं शत्रुघ्नो रघुपुङ्गवम् ।
प्राञ्जलिर्धर्मसहितं वाक्यं प्राह महामतिः ॥ २४॥

महामति शत्रुघ्नजी ने लक्ष्मीपति श्रीरघुनाथजी को प्रणाम किया और पुनः हाथ जोड़कर धर्मयुक्त वाक्य बोले ॥ २४॥

अभिषिच्य सुतौ तत्र राज्ये राजीवलोचन ।
तवानुगमने राजन् विद्धि मां कृतनिश्चयम् ॥ २५॥

हे कमलनयन ! मै अपने राज्य पर दोनों पुत्रों का अभिषेक करके आया हूँ। हे राजन् ! आप यह समझे कि मैंने भी आपका अनुगमन करने का दृढ़ निश्चय किया है ॥ २५ ॥

त्यक्तुं नार्हसि मां वीर भक्तं तव विशेषतः ।

शत्रुघ्नस्य दृढां बुद्धिं विज्ञाय रघुनन्दनः ॥ २६॥

सज्जीभवतु मध्याह्ने भवानित्यब्रवीद्वचः ।
अथ क्षणात्समुत्पेतुर्वानराः कामरूपिणः ॥ २७॥

ऋक्षाश्च राक्षसाश्चैव गोपुच्छाश्च सहस्रशः ।
ऋषीणां देवतानां च पुत्रा रामस्य निर्गमम् ॥ २८॥

श्रुत्वा प्रोचू रघुश्रेष्ठं सर्वे वानरराक्षसाः ।
तवानुगमने विद्धि निश्चितार्थान् हि नः प्रभो ॥ २९॥

हे वीर ! मैं आपका भक्त हूँ। अतः आपको मुझे छोड़ना नहीं चाहिये। शत्रुघ्न का दृढ़ निश्चय समझ कर श्रीरघुनाथजी ने कहा कि आज दोपहर को तुम तैयार रहो। इसी समय इच्छा के अनुसार रूपधारण करने वाले वानर, रीछ, राक्षस और गोपुच्छ वानर गण सहस्रों की संख्या में आ गये तथा ऋषि और देवताओं के पुत्र रूप वह सभी वानर तथा राक्षस गण श्रीरघुनाथजी का महाप्रयाण सुनकर उनसे कहने लगे कि हे प्रभो। हमलोगों को भी अपने पीछे चलने के लिये दृढ़ प्रतिज्ञ समझें ॥ २६-२९ ॥

एतस्मिन्नन्तरे रामं सुग्रीवोऽपि महाबलः ।
यथावदभिवाद्याह राघवं भक्तवत्सलम् ॥ ३०॥

अभिषिच्याङ्गदं राज्ये आगतोऽस्मि महाबलम् ।
तवानुगमने राम विद्धि मां कृतनिश्चयम् ॥ ३१॥

उसी समय महाबली सुग्रीव भक्त वत्सल श्री राम को प्रणाम करता हुआ बोला हे राम मैं इसी समय महाबली अंगद का राज तिलक कर आपके साथ चलने का दृढ़ संकल्प करके आया हूँ, ऐसा आप समझें ॥ ३०-३१॥

श्रुत्वा तेषां दृढं वाक्यं ऋक्षवानररक्षसाम् ।
विभीषणमुवाचेदं वचनं मृदु सादरम् ॥ ३२॥

धरिष्यति धरा यावत्प्रजास्तावत्प्रशाधि मे ।
वचनाद्राक्षसं राज्यं शापितोऽसि ममोपरि ॥ ३३॥

उन सब रीछ , वानर, राक्षस आदि का दृढ़ निश्चय वाक्य सुनकर श्रीरघुनाथजी आदरपूर्वक विभीषण से कहे कि मैं अपनी शपथ पूर्वक तुमसे कहता हूँ कि जब तक पृथ्वी प्रजा धारण करे तब तक तुम राक्षसों का राज्य करो॥३२-३३ ॥

न किञ्चिदुत्तरं वाच्यं त्वया मत्कृतकारणात् ।
एवं विभीषणं तूक्त्वा हनूमन्तमथाब्रवीत् ॥ ३४॥

मारुते त्वं चिरञ्जीव ममाज्ञां मा मृषा कृथाः ।
जाम्बवन्तमथ प्राह तिष्ठ त्वं द्वापरान्तरे । ३५॥

मेरी की हुई इस व्यवस्था में तुम कुछ उत्तर नहीं दोगे। इस प्रकार विभीषण से कहकर पुनः वह हनुमानजी से बोले-हे मारुते ! तुम दीर्घजीवि रहो, पूर्व कथित मेरी आज्ञा को मिथ्या मत करो। पुनः वह जाम्बवान् से बोले-तुम द्वापर के अन्त तक जीवित रहो ॥ ३४-३५॥

मया सार्धं भवहद्‌युद्धं यत्किञ्चित्कारणान्तरे ।
ततस्तान् राघवः प्राह ऋक्षराक्षसवानरान् ।
सर्वानेव मया सार्धं प्रयातेति दयान्वितः ॥ ३६॥

किसी कारण वश मेरे साथ तुम्हारा युद्ध होगा। तत्पश्चात् श्रीरघुनाथजी ने दया पूर्वक सभी रीछ, वानर और राक्षसों से कहा -तुम लोग मेरे साथ चलो ॥ ३६ ॥

ततः प्रभाते रघुवंशनाथो विशालवक्षाः सितकञ्जनेत्रः ।
पुरोधसं प्राह वसिष्ठमार्यं यान्त्वग्निहोत्राणि पुरो गुरो मे । ३७॥

दूसरे दिन प्रातः काल विशाल हृदय कमलनयन भगवान् श्रीरघुनाथजी ने अपने पूज्य पुरोहित वशिष्ठजी से कहा-हे गुरो! अग्निहोत्र की आहवनीय अग्नियाँ मेरे साथ चलें ॥ ३७॥

ततो वसिष्ठोऽपि चकार सर्वं प्रास्थानिकं कर्म महद्विधानात् ।
क्षौमाम्बरो दर्भपवित्रपाणिः महाप्रयाणाय गृहीतबुद्धिः ॥ ३८॥

निष्क्रम्य रामो नगरात्सिताभ्राच्छशीव यातः शशिकोटिकान्तिः ।
रामस्य सव्ये सितपद्महस्ता पद्मा गता पद्मविशालनेत्रा ॥ ३९॥

तत्पश्चात् वशिष्ठजी ने भी विधि पूर्वक सभी प्रास्थानिक कर्म किये। उस समय कोटिचन्द्र की कान्ति वाले भगवान श्रीराम ने धारण किए तथा रेशमीवस्त्र पहने आयर हाथ में कुशा की पवित्री धारण किये महाप्रयाण में दत्त चित्त बादलों से चन्द्रमा के निकलने की भाँति नगर से प्रस्थान किया। उनके बायीं ओर कमल के समान विशाल नेत्र वाली लक्ष्मीजी हाथ में श्वेत कमल धारण किये चलीं ॥ ३८-३९ ॥

पार्श्वेऽथ दक्षेऽरुणकञ्जहस्ता श्यामा ययौ भूरपि दीप्यमाना ।
शास्त्राणि शस्त्राणि धनुश्च बाणा जग्मुः पुरस्ताद्धृतविग्रहास्ते ॥४०॥

उनके दायीं ओर अति दीप्यमाना श्यामवर्णा भूदेवी हाथ में लाल कमल लिये चलीं। भगवान के आगे आगे सम्पूर्ण शास्त्र, शस्त्र और उनके धनुष-बाण मूर्तमान् होकर चले ॥ ४० ॥

वहदाश्च सर्वे धृतविग्रहाश्च ययुश्च सर्वे मुनयश्च दिव्याः ।
माता श्रुतीनां प्रणवहन साध्वी ययौ हरिं व्याहृतिभिः समेता ॥४१॥

इसी प्रकार शरीर धारण कर समस्त वेद, सभी दिव्य मुनिजन, ओंकार और व्यहृतियों सहित वेद माता गायत्री देवी सभी भगवान् श्रीहरि के साथ चले ॥४१॥

गच्छन्तमेवानुगता जनास्ते सपुत्रदाराः सह बन्धुवर्गैः ।
अनावृतद्वारमिवापवर्गं रामं व्रजन्तं ययुराप्तकामाः ।
४२॥

गच्छन्तमालोक्य रमासमेतं श्रीराघवं पौरजनाः समस्ताः ।
सबालवृद्धाश्च ययुर्द्विजाग्र्याः सामात्यवर्गाश्च समन्त्रिणो ययुः ॥४३॥

रमा सहित श्रीरघुनाथजी को जाते देखकर बालक एवं वृद्ध जनों सहित सभी पुरजन, अमात्य, तथा मन्त्रियों सहित सभी ब्राह्मणगण चले ॥४२- ४३ ॥

सर्वे गताः क्षत्रमुखाः प्रहृष्टा वैश्याश्च शूद्राश्च तथा परे च ।

सुग्रीवमुख्या हरिपुङ्गवाश्च स्नाता विशुद्धाः शुभशब्दयुक्ताः ॥४४॥

न कश्चिदासीद्भवदुःखयुक्तो दीनोऽथवा बाह्यसुखेषु सक्तः ।
आनन्दरूपानुगता विरक्ता ययुश्च रामं पशुभृत्यवर्गैः ॥ ४५॥

उनके पीछे प्रमुख क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्य अन्त्यजादि जन अति हर्षित हो चले। कोई भी भव दुःख से दुःखी, दीन अथवा बाह्य विषयों की आसक्ति में आसक्त नहीं था। वे सभी प्राणी परमानन्द स्वरूप भगवान श्रीरामचन्द्रजी के अनुगामी संसार से विरत होकर अपने पशु, भृत्य आदि सहित श्रीरघुनाथजी के साथ चले गये ॥ ४४-४५ ॥

भूतान्यदृश्यानि च यानि तत्र यह प्राणिनः स्थावरजङ्गमाश्च ।
साक्षात्परात्मानमनन्तशक्तिं जग्मुर्विमुक्ताः परमेकमीशम् ॥४६॥

जो अदृश्य रहने वाले प्राणी हैं वे और सभी स्थावर तथा जङ्गम जीव संसार से विरक्त होकर एकमात्र परमेश्वर अनन्त शक्ति सम्पन्न साक्षात् परमात्मा श्रीरामचन्द्रजी के साथ चले ॥ ४६॥

नासीदयोध्यानगरे तु जन्तुः कश्चित्तदा राममना न यातः ।
शून्यं बभूवाखिलमेव तत्र पुरं गते राजनि रामचन्द्रे ॥ ४७॥

अयोध्या में कोई ऐसा जीव उस समय शेष नहीं रह गया था जो भगवान् श्रीरामचन्द्रजी में मन लगाकर उनका अनुगमन न करने वाला हो । भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के प्रस्थान करते ही सारा नगर शून्य हो गया ॥४७॥

ततोऽतिदूरं नगरात्स गत्वा दृष्ट्वा नदीं तां हरिनेत्रजाताम् ।

ननन्द रामः स्मृतपावनोऽतो ददर्श चाशेषमिदं हृदिस्थम् ॥ ४८॥

रघुनाथजी नगर से बाहर अति दूर निकलने पर विष्णु भगवान् के नेत्र से प्रकट हुई सरयू नदी को देखे। उसे देखकर स्मरण मात्र से पवित्र करने वाले श्रीरामचन्द्रजी प्रसन्न हुए और इस सम्पूर्ण जगत को अपने हृदय में देखने लगे ॥४८॥

अथागतस्तत्र पितामहो महान् देवाश्च सर्वे ऋषयश्च सिद्धाः ।
विमानकोटीभिरपारपारं समावृतं खं सुरसेविताभिः ॥ ४९॥

रविप्रकाशाभिरभिस्फुरत्स्वं ज्योतिर्मयं तत्र नभो बभूव ।
स्वयम्प्रकाशैर्महतां महद्भिः समावृतं पुण्यकृतां वरिष्ठैः ॥ ५०॥

इसी समय पितामह ब्रह्माजी, अन्य समस्त देवगण, ऋषि और सिद्धगण वहाँ आ गये। उस समय सूर्य के समान देदीप्यमान करोड़ों विमानों से अनन्तपार आकाश पूर्णतः भर गया, जिस पर देवगण विराजमान थे। उनके प्रकाश से वह और भी प्रज्वलित होकर चमकने लगा। पुण्यवानों एवं महात्माओं में श्रेष्ठ स्वयं प्रकाशमान दिव्य पुरुषों से भी आकाश आवृत्त हो गया ॥ ४९-५० ॥

ववुश्च वाताश्च सुगन्धवन्तो ववर्ष वृष्टिः कुसुमावलीनाम् ।
उपस्थिते देवमृदङ्गनादे गायत्सु विद्याधरकिन्नरेषु ॥ ५१॥

उस समय सुगन्धित वायु चलने लगा और फूल के समूहों की अनवरत वर्षा होने लगी। तत्पश्चात् देवताओं का मृदङ्ग शब्द और विद्याधरों तथा किन्नरों द्वारा संगीत गान होते समय ॥५१॥

रामस्तु पद्भ्यां सरयूजलं सकृत् स्पृष्ट्वा परिक्रामदनन्तशक्तिः ।
ब्रह्मा तदा प्राह कृताञ्जलिस्तं रामं परात्मन् परमेश्वरस्त्वम् ॥ ५२॥

अनन्त शक्तिमान् भगवान् श्रीराम एक बार सरयू जल का स्पर्श कर चरणों से उसकी परिक्रमा किये। उसी समय हाथ जोड़कर ब्रह्माजी भगवान् श्रीरामचन्द्रजी से कहने लगे-हे परमात्मन् । आप सबके स्वामी, नित्यानन्द मय, सर्वत्र परिपूर्ण ॥५२॥

विष्णुः सदानन्दमयोऽसि पूर्णो जानासि तत्त्वं निजमैशमेकम् ।
तथापि दासस्य ममाखिलेश कृतं वचो भक्तपरोऽसि विद्वन् ॥ ५३॥

और साक्षात् विष्णु भगवान् हैं। अपने ईश्वरीय तत्व को एकमात्र आप ही जानते हैं। हे अखिलेश्वर ! इस पर भी आप मुझ सेवक का निवेदन पूरा कर दिये क्योंकि हे विद्वन् ! आप भक्त वत्सल हैं ॥५३॥

त्वं भ्रातृभिर्वैष्णवमेवमाद्यं प्रविश्य देहं परिपाहि देवान् ।
यद्वा परो वा यदि रोचते तं प्रविश्य देहं परिपाहि नस्त्वम् ॥ ५४॥

हे प्रभो! आप अपने भाइयों सहित अपने आदि विष्णु शरीर में प्रविष्ट होकर देवताओं की रक्षा कीजिये। यदि आपको अन्य कोई शरीर अभीष्ट हो तो उसमें प्रविष्ट होकर हम सबकी रक्षा कीजिये ॥५४॥

त्वमेव देवाधिपतिश्च विष्णुः जानन्ति न त्वां पुरुषा विना माम् ।
सहस्रकृत्वस्तु नमो नमस्ते प्रसीद देवहश पुनर्नमस्ते ॥ ५५॥

आप ही देवताओं के स्वामी भगवान् विष्णु हैं। मेरे अतिरिक्त अन्य कोई पुरुष इस विषय को नहीं जानता । हे देवेश ! हजारों बार

आपको नमस्कार है। आप प्रसन्न हों, आपको बारम्बार नमस्कार है ॥ ५५ ॥

पितामहप्रार्थनया स रामः पश्यत्सु देवहषु महाप्रकाशः ।
मुष्णंश्च चक्षूंषि दिवौकसां तदा बभूव चक्रादियुतश्चतुर्भुजः ॥ ५६॥

तदनन्तर पितामह ब्रह्माजी की प्रार्थना से महातेजस्वी भगवान् श्रीराम सभी देवताओं के देखते-देखते ही उनकी दृष्टि से अदृश्य होकर अपने चक्रादि आयुधों से युक्त होकर चतुर्भुज रूप हो गये ॥ ५६ ॥

शेषो बभूवहश्वरतल्पभूतः सौमित्रिरत्यद्भुतभोगधारी ।
बभूवतुश्चक्रदरौ च दिव्यौ कैकेयिसूनुर्लवणान्तकश्च ॥ ५७॥

सीता च लक्ष्मीरभवत्पुरेव रामो हि विष्णुः पुरुषः पुराणः ।
सहानुजः पूर्वशरीरकेण बभूव तेजोमयदिव्यमूर्तिः ॥ ५८॥

श्रीलक्ष्मणजी अद्भुत फण धारण कर भगवान् की शय्या शेषनाग के रूप में हो गये और कैकेयीनन्दन भरत तथा लवणान्तक शत्रुभन दिव्य चक्र और शंख के रूप में हो गये। सीताजी पहले ही लक्ष्मी रूपा हो गयी थीं। भगवान श्रीरामचन्द्रजी विष्णु भगवान ही हैं। वे अपने भाइयों सहित अपने पूर्व शरीर से तेजोमय दिव्यशरीर सम्पन्न हो गये ॥ ५७-५८ ॥

विष्णुं समासाद्य सुरेन्द्रमुख्या देवाश्च सिद्धा मुनयश्च दक्षाः ।
पितामहाद्याः परितः परेशं स्तवैर्गृणन्तः परिपूजयन्तः ॥ ५९॥

आनन्दसम्प्लावितपूर्णचित्ता बभूविरे प्राप्तमनोरथास्ते ।

तदाह विष्णुर्द्रुहिणं महात्मा एते हि भक्ता मयि चानुरक्ताः ॥६०॥

और सुरेन्द्रादि देवगण, सिद्ध, मुनि, यक्ष तथा ब्रह्मा आदि प्रजापति गण उन विष्णु भगवान के समीप आकर परमेश्वर की स्तोत्रों से स्तुति करते हुए पजन करने लगे और अपना अभिलषित मनोरथ पूर्ण हो जाने से मन ही मन आनन्दमग्न हो गये। तब महात्मा विष्णु ने भगवान् ब्रह्माजी से कहा- यह सभी मुझमें प्रीति रखने वाले मेरे भक्त हैं ॥ ५९-६० ॥

यान्तं दिवं मामनुयान्ति सर्वे तिर्यक्षरीरा अपि पुण्ययुक्ताः ।
वैकुण्ठसाम्यं परमं प्रयान्तु समाविशस्वाशु ममाज्ञया त्वम् ॥६१॥

यह सब मेरे साथ स्वर्गलोक जाना चाहते हैं। इसमें तिर्यक् शरीर धारण करने वाले भी अति पुण्यात्मा हैं। यह सब वैकुण्ठ के समान परमपद को प्राप्त करें, तुम मेरी आज्ञा से इन्हें शीघ्र वहाँ प्रवेश करा दो ॥ ६१॥

श्रुत्वा हरेर्वाक्यमथाब्रवीत्कः सान्तानिकान् यान्तु विचित्रभोगान् ।
लोकान्मदीयोपरि दीप्यमानान् त्वद्भावयुक्ताः कृतपुण्यपुञ्जाः ॥६२॥

भगवान् श्री हरि का यह कथन सुनकर ब्रह्माजी बोले-भगवन् ! आपकी भक्ति सम्पन्न अति पुण्य पुञ्जशाली ये लोग मेरे लोक से भी ऊपर अत्यन्त दीप्तिशाली विचित्र भोग सम्पन्न सान्तानिक नामक लोकों को प्राप्त करें ॥६२॥

यह चापि ते राम पवित्रनाम गृणन्ति मर्त्या लयकाल एव ।
अज्ञानतो वापि भजन्तु लोकान् तानेव योगैरपि चाधिगम्यान् ॥६३॥

हे राम! अन्य भी जो लोग मरण काल में आपका पवित्र नाम लेंगे अथवा अज्ञान में ही आपका भजन करेंगे, वह भी योगियों को प्राप्त होने वाले उन्हीं उत्तम लोकों को प्राप्त करेंगे ॥ ६३॥

ततोऽतिहृष्टा हरिराक्षसाद्याः स्पृष्ट्वा जलं त्यक्तकलेवरास्ते ।
प्रपेदिरे प्राक्तनमेव रूपं यदंशजा ऋक्षहरीश्वरास्ते ॥ ६४॥

यह कथन सुनकर सभी वानर तथा राक्षसादि अति प्रसन्न होकर जल स्पर्श कर शरीर का परित्याग करने लगे। वह सभी रीछ, वानर आदि जिस-जिस देवता के अंश से उत्पन्न थे, उन्होंने उस देवता के पूर्वरूप को प्राप्त किया ॥ ६४॥

प्रभाकरं प्राप हरिप्रवीरः सुग्रीव आदित्यजवीर्यवत्त्वात् ।
ततो विमग्नाः सरयूजलेषु नराः परित्यज्य मनुष्यदेहम् ॥ ६५॥

आरुह्य दिव्याभरणा विमानं प्रापुश्च ते सान्तनिकाख्यलोकान् ।
तिर्यक्प्रजाता अपि रामदृष्टा जलं प्रविष्टा दिवमेव याताः ॥ ६६॥

सूर्य के अंश से उत्पन्न वानरराज सुग्रीव सूर्य के अंश में लीन हो गये। तदनन्तर अयोध्या निवासीजनों ने सरयू जल में अपने मनुष्य देह का त्याग कर दिव्य आभूषणों से विभूषित हो विमानों पर आरुढ़ हो सान्तानिक नामक उत्तम लोक को प्राप्त किये। तिर्यक् योनि समुत्पन्न भी भगवान् श्रीरामचन्द्रजी की कृपा दृष्टि पड़ते ही सरयूजल में शरीरत्यागकर स्वर्गलोक को चले गये ॥ ६५-६६ ॥

दिदृक्षवो जानपदाश्च लोका रामं समालोक्य विमुक्तसङ्गाः ।

स्मृत्वा हरिं लोकगुरुं परेशं स्पृष्ट्वा जलं स्वर्गमवापुरञ्जः ॥ ६७॥

कौतुक देखने के लिये आए अन्य देशवासी भी कौतुक देखकर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी का दर्शन कर संसार की असक्ति को छोड़कर लोक गुरु भगवान् विष्णु का स्मरण करते हुए जल का स्पर्शकर अनायास ही स्वर्गलोक को प्राप्त किया ॥ ६७ ॥

एतावदेवोत्तरमाह शम्भुः श्रीरामचन्द्रस्य कथावशेषम् ।
यः पादमप्यत्र पठेत्स पापाद्विमुच्यते जन्मसहस्रजातात् ॥ ६८॥

श्रीरामचन्द्रजी की कथा का परिशिष्ट उत्तरकाण्ड रूप श्रीमहादेव जी के द्वारा कथित है। जो प्राणी इसका एक पाद अर्थात एक श्लोक का चतुर्थांश भाग भी पढ़ता है, वह अपने हजारों जन्मों के पापों से मुक्त हो जाता है ॥६८॥

दिने दिने पापचयं प्रकुर्वन् पठेन्नरः श्लोकमपीह भक्त्या ।
विमुक्तसर्वाघचयः प्रयाति रामस्य सालोक्यमनन्यलभ्यम् ॥ ६९॥

नित्य अनेक पापों को करने वाला मनुष्य भी यदि इसके एक पाद का भी भक्तिपूर्वक पाठ करे तो सम्पूर्ण पापों से छूटकर अन्य दूसरों के अलभ्य श्रीरामचन्द्रजी के सालोक्य पद को प्राप्त करते हैं ॥६९॥

आख्यानमेतद्रघुनायकस्य कृतं पुरा राघवचोदितेन ।
महेश्वरेणाप्तभविष्यदर्थं श्रुत्वा तु रामः परितोषमेति ॥ ७०॥

श्रीमहादेवजी ने श्रीरघुनाथजी की प्रेरणा से भविष्य चरित्रों वाली श्रीरघुनाथजी की इस कथा की रचना की थी। इस कथा को सुनकर श्रीरघुनाथजी अति प्रसन्न होते हैं ॥ ६९-७० ॥

रामायणं काव्यमनन्तपुण्यं श्रीशङ्करेणाभिहितं भवान्यै ।
भक्त्या पठेद्यः शृणुयात् स पापैः विमुच्यते जन्मशतोद्भवैश्च ॥७१॥

अनन्त पुण्यप्रद रामायण नामक इस काव्य को भगवान् श्रीशंकरजी ने पार्वतीजी से कहा हैं। जो प्राणी भक्ति पूर्वक इसका अथवा श्रवण करता है, वह अपने सैकड़ों जन्मों के पापों से मुक्त हो जाता है ॥ ७१॥

अध्यात्मरामं पठतश्च नित्यं श्रोतुश्च भक्त्या लिखितुश्च रामः ।
अतिप्रसन्नश्च सदा समीपे सीतासमेतः श्रियमातनोति ॥ ७२॥

इस अध्यात्मरामायण का नित्य प्रति पाठ करने, सुनने अथवा भक्तिपूर्वक लिखने वाले से अति प्रसन्न होकर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी सीताजी के सहित उसके पास रहकर उस व्यक्ति के श्री की वृद्धि करते हैं ॥ ७२ ॥

रामायणं जनमनोहरमादिकाव्यं
ब्रह्मादिभिः सुरवरैरपि संस्तुतं च ।
श्रद्धान्वितः पठति यः शृणुयात्तु नित्यं
विष्णोः प्रयाति सदनं स विशुद्धदेहः ॥ ७३॥

रामायण नामक यह आदि काव्य ब्रह्मा आदि सुरश्रेष्ठों से प्रशंसित और मनुष्यों के मन का हरण करने वाला है। श्रद्धा से भक्तिपूर्वक

जो पुरुष नित्यप्रति इसका पाठ अथवा श्रवण करता है, वह विशुद्ध शरीर धारण कर विष्णु भगवान के परमधाम को प्राप्त करता है ॥ ७३ ॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे
उत्तरकाण्डे नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

॥ समाप्तमिदमुत्तरकाण्डम् ॥

॥ सम्पूर्णम् इति अध्यात्मरामायणम् ॥